स्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितस्वच्छन्दोद्योताख्य-
व्याख्ययाज्ञानवतीहिन्दीभाष्येण च विभूषितम्

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

आचार्य राधेश्याम चतुर्वेदी

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

।। श्रीः ।।

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला

१५५

स्वच्छन्दतन्त्रम्

(प्रथमो भागः)

(१-६ पटलानि)

श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित**स्वच्छन्दोद्योता**ख्य-
व्याख्यानेन**ज्ञानवती**हिन्दीभाष्येण च विभूषितम्

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

आचार्य राधेश्याम चतुर्वेदी

व्याकरणाचार्यः

एम० ए० (संस्कृत), पी-एच्०डी०, लब्धस्वर्णपदकः

शास्त्रचूडामणि विद्वान्

संस्कृतविभागः, कलासङ्कायः,

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

चौखम्बा विद्याभवन

वाराणसी

प्रकाशक

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बैंक आफ बड़ौदा के पीछे)
पो० बा० नं० 1069, वाराणसी 221001
फोन : 2420404

प्रथम संस्करण 2005
मूल्य 500=00
सम्पूर्ण सेट (1-2 भाग) 1000=00

अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान

38 यू . ए . बंगलो रोड, जवाहरनगर
पो० बा० नं० 2113
दिल्ली 110007
फोन : 23856391

*

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के० 37/117, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० 1129, वाराणसी 221001
फोन : 2335263, 2333371

कम्प्यूटर टाइप सेटर :
मालवीय कम्प्यूटर्स
वाराणसी

मुद्रक :
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी

The

VIDYABHAWAN PRACHYAVIDYA GRANTHMALA

155

SVACCHANDATANTRAM

(PART ONE)

[1-6 Paṭalas]

With the Commentary **Svacchandodyota** by
Ācārya Śrī Kṣemarāja
and **Jñānavatī** Hindi Commentary

Commented & Edited By

Prof. RADHESHYAM CHATURVEDI

Vyākaraṇācārya, M.A., Ph.D., (Gold medalist)
Śāstracūḍāmaṇi Scholar
Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
Banaras Hindu University

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

Publishers:

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

(Oriental Publishers & Distributors)

Chowk (Behind The Bank of Baroda Building)

Post Box No. 1069

VARANASI 221001

Telephone : 2420404

First Edition

2005

Also can be had from

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar

Post Box No. 2113

DELHI 110007

Telephone : 23856391

*

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

K. 37 / 117, Gopal Mandir Lane

Post Box No.1129

VARANASI 221001

Telephone : 2335263

: 2333371

Computer Type-setters :
Malaviya Computers
Varanasi

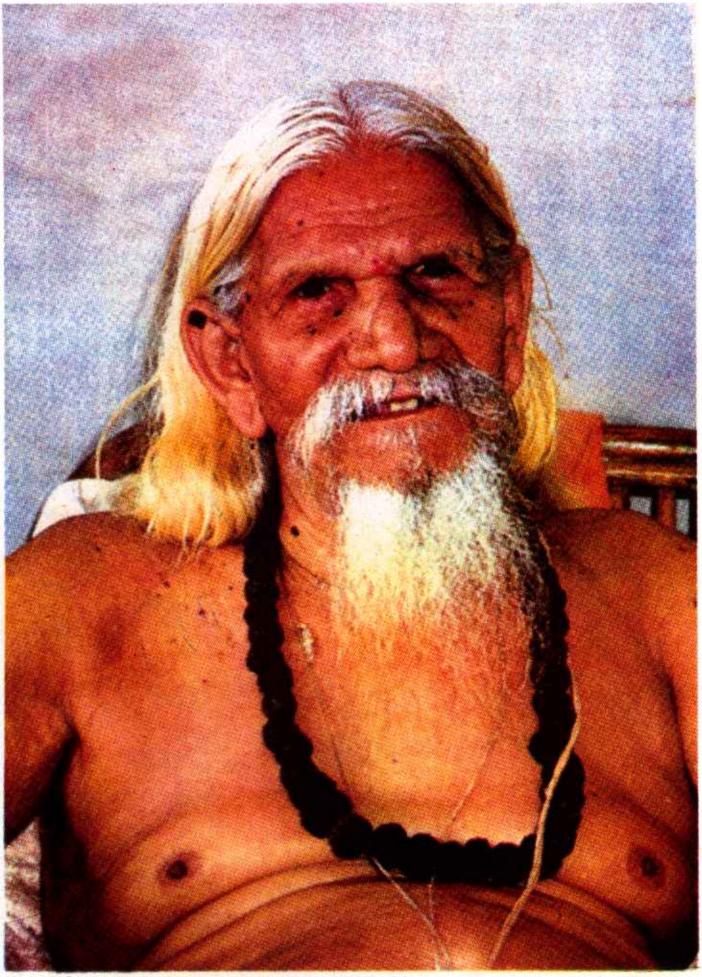
Printers :
Ratna Printing Works
Varanasi

ॐ

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु

श्री ६ शिवचैतन्य वर्णी महाराज

अनुवादक के दीक्षागुरु



स्वामी श्री श्री १०८ शिवचैतन्यजी ब्रह्मचारीजी

मातङ्गेश्वर घाट, महेश्वर (जिला खरगोन) म. प्र.

गायत्रीसाधनासिद्धसिद्धिसाम्राज्यचुञ्चवे ।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमश्चैतन्यवर्णिने ॥

ॐ

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि
तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ।

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव
यद् भद्रं तन्न आसुव ।

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं
पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥

पुरोवाक्

तान्त्रिक वाङ्मय क्रिया, विद्या, योग और चर्या के कारण जिस प्रकार चतुष्पाद संज्ञा से विभूषित है, काश्मीर, शैवदर्शन किं वा प्रत्यभिज्ञादर्शन अथवा त्रिकदर्शन भी मालिनीविजयतन्त्र, विज्ञानभैरव, स्वच्छन्दतन्त्र एवं परात्रींशिका के आधार पर चतुष्पाद विशेषण से अलङ्कृत किया जा सकता है। परमशिव या परमेश्वर के नाम से प्रसिद्ध चरम सत्ता का नाम स्वच्छन्द भैरव है । स्वच्छन्दतन्त्र में इन स्वच्छन्द भैरव को अघोरेश अथवा बहुरूप नामों से अभिहित किया गया है । इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में अघोर मन्त्र का उद्धार, उसकी उपासना-पद्धति का वर्णन करते हुए अवान्तर विषयों के साथ शिवसामरस्य के लिये उपयोगी वृहत् प्रक्रिया की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत है । इसीलिये मालिनीविजयतन्त्र की भाँति इस ग्रन्थ का भी प्रत्यभिज्ञादर्शन के लिये अत्यधिक प्रामाण्य है । स्वच्छन्दतन्त्र का प्रस्तुत संस्करण परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति के लीलाविलास के रूप में प्रकाशमान उन्हीं की सेवा में अर्पित पुष्पाञ्जलि है ।

संस्कृत वाङ्मय के रत्नाकर में तान्त्रिक ग्रन्थों की रत्नावली विपुल मात्रा में विद्यमान है । देवभाषा में उपनिबद्ध इन ग्रन्थों की ज्ञानधारा अभीप्सित होने पर भी संस्कृतज्ञान से रहित जिज्ञासुओं को आप्यायित नहीं कर पाती अतः ज्ञानपिपासाकुल वे इतस्ततः भ्रमित होते एवं अनर्थ के आखेट बन जाते हैं । संस्कृत ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद की प्रथा इसी अनर्थ के निवारण के लिये प्रचलित है ।

वेदान्तकौमुदी से लेकर कामाख्या तन्त्र की मेरी सानुवाद सम्पादन यात्रा में स्वच्छन्दतन्त्र का विशिष्ट महत्त्व है । इस ग्रन्थ का अनुवाद करते समय निम्नलिखित बिन्दु ध्यातव्य रहे हैं—

१. अनुवाद यथासम्भव अक्षरशः किया गया है ।

२. मूलग्रन्थ की भावना (Spirit) को अनुवाद में यथाशक्ति संक्रमित करने की चेष्टा की गयी है ।

३. गूढार्थ को स्पष्ट करने के लिये आवश्यकतानुसार कतिपय शब्दों को कहीं-कहीं जोड़ना पड़ा है । इस प्रकार के शब्द अथवा वाक्य कोष्ठकों के अन्दर रखे गये हैं ।

४. अप्रसिद्ध पदों के सरलार्थ भी कोष्ठकों में उल्लिखित हैं ।

५. प्राचीनकाल में मुद्रणकला का प्रचलन न होने से ग्रन्थों की प्रतिलिपि निर्मित होती थी । प्रतिलिपिकर्त्ता प्राय: अल्पज्ञ होते थे । अत: अशुद्धियाँ प्रचुर मात्रा में सम्भावित थीं । इन प्रतिलिपियों के आधार पर मुद्रित कश्मीरसंस्कृतग्रन्थमाला एवं परिमल प्रकाशन के संस्करणों में अयुक्त और अशुद्ध शब्दों का प्रयोग है । ऐसे शब्दों को यथामति समीचीन एवं शुद्ध करने का प्रयास किया गया है ।

६. कश्मीर एवं दिल्ली से प्रकाशित स्वच्छन्दतन्त्र के संस्करणों में कहीं-कहीं अपूर्णता परिलक्षित होती है । प्रस्तुत संस्करण में उन रिक्तियों को अपनी बुद्धि के अनुसार पूरित करने की चेष्टा की गयी है । इन स्वमतिसंयोजनो को भी कोष्ठकों में रखा गया है ।

सारस्वत साधना की इस लता को पल्लवित और पुष्पित करने में जिनका अप्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष सहयोग प्राप्त हुआ इस शृङ्खला में मैं सर्वप्रथम पराम्बा भगवती गायत्री को नमन करता हूँ । तत्पश्चात् उनके अनन्य उपासक तथा अपने दीक्षागुरु श्री ६ शिवचैतन्य जी वर्णी को साष्टाङ्ग प्रणाम करता हूँ । आचार्य पं० ब्रजवल्लभ द्विवेदी (पूर्व अध्यक्ष—योगतन्त्रागम विभाग, सं.सं.वि.वि. वाराणसी) का मैं हृदय से आभारी हूँ । उनके आशीर्वाद के अभाव में इस ग्रन्थ का इतना शुद्ध समीचीन संस्करण असम्भव था । समय-समय पर मेरे ज्येष्ठ पुत्र चि० शशिशेखर चतुर्वेदी का ग्रन्थ के सम्पादन एवं संशोधन के सन्दर्भ में योगदान सराहनीय है । अक्षर संयोजन एवं संशोधन के सन्दर्भ में श्रीरामरञ्जन मालवीय को भी मेरा हार्दिक आशीर्वाद है । श्री नवनीतदास एवं श्री नवीनगुप्त को मैं इस ग्रन्थ के मुद्रण के लिये साधुवाद देता हूँ ।

स्वच्छन्दतन्त्र के इस संस्करण को निर्दुष्ट, सर्वाङ्ग सम्पूर्ण एवं महनीय बनाने के लिये यथाशक्ति प्रयास किया गया है । किन्तु एकमात्र परमेश्वर ही सर्वथा परिपूर्ण उसकी इस पूर्णाभास्यमान सृष्टि में पूर्णता की आशा मृगमरीचिका तुल्य है । यदि किसी मनीषी को इसमें कहीं स्खलन प्रतीत हो तो उसके लिये मुझे उत्तरदायी समझें तथा क्लेश न करते हुए एतन्निहितगुणरत्न को नयनपथगामी बनायें ।

'सूर्पवद् दोषमुत्सृज्य गुणं गृह्णन्ति साधवः ।'

विद्वद्वशंवद

राधेश्याम चतुर्वेदी

निर्जला एकादशी
संवत् २०६१
३० मई २००४

शुभाशंसन

राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि की इस पवित्र वसुन्धरा पर निगम और आगम की दो धारायें अनादि काल से प्रवहमान हैं । यदि नैगमिक धारा के मूलस्रोत नारायण हैं तो आगमिक परम्परा के शिव । दोनों धाराओं की परम्परा श्रुत्यात्मक थी—

'श्रुतिस्तु द्विविधा प्रोक्ता वैदिकी तान्त्रिकी तथा ।' (हारीत स्मृति)

शिवदृष्टि के सप्तम अध्याय में भी कहा गया है—

'शैवादीनि रहस्यानि पूर्वमासन् महात्मनाम् ।
ऋषीणां वक्त्रकुहरे...................... ॥'

इसलिये आगमशास्त्र के उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर उनका कालनिर्णय विद्वद्वर्ग के लिये उपहास का विषय है । तथापि 'तुष्यतु................न्यायेन' आगम का प्रारम्भकाल यदि मानना ही है तो ईसा पूर्व दशम शताब्दी मानना चाहिये क्योंकि इस काल में लिखित ग्रन्थों की चर्चा नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत् के शाङ्करभाष्य में मिलती है । मेरुतन्त्र सङ्केतस्तवराज आदि ग्रन्थों तथा पुराणों में वर्णित अगस्त्य विश्वामित्र आदि के उपाख्यान इस तथ्य के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि तन्त्र की प्रतिष्ठा सत्ययुग आदि अतिप्राचीन काल में भी थी ।

तन्त्र के शैव शाक्त वैष्णव पाशुपत गाणपत्य लकुलीश बौद्ध जैन आदि अनेक सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है । सम्प्रति इनमें से शैव और शाक्त तन्त्र ही जनसामान्य में प्रसिद्धि प्राप्त हैं । ये दोनों तन्त्र मूलतः एक ही हैं । ज्ञान-प्रधान दृष्टि से जो शैवतन्त्र हैं क्रियाप्रधान दृष्टि से वही शाक्ततन्त्र है। शक्ति एवं शिव की उपासना में प्रक्रियाभेद हो सकता है तत्त्व की दृष्टि से अग्नि एवं उसकी उष्णता अथवा चन्द्र और उसकी चन्द्रिका के समान दोनों एक ही वस्तु हैं—

'शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वर्ण्यते ।'

सम्पूर्ण विश्व शिव की शक्ति का स्फारमात्र है—

'शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।'

शैवागम भेद, भेदाभेद और अभेदवाद की दृष्टि से तीन भागों में विभक्त है । भेदवादी शैवागम शैवसिद्धान्त के नाम से जनसामान्य के बीच प्रसिद्ध है। तामिलनाडु में इसका प्रचलन आज भी देखा जा सकता है । भेदाभेदवाद को वीरशैव के नाम से जाना जाता है । कर्णाटक प्रदेश इसका मुख्य केन्द्र है ।

अभेदवाद को शिवाद्वयवाद भी कहते हैं । मूलरूप में इसका प्रचार-प्रसार कश्मीर में था । शिवसूत्रों का उत्कीर्णस्थल महादेवपर्वत कश्मीर में ही है ।

मालिनीविजयतन्त्र, विज्ञानभैरव, परात्रींशिका, स्वच्छन्दतन्त्र, नेत्रतन्त्र आदि शिवाद्वयवाद के स्तम्भ ग्रन्थ हैं । वैपुल्य एवं विषयवर्णन की दृष्टि से स्वच्छन्दतन्त्र अप्रतिम ग्रन्थ है । इसमें आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक दोनों ही प्रकार के विषय वर्णित हैं । सम्पूर्ण ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विश्व का रहस्यभेदन कर मोक्षलाभ है।

पन्द्रह पटलों में उपनिबद्ध इस ग्रन्थ में गुरुशिष्य-परीक्षा, बाह्यपूजन, होम, शिष्यसंस्कार, अभिषेक, दीक्षा, षट्कर्म का वर्णन करने के बाद सौर एवं प्राणीय काल, भुवननिरूपण, नाद, छत्तीस तत्त्व-विज्ञान, पारमेश्वर याग का वर्णन करते हुए अन्त में मुद्रा एवं पारिभाषिक शब्दावली की चर्चा के साथ तान्त्रिक विषयों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत है ।

स्वच्छन्दतन्त्र का प्रकाशन सर्वप्रथम काश्मीर संस्कृत ग्रन्थमाला के अन्तर्गत हुआ था । उसके दुर्लभ अथवा अनुपलब्ध होने पर दिल्ली से परिमल प्रकाशन के द्वारा इसे पुनः प्रकाशित किया गया । उपर्युक्त दोनो संस्करण मूल एवं उसकी क्षेमराजकृत उद्योत नामक टीका के साथ प्रकाशित हुए थे । सम्प्रति द्वितीय संस्करण भी दुष्प्राप्य है ।

प्रस्तुत संस्करण चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन के द्वारा प्रकाशित किया गया है। इसके सम्पादक आचार्य राधेश्याम चतुर्वेदी हैं । तान्त्रिक वाङ्मय में सुप्रविष्ट श्री चतुर्वेदी जी ने अनेक तान्त्रिक ग्रन्थों का भाष्य एवं सम्पादन किया है । स्वच्छन्द तन्त्र का प्रस्तुत संस्करण इनकी सतत सारस्वत-साधना का निष्यन्द है । सटीक हिन्दी व्याख्या एवं उत्कृष्ट भूमिका के साथ पूर्व संस्करण में वर्त्तमान अशुद्धियों को शुद्ध तथा अपूर्ण स्थलों को पूर्ण करते हुए श्री चतुर्वेदी ने इस ग्रन्थ का अनुवाद एवं सम्पादन कर तान्त्रिकवाङ्मय की शृङ्खला में महनीय एवं स्तुत्य योगदान किया है । गहन पारिभाषिक शब्दों के अन्तस्तल तक जाने का इनका प्रयास अतीव श्लाघ्य है । तन्त्रागमशास्त्र के अनुवादकों के लिये यह प्रयास अनुकरणीय है । एतदर्थ वे साधुवाद के पात्र हैं । इस उत्तम कार्य के लिये धन्यवाद देते हुए हम भवानीविश्वनाथ से आचार्य राधेश्याम चतुर्वेदी के लिये प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें सारस्वत साधना में अनवरत संलग्न रखें । हमें विश्वास है कि प्रस्तुत संस्करण आगमशास्त्र के जिज्ञासु मनीषीवर्ग को प्रसन्नता प्रदान करेगा तथा साधकों के साधनापथ में प्रकाशस्तम्भ सिद्ध होगा ।

पं० ब्रजवल्लभ द्विवेदी
पूर्व अध्यक्ष
सांख्य योग तन्त्रागम विभाग
सं०सं०वि०वि०, वाराणसी

भूमिका

काश्मीर शैवदर्शन अथवा प्रत्यभिज्ञादर्शन के तीन सर्वप्रामाणिक स्तम्भग्रन्थ हैं—मालिनीविजयतन्त्र स्वच्छन्दतन्त्र एवं नेत्रतन्त्र । जिस प्रकार नेत्रतन्त्र का दूसरा नाम मृत्युञ्जयभट्टारक है उसी प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र भी अघोरेशतन्त्र के नाम से जाना जाता है । स्वच्छन्दभैरव ही अघोरेश हैं । अघोरमन्त्र के अधिष्ठातृदेव होने के कारण इनका यह नाम पड़ा । अघोरमन्त्र की महिमा शिवमहिम्नस्तोत्र में पुष्पदन्त के द्वारा वर्णित है—

'अघोरान्नापरो मन्त्रः ।' (शि.म.स्तो. ३५)

(अघोरमन्त्र से बढ़कर कोई दूसरा मन्त्र नहीं है)

सम्पूर्ण स्वच्छन्दतन्त्र इन्हीं भगवान् अघोरेश का साङ्गोपाङ्ग वर्णन है । स्वच्छन्द का एक नाम बहुरूप भी है । एक ही भगवान् अनेक रूपों में अथवा विश्व के रूप में भासित हो रहे हैं इसलिये उनका बहुरूप नाम भी सार्थक है ।

स्वच्छन्दतन्त्र की व्याख्या क्षेमराज ने की—

'क्षेमराजो विवृणुते श्रीस्वच्छदनयं मनाक् ।' (स्व.तं.टी. १।१)

इस व्याख्या का नाम 'उद्योत' है—

'पराभेदरसोल्लासी स्वच्छन्दोद्योत उत्थितः ।' (स्व.तं.टी. १।८७)

यही एकमात्र ऐसी टीका है जो उपलब्ध और मुद्रित है । अभिनवगुप्त के शिष्य श्रीक्षेमराज ने श्रीभुल्लक नामक एक अन्य टीकाकार का उल्लेख इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर किया है ।[1] इन्होंने स्वच्छन्दतन्त्र की 'वृहट्टीका' नामक व्याख्या की थी । क्षेमराज के अनुसार उनकी व्याख्या कहीं-कहीं असङ्गत है । पर इतना सुनिश्चित है कि वे क्षेमराज के पूर्ववर्त्ती टीकाकार थे । क्षेमराज ने भुल्लक के अतिरिक्त 'कैश्चित्' 'केचित' शब्दों का प्रयोग कर अन्य टीकाकारों की ओर सङ्केत किया है जो कि क्षेमराज के पूर्ववर्त्ती रहे हैं ।

यह अघोरतन्त्र चतुष्पीठ महातन्त्र है ।' मन्त्र मण्डल विद्या और मुद्रा ये चार पीठ कहलाते हैं । स्वच्छन्दतन्त्र मुख्यतया इन्हीं पीठों की विवेचना करता है । इस विवेचना की पुष्टि के लिये इसमें अवान्तर विषयों का भी सन्निवेश

---

१. स्व.तं.टी. १०।५००, ६१६, ६६०, ११३९, ११।२४, २२९, २५७

किया गया है । यहाँ कतिपय प्रमुख विषयों का संक्षिप्त परिचय असमीचीन नहीं होगा—

१. मन्त्र

मन्त्र देवता के विग्रह स्वरूप होते हैं । **'प्राक् संवित् प्राणे परिणता'** नियम के अनुसार प्राणरूप में परिणत संवित् ही अपने स्फार के कारण नाद और तत्पश्चात् नादखण्ड अर्थात् मातृका के रूप में परिणत होती है । मन्त्र मातृकापुञ्ज के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और तत्तद् देवता भी परा संवित् के ही नाना रूप हैं अत: मन्त्र और देवता आपातत: भिन्न प्रतीत होते हुए भी परमार्थत: एक हैं । चूँकि अघोर या स्वच्छन्दभैरव चरमतत्त्व एवं अन्तिम चैतन्यात्मक सत्ता हैं इसलिये उनका विग्रहस्वरूप मन्त्र भी सर्वोच्च माहात्म्य वाला है । इसीलिये **'अघोरान्नापरो मन्त्रः'** कहा गया । अघोर मन्त्र का स्वरूप है—

'ॐ अघोरेभ्यो घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वतः
शर्व सर्वेभ्यो नमस्ते रुद्ररूपेभ्यो नमः ।'

इस मन्त्र की महत्ता का वर्णन स्वयं परमेश्वर ने किया है ।

'सकृदुच्चारितो देवि नाशयेत् सर्वकिल्विषम् ।
जन्मकोटीसहस्रैस्तु भ्रमद्भिः समुपार्जितम् ॥
स्मरणान्नाशयेद् देवि तमः सूर्योदये यथा ॥ (स्व.तं. १।४४)

जिस प्रकार अघोरमन्त्र अघोरेश्वर का विग्रह है उसी प्रकार तत्तद् बीजाक्षर इस विश्वरूप के तत्तत् अवयवसंस्थान हैं यह भी मान्यता है । आदि क्षान्त स्व-यञ्जनों से उनके मूर्धादि चरणान्त अवयवों की कल्पना की गयी है । इसके अतिरिक्त इस स्वच्छन्दभैरव की अविनाभूता शक्ति का भी स्वरूप बीजाक्षरकल्पित है । देवताओं के तीन रूप होते हैं—पर सूक्ष्म और स्थूल । सामान्य मनुष्य स्थूल रूप की उपासना करता है । इसके सहारे वह सूक्ष्म एवं पर रूप तक पहुँचता है । इस यात्रा में मन्त्र का वाचिक उपांशु और मानस जप सहायक होता है इसलिये स्वच्छन्दतन्त्र मन्त्राराधन को सर्वश्रेष्ठ उपाय मानता है ।

२. स्वच्छन्दभैरव

स्वच्छन्दभैरव पद में 'स्वच्छन्द' का अर्थ है स्व = अपने, छन्द = अभिप्राय के अनुसार अर्थात् अपनी इच्छा से चलने वाला— स्वतन्त्र । 'भैरव' पद का अर्थ निम्नलिखितरूप से समझना चाहिये—

'भैरव' पद में भा ऐ र व चार अक्षर हैं । इनमें से 'भा' का अर्थ है—

प्रकाश । 'ऐ' क्रियाशक्ति की स्फुटता को बतलाता है । रव पद का अर्थ है—विमर्श । इस प्रकार जो क्रियाशक्ति से संयुक्त होकर अपने संवित्प्रकाश रूप स्वभाव से सम्पूर्ण विश्व का विमर्श करता है वह 'भैरव' है ।

भैरवपद के अन्य अर्थ भी हैं—

१. भिया सर्वं रवयति इति भैरवः । जो समस्तविश्व को अपने से अभिन्न बतलाकर भक्तों को भयमुक्त करते हैं वे भैरव हैं ।

२. भै = भरणयुक्त अर्थात् सर्वत्र परिपूर्ण होने से, र = रमण अर्थात् सबमें रमण करने के कारण, व = वमन अर्थात् समस्त विश्व का वमन करने (उगलने) के कारण ये परमेश्वर भैरव कहे जाते हैं ।

ऊपर जिस मातृकाचक्र की चर्चा हुई है उसमें सोलह स्वरवर्ण भैरव माने गये हैं—

'आदिः षोडश भेदेन साक्षाद्वै भैरवः स्मृतः ।' (स्व.तं. १।३२)

भैरव के सर्वव्यापी एवं स्वरवर्ण दो रूपों के अतिरिक्त एक तीसरारूप भी है । वह कर चरण आदि वाला है । स्वच्छन्दतन्त्र उसका वर्णन इस प्रकार करता है—

उनके पाँच मुख हैं—पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर और ऊर्ध्व मुख । इन मुखों के नाम हैं—ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव और सद्योजात । सभी पाँचों मुख त्रिनेत्र एवं जटामुकुटमण्डित हैं । मस्तक पर अर्धचन्द्र हैं । तत्तत् बीजाक्षरों के द्वारा इनका तथा शेष अङ्गों का निर्देश स्वच्छन्दतन्त्र में मिलता है। एक-एक मुख में अनेक कलायें हैं । इस भैरव की गोद में कादिक्षान्त व्यञ्जनरूपा पञ्चमुखी भैरवी विराजमान है । यह भी बीजाक्षर शरीरवाली है ।

इस स्वच्छन्दभैरव को परिवृत कर आठ भैरव विराजमान है । यह स्वच्छन्द भैरवदेव सर्प गोधा से अलङ्कृत हैं तथा वृश्चिक का हार धारण किये हुए हैं । ये कपालमाला, खड्ग, खेटक, पाश, अङ्कुश, धनुष, बाण, वरद एवं अभय मुद्रा, मुण्ड, खट्वाङ्ग, वीणा, डमरू, घण्टा, त्रिशूल, वज्र, परशु, मुद्गर धारण किये हुए, सिंहचर्मपरिधान वाले, गजचर्म का उत्तरीय ओढ़े अष्टादश भुजा वाले हैं । इनका ध्यान करने से इष्टलाभ होता है ।

३. याग

याग के तीन रूप हैं १. देवपूजन, २. महात्माओं का सत्सङ्ग और ३. दान । तीनों जितनी अधिक मात्रा में किये जाते हैं उतना ही अधिक शुभ-फल देते हैं । इन समस्त यागों के अनुष्ठान से चित्तशुद्धि होती है अर्थात् यजमान का चित्त सांसारिकता से विरत होता हुआ भगवत्प्रवण या

आत्माभिमुख होता है । यह याग दो प्रकार का होता है । (क) बाह्ययाग और (ख) आभ्यन्तर याग । स्वच्छन्दतन्त्र दोनों प्रकार के यागों का वर्णन करता है ।

(क) बाह्ययाग—बाह्ययाग स्थूलयाग है । यह यजमान का प्रथम कर्त्तव्य है । बिना इसके शिवसामरस्य का द्वार उद्घाटित नहीं होता । यागानुष्ठान के क्रम से सबसे पहले यज्ञमण्डप का निर्माण होता है । तत्पश्चात् उस मण्डप में कुण्ड बनाया जाता है । गुरु और शिष्य यज्ञ की प्रधानदेवता के साथ उनकी अङ्गदेवताओं का आवाहन, पूजन आदि करते हैं । यह नित्यकर्म कहा जाता है । इसके पश्चात् नैमित्तिक कर्मसम्बन्धी अनुष्ठान करने का विधान है । नैमित्तिककर्म समाप्त होने पर बाह्ययाग का प्रारम्भ होता है । इसमें समस्त क्रियायें स्थूलद्रव्यों के द्वारा सम्पादित की जाती हैं । यज्ञ के देवतापूजन से लेकर अभिषेक तक के सारे अनुष्ठान स्थूल द्रव्यों के द्वारा स्थूलरूप में किये जाते हैं ।

(ख) आन्तरयाग—यह शिष्य के देह में गुरु के द्वारा करणीय याग है सिद्ध गुरु शिवस्वरूप होता है । शिष्य की आत्मा को शिव के साथ समरस करने के लिये बाह्य आचार की सहायता से वह तत्तत् अनुष्ठान करता है किन्तु इसका मुख्य प्रतिपाद्य शिष्य के पाशजाल अर्थात् अज्ञान को काटना होता है । इसके लिये गुरु पृथिवी तत्त्व से लेकर समनापर्यन्त का शोधन करता है अर्थात् शिष्य के अन्दर वर्त्तमान भेदबुद्धि को क्रमशः दूर करता हुआ प्रत्येक तत्त्व के विषय भी शिवभावना का उदय कराता है । पूर्णाहुति होम के द्वारा शिष्य पूर्णअहन्ता को प्राप्त कर शिवस्वरूप हो जाता है और उसमें तथा गुरु में कोई अन्तर नहीं रह जाता । इस आन्तर याग का सङ्केत उपनिषदों में मिलता है—

'एष ह वा अश्वमेधं वेद य एनमेवं वेद' (बृ. उ. १।२।७)

बाह्य याग महत्त्वपूर्ण नहीं है । आन्तरयाग को ही वास्तविक याग कहा गया है—

'पूजा नाम न पुष्पाद्यैर्या मतिः क्रियते दृढा ।
निर्विकल्पे परे व्योम्नि सा पूजा ह्यादराल्लयः ॥'(वि.भै. १४७)

याग के सम्पादन में अग्नि का सर्वाधिक महत्त्व है । इसलिये अग्नि के गर्भाधानादि संस्कारों का प्रकल्पन होम के द्वारा सम्पादित किया जाता है । तत्पश्चात् याग का साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठान विहित होता है ।

४. दीक्षा

दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयन्ते पशुवासनाः ।
दानक्षपणयुक्तत्वाद् दीक्षा तेनेह कीर्त्तिता ॥

दीक्षा अनेक प्रकार की होती है । यथा—शिवधर्मिणी दीक्षा, लोकधर्मिणी दीक्षा, सबीजादीक्षा, निर्बीजा (= सद्योनिर्वाकदा) दीक्षा । प्राय: यह प्रश्न किया जाता है कि पहले शक्तिपात होता है तब दीक्षा होती है ? या पहले दीक्षा होती है फिर शक्तिपात । इसमें पहला पक्ष ही ठीक है ।

शक्तिपात का अर्थ है—भगवत्कृपा । उसकी प्राप्ति के बाद ही व्यक्ति के अन्दर गुरु के पास जाने की इच्छा होती है और वहाँ जाकर वह दीक्षा प्राप्त करता है । दीक्षा के क्रम में कुछ संस्कार करणीय होते हैं । ये पूजन होम आदि हैं । ये कृत्य कुछ तो स्थूल तथा प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं और कुछ संस्कारों या कृत्यों का भावना के द्वारा सम्पादन होता है । दीक्षा के क्रम में षडध्वा का शोधन होता है ।

५. षडध्वा

तन्त्र का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जो कुछ ब्रह्माण्ड में है वह सब इस व्यष्टि शरीर या पिण्ड में भी है । पृथिवी से लेकर महत् या बुद्धि तक सांख्य के तेइस तत्त्व, प्रकृति, पुरुष, माया, उसकी पाँच कलायें, विद्या आदि पाँच शक्तियाँ, शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव अथवा बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना तक सबके सब इस छियानवे अङ्गुल लम्ब शरीर में विद्यमान है । सबका शोधन करना पड़ता है ।

पैर से लेकर मूर्धा पर्यन्त देशाध्वा होता है जिसके कला तत्त्व और भुवन तीन भेद हैं। उसी प्रकार वर्ण मन्त्र और पद ये तीन प्रकार कालाध्वा के हैं । स्वच्छन्दतन्त्र के अनुसार इनकी प्राण में स्थिति रहती है । हृदय से लेकर ऊपर की ओर शक्तितत्त्व तक छत्तीस अङ्गुल का प्राणचार है । इसी के अन्दर समस्त कालपरिमाण विद्यमान है । वर्ण या मन्त्र या पद शब्दरूप हैं । ये प्राण से उत्पन्न होते हैं और प्राण में ही लीन होते हैं । वर्ण सूक्ष्मतम है पद स्थूलतम। स्थूल का सूक्ष्म में समाहित हो जाना ही उनका लय है ।

काल भी दो प्रकार का होता है—बाह्य और आभ्यन्तर । बाह्य का सम्बन्ध सूर्य से है और आभ्यन्तर का प्राण से । योगी प्राण पर विजय कर बाह्यकाल को अपने वश में कर लेता है । मनुष्य के अक्षिनिमेष का आठवाँ भाग क्षण कहलाता है । दो क्षण की एक तुटि, दो तुटि का एक लव, दो लव का एक निमेष और पन्द्रह निमेष की एक काष्ठा होती है । एक बाह्य काष्ठा का एक आध्यात्मिक अहोरात्र होता है ।

प्राण को सूर्य माना गया है । हृदय से लेकर कण्ठ के नीचे नौ अङ्गुल तक प्राणचार का प्रथम प्रहर होता है । कण्ठ से नौ अङ्गुल ऊपर अर्थात् तालु तक प्राणचार का मध्याह्न होता है तालु से ऊपर भ्रूमध्य तक तीसरा

प्रहर होता है और उसके ऊपर द्वादशान्त तक प्राणचार का चतुर्थ प्रहर होता है। इसके बाद वहीं पर आधी तुटि की सन्ध्या होती है फिर प्राण जब उल्टे क्रम से अर्थात् शक्ति या द्वादशान्त से नीचे उतरता है तो अपान कहलाता है। इस अवरोह से क्रमशः रात्रि होती है अर्थात् तालु में अर्धरात्रि और हृदय में प्रातः होता है। इस रात्रि में चन्द्रमा अर्थात् अपान का सञ्चरण होता है। इस प्रकार प्राण के एक आरोह और अवरोह में योगी का एक अहोरात्र होता है। बाह्य एक अहोरात्र में २१६०० प्राणचार होता है अर्थात् बाह्य एक अहोरात्र में २१६०० आभ्यन्तर अहोरात्र होते हैं। इस अहोरात्र में न केवल सूर्य, चन्द्र का ही गमागम होता है बल्कि भौम बुध आदि शेष सात ग्रहों का भी सञ्चरण होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त गणना की दृष्टि से बाह्य एक घटिका का आभ्यन्तर ३६० दिन अथवा एक वर्ष होता है। इस प्रकार बाह्य एक वर्ष का भोग योगी एक घटी में भोग लेता है। साथ ही उसकी जपसाधना भी चलती रहती है। जैसे-जैसे योगी की साधना उत्तरोत्तर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है वैसे-वैसे योगी का भोगकाल कम होता जाता है। दूसरे शब्दों में एक प्राणचार के १/२ भाग में एक वर्ष का भोग होता है। इसी प्रकार कम होते-होते १/४, १/८, १/१६, १/३२, १/६४, १/१२८, १/२५६, इत्यादि प्राणचार में भोग सम्पन्न होने लगता है और जब योगी उन्मना में स्थित होकर जप करता है तो उसके सकल जन्मान्तरीण भोग सम्पन्न हो जाते हैं और वह मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। यह कालाध्वा का विवरण हुआ।

देशाध्वा में पृथिवी से लेकर उन्मना तक का शोधन होता है। जिस प्रकार कालाध्वा में सूक्ष्मतम स्तर का अनुभव कर शोधन होता है उसी प्रकार पृथिवी आदि कलाओं तत्त्वों और उन तत्त्वों में रहने वाले भुवनों का भी शोधन इसी शरीर से हो जाता है। इस ब्रह्माण्ड में सबसे नीचे कालाग्नि भुवन है और सबसे ऊपर ब्रह्मा का आसन है। पृथिवी मध्य में है। जिस प्रकार ढक्कनों के मुखों को जोड़ने पर एक पिण्ड बन जाता है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड भी कर्परों (= कड़ाहों) के जोड़ से बना है अधोकटाह और ऊर्ध्व कटाह के बीच में पृथिवी है। पृथिवी से ऊपर सात लोक हैं। सत्य लोक ब्रह्मा का लोक है और वही इस ब्रह्माण्ड की अन्तिम सीमा है। उसके और पृथिवी के बीच में अनेक भुवन हैं। जिनमें अनेक रूप-रंग पराक्रम वाले भुवनाधिपति अपने परिवार के साथ रहते हैं। यह निवृत्ति कला है। इसके ऊपर जलतत्त्व से लेकर माया तत्त्व तक प्रतिष्ठा कला है। इन तत्त्वों में भी भुवन हैं। इनके स्वामी विष्णु रुद्र आदि होते हैं। शुद्धविद्या विद्याकला में रहती है। उसके ऊपर शान्ता कला है। इसमें ईश्वर और सदाशिव रहते हैं

यह सदाशिव बिन्दु से उत्पन्न है । यह सदाशिवतत्त्व निवृत्ति प्रतिष्ठा विद्या शान्ता तथा शान्त्यतीता कलाओं और उनमें स्थित समस्त तत्त्वों और भुवनों का आवरण है । बिन्दु से ऊपर अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना तत्त्व रहते हैं । यह समना काल की पराकाष्ठा है । इसके ऊपर उन्मना तत्त्व है । यही निर्वाण या गुरु वक्त्र है । समना के अधिष्ठाता शिव हैं और उन्मना महेश्वराधिष्ठित है । यह देशाध्वा है । मोक्ष के लिये इन दोनों अध्वाओं का शोधन करना पड़ता है ।

यह षडध्वा दो प्रकार का है—१. शुद्ध, २. अशुद्ध । पृथ्वीतत्त्व से लेकर माया तत्त्व का अध्वा अशुद्ध अध्वा है क्योंकि माया से कलुषित होने के कारण यह सृष्टि अशुद्ध होती है । इसके कर्त्ता अनन्तनाथ हैं । शुद्धविद्या से लेकर ऊपर तक शुद्ध सृष्टि है । इसके रचयिता स्वयं शिव हैं—

'शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्त्ताऽशुद्धेऽनन्त इष्यते ।'

६. सृष्टि-प्रलय

'अत्रारूढस्तु कुरुते शिवः परमकारणम् ।
सृष्टिं.................................... । (स्व.तं.१०।१२५८)

वचन यह सङ्केतित करता है कि परमकारण शिव अपनी शक्ति को आधार बनाकर सृष्टि करते हैं । यह सृष्टि सूक्ष्म दृष्ट्या और स्थूल दृष्ट्या दो प्रकार की है—सूक्ष्मदृष्टि से पृथिवी तत्त्व से लेकर सदाशिव तत्त्व की सृष्टि का मूलकारण परमेश्वर की समना शक्ति है । इसलिये समग्रता की दृष्टि से यह प्राकृत सृष्टि है । स्थूलदृष्टि से यह पृथिवी से लेकर सदाशिव तक चौंतीस तत्त्वों वाली है । शिव इस सृष्टि का निमित्तकारण हैं और उनकी विमर्श स्वातन्त्र्यशक्ति इसका उपादान कारण । यह सृष्टि बिना किसी प्रयोजन के क्रीडास्वरूप रची जाती है—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (शि.सू. ३।३०)

इस सूत्र से यह ज्ञात होता है कि यह सृष्टि दर्पणनगर की भाँति भिन्न प्रतीत होती हुई भी शिव से अभिन्न है । परमेश्वर लीलावश अपनी व्योम अथवा समना नामक आवरणशक्ति को क्षुब्ध कर शून्य को उत्पन्न करते हैं । शून्य से स्पर्श और स्पर्श से नाद उत्पन्न होता है । यह महाशब्द स्थावर से लेकर देवता तक समस्त प्राणियों में रहता है । इस नाद से बिन्दु अथवा सदाशिव उत्पन्न होते हैं । यह सदाशिव अपर-पर, उच्चारयुक्त-उच्चाररहित, मुद्रा-मन्त्र, क्रिया- ज्ञानइच्छा अर्थ-शब्द, स्थूल-सूक्ष्म रूपों में विराजमान हैं । इसके बाद की सृष्टि प्रक्रिया निम्नलिखित दो रूपों में वर्णित हैं—

(१)

उन्मना
↓
समना
↓
व्यापिनी
↓
शक्ति
↓
नादान्त
↓
नाद
↓
रोधिनी (रोधिका)
↓
अर्धचन्द्र
↓
बिन्दु (अथवा सदाशिव)
↓

(२)

सदाशिव
↓
ईश्वर
↓
शुद्धविद्या
↓
माया
↓

कला | विद्या | राग | काल | नियति

राग
↓
पुरुष + प्रकृति
↓
गुण
↓
बुद्धि
↓
अहङ्कार
↓

मन | ज्ञानेन्द्रिय | कर्मेन्द्रिय | पञ्चतन्मात्र

पञ्चतन्मात्र
↓
पञ्चमहाभूत

यहाँ माया और इसके पाँच कञ्चुक के बाद की सृष्टिप्रक्रिया प्रायः सांख्यदर्शन की ही है । अन्तर केवल इतना है कि इस तन्त्र के अनुसार प्रकृति भी अनेक है तथा यह गुणों की साम्यावस्था नहीं बल्कि गुणों का उपादान कारण है । दूसरी बात यह है कि सांख्य की सृष्टिप्रक्रिया जड़वादी है। वहाँ पुरुष की उत्प्रेरणा से विकास अपने आप होता जाता है पर यहाँ प्रत्येक तत्त्व किसी न किसी देवता से अधिष्ठित है । यह अधिष्ठेयअधिष्ठातृ-भाव निम्नलिखित विवरण तालिका से जाना जा सकता है—

१. समस्त तत्त्व की व्याप्ति

तत्त्व	अधिष्ठाता
पृथिवी से प्रकृति तक चौबीस तत्त्व	ब्रह्मा
पुरुष तत्त्व	विष्णु
नियति से माया तक के तत्त्व	रुद्र
शुद्धविद्या एवं ईश्वर तत्त्व	ईश्वर
इसके ऊपर समस्त तत्त्व	सदाशिव

२. त्रितत्त्व की व्याप्ति

तत्त्व	अधिष्ठाता
आत्मतत्त्व = पृथिवी से माया तक	ब्रह्मा
शुद्धविद्या-सदाशिव तक	विष्णु
शिवतत्त्व और उसके ऊपर	रुद्र

३. कारणत्रय की व्याप्ति

तत्त्व के कारण	व्यापिनी शक्ति
रुद्र	रौद्री शक्ति
विष्णु	वामा शक्ति
ब्रह्मा	ज्येष्ठा शक्ति

तान्त्रिक सृष्टिप्रक्रिया का क्रम सांख्यदर्शन की प्रक्रिया जैसा ही है । किन्तु संहारप्रक्रिया भिन्न है । इस प्रक्रिया को जानने से पहले ब्रह्मा के एक अहोरात्र को समझना आवश्यक है—

मनुष्य के एक वर्ष का देवताओं का एक दिन होता है और दिव्यरात्रि भी उतनी ही बड़ी होती है। इस प्रकार मनुष्य के ३६० वर्ष का देवताओं का एक वर्ष होता है। इस आधार पर देवताओं के १२००० वर्षों की एक चतुर्युगी होती है। इकहत्तर चतुर्युगी का एक मन्वन्तर या मनु का एक दिन होता है और उतनी ही बड़ी उनकी रात्रि भी होती है। चौदह मन्वन्तरों का एक ब्राह्म दिन होता है। इसको कल्प कहते हैं जब ब्रह्मा का दिनान्त होता है तब इस ब्राह्म सर्ग का प्रलय हो जाता है। इस समय पितामह सुप्त हो जाते हैं। उनके सुप्त होने पर कालाग्नि रुद्र जो कि इस ब्रह्माण्डकर्पर के सबसे नीचे स्थित होते हैं, ऊपर की ओर देखने लगते हैं। उनके दक्षिण वक्त्र से एक लाख योजन विस्तृत महाज्वाला निकलती है और ऊपर की ओर बढ़ती है। इस अवसर पर सप्त लोकों तथा पाताल लोक में स्थित प्राणी मूढ़ होकर ब्रह्मलोक में पड़े रहते हैं। इस प्रकार जब समस्त लोक शून्य हो जाते हैं तो नरकों के सहित ये जलकर राख हो जाते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् को जलाकर ज्वाला पुनः कालाग्निरुद के उस दक्षिण मुख में प्रवेश कर जाती है। इसके बाद सुप्त ब्रह्मा के निःश्वास से उत्पन्न महावायु चलने लगती है और राख को उड़ाकर नष्ट कर देती है तत्पश्चात् कालाग्निज्वाला की उष्णता से तप्त ब्रह्मा के शरीर से जो स्वेदजल निकलता है उससे सारा संसार एक समुद्र जैसं बन जाता है। ब्राह्मी रात्रि के बीत जाने पर ब्रह्मा पुनः सृष्टिकार्य का प्रारम्भ करते हैं।

उपर्युक्त गणना के अनुसार ब्रह्मा की आयु एक-सौ वर्ष की होती है। इस प्रकार ३६०×१०० = ३६००० ब्राह्मसर्ग का प्रलय होने के बाद ब्रह्मा अपने से ऊपर स्थित विष्णु में लीन हो जाते हैं और यह एक महाप्रलय कहलाता है। यह विष्णु का एक दिन होता है। विष्णु अपने दिनमान के अनुसार एक-सौ वर्ष जीवित रहते हैं। एक-सौ वर्ष के बाद उनके अपने से पर तत्त्व रुद्रलोक में जाने पर वहाँ भी प्रलय होता है। इसी प्रकार रुद्र का एक-सौ वर्ष जीवन काल व्यतीत होने पर उनके द्वारा अधिष्ठित लोक का विलय हो जाता है। वह भी महा प्रलय ही कहा जाता है। रुद्रलोक के ऊपर शतरुद्रों का लोक है। शतरुद्र भी एक-सौ वर्ष जीवित रहकर अपने परतत्त्व में चले जाते हैं और तब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड नष्ट होकर जल में विलीन हो जाता है तत्पश्चात् कालाग्नि रुद्र भी कालतत्त्व में लीन हो जाते हैं।

जल से लेकर मायातत्त्व तक में वर्त्तमान चराचर जगत् का संहार काल के द्वारा होता है। अर्थात् अशुद्ध अध्वा का संहारक काल है। उसके ऊपर शुद्धविद्या से लेकर शक्तितत्त्व तक का संहार भगवान् अघोर कहते हैं। इसी प्रकार सृष्टि के विलोम क्रम से जल तेज में तेज वायु में वायु आकाश में

फिर ये पञ्चमहाभूत तन्मात्राओं में तन्मात्रायें और इन्द्रिया अहङ्कार में अहङ्कार में और वह गहन = गुणसाम्य = प्रकृति में लीन हो जाता है । यह महाप्रलय छब्बीसवें रुद्र का दिन है । पृथिव्यादि समस्त तत्त्व परमाणु रूप में अपनी-अपनी अधिष्ठातृ देवताओं के साथ इसमें स्थित रहते हैं । प्रकृति के अधिष्ठाता रुद्र का संहार माया के कञ्चुक में क्रम से होता है । नियति काल राग विद्या और कला ये पाँच पूर्व-पूर्व कञ्चुक उत्तरोत्तर में क्रम से लीन होते हैं । फिर माया का लय हो जाता है । इसे प्राकृत प्रलय कहा जाता है । तदुपरान्त शुद्धविद्या आदि अध: अध: तत्त्व अपने परिमाण के अनुसार स्थिति काल के व्यतीत होने के बाद ईश्वर आदि ऊर्ध्व-ऊर्ध्व तत्त्वों में लीन हो जाते हैं । सदाशिव का लय बिन्दु में, उसका अर्धचन्द्र में, उसका रोधिनी में, रोधिनी का नाद में, नाद का नादान्त में उसका शक्तितत्त्व में, शक्तित्त्व का व्यापिनी में लय होता है । यह व्यापिनी ही शिवतत्त्व है । इसके अधिष्ठाता व्यापीश हैं । वे अपना अधिकार समाप्त होने पर व्योमरूपी में लीन हो जाते हैं । व्योमरूपी अनन्तेश में, अनन्तेश अनाथ में और अनाथ अनाश्रित में लीन होते हैं । यह अनाश्रित शिव अनाश्रय में लीन होते हैं । यह अनाश्रय ही समना है । प्रलय की प्रक्रिया यहीं तक है । इसके ऊपर उन्मना है जो नित्य और काल की सीमा से परे है ।

बन्ध-मोक्ष—स्वच्छन्द तन्त्र में बन्धन का स्वतन्त्र रूप से वर्णन नहीं मिलता किन्तु बन्धन के सन्दर्भवाक्य मिलते हैं । यथा—

'बन्धत्रयसमायुक्तो............' (स्व.तं. १०।२५६)

'अध्वा बन्धस्य कारणम्' (वही १०।३५८)

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्' (वही ४।४१०)

'आत्मना बध्यते ह्यात्मा ।' (वही १०।३६०)

स्वच्छन्दतन्त्र के सम्पूर्ण वर्णन का निष्कर्ष बन्धन से मोक्ष और मोक्ष के उपायों का वर्णन है । 'अज्ञानं बन्ध:' (शि.सू. १।२) स्पष्ट करता है कि अज्ञान ही बन्धन है । अज्ञान का अर्थ है अपूर्ण ज्ञान । यही 'मल' कहा गया है—

'मलमज्ञानमिच्छन्ति संसाराङ्कुरकारणम् ।' (मा.वि.त. १।२३)

मल को ही अज्ञान कहा जाता है और यह संसार का अंकुरण करता है। प्रश्न है कि—मल क्या है ? उत्तर में स्वच्छन्दतन्त्र कहता है—

'अभिलाषो मलोऽत्र तु ।' (स्व.तं. ४।१०५)

अपूर्णमन्यता के कारण जीव नाना प्रकार के लाभ की इच्छा करता है ।

इस इच्छा को ही मल बतलाया गया है । इसका दूसरा नाम पाश है । यह तीन प्रकार का कहा गया है—१. आणव, २. मायीय, ३. कार्म । आणव मल के विषय में इस प्रकार कहा गया है—

'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥' (ई.प्र. ३।२।४)

बोध (= चैतन्य) के स्वातन्त्र्य की हानि और अपने स्वातन्त्र्य का बोध न होना दोनों आणव मल कहे जाते हैं ।

'भिन्नवेद्यप्रथाऽत्रैव मायाख्यम्' (वही ३।२।५)

'अहम्' 'इदम्' इस प्रकार की भेदबुद्धि का कारण मामीय मल होता है । तथा—

'जन्मभोगदं कर्त्तर्यबोधे कार्मं तु ।' (वही ३।२।५)

इन तीनों में आणवमल शेष दोनों मलों का आधार है । यह तीनों ही पाश हैं । तात्पर्य यह है कि परमशिव अपनी स्वातन्त्र्यरूपा परमाशक्ति के द्वारा जब अपने स्वरूप को भुला डालता है तब वह पाशबद्ध हो जाता है और फिर अपने को शिवादि धरण्यन्त रूप में प्रकट कर भोगों को भोगता है। सबसे विचित्र बात यह है कि रेशम के कीड़े की भाँति यह अपने द्वारा रचे गये बन्धन से अपने को आवेष्टित तो कर लेता है किन्तु मुक्त होने के लिये उसे अपने से अभिन्न होते हुए भी भिन्नसदृश एक गुरु की आवश्यकता होती है ।

यह बहुत विलक्षण सी बात है कि स्वच्छन्दतन्त्र ने मोक्ष के उपायभूत गुरु मोक्तव्य शिष्य, मोक्षार्थ अनुष्ठीयमान याग के लिये भूमि आदि विषयों के वर्णन की संक्षिप्त रूपरेखा प्रथम पटल के प्रारम्भ में ही प्रस्तुत कर दी है । मन्त्रों का जप यजन हवन अधिवास आदि मोक्षप्राप्ति के बाह्य साधन हैं । उनके द्वारा शिष्य की शारीरिक शुद्धि होने पर वह गुरु के साथ तत्त्वशोधनरूप आभ्यन्तर क्रिया का पात्र बनता है । पिण्डब्रह्माण्ड सिद्धान्त के अनुसार आचार्य शिष्य के देह में पैर से अर्थात् पृथिवी तत्त्व से शोधनक्रिया का प्रारम्भ करता है और क्रमशः समना तक शोधन कर शिष्य को उन्मना में ले जाता है जहाँ गुरु और शिष्य में कोई भेद नहीं रह जाता । शोधन का अर्थ है चित्स्वरूप जीव से भिन्न प्रतीत होने वाले पृथिव्यादि तत्त्वों की भिन्नता को हटा कर उनका आत्मस्वरूप या शिवस्वरूप में अभिज्ञान करना । यही मोक्ष है । ऐसा होने पर साधक योगी और शिव में कोई भेद नहीं रह जाता वह शिव हो जाता है ।

संक्षिप्त-परिचय

प्रथम पटल

इस पटल का शीर्षक 'मन्त्रोद्धारप्रकाशन' है । मुद्रापीठ, मण्डलपीठ, मन्त्रपीठ और विद्यापीठ वाले चतुष्पीठात्मक इस स्वच्छन्दतन्त्र में मन्त्र पीठों के विषय में कहा गया है—

'स्वच्छन्दभैरवश्चण्डः क्रोध उन्मत्तभैरवः।
ग्रन्थान्तराणि चत्वारि मन्त्रपीठं वरानने ॥' (स्व०तं०टी० १।१)

अर्थात् मन्त्रपीठ चार हैं—स्वच्छन्द भैरव, चण्ड भैरव, क्रोध भैरव और उन्मत्त भैरव । पटल के प्रारम्भ में उत्तम गुरु और उत्तम शिष्य के लक्षणों का वर्णन करने के साथ-साथ दुष्ट आचार्य और अयोग्य शिष्य की चर्चा की गयी है । अकार से लेकर क्षकार तक के पचास वर्णों को मातृका कहा जाता है । इनमें 'अ' से लेकर 'अः' तक सोलह स्वरों को 'भैरव' या 'बीज' तथा 'क' से लेकर 'क्ष' तक चौंतीस व्यञ्जनों को 'भैरवी' या 'योनि' कहा गया है । इनके द्वारा इनकी सात मातृका देवियों की पूजा करनी चाहिये । अघोरेश की पूजा अघोरमन्त्र के द्वारा की जानी चाहिये । यह पूजा अघोर के स्थूल रूप की होती है । विद्याङ्गों का वर्णन करते हुए इच्छा ज्ञान क्रिया नामक शक्तित्रय के मन्त्रों की चर्चा की गयी है । भैरव मन्त्र के साथ भैरवी के अङ्गवक्त्रों तथा भैरवाष्टक एवं लोकपालाष्टक के मन्त्रों के वर्णन के साथ प्रथमपटल का उपसंहार हुआ है ।

द्वितीय पटल

द्वितीय पटल का नाम 'अर्चाधिकार' पटल है शीर्षक के द्वारा ही इस पटल के विषय का सङ्केत मिलता है । इसमें शौच, प्राणायाम, अभिषेक, संध्या, भस्मस्नान आदि करने के बाद यागगृहप्रवेश, विघ्नप्रोच्चाटन, द्वारदेवता-पूजन, पुनः यागगृहप्रवेश, ब्राह्मणपूजन, न्यास करने का विधान बतलाया गया है । देहशुद्धि के लिये प्राणायाम, न्यासविधि के द्वारा इष्टदेवता का आवाहन, हृदययाग या आन्तर पूजा की चर्चा की गयी है । तत्पश्चात् आसन, न्यास, विद्यापद्म की दिशाओं में वामा ज्येष्ठा रौद्री आदि शक्तियों का तथा मध्य में मनोन्मनी नामक शक्ति के न्यास और ध्यान का उल्लेख है ।

सूर्य सोम और अग्नि के मण्डल तथा उनके अधिष्ठातृ ब्रह्मा, विष्णु और शिव के न्यास ध्यान के बाद मध्य में महाप्रेत भगवान् भैरव के स्थूलरूप का न्यास करे । आसन गन्ध आदि से उनकी पूजा के पश्चात् भगवान् के निष्कल स्वरूप का ध्यान आवाहन आदि करना चाहिये । इनके पूजन के बाद

अन्तर्याग का अनुष्ठान करना चाहिये । आवरण न्यास, वक्त्र न्यास के वर्णन के पश्चात् अघोरेशी, आठ भैरव, आठ लोकपाल का ध्यान करने की चर्चा की गयी है । ततः नाडीसन्धान, नैवेद्य, अर्घप्रदान, मुद्रानिवेदन आदि विषय वर्णित हैं । साथ ही अक्षमाला, जप का स्वरूप और जप का भेद भी बतलाया गया है ।

पूजन का वर्णन करने के बाद याग का वर्णन है । शक्तिन्यास, आठ श्मशानाधिपति का वर्णन कर उनके पूजन नमन की चर्चा, कुण्डसंस्कार, वागीशीपूजन, योनिमुद्राप्रदर्शन, अग्निजनन, अग्निस्थापन, उसका पूजन, अग्नि का गर्भाधान आदि संस्कार, उसकी अङ्गकल्पना, जातकर्म, सूतकशुद्धि, वक्त्र-शोधन आदि करने के बाद, वह्नि की रक्षा के लिये तत्तद् दिशाओं में देवता-न्यास करना चाहिये । इसके बाद शिवाग्नि का नामकरण, आज्यसंस्कार, वक्त्रसंस्कार, विविध काम्य होमों का वर्णन है । अग्नि के चूड़ाकरण आदि अवशिष्ट संस्कारों के लिये पूर्णाहुति देने के बाद यजन करना चाहिये । आगे चलकर भैरव की पूजा, नित्यहोम का वर्णन करने के बाद भिन्न-भिन्न उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये भिन्न-भिन्न द्रव्यों, मुद्राओं एवं आहुतिपरिमाण की चर्चा के साथ इस पटल का उपसंहार किया गया है ।

तृतीय पटल

इस पटल का नाम 'अधिवास' पटल है । गुरु शुद्ध, सुष्ठु अलङ्कृत होकर द्वारदेवताओं की पूजा कर यागगृह में प्रवेश करे । वहाँ रक्षाविधान के बाद, अन्तर्याग करना चाहिये । इस याग को करने के बाद ही द्रव्ययाग करना चाहिये—

अकृत्वा मानसं यागं योऽन्ययागं समारभेत् ।
अशिवः स तु विज्ञेयो न मोक्षाय विधीयते ॥

अर्थात् मानसयाग न करने पर वह बाह्ययाग व्यर्थ हो जाता है । तत्पश्चात् भैरवमूर्त्ति का न्यास, उसका पूजन, अमृतीकरण, अर्घपात्रप्रकल्पन, शिवहस्त-विधि, मन्त्रसन्धान, नाडीसन्धान को क्रमश करने की आज्ञा दी गयी है । इसके बाद यागभूमि का शोधन, उसका मार्जन, लेपन, विकिरा का प्रयोग, शिवकुम्भ की परिकल्पना करनी चाहिये । कुम्भ में कलाओं अध्वाओं और भैरवों की स्थापना एवं प्राणप्रतिष्ठा करने के बाद उसका अर्चन और साथ ही बार्धानी की स्थापना और पूजा करनी चाहिये । इस अनुष्ठान के बाद इन्द्र आदि लोकपालों की पूजा, मण्डलनिर्माण, गुरु एवं गणेश की पूजा करनी चाहिये । उनकी आज्ञा से योगपीठ की रचना, इसमें मन्त्रसन्धान, नाड़ी-सन्धान, परमीकरण, नैवेद्यदान, मुद्राप्रदर्शन करने के बाद क्षेत्रपालबलि देनी

चाहिये । तत्पश्चात् आचार्य स्नान कर भस्मधारण एवं आचमन कर अग्निकुण्ड के पास जाकर भैरवपूजन, हवन चरुपाक, स्थाली में भैरव की स्थापना, पूजा, और चरुपाक करे । चरु का हवन, सम्पात होम, देवताओं के लिये होम कर भगवान् भैरव से शिष्य की अधिवासदीक्षा के लिये प्रार्थना होम करे ।

इसके लिये यज्ञमण्डप के द्वार पर मण्डल बना कर उसके ऊपर कुश का आसन रख कर शिष्य को उस पर बैठाये । पुनः उस शिष्य का संस्कार कर उसकी आँख पर पट्टी बाँधे और हाथ में पुष्प दे । शिष्य मन्त्र का उच्चारण करता हुआ पुष्पों को विखेर दे । फिर आचार्य शिष्य का हाथ पकड़ कर यवनिका के अन्दर स्थापित भैरव के सामने ले जाय और शिष्य के द्वारा पुष्प अर्पित कराने के बाद उसका मुख खोल कर सदाशिवसहित भैरव का दर्शन कराये । पुनः यहाँ मण्डल बना कर शिष्य को उसमें बैठा कर आचार्य उसके अशुद्ध देह को भस्म कर यौगिक विधि से उसमें मन्त्र, कला आदि की स्थापना के द्वारा उसको दिव्य देह प्रदान करे । तत्पश्चात् शिष्य के शिर पर शिवहस्त रख कर आचार्य उसे कुण्ड के समीप ले जाकर मण्डल पर बैठाये। फिर शिष्य के हाथ में कुश दे कर नाड़ीसन्धान करे । शिवहस्त में भैरव का ध्यान कर शिष्य का शिवहस्त से आलभन अर्थात् स्पर्श करे । सम्पातहोम मन्त्रदीप पाशच्छेदन आदि क्रियाओं को सम्पन्न करने के बाद आचार्य शिष्य के हाथ में पुष्प देकर स्थण्डिल शिवकुम्भ शिवाग्नि का पूजन तथा दण्डवत् प्रणिपात कराये । पुनः पञ्चगव्यप्रदान के बाद आचार्य अनुष्ठान में न्यूनाधिक्यदोष के परिहार के लिये प्रायश्चित्त होम करे ।

विशेषपूजन, अर्घदान, मुद्राबन्ध, स्तुतिपाठ, वाद्य, चरुभोजन करने के बाद देवता का विसर्जन करना चाहिये । शिवकुम्भ पर से माला हटाकर कलश का पूजन फिर गोमय का स्पर्श करे । शिवकुम्भ से प्रोक्षण करने के बाद शिष्य के लिये शय्या की व्यवस्था करे । शय्या पर स्थित शिष्य का शिखाबन्धन तथा रक्षा कर उसे सुला दे और आचार्य स्वयं मण्डप के बाहर जाकर बलिकर्म करे । बाद में पञ्चगव्य पान कर या तो शिष्यों के साथ सो जाय या जागरण करते हुए भैरव का ध्यान करे । इस प्रकार गुरु और शिष्य का यागमण्डप में अधिवास का अनुष्ठान पूर्ण होता है ।

चतुर्थ पटल

चतुर्थ पटल का नाम 'दीक्षा-अभिषेक' पटल है । इसमें कलादीक्षा की साङ्गोपाङ्ग चर्चा विहित है । रात्रि बीतने पर आचार्य शौच आदि करने के बाद सकलीकरण कर यागमण्डप में प्रवेश करे । शिष्य भी हाथ में पुष्प लेकर आचार्य के सम्मुख उपस्थित हो रात्रि में दृष्ट स्वप्नों का वर्णन करे ।

मदिरापान विष्ठा आदि का लेपन, दही भात खाना आदि, सूर्योदय, समुद्रनदी आदि कासं तरण आदि देखना शुभ स्वप्न होते हैं । तैलाभ्यङ्ग, तैलपान, दाँत एवं केश का गिरना विवाह देखना आदि अशुभ स्वप्न माने गये हैं । अशुभ स्वप्नों को देखने के बाद तत्संसूचित दुष्टफल की शान्ति के लिये होम करना चाहिये । तत्पश्चात् सकलीकरण, विघ्नोच्चाटन, शिवकुम्भस्थापन शिव-हस्त, लोकपालपूजा आदि करने के बाद साधक शिव का विसर्जन करे । इसके बाद नित्य नैमित्तिक कर्म करे । यहाँ भी मण्डलनिर्माण आदि पूर्व की भाँति करना होता है । नैमित्तिक कर्म में भी सकलीकरण आदि अनुष्ठान करना पड़ता है । तत्पश्चात् मण्डल का संस्कार कर आचार्य उसमें प्रवेश कर गुरु तथा अनन्त आदि का पूजन करे । बाद में नाड़ीसन्धान, तर्पण, पूर्णाहुति आदि कर आचार्य शिष्य के देह में सकलीकरण, आसन, मण्डलकल्पना, मन्त्रसन्धान, शिवहस्तक्रिया का सम्पादन करे । तत्पश्चात् आचार्य शिष्य का नामकरण कर प्रणिपात प्रदक्षिणा आदि के पश्चात् हवन कराये । इसके बाद शिष्य की आँख को वस्त्राच्छादित कर उसके हाथ में पुष्प देकर मण्डल में प्रवेश करे । फिर अग्निकुण्ड के समीप शिष्य का नाडीसन्धान, पूर्णाहुति प्रायश्चित्त होम आदि करे । इस प्रकार शिष्य की बीजशुद्धि होती है । इसके पश्चात् होम आदि के द्वारा शिष्य का रुद्रांशापादन करे । इस प्रकार शिष्य की समयी नामक पहली दीक्षा सम्पन्न होती है ।

दीक्षा के सन्दर्भ में अध्वशुद्धि के लिये सूक्ष्म विधान करना चाहिये । यह दीक्षा पुत्रक और साधक भेद से दो प्रकार की होती है । शिष्य भी दो प्रकार के होते हैं—भोगेच्छु ओर मोक्षेच्छु । इसको लोकधर्मी और शिवधर्मी भी कहते हैं । शिवधर्मी या मुमुक्षु भी दो प्रकार का होता है निर्बीज और सबीज । बालक, मूर्ख, वृद्ध स्त्री, रोगी आदि की नियम आदि से रहित निर्बीज दीक्षा होती है । जो विद्वान् हैं और व्रतचर्या आदि का पालन करने में समर्थ हैं उनकी सबीज दीक्षा होती है । इन चार प्रकार की दीक्षाओं में से पहले पुत्रक दीक्षा विधान के सन्दर्भ में षडध्व शुद्धि पर प्रकाश डाला गया है । इसमें पाशशुद्धि के लिये अध्वसन्धि में होम, व्याप्यव्यापक भाव से अध्वा का अवलोकन, अध्वन्यास, वागीश्वरी का सन्निधापन उसका पूजन, निष्कृतिहोम, वागीशीजन्म, उसके ४८ संस्कार, उसका रुद्रांशापादन, जीव का भोग से विश्लेष आदि विषयों को बतलाया गया है । शुद्ध चैतन्य का शिष्य देह में प्रवेश, उसका तत्स्थीकरण, वागीशीपूजन-विसर्जन करना चाहिये । शिवधर्मिणी दीक्षा को बतलाने के बाद लोकधर्मिणी दीक्षा, सबीज दीक्षा, सद्योनिर्वाणदा दीक्षा, निवृत्ति प्रतिष्ठा आदि कला का सन्धान, कलाव्याप्ति, वागीशीध्यान, अधिकार, भोग, लय, निष्कृति, पाशच्छेद, तर्पण, वागीशी विसर्जन, षडध्व रूपपाश का शोधन, क्षमापन, त्रितत्त्व की शुद्धि, शिष्य का शिखाच्छेदन,

होम, स्नान, शिवहस्त का पूजन प्रभृति का वर्णन कर आचार्य द्वारा योजनिका अनुष्ठान के लिये भगवान् से प्रार्थना करने की बात कही गयी है ।

योजनिका-कर्म हेतु पूर्व की भाँति पहले सकलीकरण आदि करे। तत्पश्चात् चारप्रमाण, प्राणसञ्चार, षडध्वविभाग, षडध्व की प्राण में स्थिति, मन्त्रैकादशिका एवं पदैकादशिका की प्राण में स्थिति तथा हंसोच्चार को बतलाते हुए व्यापिनी समना के त्याग के बाद उन्मना में प्रवेश कर शिवतत्त्व को प्राप्त करना चाहिये—यह कहा गया। उसके बाद हंसोच्चार, वर्णोच्चार, कारणत्याग काल-त्याग, शून्यभावना, षट्शून्यत्याग, सप्तसामरस्य का ज्ञान, सभेदविषुवत्, पदार्थ-भेदन, हंसयोग तथा मात्रासंख्या की चर्चा की गयी है। तत्पश्चात् शरीर में हंसमात्रा का परिमाण, मात्रा की संख्या, मात्रा का योग, कारणलक्षण, ग्रन्थि-भेदन, आत्मव्याप्ति, शिवव्याप्ति और तत्त्वव्याप्ति का वर्णन किया गया है। इसके अन्त में आचार्य में शिवभावना तथा पूर्णाहुति को बतलाते हुए समना-पर्यन्त पाशजाल की स्थिति कही गयी है । मानस व्यापार के ऊपर बोधरूप होने पर शिष्य शिव हो जाता है । यहाँ होम करना पड़ता है । इसके अनन्तर शिष्य शिवाग्नि आदि की प्रदक्षिणा कर कृतकृत्य हो जाता है । उसके अन्दर सर्वज्ञता आदि छः गुणों का आविर्भाव होने से वह शिव हो जाता है ।

निर्वाणदीक्षा दो प्रकार की होती है—सबीजा और निर्बीजा । सबीजदीक्षा-दीक्ष्य का अभिषेक होता है । इस सन्दर्भ में भैरवपूजन, कलापूजन आसन और मण्डल की कल्पना आदि करने के बाद आचार्य शिष्य को नूतन वस्त्र पहना कर योगपीठ की रचना कर शिष्य को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने का अधिकार देता है कि 'आज से तुम शिव की आज्ञा से लोगों को दीक्षा देने के अधिकारी हो गये हो ।' साथ ही आचार्य स्वच्छन्दभैरव से शिष्य के अधिकार की योग्यता एवं सफलता के लिये प्रार्थना करता है । अभिषेक के बाद प्रणाम के अनन्तर शिष्य की सबीज दीक्षा पूर्ण होती है । इसी प्रकार भूतिदीक्षा विद्यादीक्षा की भी इस पटल में चर्चा की गयी है । दीक्षा के बाद आत्मयाग करने की बात कही गयी है । आत्मदीक्षा दो प्रकार की होती है—वैज्ञानिकी और प्राकृती । प्राकृती दीक्षा में पूजा होम आदि करना पड़ता है । वैज्ञानिकी उससे भिन्न है । इसमें समस्त कार्य सूक्ष्मरूप से सम्पादित किये जाते हैं । आत्मदीक्षा के बाद विशेष पूजन अर्घदान साष्टाङ्गप्रणाम के बाद विसर्जनविधि का वर्णन करते हुए क्षमापन बलिकर्म गुरुपूजा का वर्णन किया गया है । अन्त में यह बतलाया गया है कि शिवदीक्षादीक्षित व्यक्ति की पूर्वजाति नहीं रह जाती । पूर्व में चाहे वह किसी भी जाति का हो दीक्षासम्पन्न होने के बाद उसकी केवल भैरवीय जाति ही होती है । पूर्व जाति की चर्चा करने वाला चिरकाल तक नरकगामी और प्रायश्चित्ती होता है ।

पञ्चम पटल

इस पटल का शीर्षक 'तत्त्वादिदीक्षा' पटल है। इसमें छत्तीस मुख्य तत्त्वों का शोधन बतलाया गया है। विद्याराज के नववर्ण (= ह्, र्, क्ष्, म्, ल्, व्, य्, ऊ, म्) समस्त तत्त्वों के वाचक हैं। जैसे पृथिवी से लेकर प्रकृति तत्त्व तक का वाचक ऊकार है। 'म्' शक्ति का वाचक है। इसी 'म्' के द्वारा व्यापिनी समना का भी शोधन होता है। इसके बाद आत्मा को परतत्त्व उन्मना से जोड़ दिया जाता है। यह तत्त्वदीक्षा छत्तीस, नव, तीन और एक तत्त्व के शोधन की दृष्टि से चार प्रकार की होती है। तत्त्व दीक्षा के बाद पद दीक्षा की विधि बतलायी गयी है। इसमें नवनाभ मण्डल का उद्धार करना पड़ता है। नवनाभ मण्डल की रचना नवकमलों में होती है। यह नवनाभ पुर आठ द्वारों वाला होता है। इसके अनुष्ठान में सकलीकरण, पूजन आदि पूर्व की भाँति किया जाता है। भैरव का पूजन मण्डल के मध्य में होता है। उन तत्त्वों तथा तत्त्वाधिष्ठातृ देवताओं का न्यास करने के बाद सबको संहार क्रम से शिवतत्त्व में संयुक्त किया जाता है। शोधन अर्थात् तत्त्व दीक्षा के बाद आचार्य के द्वारा शिष्य को नियमों का ज्ञान कराया जाता है। इसमें किसी शास्त्र, धर्म आदि की निन्दा न करने, गुरु का अन्न न खाने आदि का उपदेश होता है.। समयश्रावण के पश्चात् विज्ञानदीक्षा की चर्चा की गयी है। इसमें पाँच उद्घात तथा उनके द्वारा शिष्याध्वा का शोधन अर्थात् पञ्चतत्त्व का शोधन करने के बाद एक उद्घात से शिष्यात्मा का परतत्त्व से संयोजन बतलाया गया है। इस क्रम में पृथिव्यादि चार तत्त्वों के शोधन के बाद अन्तिम एक उद्घात के द्वारा शून्य अर्थात् व्यापिनी का शोधन कर समना के बाद उन्मना में शिष्यात्मा का योजन होता है। यहाँ संयुक्त होने पर शिष्य परमशान्ति को प्राप्त करता है।

यह सम्प्रदाय गुरुपरम्परा से प्राप्त होता है। (अत्यन्त खेद का विषय है कि वर्त्तमान समय में यह परम्परा उच्छिन्न हो गयी है)। वर्ण मन्त्र पद एवं कला तत्त्व भुवन इन छहों अध्वाओं के शोधन में ज्ञानदीक्षा का प्रयोग होता है। यह शोधन धारणा दीक्षा के नाम से जाना जाता है। इस सन्दर्भ में टीकाकार आचार्य क्षेमराज ने बौद्धों के मत का उपस्थापन कर उनका खण्डन एवं तान्त्रिक मत का मण्डन किया है। योगी को चाहिये कि वह इस धारणा दीक्षा का अभ्यास करे क्योंकि ऐसा करने से उसे परमशान्ति मिलती है।

षष्ठ पटल

इस पटल को 'पञ्चप्रणवाधिकार' पटल की संज्ञा दी गयी है। समयी साधक को अनेक सिद्धियाँ मिलती हैं। प्रथमपटल में निर्दिष्ट बहुरूप मन्त्र को

पाँच प्रणवों से संयुक्त कर इस मन्त्र में जितने अक्षर (= बत्तीस अक्षर) हैं उतने लाख जप करना चाहिये । इसके लिये सब प्रकार से शुद्ध एकान्त गुफा उत्तम स्थान है । प्रणव को ह्रस्व दीर्घ प्लुत सूक्ष्म अतिसूक्ष्म भेद से पाँच प्रकार का बतलाया गया है । यह प्रणव 'हंस' से युक्त है । इस प्रणव का विस्तारपूर्वक वर्णन करने के समय षष्ठ स्वर (= ऊकार) पर विशेष दृष्टि डाली गयी है । ह्रस्व उकार एवं दीर्घ ऊकार को उस महाविमर्शात्मक परतत्त्व का गुण माना गया है । परतत्त्व (= शिव) के सकल या सगुण तथा निष्कल या निर्गुण दोनों रूप षष्ठस्वर से युक्त हैं । यह पञ्चप्रणव वाचक और वाच्य दो रूपों वाला है । अ उ म् बिन्दु और नाद ये वाचक पञ्च प्रणव हैं । ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव ये वाच्य पञ्चप्रणव हैं । बहुरूप मन्त्र के जप और उसके दशांश हवन का अनुष्ठान करने से साधक को परतत्त्व का बोध हो जाता है और वह अहिकञ्चुकवत् संसार से मुक्त हो जाता है ।

होम के लिये घटक द्रव्यों का वर्णन कर इस जप होम के फल का वर्णन किया गया है । वशीकरण के अनेक घटक द्रव्यों को बतलाने के साथ-साथ उच्चाटन विद्वेषण, सुभगीकरण मारण प्रयोगों को बतलाते हुए अन्त में शान्तिकर्म की भी चर्चा की गयी है ।

सप्तम पटल

इस पटल का नाम 'कालाधिकार' पटल है । काल दो प्रकार का है— सौर और आध्यात्म । सौरकाल प्रसिद्ध है अतः उसका दक्षिणायन, उत्तरायण, पक्ष, मास, वेला नाम लेकर परिचय कराने के बाद इस पटल में आध्यात्म काल का विस्तृत वर्णन किया गया है । इस षाट्कोशिक शरीर में असंख्य नाड़ियाँ फैली हुई हैं जिनमें प्राणवायु सञ्चरण करता रहता है । इन नाडियों में इड़ा, पिङ्गला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू और शंखिनी ये दश प्रधान नाड़ियाँ हैं । प्राणवायु भी अपने व्यापार की दृष्टि से दश प्रकार के हैं । प्रस्तुत पटल में इसको विस्तार से बताने के बाद क्षण, तुटि एवं याम आदि जो कि प्राणचार के आधार पर निश्चित होते हैं, का विवरण प्रस्तुत है । इसी में चन्द्र, सूर्य आदि नक्षत्र, ग्रह, राशियाँ तथा प्रातः सायं आदि काल की भी स्थिति बतलायी गयी है । यह बाह्यकाल शरीर के भिन्न-भिन्न अङ्गों में स्थित होता है । पक्ष, मास, वर्ष, दशाब्द, शताब्द यहाँ तक कि युगों की भी स्थिति योगी को प्राणचार में अनुभूत होती है । प्राणचार के सिद्ध हो जाने पर योगी जन्म-मृत्यु को जीत लेता है और अपने साथ-साथ दूसरे के जीवनकाल का भी ज्ञान उसे हो जाता है । इड़ा आदि तीन मुख्य नाडियों में प्राणचार की साधना के परिपक्व हो जाने पर वह ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, वामा, ज्येष्ठा, रौद्री आदि सबको जान लेता है । योगी

इस योग के बल से अपनी तथा दूसरे की मृत्यु, रोग, सम्पत्तिनाश तथा आदर सम्मान राज्यलाभ आदि का ज्ञान कर लेता तथा अशुभों पर विजय प्राप्त कर लेता है । आध्यात्मिक काल को जीतने वाला योगी नाना प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करने के साथ-साथ यदि परमतत्त्व के ध्यान में तत्पर रहता है तो हस्तगत मोक्ष प्राप्त कर लेता है ।

आगे चलकर यह बतलाया गया कि परतत्त्व का ज्ञान ही मोक्ष है । इसी क्रम में पञ्चपञ्चक का वर्णन किया गया है । अहङ्कार आदि अट्ठारह गुणों से युक्त उन्मना नामक परतत्त्व पञ्चपञ्चक में रहता है । ऐसा तत्त्वज्ञाता जीवन्मुक्त हो जाता है । उसके अन्दर सर्वज्ञता आदि छः गुण आ जाते हैं । वह कालजयी होकर स्वच्छन्दभैरव के समान हो जाता है । इसके बाद अयोगी के वे लक्षण बतलाये गये हैं जिनके प्रकट होने पर अयोगी की शीघ्र मृत्यु हो जाती है । साथ ही ऐसे अरिष्टों की शान्ति के उपाय भी बतलाये गये हैं । योगाभ्यास की विधि तथा उसका फल बतलाने के बाद नाग आदि दश वायुओं के कार्य बतलाये गये हैं । जो योगी इन वायुओं का निरोध कर लेता है, शरीर के तत्तत् संस्थानों में निरोध होने पर उस योगी के शरीर में तत्तत् लक्षण प्रकट होने लगते हैं । उन्मनापर्यन्त समस्त द्वारों का उद्‌घाटन करने के बाद योगी स्वच्छन्द के समान हो जाता है । उसके अन्दर परकायप्रवेश की क्षमता, क्षुत्तृषा का नाश, त्रैलोक्य का सार्वकालिक प्रत्यक्ष तथा सर्वज्ञता आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं ।

अष्टम पटल

अष्टम पटल को 'अंशकाधिकार' पटल कहा गया है । परबोधभैरव की ब्राह्मी आदि शक्तियों के द्वारा अल्पांशतया अवभासित ब्रह्मा आदि अंशक कहे जाते हैं । भावांश, स्वभावांश, पुष्पपातांश, मन्त्रांश तथा दो प्रकार का अंशकापादन ये छः प्रकार के अंशक होते हैं । देवानुस्मरण को भावांश, लिङ्गार्चन आदि व्यापार को स्वभावांश कहते हैं । यह ब्रह्मांश आदि नाम वाला होता है । वेदभक्त आदि को ब्रह्मांश आदि कहते हैं । पुष्पपातवश नामकरण को पुष्पपातांश एवं मन्त्राराधक को मन्त्रांश कहते हैं । नरमांस का होम करने वाला तथा वीरद्रव्य के प्रयोग के अयोग्य व्यक्ति ये दोनों अंशकापादन हैं । मन्त्रांशक हीन मध्यम सिद्ध और सुसिद्ध चार प्रकार के होते हैं । इनकी साधनाविधि बतलाने के बाद यह कहा गया कि मन्त्रों के वर्णों में चैतन्य का आविर्भाव होने पर वे भोग और मोक्ष दोनों के प्रदाता बन जाते हैं । इसके बाद मन्त्रावतार का क्रम बतलाया गया है । इसके बाद तन्त्रावतार का क्रम बतलाते हुए कहा गया कि परम कारण शिव से यह तन्त्र मनुष्य तक अवतीर्ण हुआ । परमशिव से सदाशिव उनसे ईश्वर ईश्वर से विद्येश्वर उनसे

श्रीकण्ठ उनसे देवताओं, ऋषियों तथा देवताओं से और फिर मनुष्यों के बीच यह तन्त्र प्रचलित हुआ । अन्त में परमेश्वर पार्वती को कहते हैं कि तुम भी इस गुप्ततन्त्र को ऋषियों और मनुष्यों में वितरित करो ।

नवम पटल

इस पटल को 'कोटराक्षाद्याधिकार' पटल कहा जा सकता है । भगवान् स्वच्छन्दभैरव के हृदय से एक तेजोमय रूप प्रकट हुआ जो भिन्नाञ्जन के समूह जैसा कृष्णवर्ण का तथा नाना अलङ्कारों से अलङ्कृत था । उनका नाम कोटराक्ष हुआ । इनकी आराधना का मन्त्र भी स्वच्छन्दमन्त्र ही है । क्योंकि वे स्वच्छन्दभैरव स्वरूप हैं । शुद्धभूमि में विशिष्ट मण्डल बनाकर साधक कोटराक्ष की मूर्त्ति की स्थापना कर अर्घ आदि से उनका पूजन करे । भैरवमन्त्र के बत्तीस अक्षरों के द्वारा कमल पर अरुणा आदि बत्तीस देवियों का आवाहन पूजन आदि करना चाहिये । तत्पश्चात् दश दिक्पालों के पूजन का विधान है। ध्यान और पूजन के बाद जप के योग्य महेन्द्र मलय आदि आठ पर्वतों एवं अन्य क्षेत्रों का वर्णन किया गया है । मन्त्र के सिद्ध होने पर साधक कालाग्नि भुवन से लेकर सदाशिव पर्यन्त समस्त लोकों को वश में कर लेता है । यह बत्तीस देवताचक्र परिवार के साथ कोटराक्ष की उपासना है ।

उक्त परिवार से रहित एकवीर उपासना भी पूर्वोक्त विधि से की जाती है । साधक इस उपासना से यथेच्छ फल प्राप्त करता है । इसके बाद इस पटल में रक्षाविधान का वर्णन है । इसमें बत्तीस अरों वाला चक्र बनाकर उसमें साध्य का नाम लिखकर अन्य अनुष्ठानों को करने से मृत्यु के मुख में गया हुआ व्यक्ति भी जीवित हो उठता है । यहाँ मृत्युरक्षा के अनेक अनुष्ठानोपाय बतलाये गये हैं । रक्षा के अतिरिक्त मारण के लिये क्रोधराज प्रयोग शत्रुत्रास के लिये विकराल प्रयोग, वशीकार के लिये मन्मथ प्रयोग तथा अन्यान्य उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिये अन्य अनेक प्रयोगों का वर्णन है । एक बार फिर अनेक मृत्युञ्जयविधि का वर्णन करते हुए शान्तिकर्म, गुटिकासिद्धि, विषादिमृत्यु के निवारण के उपाय बतलाये गये हैं । अन्त में जो लोग ध्यान करने में सक्षम नहीं हैं उनके लिये विषनिवारण के ओषधीय उपचार बतला कर यह सङ्केत किया गया कि इस पटल में विषशमनार्थ उक्त विधि के अतिरिक्त अन्य उपाय भी हैं । सिद्ध पुरुष उनका भी प्रयोग कर सकता है ।

दशम पटल

इस पटल को 'भुवनाध्वदीक्षाधिकार' पटल कहा गया है । इसमें ब्रह्माण्ड सहित समस्त तत्त्वों एवं उनके अधिष्ठातृदेवों का वर्णन है । यह ब्रह्माण्ड जैसे दो कड़ाहे उल्टे-सीधे रखकर बन्द कर दिये जाँय उस प्रकार के कर्पर के

समान है। इसमें सबसे नीचे कालाग्निरुद्र भुवन है । उसके ऊपर निन्यानवे करोड़ अर्थात् अनन्त संख्या वाले भुवन हैं । इन भुवनों का परिमाण बतलाने के लिये इस पटल में परमाणु से लेकर योजन तक के परिमाण का स्वरूप बतलाया गया है । कालाग्निरुद्र भुवन के अधिपति कालाग्नि रुद्र हैं । ये सपरिवार, जिस सिंहासन पर विराजमान हैं वह दो हजार योजन चौड़ा और एक हजार योजन ऊँचा है । कालाग्निरुद्र भुवन के ऊपर पचास करोड़ नरक हैं। इनमें वैतरणी कुम्भीपाक आदि १४० नरक प्रधान हैं । ये त्रिकोणाकार और अत्यन्त भयानक हैं । जो लोग पापी तथा असत्कर्म करने वाले हैं वे इन नरकों में जाते हैं । इन १४० नरकों में मुख्य पैंतीस हैं । चूँकि इनमें से एक-एक नरक के चार-चार भेद हैं इसलिये मुख्य नरक (३५×४ =) १४० हैं । इन पैंतीस नरकों का शोधन करने से पचास करोड़ नरकों का शोधन हो जाता है । इन नरकों का विस्तार बत्तीस करोड़ योजन है । इनके अधिपति कुष्माण्ड हैं जो इन नरकों के ऊपर स्थित हैं ।

इन नरकों के ऊपर पाताल हैं । मुख्य पाताल आभास वरताल आदि आठ हैं । इनकी एक-एक की ऊँचाई नौ हजार योजन है और एक से दूसरे की दूरी एक हजार योजन है । इस प्रकार इनका विस्तार अस्सी हजार योजन हैं । ये सब छत्र के आकार के हैं । जो लोग शिवाराधक हैं वे समस्त ऐश्वर्ययुक्त इन पातालों में सुन्दरियों के साथ रमण करते रहते हैं । सौवर्ण नामक अष्टम पाताल में इन पातालों के हाटक नामक स्वामी विराजमान हैं ।

पाताल के ऊपर बीस हजार योजन विस्तृत भूकटाह है । इस भगवती पृथिवी के मध्य में सुवर्णमय महामेरु पर्वत स्थित है । इस पर्वत के ऊपर मनोवती नगरी है । इसके चारों ओर ऊपर नीचे तत्तद् देवताओं के नगर हैं जिनमें समस्त ऐश्वर्यसम्पन्न दिव्य जीव निवास करते हैं । इष्ट पूर्त से पवित्रित शिवार्चनरत धर्मात्मा जीव यहाँ पहुँचते हैं । यहाँ गङ्गा नदी निरन्तर प्रवहमान हैं । गङ्गानदी की उत्पत्ति के विषय में इस पटल में कहा गया है कि—

एक बार क्रीडानिरत पार्वती ने शिव के नेत्रों को अपनी अङ्गुलियों से ढँक लिया । बाद में जब शिव के नेत्र उद्घाटित हुए तो उनमें से जो अश्रुधारा निकली वही गङ्गा नदी हैं । चूँकि शिववक्त्र पार्वती की दशो अङ्गुलियों से ढँका था इसलिये गङ्गा दश स्रोतों में प्रवाहित हुई । उनमें से सात धारायें उनके कपालआवरण में रुक गयी और तीन में से एक विष्णुपुर, दूसरी ब्रह्मलोक और तीसरी सत्यलोक में चली गयी । देवताओं की प्रार्थना पर शिव ने गङ्गा को उत्सृष्ट किया और वह पर्वतों पर होती हुई समुद्र में मिल गयी । गङ्गा के वर्णन के बाद मन्दर गन्धमादन आदि पर्वतों, चित्ररथ वन, मानसरोवर के साथ जम्बूद्वीप का वर्णन है । मेरु और समुद्र के बीच

मेरु के चारो ओर निषध आदि नव पर्वत हैं । जम्बूद्वीप में केतुमाल, इलावृत भारत आदि देश हैं । ये देश तडाग, वन उपवन आदि से समृद्ध हैं । जम्बूद्वीप की भाँति कुमारी द्वीप, मलय द्वीप आदि अन्य द्वीप इस धराधाम पर विराजमान हैं । उनमें भी अनेक देश हैं । तत्तद् देशों के नाम के साथ प्रत्येक देश के अधिपति उनके ऐश्वर्य, प्राकृतिक सम्पदा आहार विहार आदि का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है ।

मेरु और लोकालोक पर्वतों के बीच उत्तरायण दक्षिणायन, देवमार्ग, पितृमार्ग आदि का वर्णन कर कहा गया कि पृथिवी का विस्तार एक-सौ करोड़ योजन है । इस भूर्लोक में स्थित भुवनों का शोधन कलादीक्षाप्रकरण में उक्त संस्कारों के द्वारा करना चाहिये । इससे कालाग्नि नरक पाताल और भूर्लोकस्थ अनन्त भुवनों का शोधन हो जाता है ।

कालाग्निरुद्र भुवन से लेकर भूर्लोकस्थ भुवनों का शोधन बतलाने के बाद यह बतलाया गया कि पशु का छेदन आदि करना चाहिये । पशु का चतुर्दश योनि का संहारक्रम से शोधन करना चाहिये । इसके बाद गर्भाधान आदि अड़तालीस संस्कारों का वर्णन करते हुए यह बतलाया गया कि इन संस्कारों से पशु की शुद्धि होती है ।

भुवर्लोक का वर्णन करते हुए कहा गया कि भूपृष्ठ से सूर्यपर्यन्त एक लाख योजन विस्तृत भुवर्लोक है । इसमें दश-दश हजार योजन विस्तार वाले दश वायुमार्ग हैं । एक-एक वायुपथ में नाना प्रकार के मेघ हैं जो जल के साथ मत्स्य उपल रोगोदक आदि की वर्षा करते हैं । इन दशों वायुपथों में कहीं-कहीं स्कन्द के अनुचर विनायक, अधम विद्याधर, अप्सरायें, महात्मा, सिद्धपुरुष, गन्धर्व, अग्निकन्यायें आदि रहते हैं । पञ्चम वायुपथ में ऐरावत आदि आठ हाथी, षष्ठ में गरुड, सप्तम में आकाशगङ्गा, अष्टम में नन्दी, नवम में दक्ष प्रजापति और दशम वायुपथ में आठों वसु ग्यारह रुद्र और द्वादश आदित्य रहते हैं । ये आदित्य और कोई नहीं परमेश्वर की परा ज्ञानशक्ति है जो इस रूप में सन्ताप उत्पन्न करती हैं । इसी प्रकार उनकी परा क्रियाशक्ति चन्द्ररूप से देदीप्यमान है । इन दोनों के ऊपर मङ्गल आदि ग्रह, और उनके ऊपर सप्तर्षि रहते हैं । उनसे एक लाख योजन ऊपर ध्रुवनक्षत्र मण्डल है ।

आदित्य के बाद ध्रुवलोक तक स्वर्ग कहा गया है । इसके राजा इन्द्र हैं। स्वर्गलोक से २८५००००० योजन ऊपर महर्लोक, उससे आठ करोड़ योजन ऊपर जनलोक और उससे बारह करोड़ योजन ऊपर तपोलोक है । तपोलोक से सोलह करोड़ योजन ऊपर सत्यलोक हैं । यहाँ ब्रह्मा, चारो वेद, उपनिषद्, पुराण आदि तथा गायत्री स्थित है । ब्रह्मपुरी से दो करोड़ योजन ऊपर

विष्णुपुरी उससे सात करोड़ योजन ऊपर रुद्रपुरी-है । इन पुरियों की समृद्धि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । रुद्र की गोद में उमा विराजमान हैं । वे दोनों शिव की इच्छा से सृष्टि और संहार करते रहते हैं । रुद्रलोक के ऊपर दण्डपाणि का पुर है । ध्यान करने पर यही मोक्षमार्ग का उद्घाटन करते हैं । दण्डपाणि लोक की दशों दिशाओं में दश-दश रुद्र रहते हैं । इनको शतरुद्र कहा जाता है । इनका परिवार एक-एक हजार सदस्यों वाला है। ये सब रुद्र ब्रह्माण्ड में उसी तरह व्याप्त हैं । जैसे मधुमक्खी के छत्ते में मधुमक्खियाँ ।

पृथ्वी तत्त्व से दश-दश गुना योजन ऊपर जल तेज वायु आकाश गुण और अहङ्कारतत्त्व स्थित हैं । बुद्धितत्त्व सौ गुना, प्रधान हजार गुना, पुरुष दश हजार, नियति एक लाख, कला दशलाख, माया एक करोड़, शुद्धविद्या दश करोड़, ईश्वरतत्त्व सौ करोड़, सदाशिवतत्त्व एक हजार करोड़, शक्ति दश हजार करोड़ और व्यापिनीतत्त्व समस्त अध्वा को व्याप्त कर स्थित है । शिव तत्त्व अप्रमेय हैं । इस प्रकार ब्रह्माण्डान्तर्गत भुवनों की संख्या नहीं है ।

ब्रह्माण्ड के ऊपर ग्यारह रुद्रों का पुर है । उसके ऊपर भगवती भद्रकाली का पुर है । समस्त समृद्धि से सम्पन्न एवं दिव्य स्त्रियों से युक्त भगवती भद्रकाली यहाँ रहती हैं । इसी ने महिषासुर का वध किया था । यह भुवन जय के नाम से विख्यात है । निर्बीजदीक्षादीक्षित मुक्त पुरुष इस लोक को प्राप्त होते हैं। जयलोक के ऊपर विजय नामक भुवन है । इसमें एकादश रुद्र रहते हैं । यहाँ के अधिष्ठाता रुद्र वीरभद्र हैं । इसके ऊपर जलीय आवरण है । इसको रुद्राण्ड कहते हैं । इसके भीतर भगवती पृथिवी स्थिति है। यह सब दिशाओं में पर्वतों से घिरी है । गङ्गा भी यहाँ है ।

इस आवरण के ऊपर श्रीनिकेत अथवा पद्मगर्भ नाम से प्रसिद्ध भुवन है । इसमें भगवती महालक्ष्मी रहती हैं । भगवान् विष्णु ने तपस्या कर इनको प्राप्त किया था । यह लक्ष्मी अपने अंश-अंश से सर्वत्र व्याप्त हैं । श्रीपुर के ऊपर सारस्वत लोक है । यहाँ मानस गन्धर्व स्त्रियों से आवृत भगवती सरस्वती रहती हैं । यह भी अंशांशिका रूप से सर्वत्र विराजमान हैं । जलतत्त्व के ऊपर तेजस्तत्त्व है । यहाँ अग्नि भुवन है । इसके बीच में भगवान् शिवाग्नि रहते हैं । ये सूर्य के जनक हैं । अग्नि भुवन के ऊपर वायु तत्त्व का आवरण है । इसके मध्य भगवान् वायु रहते हैं । मारुत नाम वाले देव इनकी उपासना करते रहते हैं । इस तत्त्व के बाहर आकाश तत्त्व व्याप्त है । इसमें रुद्र रहते हैं । आकाश के ऊपर और अहङ्कार के नीचे असंख्य भुवन हैं । इसके ऊपर क्रमशः रस रूप स्पर्श शब्द और पञ्च तन्मात्राओं का मण्डल है। उसके ऊपर क्रमशः सूर्य, सोम और वेद मण्डल हैं । पञ्चतन्मात्रायें एवं सूर्य,

सोम, वेद ये आठ परमेश्वर की परा शरीर हैं ।

सूर्य सोम और वेदमण्डल के ऊपर करण मण्डल है । इसमें पाँच अधिपति रहते हैं । इसी प्रकार उत्तरोत्तर अहङ्कार मण्डल और बुद्धि मण्डल है। उनके ऊपर क्रमशः पैशाच, राक्षस, याक्ष, गान्धर्व, ऐन्द्र, सौम्य, प्राजेश और ब्राह्म नामक आठ भुवन हैं । साधक को इन सब का मन्त्रों के द्वारा शोधन करना पड़ता है । पञ्चाष्टक आदि का शोधन करने के बाद क्रोधाष्टक एवं योगाष्टक का शोधन करना चाहिये । योगाष्टक के ऊपर जगन्माता भगवती उमा स्थित हैं । औम नामक रुद्र इनकी उपासना करते रहते हैं । यही दक्षयज्ञ में भद्रकाली के नाम से उत्पन्न हुईं । कात्यायनी दुर्गा आदि इन्हीं के नाम हैं ।

उपर्युक्त आठ भुवनों के ऊपर सुचारु नामक भुवन है । जिसमें जगन्नाथ उमापति रहते हैं । तीस करोड़ रुद्र और ब्राह्मी आदि सात मातायें इनकी सेवा में लगी रहती हैं । शर्व भव रुद्र आदि आठ-आठ मूर्त्ति धारण कर यह उमानाथ भूमि आदि पाँच तथा सूर्य, चन्द्र यजमान इस प्रकार आठ मूर्त्ति की सृष्टि करते हैं । इसके ऊपर बारह सदाशिव स्थित हैं । उनके ऊपर महादेवाष्टक रहते हैं । इस प्रकार बुद्धितत्त्व में स्थित देवों का वर्णन इस पटल में किया गया है ।

बुद्धितत्त्व के ऊपर गुणतत्त्व है । इसमें गुरुओं की तीन पङ्क्तियाँ रहती हैं। प्रथम तमोगुणी पङ्क्ति बत्तीस रुद्रों वाली, द्वितीय रजोगुणी पङ्क्ति तीस रुद्रों वाली तथा तीसरी सत्त्वगुणी पङ्क्ति इक्कीस रुद्रों वाली है । गुणों के ऊपर प्रधानतत्त्व का आवरण है जिसमें आठ रुद्र रहते हैं । पुरुष तत्त्व में नव तुष्टियाँ और अष्ट सिद्धियाँ रहती हैं । इसके ऊपर सनत्कुमार गौतम आदि गुरु शिष्य की तीन पङ्क्तियाँ रहती हैं । गुरुओं की संख्या बाइस और शिष्यों की संख्या पच्चीस है । इनके अतिरिक्त इस पुरुष तत्त्व में नाड्यष्टक, विमुद्राष्टक, देहपाश अर्थात् दश धर्म और षोडश विकार भी रहते हैं जिनका शोधन करना चाहिये । इनके अतिरिक्त बुद्धि के धर्म आदि गुण, त्रिविध अहङ्कार, शब्द आदि पाँच विषय, काम, क्रोध आदि आगन्तुक विषयों का भी शोधन करना पड़ता है । आठ गणपाश और आठ विघ्नेश्वर पाश के साथ अनुक्त पाश भी शोध्य होते हैं ।

पुरुषतत्त्व के ऊपर नियति तत्त्व है । उसके अधिष्ठाता वामदेव आदि दश रुद्र हैं । इसके शोधन के साथ वर्त्तमान कालतत्त्व का भी शोधन करना पड़ता है । इसके नियन्त्रक शुद्ध, बुद्ध आदि दश शिव हैं । रागतत्त्व में कल्याण आदि पाँच गुरु रहते हैं । इसके ऊपर विद्यातत्त्व है । जिसमें स्थित भुवनों के अधिष्ठाता वाम ज्येष्ठ आदि हैं । इसी प्रकार ऊर्ध्ववर्त्ती कलातत्त्व में तीन

महादेव स्थित हैं । कलातत्त्व के ऊपर मायातत्त्व है । यह सम्पूर्ण विश्व को व्याप्त कर स्थित है । इसमें गहनेश से अनन्त तक बारह रुद्र स्थित हैं। ये माया के अधो भाग मध्य भाग एवं ऊर्ध्व भाग में स्थित हैं । माया के ऊपर शुद्धविद्या है जिसमें गुरुशिष्यों की तीन पङ्क्तियों में ऋषिकुल विराजमान हैं ।

शुद्धविद्या के ऊपर शक्तिरूपी माया है (जब कि पूर्वोक्त मायाद्वय तत्त्वरूप और ग्रन्थिरूप हैं) । दीक्षा के द्वारा सर्वजीवविमोहिनी इसी माया शक्ति का भेदन होता है । इसके ऊपर महाविद्या तत्त्व है । यह सभी विद्याओं का मूल उत्स तथा संसार की सृष्टि-प्रलय का कारण है । इसमें दशहजार लाख परिवारों वाले सात करोड़ मन्त्र रहते हैं । इसके बाहर ईश्वर तत्त्व है । इसके अधिष्ठाता ईश्वर हैं जिन्होंने आठ विज्ञानकेवली या विद्येश्वरों की सृष्टि की । इनके असंख्यदलपद्म वाले आसन में साढ़े तीन करोड़ मन्त्र विराजमान हैं । ईश्वर की गोद में मायीयवर्ण रूपा मातृका या विद्या विराजमान है । ईश्वरतत्त्व में रूपावरण, नामक भुवन है जिसमें धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य नामक रुद्र असंख्य परिवार के साथ रहते हैं । इसमें पन्द्रह भुवन हैं जिनको शरीर के अन्दर तालु के ऊपर स्थित समझना चाहिये । पन्द्रह भुवनों के अन्दर छोटे-छोटे भुवन हैं । कुल मिलाकर ये भुवन उनसठ हैं । इनका शोधन करना पड़ता है । ईश्वर तत्त्व के ऊपर सुशिवावरणतत्त्व है । उसमें सदाशिव रहते हैं। ये ओङ्कारेश आदि दश शिवों से आवृत हैं । ये भी अट्ठारह रुद्रों से आवृत हैं । इच्छाशक्ति इनकी अङ्कशायिनी है । सदाशिव का परिवार असंख्य है । ये सब मायाधर्म से शून्य निर्मलस्वान्त हैं ।

सदाशिव आवरण के ऊपर बिन्दु आवरण है । निवृत्ति आदि चार कलायें इसका परिवार हैं जब कि शान्त्यतीत ये स्वयं हैं । बिन्दु के ऊपर अर्धचन्द्र, उसके ऊपर रोधिनी स्थित है । शरीर के अन्दर १/८ वर्णमात्रा का इसका स्वरूप है । यह रोधिनी ब्रह्मा आदि को भी ऊपर जाने से रोक देती है । केवल सदाशिव ही इसका भेदन कर स्थित हैं । रोधिनी के ऊपर नाद तत्त्व है । यह समस्त नाड़ियों का आधार है । नाद के ऊपर ब्रह्मबिल है । जो एक अरब करोड़ रुद्रों से युक्त है । उसके अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं । (ये ब्रह्मा ब्रह्माण्ड के ब्रह्मा से भिन्न हैं) इसकी शक्ति ब्रह्माणी है जो मोक्षमार्ग को अवरुद्ध कर स्थित है साथ ही मोक्षप्रदात्री भी है । विज्ञानभैरव में इसे 'शैवीमुख' कहा गया है । योगी इसका भेदन कर ऊपर जाता है ।

ब्रह्मबिल के ऊपर शक्ति है । यही कुण्डलिनी है । इसे ऊर्ध्वकुण्डलिनी कहते हैं । यह समस्त भुवनों का आधार है । इसमें स्थित देवतायें भी शक्ति नाम से जानी जाती हैं । इनके बीच में व्यापिनी शक्ति है और पूर्व आदि दिशाओं में अन्य शक्तियाँ रहती हैं । इसके ऊपर शिवतत्त्व है । इसमें भी

भुवन है । शिवतत्त्व के अधिष्ठाता शिव अनेक अरब करोड़ रुद्रों से परिवेष्टित हैं । शिवतत्त्व के शोधन के बाद योगी ऊपर की ओर समना तत्त्व में पहुँचता है । काल, क्रम और मन की स्थिति यहीं तक है । इसी से अधिष्ठित भगवान् शिव नीचे के पञ्चकारणों (= ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव) को नियन्त्रित करते हैं ।

इस समना शक्ति का ध्यान आवाहन पूजा करने के बाद वागीश्वरी का आवाहन आदि अनुष्ठित कर पशुयाग आदि करने चाहिये । फिर त्रितत्त्व का शोधन कर विश्लेष पाशच्छेद आदि करने के बाद साधक शिवकुम्भ, भैरवाग्नि की पूजा तथा पूर्णाहुति करे । समना के ऊपर उन्मना तत्त्व है जो कि गुरुवक्त्र या निर्वाण भी कहा जाता है । उन्मना के साथ योग होने पर योगी कारणातीत निरञ्जन व्योमातीत परमतत्त्व को प्राप्त कर लेता है । यही वास्तविक मुक्ति है ।

एकादश पटल

इस पटल का नाम 'सृष्टिसंहार' पटल हो सकता है । इसमें अध्वा की सृष्टि और उसके संहार का दिग्दर्शन है । सूक्ष्म स्वच्छन्दभैरव सृष्टि के निमित्त कारण हैं । बिना किसी कामना के वे अपने तेज से समनाशक्ति को क्षुब्ध कर लीलामात्र से सृष्टि करते हैं । समनाशक्ति रूप व्योम से शून्य, शून्य से स्पर्श और उससे नाद उत्पन्न हुआ । यह नाद समस्त प्राणियों में सर्वदा स्थित और सर्वदा नदन करता रहता है । नाद से बिन्दु, बिन्दु से सदाशिव उत्पन्न हुआ । मुद्रा मन्त्र क्रिया ज्ञान और इच्छा रूप भी वही सदाशिव है । वस्तुतः एक ही शिव समना और उन्मना रूप से पर और (मुद्रा आदि) अपर रूप में स्थित है । शक्ति, ब्रह्मबिल, सुषुम्ना, नादान्त और बिन्दु में भी वही व्याप्त है। दूसरे शब्दों में अनाश्रित अनाथ अनन्त व्योमरूपी और व्यापी शिव ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव के नाम से स्थित है । शक्ति के आधार हूहुक हैं । जल, अग्नि, वायु, नभस्, तन्मात्रायें, इन्द्रियाँ, विषय, मन, अहङ्कार, बुद्धि, गुण, प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, राग, विद्या, कला, माया, शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नाड़ी, अधो ब्रह्मबिल, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना इनमें पूर्व-पूर्व कार्य हैं और उत्तरोत्तर उनके कारण हैं ।

जिस प्रकार आत्मा अर्थात् अणु असंख्य हैं उसी प्रकार ब्रह्माण्ड और प्रकृत्यण्ड भी असंख्य हैं । किन्तु मायाण्ड और शाक्ताण्ड एक-एक हैं । पूर्व-पूर्व अण्ड व्याप्य और उत्तरोत्तर अण्ड व्यापक हैं । ब्रह्माण्ड पार्थिव तत्त्व है । उसके अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं । जल के विष्णु तेज के रुद्र, वायु के ईश्वर और आकाश में सदाशिव स्थित हैं । इसी प्रकार ब्रह्मा को सूर्य, विष्णु को

सोम, रुद्र को ग्रहों का स्वामी, ईश्वर को नक्षत्रों का स्वामी और सदाशिव को यजमान कहा गया है । सद्योजात वामदेव अघोर तत्पुरुष और ईशान ये पञ्चवक्त्र भी क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव आदि हैं । उसी क्रम में सद्योजात आदि ऋग् यजुः साम अथर्व और सर्वविद्यात्मक हैं । लौकिक वैदिक आध्यात्मिक, अतिमार्ग (= सांख्य आदि) और मन्त्र भी इसी क्रम से निकले हैं । तत्त्वों का भी पाँच विभाग है— पृथिव्यादि प्रधानान्त के व्यापी ब्रह्मा हैं । इसी प्रकार पुरुष के विष्णु, नियति से माया तक के रुद्र, शुद्ध विद्या के ईश्वर और उसके ऊपरी तत्त्व के अधिष्ठाता सदाशिव हैं । इसी प्रकार त्रितत्त्व त्रिशक्ति आदि की दृष्टि से भी विश्व के अधिष्ठाताओं की चर्चा इस पटल में की गयी है ।

प्रस्तुत पटल में सृष्टि के एक और क्रम की चर्चा की गयी है । शिव से सदाशिव, उससे विद्या, विद्या से माया उत्पन्न हुई । परमेश्वर विद्या के द्वारा ज्ञानक्रियात्मक सात करोड़ मन्त्रों की सृष्टि करते हैं । ये मन्त्र पृथिवी से लेकर सदाशिव तत्त्व तक के अन्दर रहने वाले प्राणियों के ऊपर अनुग्रह करते रहते हैं । भगवान् अनन्तनाथ इच्छाशक्ति से युक्त ज्ञानशक्ति से समालोचन कर अपनी क्रियाशक्ति के द्वारा माया में आत्मवर्ग को स्थापित कर सबको एक साथ उसी प्रकार क्षुब्ध करते हैं जैसे बिना किसी लक्ष्य के बेर के पेड़ पर दण्ड फेंकने से बेर के फल एक साथ ऊपर-नीचे अगल-बगल गिरते हैं । जो जीव मुक्ति के पात्र होते हैं वे ऊपर चले जाते हैं और अपात्र जीव नीचे आ जाते हैं ।

माया से कला, विद्या, राग, काल और नियति कदम्ब पुष्प की भाँति एक साथ उत्पन्न होते हैं । पुरुष और प्रकृति भी माया के उत्पाद हैं । प्रकृति से गुण, गुणों से बुद्धि तत्त्व उत्पन्न हुये । इसी प्रसङ्ग में यहाँ भावभेदों का भी विस्तृत वर्णन है । लौकिक, पाञ्चरात्र, वैदिक, बौद्ध, जैन, सांख्य, योग, अतिमार्ग, कपालव्रती, पाशुपत मत की मोक्षविषयक दृष्टि की समीक्षा भी इस पटल में प्रस्तुत है । आगे चलकर बुद्धि से त्रिविध अहङ्कार, अहङ्कार से इन्द्रियाँ एवं पञ्चतन्मात्रायें और पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति बतलायी गयी । इन तत्त्वों के उपस्कार की दृष्टि से आत्मा का अबुध, बुध आदि वर्गीकरण किया गया है । माया के पाँच कञ्चुकों से आवृत यह जीव त्रिगुण आदि बन्धनों से बद्ध होकर माया से लेकर पृथिवी तक के भुवनों में नाना योनियों में भ्रमण करता और विषयों का भोग करता हुआ धर्माधर्म बीज का सञ्चय करता रहता है । जीव के लिये प्रयुक्त पुरुष, भोक्ता, क्षेत्रज्ञ, बुध आदि पदों का स्वारस्य भी प्रस्तुत पटल में स्पष्ट किया गया है । आगे चलकर ग्यारह इन्द्रियों के ग्यारह प्रकार के असामर्थ्य, बुद्धि तथा अहङ्कार के

भेद, दश प्रकार के धर्म, ज्ञान के भेद वैराग्य, ऐश्वर्य, नव तुष्टि, अष्टसिद्धि, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और असिद्धि, अनैश्वर्य, जीवों में गुणत्रय की व्याप्ति बतलायी गयी है । लौकिक तार्किक आदि को नरक की प्राप्ति और पाशुपत तथा कौल को मोक्ष मिलता है—यह भी बतलाया गया और अन्त में कहा गया कि दीक्षा से बढ़कर मोक्ष, मातृका से श्रेष्ठ विद्या एवं अध्वप्रक्रिया से उत्तम ज्ञान नहीं है ।

संहारप्रक्रिया के वर्णन क्रम में पहले काल के सूक्ष्मतम अवयव क्षण से प्रारम्भ कर लव, निमेष, काष्ठा आदि की चर्चा की गयी है । दो अयनों का एक मानुषवर्ष होता है । एक मानुष वर्ष का देवताओं का एक दिन होता है। इस प्रकार मनुष्य के ३६० वर्षों का एक दिव्य (= देवताओं का) वर्ष होता है। १२००० दिव्य वर्षों का एक चतुर्युग होता है। इसमें ४००० दिव्य वर्ष सतयुग ३००० वर्ष त्रेता २००० वर्ष द्वापर और १००० दिव्य वर्ष कलियुग होता है । शेष दो हजार वर्ष चारो युगों का सन्धिकाल होता है जो कि आदि और अन्त में तत्तद् युगों का दशांश होता है । मानुष वर्ष के अनुसार एक चतुर्यगी का मान ४३२०००० वर्ष होता है । इकहत्तर चतुर्युगी का एक मन्वन्तर होता है । इस प्रकार चौदह मन्वन्तरों का एक कल्प होता है। यह ब्रह्मा का एक दिन होता है । इतनी ही बड़ी उनकी रात्रि भी होती है । एक मन्वन्तर बीतने पर और दूसरे मन्वन्तर का आरम्भ होने के बीच पाँच हजार दिव्य वर्ष का सन्धिकाल होता है । एक मन्वन्तर एक इन्द्र का शासनकाल होता है । इस प्रकार ब्रह्मा के एक दिन में चौदह इन्द्र शासन करते हैं ।

ब्रह्मा का दिन बीतने पर जब रात्रि का प्रारम्भ होता है तो यह प्रारम्भ सृष्टि के संहार का प्रारम्भ होता है । ब्रह्मा इस समय सो जाते हैं । इनके सोने पर कालाग्नि अपना नेत्र खोल कर ऊपर की ओर देखती है । इस निरीक्षण काल में उनके दक्षिण मुख से एक लाख योजन विस्तृत महाज्वाला निकल कर ऊपर की ओर बढ़ती है । उस समय ऊर्ध्वलोकस्थ प्राणियों के सुख-दुःख क्षीण हो जाते हैं फलतः वे मूढ़ होकर सुप्त हो जाते हैं और ब्रह्मलोक में सन्मात्र होकर पड़े रहते हैं लेकिन रुद्रलोक एवं पाताल लोक इस अग्निताप से अप्रभावित रहते हैं । जब समस्त लोक जीवशून्य हो जाता है तब वह ज्वाला पाताल नरक सहित भूर्भुवः स्वः लोकों को जला डालती है । फिर तेज हवायें चलती हैं और ब्रह्मा के स्वेद से उत्पन्न जल जगत् को समुद्र बना देता है ।

रात्रि बीत जाने पर ब्रह्मा पुनः पूर्व व्यवस्था के अनुसार छः प्रकार की सृष्टि करते हैं । जब-जब ब्रह्मा का दिनक्षय होता है तब तब सृष्टि का संहार होता है । इस प्रकार ब्रह्मा के एक-सौ वर्ष पूर्ण होने पर महाकल्प होता है ।

तब ब्रह्मा अपने से ऊर्ध्ववर्त्ती पर तत्त्व (= विष्णु) में लीन हो जाते हैं और यह महाप्रलय होता है । इस समय उस ब्रह्मा के द्वारा अधिष्ठित ब्रह्माण्ड नष्ट हो जाता है । यही पौराणिकों का प्रलय है । इससे आगे की स्थिति पर पुराण मौन है किन्तु आगम शास्त्रों में इसका वर्णन मिलता है । ब्रह्मा का एक-सौ वर्ष विष्णु का एक दिन होता है । इस मान से विष्णु एक-सौ वर्ष जीवित रहते हैं । उसके बाद वे अपने ऊर्ध्ववर्ती परतत्त्व अर्थात् रुद्र में लीन हो जाते हैं । विष्णु की आयु का एक-सौ वर्ष रुद्र का एक दिन होता है । इस दिन में रुद्र असंख्य ब्रह्मा-विष्णु की सृष्टि करते हैं । उनका एक-सौ वर्ष पूर्ण होने पर वे भी परतत्त्व में लीन हो जाते हैं । निष्कर्ष यह है कि परमेश्वर की ब्राह्मी वैष्णवी रौद्री शक्ति से अधिष्ठित होकर ही ये सब अपने-अपने लोकों के ऊपर शासन करते हैं । रुद्र के ऊपर शतरुद्रों का शासन है । रुद्रों का एक-सौ वर्ष शतरुद्रों का एक दिन होता है । शतरुद्रों का एक-सौ वर्ष पूर्ण होने पर ब्रह्माण्ड का नाश हो जाता है । यह पार्थिवाण्ड जलतत्त्व में विलीन हो जाता है और जल आदि क्रम से अपने-अपने कारणों में लीन हो जाते हैं । इस प्रकार काल जलतत्त्व से लेकर मायातत्त्व तक का संहार कर देता है । उसके ऊपर वर्त्तमान शुद्ध अध्वा का संहार अघोर करते हैं । इसी क्रम से सदाशिव का दिनक्षय होता है जो महाप्रलय कहलाता है । सदाशिव भी बिन्दु अर्धचन्द्र रोधिनी का भेदन कर नादतत्त्व में लीन हो जाते हैं । नाद ब्रह्मबिल का भेदन कर शक्ति में लीन हो जाता है । शक्ति के ऊपर परार्धकाल तत्त्व है जो शिवतत्त्व में स्थित व्यापीश का प्रात:काल होता है । वह व्यापीश व्योमस्वरूप में, व्योम अनन्तेश में, अनन्तेश अनाश्रित में और वह अनाश्रय में अपने कालपरिमाण के अनुसार शासन करने के बाद लीन हो जाते हैं । यह अनाश्रय ही समना है उसके ऊपर काल नहीं है । जहाँ काल नहीं है वह उन्मना तत्त्व कहलाता है जो कि नित्योदित स्थिति है ।

द्वादश पटल

इस पटल की संज्ञा 'तत्त्वविज्ञानाधिकार' पटल हो सकती है । पृथिवी से लेकर शिवपर्यन्त तत्त्वों के वर्णन—क्रम में पृथिवी को कठिनरूपा बतलाया गया है । इसमें पञ्चमहाभूतों के पाँचों गुण हैं । शरीर में मांस अस्थि आदि पार्थिवांश है । गन्ध को छोड़कर चार गुणों वाला जल, कफ, रक्त, मूत्र आदि के रूप में देह में विद्यमान है । आहार आदि के पाक तथा शारीर ऊष्मा के लिये त्रिगुणमय तेज देह में स्थित है । श्वास पश्वास मलमूत्रत्याग आदि के रूप में वायु दो गुणों वाला होकर स्थित है । शरीर में दो आँख, दो कान, एक मुख और मलमूत्र त्याग के अङ्ग इन नव छिद्रों के रूप में शब्द गुण वाला आकाश स्थित है । आगे कहा गया कि वाणी चार प्रकार की है ।

इसके बाद पञ्च कर्मेन्द्रियों पञ्च ज्ञानेन्द्रियों के कार्यों को बतला कर वाणी, श्रोत्रेन्द्रिय के सात स्वर, उच्छ्वास सुरमण्डल को बतलाकर भेरी आदि के स्थूल शब्दों का वर्णन किया गया हैं । इसी प्रकार त्वक् चक्षु रसना और घ्राणेन्द्रियों के विषय या कार्य बतलाये गये हैं । तत्पश्चात् मन त्रिविध अहङ्कार और बुद्धि की देह में स्थिति बतलायी गयी है । धर्म आदि आठ बुद्धि के गुण हैं । इनमें से धर्म वैराग्य ऐश्वर्य अधर्म अज्ञान अवैराग्य और अनैश्वर्य ये मनुष्य को बन्धन में डालते हैं । ज्ञान बन्धन से मुक्ति दिलाता है । आगे चलकर प्रकृति के तीन गुणों के धर्मों को बतलाकर कहा गया कि चूँकि तीनों गुणों के चिह्न मनुष्य में दिखलायी पड़ते हैं अत: मनुष्य त्रिगुणमय कहा जाता है । प्रकृति कर्त्री है । पुरुष अकर्त्ता है । इसी प्रकार का वर्णन कर सांख्यज्ञान की चर्चा की गयी है अर्थात् प्रकृति के स्वभाव को सम्यक् जानने वाला प्राकृत गुणों के बन्धन से मुक्त हो जाता है यद्यपि सांख्यदर्शन के अनुसार यही मुक्ति है किन्तु आगम की दृष्टि से यह वास्तविक मुक्ति नहीं है ।

शरीर की तत्तत् इन्द्रियों एवं मन में पृथिवी से प्रकृतितत्त्व तक का ध्यान करने वाला पुरुष सिद्ध हो जाता है । इसे प्राकृतयोग कहा गया है जो कि मोक्षमार्ग पर ले जाता है । पुरुष का ध्यान चित्स्वरूप, पद्म के मध्य में स्थित, समस्त शरीर में व्याप्त के रूप में करना होता है । इस पटल में आगे जीव के स्वरूप का वर्णन कर तत्पश्चात् माया के पाँच कञ्चुकों का ध्यान करने को कहा गया है । इससे अनेक प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है । निर्वैरपरिपन्थिनी माया और चतुर्वर्णा शुद्धविद्या का ध्यान करने वाला योगी सर्वज्ञ, कामरूपी तथा नानासिद्धिसमन्वित होता है। इसके बाद ईश्वर के पञ्चवक्त्र के ध्यान का फल बतलाते हुए सदाशिव के ध्यान का फल कहा गया है ।

सदाशिव के ध्यान के बाद बिन्दु, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना के ध्यान से अनेक सिद्धियाँ मिलती है—यह कहा गया । इसके उपरान्त शिव का ध्यान करना चाहिये । शिव का ध्यान करने से योगी शिवधर्मों से मुक्त होकर शिवतुल्य हुआ सिद्ध और मुक्त हो जाता है ।

त्रयोदश पटल

इस पटल को 'स्वच्छन्दयागाधिकार' पटल कहा जा सकता है । याग के सन्दर्भ में मूलबीजाक्षर का स्वरूप बतलाया गया तथा कहा गया कि प्रणवासन पर आरूढ परमेश्वर की पूजा करनी चाहिये । शिवधर्मीसाधकदीक्षा-दीक्षित व्यक्ति दश लाख जप और नरमांस का एक लाख होम करने पर असाध्य को सिद्ध कर लेता है । कारिकाकोश नाम से वशीकरण के अनेक

प्रकार के अनुष्ठान यहाँ बतलाये गये हैं । वशीकरण के साथ-साथ स्तम्भन, उन्मादन, प्रत्यानयन, आकर्षण के अनेक प्रयोगों की भी चर्चा इस पटल में है । इन अनुष्ठानों को दीक्षित व्यक्ति ही कर सकता है साधारण मनुष्य नहीं ।

चतुर्दश पटल

चतुर्दश पटल 'मुद्राधिकार' पटल के नाम से व्यवहृत किया जा सकता है । इस पटल में कपाल, खट्वाङ्ग, खड्ग, स्फर, अङ्कुश, पाश, नाराच, पिनाक, अभय, वरद, घण्टा, त्रिशूल, दण्ड, वज्र, मुद्गर, वल्लकी, परशु मुद्राओं के स्वरूप का वर्णन करने के बाद इनके मानस रूप को बतलाया गया है । कोई मुद्रा धवल, कोई मरकत, कोई नीलमणि, कोई स्वर्णिम आदि रूपों वाली है । ये मुद्रायें भगवान् स्वच्छन्द भैरव की प्रतिरूप हैं । इनके कायिक, वाचिक एवं मानसिक तीन रूप हैं । पहले कायिक रूप का, फिर धवल आदि मानसिक रूप का वर्णन कर इनके वाचिक रूप को बतलाते हुए कहा गया कि पहले प्रणव, तत्पश्चात् मुद्रा का नाम, फिर 'नमः' जोड़ने से इनका वाचिक रूप निष्पन्न होता है । ये मुद्रायें निर्विघ्नकरण और साध्य की सिद्धि देने वाली हैं ।

पञ्चदश पटल

यह 'छुम्मकाधिकार' पटल है । इसमें छुम्मका (= पारिभाषिक शब्दों) को बतलाया गया है । उदाहरण के लिये भैरव को धाम, साधक को गिरि, पुत्रक को विमल, मद्य को हर्षण, लिङ्ग को सन्तोषजनन, भग को प्रीतिवर्धन आदि के नाम से जानना चाहिये ।

तीव्र शक्तिपात के कारण मेलक के सम्पन्न होने पर देवियाँ साधक को भिन्न-भिन्न तत्त्वों के साक्षात्कार के लिये सङ्केत करती है जैसे जो देवी शिखा का स्पर्श करे वह साधक को शक्ति की सिद्धि बतलाती है । इसी प्रकार शिर, ललाट, तालु आदि के प्रदर्शन के द्वारा साधक को बिन्दु ईश्वर, रुद्र आदि की सिद्धि का सङ्केत प्राप्त होता है । सम्पूर्ण शरीर के प्रदर्शन से महाध्वा की सिद्धि का सङ्केत मिलता है । ये देवियाँ वीराचारी साधक को चरु देती हैं जिसके भक्षण से साधन भैरवतुल्य हो जाता है ।

विषयानुक्रमणिका

सङ्केत सूची

ई०प्र०	—	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
ई०प्र०वि०वि०	—	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी
ऋ०	—	ऋग्वेद
कालो०	—	कालोत्तरतन्त्र
किरणा०	—	किरणावली
कि०	—	किरणावली
क्रि०	—	क्रियापाद (मृगेन्द्रतन्त्र)
त०त्र०नि०का०	—	तत्त्वत्रयनिर्णयकारिका
त०सं०	—	तत्त्वसंग्रह
तं०आ०	—	तन्त्रालोक
तं०सां०, आ०	—	तन्त्रसार, आह्निक
न्या०सू०	—	न्यायसूत्र
पात०	—	पातञ्जलयोगसूत्र
प्र०वा०	—	प्रमाणवार्त्तिक
बृ०उ०	—	बृहदारण्यक उपनिषद्
भ०गी०	—	श्रीमद्भगवद् गीता
मा०वि०	—	मालिनीविजयतन्त्र
मा०वि०तं०	—	मालिनीविजयतन्त्र
यो०सू०	—	योगसूत्र
वाम०स०	—	वामनसंहिता
वि०भै०	—	विज्ञानभैरव
शि०दृ०	—	शिवदृष्टि
शि०सू०	—	शिवसूत्रम्
श्वे०उ०	—	श्वेताश्वतर उपनिषद्
सू०जा०	—	सूर्यजातक
सा०का०	—	सांख्यकारिका
स्तोत्राव०	—	स्तोत्रावली
स्प०	—	स्पन्दकारिका
स्व०तं०	—	स्वच्छन्दतन्त्र

स्वच्छन्दतन्त्रम्

(प्रथमो भागः)

(१-६ पटलानि)

श्रीः

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यक्षेमराजकृतोद्योताख्यविवरणसध्रीचीनाचार्य-
राधेश्यामचतुर्वेदिकृत'ज्ञानवती' भाषाटीकासहितम्

स्वच्छन्दतन्त्रम्

प्रथमः पटलः

* स्वच्छन्दोद्योतः *

विश्वैकरूपविश्वात्मविश्वसर्गादिकारणम् ।
परप्रकाशवपुषं स्तुमः स्वच्छन्दभैरवम् ॥

---

* ज्ञानवती *

स्वतन्त्रः स्वच्छन्दः परमशिवनामैकप्रथितो
निजैश्वर्येनासौ धरणिशिवधामप्रभुरथ ।
स्फुरन्ती यस्येच्छा रचयति क्रियाकालकलितं
जगत् तं वंवन्दे भरणरवणं शक्तिसहितम् ॥ १ ॥

जयति विबुधबुधवन्द्या त्रिभुवनधात्री जगद्विधात्री सा ।
यस्या दृष्टिप्रसादाल्लभ्यौ भोगेतरौ सकलैः ॥ २ ॥

जगन्मलध्वान्तनिवृत्तिकारणं प्रसुप्त'चैतन्य' विबोधकारिणम् ।
अहर्निशं शिष्यजनैर्निषेवितं नमामि नित्यं गुरुपादपङ्कजम् ॥ ३ ॥

'मुरलीधर' आराध्यः पिता च माता सकला 'सकला' सा ।
याभ्यां प्राप्य प्रसूतिं राधेश्यामो नमति तौ वै ॥ ४ ॥

'रुद्रप्रसाद' इति यः स्वकुलावतंसो
वाक्यप्रमाणपदशास्त्रविचारवेत्ता ।
संस्मर्यते प्रणतवाङ्मनसा पितृव्यो
धन्वन्तरेः पथि निबद्धपदं दधानः ॥ ५ ॥

रामानुजरघुवंशौ गुरू विमुक्तौ स्वर्ग्यौ प्रणमामि ।
याभ्यां मयाधियज्ञे शास्त्रं शश्वद् विमर्शेन ॥ ६ ॥

प्रसरच्छक्तिकल्लोलजगल्लहरिकेलये ।
सर्वसम्पन्निधानाय भैरवाम्भोधये नमः ॥
एकैव बोधजलधेः शक्तिशुक्तिर्जयत्यसौ ।
यदन्तर्निखिलं भाति मुक्तामयमिदं जगत् ॥
स्मृतिमात्रविनिर्धूतनिःशेषाज्ञानकिल्विषाः ।
गुरुसूक्तवरस्फारा विजयन्ते जगत्त्रये ॥
तत्सेवाविमलव्यक्तमहामाहेशदर्शनः ।
क्षेमराजो विवृणुते श्रीस्वच्छन्दनयं मनाक् ॥
अभिनवबोधादित्यद्युतिविकसितहृत्सरोजान्मे ।
रसयत सरसाः परिमलमसारसंसारवासनाशान्त्यै ॥

इहानुजिघृक्षारससरसहृदयपरसंवित्सम्मुखीकृतो ग्रन्थमवतारयितुं कश्चिद् देवीशिष्य आह—

यद्यपि वहु नाधीतं ह्यागमशास्त्रं तथापि सोत्साहः ।
कुरुते ज्ञानवतीमिह 'श्यामः' हिन्दीव्याख्यां नवाम् ॥ ७ ॥

मैं विश्वरूप, विश्वात्म, विश्व की सृष्टि स्थिति प्रलय के कारण, पर प्रकाश (= ज्ञान) शरीर वाले स्वच्छन्द भैरव की स्तुति करता हूँ ।

(विश्व के रूप में) विस्तार को प्राप्त होने वाली शक्ति के कल्लोल (= बड़ी लहर) रूप जगत् की लहरों (= बारम्बार सृष्टि स्थिति संहार) के द्वारा क्रीड़ा करने वाले, समस्त सम्पत्ति के निधान, समुद्ररूपी भैरव को मैं नमस्कार करता हूँ ।

बोधरूपी समुद्र की एक (= प्रधान, केवल, प्रथम) शक्तिरूपी शुक्ति सबसे बढ़कर है जिसके अन्दर यह समस्त जगत् मोती के समान चमकता रहता है ।

स्मरण मात्र से समस्त अज्ञानरूपी पाप को नष्ट करने वाले गुरुवाणी के श्रेष्ठ स्फार तीनों लोकों में विजयशील हैं ।

उन (गुरु) की सेवा के द्वारा निर्मल माहेश्वर दर्शन निर्मल रूप में जिसे अभिव्यक्त हो गया है वह क्षेमराज इस स्वच्छन्द शास्त्र की किञ्चिद् व्याख्या करने वाले हैं ।

जिस प्रकार अभिनव (= नवीन, प्रातःकालीन) सूर्य से कमल विकसित होता है उसी प्रकार अभिनवगुप्तपादाचार्य के ज्ञानोपदेश से मेरा हृदय प्रकाशमान हो गया है । हे रसिकजन ! आप लोग असार संसार की वासना की शान्ति के लिये इसके ज्ञान का आस्वादन उसी प्रकार करें जिस प्रकार विकसित कमल के पराग का आस्वादन रसिक भ्रमर करता है ।

अनुग्रहात्मक इच्छा की वासना से सरसहृदय होने के कारण परासंवित् के सम्मुख हुए किसी देवी के शिष्य ने ग्रन्थ का प्रारम्भ करने के लिये कहा—

कैलासशिखरासीनं भैरवं विगतामयम् ।
चण्डनन्दिमहाकालगणेशवृषभृङ्गिभिः ॥ १ ॥
कुमारेन्द्रयमादित्यब्रह्मविष्णुपुरःसरैः ।
स्तूयमानं महेशानं गणमातृनिषेवितम् ॥ २ ॥
सृष्टिसंहारकर्त्तारं विलयस्थितिकारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्तिविनाशनम् ॥ ३ ॥
मुदितं भैरवं दृष्ट्वा देवी वचनमब्रवीत् ।

इह परमेश्वरस्य चिदानन्दघनस्य ब्रह्मदर्शनोक्ततत्त्वातिशायिनः स्वच्छन्दभैरव-स्फुरत्तात्मा परमार्थः, इति भगवतः शास्त्रस्य चास्य तदेवाभिधानम् । तस्य स्वात्मैकरूपपञ्चकृत्यकारित्वमित्याशयेन 'सृष्ट्यादिपञ्चकृत्यकरं देवं मुदितं भैरवं दृष्ट्वा देवी वचनमब्रवीत्' इत्युक्तम् । तत्र देवः शिवादिक्षित्यन्ताशेषसृष्ट्यादि-क्रीडापरः, तावदशेषोत्कर्षतया विजिगीषुः, तदभिन्नत्वात् विश्वस्य जगद्व्यवहार-रूपतयापि द्योतमानः, शिवमन्त्रमहेश्वरादिभिः स्तूयमानः, सर्वेषामगतीनां गतिः प्राप्योऽभिन्नबोधसारश्च, यथोक्तं 'दिवु क्रीडादौ' इति । भैरवो विश्वभरण-रवणवमनरूपः, भीरूणामभयमिति व्युत्पत्त्या संसारिणामभयदः, भयं भीः संसार-त्रासः, तया जनितो रवः आक्रन्दः भीरवः ततो जातः तदाक्रन्दवतां स्फुरितः,

---

कैलास के शिखर पर बैठे हुए, अज्ञान से रहित, चण्ड नन्दी महाकाल गणेश वृष भृङ्गी कार्त्तिकेय इन्द्र, यम, आदित्य, ब्रह्मा, विष्णु के द्वारा स्तूयमान, मातृगण के द्वारा सेव्यमान, सृष्टि एवं संहार के कर्त्ता, विलय (= निग्रह) एवं स्थिति को करने वाले, अनुग्रहकारी, प्रणत के दुःख का नाश करने वाले, परमेश्वर भैरव को प्रसन्न देख कर देवी ने कहा ॥ १-४- ॥

ब्रह्मदर्शन (= वेदान्तदर्शन) में उक्त तत्त्व से बढ़ कर चिदानन्दघन परमेश्वर का परमार्थ स्वच्छन्दभैरव की स्फुरत्ता है । इसलिये परमेश्वर और इस शास्त्र का वही नाम (= स्वच्छन्द) है वह अपने से अभिन्न पञ्चकृत्य करता है—इस आशय से कहा गया कि—सृष्टि आदि पाँच कार्य करने वाले प्रसन्न देव भैरव को देख कर देवी ने वचन कहा । उक्त (वचन) में 'देव' शब्द का अर्थ है—शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त समस्त क्रीडा में संलग्न । समस्त तत्त्वों से उत्कृष्ट होने के कारण विजय की इच्छा वाले, उससे अभिन्न होने के कारण समस्त सांसारिक व्यवहार के रूप में भी प्रकाशमान, शिव, मन्त्रमहेश्वर आदि के द्वारा स्तूयमान; समस्त आश्रयहीन लोगों का आश्रय और अभिन्न बोधस्वरूप । जैसा कि कहा गया—'दिव्' धातु का अर्थ क्रीडा आदि है । (अब 'भैरव' शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या करते हैं) भैरव = विश्व का भरण रवण और वमनरूप । भीरु = भयभीत लोगों को अभय देने वाले—इस व्युत्पत्ति से संसार के लोगों को अभय देने वाले; भय

अस्यैव भीरवस्य संसारभयविमर्शनस्यायं शक्तिपातवशेनोत्थापकः, भानि नक्षत्राणि ईरयति इति भेरः कालः; तं वायन्तीति भेरवाः कालग्राससमाधिरसिकाः योगिनः तेषामयमिति आन्तरः स्वभावः, भिये पशुजनत्रासाय रवः शब्दराशिसमुत्थाकारादिकलाविमर्शो यासां खेचरी-गोचरी-दिक्चरी-भूचरीचक्ररूपाणां संविद्देवीनां ताः भीरवाः, तासामयं स्वामी भैरवः, तथा भैरवो भीषणः संसारविघटनपरः, एवमागमेषु निरुक्तत्वात्, श्रीबृहस्पतिपादैः शिवतनावन्वर्थव्याख्यातस्वरूपत्वाच्च । अत एवायं मुदितो नित्यानन्दघनस्वातन्त्र्यशक्तियुक्तो यः तं भैरवाभिधानमेव, न तु ब्रह्मविष्णवीशसदाशिवशिवरूपम् तेषामेकादशपटलनिरूपितनीत्याएतत्स्वभावाभावादेतदुल्लास्यविलाय्यत्वाद्वा । अत एव महान्तमीशानं सर्वेषामेषां स्वामिनम् । अत एव के मूर्धन्ये ब्रह्मबिले एला स्फुरन्ती शक्तिः तस्यामासः आसनमुपरिस्थितिर्यस्य, व्यापिनीसमनात्मनः शिखरस्य सर्वाध्वोपरिवर्तिनः पदस्य, तत् कैलासशिखरम्, तत्रासीनं तदुत्तीर्णं प्रकाशैकघनं तदशेषव्याप्त्या च विश्वरूपम् । ततो विगतामयम् आ समन्तात् मिमीते इत्यामयः,

---

ही भी = संसाररूपी त्रास है, उस (= भी) से उत्पन्न है, रव = आक्रन्द भी रव कहलाता है, अर्थात् उससे उत्पन्न, उस आक्रन्दवालों में स्फुरित, उस भीरव का अर्थात् संसारभय के विमर्श का शक्तिपात के द्वारा नाशक भैरव कहा जाता है । भ = नक्षत्र, उनको प्रेरित करने वाला भेर = काल, उसका वायन[1] (= शोषण ग्रसन) करने वाले समाधिरसिक योगीजन, उनका आन्तरस्वभाव । भी = पशुलोगों का त्रास, उसके लिये रव = शब्दराशि से उत्पन्न अंकार आदि कलायें ही विमर्श हैं जिन खेचरी गोचरी दिक्चरी भूचरी चक्ररूपा संविद् देवियों का, वे भीरव कहलाती हैं उनका स्वामी भैरव कहलाता है । इसके अतिरिक्त भैरव = भीषण = संसार के विघटन में लगा हुआ यह भी अर्थ है क्योंकि भैरव शब्द की व्युत्पत्ति आगमों में इस प्रकार की गयी है तथा आचार्य बृहस्पति ने 'शिवतनुशास्त्र' में इसी प्रकार का अन्वर्थ व्याख्यान किया है ।

इसीलिये यह 'मुदित' = नित्य आनन्दघनरूप स्वातन्त्र्यशक्ति से युक्त है, वही भैरव नाम वाला है न कि ब्रह्मा, विष्णु, ईश्वर, सदाशिव शिवस्वरूप क्योंकि इन सभी का वैसा (= भैरव सदृश) स्वभाव नहीं है और वे इस (भैरव) के उल्लास में विलीन होने वाले हैं—ऐसा इस ग्रन्थ के ग्यारहवें पटल में निरूपित किया गया है । इसीलिये वे महान् ईश हैं अर्थात् इन सबके स्वामी हैं । इसीलिये क में = मूर्धा में वर्त्तमान ब्रह्मबिल (= सहस्रार) में, एला = स्फुरण करती हुयी शक्ति, उस पर आस = आसन = ऊपर स्थिति है जिसकी अर्थात् व्यापिनी समना रूप शिखर = समस्त अध्वाओं से ऊपर वर्त्तमान पद, वही है कैलास शिखर, उस पर आसीन = उससे परे प्रकाशैकघन तथा सर्वत्र व्याप्त होने से विश्वरूप हैं । इसी कारण विगतामय हैं । (अब विगतामय की व्याख्या करते हैं—) जो आ = सब

---

१. (ओ) वै ,शोषणे (भ्वादि)

'शक्तिरूपा स्मृता माया यदधः शक्तिकुण्डली' (१०।१२६३)

इति वक्ष्यमाणाख्यातिरूपा महामाया, तद्विरहितम्, विगतश्चामयो यतो भजमानानाम् । भगवतः शक्तिप्रपञ्चव्याप्तिरूपैः तदनुगृहीतैरेव चण्डादिभिः कुमारान्तैः, तत्प्रपञ्चसारव्याप्तिरूपस्य भगवत उमापतेः व्याख्यातभैरवस्फारसमावेशात् भैरवरूपस्य तन्नाम्नश्च भुवनाध्ववक्ष्यमाणकैलासाख्यहिमवच्छृङ्गासीनस्य अन्तरङ्गपरिवाररूपैरिन्द्रादिभिः लोकपालैः, यमोपलक्षितैः सर्वैः संहर्तृभी रुद्रादिभिः, आदित्योपलक्षितैः सर्वैस्तेजोमयैः, ब्रह्मविष्णुपलक्षितैः सृष्टिसंहारस्थितिकारिभिः सर्वैः अनन्तभट्टारकादिभिः, तत्पुरःसरैरन्यैरपि च निरपेक्षशक्तिपातपात्रीकृतैः स्तूयमानं कल्पितप्रमातृतानिमज्जनात् सर्वोत्कृष्टत्वेन परामृश्यमानम्, गणेन कपालीशादिभैरवाष्टकेन वक्ष्यमाणपरिवाररूपेण, मातृभिः बाह्म्यादिदेवीभिः, गणानां मात्रा प्रपञ्चव्याप्त्या उमादेव्या उक्तान्तरङ्गपरिवारमध्यप्रधानभूतया निषेव्यमानं तच्छक्तिपातादेव अख्यातिप्रशमनतया समाविश्यमानम्, सृष्टिसंहारौ ताच्छील्येन कुर्वाणम्, सृष्टिसंहारप्रपञ्चात्मानं च विशिष्टप्रत्यवायफलं विलयं स्थितिं च विदधतम्, अनुग्रहं च ताच्छील्यताच्छब्द्यादिस्वभावतया कुर्वन्तं सदा पञ्चकृत्यकारिणम्, प्रणतानां साधकादीनां यथाभिलषितसंपादनेन आर्तिविनाशनम् । एवं भूतं देवं भैरवं मुदितं

ओर से, मिमीते = व्याप्त होती है, वह माया कहलाती है ।

'माया शक्तिरूपा कही गयी है जिसके नीचे शक्तिकुण्डली है ।'(१०।१२६३)

इस प्रकार वक्ष्यमाण अख्याति (= अज्ञान) रूपा महामाया उससे विगत = रहित । भजन करने वालों का आमय जिसके कारण नष्ट हो जाता है (वह भी विगतामय है) । भगवान् की शक्ति के विस्तार की व्याप्तिस्वरूप तथा उनके द्वारा अनुगृहीत चण्डभैरव से ले कर कार्त्तिकेय तक के द्वारा (स्तूयमान और इसी प्रकार) उसी शक्ति के विस्तार के तत्त्वभूत व्याप्तिस्वरूप वाले भगवान् उमापति के व्याख्यात भैरवस्फार के समावेश से भैरवस्वरूप और उस नाम वाले भुवनाध्वा में वक्ष्यमाण हिमालय की कैलास नामक चोटी पर आसीन, अन्तरङ्गपरिवारस्वरूप इन्द्र आदि लोकपालों के द्वारा एवं यम नाम से प्रसिद्ध संहारकारी समस्त रुद्रों के द्वारा तथा आदित्य नाम से प्रसिद्ध समस्त तेजों के द्वारा, ब्रह्मा विष्णु नाम वाले सृष्टि स्थिति संहार करने वाले समस्त अनन्त भट्टारक एवं उनके अनुयायियों, जो कि निरपेक्षशक्तिपात के पात्र हैं, के द्वारा स्तूयमान हैं अर्थात् कल्पित प्रमातृभाव के नष्ट हो जाने से सर्वोत्कृष्ट के रूप में परामृश्यमान हैं । गण अर्थात् कपालीश आदि आठ भैरव, जो कि वक्ष्यमाण परिवाररूप हैं, के द्वारा एवं माताओं अर्थात् ब्राह्मी आदि देवियों के द्वारा, गणों की माता उमा देवी, जो कि प्रपञ्चव्यापिनी एवं उक्त अन्तरङ्गपरिवार के मध्य प्रधानस्वरूप है, के द्वारा पूर्णरूप से सेव्यमान, उनकी शक्तिपात के कारण अज्ञान का नाश होने से (भैरव) समावेश वाले, स्वभाववश सृष्टि और संहार करने वाले, सृष्टि संहार प्रपञ्चस्वरूप विशिष्टप्रत्यवायफल वाले, विलय और स्थिति को करने वाले, ताच्छील्य (= वैसे स्वभाव अर्थात् पञ्चकृत्य)

यथोक्तदेवरूपैव देवी स्वातन्त्र्यशक्तिः, दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य, वचनमब्रवीत् पूर्णाहन्तात्मना परामृशत् । तत्परामर्श एव हि अकारहकारप्रत्याहारात्मा गर्भीकृताशेषविश्वसमग्रशास्त्रप्रसरप्रथमाङ्कुररूपो भगवान् शब्दराशिः । यद्वक्ष्यति—

'अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात्परमकारणात् ।
ध्वनिरूपं विनिष्क्रान्तं शास्त्रं परमदुर्लभम् ॥' (८।२७)

इत्यादि । चिदात्मैव च भगवान् भैरवः सदाशिवादिमूर्तिग्रहणपूर्वं स्वाधारप्रपञ्चव्याप्तिप्रधानभूतमुमापतिरूपं स्वसत्तानुप्रवेशात् भैरवात्मकमेव मुदितमास्थाय तथाभूतामेव च उमाभट्टारिकामूर्तिं गुरुशिष्यभूमिकाग्रहणेन, शास्त्रं वचनप्रतिवचनरूपं लोकानुग्रहार्थं प्रथयति । यद्वक्ष्यति—

'गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रमाधारभेदतः ॥' (८।३१)

इति । एवमान्तरबाह्यक्रमाभ्यां शास्त्रार्थसूत्रणात् सूत्रभूतं सार्धश्लोकत्रयात्मकं तन्त्रावतारकवाक्यमेतद्बोद्धव्यम् । अत्र च एकवाक्यमेतत् बोद्धव्यम् । देवभैरव-

---

एवं ताच्छब्द्य (= उस प्रकार की शब्दराशि अर्थात् शास्त्र) आदि के स्वभाव के कारण अनुग्रह करने वाले (इस प्रकार) सर्वदा (सृष्टि स्थिति आदि) पञ्चकृत्य को करने वाले, प्रणत साधक जनों का इच्छानुसार मनोरथ पूर्ण कर आर्त्ति को नष्ट करने वाले भैरव को प्रसन्न देख कर पूर्वोक्त देवरूपा देवी अर्थात् स्वातन्त्र्यशक्ति ने यह बात कही । यह देवी पूर्ण अहन्ता के रूप में परामर्श करती है । वह परामर्श ही अकार से लेकर हकार (= अहं) प्रत्याहाररूप है जिसमें समस्त विश्व एवं समग्र शास्त्र का विस्तार निहित है और वे ही इसके प्रथम अङ्कुररूप भगवान् शब्दराशि है । जैसा कि कहेंगे—

'अदृष्ट शरीर वाले, शान्त, परमकारणस्वरूप शिव से परम दुर्लभ ध्वनिरूप शास्त्र प्रकट हुआ ।' (८।२७)

इत्यादि । चित्स्वरूप भगवान् भैरव सदाशिव आदि का स्वरूप ग्रहण करने के बाद अपने आधार के प्रपञ्च की व्याप्ति के प्रधानभूत, अपनी सत्ता के अनुप्रवेश के कारण प्रसन्न भैरवस्वरूप उमापति रूप और वैसी ही उमा भट्टारिका मूर्त्ति को धारण कर गुरु शिष्य की भूमिका को ग्रहण कर (इस आगम) शास्त्र को लोक के कल्याण के लिये प्रश्नोत्तर रूप से प्रचारित किये । जैसा कि कहेंगे—

'देव सदाशिव ने स्वयं गुरु और शिष्य का रूप ग्रहण कर प्रश्नोत्तर वाक्यों के द्वारा आधार (= पात्रों) के भेद से (भिन्न-भिन्न रूप में तन्त्रों की अवतारणा की) ।'

इस प्रकार आन्तर एवं बाह्य क्रम से शास्त्रार्थ की सूत्ररूप में रचना करने से साढ़े तीन श्लोकों (= कैलास शिखरासीनं................ देवी वचनमब्रवीत्) वाले इस तन्त्रावतारक वाक्य को सूत्रभूत जानना चाहिये । यहाँ एक वाक्य को ऐसे

पदाभ्यां यथाव्याख्यातं गर्भीकृतमर्थं स्फुटीकर्तुं कैलासेत्यादिविशेषणान्तराण्युपात्तानि । तथाहि—दिवः क्रीडाव्यवहारलक्षणार्थौ 'सृष्टीत्यादिना, अनुग्रहकरम्' इत्यन्तेन प्रकटीकृतौ । तत्राद्यैः पञ्चभिः पटलैः मुद्रापटलेन च एतदङ्गभूतेन चतुर्दशेनानुग्रहः प्रतिपादितः, एकादशेन सृष्ट्यादिस्वरूपमुक्तम्, विजिगीषात्मार्थः कैलासेति पदेनान्तरार्थपरेण महेशानपदेन चाभिव्यक्तो दशमपटलेन निर्णीतः, द्योतनार्थोऽनामयमुदितपदाभ्यां प्रकाशितः, स मध्ये मध्ये—

'तत्रस्थो व्यञ्जयेत्तेजः परं परमकारणम्' (४।३९७)

इत्यादौ ग्रन्थे प्रथितः, स्तुत्यर्थः 'चण्डेत्यादिना, निषेवितम्' इत्यन्तेन स्फुटीकृतः,

'सुरासुराणां सिद्ध्यर्थं यजनोपायहेतुना ।
देवदेवेन निर्दिष्ट........................ ॥'

इत्याद्युद्देशेषु निर्वाहितः, अगतीनां गतिरित्येवंरूपो योऽर्थः सोऽपि 'प्रणतार्तिविनाशनम्' इत्यन्तेन व्यक्तः षष्ठसप्तमाष्टमनवमद्वादशत्रयोदशपञ्चदशपटलैर्निर्णीतः, एवं भैरवपदार्थोऽपि योजितव्यः । तत्र हि यथा रवणार्थः 'अब्रवीत्' इत्यन्तेन

समझना चाहिये—

(पूर्वोक्त प्रथम साढ़े तीन श्लोकों में) 'देव' और 'भैरव' पदों के द्वारा यथा—व्याख्यात गर्भीकृत (= निगूढ़) अर्थ को स्पष्ट करने के लिये 'कैलास' इत्यादि अन्य विशेषण कहे गये हैं । वह इस प्रकार—'दिव' धातु के क्रीडा एवं व्यवहार रूप अर्थों को 'सृष्टि' से लेकर 'अनुग्रहकरम्' तक के पदों द्वारा प्रकट किया गया है । (इस ग्रन्थ के) प्रथम पाँच पटलों एवं मुद्रा पटल के द्वारा और इस (= मुद्रापटल) के अङ्गभूत चतुर्दश पटल के द्वारा अनुग्रह का प्रतिपादन किया गया है । ग्यारहवें पटल के द्वारा सृष्टि आदि का स्वरूप कहा गया है । 'कैलास' पद से तथा 'महेशान' पद से विजिगीषा वाला अर्थ अभिव्यक्त किया गया जो कि दशम पटल के द्वारा निर्णीत है । 'अनामय' और 'मुद्रित' पदों के द्वारा द्योतन अर्थ बतलाया गया । उसे बीच-बीच में उस (= उन्मना नामक विद्या) में स्थित होकर 'परमकारण परम तेज को अभिव्यक्त करना चाहिये' इत्यादि ग्रन्थ में स्पष्ट किया गया है । स्तुति रूप अर्थ को 'चण्ड' से लेकर 'निषेवितम्' तक (के पदों द्वारा) स्फुटित किया गया है ।

'देवताओं और राक्षसों की सिद्धि के लिये महादेव ने यज्ञरूपी उपाय के द्वारा निर्देश किया ।'

इत्यादि उद्देशों में बतलाया गया । गतिरहित (= आश्रयहीन) (जीवों) के लिये गतिरूप जो अर्थ है वह भी 'प्रणतार्तिविनाशनम्' तक के पदों द्वारा व्यक्त किया गया तथा षष्ठ सप्तम अष्टम नवम द्वादश त्रयोदश एवं पञ्चदश पटलों से स्पष्ट किया गया । इसी प्रकार 'भैरव' पद के अर्थ की भी योजना बनानी चाहिये । जैसे

व्यञ्जितस्तन्त्रावतारपटलेन प्रदर्शितः, तथान्येऽप्यर्थाः यथायोगं देवपदतुल्यार्थतया योज्याः । अपि च कैलासेति पदेन द्वितीयार्थेन स्थानपूर्वकं देवभैरवादिपदैः सृष्टीत्यादिना च अवस्थापूर्वकं स्तूयमानम् इत्यन्तेन च स्तुतिपूर्वकमस्य शास्त्रस्यावतरणम्, इत्यनेनैव अवतारकवाक्येन प्रकाशितम्, मुदितमित्यनेन प्रश्नयोग्यावसरज्ञत्वं शिष्यस्य प्रकाशितम् । भैरवपदेन च दक्षिणस्रोतः समुद्भूतत्वम् अस्य शास्त्रस्य सूचितम्, स्रोतोभेदं च नवमपटले दर्शयिष्यामः ॥ ३ ॥

किमब्रवीत् ? इत्याकाङ्क्षायामाह—

श्रीदेव्युवाच—

यत्त्वया कथितं मह्यं स्वच्छन्दं परमेश्वर ॥ ४ ॥
शतकोटिप्रविस्तीर्णं भेदानन्त्यविसर्पितम् ।
चतुष्पीठं महातन्त्रं चतुष्टयफलोदयम् ॥ ५ ॥
न शक्नुवन्ति मनुजा अल्पवीर्यपराक्रमाः ।
अल्पायुषोऽल्पवित्ताश्च अल्पसत्त्वाश्च शंकर ॥ ६ ॥
तदर्थं संग्रहं तस्य स्वल्पशास्त्रार्थविस्तरम् ।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारं कथयस्व प्रसादतः ॥ ७ ॥

रवण अर्थ 'अब्रवीत्' पद के द्वारा संकेतित एवं तन्त्रावतार पटल (= प्रथम पटल) के द्वारा प्रदर्शित किया गया । इसी प्रकार अन्य अर्थों की भी यथायोग देवपद के तुल्य अर्थ के रूप में योजना करनी चाहिये । इसके अतिरिक्त द्वितीया अर्थ वाले 'कैलास' पद से स्थानपूर्वक, 'देव' 'भैरव' आदि तथा 'सृष्टि' इत्यादि पदों के द्वारा अवस्थापूर्वक, 'स्तूयमानम्' पद से स्तुतिपूर्वक इस शास्त्र का अवतरण इसी अवतारक वाक्य के द्वारा प्रतिपादित किया गया । 'मुदितम्' पद के द्वारा यह प्रकाशित किया गया कि शिष्य प्रश्न के योग्य अवसर को समझता है । 'भैरव' पद के द्वारा इस शास्त्र का दक्षिणाम्नायत्व सूचित किया गया । अम्नाय का भेद (हम) नवम पटल में बतलायेंगे ॥ ३ ॥

क्या कहा ?- ऐसी आकाङ्क्षा होने पर कहते हैं—

श्रीदेवी ने कहा—

हे परमेश्वर ! सौ करोड़ (पटल, श्लोक आदि के रूप में) विस्तृत, अनन्त भेदों वाले, चतुष्पीठ, चार फलों को देने वाले जिस महातन्त्र स्वच्छन्द तन्त्र को आपने मुझे बतलाया उसे अल्प शक्ति अल्प पराक्रम, अल्प आयु वाले अल्पवित्त अल्पप्राण मनुष्य नहीं (अपना) सकते । इसलिये हे शङ्कर ! भोग-मोक्ष को देने वाले अल्पशास्त्रार्थ के विस्तार वाले उस संग्रह को प्रसन्न होकर बतलाइये ॥ -४-७ ॥

हे शंकर ! अनुग्रहैकपरतया श्रेयस्कर ! स्व आत्मरूप परमेश्वर, यत् त्वया मह्यं स्व एवच्छन्द इच्छा यस्य तादृगनर्गलभैरवरूपाभिधायित्वात् स्वच्छन्दं, तन्त्रावतारपटलनिरूपयिष्यमाणदृशा कोटिशतादिविस्तीर्णं कोटराक्षव्याधिभक्षाघोरेश्वर-स्वच्छन्दादिना भेदानन्त्येन प्रसारितम्, चतुर्णां विद्यामन्त्रमण्डलमुद्राणाम्, पीठम् आश्रयं संभवमात्रेण ।

'मुद्रा मण्डलपीठं तु मन्त्रपीठं तथैव च ।
विद्यापीठं तथैवेह चतुष्पीठा तु संहिता ॥' इति,

तथा—

'स्वच्छन्दभैरवश्चण्डः क्रोध उन्मत्तभैरवः ।
ग्रन्थान्तराणि चत्वारि मन्त्रपीठं वरानने ॥' इति ।

श्रीसर्ववीरेऽभिहितत्वात् । तत्र विद्या स्वच्छन्दशिवरूपा स्फुरत्ता परमार्थमातृका, मन्त्राः चतुष्कलाद्याः, मण्डलं नवनाभादि, मुद्राः कपालाद्यनुकाराः । समयि-पुत्रक-साधक-आचार्यरूपस्य चतुष्टयस्य वक्ष्यमाणभेदभिन्नस्य यत्फलं भोग-मोक्षवितरणादिरूपं तस्योदयो यस्मात् तादृशं कथितं तत् । मरणजन्मधर्मका मनुष्याः, अल्पेन वीर्येणोत्साहेन पराक्रमेण सामर्थ्येन च युक्ताः, अत एव च वीरसिद्धिषु अशक्ताः, अल्पजीवितत्वेन अल्पवित्तत्वेन च महानुष्ठानेषु चासमर्थाः,

---

हे शंकर = अनुग्रह में संलग्न होने के कारण श्रेयस्कर, स्व = आत्मरूप परमेश्वर, जो आपने स्व ही छन्द = इच्छा है जिसका वैसे, निर्बाध भैरवरूप का वाचक होने से स्वच्छन्द तन्त्र अवतार पटल के रूप से निरूपित किये जाने वाली दृष्टि से सौ करोड़ आदि के रूप में विस्तीर्ण, कोटराक्ष व्याधिभक्ष अघोरेश्वर स्वच्छन्द आदि अनन्त भेदों से प्रसारित, विद्या मन्त्र मण्डल और मुद्रा रूप चार पीठों अर्थात् आश्रयों वाला—

'मुद्रापीठ, मण्डलपीठ, मन्त्रपीठ और विद्यापीठ इस प्रकार संहिता चार पीठों वाली है ।' तथा—

'स्वच्छन्द भैरव, चण्ड भैरव, क्रोध भैरव और उन्मत्त भैरव (ये चार भैरव हैं) । हे वरानने ! इनके चार ग्रन्थ मन्त्रपीठ (कहे जाते हैं) ।'

ऐसा सर्ववीर तन्त्र में कहा गया है । उनमे से विद्यापीठ स्वच्छन्द शिवरूपा स्फुरत्ता परमार्थमातृका है । चतुष्कल आदि मन्त्रपीठ हैं । नव नाभ आदि मण्डलपीठ हैं, कपाल आदि का अनुकरण मुद्रापीठ हैं । समयी पुत्रक साधक और आचार्यरूप वक्ष्यमाण भेदों से भिन्न चार प्रकार के व्यक्तियों को भोग एवं मोक्ष का वितरण रूप जो फल है वह जिससे प्राप्त होता है उसे (आपने) कहा । मनुष्य मरण एवं जन्म के स्वभाव वाले हैं । वे थोड़े से वीर्य उत्साह पराक्रम और सामर्थ्य से युक्त हैं । इसीलिये वीराचारी साधना में अशक्त हैं । अल्पप्राण होने के कारण

अल्पसत्त्वतया च महार्थज्ञानोपदेशाश्वासरहिताः, न शक्नुवन्ति श्रोतुमध्येतुं किं पुनरनुष्ठातुम्, तदर्थं तस्य शास्त्रस्य संग्रहं संक्षेपम्, अल्पः शास्त्रार्थविस्तरो यस्य तादृशम्, भुक्तिं मुक्तिं च ताच्छील्येन ददतम्, प्रसादेन अन्तर्नैर्मल्यप्रथनात्मना अनुग्रहेण, कथय ॥ ७ ॥

अथ प्रश्ननिर्णेयानि वस्तूनि उद्दिशति—

कीदृशं वै गुरुं विद्यात् साधकं च महेश्वर ।
भयाभयप्रदातारं शिष्यं भूमिं च कीदृशीम् ॥ ८ ॥
मन्त्रांश्चैव समासेन कालं चैव समासतः ।
यजनं हवनं चैव अधिवासं रजांसि च ॥ ९ ॥
पञ्चगव्यं चरुं चैव दन्तकाष्ठं च मण्डलम् ।
दीक्षा चाध्वाभिषेकौ च समयान्साधनानि च ॥ १० ॥
कलिमासाद्य सिध्यन्ति तथा ब्रूहि महेश्वर ।

गुर्वादि भूम्यन्तं कीदृशं विद्यात् उपादातुं हातुं जानीयात् । मन्त्रादि-साधनान्तानि पञ्चदश वस्तूनि च यथा कलौ सिद्ध्यन्ति तथा ब्रूहि । तत्र समयिना श्रुतशास्त्रेण पुत्रकादिपदजिघृक्षया गुरुः परीक्ष्यो गुरुणैव वा परीक्ष्यः, गुर्वादयः कार्याः गुर्वादयोऽत्र यथाप्राधान्यं क्रमेण निर्दिष्टाः, शिष्यः पुत्रकः समयी च वक्ष्यमाणस्वरूपः, सद्गुरुः गुर्वादिचतुष्टयरूपस्य शिष्यवर्गस्याभयप्रदः, असद्-गुरुस्तु भयप्रदः, सच्छिष्यवर्गः असच्छिष्यवर्गश्च स्वात्मन एव अभयं भयं च प्रददाति, भयं सिद्धिमुक्तिप्रत्यूहात्, तदभावादभयम्, भयाभयप्रदातारमित्येत-ल्लिङ्गादिपरिणामेन, भूमिमन्त्रदन्तकाष्ठादीनामपि वक्ष्यमाणनीत्या यथायोगं योज्यम्, भूमिः मन्त्रयागप्रस्तारस्थानम्, मन्त्राः आसन्नमूर्तिसकलनिष्कलाद्याः, कालः सौरः आभ्यन्तरश्च विचित्रः, समासतो यजनहवने सर्वदीक्षितसाधारणे, दीक्षोपयोगि-सर्ववस्तूनां योग्यतापादनात्मा संस्कारः अधिवासः, रजांसि शालिचूर्णादीनि वक्ष्यमाणानि नवनाभादिमण्डलोपयोगीनि, पाशक्षपणशिवपददानरूपा दीक्षा, बहु-भेदोऽध्वा वर्णमन्त्रपदकलातत्त्वभुवनरूपः षड्विधः, अभिषेकः आचार्यादीनां यागान्ते मन्त्रकलशाम्भसा सेचनम्, दीक्षितानां शेषवत्त्वेन नियतविधिनिषेधाः समयाः, साधनानि साधकानां सिद्ध्युपायाः, न्यासजपाज्यसंस्कारादि अन्यत् सर्वमत्रैव अन्तर्भूतत्वात् पृथङ् नोद्दिष्टम् ॥ १० ॥

अथ प्रश्ननिर्णयमुपक्रममाणः प्रोत्साहनाप्रमुखं शिष्यप्रवर्तनाय प्रयोजनाभिधायि

महार्थ (= रहस्य) ज्ञान और उसके उपदेश के विश्वास से रहित हैं । वे उस ज्ञानोपदेश का श्रवण मनन तक नहीं कर सकते फिर अनुष्ठान की क्या बात । इसलिये उस शास्त्र का संग्रह = संक्षेप जो कि अल्पशास्त्रार्थ के विस्तार वाला और स्वभावतः भोग और मोक्ष देने वाला है, उसे प्रसन्नता के साथ अर्थात् हार्दिक निर्मलता के विस्तार वाले अनुग्रह के साथ कहिये ॥ ७ ॥

अब प्रश्न के द्वारा निर्णेय वस्तुओं का नाम बतलाते हैं—

हे महेश्वर ! गुरु और साधक कैसा होना चाहिये, भय एवं अभय देने वाला शिष्य और भूमि कैसी होनी चाहिये, संक्षेप में मन्त्रों को, समय को याग, हवन, अधिवास, धूलि, पञ्चगव्य, चरु, दन्तकाष्ठ, मण्डल, दीक्षा, अध्वा, अभिषेक, समय एवं साधन—ये सब कलियुग में जिस प्रकार से सिद्ध होते हैं, हे महेश्वर ! वह बतलाइये ॥ ८-११- ॥

गुरु से लेकर भूमि पर्यन्त किस प्रकार की जाननी चाहिये अर्थात् उनके ग्रहण और त्याग को कैसे जानना चाहिये, मन्त्र से लेकर साधन पर्यन्त पन्द्रह वस्तुयें जिस प्रकार कलियुग में सिद्ध होती हैं वह प्रकार बताइये । उनमें से शास्त्र का श्रवण सम्पन्न किये हुए समयी के द्वारा पुत्रक आदि पदों को प्राप्त करने की इच्छा से गुरु की परीक्षा करनी चाहिये अथवा गुरु के द्वारा (शिष्य की) परीक्षा की जानी चाहिये । गुरु आदि बनाने चाहिये । गुरु आदि की चर्चा यहाँ प्रमुखता के क्रम से की गयी है । शिष्य पुत्रक और समयी (दो प्रकार का) होता है जिसका स्वरूप आगे कहा जायेगा । सद्गुरु वह है जो गुरु आदि चार प्रकार के शिष्यवर्ग को अभय देने वाला हो । असद् गुरु भयप्रद होता है । सत् शिष्यवर्ग और असत् शिष्यवर्ग अपने को अभय और भय देने वाला होता है । सिद्धि और मुक्ति में विघ्न-उत्पत्ति को भय कहते हैं । उसका अभाव होने से अभय होता है । भय और अभय देने वाला—यह कथन लिङ्ग (लक्षण आदि) आदि के परिणाम से कहा गया है । भूमि मन्त्र दन्तकाष्ठ आदि की भी योजना वक्ष्यमाण नीति के अनुसार यथायोग (= समय और व्यवस्था के अनुसार) करनी चाहिये । भूमि का अर्थ है—मन्त्रयाग के प्रस्तार का स्थान । मन्त्र—आसन्न (= सामने वर्तमान) मूर्त्ति-सकल निष्कल आदि । काल-सौर (= दिन मास आदि) और आभ्यन्तर भेद से विचित्र प्रकार का। यजन और हवन संक्षेपतः सभी दीक्षितों के लिये सामान्य हैं । अधिवास उस संस्कार को कहते हैं जो दीक्षोपयोगी समस्त वस्तुओं के विषय में होता है । रज (= धूलि) उन वक्ष्यमाण शालिचूर्ण आदि को कहते हैं जिनका उपयोग नवनाभ आदि मण्डल के लिये किया जाता है । दीक्षा वह है जो पाश का नाश और शिवपद की प्राप्ति कराती है । अध्वा के यद्यपि अनेक भेद हैं फिर भी (मुख्यरूप से वह) वर्ण मन्त्र पद, कला तत्त्व और भुवनरूप छः प्रकार का है । याग के अन्त में मन्त्र सहित कलश वाले जल से आचार्य आदि का सेचन अभिषेक है । दीक्षितों का शेष के रूप में विधीयमान नियत विधि और निषेध समय कहलाता है । साधकों की सिद्धि के उपाय साधन कहे जाते हैं । न्यास, जप, घी का संस्कार आदि अन्य सब कुछ इसी में अन्तर्भूत है इसलिये अलग से नाम नहीं गिनाया गया ॥ १० ॥

अब प्रश्न के निर्णय का उपक्रम करते हुए शिष्य को (शास्त्र में) प्रवृत्त करने

आदिवाक्यम्—

श्रीभैरव उवाच—

साधु साधु महाभागे यत्त्वया परिचोदितम् ॥ ११ ॥
अनुग्रहाय मर्त्यानां साम्प्रतं कथयामि ते।

साधु साधु इति वीप्सया अवसरप्रष्टृतां जनानुकम्पां च श्लाघमान उपदेशग्रहणयोग्यतापादनाय शिष्यधियमुत्तेजयति देवः । महाभागे इत्यनेन अनुग्रहोन्मुखत्वं श्लाघितम्, त्वया मर्त्यानां मृतिधर्मणां सामान्येन सर्वेषां न तु नियतानां केषांचिदधिकारिणाम्, अनुग्रहाय भोगमोक्षसम्पत्तये, यत्प्रमेयजातं परिपाट्या चोदितं पृष्टं तत्तेषामनुग्रहायैव । अहं साम्प्रतं परभैरवसत्तानुप्रवेशोन्मिषित-महाविकासावसरे बालबालिशविद्वज्जनाद्युचितदीक्षाप्रदर्शनादिक्रमेण उपपन्नं च कृत्वा ते कथयामि । अत्र च यच्छब्दपरामृष्टपूर्वोद्दिष्टप्रमेयपरिपाटीज्ञानमभिधेयम्, तत्प्रयोजनं भोगमोक्षात्मा अनुग्रहः, तत्र चोपायोपेयभावात्मा सम्बन्धः, मर्त्यानामधिकारित्वम्, परानुजिघृक्षोन्मुखतया निवृत्तभोगाभिलाषस्य शिष्यस्य योग्यत्वोत्तेजनम्, परभैरवस्फारावमर्शोन्मिषत्प्रतिभागावसरत्वेन आत्मन आप्ततां पर-

---

के लिये प्रोत्साहन बढ़ाने वाले तथा प्रयोजन को बतलाने वाले आदि वाक्य (को कहा जा रहा है)।

श्री भैरव ने कहा—

हे महाभागे ! धन्यवाद । तुमने ठीक प्रश्न किया । अब मैं मनुष्यों के अनुग्रह के लिये (वर्णन) करूँगा ॥ -११-१२- ॥

साधु-साधु इस दो बार के कथन से अवसर की प्रष्टृता और मनुष्यों के ऊपर (देवी की) अनुकम्पा की प्रशंसा करते हुए भगवान् शिव उपदेशग्रहण की योग्यता को सम्पन्न करने के लिये शिष्य की बुद्धि को उत्तेजित करते हैं—'महाभागे' इस कथन से (शिष्य की) अनुग्रहोन्मुखता की प्रशंसा की गयी । तुम्हारे द्वारा सभी मर्त्यों के = मरणशीलों के न कि कुछ निश्चित अधिकारियों के अनुग्रह = भोग एवं मोक्ष की प्राप्ति के लिये, जो प्रमेयसमूह परम्परया चोदित = पूछा गया, वह उन (मर्त्यों) के अनुग्रह के लिये ही है । मैं परभैरवसत्ता में अनुप्रवेश के द्वारा उन्मिषित महाविकास के अवसर पर, बाल, मूर्ख, विद्वान् लोगों के लिये उचित दीक्षाप्रदर्शन आदि के क्रम से सिद्ध कर तुमसे कह रहा हूँ । (अब क्षेमराज अनुबन्धचतुष्टय को बतलाते हैं—) यहाँ 'यत्' शब्द से परामृष्ट पहले बतलाये गये प्रमेयों की परम्परा का ज्ञान अभिधेय (= विषय) है । भोगमोक्षरूप अनुग्रह प्रयोजन है । उपायउपेयभाव रूप सम्बन्ध है और, मनुष्य मात्र अधिकारी है । मुख्य प्रयोजन के प्रतिपादन में संलग्न भी परमेश्वर ने इस आदि वाक्य में दूसरे के ऊपर अनुग्रह की इच्छा की उन्मुखता से भोगाभिलाषरहित शिष्य की योग्यता का उत्तेजन, तथा

सम्बन्धसारतां च नवमपटले निर्णेष्यमाणां सम्बन्धषट्कस्य निरूपितवान् परमेश्वरो मुख्यभूतप्रयोजनप्रतिपादनपरोऽपि आदिवाक्ये ॥ ११ ॥

अथ यथोद्देशं निर्णेतुमाह—

आदौ तावत्परीक्षेत आचार्यं शुभलक्षणम् ॥ १२ ॥

शुभम्—

'शिवेन सहचारित्वादाचार्यस्तेन कीर्तितः' (४।४०९)

इति इहैव वक्ष्यमाणं शिवाभिन्नस्वरूपप्रतीतिरूपं लक्षणं यस्य तमाचार्यं-साधकादिभिश्च आभिमुख्येन चरणीयं सेव्यम् । आदाविति शक्तिपातवशसंप्राप्त-प्रबुद्धसुहृद्वाक्यावेदितसतत्त्वः शिष्यः पुत्रकादिदीक्षां जिघृक्षुः श्रुतसंहिताशास्त्रः समयी, यद्वा गुरुरेव शिष्यमाचार्यीकर्तुं पूर्वं परीक्षेत, यद्वक्ष्यति—

'श्रुतशीलसमाचारान् दैशिकत्वे नियोजयेत् ।' (४।४५४) इति ।

तावच्छब्देनेदं ध्वनति—

'सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरुत्तमः ।'

परभैरव के स्फार के अवमर्श से उन्मिषित होने वाले प्रतिभाग के अवसर के होने से अपनी आप्तता और नवम पटल में निर्णेष्यमान छः प्रकार के सम्बन्धों की परसम्बन्धसारता का निरूपण किया है ॥ ११ ॥

अब नामग्रहण के अनुसार व्याख्या करने के लिये कहते हैं—

पहले शुभ लक्षणों वाले आचार्य की परीक्षा करनी चाहिये ॥ -१२ ॥

शुभ—

'शिव के साथ सञ्चरण करने के कारण (उस व्यक्ति को) आचार्य कहा गया है ।' (४।४०९)

ऐसा इसी ग्रन्थ में आगे कहे जाने वाला, शिवाभिन्नस्वरूप की प्रतीति वाला लक्षण है जिसका उसको आचार्य (कहते हैं । अथवा) साधक आदि के द्वारा आभिमुख्येन चरणीय = सेवा करने के योग्य जो हो (उसे आचार्य कहते हैं) । आदौ—शक्तिपातवश सम्प्राप्त ज्ञानवान् मित्र के वाक्यों से विज्ञापित तत्त्व वाला शिष्य जो कि पुत्रक आदि दीक्षा को ग्रहण करने की इच्छा वाला तथा संहिता शास्त्र का श्रवण कर चुका हो ऐसा समयी हो । अथवा गुरु स्वयं शिष्य को आचार्य बनाने के पहले उसकी परीक्षा करे । जैसा कि कहेंगे—

'(गुरु) श्रोतव्य उपदेश से युक्त, शीलवान और आचारवान् शिष्य को दैशिक (= आचार्य) पद पर नियोजित करें ।' (४।४५४)

'तावत्' शब्द से ईश्वर यह संकेतित करते हैं—

इति नीत्या उक्तप्रतीतिरूपतैव अस्य शुभलक्षणम्,

'अहमेव परो हंसः शिवः' (४।३९९)

इति वक्ष्यमाणनीत्या तस्या एव मोचकत्वात् दीक्षाक्रियाया अपि शिवाभेदव्याप्तिसारत्वस्य दर्शयिष्यमाणत्वात् ॥ १२ ॥

आर्यदेशजत्वादि उपचयहेतुः शिष्याणां सिद्ध्यङ्गम्, अत एवैतत् पश्चान्निर्दिशति—

आर्यदेशसमुत्पन्नं सर्वावयवभूषितम् ।
शिवशास्त्रविधानज्ञं ज्ञानज्ञेयविशारदम् ॥ १३ ॥
देवकर्मरतं शान्तं सत्यवादिदृढव्रतम् ।
सत्त्ववद्वीर्यसम्पन्नं दयादाक्षिण्यसंयुतम् ॥ १४ ॥
त्यागिनं दम्भनिर्मुक्तं शिवशास्त्रेषु भावितम् ।
ईदृशं तु गुरुं प्राप्य सिद्धिमुक्ति न दूरतः ॥ १५ ॥

प्रविभक्तचातुर्वर्ण्यः आर्यदेशः । यदाह ,विष्णुः—

'चातुर्वर्ण्यव्यवस्थानं यस्मिन् देशे न विद्यते ।
स म्लेच्छदेशो विज्ञेय आर्यावर्तस्त्वतः परः ॥' इति ।

'गुरु समस्त लक्षणों से रहित होता हुआ भी यदि ज्ञानी है तो वह उत्तम होता है।'

इस नीति से उक्त प्रतीतिरूपता ही इसका शुभ लक्षण है । क्योंकि—

'मैं ही पर हंस शिव हूँ ।' (४।३९९)

इस वक्ष्यमाण नीति के अनुसार वही (= 'अहं परः शिवः यह प्रतीतिरूपता ही) मोक्षप्रद है और दीक्षाक्रिया भी शिवाभेदव्याप्ति का सार है—यह आगे दिखाया जायेगा ॥ १२ ॥

आर्यदेश में उत्पन्न होना उपचय (= गुणों की वृद्धि) का हेतु है और शिष्यों की सिद्धि का अङ्ग है । इसीलिये इसका बाद में निर्देश करते हैं—

जो आर्यदेश में उत्पन्न, समस्त अवयवों से युक्त, शिवशास्त्र के विधान का ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय का विशारद, देवकर्म में लगा हुआ, शान्त, सत्यवादी, दृढ़व्रती, सत्त्ववान्, वीर्यसम्पन्न, दयादाक्षिण्य से युक्त, त्यागी, दम्भरहित, शिवशास्त्र में श्रद्धा रखने वाला है—ऐसे गुरु को प्राप्त कर भोग और मोक्ष दूर नहीं रहते ॥ १३-१५ ॥

जहाँ चारो वर्ण विभक्त हों वह आर्यदेश है । जैसा कि विष्णुपुराण में कहा गया—

'जिस देश में चारो वर्णों की व्यवस्था नहीं है उसे म्लेच्छ देश समझना

विधानं दीक्षादि, ज्ञाने शिवशास्त्रे, ज्ञेये च परमशिवतत्त्वे, तत्तदध्वव्याप्त्यादौ विशारदं निर्मलम्, शान्तं जितेन्द्रियः, सत्यवादी चासौ दृढव्रतः अभ्युपगतनिर्वाहकः, सत्त्ववान् निष्कम्पश्च असौ वीर्येण परमुद्रापरमार्थेन सम्पन्नः पूर्णः, दया संसारिणः प्रति अनुजिघृक्षा, दाक्षिण्यम् अमात्सर्यमानुकूल्यम्, त्यागिनं तृणवद्वित्तं मन्यमानम्, दम्भनिर्मुक्तम् अवक्रव्यवहारम्, शिवशास्त्रेषु भावितम् अशेषविद्याभिज्ञत्वेऽपि शिवशास्त्रेष्वेव विश्रान्ताश्वासम्, ईदृशमिति समनन्तरोक्तशिवाभिन्नस्वप्रतीतिसारम्, गुरुम् उपदेष्टारम्, प्राप्य कारणभूतमासाद्य, सिद्धिमुक्ती कर्त्र्यौ न दूरतः झटित्येव भवत इत्यर्थः । व्याख्यातरूपं शुभलक्षणत्वं मुक्तेरार्यदेशोद्भूतत्वादि च सिद्धिहेतुः शिष्यस्य, इत्युक्तप्रायम् ॥ १५ ॥

एवमभयप्रदं गुरुसतत्त्वमुक्त्वा विपर्ययमाह—

क्रोधनश्चपलः क्षुद्रो दयादाक्षिण्यवर्जितः ।
केकरो दन्तुरः काणः पापिष्ठः शास्त्रवर्जितः ॥ १६ ॥
अतिदीर्घस्तथा ह्रस्वः कृशः स्थूल क्षयान्वितः ।
तार्किको दम्भसंयुक्तः सत्यशौचविवर्जितः ॥ १७ ॥
अन्यशास्त्ररतो यस्तु नासौ मुक्तिफलप्रदः ।

चाहिये । आर्यावर्त्त उससे भिन्न है ।'

विधान = दीक्षा आदि । ज्ञान में = शिवशास्त्र में, ज्ञेय में = परम शिव तत्त्व में, तत्तद् अध्वा की व्याप्ति आदि में, विशारद = निर्मल, शान्त = जितेन्द्रिय, सत्यवादी होते हुए दृढ़व्रत = स्वीकृत का निर्वाह करने वाला, सत्त्ववान् निष्कम्प होते हुये वीर्य अर्थात् परमुद्रापरमार्थ से सम्पन्न = पूर्ण, दया = संसारियों के प्रति कृपा करने की इच्छा, दाक्षिण्य = मात्सर्यरहित अनुकूलता, त्यागी = धन को तृणवत् समझने वाला, दम्भनिर्मुक्त = कुटिल व्यवहार से हीन, शिव शास्त्रों में भावित = समस्त विद्याओं को जानते हुये भी शिवशास्त्रों में ही श्रद्धावान्, इस प्रकार का = पूर्वोक्त शिवाभिन्न स्वप्रतीतिसार वाला, गुरु को = उपदेष्टा को, प्राप्त कर = कारणस्वरूप को प्राप्त कर, सिद्धि और मुक्ति, दूर नहीं है = तुरन्त ही प्राप्त हो जाती हैं । जिसके स्वरूप की व्याख्या की जा चुकी है ऐसा शुभलक्षण और आर्यदेश में उत्पत्ति आदि शिष्य की मुक्ति प्राप्ति के कारण हैं—ऐसा कह दिया गया ॥ १५ ॥

इस प्रकार अभयप्रद गुरुतत्त्व को कह कर विपरीत (गुरुतत्त्व) को कहते है—

जो क्रोधी, चञ्चल, क्षुद्र, दया दाक्षिण्य से रहित, केकर, दन्तुर, काना, पापी, शास्त्राध्ययन से रहित, बहुत लम्बा, बहुत नाटा, बहुत दुर्बल, बहुत मोटा, क्षयरोगी, कुतर्क करने वाला, दम्भी, सत्य और पवित्रता से हीन, अन्य शास्त्रों में श्रद्धावान् है, वह मुक्ति और फल को

क्रोधनः क्रोधमयः, चपलो दुशीलः कार्येष्वरुढश्च, क्षुद्रः क्षुद्रसिद्धिसाधनपरः, केकरो लोलतारकदृष्टिः, क्षयान्वितो यक्ष्माक्रान्तः, तार्किकः कुतर्कशास्त्रैकनिष्ठः, ऊहात्मकस्तु तर्कः श्रीपूर्वशास्त्रे शस्त एव, यथोक्तम्—

'तर्को योगाङ्गमुत्तमम् ।' (१७।१८) इति,

शौचवर्जितः, अर्थशुद्ध्यादिशून्यः, स्पष्टमन्यत् । एवमीदृशो गुरुः साधकाय फलं सिद्धिलक्षणं न ददाति प्रत्युत वक्ष्यमाणदिशा भयमेव वितरति । यस्तु अन्यत्र वैष्णवादौ शास्त्रे रतः, अथ च चुम्बकादिवृत्त्य शिक्षितपारमेश्वरशास्त्रः, तत्र असमाश्वस्तः तदुक्तम्—'दीक्षादि कुर्वन्नपि पापिष्ठो न मुक्तिप्रदः, शिवशास्त्ररतस्तु तत्तदंशकनिष्ठेभ्यः सर्वेभ्यो मुक्तिफलप्रद एव तस्य सर्वोर्ध्ववर्तित्वात्' । यद्वक्ष्यति—

'सर्वाध्वनो विनिष्क्रान्तं शैवानां परमं पदम्' (१०।७४) इति,

मुक्तिं फलं च सिद्धिरूपं प्रददाति, इत्येवं योजयित्वा यथोक्तं व्याकर्तव्यम्, एवं हि—

'सन्तापं क्रोधने विन्द्यात्' (१।२२)

देने वाला नहीं होता ॥ १६-१८- ॥

क्रोधनः = क्रोधयुक्त, चपल = दुष्ट स्वभाव वाला और कार्य को ठीक ढंग से न जानने वाला, क्षुद्र = छोटी-छोटी सिद्धियों में लगा हुआ, केकर = चञ्चल पुतली वाली आँखों वाला (भैंगा), क्षयान्वित = यक्ष्मा का रोगी, तार्किक = कुतर्क वाले शास्त्रों में निष्ठा रखने वाला । ऊहात्मक तर्क की मालिनीविजय तन्त्र में प्रशंसा की गयी है । जैसा कि कहा गया है—

'तर्क उत्तम योगाङ्ग है ।' (१७।१८)

शौचवर्जित = अर्थशुद्धि आदि से शून्य । शेष स्पष्ट है । इस प्रकार का गुरु साधक को सिद्धिलक्षण वाला फल नहीं देता बल्कि आगे कहे जाने वाली रीति के अनुसार भय ही उत्पन्न करता है । जो कि अन्यत्र वैष्णव आदि शास्त्रों में श्रद्धा रखता है और चुम्बक आदि की वृत्ति से (= थोड़ा इस ग्रन्थ या गुरु से थोड़ा उस ग्रन्थ या गुरु से लेकर) पारमेश्वर शास्त्र की शिक्षा ली है, उसमें समाश्वस्त नहीं है। वही कहा गया है—दीक्षा आदि करने वाला भी (गुरु) यदि पापी है तो वह मुक्ति नहीं देता और जो शिवशास्त्र में रत है वह किसी अंश मात्र में निष्ठा रखने वाले सबके लिये मुक्तिफलप्रद होता है क्योंकि वह सबसे ऊपर (= ऊत्कृष्ट) है । जैसा कि कहेंगे—

'शैवों का परम पद समस्त अध्वाओं से परे हैं ।' (१०।७४)

मुक्ति और सिद्धिरूप फल को देता है इस प्रकार योजना कर पूर्वोक्त की व्याख्या करनी चाहिये । इस प्रकार—

इत्यादि,

'मन्त्रास्तस्य न सिद्ध्यन्ति यः सत्यादिविवर्जितः' (१।२७)

इत्यन्तं वक्ष्यमाणविरुद्धफलप्रदत्वं क्रोधनादेः सङ्गच्छते । अत एव अन्यशास्त्ररतस्य यद्विपरीतफलप्रदत्वम् उत्तरत्र नोक्तम्, तदपि युक्तमेव ।

'संतापं क्रोधने विन्द्यात्' (१।२२)

इत्यादि इह क्रमप्राप्तमपि अपठित्वा शिष्यनिर्णयादनन्तरं पठन् शिष्यस्यैव भूयसा ईदृशो गुरुर्भयद इति ध्वनयति ॥ १७ ॥

अथात्मनि अभयप्रदस्य शिष्यस्य स्वरूपं निर्दिशति—

शिष्यो दयान्वितो धीरो दम्भमायाविवर्जितः ॥ १८ ॥
देवाग्निगुरुभक्तश्च शास्त्रभक्तो दृढव्रतः ।
गुरुशुश्रूषणपरः सुशान्तेन्द्रियसंयुतः ॥ १९ ॥
ईदृशो वै भवेच्छिष्यः सोऽत्रानुग्रहभाजनम् ।

दया दीनादिविषयानुकम्पा, धैर्यं सर्वत्रोत्साहः, दम्भः अस्पष्टहृदयता, माया वञ्चकत्वम्, दृढव्रतो निश्चितमतिः, एतत्साधकविषयं तस्यैव क्रोधनादिवर्जिता-

---

'क्रोधी गुरु के विषय में (श्रद्धा रखने वाला) सन्ताप को प्राप्त करता है ।' (१।२२)

यहाँ से लेकर

'जो सत्य आदि से रहित है उसको मन्त्र सिद्धि नहीं मिलती ।' (१।२७)

यहाँ तक बतलाये गये लक्षण वाला क्रोधी गुरु वक्ष्यमाण विरुद्ध फल को देता है (कथन) सङ्गत होता है । इसीलिये जो अन्यशास्त्र में रत (गुरु) विपरीत फल देता है—ऐसा बाद में नहीं कहा गया वह भी ठीक ही है ।

यहाँ क्रम से प्राप्त भी 'सन्तापं क्रोधने विन्द्यात्' (१।२२) इत्यादि न पढ़ कर शिष्य के (गुण) निर्णय के बाद पढ़ने से यह ध्वनित होता है कि ऐसा गुरु शिष्य को भय देने वाला होता है ॥ १७ ॥

अब अपने लिये ही अभयप्रद शिष्य का स्वरूप बतलाते हैं—

शिष्य को दयालु, धीर, दम्भ एवं माया से रहित, देव अग्नि गुरु के प्रति भक्तिभाव रखने वाला, शास्त्रभक्त, दृढ़व्रती, गुरु की सेवा करने वाला, सुशान्त इन्द्रियों वाला होना चाहिये । जो शिष्य ऐसा होता है वह (गुरु की) कृपा का पात्र होता है ॥ -१८-२०- ॥

दया = दीन आदि के ऊपर कृपा, धैर्य = सर्वत्र उत्साह, दम्भ = स्वच्छहृदय का न होना, माया = ठगी, दृढ़व्रत = निश्चित बुद्धिवाला । यह साधक का

चार्यशिष्यस्य निश्चितधीत्वेनैव साधनाधिकारिणः शिवधर्मिलोकधर्मिभिदा स्वावसरे निर्णेष्यमाणत्वात् देवादिचतुष्टयभक्तिः शिष्यस्य मुख्यं रूपम् । भक्तिः दूरस्थे गुरौ भवति शुश्रूषा तु सततं तदनुचरत्वम् । सोऽत्रानुग्रहभाजनम्' इत्यनेन अस्य स्वात्मन्येव अभयप्रदत्वमुक्तम् । द्वितीयः शिष्यशब्दोऽर्हप्रत्ययान्तः । स्पष्टमन्यत् ॥ १९ ॥

एतद्विपरीतमाह—

मायान्वितः शठः क्रूरो निःसत्यः कलहप्रियः ॥ २० ॥
कामी च लोभसम्पन्नः शिवभक्तिविवर्जितः ।
दूषको गुरुशास्त्राणां दीक्षितोऽपि न मुक्तिभाक् ॥ २१ ॥

शठः अस्वच्छहृदयः, क्रूरो रौद्रप्रकृतिः, कलहप्रियो वितण्डावान्, लोभसम्पन्नः सम्भवसत्तायामपि पूजादिषु वित्तशाठ्यवान् । शिवभक्तीत्यादिना विलयशक्त्याघ्राततत्वमस्योक्तम् । न मुक्तिभागित्यनेन स्वात्मन्येव अस्य भयप्रदत्वमुक्तम् सर्वेषां शिष्यत्वात् ॥ २१ ॥

(स्वरूप) है । क्रोध आदि से रहित आचार्य का वही शिष्य स्थिरमति होने के कारण साधन का अधिकारी है । शिवधर्मी (=शैव शास्त्र के अनुसार आचरण करने वाला) और लोकधर्मी (= लोक के अनुसार आचरण करने वाला) के भेद से इसका निर्णय उस (शिष्यस्वरूप के) निर्णय के अवसर पर करेंगे । देव आदि चार (= देव अग्नि गुरु और शिव) के प्रति भक्ति शिष्य का मुख्य स्वरूप है । दूरवर्त्ती गुरु के प्रति भक्ति होती है और सुश्रूषा (निकटवर्त्ती गुरु) का निरन्तर अनुगमन । 'वही यहाँ (= शिवशास्त्र में) अनुग्रह का पात्र है'—इस कथन से यह (= शिष्य) अपने लिये ही अभयप्रद है—यह कहा गया । (उक्त श्लोकद्वय में) द्वितीय 'शिष्य' शब्द योग्यता अर्थ में (क्यप्) प्रत्यय वाला है (शासितु योग्यः शिष्यः-शास्+क्यप्) । शेष स्पष्ट है ॥ १९ ॥

उक्त (स्वरूप) के विपरीत को कहते हैं—

मायावी, शठ, क्रूर, झूठा, झगड़ालू, कामी, लोभी, शिवभक्ति से रहित, गुरु और शास्त्रों की निन्दा करने वाला (शिष्य) दीक्षित होकर भी मुक्ति का भागी नहीं होता ॥ -२०-२१ ॥

शठ = मलिन हृदय वाला, क्रूर = रौद्रस्वभाव वाला, कलहप्रिय = वितण्डावान् (= दूसरे की उचित बात को भी न मानने वाला), लोभसम्पन्न = धन के रहने पर भी पूजा आदि में कृपण, 'शिवभक्तिविवर्जितः' पद से इसकी विलयशक्त्याघ्रातता (= तिरोधानशक्ति के द्वारा आक्रान्तता) कही गयी है । 'मुक्ति का भागी नहीं होता—इसके द्वारा अपने विषय में ही यह भयप्रद है—यह कहा गया क्योंकि यह सबका शिष्य है अर्थात् अनेक गुरुओं का शिष्य है ॥ २१ ॥

अथ शिष्याणां यथा भयप्रदो गुरुस्तथा निरूपयति—

सन्तापं क्रोधने विन्द्याच्चपले चपलाः श्रियः ।
मन्त्रसिद्धिं हरेत् क्षुद्र आचार्यस्तु वरानने ॥ २२ ॥
दयाहीनेन दौर्भाग्यमदक्षे दस्युपीडनम् ।
केकरेण भवेद्व्याधिर्दन्तुरः कलिकारकः ॥ २३ ॥
काणो विद्वेषजननः खल्वाटश्चार्थनाशनः ।
शास्त्रहीने न सिद्धिः स्याद् दीक्षादौ वीरवन्दिते ॥ २४ ॥
दीर्घे राजभयं ज्ञेयं ह्रस्वः पुत्रविनाशनः ।
कृशः क्षयकरो ज्ञेयः स्थूल उत्पातकारकः ॥ २५ ॥
क्षयान्वितेन मृत्युः स्यात् तार्किके वधबन्धनम् ।
दाम्भिकः पापजनको वेदितव्यो वरानने ॥ २६ ॥
मन्त्रास्तस्य न सिद्ध्यन्ति यः सत्यादिवर्जितः ।
सर्वे ते न शुभा देवि इह लोके परत्र च ॥ २७ ॥

विन्द्यात् लभते, न सिद्ध्यन्ति नानुग्रहादिकार्यं कुर्वन्ति, एतच्च कर्मप्रधानाचार्याशयेन उच्यते, ज्ञानयोगनिष्ठस्तु आचार्यः काणत्वादियोगेऽपि न दोषकृत् यथोक्तम्—

अब जिस प्रकार गुरु शिष्यों के लिये भयप्रद होता है वह कहते हैं—

(यदि गुरु) क्रोधी है तो (उससे दीक्षित होने पर शिष्य) सन्ताप प्राप्त करता है । (गुरु के) चञ्चल होने पर (शिष्य को) चञ्चल लक्ष्मी प्राप्त होती है । हे सुन्दर मुख वाली ! क्षुद्र आचार्य (शिष्य की) मन्त्र सिद्धि को हर लेता है । निर्दयी (गुरु) से दुर्भाग्य और अदक्ष से चोर डाकू से कष्ट मिलता है । केकर (गुरु) से व्याधि मिलती है और उभरे दाँतो वाला कलह देता है । काना विद्वेष उत्पन्न करता है और खल्वाट (= गञ्जा) धन का नाश करता है । हे वीरवन्दिते ! शास्त्रहीन (गुरु) से दीक्षा के विषय में सिद्धि नहीं मिलती । (गुरु के) लम्बा होने पर राजभय, नाटा होने पर (शिष्य के) पुत्र का नाश होता है । दुर्बल गुरु क्षयकारक, स्थूल गुरु उत्पात करने (कराने) वाला होता है । क्षयी गुरु मृत्यु देता है और कुतार्किक गुरु वध एवं कारागार दिलाता है । दाम्भिक गुरु पाप का जनक होता है । हे वरानने ! जो सत्य आदि से रहित है उसको मन्त्र सिद्धि नहीं मिलती । हे देवि ! वे सभी (गुरु) इस लोक में और परलोक में भी शुभ (फलदायक) नहीं होते ॥ २२-२७ ॥

विन्द्यात् = प्राप्त करता है । सिद्ध नहीं होते = अनुग्रह आदि कार्य नहीं करते । उक्त कथन कर्मप्रधान आचार्य को दृष्टि में रख कर किया गया । ज्ञानी और

'सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरुत्तमः ।'

इति स्पष्टमन्यत् । अत्र च ईश्वरोक्त्येकप्रमाणके उपपत्तय आलजालप्राया लिखिताः, ता उपहास्या एव ॥ २७ ॥

अथ संप्रति मातृकाप्रस्तारे उत्तरत्र च यागादावुचितां भूमिं निर्दिशति—

सितरक्तपीतकृष्णां भूमिं प्लवविशोधिताम् ।
विशल्यां लक्षणैर्युक्तां सर्वकामार्थसाधिकाम् ॥ २८ ॥

श्रित्वेति शेषः, दीक्षायां जात्युद्धारस्य भैरवीयजात्यापादनस्य च वक्ष्यमाणत्वात् ।

'वर्णानां ब्राह्मणादीनां श्वेता मृत् काञ्चना सिता ।'

इति भेददर्शनवन्नात्र विभाग उक्तः, संकीर्णवर्णा तु भूर्व्यवच्छिन्ना, प्लवेन उपरिजलप्रक्षेपेण शोधितां परीक्षितेशानपूर्वोत्तरदिङ्नतिं समनिम्नां वा, यथोक्तम्—

'उदगादिप्लवा श्रेष्ठा...................... ।' इति ।

योगी आचार्य काना आदि होने पर भी दोषकारी नहीं होता । जैसा कि कहा गया—

'समस्त लक्षणों से रहित भी गुरु यदि ज्ञानी है तो (वह) उत्तम (गुरु) है ।'

शेष स्पष्ट है । इस विषय में केवल ईश्वर की उक्ति ही प्रमाण है । शेष युक्तियाँ आल जाल जैसी (= अनावश्यक होती हुई भी प्रसङ्गवश) लिखी गयी अतः वे उपहास्य ही हैं ॥ २७ ॥

अब मातृकाविस्तार में और उसके बाद याग आदि के विषय में उचित भूमि का निर्देश करते हैं—

श्वेत रक्त पीत एवं काले रंग (की मिट्टी) वाली, प्लव से संशोधित, शल्य से रहित (शुभ) लक्षणों से युक्त एवं समस्त काम एवं उद्देश्य को पूरा करने वाली का चयन करें ॥ २८ ॥

भूमि का चयन कर-इतना जोड़ लेना चाहिये । दीक्षा में जाति का उद्धार और भैरवीय जाति का सम्पादन आगे कहा जायेगा ॥ २८ ॥

'ब्राह्मण आदि (= क्षत्रिय और वैश्य) वर्णों की (दीक्षा के लिये) श्वेत (= शंख जैसी) अथवा पीत (अथवा) सित (= चाँदी जैसी) रंग की मिट्टी (होनी चाहिये) ।'

इत्यादि भेददर्शन के समान यहाँ विभाग नहीं कहा गया । (भूमि किसी भी एक रंग की होनी चाहिये) कई रंगों की मिश्रित मिट्टी वाली भूमि समीचीन नहीं होती । प्लव = ऊपर-ऊपर जल छिड़क कर शुद्ध की गयी । ईशान दिशा अथवा पूर्वोत्तर दिशा में ढालू अथवा समानरूप से नीची होनी चाहिये । जैसा कि कहा गया—

विशल्याम् अस्थ्यङ्गारादिशून्याम्, लक्षणैः स्निग्धत्वमनोहरत्वादिभिर्युक्ताम्, अनुवादपरमपि एतदेव वाक्यं विधायकम्, विधिवाक्यान्तरस्याभावात् ॥ २८ ॥

एवंविधां भूमिं श्रित्वा—

सुगन्धिगन्धसंयुक्तां पुष्पप्रकरलालिताम् ।
सुधूपामोदबहलां वितानोपरिशोभिताम् ॥ २९ ॥

कृत्वेति शेषः, भुवं पारमेश्वरीं धर्तृशक्तिमादौ पूजयेदित्यर्थः ॥ २९ ॥

अथ समुचिताचार्यप्रदर्शनपूर्वं मन्त्रोद्धारे इतिकर्तव्यतामाह—

आचार्यस्तु शुचिर्भूत्वा चन्दनागुरुचर्चितः ।
सुधूपितः प्रसन्नात्मा खटिकाकरसंयुतः ॥ ३० ॥
प्राङ्मुखोदङ्मुखो वापि एकचित्तः समाहितः ।
मातृकां प्रस्तरेत्तत्र आदिक्षान्तामनुक्रमात् ॥ ३१ ॥

शुचिः कृतयथेष्टस्नानः, चन्दनेत्यादिना विहितनित्यानुष्ठानः, अत एव प्रसन्नः, देहादिनिमज्जनादुन्मग्नशिवभाव आत्मा यस्य, तत्पुरुषसद्योजातवक्त्रयोः

'पानी आदि छिड़क कर शुद्ध की हुयी भूमि श्रेष्ठ होती है ।'

विशल्या = हड्डी कोयला काँटा आदि से रहित, लक्षण = चिकनाई एवं मोहकता आदि से युक्त । अनुवादपरक होते हुये भी यह वाक्य विधायक ही है । क्योंकि (इस सन्दर्भ में) कोई दूसरा विधिवाक्य नहीं है ॥ २८ ॥

इस प्रकार की भूमि का चयन कर—

सुगन्धित पदार्थों की गन्धि से संयुक्त, फूलों के समूह से सजायी गयी, धूप से सुधूपित एवं ऊपर चाँदनी से अलङ्कृत ॥ २९ ॥

करके— इतना जोड़ना चाहिये । उक्त विशेषण वाली पारमेश्वरी धराशक्ति की पहले पूजा करनी चाहिये ॥ २९ ॥

अब समुचित आचार्य का प्रदर्शन (= वर्णन) कर मन्त्रोद्धार में करणीय इतिकर्त्तव्यता को कहते हैं—

आचार्य पवित्र होकर चन्दन अगुरु आदि (सुगन्धित द्रव्यों से शरीर को) उपलिप्त कर, धूप से धूपित, प्रसन्नचित्त होकर हाथ में खटिका लेकर, पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख हो, एकाग्रचित्त एवं समाहित होकर वहाँ 'अ' से लेकर 'क्ष' तक क्रम से मातृका का प्रस्तरण करे ॥ ३०-३१ ॥

आचार्य शुचि = यथेष्ट स्नान कर, चन्दन इत्यादि के द्वारा नित्यक्रिया कर, इसीलिये प्रसन्न, देह आदि के सम्पूर्ण स्नान से उन्मग्न शिवभाववाली आत्मा वाला

सिद्धिमुक्तिहेतुत्वात् आचार्यो यथाभिप्रायं 'प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा' इत्युक्तम् । एकचित्तो मन्त्रोदयनिभालनप्रवण: अत एव समाहितो लब्धमन्त्रवीर्य:, मातृकां पशूनामज्ञानां विश्वमातरं सर्वमन्त्रतन्त्रजननीम्, आदिक्षान्तामिति अनुत्तराकुल-व्याप्तिसारकलाप्रमुखानन्देच्छादिशक्तिक्रमेण प्रसृत्य कादिसान्तप्रत्याहारस्वीकृता-शेषविश्वक्षकारात्मकपिण्डमन्त्रप्रदर्शितपर्यन्तव्याप्तिसाराम्, प्रस्तरेदिति स्वप्रमाणशक्त्या-वस्थितस्वाभाविकपञ्चाशद्रुद्रतच्छमर्शप्रसरसंचेतकत्यानानुस्वारश्रीसर्ववीरभर्गशिखोक्तशक्तिचतुष्ट-यात्मकलिपिव्याप्त्यनुसंधिपूर्वं च प्रस्तृणीयात् । 'प्रस्तरेदिति' आर्ष: पाठ: । एव-मन्यदपि परमेश्वरवच: साध्वेव, भगवदुक्तीनां मितदृष्टिभिरविकल्प्यत्वात् ॥ ३१ ॥

एवमस्य शास्त्रस्योद्दिष्टविद्यापीठत्वचिकीर्षया पूर्वभित्तिभूतां मातृकां प्रदर्श्य, अस्या: शिवशक्तिरूपतां निरूपयति—

आदि: षोडशभेदेन साक्षाद्वै भैरव: स्मृत: ।
कवर्गश्चटवर्गौ च तपया: शस्तथैव च ॥ ३२ ॥

हो जाय क्योंकि (परमेश्वर के पाँच मुखों में से पूर्व दिशा वाला) तत्पुरुष और (उत्तर दिशा वाला) सद्योजात ये दोनों मुख सिद्धि और मुक्ति के हेतु हैं । ऐसा आचार्य अपने अभिप्राय के अनुसार 'पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख' बैठे—ऐसा कहा गया । एकचित्त = मंत्र के उदय के निभालन में दक्ष, अत एव समाहित = मन्त्रशक्ति को प्राप्त किया हुआ, मातृका = पशु अर्थात् अज्ञानियों की विश्वमाता अर्थात् समस्त मन्त्रतन्त्र की जननी को जो कि 'अ' से लेकर 'क्ष' तक है, तथा अनुत्तर अकुल की व्याप्ति की सारभूत कलाप्रमुख जो आनन्द इच्छा आदि शक्तियाँ उनके क्रम से प्रसरण करने के बाद 'क' से लेकर 'स' तक प्रत्याहार के द्वारा स्वीकृत समस्त विश्व जो कि 'क्ष'कार स्वरूप है उसके पिण्डभूत मन्त्र के द्वारा प्रदर्शित अन्तिम व्याप्ति वाली (मातृका) का प्रस्तरण करे अर्थात् स्वप्रमाण शक्ति से अवस्थित स्वाभाविक ५० रुद्रों एवं उनकी शक्तियों के आमर्शन के प्रसार के सङ्केतन रूप अनुस्वार श्री सर्ववीर भर्गशिखा नामक ग्रन्थों में उक्त चार शक्तिस्वरूप[1] लिपि की व्याप्ति का अनुसन्धान कर प्रस्तरण (= पृथक्-पृथक् विन्यास) करे । मूल ग्रन्थ में 'प्रस्तरेत्' यह पाठ आर्ष है । (पाणिनि के अनुसार 'प्रस्तृणीयात्' पाठ होना चाहिये) । इसी प्रकार परमेश्वर के अन्य भी वचन साधु ही हैं । क्योंकि भगवान् के वचन परिमित दृष्टिवालों के द्वारा विकल्प्य नहीं हो सकते ॥ ३०-३१ ॥

इस शास्त्र की कथित विद्यापीठता को बतलाने की इच्छा से पूर्वाधारभूत मातृका का वर्णन कर अब इस (= मातृका) की शिवशक्तिरूपता का निरूपण करते हैं—

'अकार आदि सोलह (स्वरों) के भेद को साक्षात् भैरव (= बीज) माना

---

१. क्रमदर्शन के अनुसार चार शक्तियाँ हैं—वामा ज्येष्ठा रौद्री और अम्बिका । अकार इनसे संयुक्त है ।

संहारेण समोपेतौ योनिर्वै भैरवी स्मृता ।

आदि: प्रथमो वर्ग:, अनुत्तरादेर्विसर्गान्तस्य विश्वाप्यायिन: षोडशकस्य स्वयं राजमानतया शब्दनस्वाभाव्येन भेदोपतापकारितया विश्वाक्षेपेण च स्वरशब्दवाच्यस्य गर्भीकृताशेषवाच्यवाचकादियोनिवर्णतत्त्वप्रसरसमाश्रयत्वात् तदुल्लासकत्वाच्च बीज-व्यपदेशस्य परसंवित्स्फारसतत्त्वस्य भेदेन वैचित्र्येण साक्षाद्भैरव: अशेषविश्वमयत्वात् वाच्यवाचकयोरभेदाच्च । कादीनां तु बीजश्यानीभावरूपत्वेन घनत्वात् बीजव्यङ्ग्य-त्वेन व्यञ्जनशब्दव्यपदेश्यानामुक्तबीजसंसर्गेण जगत्कारणत्वात् योनिता । तथैव चेति वर्गरूपतया संहारेण क्षकारेण, भैरवी ॥ ३२ ॥

प्रोक्तभैरवशक्तिरूपमातृकाया: प्रस्तारं प्रदर्श्य, सर्वमन्त्रदेवतास्फारसाराया अस्या मन्त्रोद्धाराङ्गत्वेन पूजां दर्शयन्, अनुष्ठानविशेषतामपि सूचयति—

मातृकाभैरवं देवमवर्गेण प्रपूजयेत् ॥ ३३ ॥
भैरवी कादिना पूज्या..........

मातृकाधिष्ठातारं भैरवं तत्स्फाररूपतयैव भरणवणावमनपरमार्थं निष्कल-

---

गया है । कवर्ग चवर्ग टवर्ग तवर्ग पवर्ग यवर्ग और शवर्ग और संहार (= क्ष) को भैरवी (= योनि) माना गया है ॥ ३२-३३- ॥

आदि = प्रथम वर्ग । अनुत्तर से लेकर विसर्ग पर्यन्त विश्व का आप्यायन (= तर्पण) करने वाले अकार आदि सोलह (वर्ण) स्वयं राजमान होने के कारण शब्दन स्वभाव वाले होने, भेद उत्पन्न करने तथा विश्व का आक्षेप करने के कारण स्वर कहलाते हैं । समस्त वाच्य वाचक आदि को अपने अन्दर समाहित करने वाले योनिवर्ण एवं तत्त्वप्रसर का आधार होने तथा उनके उल्लासक होने के कारण उनको (= स्वरों को) बीज कहा जाता है । वे परसंवित् के स्फार वाले हैं । इसीलिये भेद = वैचित्र्य, के कारण साक्षात् भैरव हैं । समस्त विश्वमय होने एवं वाच्य तथा वाचक के अभिन्न होने के कारण बीज के दुर्बल होने से 'क' आदि जब घनीभूत हो जाते हैं तो बीज के द्वारा व्यङ्ग्य होने से व्यञ्जन कहे जाते हैं । (ये व्यञ्जन) उक्त बीज के संसर्ग के द्वारा जगत् का कारण बनते हैं इसलिये ये योनि हैं । 'तथैव च' का तात्पर्य है—वर्ग के रूप में संहार = 'क्ष'कार के द्वारा वह (व्यञ्जन) भैरवी कहे जाते हैं ॥ ३२ ॥

उपर्युक्त भैरवशक्तिरूप मातृका का प्रस्तार प्रस्तरण दिखा कर समस्त मन्त्रदेवता का स्फार तत्त्व रूप इस (= मातृका) की मन्त्रोद्धार के अङ्ग के रूप में पूजा को दिखलाते हुये अनुष्ठान के वैशिष्ट्य को भी सूचित करते हैं—

मातृकाभैरव देव की अवर्ग से पूजा करनी चाहिये । भैरवी की 'क' आदि के द्वारा ॥ -३३-३४- ॥

मातृका के अधिष्ठाता भैरव की अर्थात् उस के स्फार रूप में भरण रवण मनन

भट्टारकस्वरूपम्, अवर्गेण व्यावर्णितस्वरूपेण षोडशकेन प्रपूजयेत् । भैरव्यपि निष्कलभट्टारकाभिन्नस्वरूपैव कादिना क्षान्तेन योनिवर्गग्रामेणाविभक्तेन तदधिष्ठात्री उमा योगीश्वरीरूपा पूज्या ॥ ३३ ॥

...............मातृवर्गैः प्रपूजयेत् ।
अवर्गे तु महालक्ष्मीः कवर्गे कमलोद्भवा ॥ ३४ ॥
चवर्गे तु महेशानी टवर्गे तु कुमारिका ।
नारायणी तवर्गे तु वाराही तु पवर्गिका ॥ ३५ ॥
ऐन्द्री चैव यवर्गस्था चामुण्डा तु शवर्गिका ।
एताः सप्त महामातृः सप्तलोकव्यवस्थिताः ॥ ३६ ॥

मातृः ब्राह्मी माहेश्वरी कौमारी वैष्णवी वाराही ऐन्द्री चामुण्डा इति सप्त भैरव्यो मरीचिरूपाः, अग्नीशानसोमयमवरुणेन्द्रनिर्ऋतिदिक्षु

'अष्टवर्गविभिन्ना तु विद्या मातृका तु वै ।' (१०।११४४)

इति वक्ष्यमाणत्वादवर्गस्य चोपयुक्तत्वात् सप्तभिरेव कादिवर्गैः प्रविभज्य पूजयेत्, एवं चेदमनुष्ठानान्तरमपि युक्तमेव, तथा च भुवनाध्वनि बुद्धिभुवनेषु

परमार्थ वाले निष्कल भट्टारक स्वरूप की पहले वर्णित स्वरूप वाले 'अ' वर्ग अर्थात् सोलह (स्वरों) से पूजा करनी चाहिये । निष्कल भट्टारक से अभिन्न स्वरूप वाली भैरवी की 'क' से लेकर 'क्ष' तक के योनिवर्गसमूह से एवं उस (= योनि वर्ग) की अधिष्ठात्री योगीश्वरी रूपा उमा की सम्पूर्ण वर्ग से पूजा करनी चाहिये ॥ ३३ ॥

ब्राह्मी आदि आठ माताओं की 'अ' आदि आठ वर्गों के द्वारा पूजा करनी चाहिये । 'अ' वर्ग में महालक्ष्मी, 'क' वर्ग में कमलोद्भवा (ब्राह्मी), 'च' वर्ग में महेशानी (= महेश्वरी), 'ट' वर्ग में कौमारी, (= कार्त्तिकेय की शक्ति) 'त' वर्ग में नारायणी (= वैष्णवी), 'प' वर्ग में वाराही 'य' वर्ग में ऐन्द्री, 'श' वर्ग में चामुण्डा पूजनीय हैं । ये सात महामातायें सात लोक में स्थित हैं ॥ -३४-३६ ॥

ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी, वैष्णवी, वाराही, ऐन्द्री और चामुण्डा ये सात मातायें भैरवी की किरणस्वरूप हैं ।

'विद्या (अ वर्ग आदि) आठ वर्गों में विभक्त है और वही मातृका है ।' (१०।११४४)

ऐसा आगे चल कर कहेंगे इस कारण तथा अवर्ग के पहले उपयोग होने से 'क' आदि सात वर्गों के द्वारा अलग-अलग (उन सात महामाताओं की) पूजा करनी चाहिये । इस प्रकार यह दूसरा अनुष्ठान भी ठीक ही है । इस प्रकार भुवनाध्वा की भाँति बुद्धिभुवनों में भी मध्य में योगाष्टक के बाद उमा सम्बन्धी भुवन बनाना

मध्ये योगाष्टकादनन्तरम् औमं भुवनं प्रतिपाद्यम् । स्वचारुनामनि भुवने परभैरव-प्रपञ्चव्याप्तिरूपस्य उमापतेः मातृसप्तकपरिवारस्य ध्यानादिस्वरूपमस्त्येव । तद्यथा—

'उमापतिर्जगन्नाथः सर्वानुग्रहकृत्परः ।' (१०।१००८)

इत्युपक्रम्य तद्ध्यानमुक्त्वा

'मातरः सप्तरूपिण्यः' (१०।१०१७)

इत्यादिना ब्राह्म्यादिमातृणां ध्यानसंनिवेशादि प्रतिपाद्य

'स्वच्छन्दं पर्युपासीनाः परापरविभागशः ।' (१०।१०२९)

इत्युक्त्वा

'उमा वै सप्तधा भूत्वा नानारूपविपर्ययैः ।' (१०।१०२९)

इत्यादिना अनुष्ठानभेदतैव निर्वाहिता, तत्र तु भगवतोऽपरं रूपमुक्तम्, इह तु परं रूपमिति विशेषः, यद्वक्ष्यति—

'स्वच्छन्दास्तु पराश्चान्याः परे व्योम्नि व्यवस्थिताः ।
स्वच्छन्दं पर्युपासीनाः परापरविभागशः ॥' (१०।१०२८)

इति । तस्मात् मन्त्रोद्धारादङ्गभूतमातृकाभैरवपूजनस्यानुष्ठानान्तररूपत्वेऽपि न

चाहिये । अपने सुन्दर नाम वाले (औम) भुवन में पर भैरव के प्रपञ्च की व्याप्ति स्वरूप एवं सात मातृवर्ग के परिवार वाले उमापति का स्वरूप रहता ही है । जैसे—

'उमापति जगन्नाथ जो कि सर्वानुग्रहकारी हैं, पर (भैरव हैं) ।' (१०।१००८)

यहाँ से प्रारम्भ कर,

'मातायें सात प्रकार की हैं ।' (१०।१०१७)

इत्यादि के द्वारा ब्राह्मी आदि माताओं का ध्यान संनिवेश आदि करके

'(ये मातायें) परापरविभाग के अनुसार स्वच्छन्द के चारो ओर रहती हैं ।'

ऐसा कहकर—

'उमा अनेक रूपों के विपर्यय के कारण सात प्रकार की हो गयी ।' (१०।१०२९)

इत्यादि के द्वारा अनुष्ठान की भिन्नता बतलायी गयी है । वहाँ भगवान् का अपररूप कहा गया और यहाँ पर रूप—यही अन्तर है । जैसा कि कहेंगे—

'दूसरी स्वच्छन्द परा (देवियाँ) हैं जो पर व्योम में रहती हैं । पर और अपर रूप में वे स्वच्छन्द के चारो ओर रहती हैं ।' (१०।१०२८)

काचिदनुपपत्तिः ॥ ३६ ॥

युक्तं चैतत्, यदाह—

सर्वा कामानवाप्नोति देव्येवं भैरवोऽब्रवीत् ।

मन्त्रोद्धाराङ्गत्वे तु 'फलवत्सन्निधावफलमङ्गम्' इति नीत्या मातृकाभैरवपूजनस्येयमुक्तिरतथ्या स्यात्, कर्मणोऽपरिसमाप्तस्य फलनिर्देशायोगात् ॥

एवं च कृत्वा—

अन्तेऽस्या उद्धरेन्मन्त्रान् यथाक्रमनियोगतः ॥ ३७ ॥

अस्या मातृकापूजायाः, यथाक्रमम् आसनमन्त्रमूर्तिमन्त्रादिक्रमेण यो नियोगः तत्तन्मन्त्रवाच्यदेवतानुसन्धानपरत्वं तेन, स च क्रमयोगो द्वितीयादिपटलभाविन्यासावसरोपयोगि, इति ॥ ३७ ॥

इह मन्त्रोद्धारोऽपि भाविन्यासक्रमानुसारमुच्यते, तत्र—

त्रयोदशं बिन्दुयुतमनन्तासनमुत्तमम् ।

इसलिये यद्यपि अङ्गभूत मातृका पूजन भैरवपूजन मन्त्रोद्धार से भिन्न अनुष्ठान हैं तो भी कोई अनौचित्य नहीं है ॥ ३६ ॥

यह उचित है । जैसा कि कहा गया—

हे देवि ! (ऐसा उपासक) समस्त इच्छाओं की पूर्त्ति प्राप्त करता है—ऐसा भैरव ने कहा ॥ ३७- ॥

(उक्त पूजन को) मन्त्रोद्धार का अङ्ग मानने पर 'फलवान् (अङ्गी) के निकट अङ्ग भूत अनुष्ठान निष्फल होता है क्योंकि अङ्गी का फल ही अङ्ग का फल होता है ।' इस नीति के अनुसार मातृका भैरवपूजन का यह कथन असमीचीन हो जायेगा क्योंकि जब तक कर्म समाप्त न हो फल का निर्देश नहीं हो सकता ॥

ऐसा करके—

इसके अन्त में क्रम के नियोगानुसार मन्त्रों का उद्धार करना चाहिये ॥ -३७ ॥

इसके = मातृका पूजा के । यथाक्रम = आसनमन्त्र मूर्त्तिमन्त्र आदि के क्रम से जो नियोग = तत्तन्मन्त्रों की वाच्य देवताओं के अनुसन्धान में संलग्नता, उसके द्वारा । और वह क्रमयोग द्वितीय आदि पटल में वर्णित होने वाले न्यास के अवसर का उपयोगी है ॥ ३७ ॥

यहाँ मन्त्रोद्धार का भी भावी न्यास के क्रमानुसार वर्णन किया जाता है । उस विषय में—

अनेन योजयेत् सर्वं सोमसूर्याग्निमध्यगम् ॥ ३८ ॥

ब्रह्मविष्णुमहेशानं शवान्तं परिकल्पयेत् ।

त्रयोदशम् ओकारं, बिन्दुना युतं प्रणवाकारम्, अनन्तासनमिति परतत्त्ववाचकमपि, एतत् संप्रतीश्वरेणासनवाचित्वेन नियुक्तात् अधःस्थानन्तमूलविद्येशान्तमध्यव्यापिनीपदस्थानन्तपर्यन्तासनमनुरूपमित्यर्थः । सर्वाध्वोर्ध्ववर्तिनोऽनन्तभट्टारकस्यैव धराधरानन्तरूपा प्रपञ्चव्याप्तिः, इति भविष्यति, तत् व्यापिनीपदस्थानन्तपर्यन्ता इहैवासनव्याप्तिः, अत आह—उत्तममितिश अति-येनोद्गतं सर्वाध्वमूर्धस्थमित्यर्थः । एतदेव व्यनक्ति—अनेन आसनमन्त्रेण, सर्वमधरवर्ति योजयेत् एकाधारशक्तितया अनुसन्दध्यात्, एवं सोमसूर्याग्निमध्यगं ब्रह्मविष्णुमहेशानं कृत्वा । अयमर्थः—शाक्तपद्मव्याप्तिसतत्त्वे विद्यापद्मे दलकेसरकर्णिकाभागेषु सोमसूर्यवह्निमण्डलानां सर्वप्रमेयप्रमाणप्रमातृव्याप्तिसाराणां मध्यगतमन्तर्गतं ब्रह्मादिसमग्रकारणग्रामं कृत्वा भेदव्याप्त्यानुसंधाय, तदुपरिवर्त्यनाश्रितभट्टारको द्वितीयपटलप्रदर्शयिष्यमाणशवव्याप्तिकोऽन्ते यस्य तत् तादृगासनम्, प्रणवेन

बिन्दु से युक्त त्रयोदश (स्वर) अनन्त का उत्तम आसन है । इससे सबको जोड़ना चाहिये । तात्पर्य यह है कि ब्रह्मा विष्णु और महेश को सोम सूर्य और अग्नि के मध्य में रख कर शवपर्यन्त परिकल्पना करनी चाहिये ॥ ३८-३९- ॥

त्रयोदश वर्ण = ॐकार । बिन्दु से युक्त होने पर यह प्रणव के आकार वाला हो जाता है । अनन्तासन है यह परतत्त्व का वाचक भी है यह इस समय ईश्वर के आसन का वाचक भी है । यह इस समय ईश्वर का आसन के वाचक के रूप में नियुक्त होने से ईश्वर के नीचे वर्त्तमान अनन्त मूल विद्या (= शुद्ध विद्या) ईशान्त मध्यव्यापिनी[1] पदस्थ अनन्त पर्यन्त आसन के अनुरूप है—यह अर्थ है । धरा (= पृथ्वी) अधर (ऊर्ध्ववर्त्ती) अनन्तरूपा प्रपञ्च की व्याप्ति समस्त अध्वा के ऊर्ध्ववर्त्ती अनन्तभट्टारक की ही है । इसीलिये कहा—उत्तम = अत्यन्त ऊर्ध्वगत = समस्त अध्वा के शीर्ष पर वर्त्तमान । इसी को स्पष्ट करते हैं—इस आसन मन्त्र अर्थात् ॐकार से समस्त अधरवर्त्ती को जोड़ना चाहिये = एक आधार शक्ति के रूप में (उनका) अनुसन्धान करना चाहिये । इस प्रकार ब्रह्मा विष्णु और महेश को सोम सूर्य और अग्नि का मध्यगामी बना कर रखना चाहिये । इस कथन का यह अर्थ है—शाक्त पद्म की व्याप्ति वाले विद्यापद्म में दल केशर और कर्णिका में क्रमशः सोम सूर्य और अग्नि जो कि समस्त प्रमेय प्रमाण और प्रमाता रूप हैं, के मण्डलों में ब्रह्मा आदि समस्त कारणसमूह का भेदव्याप्ति के द्वारा अनुसन्धान कर उसके ऊपर अनाश्रित भट्टारक जो कि द्वितीय पटल में बतलाये जाने वाले शव की

---

१. अनन्त, शुद्धविद्या, व्यापिनी और ईश्वर ये चार आसन के अधो भाग हैं । और ऊर्ध्वस्थान में धरा, अधर, व्यापिनी और अनन्त ये चार हैं ।

गुरुमुखप्रसिद्धविशेषणानुसन्धानव्याप्त्या व्याप्यमानं परामृशेत् ॥ ३८ ॥

एवमनेन न्यासेनैव भेदो विलायते । अणुत्वलयायाह—

मूर्तिं हंसाक्षरेणैव बिन्दुभिन्नेन कल्पयेत् ॥ ३९ ॥
अर्धचन्द्रकृताटोपां स्वस्वनां तुहिनप्रभाम् ।

'आत्मा वै हंस .... ।

इति वक्ष्यमाणात्मपरामर्शिना हंसपथसततसञ्चारिणा, अक्षरेण विचलद्रूपेण हकारेण, अशेषमन्त्रारणिरूपेणापि समस्तविद्याविभागवेदनात्मकबिन्दुयुक्तेन भेदितबिन्दुना अतश्च पञ्चप्रणवाधिकारनिरूपयिष्यमाणदिशा लब्धमन्त्रत्वात् उच्चार्येण, मूर्तिमिति मुण्डान्तभेदव्याप्तिमोहात् शुद्धात्मदशासमुच्छ्रयाच्च मूर्तिव्यपदेश्याम् आत्मस्थितिं कल्पयेत् विमृशेत् । कीदृशीम् ? अर्धचन्द्रे बिन्दुमूर्तिवर्तिनि कृत आटोपो यया ललाटग्रन्थिभेदाय आस्थितोत्साहामित्यर्थः । तद्भेदादेव ध्वनिमातृरूपतया स्वस्वनाम् अहंविमर्शरूपाम्, तथा तुहिनप्रभां कदम्बगोलकाकारचैतन्यप्रकाशरूपाम् । तदुक्तं श्रीत्रिकहृदये—

व्याप्ति वाले हैं; अन्त में हैं जिसके उस प्रकार के आसन का परामर्शन करें । यह आसन प्रणव के द्वारा गुरुमुखप्रसिद्ध विशेषण के अनुसन्धान की व्याप्ति से व्याप्यमान है—ऐसा समझना चाहिये अर्थात् इस प्रणव की व्याप्ति को गुरुमुख से ही जानना चाहिये ॥ ३८ ॥

इस न्यास से ही भेद विलीन कर दिया जाता है । अब अणुत्व के लय के लिये वर्णन करते हैं—

बिन्दु का भेदन करने वाले हंस अक्षर (= हं) के द्वारा अर्धचन्द्र में आटोप करने वाली स्वस्वन वाली तुहिन के समान कान्ति वाली मूर्त्ति की कल्पना करें ॥ -३९-४०- ॥

'आत्मा ही हंस है ....।'

इस वक्ष्यमाण आत्मपरामर्शी हंस पथ पर निरन्तर चलने वाले अक्षर = स्थिर रूप वाले 'हकार' के द्वारा मूर्त्ति (= आत्मस्थिति) की कल्पना अर्थात् विमर्श करना चाहिये । (यह हकार) समस्त मन्त्रों की अरणि रूप है । समस्त विद्याविभाग के वेदनात्मक बिन्दु से युक्त है, बिन्दु का भेदन करने वाला है, इसलिये पञ्च प्रणवाधिकार, जिसका निरूपण आगे किया जायेगा, की दृष्टि से मन्त्ररूप होने के कारण उच्चार्य है । उपर्युक्त आत्मस्थिति (पैर से ले कर) मुण्डपर्यन्त भेदवाली मानी जाती है, शुद्ध आत्मदशा को प्राप्त है इस कारण मूर्त्ति कही जाती है । यह मूर्त्ति विन्दु में आटोप करने वाली है अर्थात् ललाटग्रन्थि के भेद के लिये उत्साहित है । उसके भेद के कारण ध्वनि के रूप में स्वस्वना (स्व = अपने स्वरूप अहं का, स्वन = विमर्श करने वाली अर्थात्) अहंविमर्शरूपा है तथा तुहिनप्रभा = कदम्ब के

'अनन्ते भैरवोच्छ्राये मूर्तिरिषा परापरा ।
यस्यास्तु न्यासमात्रेण अणुत्वं प्रविलीयते ॥' इति ॥ ३९ ॥

ततोऽपि—

तदूर्ध्वे सकलं देवं स्वच्छन्दं परिकल्पयेत् ॥ ४० ॥

तदिति चिन्मूर्तेरूर्ध्वे तत्सङ्कोचं निमज्ज्य, अशेषवाच्यवाचकशरीरं सकलं प्राग्व्याख्याततत्त्वम्, देवं स्वच्छन्दमिति अनुग्राह्यानुग्रहाय चिन्मूर्तिभित्तिं भित्त्वेव निर्यातम्, परिकल्पयेत् भावयेत् ॥ ४० ॥

परिकल्पनामात्रकृत एव मूर्तिभैरवनिष्कलानां भेदः, तमाह—

ओंकारमुच्चरेत्पूर्वमघोरेभ्यो अनन्तरम् ।
अथ घोरेभ्यो समालिख्य ततोऽन्यत्तु समालिखेत् ॥ ४१ ॥
घोरघोर्तरेभ्यश्च सर्वतः शर्वं उच्चरेत् ।
सर्वेभ्यः पदमन्यच्च नमस्ते रुद्र एव च ॥ ४२ ॥
रूपेभ्यश्च समालिख्य नमस्कारावसानकम् ।
मन्त्रराजः समाख्यातः अघोरः सुरपूजितः ॥ ४३ ॥

फूल के समान गोल आकार वाले चैतन्य के प्रकाश वाली है । त्रिकहृदय में कहा भी गया है—

'भैरव के अनन्त उच्छ्राय (= उन्नति, विस्तार) में यह मूर्त्ति परापरा रूपा है जिसके न्यास मात्र से अणुभाव नष्ट हो जाता है' ॥ ३९ ॥

इसके बाद—

उसके ऊपर सकल देव स्वच्छन्द की कल्पना करनी चाहिये ॥-४० ॥

उसके ऊपर = चिन्मूर्त्ति के ऊपर, उसके संकोच को विलीन कर समस्त वाच्यवाचक शरीर वाले, जिसका स्वरूप पहले कहा जा चुका है, उस सकल देव स्वच्छन्द की अनुग्राह्य के ऊपर अनुग्रह करने के लिये चिद्रूपी दीवाल को तोड़कर निकल जाने जैसी भावना करनी चाहिये ॥ ४० ॥

मूर्त्ति भैरव और निष्कल का भेद कल्पनाकृत है । उसे बतलाते हैं—

पहले ॐकार का उच्चारण करे । उसके पश्चात् अघोरेभ्यः फिर घोरेभ्यः लिख कर घोरघोरतरेभ्यः सर्वतः शर्वः का उच्चारण करे । दूसरा पद 'सर्वेभ्यः' फिर 'नमस्ते रुद्र एव च' कह कर 'रूपेभ्यः' लिख कर अन्त में 'नमः' कहना चाहिये (इस प्रकार मन्त्र का यह स्वरूप बनेगा— ॐ अघोरेभ्यः घोरेभ्यः घोरघोरतरेभ्यः सर्वतः शर्व सर्वेभ्यः नमस्ते रुद्र एव रूपेभ्यो नमः) ॥ ४१-४३ ॥

अत्र मन्त्रपदानां स्वरूपरक्षार्थं संहिताकार्यं न दर्शितम् । आद्यन्तस्थितप्रणवनमस्कारवर्जं द्वात्रिंशदक्षरोऽयं श्लोकनिर्दिष्टो महामन्त्रः । अस्यायं रहस्योऽर्थः—हे परमेश्वर रुद्र परचैतन्यस्फारानुप्रवेशान्मनो रोधनस्य अशेषपाशद्रावणस्य च हेतो ! घोर भेदाभेदात्मकसदाशिवेशादिपदोल्लासक ! शर्व भेदमयमायीयस्वरूपप्रकटनात् सृष्टिस्थितिप्रलयसंहारमात्रतापादनेन शरणवरणरूप ! इत्यामन्त्रणत्रयेण व्याख्यास्यमानरूपत्रयौचित्यप्रयुक्तेन सर्वदशाप्रदर्शनपरम् अशेषविग्रहं भगवन्तं परभैरवं संमुखीकृत्याह—ते तव, सम्बन्धिभ्यः रौद्रीज्येष्ठावामाख्यशक्तित्रयविभवरूपनानारुद्रतच्छक्तिचक्रात्मकेभ्यः संहितान्तरेऽपरापरापरापरानामनिरुक्तेभ्यो यथाक्रममविद्यमानं भेदमयं भेदाभेदमयं च पाशात्मकं घोरस्वरूपं येषां तेभ्यः परचैतन्यानन्दघनाद्वयमहाभैरवात्मकस्वस्वरूपप्रत्यभिज्ञापकेभ्यः अघोरेभ्यः, तथा अनाश्रितसदाशिवेश्वरादिरूपभेदात्मपदप्रदेभ्यः, अथेति उक्तरूपभित्तिप्रथमानत्वात् अनन्तरभाविभ्यः, अत एवाहन्ताच्छादितेदन्तोन्मज्जनेन आद्यरूपापेक्षया भीषणत्वात् 'घोरेभ्यः' परचित्प्रथाभित्त्याभासिताहन्तेदन्ताभासकात्मकस्वशक्तिदर्पणोट्टङ्कितमायादिक्षित्यन्तभेदप्रथाप्रदेभ्यः, अतिभीषणत्वात् घोरतरेभ्यश्च रूपेभ्यः स्वभावेभ्यः, एकैकस्य रूपस्य परभैरवरूपभित्तिमयत्वेन पूर्णत्वात्, सर्वतः सर्वेण रूपेण सर्वेभ्यः सर्वदा सर्वत्र सर्वसर्वात्मतया स्फुरद्भ्यः महामन्त्रवीर्यात्मकपूर्णाहन्तापरामर्शमयेभ्यो नमः आमन्त्रणपदपरामर्शाभिमुखीभूतमहारुद्रशक्तित्रयस्फारविवशीभवत्पाशराशिशरीरादिकल्पितप्रमातृपदप्रह्वीभावेन समाविशामीत्यर्थः । उक्तं च श्रीमालिनीविजये—

'विषयेष्वेव संलीनानधोधः पातयन्त्यणून् ।
रुद्राणून् याः समालिङ्ग्य घोरतर्योऽपराः स्मृताः ॥
मिश्रकर्मफलासक्तिं पूर्ववज्जनयन्ति याः ।
मुक्तिमार्गनिरोधिन्यस्ताः स्युः घोराः परापराः ॥
पूर्ववज्जन्तुजातस्य शिवधामफलप्रदाः ।
पराः प्रकाशितास्तज्ज्ञैरघोराः शिवशक्तयः ॥' (३।३१-३३)

इति । श्रीपञ्चार्थप्रमाणे तु—

'घोरेति पाशजालाख्यं पापयुक्तं भयानकम् ।
तद्येषां तु न विद्येत ह्यघोराः परिकीर्तिताः ॥
वामेश्वरादयो रुद्रा जालमूलोपरिस्थिताः ।
ते ह्यघोराः समाख्याताः शृणु घोरान् समासतः ॥
प्रोक्ता गोपतिपूर्वा ये रुद्रास्तु गहनान्तगाः ।
ते तु घोराः समाख्याता नानाभुवनवासिनः ॥

यहाँ पर मन्त्र के पदों के स्वरूप की रक्षा के लिये सन्धि नहीं दिखलायी गयी । आदि में स्थित प्रणव (= ॐ) और अन्त में स्थित 'नमः' को छोड़ कर श्लोक में निर्दिष्ट यह मन्त्र ३२ अक्षरों वाला है । इसका रहस्यार्थ यह है—हे परमेश्वर रुद्र = पर चैतन्य के स्फार में अनुप्रवेश के कारण मन को रोकने का और समस्त पाशों के नष्ट करने का कारण (रुद्र !) तथा घोर ! = भेदाभेदात्मक सदाशिव ईश्वर आदि पदों के उल्लासक ! शर्व ! = भेदमय मायीय स्वरूप को प्रकट करने के कारण सृष्टि स्थिति प्रलय संहार को करने से शरणवरणरूप ! इस प्रकार तीन सम्बोधनों जो कि व्याख्यास्यमान तीन रूपों के औचित्य का प्रदर्शन करने के लिये प्रयुक्त हैं, के द्वारा समस्त दशा के प्रदर्शन में लगे हुए विश्वविग्रह भगवान् पर भैरव सामने उपस्थित हैं ऐसी भावना के द्वारा संबोधित कर कहते हैं—तुम्हारी अघोर शक्तियाँ, जो रौद्री ज्येष्ठा वामा नाम वाली हैं तथा अनेक रुद्र और उनके शक्तिचक्र जिनके वैभवस्वरूप हैं, जो दूसरी संहिताओं में परा परापरा तथा अपरा नामवाली हैं, उनके क्रमशः अविद्यमान भेदमय और भेदाभेदमय पाशात्मक घोरस्वरूप वाले उन परचैतन्यानन्दघन अद्वय महाभैरवात्मक आत्मस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कराने वाले अघोर, तथा अनाश्रित सदाशिव ईश्वर आदि रूप भेद को देने वाले, उक्तरूप भित्ति (= आधार) के विस्तार के कारण अनन्तर भावी, अत एव अहन्ता से आच्छादित इदन्ता के उन्मज्जन के कारण आद्यरूप की अपेक्षा भीषण होने के कारण 'घोर से' अर्थात् परचित्प्रथाभित्ति पर आभासित अहन्ता इदन्ता की भासात्मक स्वशक्ति के दर्पण में माया से लेकर पृथिवीपर्यन्त भेदविस्तार का उट्टङ्कन करने वाले, अत्यन्त भीषण होने के कारण घोरतर रूप अर्थात् स्वभाव वाले, एक-एक रूप के परभैरवरूप आधारमय होने के कारण पूर्ण होने से, सर्वतः = सम्पूर्ण रूप से, सबके लिये = सर्वदा सर्वत्र सर्वसर्वात्मक रूप से स्फुटित होने वाले, महामन्त्रवीर्यात्मक पूर्णअहन्तापरामर्शमय, को नमस्कार है । तात्पर्य यह है कि मैं आमन्त्रणपद के परामर्श से अभिमुखीभूत महारुद्र की तीन शक्तियों के स्फार के कारण विवश हुये पाशराशि शरीर आदि के रूप में कल्पित प्रमाता पद के रूप में नतमस्तक होकर (पूर्ण अहन्तात्मक भाव से) समाविष्ट हो रहा हूँ । मालिनीविजय में कहा भी गया है—

'रुद्राणुओं का आलिङ्गन कर विषयों में तल्लीन अणुसमूह को जो नीचे गिराती हैं वे घोरतरी शक्तियाँ 'अपरा' कही गयी हैं । जो पहले की भाँति मिश्रकर्म पापपुण्य दोनों से मिश्रित की फलाशक्ति को उत्पन्न करती हैं और मुक्तिमार्ग की नरोधिका हैं वे घोर शक्तियाँ 'परापरा' कही गयी हैं । वे अघोर शिवशक्तियाँ जो पूर्व की भाँति जन्तुसमूह को शिवधाम रूप फल देती हैं और उनके ज्ञाताओं के द्वारा प्रकाशित होती हैं वे 'परा' कहलाती हैं ।' (मा०वि० ३।३१-३३)

श्रीपञ्चार्थप्रमाण में—

'घोर का अर्थ है पापयुक्त भयानक पाशजाल । जिनके पास वह नहीं है वे अघोर कहे गये हैं । वामेश्वर आदि रुद्र इस पाशजाल के मूल के ऊपर स्थित हैं इसलिये वे 'अघोर' कहे गये हैं । अब संक्षेप में घोरों को सुनो । जो गोपति (जिनका पहला नाम गोपति है) से लेकर गहनेश पर्यन्त हैं वे रुद्र 'घोर' कहे गये

विद्येश्वराद्यनन्तान्ता महामाहेश्वराश्च ये ।
घोरघोरतरास्त्वन्ये विज्ञेयास्त्वध आश्रिताः ॥
एते अघोरा घोराश्च घोरघोरतरास्तथा ।
एतेष्ववस्थिता नित्यं शक्तयः पारमेश्वराः ॥
स्थितिप्रलयसर्गेषु बन्धमोक्षक्रियासु च ।
सर्वार्थप्रेरकत्वेन रूपेष्वेतेषु शक्तयः ॥
रूपेभ्य एभ्यः सर्वेभ्यो नमस्कारं करोत्यणुः ।
नमस्कारः परित्यागः कार्यकारणलक्षणः ॥' इति ॥ ४३ ॥

एवमस्य सर्वसर्वात्मकपारमेश्वरसतत्त्वमयस्य दुर्लभस्यापि भक्तिशालिभिः सततलब्धस्य महामन्त्रस्य स्वरूपमभिधाय माहात्म्यं प्रकटयति—

सकृदुच्चारितो देवि नाशयेत् सर्वकिल्विषम् ।
जन्मकोटीसहस्रैस्तु भ्रमद्भिः समुपार्जितम् ॥ ४४ ॥

शिष्याणां दीक्षासमये गुरुणा प्रयुज्यमान इति शेषः ॥ ४४ ॥

तथा—

स्मरणान्नाशयेद् देवि तमः सूर्योदये यथा ।

हैं । वे अनेक भुवनों में रहते हैं । विद्येश्वर से लेकर अनन्तनाथ तक, तथा जो महामाहेश्वर हैं और अन्य जो कि नीचे के भुवनों में रहते हैं उन्हें 'घोरघोरतर' जानना चाहिये । ये ही अघोर घोर और घोरतर हैं । इन्हीं में पारमेश्वरी शक्तियाँ नित्य स्थित रहती हैं । स्थिति प्रलय और सृष्टि में, बन्ध मोक्ष की क्रियाओं में, समस्त विषयों के प्रेरक के रूप में ये शक्तियाँ रहती हैं । जीव इन सभी रूपों को नमस्कार करता है । नमस्कार का तात्पर्य है कार्यकारण लक्षण वाले भुवनों का परित्याग ॥ ४३ ॥

यह महामन्त्र सर्वसर्वात्मक पारमेश्वर तत्त्व वाला है, दुर्लभ होते हुए भी भक्तिमान् लोगों को सतत प्राप्त है । ऐसे महामन्त्र के स्वरूप का वर्णन कर अब उसके माहात्म्य को बतलाते हैं—

हे देवि ! (यह मन्त्र) एक बार उच्चारित करने पर हजारों करोड़ जन्मों में भ्रमण करने वालों के द्वारा उपार्जित समस्त पाप को नष्ट कर देता है ॥ ४४ ॥

शिष्यों की दीक्षा के समय गुरु के द्वारा प्रयोग में लाया गया—इतना जोड़ लेना चाहिये (अर्थात् दीक्षा के समय उच्चारण करने पर यह पापों को नष्ट करता है) ॥ ४४ ॥

तथा—

हे देवि ! जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार (यह मन्त्र) स्मरणमात्र से (पापों को) नष्ट करता है ॥ ४५- ॥

तम इति आणवं मायीयं च मलम्, तमः अन्धकारमिव सूर्योदयो नाशयति, एवं दीक्षया तमश्च देहाद्यभिमानरूपमज्ञानम्, स्मरणान्नाशयत्येव स्ववाच्यभैरवदेवतासमावेशनेन शिष्याणामेव च प्रामादिकसमयाननुष्ठानकिल्विषरूपम्, साधकानां च विघ्नरूपं तमोऽपि व्याख्यातपरमार्थवीर्यानुसन्धानात्मकस्मरणमात्रादेव नाशयत्येवेत्यस्मिन् सकलभोगापवर्गप्रदे महामन्त्रे नार्थवाद[1]शङ्कया भ्रमितव्यम् । तथा च श्रीमतङ्गशास्त्रे—

'प्रमाणमेकं तद्वाक्यं तथ्यमीश्वरभाषितम्' (१।३।१८)

इत्युक्तम् । परभैरवस्फारमयैरस्मद्गुरुभिरपि तन्त्रालोकेऽभिहितम्—

'विधिवाक्यमिदं चैव नार्थवादः कदाचन ।
नार्थवादाभिरूपत्वं वाक्ये माहेश्वरे भवेत् ॥' (४।२३२)

इति ॥ ४४ ॥

अस्य परमेश्वरस्यानुग्रहार्थं भक्तिभाजां चिन्मूर्तिवेव प्रदर्शयिष्यमाणव्याप्तिकमाकारमुट्टङ्कयितुं वक्त्रमन्त्रानाह—

यकारादिवकारान्ताः संहारेण समायुताः ॥ ४५ ॥

तम = आणव और मायीय मल । जैसे सूर्योदय तम = अन्धकार, को नष्ट करता है उसी प्रकार दीक्षा के द्वारा तम = देह आदि को (पृथक् आत्मा) मानने का अज्ञान (इस मन्त्र के) स्मरण से नष्ट हो जाता है । शिष्यों का (यह अज्ञान) प्रमाद के कारण समय से अनुष्ठान न करने से उत्पन्न पापरूप है जो स्ववाच्य भैरव देवता के समावेश से (नष्ट हो जाता है) । साधकों का विघ्नरूप तम भी व्याख्यातपरमार्थवीर्य के अनुसन्धानरूप स्मरणमात्र से नष्ट हो जाता है । इसलिये सकल भोग और मोक्ष को देने वाले इस महामन्त्र के विषय में अर्थवाद की शंका कर भ्रमित नहीं होना चाहिये । वही मतंगशास्त्र में कहा है—

'ईश्वर के द्वारा कथित वह एक वाक्य भी प्रमाण (= तथ्य) है' ॥ ४४ ॥ (म०शा० १।३।१८)

परभैरव के स्फार वाले हमारे गुरु ने भी तन्त्रालोक में कहा है—

'यह वाक्य विधिवाक्य है । यह कभी भी अर्थवाद नहीं हो सकता । महेश्वर के वाक्य में अर्थवादरूपता के लिये स्थान नहीं है' ॥ ४४ ॥ (तं०आ० ४।२३२)

भक्तिमान् लोगों के अनुग्रह के लिये चिन्मूर्त्ति में ही प्रदर्शयिष्यमाण व्याप्ति वाले आकार को उट्टङ्कित करने के लिये परमेश्वर के वक्त्रमन्त्रों को बतलाते हैं—

यकार से लेकर वकार तक (= य र व ल) संहार से युक्त वर्ण जो

१. स्तुतिनिन्दापरकवचनम् अर्थवादः ।

बिन्दुमस्तकसंभिन्ना भैरवस्य मुखानि च ।

मातृकापर्यन्तवर्तित्वात् संहारेण क्षकारेण, सम्यगिति आदौ, आयुताः सम्बद्धाः, वेदनात्मकबिन्दुव्याप्तिसारा ऊर्ध्वपूर्वदक्षिणपश्चिमवाममुखानां परमव्योमवायुतेजोवारिधराशक्तिसाराणां वाचकत्वाद् भैरवीयस्वरूपप्रवेशोपायत्वाच्च भैरवस्य मुखादि, एते मन्त्राः ।

एतानि च—

ब्रह्मभङ्ग्या नियोज्यानि मूर्धादिचरणावधि ॥ ४६ ॥

ब्रह्मणो बृहत्वात् बृंहकत्वात् विश्वात्मनः शक्तिमूर्तेः, भङ्ग्या दण्डाकारतया, ब्रह्मणां च ईशानादीनां पञ्चानां, भङ्ग्या विभागेन, तेन प्रणवपूर्णं 'क्षं' ईशानमूर्ध्ने 'यं' तत्पुरुषवक्त्राय, 'रं' अघोरहृदयाय, 'वं' वामदेवगुह्याय 'लं' सद्योजातमूर्तये, इति मूर्तिरिकत्वादेकेन मन्त्रेण दण्डाकारा अनुद्भिन्नावयवा भगवन्मूर्तिः कल्प्या ॥ ४६ ॥

अस्या विभागदर्शनार्थं वक्त्रक्षेत्रे भाविस्फुटवक्त्रविभागभित्तिभूतां कवाटभङ्गिं दर्शयति—

कि मस्तक पर बिन्दु से युक्त हैं, भैरव के मुख हैं इस प्रकार यं रं वं लं और क्षं ये पाँच मुख बने ॥ -४५-४६- ॥

मातृका के अन्त में होने के कारण 'क्ष' को संहार कहते हैं । ('समायुताः' पद की व्याख्या करते हैं—) = सम्यक् = भली-भाँति पहले, आयुताः = सम्बद्ध, वेदनात्मक बिन्दु की व्याप्ति वाले, ऊर्ध्व, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और (= उत्तर) वाम मुख आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी शक्ति वालों, के वाचक होने से और भैरवीयस्वरूप में प्रवेश के उपाय होने से ये मन्त्र भैरव के मुख हैं ।

और ये—

शिर से ले कर पैर तक ब्रह्मभङ्गी के अनुसार नियोज्य = कल्पित होने चाहिये ॥ -४६ ॥

बढ़ने और बढ़ाने के कारण विश्वात्मा शक्तिमूर्त्ति ही ब्रह्म है । भङ्गी के द्वारा = दण्ड के आकार के रूप में (अथवा) ब्रह्म अर्थात् ईशान आदि पाँच (= ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव, अघोर), की भङ्गी = विभाग से । उस प्रकार 'क्षं' ईशान को मूर्धा के लिये, 'यं' तत्पुरुषवक्त्र के लिये, 'रं' अघोरदय के लिये, 'वं' वामदेवगुह्य के लिये, 'लं' सद्योजातमूर्त्ति के लिये । इस प्रकार मूर्त्ति के एक होने से एक ही मन्त्र के द्वारा दण्डाकार अनुद्भिन्न अवयवों वाली भगवन्मूर्त्ति की कल्पना करनी चाहिये ॥ ४६ ॥

इस विभाग को बतलाने के लिये वक्त्रक्षेत्र में भावी स्फुटवक्त्रविभाग की आधारभूत कपाटश्रेणी को दिखलाते हैं—

पुनश्चोर्ध्वं मुखं कल्प्यं प्राग्दक्षिणमथोत्तरम् ।
अपरं..........

मुखानीति पदविभक्तिविपरिणामात् तृतीयाबहुवचनान्तमिह योज्यम्, तेन मुखैः 'क्षं यं रं वं लं' इत्येतैः मुखमन्त्रैः, पुनरिति ब्रह्मभङ्ग्या न्यासोपरि, मुखमिति मुखावकाशदानार्थम्, ऊर्ध्वप्रागादिकवाटे न्यसेदित्यर्थः । अत्र च 'ओंक्षं ईशानवक्त्राय नमः' इति पृथक् पृथङ् न्यासः कार्यः, वक्त्राणां भिन्नत्वात् ॥

किं च—

........कल्पयित्वा तु कलाभेदेन विन्यसेत् ॥ ४७ ॥
पूर्वं च दक्षिणं चैव उत्तरं पश्चिमं तथा ।
ऊर्ध्वमूर्ध्ना तु संयुक्तं क्षकारं त्वीशरूपिणम् ॥ ४८ ॥

इह—

'शिवस्यैका महाशक्तिः शिवश्चैको ह्यनादिमान् ।
सा शक्तिर्भिद्यते भूयोभेदै......................॥' (११।२७१)

इति वक्ष्यमाणनीत्या भगवतः स्वातन्त्र्यशक्तिसारस्य यथा मूर्तिग्रहणं तथा तदनुरूपं तत्तच्छक्तिस्फारमयत्वं न तु शान्तरूपत्वम्, इति दर्शनसतत्त्वमुन्मीलयितुं कवाटादिभङ्गिषु कलापर्यायाणां शक्तीनां न्यास उच्यते, तत्र

इसके बाद मुखमन्त्रों के द्वारा पूर्व दक्षिण उत्तर पश्चिम तथा ऊर्ध्व मुख की कल्पना करनी चाहिये ॥ ४७- ॥

(श्लोक सं० ४५ में उक्त) 'मुखानि' पद में द्वितीया विभक्ति को बदल कर तृतीया बहुवचन जोड़ना चाहिये । इससे ('मुखानि' के स्थान पर) 'मुखैः' = क्षं यं रं वं लं इन तत्पुरुष आदि पाँच ब्रह्म के पाँच मुखमन्त्रों के द्वारा, पुनः = ब्रह्मभंगी के द्वारा न्यास के ऊपर, मुख को = मुख को अवकाश देने के लिये, ऊर्ध्व = पूर्व आदि कवाट में, न्यास करना चाहिये । यहाँ 'ॐ क्षं ईशान वक्त्राय नमः' इस प्रकार अलग-अलग न्यास करना चाहिये क्योंकि वक्त्र भिन्न-भिन्न हैं ॥

और वह उर्ध्व मूर्धा से संयुक्त ईशरूपी क्षकार का एवं पूर्व दक्षिण उत्तर पश्चिम और ऊर्ध्व मुखों का कलाभेद के अनुसार कल्पना कर न्यास करना चाहिये ॥ -४७-४८ ॥

यहाँ पर 'शिव की महाशक्ति एक ही है और अनादिमान् शिव एक ही हैं । वह शक्ति भिन्न-भिन्न होती है ।' (११।२७१)

इस वक्ष्यमाण नीति के अनुसार स्वातन्त्र्यशक्तिवाले भगवान् जिस प्रकार मूर्तिग्रहण करते हैं तदनुरूप उनकी भिन्न-भिन्न शक्ति का भी स्फार होता है न कि उनका शान्तरूप है, इस दर्शन तत्त्व को उन्मीलित करने के लिये कवाट आदि

'पाठक्रमादार्थः क्रमो बलीयान्' इति स्थित्या ऊर्ध्वमूर्ध्वरूपं पूर्वं दक्षिणमुत्तरं पश्चिममिति क्रमेण संसारतारकत्वादन्वर्थनामा—

'तारा सुतारा तरणी तारयन्ती सुतारिणी ।
ईशानस्य कलाः पञ्च .... ॥'

इति वक्ष्यमाणो यः कलाभेदः, तेन 'क्षकारं मन्त्रमीशरूपिणम्' ईशान-भट्टारकाख्यवाच्यदेवतास्फारमयमूर्ध्वं पूर्वादिकं वक्त्रं विन्यसेत् । क्षकारश्च पूर्व-मित्यादि सामानाधिकरण्येनोक्तं योज्यम्, कलाभेदश्च प्रातिलोम्येनानुसन्धेय इति गुरुक्रमः । एवं 'क्षं सुतारिण्यै नमः' इत्यूर्ध्वकवाटे, 'क्षं तारयन्त्यै नमः' इति पूर्वस्मिन्, यावत् 'क्षं तारायै नमः' इति पश्चिमकवाटे, ईशानव्याप्तिदर्शनाय कलान्यासः कार्य इति पिण्डार्थः ॥ ४८ ॥

अथ वक्त्राणि स्फुटयितुमाह—

एवं वक्त्रं चतुर्धा तु वक्त्रेष्वेव नियोजयेत् ।

कलाभेदेनेत्यनुवर्तते । एवमिति च ईशानकलाभेदन्यायेनैव पूर्ववक्त्रमन्त्रं 'यकारं' वक्त्रेषु चतुर्धा पूर्वादिवक्त्रनिमित्ततत्स्फुटीकरणाय चतुर्धैव कलाभेदेन

भङ्गियों में कला की पर्यायरूप शक्तियों का न्यास कहा जा रहा है । उसमें 'पाठ क्रम की अपेक्षा आर्थ क्रम बलवान् होता है ।'—इस नियम के अनुसार ऊर्ध्व = ऊर्ध्वरूप, पूर्व दक्षिण उत्तर पश्चिम इस क्रम से संसार से तारक होने से अन्वर्थनाम वाला ।

'तारा सुतारा तरणी तारयन्ती सुतारिणी ये ईशान की पाँच कलायें हैं..... ।'

ऐसा वक्ष्यमाण जो कलाभेद उसके द्वारा 'क्षकार मन्त्र जो कि ईशरूप हैं' ईशान भट्टारक नामक वाच्य देवता के स्फार वाला ऊर्ध्व पूर्वादिक वक्त्र का न्यास करना चाहिये । समान विभक्तिक कहे जाने से क्षकार को पहले जोड़ना चाहिये । और कलाभेद को उल्टे क्रम से जोड़ना चाहिये—यह गुरुनिर्दिष्ट क्रम है । इस प्रकार 'क्षं सुतारिण्यै नमः' ऐसा ऊर्ध्व कवाट में, 'क्षं तारयन्त्यै नमः ऐसा पूर्व कवाट मे, (इसी प्रकार 'क्षे तरण्यें' नमः, क्षं सुतारायै नमः और अन्त में) 'क्षं तारायै नमः (इस प्रकार क्रमशः दक्षिण उत्तर और) पश्चिम कवाट में ईशान व्याप्ति के दर्शन के लिये न्यास करना चाहिये—यह पिण्डार्थ है ॥ ४८ ॥

अब वक्त्रों को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं—

इस प्रकार वक्त्र = मन्त्रों को (पूर्व आदि) चार प्रकार से वक्त्रों में नियोजित करना चाहिये ॥ ४९- ॥

'कला भेद के अनुसार' (इतना अंश) पूर्व श्लोक से लेना चाहिये । एवम् = ईशान कलाभेदन्याय से पूर्ववक्त्रमन्त्र, 'यकार' को वक्त्रों में चार प्रकार से पूर्व

योजयेत् । कलाश्चात्र—

'निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्ता तथैव च ।
पुरुषस्य कला एताश्चतस्रः..................... ॥' (१।५५)

इति वक्ष्यमाणाः । अत्रापि प्रातिलोम्येन सृष्टिक्रमेण न्यासः, तेन 'यं शान्तायै तत्पुरुषवक्त्राय नमः' इत्यादि 'यं निवृत्तये सद्योजातवक्त्राय नमः' इत्यनुसंधेयम्, वक्त्रचतुष्टयस्य च स्फुटता भावनीया ॥

पुरुषादिकलानां स्फुटभेदोल्लासकत्वात्, ऊर्ध्ववक्त्रे तु अनुद्भिन्नाकारभेदेऽवधिमाह—

पञ्चमं यद्भवेद्वक्त्रं क्षकारेणैव निर्दिशेत् ॥ ४९ ॥

परस्वरूपस्य व्यञ्जकत्वात् संसारत्राणाच्च वक्त्रम् । एवकारेण अत्र स्फुटाकारतानुसंधेया, इति ध्वनति ॥ ४९ ॥

एवमूर्ध्ववक्त्रक्षेत्रयोः कवाटकलावक्त्रभङ्गिन्यासमुक्त्वा हृत्क्षेत्रादावघोरकलान्यासमाह—

हृदि ग्रीवांसपृष्ठे तु नाभौ च जठरे तथा ।

आदि वक्त्रों के निमित्त को स्पष्ट करने के लिये चार प्रकार से ही कलाभेद के अनुसार जोड़ना चाहिये । कलायें—

'निवृत्ति प्रतिष्ठा विद्या शान्ता ये चार पुरुष की कलायें हैं....।' (१।५५)

वाक्य के द्वारा आगे कही जायेंगी यहाँ भी विपरीत सृष्टि क्रम से न्यास किया जाता है । इस प्रकार (उस न्यास का स्वरूप होता है)—'यं शान्तायै तत्पुरुषवक्त्राय नमः' ('यं विद्यायै अघोरवक्त्राय नमः', 'यं प्रतिष्ठायै वामदेववक्त्राय नमः') 'यं निवृत्तये सद्योजातवक्त्राय नमः' इस प्रकार अनुसन्धान करना चाहिये । चारो वक्त्रों की स्फुटता (स्वयं) समझनी चाहिये ॥

पुरुष आदि की कलाओं के स्फुटभेदोल्लासक होने से अनुद्भिन्न आकार भेद वाले ऊर्ध्व वक्त्र में अवधि बतलाते हैं—

जो पाँचवाँ वक्त्र है उसका क्षकार से निर्देश करना चाहिये ॥ -४९ ॥

परस्वरूप का व्यञ्जक एवं संसार का त्राण करने के कारण (मुख को) वक्त्र कहा जाता है । 'एव' के द्वारा स्फुटाकारता का अनुसन्धान करना चाहिये—यह ध्वनित होता है ॥ ४९ ॥

ऊर्ध्ववक्त्र एवं क्षेत्र में कवाट कला वक्त्रभङ्गी का न्यास बतला कर अब हृद्क्षेत्र आदि में अघोर कला न्यास को कहते हैं—

हृदय, ग्रीवा एवं दोनों स्कन्धों के पृष्ठ (= ऊपरी भाग), नाभि, पेट,

पृष्ठे चोरसि विन्यस्येदघोरेण यथाक्रमम् ॥ ५० ॥

'तमा मोहा क्षुधा निद्रा मृत्युर्माया भया जरा ।
अघोरस्य कला ह्येता अष्टौ वै वरवर्णिनि ॥' (१।५६)

इति वक्ष्यमाणकलाभेदात्, अघोरेण अघोरवक्त्रमन्त्रेण, यथाक्रमं विन्यसेत् । तेन 'ॐ रं तमायै हृदयाय नमः' इत्यादि, 'ॐ रं जरायै नमः उदरे', इत्यन्तो न्यासः कार्यः, अघोरभट्टारकस्य संहारप्रधानत्वात् । कलास्तथोचितनाम्न्यः ॥५०॥

गुह्यादिक्षेत्रे श्रीवामदेवकलान्यासमाह—

गुह्ये तथा गुदे चैव तथोर्वोर्जानुनोरपि ।
जङ्घयोश्च स्फिजोः कट्यां पार्श्वयोरुभयोरपि ॥ ५१ ॥
विन्यसेच्चैव वामेन शरीरे तु यथाक्रमम् ।

'रजा रक्षा रतिः पाल्या काम्या तृष्णा मतिः क्रियाः ।
ऋद्धिर्माया च रात्रिश्च भ्रामणी मोहनी तथा ।
मनोन्मनी कला ह्येता वामदेवे त्रयोदश ॥'(१।५७-५८)

पीठ, हृदय में क्रमशः अघोर वक्त्र मन्त्र से न्यास करना चाहिये ॥ ५० ॥

'हे वरवर्णिनि ! तमा, मोहा, क्षुधा, निद्रा, मृत्यु, माया, भया, जरा ये आठ अघोर की कलायें हैं ।' (१।५६)

इस प्रकार वक्ष्यमाण कलाभेद से अघोर से = अघोरवक्त्रमन्त्र से क्रमशः न्यास करना चाहिये । इस प्रकार—ॐ रं तमायै हृदयाय नमः (ॐ रं मोहायै ग्रीवायै नमः, ॐ रं क्षुधायै दक्षिणस्कन्धपृष्ठाय नमः ॐ रं निद्रायै वामस्कन्धपृष्ठाय नमः, ॐ रं मृत्यवे नाभये नमः, ॐ रं मायायै जठराय नमः, ॐ रं भयायै पृष्ठाय नमः) ॐ रं जरायै उरसे नमः—यहाँ तक न्यास करना चाहिये । (ऐसा इसलिये क्योंकि) अघोर भट्टारक संहार प्रधान हैं । कला = उस प्रकार की उचित नाम वाली ॥ ५० ॥

गुह्यादि क्षेत्र में वामदेव कला का न्यास कहते हैं—

गुह्य (= लिङ्ग), गुदा, दोनों ऊरु, दोनों घुठनों, दोनों जङ्घों, दोनों टखनों, कटि, दोनों बगलों में वामदेववक्त्र से शरीर में क्रमशः न्यास करना चाहिए ॥ ५१-५२- ॥

'रजा, रक्षा, रति, पाल्या, काम्या, तृष्णा, मति, क्रिया, ऋद्धि, माया, रात्रि, भ्रामणी, मोहनी और मनोन्मनी ये वामदेव की तेरह कलायें हैं ।' (१।५७-५८)

सृष्टिप्रधान वामदेव का यह कला भेद है जिसका वर्णन आगे किया जायेगा । यह सृष्टि प्रधान के अनुरूप कथन वाला तथा गुह्य आदि तेरह स्थानों को प्रकट करने वाला है । क्रमशः वाम से = वामदेव वक्त्र मन्त्र से, न्यास करना चाहिये ।

इति वक्ष्यमाणं सृष्टिप्रधानस्य श्रीवामदेवस्य कलाभेदं सृष्टिप्रधानोचिताभिधानं गुह्यादिस्थानत्रयोदशप्रकटनपरं यथाक्रमं वामेनेति श्रीवामदेववक्त्रेण न्यसेत्, तेन 'वं रजायै नमः' गुह्ये इत्यनुसन्धेयम् ॥ ५१ ॥

भगवतः पादादिक्षेत्रस्थश्रीसद्योजातकलान्यासमाह—

पादौ हस्तौ तथा नासां शिरश्चैव भुजावथ ॥ ५२ ॥
सद्येन कल्पयेद् देवि सर्वमेतद्यथाक्रमम् ।

सद्येन श्रीसद्योजातमन्त्रेण, पादादीन् यथाक्रमं कल्पयेत्, अर्थात् सद्योजातकलाभिरेव, ताश्च वक्ष्यन्ते—

'सिद्धिर्ऋद्धिर्द्युतिर्लक्ष्मीर्मेधा कान्तिः सुधा स्थितिः ।
सद्योजातकलास्त्वेवमष्टौ सम्परिकीर्तिताः ॥' (१।५८-५९)

इति श्रीमत्सद्योजातस्य स्थितिपदाप्यायकत्वात् सिद्ध्यादयः कलाः, तेन 'ॐ लं सिद्ध्ये नमः दक्षिणपादे' इत्यनुसंधेयम् । यद्यपि पूर्ववक्त्रमन्त्रेण वक्त्राणामुन्मीलनं कृतम्, तथापि शिरःक्षेत्रनासाक्षेत्रयोः कल्पना पुनरनेन विधिना कर्तव्या, प्रतिपदोक्तत्वात् । एवं पादस्थसद्योजातकलानामपि नासाशिरःक्षेत्रपर्यन्तां

जैसे—वं रजायै नमः गुह्ये (वं रक्षायै नमः गुदे, वं रत्यै नमः दक्षिण उरौ, वं पाल्यायै नमः वामोरौ, वं काम्यायै नमः दक्षिण जानौ, व तृष्णायै नमः दक्षिण जानौ, वं मत्यै नमः दक्षिणः जङ्घे, वं क्रियायै नमः वामजङ्घे, इसी प्रकार वं मनोन्मन्यै नमः वामपार्श्वे तक न्यास करे) ॥ ५१ ॥

पादादिक्षेत्रस्थ भगवान् सद्योजात की कलाओं का न्यास बतलाते हैं—

हे देवि ! दोनों पैर, दोनों हाथ, नासिका, शिर और दोनों भुजाओं इन सब में सद्योजात मन्त्र से न्यास करना चाहिये ॥ -५२-५३- ॥

सद्येन = सद्योजातमन्त्र के द्वारा । पैर आदि में क्रमशः सद्योजात कलाओं के द्वारा ही न्यास की कल्पना करनी चाहिये । उन कलाओं का वर्णन श्लोक के द्वारा आगे किया जायेगा ।

'सिद्धि, ऋद्धि, द्युति, लक्ष्मी, मेधा, कान्ति, सुधा, स्थिति ये आठ संद्योजात की कलायें कही गयी है ॥' (१।५८-५९)

श्रीमत्सद्योजात के स्थितिपद के आप्यायक होने के कारण सिद्धि आदि कलायें कही गयी हैं । इससे 'ॐ लं सिद्ध्यै नमः' इससे दक्षिण पाद में (इसी प्रकार 'ॐ लं ऋद्ध्यै नमः' इससे वाम पैर में और आगे भी इसी प्रकार न्यास करना चाहिये) । यद्यपि पूर्ववक्त्रमन्त्र के द्वारा वक्त्रों का उन्मीलन किया गया है तथापि शिरक्षेत्र और नासिका क्षेत्र की कल्पना इसी विधि से करनी चाहिये क्योंकि प्रतिपदोक्त है अर्थात् (इन दोनों क्षेत्रों का) नाम लेकर वर्णन किया गया है । इस

व्याप्तमभिदधत् 'सर्वत्र सर्वमस्ति' इति भङ्ग्या शिक्षयति हस्तौ कल्पयेदिति । 'ग्रहं संमार्ष्टि' इतिवत् प्रधानविधेरस्य संख्याया अविवक्षितत्वात् अष्टादशभुजत्वस्य च वक्ष्यमाणत्वात् 'प्राजापात्या नव ग्रहा भवन्ति' इतिवत् अनागतावेक्षणरूपतन्त्र-युक्त्या दक्षवामपार्श्वगतभुजनवकद्वयकल्पनं द्युतिलक्ष्मीभ्याम्, इति मन्तव्यम् ॥५२॥

कला निर्देष्टुमाह—

तासां नामानि वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ ५३ ॥
तारा सुतारा तरणी तारयन्ती सुतारणी ।
ईशानस्य कला पञ्च निरञ्जनपदानुगा ॥ ५४ ॥
निवृत्तश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
पुरुषस्य कला ह्येताश्चतस्रः परीकिर्तिताः ॥ ५५ ॥
तमा मोहा क्षुधा निद्रा मृत्युर्माया भया जरा ।
अघोरस्य कला ह्येता अष्टौ वै वरवर्णिनी ॥ ५६ ॥
रजा रक्षा रतिः पाल्या काम्या तृष्णा मतिः क्रिया ।
ऋद्धिर्माया च रात्रिश्च भ्रामिणी मोहनी तथा ॥ ५७ ॥

प्रकार 'हस्तौ कल्पयेत्' के द्वारा प्रकारान्तर से यह बतलाते हैं कि सब सब में हैं । इसी को पुष्ट करने के लिये पादस्थसद्योजात कलाओं की भी नासिका क्षेत्र और शिर क्षेत्र पर्यन्त व्याप्ति का कथन करते हैं । 'ग्रह (= पात्र) को साफ करना चाहिये' विधि के समान इस प्रधान विधि में संख्या की विवक्षा नहीं है (जैसे 'ग्रहं संमार्ष्टि' में 'ग्रहं' में एकत्व अविवक्षित है अर्थात् सभी पात्रों का समार्जन करना चाहिये उसी प्रकार 'हस्तौ' में वचन अविवक्षित अर्थात् दो ही भुजा के न्यास से अट्ठारह भुजाओं का न्यास हो जाता है) अष्टादशभुजा की बात कही जायेगी । प्रजापति के नव ग्रह अर्थात् नव पात्र हैं (यहाँ नव संख्या प्रजापति के दायें बायें दोनों ओर विवक्षित है) इस दृष्टान्त के समान अनागतावेक्षणरूप तन्त्र की युक्ति से दाहिने और बायें पार्श्व में नव-नव भुजाओं की कल्पना 'द्युति' और 'लक्ष्मी' पदों से करनी है—ऐसा समझना चाहिये (अर्थात् द्युति में नव और लक्ष्मी में नव कलायें हैं।) ॥ ५२ ॥

कलाओं का निर्देश करने के लिये कहते हैं—

उन कलाओं का नाम यथानुपूर्वी कहूँगा । तारा, सुतारा, तरणी, तारयन्ती और सुतारिणी ये पाँच ईशान की कलायें हैं जो निरञ्जनपद को प्राप्त कराती हैं । निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ति ये चार तत्पुरुष की कलायें कही गयी हैं । हे वरवर्णिनि ! तमा, मोहा, क्षुधा, निद्रा, मृत्यु, माया, भया, जरा, ये आठ अघोर की कलायें हैं । रजा, रक्षा रति, पाल्या, काम्या, तृष्णा, मति, क्रिया, ऋद्धि, माया, रात्रि, भ्रामिणी, मोहनी

मनोन्मनी कला ह्येता वामदेवे त्रयोदश ।
सिद्धिर्ऋद्धिर्द्युतिर्लक्ष्मीर्मेधा कान्तिः सुधा स्थितिः ॥ ५८ ॥
सद्योजातकलास्त्वेवमष्टौ सम्परिकीर्तिताः ।

यथावदिति यथाव्याप्त्यनुसारम् । अनुपूर्वश इति ऊर्ध्वपूर्वदक्षवामपश्चिमवक्त्र-क्रमेण । अत्र च—

अपरा सा तनुः स्थूला षट्त्रिंशत्तत्त्वकल्पिता (४।४०७)

इति वक्ष्यमाणनीत्या षट्त्रिंशत्तमस्य तत्त्वस्य 'शुद्धात्मा उन्मना परम्' इति त्रिभेदत्वात् तत्त्वव्याप्त्यैव भैरवदेहन्यासः कार्यः । षोडशद्वादशदश संख्यसोम-सूर्याग्निकलाव्याप्त्या त्रिधाममयत्वापत्त्यर्थमित्यन्ये ॥ ५८ ॥

अथात्र षट्त्रिंशत्तत्त्वमये देहे सूक्ष्मव्यात्या परव्याप्त्या च मूर्तिन्यासं दर्शयति—

पुनश्च साधको देवि सर्वाङ्गेषु यथाक्रमम् ॥ ५९ ॥
नवतत्त्वं त्रितत्त्वं च ध्रुवेण परिकल्पयेत् ।

पुनरिति कलारूपपूर्णदेहन्यासानन्तरं यथाविभागमुक्तेषु सर्वाङ्गेषु—

और मनोन्मनी ये तेरह कलायें वामदेव के अन्तर्गत रहती है । सिद्धि, ऋद्धि, द्युति, लक्ष्मी, मेघा, कान्ति, सुधा, स्थिति, ये आठ कलायें सद्योजात की कही गयी हैं ॥ -५३-५९- ॥

यथावत् = व्याप्ति के अनुसार । अनुपूर्वशः = ऊर्ध्व, पूर्व, दक्षिण, वाम (= उत्तर) और पश्चिम वक्त्र के क्रम से । यहाँ—

'(परमतत्त्व की) एक दूसरा भी स्थूल शरीर है जो छत्तीस तत्त्वात्मक है ।' (४।४०७)

इस वक्ष्यमाणनीति से छत्तीसवाँ तत्त्व शुद्धात्मा, उन्मना एवं पर इस प्रकार तीन भेदों वाला होने के कारण, तत्त्वव्याप्ति के द्वारा ही भैरवदेह का न्यास करना चाहिये । दूसरे विद्वानों का विचार है कि सोम सूर्य और अग्नि की षोडश, द्वादश और दश संख्या वाली कलाओं की व्याप्ति से त्रिधाममयत्व (= सोम सूर्य और अग्निमयत्व की आपत्ति (=कल्पना) करनी चाहिये ॥ ५८ ॥

अब यहाँ छत्तीसतत्त्वमय देह में सूक्ष्मव्याप्ति एवं परव्याप्ति के द्वारा मूर्त्तिन्यास को दिखलाते हैं—

हे देवि ! पुनः साधक सभी अङ्गो में क्रमानुसार नव तत्त्वों और तीन तत्त्वों की ध्रुव के द्वारा कल्पना करे ॥ -५९-६०- ॥

पुनः = कलारूपपूर्णदेहन्यास के बाद विभागानुसार उक्त समस्त अङ्गों में—

प्रकृति: पुरुषश्चैव नियति: काल एव च ।
माया विद्या तथेशश्च सदाशिवशिवौ तथा ॥ (५।११)

इति वक्ष्यमाणं नवतत्त्वं वामादिशक्तिव्याप्त्या कपालेशादिस्वच्छन्दान्तभैरवव्याप्त्या च, आत्मविद्याशिवाख्यं त्रितत्त्वं शुद्धात्मोन्मनापरतत्त्वव्याप्त्या । ध्रुवेणेति सर्वमन्त्रेषु अविचलद्व्याप्तिकेन प्रणवेन 'ॐ शिवादिप्रकृत्यन्तनवतत्त्वात्मने नमः' इति प्रयोगेण ।

मूर्ध्नि वक्त्रे च कण्ठे च हृदये (२।५१)

इति वक्ष्यमाणस्थानानुसन्धानेन कल्पयेत् 'ॐ शिवतत्त्वाय नमः' इत्यादि क्रमेण, शिखान्तभ्रूमध्यहृदयेषु सृष्टिक्रमेण कल्पयेत् ॥

एवमियदन्तेन न्यासेन भगवतो भैरवभट्टारकस्य स्फुटीभावे जाते—

विद्याङ्गानि पुनर्न्यस्य तेषां मन्त्रान् शृणु प्रिये ॥ ६० ॥

परिपूर्णविदनात्मतया विद्यारूपस्य भगवतो बहुरूपस्याङ्गानि ॥ ६० ॥

तन्मन्त्रानाह—

अघोरेभ्यो समालिख्य थ घोरेभ्यो द्वितीयकम् ।

'प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और शिव ।' (५।११)

इस प्रकार वक्ष्यमाण नव तत्त्वों को वामा आदि शक्तियों की व्याप्ति तथा कपालेश से लेकर स्वच्छन्द तक भैरव की व्याप्ति के द्वारा कल्पित करे । इसी प्रकार आत्मा विद्या और शिव नामक तीन तत्त्वों की शुद्धात्मा, उन्मना और परतत्त्व की व्याप्ति के द्वारा कल्पना करे । ध्रुव के द्वारा—सभी मन्त्रों में निश्चितव्याप्ति वाले प्रणव के द्वारा, 'ॐ शिवादिप्रकृत्यन्तनवतत्त्वात्मने नमः' इस प्रयोग से

'मूर्धा, वक्त्र, कण्ठ और हृदय में ।' (२।५१)

इस प्रकार वक्ष्यमाण स्थानानुसन्धान के अनुसार कल्पना करनी चाहिये । 'ओ३म् शिवतत्त्वाय नमः' इत्यादि क्रम से शिखान्त भ्रूमध्य और हृदय में सृष्टिक्रम से (न्यास की) कल्पना करनी चाहिये ॥

इस प्रकार यहाँ तक के न्यास से भगवान् भैरवभट्टारक के (स्वरूप के) स्फुट होने के बाद—

हे प्रिये ! पुनः विद्याङ्गों का न्यास कर उनके मन्त्रों को सुनो ॥ -६० ॥

'विद्याङ्गानि' का अर्थ स्पष्ट करते हैं—परिपूर्ण वेदना (= पूर्ण प्रकाश) के रूप में विद्या रूप अनेक रूपवान् भगवान् भैरव के अङ्ग ॥ ६० ॥

उसके मन्त्रों को कहते हैं—

घोरघोरतरेभ्यश्च तृतीयं परिकल्पयेत् ॥ ६१ ॥
सर्वतः शर्व सर्वेभ्यो चतुर्थं परिकल्पयेत् ।
नमस्ते रुद्ररूपेभ्यः पञ्चमं च विधानतः ॥ ६२ ॥
ओंकारमुच्चरेत् पूर्वं जुं सश्च तदनन्तरम् ।
नेत्रत्रयं प्रकल्पेत विद्यादेहस्य भामिनि ॥ ६३ ॥
विद्याङ्गानि विजानीयात्..............

द्वात्रिंशदक्षरविद्यादेहस्य भगवतोऽवयवरूपाः हृत् शिरः शिखा कवचम् अस्त्रं च, इति पञ्चानां पञ्च मन्त्राः, त्र्यक्षरस्तु ऊर्ध्वदक्षिणवामनेत्रत्रयस्य । अत्र च पदानां प्राग्वत् संहिताकार्यं न कृतम् ॥

अथैषाम्—

............नामानि च निबोध मे ।
सर्वात्मा तु ब्रह्मशिरो ज्वालिनी पिङ्गलं तथा ॥ ६४ ॥
दुर्भेद्यं पाशुपत्यं च ज्योतीरूपं तथैव च ।

अत्र अनागतावेक्षणतन्त्रयुक्त्या अन्ते नमः स्वाहादिजातिर्देया, तेन 'अघोरेभ्यो सर्वात्मने हृदयाय नमः' इत्यादिप्रयोगः कार्यः । 'दुर्भेद्यं पाशुपत्यम्' इति पदद्वय-

---

पहले 'अघोरेभ्यः' लिख कर फिर 'घोरेभ्यः' फिरः 'घोरघोरतरेभ्यः' लिखना चाहिये । फिर 'सर्वतः शर्व सर्वेभ्यः' जोड़ना चाहिये । इसके बाद 'नमस्ते रुद्ररूपेभ्यः' पाँचवाँ अंश जोड़ना चाहिये । पहले ॐकार फिर जुं सः (का) उच्चारण करे । (इस प्रकार मन्त्र का स्वरूप बनेगा—ॐ अघोरेभ्यः घोरेभ्यः घोरघोरतरेभ्यः सर्वतः शर्व सर्वेभ्यः नमस्ते रुद्ररूपेभ्यः) हे भामिनि ! फिर ॐ जुंसः से विद्यादेह के तीन नेत्रों की कल्पना करनी चाहिये । इसको विद्याङ्ग समझना चाहिये ॥ ६१-६४- ॥

बत्तीस अक्षर वाले भगवान् विद्यादेह के पाँच अवयव हैं—हृदय, शिर, शिखा, कवच और अस्त्र । इन पाँचों के 'ॐघोरेभ्यः' इत्यादि पाँच मन्त्र हैं । तीन अक्षर (= ॐ जुं सः) ऊर्ध्व दक्षिण एवं वाम इन तीनों नेत्रों के मन्त्र हैं । यहाँ पदों की पूर्व की भाँति सन्धि नहीं की गयी ॥

अब इनके—

नामो को मुझसे जानो । (ये नाम हैं—) सर्वात्मा, ब्रह्मशिरा, ज्वालिनी, पिङ्गल, दुर्भेद्य, पाशुपत्य और ज्योतीरूप ॥ -६४-६५- ॥

यहाँ पर-अनागत का अवेक्षण करना चाहिये—इस तन्त्र की युक्ति से (प्रत्येक मन्त्र के) अन्त में 'नमः' 'स्वाहा' आदि को जोड़ना चाहिये । जैसे—अघोरेभ्यो सर्वात्मने हृदयाय नमः (घोरेभ्यो ब्रह्मशिरसे शिरसे स्वाहा, घोरघोरतरेभ्यो ज्वालिन्यै

मन्त्रे योज्यम्, अत्र च 'सर्वज्ञता, तृप्तिः, अनादिबोधः, स्वतन्त्रता, अविलुप्त-शक्तिः, अनन्तशक्तिः' इति भगवद्गुणा एते हृदादिनेत्राङ्गतया प्रसृता इत्याम्नायः। कवचन्यासादनन्तरं नेत्रन्यासः, ततोऽस्त्रन्यासः कार्यः, अस्त्रस्य बहिरङ्गत्वात् नेत्रमन्त्रस्य तु विद्यादेहावयवत्वाभावात् पश्चात्तदुद्देशः कृतः । वक्त्रएवमासन-चिन्मूर्तिब्रह्मकवाटवक्त्रभङ्गीन्यासानन्तरं पञ्चादिकलात्मकषट्त्रिंशत्तत्त्वव्याप्त्या पञ्चभिः प्रघट्टकैरष्टात्रिंशत्कलान्यासमुक्त्वा भैरवनवकव्याप्त्या नवतत्त्वन्यासं शुद्धात्मोन्मना-परतत्त्वव्याप्त्या च त्रितत्त्वन्यासमभिधाय सर्वज्ञतादिधर्मव्याप्त्याङ्गन्यास उक्तः । एवमधिष्ठात्र धिष्ठेयाशेषविश्वशरीरत्व भगवती बहुरूपत्वं दर्शितम् ।

एवं चैतत्सर्वं त्रितयविश्रान्तमपि शक्तित्रयस्फारमयमेवेति दर्शयितुमेतदुपरि शक्तिमन्त्रान्यासार्थमाह—

क्रिया ज्ञानं तथैवेच्छा तासां मन्त्रान्निबोध मे ॥ ६५ ॥

विश्वप्रसरस्य शक्तिषूपसंहारेणैव विश्रान्तिरिति क्रिया ज्ञानं चेच्छा चेति प्रक्रमः ॥ ६५ ॥

आसां क्रमेण मन्त्रमाह—

शिखायै वषट् इत्यादि) । दुर्भेद्यं और 'पाशुपत्यम्' इन दोनों पादों की योजना अस्त्र में करनी चाहिये । यहाँ सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादिबोध, स्वतन्त्रता, अविलुप्त शक्ति और अनन्तशक्ति भगवान् के ये छः गुण हृदय से लेकर नेत्र तक के अङ्ग के रूप में प्रसृत (= विख्यात) हैं—ऐसा आम्नाय है । कवचन्यास के बाद नेत्रन्यास इसके बाद अस्त्रन्यास करना चाहिये । चूँकि अस्त्र बहिरङ्ग है और नेत्र मन्त्र विद्यादेह का अवयव नहीं है इसलिये इन दोनों का नाम बाद में लिया गया । इस प्रकार आसन, चिन्मूर्त्ति, ब्रह्मकवाट, वक्त्र, वक्त्रभङ्गी के न्यास के बाद, पाँच कलात्मक छत्तीस तत्त्व की व्याप्ति से पाँच समूहों के द्वारा अँड़तीस कलान्यास कहा गया । नव भैरव की व्याप्ति से नवतत्त्व का न्यास और शुद्धात्मा, उन्मना एवं परतत्त्व की व्याप्ति से तीन तत्त्वों का न्यास कह कर सर्वज्ञता आदि धर्म की व्याप्ति से अङ्ग का न्यास कहा गया । इस प्रकार अधिष्ठातृ अधिष्ठेय के रूप में समस्त विश्व शरीर होना ही भगवान् का बहुरूप है—यह दिखलाया गया ।

यह सब तीन (= आत्मा, विद्या और शक्ति अथवा शुद्धात्मा, उन्मना और परतत्त्व) के अन्दर विश्रान्त होते हुए भी तीन शक्तियों के स्फार से युक्त है—यह दिखाने के लिये इसके ऊपर न्यास के लिये शक्तिमन्त्रों को कहते हैं—

क्रिया ज्ञान और इच्छा (परमेश्वर की ये तीन शक्तियाँ हैं) इनके मन्त्रों को मुझसे जानो ॥ -६५ ॥

विश्वविस्तार की विश्रान्ति उपसंहार के द्वारा शक्तियों में ही होती है । क्रिया ज्ञान और इच्छा (यह विश्रान्ति का) क्रम है ॥ ६५ ॥

चतुर्थस्वरसंयुक्तं हान्तं बिन्दुविभूषितम् ।
क्रियाशक्तिः समाख्याता सर्वसृष्टिप्रकाशिका ॥ ६६ ॥

चतुर्थस्वर ईकारः, हान्तं क्षवर्णम् ॥ ६६ ॥

शकारस्य तृतीयं तु षष्ठयुक्तं सबिन्दुकम् ।
ज्ञानशक्तिः स्मृता ह्येषा प्रबोधजननी शुभा ॥ ६७ ॥

शकारस्य तृतीयं सकारम्, षष्ठेन ऊकारेण संयुक्तम् ॥ ६७ ॥

क्षादिं द्विस्वरसम्भिन्नं त्रिपञ्चेन तु मूर्च्छितम् ।
इच्छाशक्तिः समाख्याता भैरवस्यामितात्मिका ॥ ६८ ॥

क्षकारस्य आदिवर्णं 'ह', द्विस्वरः 'आकारः', त्रिपञ्चः पञ्चदशः स्वरः 'अङ्कारः' ॥ ६८ ॥

अथासामशेषविश्वाकारिणीनां शक्तीनां यत्र विश्रान्तिः, तस्य भगवतः सर्वात्मतायामपि निष्प्रपञ्चस्य स्वच्छन्दभट्टारकस्य प्रोक्ताशेषमन्त्रोपरि न्यासाय मन्त्रमाह—

हंसाख्यो बिन्दुसंयुक्तः षष्ठस्वरविभेदितः ।
बालेन्दुनादशक्त्यन्तः स्वच्छन्दो निष्कलः स्मृतः ॥ ६९ ॥

क्रम से इनके मन्त्रों को बतलाते हैं—

चतुर्थ स्वर से संयुक्त हान्त वर्ण को बिन्दु से युक्त करने पर (जो स्वरूप बनता है—क्षीं—वह) सर्वसृष्टिप्रकाशिका क्रियाशक्ति कही गयी है ॥ ६६ ॥

चतुर्थ स्वर = ईकार हान्त = क्ष वर्ण ॥ ६६ ॥

शकार से तीसरे वर्ण को षष्ठस्वर से एवं बिन्दु से युक्त करने पर ज्ञानशक्ति (का स्वरूप से बनता) है । शुभ गुणों वाली यह ज्ञान की जननी मानी गयी है ॥ ६७ ॥

शकार का तृतीय—सकार । षष्ठ = ऊकार (इस प्रकार 'सूं' बनता है) ॥ ६७ ॥

क्ष से आदि को द्वितीय स्वर से जोड़ने पर त्रिपञ्च से युक्त करने पर (जो रूप—हां—बनता है वह) भैरव की अमित इच्छाशक्ति कही गयी है ॥ ६८ ॥

क्षकार का आदि वर्ण = 'ह' । द्विस्वरः = आकार । त्रिपञ्च = ५×३ = १५वां स्वर = अं (इस प्रकार 'हां' बनता है) ॥ ६८ ॥

अब समस्त विश्व की आकारभूत इन शक्तियों की जिसमें विश्रान्ति है वह भगवान् सर्वात्मक होते हुए भी निष्प्रपञ्च हैं । ऐसे स्वच्छन्दभट्टारक के मन्त्र को उपर्युक्त समस्त मन्त्रों के ऊपर न्यास के लिये कहते हैं—

हंस को बिन्दु से संयुक्त एवं षष्ठस्वर से भेदित बाल इन्दु से युक्त

हंसाख्य इति सर्वसृष्टिसंहारकारित्वेन हानसमादानधर्मा

'प्रकृतिर्विकृतिश्चैव उभे षष्ठेन संयुत: ।' (६।२०)

इति वक्ष्यमाणस्थित्या आदिक्षान्तस्य विश्वस्य प्रकृतिभूत:

'नादाख्यं यत्परं बीजम् ।' (कालो० १।५)

इत्यादिना, परं शास्त्रेषु अभिहितानाहतध्वनिरूप:,

'नास्योच्चारयिता कश्चित् प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते देव: .... ।।'' (७।५९)

इति वक्ष्यमाणस्फार: सततोदितानस्तमितस्फुरतैकसारोऽनच्कहकार: । षष्ठ-स्वरेण ऊकारेणोन्मेषात्मकज्ञानशक्तिप्रसरात्मरूपेण अन्तर्विश्वमूर्ध्वाधोरूपतया बिभ्रता संवित्स्फारस्य किञ्चिदूनताभासनेन क्रियाशक्त्यासूत्रणात्मना लिपिक्रमेणापि ऊर्ध्वाध:-प्रसृतशक्तिद्वयकोटिप्रकटनोट्टङ्कितशुद्धाशुद्धाशेषविश्वसर्गसंहारात्मसततप्रसरेण ।

'षष्ठं च पञ्चमं चैव तस्य देवि गुणा: स्मृता:' (६।१७)

नादशक्ति वाले हैं वही निष्कल स्वच्छन्द भैरव कहे गये हैं ॥ ६९ ॥

स्वररहित ह्-कार ही हंस है । यह समस्त सृष्टि और संहार को करने वाला होने के कारण हान आदान धर्मवाला है ।

'प्रकृति और विकृति दोनों षष्ठ वर्ण से संयुक्त हैं । (६।२०)

इस वक्ष्यमाण स्थिति से अकार से लेकर क्षकार तक (वर्ण स्वरूप) विश्व का मूलकारण है,

'नाद नामक जो पर बीज है' (कालो० १।५)

इत्यादि के द्वारा शास्त्रों में उक्त अनाहत ध्वनिरूप पर तत्त्व है,

'इसका न तो कोई उच्चारण करने वाला है और न इसे कोई रोकने वाला है। यह नादरूप देव स्वयं उच्चारण करता रहता है ।' (७।५९)

इस प्रकार वक्ष्यमाणस्फार वाला तथा निरन्तर उदित और कभी भी अस्त न होने वाला सार स्वरूप है । षष्ठ स्वर = ऊकार, के द्वारा अर्थात् उन्मेषरूप ज्ञान शक्ति के प्रसर रूप के द्वारा विश्व के भीतर ऊपर नीचे (संसार को) धारण किये है । अपने संवित् के स्फार की किञ्चित् ऊनता के आभासन के द्वारा क्रियाशक्ति का आसूत्रण करता है । उसके द्वारा लिपि के क्रम से ऊपर नीचे फैली हुयी दो शक्तियों (इच्छा और ज्ञान) की कोटियों के प्रकटन के द्वारा समस्त शुद्धाशुद्ध विश्व की सृष्टि एवं संहार के रूप में निरन्तन प्रसरण कर रहा है ।

'हे देवि ! पाँचवाँ (= ऊकार अर्थात् उन्मेष) और छठवाँ (= ऊकार अर्थात् ऊर्मि और ऊनता) उसके गुण माने गये हैं ।' (६।१७)

इति वक्ष्यमाणनीत्या नादभट्टारकशक्तिरूपतया गुणभूतेन ऊर्ध्वाध:सञ्चारितया च चरणरूपेण विभेदित: संयोजित: ।

अथ च पराभेदभूमे: किञ्चिच्चलितोऽनुग्राह्यानुग्रहाय उच्चार्यमन्त्ररूपतापादनेन उन्मुखीभूत:, विन्दुना अशेषविश्वसामरस्यवेदनात्मना, सम्यगिति अभेदापत्त्या युक्त:, वक्ष्यमाणव्याप्तिसतत्त्वा बालेन्दुनादशक्तयो गर्भीकृतनिरोधिकानादनादान्त-व्यापिनीसमनोन्मनाप्रमेयसतत्त्वस्फारा अन्ते विश्रान्तौ यस्य, स एव परमेश्वर: स्वच्छन्दो निष्कल: अनाहतध्वनिपरमार्थमहामन्त्रवीर्यरूपोऽपि शिरोरूपाकारकलया षष्ठेन सकारेण च घोरतरशक्तिचक्ररूपेण ब्रह्मविष्णुरुद्रान् ब्रह्मप्रकृतिमायाण्डानि जागरस्वप्नसुषुप्तानि प्रमेयप्रमाणप्रमातृंश्चेति सृष्टिस्थितिसंहारविलयमात्रं भेदमयं जगत् दर्शयति, व्याख्यास्यमानसतत्त्वतया बिन्द्वादिप्रमेयपरिपाट्या च घोररूपतया भेदा-भेदमयेश्वरसदाशिवानाश्रितादीन् शक्त्यण्डवर्तिन: तुर्यपदावस्थितान् क्रमात्क्रमं सातिशयान् सर्गस्थितिसंहारशक्त्याक्रान्तानाभासयति, उन्मनाशक्त्या तु अघोररूप-शक्तिचक्रपरमार्थतयाशेषतुर्यातीतपदारोहितया स्वात्ममयीकुर्वन् मोचयति, इति भगवतो बहुरूपस्य पदार्थद्वारेण यावान् स्फारो व्याख्यात: सोऽस्य भगवत: सर्व एव अभेदेनैवान्त: स्थित:, इत्ययं भगवान् सदा पञ्चविधकृत्यकारी अशेषशक्ति-

---

इस वक्ष्यमाण रीति से नादभट्टारक शक्ति के रूप में गुण होकर और ऊपर नीचे सञ्चारी होने से चरण रूप में विभेदित = संयोजित है ।

(वह परतत्त्व) पराभेद भूमि से किञ्चित् चलित होते हैं अर्थात् अनुग्राह्यों के अनुग्रह के लिये उच्चार्य मन्त्र का रूप धारण कर कुछ उन्मुख होते हैं । समस्त विश्व के सामरस्य के वेदनस्वरूप बिन्दु से सम्यक् = अभिन्न होकर युक्त हैं । वक्ष्यमाण व्याप्ति वाली तथा बाल चन्द्र के समान नादशक्तियाँ जो कि रोधिनी नाद नादान्त व्यापिनी समना उन्मना एवं प्रमेय तत्त्वों को अपने गर्भ में रखती है, जिसमें विश्रान्ति लाभ करती है, वह परमेश्वर स्वच्छन्द निष्कल अनाहत ध्वनिपरमार्थमहामन्त्र वीर्य रूप भी शिररूप आकार की कला से षष्ठ = (ऊकार) और सकार जो कि घोर चक्र रूप है, के द्वारा ब्रह्मा विष्णु रुद्र, ब्रह्माण्ड प्रकृत्यण्ड और मायाण्ड, जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति, प्रमेय प्रमाण प्रमाता, सृष्टि स्थिति संहार का विलयमात्र भेदमय जगत् को दिखलाते हैं । व्याख्यास्यमानतत्त्व के रूप में तथा विन्दु आदि परिपाटी के द्वारा घोररूप से भेदाभेदमय ईश्वर सदाशिव अनाश्रित शिव आदि जो कि शाक्ताण्ड में रहने वाले चतुर्थ अवस्था में स्थित तथा क्रमश: सातिशय हैं तथा सृष्टि स्थिति संहार शक्ति से आक्रान्त हैं, को आभासित करते हैं । वे ही उन्मना शक्ति के द्वारा अघोर रूप शक्तिचक्र के परमार्थरूप से समस्त तुर्यातीत पद पर आरूढ़ हो कर सबको स्वात्ममय बनाते हुए मुक्त कराते हैं । इस प्रकार अनेक रूप वाले भगवान् का पदार्थों के द्वारा जो विस्तार बतलाया गया वह सब इसमें अमर रूप से स्थित है । इस प्रकार यह भगवान् सदा पाँच प्रकार के कृत्यों को

चक्रात्मकस्वातन्त्र्यशक्त्यवियुक्तः श्रीस्वच्छन्दो, निष्कलः इति निष्क्रान्ताः अशेषाः कलाः शक्तयो यस्मात् कलनारूपात् यश्च निष्क्रान्तोऽप्रमेय इत्यर्थः । अथ च अकारोकारमकारबिन्द्वादिकलायोगाच्चतुष्कलशब्दवाच्योऽपि वस्तुतो निष्कलानाहत-ध्वनिपरमार्थतवात् निष्कलः । यद्वक्ष्यति—

'सगुणः सकलो ज्ञेयो निर्गुणो निष्कलः शिवः' (६।१७)

इत्यलं मन्त्ररहस्यप्रकटनेन । सम्प्रदायस्तु मा परिच्छेदीति किञ्चिदुन्मीलितम् । स्मृत इति भगवता श्रीकण्ठेनेश्वरेण सदाशिवेनापि पारम्पर्येण स्वस्वरूपः परमेश्वरानुग्रहादेव उपलब्धः प्रणवः चतुष्कलः 'स्वच्छन्दभैरवाय नमः' इति च प्रयोगः ॥ ६९ ॥

पूर्वपदस्य च माहात्म्यं प्रकटयति—

अस्योच्चारणमात्रेण ये युक्ताः सर्वपातकैः ।
शुद्धस्फटिकसंकाशाः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ७० ॥

एतत्पूर्वव्याख्यानेनैव गतार्थम् ॥ ७० ॥

अस्यानाहतात्मकस्वस्वरूपस्फाराणि सर्वज्ञतादिरूपाण्यङ्गान्याह—

करते रहते हैं । समस्त शक्तिचक्रात्मक स्वातन्त्र्यशक्ति से अवियुक्त रहते हैं ऐसे श्री स्वच्छन्द भगवान् निष्कल हैं । ('निष्कल' शब्द का अर्थ है—) निकलती रहती हैं समस्त कलायें जिनसे या कलना रूप से जो निष्क्रान्त है अर्थात् अप्रमेय है वह निष्कल है । इस प्रकार अकार उकार मकार बिन्दु आदि कला के योग से 'चतुष्कल' शब्द का वाच्य होते हुए भी वह वस्तुतः निष्कल = अनाहत ध्वनिरूप परमार्थ वाला होने से निष्कल है । जैसा कि कहेंगे—

'शिव यदि सगुण हैं तो उन्हें सकल और यदि निर्गुण हैं तो उन्हें निष्कल समझना चाहिये ।' (६।१७)

मन्त्र के रहस्य का इतना प्रकाशन बहुत है । सम्प्रदाय उच्छिन्न न हो जाय इसलिये कुछ उद्घाटित कर दिया गया । स्मृतः—भगवान् श्रीकण्ठनाथ एवं सदाशिव ने परमेश्वर की कृपा से जिस अपने स्वरूप को प्राप्त किया वह प्रणव चार कलाओं वाला है । उसका प्रयोग 'ॐ स्वच्छन्दभैरवाय नमः' है ॥ ६९ ॥

पूर्वपद का माहात्म्य बतलाते हैं—

जो लोग समस्त पापों से युक्त (होने के कारण मलिन हैं वे) इसके उच्चारण मात्र से शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल हो कर परम पद को प्राप्त होते हैं ॥ ७० ॥

यह (= माहात्म्य) पूर्व व्याख्यान से स्पष्ट है ॥ ७० ॥

इसके अनाहतात्मक स्वस्वरूप के स्फार एवं सर्वज्ञतादिरूप अङ्गों को कहते हैं—

सान्तं दीर्घस्वरैः षड्भिर्भिन्नजातिविभेदितम् ।
हृच्छिरश्च शिखा वर्म लोचनास्त्रं प्रकल्पयेत् ॥ ७१ ॥

सान्तं हवर्णम्, दीर्घस्वराः षट् आ ई ऊ ऐ औ अः । एते च विसर्गमृते बिन्दुयुक्ता इत्यर्थात्, जातयः 'नमः स्वाहा' इत्यादिवक्ष्यमाणाः, षडेते क्रमेण हृदयादीनां मन्त्राः ॥ ७१ ॥

प्रयोगे इतिकर्तव्यतामाह—

ओंकारो दीपनस्तेषामन्ते जातिं प्रकल्पयेत् ।
नमः स्वाहा तथा वौषट् हुं वषट् फट् क्रमेण तु ॥ ७२ ॥

(अत्र-नमः स्वाहा वषट् चैव हुं वौषट् फट् क्रमेणतु इति पाठ साधीयान् मन्तव्यः)

तेन 'ॐ हाँ हृदयाय नमः' इत्यादिक्रमेणैषां प्रयोगः ॥ ७२ ॥

अस्य साङ्गस्य न्यासे फलमाह—

एष भैरवराजस्तु सर्वकामार्थसाधकः ।

अशेषभोगमोक्षद इत्यर्थः । एवं चाभिदधत् श्रीसकलभट्टारकपरमीकरण-

सान्त, छः दीर्घ स्वरों से भिन्न, जाति के द्वारा विभेदित हृदय, शिरः, शिखा वर्म और लोचन और अस्त्र (नेत्रत्रय और अस्त्राय फट्) की कल्पना करनी चाहिये ॥ ७१ ॥

सान्त = स का अन्त = हकार । दीर्घस्वर = आ ई ऊ ऐ औ अः । ये विसर्ग से रहित, बिन्दु से युक्त हैं जाति अर्थात् = वक्ष्यमाण नमः, स्वाहा इत्यादि । ये छ क्रमशः हृदय आदि के मन्त्र हैं ॥ ७१ ॥

प्रयोग के विषय में इतिकर्त्तव्यता को बतलाते हैं—

ॐकार उन (मन्त्रों) का दीपन है । (मन्त्र के) अन्त में जाति को जोड़ना चाहिये । नमः, स्वाहा, वौषट्, हुम्, वषट् और फट् इनको क्रम से (जोड़ना चाहिये) ॥ ७२ ॥

इससे 'ॐ हां हृदयाय नमः (ॐ हीं शिरसे स्वाहा, ॐ हूं शिखायै वषट्, ॐ हैं कवचाय हुम्, ॐ हौं नेत्रत्राय वौषट् तथा ॐ हः अस्त्राय फट्) इनका इस प्रकार प्रयोग बनता है ॥ ७२ ॥

अङ्गों के सहित इस (मन्त्र) का फल बतलाते हैं—

यह भैरवराज का मन्त्र है जो समस्त काम और अर्थ का साधक बतलाया गया है ॥ ७३- ॥

रूपस्यापि अस्य भाजनं जनं प्रति पृथगनुष्ठानत्वमपि भवति—इति सूचयति । अतश्च त्रयोदशे पटले भविष्यति, अत्र च वक्त्रमन्त्राः पूर्वोक्ता एव इति तेषां सकलभट्टारकतदङ्गवत्पदवाच्यत्वाभावात् बीजाक्षररूपत्वमेवास्ति, इति निष्कलभट्टारकतदङ्गवत् न पुनर्वक्त्रमन्त्रान्तरैर्निष्कलीकरणं कृतम् शाक्तस्फारत्वादस्य नयस्य ॥

भगवत्या मन्त्रमाह—

हरईम अकारश्च ङादिरोस्वरसंयुतः ॥ ७३ ॥
यान्त एकारसंयुक्तः षादिर्लान्तविभेदितः ।
लादिस्त्रिस्वरसम्भिन्नो हंसो बिन्दुसमायुतः ॥ ७४ ॥
षष्ठस्वरसमोपेतः फट्कारान्तविकल्पितः ।
अघोरेश्वरीति विख्याता स्वच्छन्दोत्सङ्गगामिनी ॥ ७५ ॥

हकाररेफावनच्कौ, अकारस्योच्चारणत्वात् तेन हश्च रश्च ईश्च मश्च तेन 'हरईमो' मिलिताः एकं बीजम्, अकारः अ, ङादिः ङकारस्यादिः घः, ओस्वरेण युक्तः घो, यान्तः रेफः, एकारेण युक्तः रे, षादिः शकार, लान्तेन वकारेण

अर्थात् यह समस्त भोगों और मोक्ष को देने वाला है । इस प्रकार कहते हुए ग्रन्थकार यह सूचित करते हैं कि सकलभट्टारक परमी करण (= अपने शरीर में परम भैरव का स्वरूपाधान) रूप इसके पात्र मनुष्य के प्रति पृथक् अनुष्ठानता होती है । इसलिये तेरहवें पटल में (इसका वर्णन) होगा । यहाँ वक्त्रमन्त्र पूर्वोक्त ही हैं । इसलिये सकलभट्टारक और उसके अङ्ग वाले पद का वाच्य न होने के कारण वे बीजाक्षररूप ही हैं । इस प्रकार निष्कलभट्टारक और उसके अङ्ग वाले पद का वाच्य न होने के कारण वे बीजाक्षररूप ही हैं । इस प्रकार निष्कलभट्टारक और उसके अङ्गों के समान (इनका) दूसरे वक्त्रमन्त्रों के द्वारा निष्कलीकरण नहीं किया गया क्योंकि यह शास्त्र शक्ति का स्फार है ॥

भगवती के मन्त्र को बतलाते हैं—

(स्वररहित) ह र ई म और अकार, ङ का आदि (= घ), ओस्वर से युक्त, यान्त (= र) एकार से युक्त, षादि (= श), लान्त (= व) से विभेदित, लादि (= र) त्रिस्वर (= तृतीयस्वर = इकार) से सम्भिन्न, हंस (= ह) बिन्दु से युक्त एवं षष्ठ स्वर (ऊकार) से युक्त और फट्कार अन्त वाला (मन्त्र) अघोरेश्वरी (मन्त्र है) । (यह अघोरेश्वरी) स्वच्छन्द की गोद में बैठने वाली है । (मन्त्र का स्वरूप होगा—ॐ ह्रीं अघोरेश्वरि हूम् फट्) ॥ -७३-७५ ॥

स्वर रहित हकार और रेफ, इनके साथ अकार का प्रयोग (उनके) उच्चारण के लिये होता है । इस प्रकार ह् र् ई म् मिलकर एक बीज मन्त्र (= ह्रीम्) बनता है । अकार ङादि घकार ओ स्वर से युक्त होकर 'घो' बनता है । यान्त = रेफ,

विभेदितः मिश्रितः श्व, लस्यादिः रेफः, त्रिस्वरेण इकारेण मिश्रितः रि, हंस इत्यादिना चतुष्कलस्वरूपं योजयन् सकलनिष्कलैक्यस्फारसारैषा देवीति प्रथयति । हंसः हकार अनच्, बिन्दुसमायुतः षष्ठस्वरेण ऊकारेण समोपेतः हूँ, फट्कारेण अन्ते विशेषेण कल्पितः नित्यमेव क्रूरजातियुक्तः, अत एव अशेषभेददाहात्मानुग्रहैकप्रवणः, अत एव व्याख्यातस्वरूपाघोराख्यशक्तिचक्रस्वामिनी विशेषेण ख्याता स्फुरत्तासारतया द्योतमाना, श्रीमतः स्वच्छन्दभैरवस्योत्सङ्गगामिनी नित्यावियुता उन्मनान्तकोर्ध्वसङ्गप्रसरसारा तत्प्रकाशप्रवणा च इत्यर्थः ॥ ७५ ॥

अथ च आकृतिमतो भगवतोऽङ्कगताया देव्या अङ्गवक्त्राणि योजयितुमाह—

भैरवाङ्गसमोपेता वक्त्रपञ्चकसंयुता ।

भैरवशब्देन समनन्तरप्रतिपादितो मुख्यो निष्कल एवात्र विवक्षितः, तेन निष्कलाङ्गान्येव तदविभेदसाराया देव्याः अङ्गानि । 'वक्त्रपञ्चकसंयुता' इति सामान्योक्त्या सकलनिष्कलमन्त्रैकरूपायाः श्रीदेव्याः पूर्वोक्तबीजकल्प्यानि सकलनिष्कलभट्टारकवदविभक्तान्येव वक्त्राणि ॥

अथ श्रीस्वच्छन्दभैरवरश्मिपुञ्जात्मनो भैरवाष्टकस्य मन्त्रानाह—

एकार से युक्त होकर 'रे', षादि = श्, लान्त = व के साथ मिश्रित होकर 'श्व' बनता है । ल का आदि = रेफ, त्रिश्वर = इकार से मिश्रित होकर 'रि', हंस इत्यादि के द्वारा चतुष्कल स्वरूप की योजना करते हुए परमेश्वर यह बतलाते हैं कि यह देवी सकल एवं निष्कल के ऐक्य की स्फार है । हंस = स्वररहित हकार बिन्दु से युक्त एवं षष्ठ स्वर ऊकार से युक्त होकर 'हूम्' बनता है अन्त में फट्कार से युक्त होकर नित्य क्रूरजाति (= फट्) से युक्त होता है इसीलिये यह समस्त भेद को जला कर आत्मानुग्रह में प्रवण होता है । अत एव व्याख्यातस्वरूप वाले अघोर चक्र की स्वामिनी तथा विख्याता = विशेष रूप से ख्याता = स्फुरत्तासार के रूप में द्योतमाना, यह भगवती श्रीमान् स्वच्छन्द भैरव की गोद में बैठी है अर्थात् नित्य अवियुक्त है तथा उन्मनापर्यन्त ऊर्ध्वसंग प्रसार वाली और उनके प्रकाश से प्रकाश वाली है ॥ ७५ ॥

अब आकृतिमान् भगवान् स्वच्छन्द भैरव के अंक में बैठी हुई देवी के अङ्गवक्त्रों की योजना बनाने के लिये कहते हैं—

भैरव के अंग से युक्त (देवी) पाँच वक्त्रों से युक्त है ॥ ७६- ॥

यहाँ भैरव शब्द से अभी पहले प्रतिपादित मुख्य निष्कल देव ही विवक्षित हैं । इसलिये उनसे अभिन्न देवी के भी अंग निष्कल ही हैं 'वक्त्रपञ्चकसंयुता' इस सामान्य कथन के द्वारा सकल निष्कल मन्त्र के सम्मिलितरूप वाली श्रीदेवी के वक्त्र भी पूर्वोक्त बीजों के द्वारा कल्प्य तथा सकलनिष्कलभट्टारक के समान अविभक्त ही है ॥

अब श्रीस्वच्छन्दभैरव के रश्मिपुञ्जरूप आठ भैरवों के मन्त्रों को बतलाते हैं—

हान्तो यादिर्यकारान्तो रादिः षष्ठकलान्वितः॥ ७६ ॥
बिन्दुनादसमायोगात् कपालेशः प्रकीर्तितः ।

हस्यान्तः क्षकारः अनच् क्ष्, यस्यादिः म्, यकारस्यान्तः र्, रस्यादिः य्, तेन 'क्ष्म्र्य्' इति क्रमेण मिश्रीकृत्य षष्ठकलया ऊकारेणान्वितः बिन्दुनादाभ्या-मर्धचन्द्रादेरपि स्वीकारात् विन्द्वर्धचन्द्रादिपरिपाट्याः सम्यगिति वक्ष्यमाणव्याख्या-नुसारम्, आ समन्तात् परतत्त्वैक्यापत्तिरूपात् योगात्, अयं कपालेश उक्तः, मन्त्राणां मन्त्रदेवतैकात्मत्वात्, एवमन्यत्र ॥

सान्तो बिन्दुरधो ह्यग्निः षष्ठयुक्तस्तु कीर्तितः ॥ ७७ ॥
शिखिवाहनसंज्ञस्तु ज्ञातव्योऽसौ वरानने ।

सान्तः ह्, तस्याधोऽग्निः र्, षष्ठः ऊकारः, बिन्दुनादाद्युपलक्षणपरः ॥७७॥

संहारः षष्ठसंयुक्तः षडन्तेन समन्वितः ॥ ७८ ॥
क्रोधराजः समाख्यातः.............

संहारः क्ष्, षष्ठेन स्वरेण ऊकारेण संयुक्तः, तथा षण्णां वर्गाणां अकचटतप-वर्गाणामन्तेन मकारेण अनुस्वारोच्चारणात्मना युक्तः, अर्थात् बिन्द्वादियुक्तोऽपि ॥

हान्त यादि एकारान्त षष्ठ कला से युक्त रादि (ये सब) बिन्दुनाद के संयोग से (मिश्रित होकर जब एक रूप होते हैं तब यह) कपालेश नामक भैरव का मन्त्रस्वरूप कहा गया है ॥ -७६-७७- ॥

हकार का अन्त क्षकार = स्वररहित क्ष् । य का आदि = म्कार, यकार का अन्त = र्, र का आदि, य् । इससे क्ष् म् र् य् इस क्रम से मिलाकर षष्ठ कला = ऊकार से जोड़ने पर 'क्ष्म्र्यूँ' बनता है । बिन्दु और नाद से अर्धचन्द्र भी समझना चाहिये । इस प्रकार बिन्दु अर्धचन्द्र आदि परिपाटी से सम् अर्थात् सम्यक् = वक्ष्यमाण क्रम के अनुसार, आसमायोग = आ = समन्तात् परतत्त्वैक्यापत्तिरूप योग से बनने वाला जो स्वरूप (क्ष्म्र्ूं) बनता है वह कपालेश (मन्त्र एवं कपालेश भैरव) कहा गया है क्योंकि मन्त्र एवं उस मन्त्र के देवता अभिन्न होते हैं । इसी प्रकार अन्यत्र भी (समझना चाहिये) ॥

सान्त बिन्दु उसके नीचे अग्नि यदि छठें स्वर से युक्त हो तो हे वरानने ! उसे शिखिवाहन नामवाला जानना चाहिये ॥ -७७-७८- ॥

सान्त = ह् उसके नीचे अग्नि = र्, छठाँ स्वर = ऊकार । (इस प्रकार 'ह्रूँ' रूप बनता है यह शिखिवाहन मन्त्र एवं शिखिवाहन भैरव दोनों का रूप है) ॥ ७७ ॥

संहार यदि षष्ठस्वर से युक्त हो और षडन्त से समन्वित हो तो वह क्रोधराज कहा गया है ॥ -७८-७९- ॥

संहार = क्ष । षष्ठस्वर = ऊकार से संयुक्त हो तथा षडन्त छठाँ वर्ग पवर्ग

.............तथान्यं कथयामि ते ।
आदिः षष्ठस्वरोपेतस्त्रिपदेन समायुतः ॥ ७९ ॥
बिन्दुमस्तकसम्भिन्नो विकरालो वरानने ।

आदिः झ्, त्रिपदेन इच्छाज्ञानक्रियाव्याप्तिसारेण, अन्यत्र त्रिशूलशब्दाभिहितेन औकारेण समायुक्तः, षष्ठेन च उकारेणोपेतः, औकारानुसरणन्यायेनोच्चारता-युक्तः ॥ ७९ ॥

सान्तः शाद्येन संयुक्तः षष्ठस्वरयुतोऽप्यधः ॥ ८० ॥
चतुर्दशस्वराक्रान्तो बिन्दुनादान्तभूषितः ।
मन्मथः कथितो ह्येष सुरसिद्धनमस्कृतः ॥ ८१ ॥
येनेदन्तु जितं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।

सान्तः ह्, शकारस्य तालव्यस्य आद्यः व्, षष्ठः ऊ, चतुर्दशस्वरः औ, एतदक्षरसंघातात्मायं मन्त्रो विन्द्वादियुक्तः ॥ ८१ ॥

हररादिसमायुक्तः ऊकाराधः सबिन्दुकः ॥ ८२ ॥
मेघनादेश्वरो ह्येष भैरवः सम्प्रकीर्तितः ।

उसका अन्त म्कार । (इस प्रकार जो रूप बनता है वह है—क्ष्मूँ) ॥

हे वरानने ! अब दूसरा (भैरव रूप) तुमसे बतलाता हूँ । आदि यदि षष्ठस्वर से युक्त हो तथा त्रिपद से सम्बद्ध हो तो बिन्दु मस्तक (= अर्धचन्द्र) से सम्भिन्न वह विकराल (कहा जाता है) ॥ -७९-८०- ॥

आदि = झ, त्रिपद = इच्छा ज्ञान क्रिया व्याप्तिवाला । अन्यत्र त्रिशूल शब्द से कहे जाने वाले 'औ' कार से समायुक्त हो एवं षष्ठ स्वर ऊकार से संयुक्त हो । उसका उच्चारण औ जैसा होगा (तो वह विकराल होता है । उसका स्वरूप होगा—झ्रौं) ॥ ७९ ॥

सान्तः यदि शाद्य से संयुक्त हो, नीचे षष्ठ स्वर लगा हुआ हो, चौदहवें स्वर से आक्रान्त हो, बिन्दु और नादान्त से अलङ्कृत हो तो इसे मन्मथ (भैरव) कहा गया है । यह स्वरूप देवताओं और सिद्धों से नमस्कृत तथा समस्त स्थावर जंगम को जीतने वाला है ॥ -८०-८२- ॥

सान्त = ह्; शकार का आद्य = व्; षष्ठस्वर = ऊ; चतुर्दश स्वर = औ; इन अक्षरों का समूह जो कि बिन्दु आदि से युक्त हो (मन्मथ कहा जाता है । उसका स्वरूप होगा—ह्व्रौं) ॥ ८१ ॥

ह् र् तथा रादि से युक्त नीचे ऊकार लगा हो और (ऊपर) बिन्दु हो तो यह मेघनादेश्वर भैरव कहा गया है ॥ -८२-८३- ॥

अकारस्य उच्चारणार्थत्वात्' ह्-र्, रस्यादिना अनच्केन यकारेण युक्तः सबिन्दुकः ॥ ८२ ॥

क्षसान्तर्बिन्दुसंयुक्तः पञ्चमेन विभेदितः ॥ ८३ ॥
सोमेश्वरः समाख्यातो जन्ममृत्युविनाशनः ।

क्षसयोः क्षकारसकारयोः, अन्तर्मध्ये 'ह्' पञ्चमेन उकारेण विभेदित उच्चार्यमन्त्ररूपतामापादितः ।

क्षादिर्यान्तसमोपेतो हान्तेनाधोनियोजितः ॥ ८४ ॥
भान्तो वादिर्लकारान्तो राद्योऽधोरुद्रयोजितः ।
बिन्द्वर्धेन्दुसमायुक्तो नादशक्तिसमन्वितः ॥ ८५ ॥
विद्याराजः समाख्यातो महापातकनाशनः ।

क्षादिः ह्, यस्यान्तः र्, हस्यान्तः क्ष्, भस्यान्तः म्, वस्यादिः ल्, लकारस्यान्तः व्, रस्यादिभूतं बीजं य्, अधो रुद्रः ऊकारः, एवमूकारान्ता अष्टौवर्णाः, गृहीतनादादिव्याप्तिको विन्दुर्नवम इत्ययं नवात्मा, महापातकनाशन इति पूर्ववत् । एते च नवमे पटले वक्ष्यमाणतत्तत्सिद्धिसाधकत्वादेवमभिधाना उक्ताः ॥ ८५ ॥

ह आदि मे अकार का योजन उच्चारण के लिये किया जाता है । इस प्रकार ह् र्, र का आदि = स्वररहित यकार से युक्त और सविन्दुक (का रूप बनेगा—हर्यूं) ॥ ८२ ॥

क्षकार और सकार के बीच वाला, बिन्दु से युक्त और पञ्चम से विभेदित भैरव स्वरूप ही सोमेश्वर कहा गया है । यह जन्ममृत्यु का नाशक है ॥ -८३-८४- ॥

क्ष और स के बीच वाला = ह; पञ्चमस्वर = ऊकार से विभेदित = उच्चार्यमन्त्र के रूप को प्राप्त । (इस प्रकार इस मन्त्र का रूप बनेगा—हुम्) ।

क्षादि, यान्त से युक्त, नीचे हान्त से नियोजित, भान्त, वादि, लकारान्त, राद्य एवं नीचे रुद्र से संयुक्त, बिन्दु अर्धचन्द्र से समायुक्त नादशक्ति से समन्वित (भैरव मन्त्र) विद्याराज कहा गया है । यह महा पाप का नाश करने वाला है ॥ -८४-८६- ॥

क्षादि = ह्, य् का अन्त = र्, ह का अन्त = क्ष्, भ का अन्त = म्, व का आदि = ल्, लकार का अन्त = व्, र का आदिभूत बीज = य्, अधोरुद्र = ऊकार । इस प्रकार ऊकार तक आठ वर्ण हैं । नाद आदि की व्याप्ति को धारण करने वाला बिन्दु नवम वर्ण है । इस प्रकार नव वर्णों वाला (यह भैरव मन्त्र) महापाप का नाशक है । (मन्त्र का स्वरूप बनेगा—हर्क्ष्म्ल्व्र्यूँ) । ये सब आगे नवम पटल में तत्तत्सिद्धि के साधक के रूप में कहे जायेंगे ॥ ८५ ॥

एवं च

भैरवाष्टकमेतद्धि परिवारः प्रकीर्तितः ॥ ८६ ॥

संसार्यनुग्रहाय गृहीताकारस्य परभैरवस्य रश्मिपुञ्जस्थानीयमेतद्भैरवाष्टकं द्वितीयपटले प्रदर्शयिष्यमाणध्यानस्वरूपम् ॥ ८६ ॥

जगदधिष्ठातॄणां लोकपालानां भगवच्छक्तिरूपकपालेशाद्यधिष्ठितानां तद्व्याप्त्यैव लोकोत्तरया पूज्यानां मन्त्रान् वक्तुमाह—

लौकपालांस्तथोद्धृत्य स्वनामप्रणवादिकान् ।
नमस्कारावमानांश्च सास्त्रान्संपरिकल्पयेत् ॥ ८७ ॥

स्वनाम्ना प्रणव आदिर्येषामिति विग्रहः । सास्त्रानित्यनेन अस्त्राणि न पृथगावरणतया कल्पयेत्, अपि तु 'ॐ इन्द्राय वज्रहस्ताय नमः' इत्यादि क्रमेण अग्नियमनिर्ऋतिवरुणवायुकुबेरेशानान् शक्तिदण्डखड्गपाशध्वजगदात्रिशूलहस्तांश्चतुर्थ्यन्तान् प्रणवादिनमस्कारान्तान् एकावरणतया कल्पयेत्, इति शिक्षयति ।

'भैरवाष्टकरूपेण ध्यातव्या' (२।१२५)

इस प्रकार—

यह आठ भैरवों का परिवार कहा गया ॥ -८६ ॥

ये आठ भैरव संसारी लोगों के अनुग्रह के लिये आकार धारण करने वाले पर भैरव के रश्मिपुञ्ज स्थानीय है । इनके ध्यान का स्वरूप द्वितीय पटल में दिखाया जायेगा ॥ ८६ ॥

जगत् के अधिष्ठाता लोकपाल जो कि भगवान् शिव के शक्तिस्वरूप कपालेश आदि के द्वारा अधिष्ठित हैं, उनकी व्याप्ति के द्वारा ही लोकोत्तर के रूप में पूज्य हैं, उनके मन्त्रों को कहते हैं—

प्रणव के साथ लोकपालों का नाम उच्चारण कर नमस्कार के अपमानों को अस्त्रों के साथ समझना चाहिये ॥ ८७ ॥

अपने नाम के साथ प्रणव आदि में है जिनके, यह ('स्वनामप्रणवादिकान्' पद का) विग्रह है । सास्त्रान् कहने का तात्पर्य यह है कि अस्त्रों की पृथक् आवरण के रूप में कल्पना नहीं करनी चाहिये । बल्कि ॐ इन्द्राय वज्रहस्ताय नमः' इत्यादि के क्रम से अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर और ईशान की शक्ति, दण्ड, खड्ग, पाश, ध्वजा, गदा, त्रिशूल हाथों में लिये हुये चतुर्थ्यन्त, प्रणव आदि में और नमस्कार अन्त में एक आवरण के रूप में कल्पना करनी चाहिये । (इस प्रकार मन्त्रों का रूप बनेगा—ॐ अग्नये शक्तिहस्ताय नमः, ॐ यमाय दण्डहस्ताय नमः इत्यादि) ।

'उनका भैरवाष्टक के रूप में ध्यान करना चाहिये ।' (२।१२५)

इति वक्ष्यमाणत्वादिह लोकपालाष्टकमेव, न त्वन्यत्रेव तद्दशकम् । अस्मिन् मन्त्रपटले श्मशानाधिपमन्त्रा भाविनोऽपि नोद्धृताः तेषां यद्येकविषयत्वात् 'उद्धृत्य परिकल्पयेत्' इति वाचोयुक्त्या समनन्तरपटलभाविनो न्यासपूजाविधेः प्रकारमुपक्षिपन् पाटलिकीं संगतिं दर्शयति भगवान् ॥ ८७ ॥

'अध्वानं सकलं निमज्ज्य सुसितां चिन्मूर्तिमुन्मज्ज्य तां
कृत्वा भैरवरूपिणीं तदखिलं रूपं त्रितत्त्वात्मकम् ।
शक्तित्रैधमयं विलाप्य परमे स्वच्छन्दधाम्नि स्फुर-
त्तच्छक्तिप्रथितं तदात्म निखिलं लोकेश्वरान्तं नुमः ॥'

'गतानुगतिकप्रोक्तव्याख्याभेदतमोऽपनुत् ।
पराभेदरसोल्लासी स्वच्छन्दोद्द्योत उत्थितः ॥'

॥ इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्यव्याख्योपेते मन्त्रोद्धारप्रकाशनं नाम प्रथमः पटलः ॥ १ ॥

इस प्रकार आगे कथन करने के कारण इस सम्प्रदाय में लोकपाल आठ ही माने गये हैं न कि अन्यत्र की भाँति दश । इस मन्त्र पटल (= समूह) में भावी भी श्मशानाधिप के मन्त्र उद्धृत नहीं किये गये । क्योंकि वे एकविषयक (= स्वतन्त्र विषयक) हैं । 'उद्धार करके कल्पना करनी चाहिये' इस वाचोयुक्ति (= वाणी की भङ्गिमा) के अनुसार आगे वाले पटल में वर्णन की जानी वाली विधि के प्रकार का उपक्षेप करते हुए पटल की संगति को भगवान् दिखलाते हैं ॥ ८७ ॥

समस्त अध्वाओं को विलीन कर, स्वच्छचिन्मूर्ति का उन्मज्जन कर, उसे भैरवरूपिणी बना कर, उसे तीन तत्त्वों के रूप में स्फुरित कर पुनः उस तीन शक्ति के समूह को परम स्वच्छन्द धाम मे विलीन करा कर जो स्फुरत् शक्ति के रूप में प्रथित है तथा समस्त विश्व उसी रूप वाला है—ऐसे लोकेश्वरान्त को हम प्रणाम करते हैं ॥

गतानुगतिक परम्परा से कही गयी व्याख्या के भेद रूपी अन्धकार को दूर करने वाला, परतत्त्व के साथ अभेद रस को उल्लासित करने वाला यह स्वच्छन्दोद्योत उत्थित = परिपूर्ण हुआ ॥

॥ इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र के प्रथम पटल 'मन्त्रोद्धारप्रकाशन' की श्रीक्षेमराजविरचित स्वच्छन्दोद्योत नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ १ ॥

द्वितीयः पटलः

*** स्वच्छन्दोद्योतः ***

विगलति भवदौर्गत्यं मोक्षश्रीः श्रयति हृत्कजं कचति ।
प्रसरति परमानन्दो यत्र तदीशार्चनं जयति ॥

प्रश्नोद्देशक्रमेण प्राप्तावसरं कालस्वरूपं काम्यवन्नित्यविधौ प्रायेण अनुपयोगात् बहुवक्तव्यत्वाच्च अनभिधाय, यत्रैषां मन्त्राणां साधकतमत्वं येन च मन्त्राः फलदा भवन्ति, तमर्थसङ्गत्या प्राप्तप्रतिपादनावकाशमर्चाजपहोमादिविधिं प्रकाशयितुं द्वितीयपटलारम्भः । तत्र 'नित्यपूर्वं नैमित्तिकम्' इति नित्यमेव तावद्विधिं प्रदर्शयितुं श्रीभैरव उवाच—

अथार्चनं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।

*** ज्ञानवती ***

जहाँ संसार की दुर्गति नष्ट हो जाती है, मोक्ष को प्राप्त करने की बुद्धि उत्पन्न होती है, हृदय कमल खिल उठता है तथा परम आनन्द का विस्तार होता है वह परमेश्वर का पूजन सर्वोत्कृष्ट है ।

प्रश्न के उद्देश के क्रम से यद्यपि काल-स्वरूप का निर्वचन क्रम प्राप्त है तथापि जैसे नित्य विधि के विषय में काम्य विधि का प्रायः कोई उपयोग नहीं होता उसी प्रकार कालस्वरूप का सम्प्रति कोई उपयोग नहीं है और उसके विषय में बहुत कुछ कहने के लिये है, इसलिये उसका कथन न कर जिस विषय में ये मन्त्र अत्यन्त साधक होते हैं और जिसके कारण मन्त्र फलप्रदान करते हैं, अर्थ की सङ्गति के अनुसार जिसके प्रतिपादन का अवसर प्राप्त है उस अर्चा जप होम आदि की विधि को प्रकाशित करने के लिये दूसरे पटल का आरम्भ किया जाता है । उसमें भी 'नैमित्तिक विधि के पहले नित्य विधि होती है । इस सिद्धान्त के अनुसार नित्य विधि को दर्शाने के लिये श्री भैरव ने कहा—

अब मैं यथाविधि और आनुपूर्वी के अनुसार ही अर्चन का वर्णन करूँगा ॥ १- ॥

अथेति मन्त्रप्रकाशानन्तरं, स्नानन्यासावाहनादेर्जपहोमादेश्च अर्चनाङ्गभूतत्वा-दङ्गिभूतमर्चनमेव, प्रकर्षेण इति वैतत्येन, वक्ष्यामि । यथावदिति गर्भीकृतव्याप्ति-सतत्त्वतया, अनुपूर्वश इति स्नानशौचादिक्रमेण । यत इयमर्चनक्रिया पाकक्रिया-वत् अनेकावयवक्रियारम्भपूर्तिः, अतः स्नानाद्यवयवक्रियाभिधातपुरःसरं तत्प्रति-पादनम्, न च अकृतशुद्धेः स्नानाधिकार इति शौचपुरःसरमेव स्नानं दर्शयति—

शौचं कृत्वा ततः स्नानं कर्तव्यं तु मृदम्भसा॥ १ ॥
शुचिस्थानान्मृदं पूर्वं गृहीत्वास्त्रेण शोधिताम् ।
प्रक्षाल्य जलतीरं तु स्थापयेत्तां वरानने ॥ २ ॥

अस्त्रेणेति 'स्थूले कर्मणि निष्कलस्य अनधिकरात्' सकलेन तृणकेश-पर्णकाष्ठादि, अस्त्रमन्त्रेण चोद्धरेत् ॥ २ ॥

भागद्वयं ततोऽस्त्रेण कर्तव्यं तु कृशोदरि ।

तत इति = शोधितायाः मृदः ॥

भागार्धेन कटिं चोरू जङ्घे पादौ तथैव च ॥ ३ ॥
क्षालयेत यथान्यायं त्रिरन्तरितयोगतः ।

अब = मन्त्र के स्वरूप प्रकाशन के बाद । स्नान न्यास आवाहन जप होम आदि अर्चन के अङ्गभूत है अतः अङ्गीभूत अर्चन को ही, प्रकर्ष के = विस्तार के साथ कहूँगा । यथावत् = व्याप्ति तत्त्व के अन्दर रखते हुये । अनुपूर्वशः—शौच आदि के क्रम से, चूँकि यह अर्चन-क्रिया पाक-क्रिया की भाँति अनेक अवयवक्रिया (= अङ्ग कार्य) के आरम्भ की पूर्तिस्वरूप है, इसलिये स्नान आदि अवयव क्रियाओं के कथन के बाद उसका प्रतिपादन होगा । जिसने शुद्धि नहीं की उसका स्नान में अधिकार नहीं होता इसलिये शौच के बाद ही स्नान को बतलाते हैं—

शौच करने के बाद मिट्टी और जल से (अथवा मिट्टी युक्त जल से) स्नान करना चाहिये । पहले पवित्र स्थान से मिट्टी को लेकर अस्त्र से शुद्ध करना चाहिये । फिर जलाशय के तीर को धुलकर वहाँ उस मिट्टी को रखना चाहिये ॥ -१-२ ॥

अस्त्र के द्वारा—'स्थूल कर्म में निष्कल का अधिकार नहीं है' इसलिये सकल = तृण केश पर्ण काष्ठ आदि को अस्त्र मन्त्र से शुद्ध करना चाहिये ॥ २ ॥

हे कृशोदरि ! इसके बाद अस्त्र मन्त्र के द्वारा (उस मिट्टी का) दो भाग करे ॥ ३- ॥

ततः = शोधित मिट्टी का ॥

एक भाग के आधे (१/४) भाग के द्वारा कटि दोनों उरु, दोनों जङ्घाओं, दोनों पैरों को, नियम के अनुसार तीन के अन्तर से धोये ॥ -३-४- ॥

भागार्धेनेति—एकभागस्य संबन्धिना अर्धेन श्रीपूर्वाद्युक्तनीत्या संहारक्रमेण आदौ पादौ प्रक्षाल्य जङ्घोरुकटि क्षालयेत् इति यथान्यायशब्दार्थः, त्रीन् वारांस्त्रिः मध्ये भवता हस्तक्षालनेन अन्तरितो यो योगः क्षालनसंबन्धस्ततः पादौ प्रक्षाल्य हस्तौ क्षालयेत् ततो जङ्घे ततो हस्तौ तत ऊरू ततो हस्तौ ततः कटिं ततोऽपि हस्तौ इति मध्ये त्रिरेव हस्तक्षालनम् इति 'त्रिरन्तरितयोगतः' शब्दस्यार्थः, उक्तं च श्रीमृत्युजिति—

'पादौ जङ्घे करौ चोरू मृत्स्नाभिस्तिसृभिः क्रमात् ।
त्रिरन्तरितयोगेन सप्तभिः शोधयेत् पुनः ॥'

इति । पुनः पश्चात् सप्तभिर्हस्तौ क्षालयेदित्यर्थः । न तु तिसृभिर्हस्ताविति व्याख्येयम्, द्रव्याभ्यावृत्तौ सुजभावात् । यत्तु तिसृभिर्मात्राभिमृद्भागैरन्तरितो यतो योग इति केनचित्पठित्वा व्याख्यातम्, तदत्यन्तासमन्वितत्वादुपेक्ष्यम् ॥ ३ ॥

अवशिष्टं तु भागार्धं गृहीत्वास्त्राभिमन्त्रितम्॥ ४ ॥
सप्तवारान्वरारोहे अर्कदीप्तं तु कारयेत् ।

अवशिष्टमिति एकस्माद्भागात् । अर्कदीप्तमिति कराभ्यां मृदित्वा । सूर्यस्पृष्टं तददर्शने प्राणस्पृष्टं वा कृत्वा ॥ ४ ॥

भागार्ध के द्वारा = एक भाग से सम्बद्ध (उसके) आधे से, श्रीपूर्वशास्त्र आदि में कथित नियम के अनुसार संहार क्रम से पहले दोनों पैरों को धुलकर फिर जङ्घा ऊरु और कटि को धोये—यह 'यथान्याय' शब्द का अर्थ है । तीन बार-मध्य में होने वाले तीन बार हस्तक्षालन के द्वारा अन्तरित जो, योग = क्षालन का सम्बन्ध, उसके बाद । तात्पर्य यह है कि पैर को धो कर हाथ को धोये, फिर दोनों जङ्घाओं को फिर हाथों को, फिर दोनो ऊरु को फिर दोनों हाथों को, फिर कटि को फिर दोनों हाथों को । इस प्रकार बीच में हाथ का तीन बार क्षालन होता है—यह 'त्रिस्तरितयोगः' शब्द का अर्थ है । मृत्युञ्जय ग्रन्थ में कहा गया है—

'दोनों पैर, दोनों जङ्घा, दोनों हाथ, दोनों ऊरु को तीन मिट्टियों से त्रिरन्तरित योग से सात बार (क्षालन) के द्वारा शुद्ध करना चाहिये ॥'

पुनः = बाद में, सात बार हाथों को धुलना चाहिये—यह अर्थ है न कि तीन बार—ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये । क्योंकि द्रव्य की अभ्यावृत्ति अर्थ में सुच् होता है । (यहाँ त्रि शब्द से सुच् प्रत्यय जुड़ा है) जो कि तीन भाग मिट्टी से अन्तरित जो योग-ऐसा किसी ने पढ़ कर व्याख्यान किया वह अत्यन्त असमन्वित होने के कारण उपेक्षणीय है ॥ ३ ॥

हे वरारोहे ! अवशिष्ट चौथाई भाग को लेकर उसे अस्त्र मन्त्र से अभिमन्त्रित कर सात बार अर्कदीप्त करे ॥ -४-५- ॥

अवशिष्ट—एक भाग से । अर्कदीप्त = हाथों से मल कर सूर्य को स्पर्श

तेनैव—

शिरःप्रभृति पादान्तमागुण्ठ्य स्नानमाचरेत् ॥ ५ ॥

शुद्धतत्त्वसृष्टिव्याप्त्यैतत् । तदागुण्ठ्येति लिप्त्वा ॥ ५ ॥

उत्तीर्योदकमध्यात्तु उपस्पृश्य यथाक्रमम् ।
संध्याया वन्दनं कुर्याच्छास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥ ६ ॥

उपस्पर्शनमाचमनम्, तत्र चान्तः सूक्ष्मदेहशुद्ध्यर्थं प्रणवेन त्रिरपां पानम्, द्विःसृक्विमार्जनम्, चक्षुरादिद्वारस्पर्शनं चेति यथाक्रमशब्दार्थः, शास्त्रदृष्टेन वेदादिसिद्धेन ॥ ६ ॥

मलस्नानं भवेदेवं विधिस्नानं प्रचक्ष्महे ।
भागार्धं यत्स्थितं पूर्वं ततो भागत्रयं कुरु ॥ ७ ॥
वामहस्तस्य पूर्वे च दक्षिणे चोत्तरे क्रमात् ।

मलस्नानं चित्तदेहाशुद्धिः । भागार्धमिति, एकस्य भागस्य समस्तस्य उपयुक्त्वाद् द्वितीयभागः सकलः मृदपेक्षया त्वर्धम् ॥ ७ ॥

कराये । उस (= सूर्य) के दिखलाई न पड़ने पर प्राण से स्पर्श कराये ॥ ४ ॥

उसी से—

शिर से लेकर पैर तक लेप कर स्नान करे ॥ -५ ॥

यह शुद्ध तत्त्व की सृष्टि की व्याप्ति के अनुसार है । उससे आगुण्ठित कर = उससे लेप कर ॥ ५ ॥

(साधक) पानी के बीच से निकल कर आचमन कर क्रम से शास्त्रोक्त कर्म के अनुसार सन्ध्या का वन्दन करे ॥ ६ ॥

उपस्पर्शन = आचमन । यह आचमन (स्थूल शरीर के) भीतर वर्त्तमान सूक्ष्म-देह की शुद्धि के लिये प्रणव के उच्चारण के साथ तीन बार जल का पान होता है । दो बार सृक्किणी (= मुख) को पोंछना, फिर चक्षुरादि छिद्रों का स्पर्शन—यह यथाक्रम शब्द का अर्थ है । शास्त्रदृष्ट = वेद आदि के द्वारा सिद्ध ॥ ६ ॥

इस प्रकार मलस्नान होता है । अब विधिस्नान को कह रहे हैं । (मिट्टी का) जो आधा भाग पहले बचाकर रखा गया था उसका तीन भाग करे । (यह भाग) बायें हाथ के पूर्व दक्षिण और उत्तर में क्रम से करना चाहिये ॥ -७-८ ॥

मल स्नान = चित्त एवं देह की शुद्धि । भागार्ध = सम्पूर्ण एक भाग के उपयोग मे आ जाने के कारण दूसरा भाग = टुकड़ा अर्थात् सम्पूर्ण मिट्टी का आधा ॥ ७ ॥

पूर्वभागं ततोऽस्त्रेण सप्तवारांस्तु मन्त्रयेत् ॥ ८ ॥
दक्षिणस्थं तथा वक्त्रैरभिमन्त्र्य वरानने ।
उत्तरं चाभिमन्त्र्यैवं देवेनाङ्गयुतेन च ॥ ९ ॥
पूर्वभागं गृहीत्वा तु दशदिक्षु विनिक्षिपेत् ।
उत्तरेण तु भागेन जलं चैवाभिमन्त्रयेत् ॥ १० ॥
बाहुमात्रप्रमाणेन भैरवेशमनुस्मरन् ।
आत्मानं गुण्ठयित्वा तु दक्षभागेन सुव्रते ॥ ११ ॥
स्नायाद्राजोपचारेण सुगन्धामलकादिभिः ।

अत्रैव भैरवभट्टारको यथादर्शनं सकलो निष्कलो वा, एवमेव अङ्गाद्यपि ज्ञेयम् । बाहुमात्रप्रमाणेनेतिस्वाभिमुखं शिवतीर्थं हस्तमात्रं प्रकल्पयेदित्यर्थः । राजा-पचारेणेतिगृहस्थानां सति संभवे सुगन्धामलकाद्यभ्यङ्गस्नानं विहितमेव, न तु नैष्ठिकवन्निषिद्धमित्यर्थः ॥ ११ ॥

प्राणायामाभिषेकौ तु कर्तव्यौ भैरवेण च ॥ १२ ॥

प्राणायामं कुम्भकवृत्त्याऽवस्थानम्, अभिषेकः उन्मज्जनादनन्तरं कलशमुद्रया शिरसि जलपातः ॥ १२ ॥

उन (तीन भागों) में से पूर्व भाग को अस्त्र मन्त्र से तीन बार अभिमन्त्रित करे । हे वरानने ! दक्षिण भाग को वक्त्र मन्त्रों से अभिमन्त्रित कर उत्तर भाग को अङ्ग मन्त्रों से युक्त देव (= स्वच्छन्द बहुरूप) के द्वारा अभिमन्त्रित करे । तत्पश्चात् पूर्व भाग को लेकर दशो दिशाओं में क्षेपण करे । उत्तर भाग से जल का अभिषेक करे । उसके बाद बाहुमात्र प्रमाण से भैरवेश का स्मरण करते हुये दक्षिण भाग वाली मिट्टी से अपने शरीर का लेप करे । फिर राजोपचार से सुगन्ध युक्त आमलक आदि से स्नान करे ॥ -८-१२- ॥

यहीं पर भैरवभट्टारक दर्शन (उपास्य सकल या निष्कल रूप) के अनुसार सकल अथवा निष्कल होते हैं । इसी प्रकार अङ्ग आदि को भी जानना चाहिये । बाहुमात्र प्रमाण से—अपने सामने एक हाथ के परिमाण वाले शिवतीर्थ की कल्पना करनी चाहिये । राजोपचार से—यदि सम्भव हो तो गृहस्थों के लिये भी सुगन्धित आमलक आदि के द्वारा अभ्यङ्ग स्नान का विधान है ही । यह (उपचार गृहस्थों के लिये) नैष्ठिक (= ब्रह्मचारी) के समान निषिद्ध नहीं है ॥ ११ ॥

इस भैरव (मन्त्र) के द्वारा प्राणायाम और अभिषेक करने चाहिये ॥ -१२॥

प्राणायाम = कुम्भक वृत्ति से रहना । अभिषेक = उन्मज्जन के बाद कलशमुद्रा से शिर पर जल गिराना ॥ १२ ॥

उत्तीर्योदकमध्यात्तु तद्वासः परिवर्तयेत् ।
उपस्पृश्य कृतन्यासो मूलमन्त्रमनुस्मरन् ॥ १३ ॥
तीर्थं सङ्गृह्य देवेशि आत्मनोऽग्रे निधापयेत् ।

न्यासकरणं संक्षेपेण मन्त्रैकादशिकया, तीर्थं सङ्गृह्यतिअङ्कुशमुद्रया आकृष्य ॥ १३ ॥

तत्रस्थो वन्दयेत् संध्यां मार्जनादिरनुक्रमात् ॥ १४ ॥
अघमर्षः प्रकर्तव्य उपस्थानं दिवाकरे ।
जपं कृत्वा निवेद्यैवं प्रणम्य च वरानने ॥ १५ ॥
मन्त्राणां तर्पणं कृत्वा देवानामृषिभिः सह ।
सर्वेषां भूतसंघानां ततस्तीर्थं तु संहरेत् ॥ १६ ॥
मूलमन्त्रमनुस्मृत्य................

हृत्तालुद्वादशान्तविश्रान्तिपरया मूलमन्त्रपरामर्शात् संध्यावन्दनमिदं परमेश्वर-मन्त्रक्रमेण, पूर्वं तु वैदिकैर्मन्त्रैः तच्चापि अनिवृत्तप्राग्जातिवासनैः कार्यम्, इतरैस्तु विधिस्नानानन्तरमेव शैवैर्मन्त्रैः, यथोक्तम्—

'ब्राह्मीं कुर्यान्न वा कर्याच्छैवीमेव नियोगतः ।' इति ।

पानी में से निकल कर उस वस्त्र को बदल देना चाहिये । फिर आचमन कर मूल मन्त्र का स्मरण करते हुये न्यास करना चाहिये । हे देवेशि ! फिर तीर्थ का सङ्ग्रह कर उसे अपने आगे रखना चाहिये ॥ १३-१४- ॥

न्यास का अनुष्ठान—संक्षेप में ग्यारह मन्त्रों के द्वारा । तीर्थसङ्ग्रह—अङ्कुशमुद्रा के द्वारा खींच कर ॥ १३ ॥

वहीं पर स्थित होकर सन्ध्या का वन्दन करे । फिर क्रम से मार्जन करे । अघमर्षण और सूर्योपस्थान करे । पुनः मन्त्रों का जप कर उसे देव को निवेदित कर प्रणाम करे । तत्पश्चात् देव ऋषि एवं पितृ तर्पण करे । फिर समस्त भूतसंघों का तर्पण करने के बाद मूलमन्त्र का स्मरण करते हुए तीर्थ का संहार करे ॥ -१४-१७- ॥

हृदय तालु द्वादशान्त में विश्रान्ति करने के साथ मूल मन्त्र के परामर्श से यह सन्ध्यावन्दन परमेश्वर के मन्त्र के क्रम से होता है । इसके पहले वाला (सन्ध्यावन्दन) वैदिकमन्त्रों से, वह उन लोगों के द्वारा किया जाना चाहिये जिनकी पूर्व जन्म की वासना निवृत्त नहीं हुयी है । अन्य (= जिनकी पूर्वजन्मवासना निवृत्त हो चुकी है) के द्वारा विधिस्नान के बाद शैव मन्त्रों से । जैसा कि कहा गया—

'(साधक) ब्राह्मी (सन्ध्या) करे या न करे किन्तु नियोग के कारण शैवी

एवं भस्मस्नानेऽपि द्विः संध्यावन्दनं योज्यम्, वामकरविप्रुषां दक्षकर-शाखाभिरस्त्रेणाधःक्षेपः, वक्त्राङ्गमन्त्रैस्तु उपरि, इति मार्जनम्, आदिशब्दान्मन्त्र-संहिताजप्तदक्षकरवारिणः शिरसि क्षेपः तच्चैतदनुक्रमात्, अनुक्रमश्च अघमर्षणा-दनन्तरं मार्जनादि, तत उपस्थानमिति, ईदृशस्तत्रागमो दक्षिणपाणिस्थं जलं सितरूपं प्रणवतेजसोद्दीपितं दक्षनासापुटेनैव अन्तरनुप्रविष्टं वाङ्मनः कायम-लक्षालनात् कृष्णरूपं वामनासापुटात् बहिर्निःसृतं ध्यात्वाधः क्षिपेत्, इति, ईदृशमुपस्थानमिति परमेश्वरशक्त्यात्मसूर्यसंमुखं मन्त्रसंहितया अञ्जलिक्षेपः, ततो यथाशक्ति जपं कृत्वा हृत्स्थाय श्रीभगवते पूरकेण निवेद्य शरीरादिप्रह्वीभावोन्मग्न-परस्वरूपानुप्रवेशरूपं प्रणामम्, स्वकल्पमन्त्राणां जलेन तर्पणं कृत्वा 'देवेभ्यो नमः' इत्यादिक्रमेण देवर्षिभूतसंघानां तर्पणं कृत्वा, मूलमन्त्रमनुस्मृत्य, संहारमुद्रया शिवतीर्थं संहरेत् स्वात्मनि अनुप्रविष्टं ध्यायेत् ॥ १६ ॥

एवं जलस्नानमुक्त्वा भस्मस्नानं नैष्ठिकस्यावश्यकम्, गृहस्थस्य कामचाराद्वक्तुमाह—

(सन्ध्या) अवश्य करे ।'

इस प्रकार भस्म स्नान करने पर भी दो बार सन्ध्या का वन्दन करना चाहिये । बायें हाथ में जल लेकर दाहिने हाथ की अङ्गुलियों से जल की बूदों को अस्त्र मन्त्रोच्चारण कर नीचे फेंकना चाहिये, वक्त्राङ्ग मन्त्रों का उच्चारण कर ऊपर । यह मार्जन कहलाता है । मल में 'मार्जनादि' पद में 'आदि' शब्द से—मन्त्रसमूह का जप करते हुये दक्षिण हाथ के जल को सिर पर फेंकना चाहिये । और यह (क्षेपण कार्य) क्रम से होना चाहिये । क्रम यह है—अघमर्षण के बाद मार्जन आदि, उसके बाद सूर्योपस्थान । वहाँ अघमर्षण इस प्रकार का है—दायें हाथ में स्थित जल को श्वेतरूप, प्रणव के तेज से उद्दीपित ध्यान करते हुए यह ध्यान करे कि यह दायें नासा पुर से (शरीर के) अन्दर जाकर वाणी मन और शरीर के मल को धोकर काला रङ्ग होकर बायें नासापुट से बाहर निकलता है । ऐसा ध्यान कर जल को नीचे फेंक देना चाहिये । उपस्थान ऐसा होता है—परमेश्वर की शक्ति रूप सूर्य के सम्मुख मन्त्रसंहिता के द्वारा जलाञ्जलि का प्रक्षेप । इसके बाद यथाशक्ति मन्त्र का जप कर हृदय में स्थित श्री भगवान् को पूरकमन्त्र से (जप को) निवेदित कर प्रणाम करे । यह प्रणाम शरीर आदि को झुका कर परस्वरूप में उन्मग्न परस्वरूप में अनुप्रवेश होता है । अपनी परम्परा के मन्त्रों का जल से तर्पण कर 'देवेभ्यो नमः' इत्यादि क्रम से देव ऋषिः भूतसंघों का तर्पण कर मूलमन्त्र का स्मरण कर संहारमुद्रा से शिवतीर्थ का संहार करे अर्थात् अपने अन्दर अनुप्रविष्ट हो रहा है—ऐसा ध्यान करे ॥ १६ ॥

इस प्रकार जल स्नान का कथन कर भस्म स्नान नैष्ठिक (ब्रह्मचारी) के लिये आवश्यक है किन्तु गृहस्थ के लिये उसकी इच्छा के ऊपर निर्भर करता है इस कारण भस्म स्नान को कहते हैं—

................भस्मस्नानमतः परम् ।

उच्यते इति शेषः, तन्त्रान्तरोक्तविधिसाधितम् अस्त्राभिमन्त्रितं भस्म कृत्वा, आ काद्धृदयावधि, आ पादाच्छिरोन्तं हृदन्तं वा संहारक्रमेण भस्म कृत्वा इति समुद्धूल्य ॥

मलस्नानं प्रकर्तव्यं भावितेनान्तरात्मना ॥ १७ ॥

प्रसन्नेन चित्तेन ॥ १७ ॥

परिवृत्त्य ततो वासः संध्यां प्रागिव वन्दयेत् ।

जलेनैव ॥

विधिस्नानं ततः कुर्याद् भैरवेशमनुस्मरन् ॥ १८ ॥

भैरवव्याप्तिमात्मनो विभावयन् ॥ १८ ॥

शिरो वक्त्रं च हृद्गुह्यं पादान्तं च विभागशः ।
भैरवेणाङ्गयुक्तेन समुद्धूल्यं यथाक्रमम् ॥ १९ ॥

साङ्गेन मूलेन भस्म अभिमन्त्र्य शुद्धतत्त्वसृष्ट्यर्थं मूर्धादिपादान्तमुद्-

---

इसके बाद भस्म स्नान करे ॥ -१७- ॥

कहा जा रहा है—यह शेष है । दूसरे तन्त्रों में कही गयी विधि के अनुसार बनाये गये भस्म को अस्त्रमन्त्र से अभिमन्त्रित करके क (= शिर) से लेकर हृदय तक अथवा पैर से लेकर शिर अथवा हृदय तक संहार क्रम से भस्म का उद्धूलन (= ऊपर फेंकना) कर ॥

भावित अन्तरात्मा से मल (भस्म) स्नान करना चाहिये ॥ -१७ ॥

(भावित अन्तरात्मा से) प्रसन्न चित्त से ॥ १७ ॥

इसके बाद वस्त्र को बदल कर पूर्व की भाँति सन्ध्यावन्दन करना चाहिये ॥ १८- ॥

जल से ही ॥

इसके बाद भैरवेश का स्मरण करते हुए विधि स्नान करना चाहिये ॥ -१८ ॥

(भैरवेश का स्मरण करते हुए =) अपने को भैरव से व्याप्त मानते हुये ॥ १८ ॥

(अङ्गयुक्त भैरव मन्त्र से क्रमशः) अभिमन्त्रण कर शिर, वक्त्र, हृदय, गुह्येन्द्रियाँ होते हुये पैर तक विभागपूर्वक क्रमशः (भस्म का) उद्धूलन करना चाहिये ॥ १९ ॥

धूलयेत् ॥ १९ ॥

ततोऽपि—

अभिषेकं प्रकुर्वीत परं तत्त्वमनुस्मरन् ।

निष्कलवीर्यमाविशन् ॥

संध्याया वन्दनं कुर्याद्यथापूर्वं वरानने ॥ २० ॥

यथापूर्वमिति जलेनैव अघमर्षणादिकं कार्यमित्यर्थः । अभिषेको मूलमन्त्रेण कलशमुद्रया भस्ममुष्टेः शिरसि क्षेपः, एवं भस्मस्नानं गृहस्थेनापि कामतः कार्यम्, तन्त्रान्तरनिर्दिष्टनीत्या त्रिपुण्ड्रकमात्रमेव वा गृहस्थेन कार्यम् ॥ २० ॥

एवं स्नानं विधाय अर्चाविधिं कर्तुमुपक्रमेत—

ततो यागगृहं गत्वा हस्तौ पादौ च क्षालयेत् ।

रथ्याधूलिलिप्तौ पादौ तत्स्पर्शाद्धस्तावपि क्षालयेत् ।

शिखां बद्ध्वा शिखां स्मृत्वा उपस्पृश्य विधानतः ॥ २१ ॥

अङ्ग के सहित मूल मन्त्र से भस्म का अभिमन्त्रण कर शुद्धतत्त्व की सृष्टि के लिये शिर से लेकर पैर तक भस्म को उड़ाना (= छिड़कना) चाहिये ॥ १९ ॥

इसके बाद—

पर तत्त्व का स्मरण करते हुए अभिषेक करना चाहिये ॥ २०- ॥

(परतत्त्व का स्मरण करते हुए =) निष्कल वीर्य से आविष्ट होते हुए ॥

हे वरानने ! फिर यथापूर्व सन्ध्या का वन्दन करना चाहिये ॥ -२० ॥

यथापूर्व-जल से ही अघमर्षण आदि करना चाहिये । अभिषेक का तात्पर्य है— मूल मन्त्र का उच्चारण करते हुए कलश मुद्रा से भस्म की मुट्ठी को शिर पर फेंकना । इस प्रकार का भस्म स्नान गृहस्थ भी इच्छानुसार करे । अथवा बाद में निर्दिष्टविधि से गृहस्थ त्रिपुण्ड्रक मात्र ही करे ॥ २० ॥

इस प्रकार स्नान करना चाहिये विधि को सम्पन्न कर पूजन विधि को करने का उपक्रम करते हैं—

इसके बाद यागगृह में जाकर हाथ और पैर को धोना चाहिये ॥ २१-॥

पैर चूँकि रास्ते की धूलि से लिप्त होते हैं इसलिये उनका धोना आवश्यक है और उनके स्पर्श से (अशुद्ध हुए) हाथों को भी धोना चाहिये ।

तत्पश्चात् शिखा मन्त्र का स्मरण कर उससे शिखा को बाँधकर विधान पूर्वक आचमन करे ॥ -२१ ॥

उपस्पृश्य आचम्य, विधानतः एकाग्रचित्ततया, शिखां शिखामन्त्रं स्मृत्वा, शिखां मध्यशक्तिम्, बद्ध्वा अवष्टभ्य ॥ २१ ॥

बाह्यपूजाधिकृतत्वमात्मनि जनयितुं संक्षेपेण मन्त्रैकादशिकास्मरणेन—

सकलीकृतदेहस्तु पुष्पमादाय सुव्रते ।
दिङ्मातृभ्यो नमस्कृत्य द्वारं संप्रोक्ष्य यत्नतः ॥ २२ ॥
शिवाम्भसास्त्रमन्त्रेण विघ्नप्रोच्चाटनं भवेत् ।

शिवाम्भसा इति वदन् सामान्यार्घपात्रमादौ बाह्यपूजार्थं कुर्वीतेति सूचयति ॥ २२ ॥

ततः—

द्वारशाखोर्ध्वतो देवं गणेशं च श्रियं तथा ॥ २३ ॥
संपूज्य गन्धपुष्पाद्यैर्धूपादिभिरनुक्रमाद् ।
अर्घ्यपाद्योपहारैश्च...............

'ॐ दिङ्मातृभ्यो नमः' इति कुसुमं क्षिप्त्वा, आयतने यागगृहे बाह्ये वा व्योम्नि प्रभामण्डलवृषशूलसूर्यान् बाह्यपरिवारनिष्ठोर्ध्वडम्भरे द्वारस्य दक्षिणाद्वामान्तं

उपस्पर्श कर = आचमन कर । विधान पूर्वक = एकाग्रचित्त होकर । शिखा = शिखामन्त्र, का स्मरण कर । शिखा को = मध्यशक्ति को । बाँधकर = अवष्टम्भान कर ॥ २१ ॥

अपने अन्दर बाह्य पूजा का अधिकार उत्पन्न करने के लिये संक्षेप में ग्यारह मन्त्रों के स्मरण से—

देह को सकल बनाने के बाद, हे सुव्रते ! (हाथ में) पुष्प लेकर दशों दिशाओं की देवियों को नमस्कार करे । उसके बाद प्रयत्नपूर्वक शिवजल से द्वार का प्रोक्षण करे फिर अस्त्रमन्त्र से विघ्न का उच्चाटन करना चाहिये ॥ २२-२३- ॥

'शिवाम्भसा' कहते हुए पहले बाह्य पूजा के लिये सामान्य अर्घपात्र बनाये— यह सूचित करते हैं ॥ २२ ॥

इसके बाद—

द्वारशाखा के ऊपर देव (= शिव) गणेश लक्ष्मी की गन्ध, पुष्प, धूप, अर्घ्य, पाद्य और उपहार से पूजा करे ॥ -२३-२४- ॥

'ॐ दिङ्मातृभ्यो नमः' कह कर (दशो दिशाओं में) फूल फेंके । घर में यागगृह में अथवा बाहर आकाश = प्रभामण्डल वृष (= नन्दी) शूल (= त्रिशूल) और सूर्य की, बाह्य परिवार निष्ठ ऊर्ध्वडम्बर में, द्वार के दायें से लेकर बायें तक

गणेशं तथाशब्दसमुच्चितां वागीशीं श्रियं च प्रणवादिनमः शब्दान्तेन मन्त्रेण पूजयेदिति क्रमः ॥ २३ ॥

.............ततो द्वारस्य चोत्तरे ॥ २४ ॥
नन्दिगङ्गे समभ्यर्च्य महाकालं च दक्षिणे ।
कालिन्दीं चैव सम्पूज्य यथानुक्रमयोगतः ॥ २५ ॥

कालिन्दीं यमुनाम्, दक्षिणस्रोतसः संहारप्राधान्यान्महाकालयमुने द्वारस्य दक्षिणे एव पूज्ये । वामे तु नन्दिगङ्गे, शाक्तस्फारसारत्वाच्चास्य नयस्य गुप्ते स्वगृहादौ द्वारवामात् प्रभृति वामकरेण पूजयेदिति गुरवः । एष च द्वारदेवताक्रमः श्रीत्रिशिरोभैरवस्रोतसि दृश्यते, केवलं तत्र द्वारवामदक्षिणयोर्दिण्डिमहोदरावधिकौ पूज्यावुक्तौ । वामस्रोतोभेदे पुनः सृष्टिप्रधाने द्वारस्य दक्षिणे नन्दि-गङ्ग-मेषास्याः, वामे तु महाकाल-यमुना-च्छागलास्या इति क्रमः, सिद्धान्तेषु तु द्वारस्य दक्षिणे नन्दि-गङ्गे वामे तु महाकाल-यमुने । प्रायश्च सिद्धान्तप्रियो लोकः सिद्धान्तक्रममाश्रितः, इतीह लोकोत्तरे भैरवस्रोतसि भगवदुक्त एव क्रमः आश्रयितव्यो न त्वन्यथा भ्रमितव्यम् । अतो ये सिद्धान्तदर्शनभ्रान्ता भगवदुक्तं पूर्वपश्चिमद्वारापेक्षया विपर्यासयन्ति ते विपर्यस्ता एव ॥ २५ ॥

गणेश शब्दसमुच्चयरूप वागीश्वरी, लक्ष्मी की, प्रणव को आदि में तथा 'नमः' को अन्त में जोड़कर निर्मित मन्त्र से पूजा करे । (मन्त्र का स्वरूप होगा—ॐ गणेशाय नमः, ॐ वागीश्वर्यै नमः ..... इत्यादि) ॥ २३ ॥

इसके बाद द्वार की उत्तर दिशा में नन्दी एवं गङ्गा की पूजा कर (द्वार के) दक्षिण में महाकाल और यमुना की यथानुक्रम योग से पूजा करे ॥ -२४-२५ ॥

कालिन्दी = यमुना । दक्षिणाम्नाय के संहारप्रधान होने के कारण महाकाल और यमुना द्वार के दक्षिण देश में पूज्य होती हैं । नन्दी और गङ्गा बायें देश में । हमारे गुरुओं का कथन है कि यह शास्त्र शक्ति का स्फार है इसलिये गुप्त अपने घर आदि में द्वार के बायें से प्रारम्भ कर बायें हाथ से पूजन करना चाहिये । द्वार देवता का यह पूजाक्रम श्री त्रिशिरोभैरव शास्त्र में देखा जाता है । केवल वहाँ पर द्वार के बायीं और दायीं दिशाओं में दिण्डि और महोदर अधिक पूज्य कहे गये हैं । सृष्टिप्रधान वामस्रोतो भेद में द्वार के दक्षिण देश में नन्दी गङ्गा और मेषास्य और बायीं ओर महाकाल यमुना और छागलास्य पूज्य होते हैं—यह क्रम है । शैवसिद्धान्त के अनुसार द्वार के दक्षिण देश में नन्दी और गङ्गा तथा वाम देश में महाकाल और यमुना पूज्य कही गयी हैं । सामान्य जन प्रायः सिद्धान्तप्रिय होते हैं इसलिये सिद्धान्त क्रम को मानते हैं । यहाँ लोकोत्तर भैरवशास्त्र में भगवान् के द्वारा कहे गये क्रम को ही मानना चाहिये न कि अन्यथा भ्रम में पड़ना चाहिये । इसलिये जो शैवसिद्धान्त दर्शन के कारण भ्रान्त होकर भगवान् के वचन को पूर्व

ततः—

भैरवास्त्रं समुच्चार्य पुष्पं सङ्गृह्य भावितः ।
सप्ताभिमन्त्रितं कृत्वा ज्वलदग्निशिखाकुलम्॥ २६ ॥
नाराचास्त्रप्रयोगेण प्रविशेद् गृहमध्यतः ।

अत्रादौ देहल्यर्चां कुर्यात्, भैरवास्त्रमतिदीप्तं निष्कलास्त्रमेव, ज्वलदित्यादि ध्यानम्, नाराचास्त्रप्रयोगस्तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठप्रेरणात्, गृहमध्यत इति, प्रक्षिपन्निति शेषः ॥ २६ ॥

निवारितं तेन सर्वं विघ्नजालमनन्तकम् ॥ २७ ॥

भावयेदिति शेषः ॥ २७ ॥

ततो रक्षार्थमस्त्रं च दशदिक्षु विनिक्षिपेत् ।

विघ्नानां प्रवेशावकाशनाशाय ॥

अथ—

मध्ये संपूज्य ब्रह्माणं गन्धैः पुष्पैरनुक्रमात् ॥ २८ ॥
दक्षिणायां ततो मूर्तौ प्रणवासनसंस्थितः ।

पश्चिम द्वार की अपेक्षा से उल्टा-पुल्टा सोंचते हैं वे विपर्यस्त ही हैं ॥ २५ ॥

इसके बाद—

भावितः (= श्रद्धापूर्वक) भैरव अस्त्र का उच्चारण करते हुए पुष्प को लेकर उसे सात बार अभिमन्त्रित कर उसका जलती हुई अग्नि की शिखा से व्याप्त ध्यान करता हुआ नाराच अस्त्र के प्रयोग से घर के बीच में प्रवेश करे ॥ २६-२७- ॥

यहाँ पहले देहली की पूजा करे । अत्यन्त दीप्त निष्कल अस्त्र ही भैरवास्त्र है । नाराच अस्त्र का प्रयोग तर्जनी मध्यमा और अङ्गुष्ठा को मिलाकर होता है । घर के मध्य में (पुष्प का) प्रक्षेप करते हुए ॥ २६ ॥

इस (पुष्प-प्रक्षेपण) के द्वारा अनन्त एवं समस्त विघ्नजाल निवारित हो गया ॥ -२७ ॥

ऐसी भावना करनी चाहिये ॥ २७ ॥

इसके बाद रक्षा के लिये दशो दिशाओं में अस्त्र का प्रक्षेप करना चाहिये ॥ २८- ॥

(रक्षार्थ) विघ्नों के प्रवेशावकाश के नाश के लिये ॥

अब—

उपविश्यासनं बद्ध्वा स्वभ्यस्तं वै पुरःस्थितम् ॥ २९ ॥

ब्रह्माणं वास्त्वधिष्ठातारम् । दक्षिणायाम् इति दक्षिणस्रोतोऽनुष्ठानप्रवृत्तौ, समस्तभेदप्लोषकाघोरवक्त्रसंमुखत्वस्यानुरूप्यात्; मन्त्रोद्धारप्रारम्भे त्वनुष्ठानस्याप्रवृत्तेः 'प्राङ्मुखोदङ्मुखो वा' इत्युक्तम् । प्रणवासने वर्णितव्याप्तिके सम्यग्भैरवाभेदाभिमाने स्थितः ॥ २९ ॥

करन्यासमाह—

गन्धदिग्धौ करौ कृत्वा अस्त्रेण परिशोधयेत् ।
कवचेनावगुण्ठ्यैतौ प्लावयेदमृतेन तु ॥ ३० ॥
परां शक्तिं तु संक्षोभ्य................

गन्धेन अलक्तकादिना, दिग्धौ लिप्तौ, परिशोधयेत् क्रियाशक्तित्वं प्रापयेत् । परां द्वादशान्तस्थशिवचन्द्रचन्द्रिकारूपां शक्तिं संक्षोभ्यानङ्गधेनवीयुक्त्या प्रसरोन्मुखीं कृत्वा, 'अमृतेन' परानन्दरसेन, 'प्लावयेत्' आच्छुरयेत् । पश्चात् तथारूपतारक्षार्थं कवचमन्त्रेणावगुण्ठ्य ॥ ३० ॥

...............ततोऽनन्तं प्रकल्पयेत् ।

मध्य में गन्धपुष्प आदि के क्रम से ब्रह्मा की पूजा कर दक्षिणस्रोत के अनुष्ठान में प्रणव रूपी आसन पर बैठा हुआ अच्छी तरह अभ्यस्त तथा सामने स्थित आसन पर बैठकर उसको (= आसन को) बाँधकर स्थित हो जाय ॥ -२८-२९ ॥

ब्रह्मा को = वास्तु के अधिष्ठाता को । दक्षिणा में = दक्षिणस्रोत के अनुष्ठान की प्रवृत्ति में क्योंकि यहाँ समस्त भेद का दाह करने वाले अघोर का वक्त्र संमुख रहता है । मन्त्र के उद्धार के प्रारम्भ में अनुष्ठान की प्रवृत्ति न होने से 'पूर्वमुख या उत्तर मुख' ऐसा कहा गया । प्रणवासन पर—वर्णित व्याप्ति वाले मैरव के सम्यक् अभेदाभिमान में, स्थित हो जाय ॥ २९ ॥

करन्यास को कहते हैं—

दोनों हाथों को गन्ध से उपलिप्त कर अस्त्र मन्त्र से उसका शोधन करना चाहिये । पराशक्ति को संक्षुब्ध कर इन दोनों हाथों को अवगुण्ठित कर अमृत के द्वारा प्लावित करना चाहिये ॥ ३०-३१- ॥

गन्ध से = अलक्तक आदि से । दिग्ध = लिप्त । परिशोधन करना चाहिये = क्रियाशक्ति वाला बनाना चाहिये । परा= द्वादशान्त में स्थित शिवचन्द्र की चन्द्रिकारूपा शक्ति, को संक्षुब्ध कर = अनङ्ग धेनवी युक्ति से प्रसरोमुखी बनाकर, अमृत से = परानन्दरस से, प्लावित करना चाहिये = आच्छुरित करना चाहिये । बाद में उस रूपता की रक्षा के लिये कवचमन्त्र से अवगुण्ठित कर ॥ ३० ॥

करशुद्धिविधाने तत्तन्मन्त्रैर्न्यास उचित एव कार्यः । तेनोपबाहुदण्डाग्रगग्रन्थि-प्रान्तवर्तिविद्यापदोर्ध्वावस्थितानाश्रितप्रेतान्तमनन्तासनं प्राङ्निर्णीततत्त्वं प्रणवेन कल्पयेत् ॥

मूर्तिं न्यस्यानुवक्त्राणि स्वच्छन्दं परिकल्पयेत् ॥ ३१ ॥

मूर्तिब्रह्मकवाटकलावक्त्रन्यासादि प्रागेव **निर्णीतम्** । अतो यत्र यत्रायाति तत्र तत्र प्रथमपटलनिर्णीतव्याप्तिरनुसर्तव्या । 'स्वच्छन्दम्' इति सकलम् ॥ ३१ ॥

अनन्तरम्—

अङ्गुष्ठादिकनिष्ठान्तं विन्यसेदङ्गपञ्चकम् ।

उभयोरपि करयोः पद्ममुद्रामाविष्टयोः । 'अस्त्रं नखेषु' इति गुरवः ॥

ततः—

भैरवानपि सङ्कल्प्य परं तत्त्वमनुस्मरेत् ॥ ३२ ॥

बाद में अनन्त की कल्पना करनी चाहिये ॥ -३१- ॥

करशुद्धि के विधान में तत्तत् मन्त्रों से न्यास को उचित ही करना चाहिये । इसलिये प्रणव के द्वारा पूर्व निर्णीत तत्त्व वाला अनन्त के आसन की कल्पना करे । यह आसन बाहु के समीप स्थित दण्ड के अग्र में वर्त्तमान ग्रन्थि (= माया) के प्रान्त में स्थित तथा विद्यापद के ऊपर स्थित अनाश्रित प्रेत (= शिव) के अन्त में वर्त्तमान है । (माया शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव ये चार शिव के पर्यङ्क के चार पाये तथा चार बाहु हैं) ॥

मूर्त्ति का न्यास कर बाद में वक्त्रों का न्यास कर फिर स्वच्छन्द की परिकल्पना करे ॥ -३१ ॥

मूर्त्ति ब्रह्मकवाट कला वक्त्र न्यास आदि पहले कहा जा चुका है । इसलिये जहाँ-जहाँ यह प्रकरण आता है वहाँ-वहाँ प्रथम पटल में निर्णीत व्याप्ति का अनुसरण करना चाहिये । स्वच्छन्द = सकल ॥ ३१ ॥

बाद में—

अङ्गुष्ठ से लेकर कनिष्ठा तक पाँच अङ्गों का न्यास करना चाहिये ॥ ३२- ॥

पद्म मुद्रा बाँधे हुए दोनों हाथों के (अङ्गुष्ठकनिष्ठा का) । गुरुओं का कथन है कि 'नखों में अस्त्र मन्त्र' (का न्यास करना चाहिये) ॥

इसके बाद—

भैरवों की कल्पना कर परतत्त्व का स्मरण करे ॥ -३२ ॥

'भैरवान्' कपालीशादीनष्टौ वामतर्जनीतो दक्षिणतर्जन्यन्तम्, परं तत्त्वं निष्कलनाथं साङ्गं सदेवीकम्, अर्थात् स्फारिताङ्गुष्ठयोः, अनुस्मरेत् विश्वानुगामित्वेनानुसन्दध्यात् । यद्यपि करयोः पिण्डावयवत्वात् भाविपिण्डन्यासेनैव न्यासः संपद्यते, तथापि सर्वकर्मप्रवृत्तिप्रथमाङ्कुरकल्पयोर्भगवत्क्रियाशक्तिमयत्वप्रत्यभिज्ञाना-यतयोर्देहन्यासात् पूर्वं सर्वागमेषु न्यास उच्यमान उपपन्न एव । शिवहस्त-स्त्वन्यादृगेव विशिष्टविधिविषयः ॥ ३२ ॥

एवं करन्यासमुक्त्वा देहन्यासे इतिकर्तव्यतामाह—

प्राणायामत्रयं कार्यं देहसंशुद्धिकारणम् ।

इह चैतन्यविश्लेषपूर्विकां देहदाहोत्प्लावनाप्यायनादिमयीं शुद्धिमाधाय भैरवात्मतापत्तिः कार्या । चैतन्यस्य च—

'प्राक्संवित्प्राणे परिणता ।'

इति नीत्या प्राणेनैव विशोधनं कार्यम् । न चाशुद्धेन तेन तत्कर्तुं शक्यमिति प्रथमं तच्छुद्धिः । देहस्याशुद्धस्य पुर्यष्टकरूपस्य संशुद्धिकारणम् ॥

भैरवों की—कपालीश आदि आठ भैरवों की बायीं तर्जनी से लेकर दायीं तर्जनी तक (कल्पना करे) । परतत्त्व = निष्कल नाथ, वह भी अङ्गों और देवियों सहित । अर्थात् फैलाये गये दोनों अंगूठों में स्मरण करे = विश्वानुगामी के रूप में अनुसन्धान करे । यद्यपि दोनों हाथ शरीर के ही अवयव हैं इसलिये आगे चलकर कहे जाने वाले पिण्डन्यास से ही इनका न्यास सम्पन्न हो जाता है तथापि समस्त कर्मों की प्रवृत्ति के प्रथम अङ्कुरकल्प तथा भगवत् क्रिया की शक्तिमयता के प्रत्यभिज्ञान के रूप में स्वीकृत इनका देह के न्यास से पहले न्यास जो कि समस्त आगमों में कहा गया है, युक्ति-युक्त ही है । जहाँ तक शिवहस्त की बात है तो वह दूसरे प्रकार का है तथा विशिष्टविधि वाला है ॥ ३२ ॥

इस प्रकार करन्यास का कथन कर देहन्यास के विषय में इतिकर्त्तव्यता को कहते हैं—

देह की सम्यक् शुद्धि का कारणभूत तीन प्राणायाम को करना चाहिये ॥ ३३- ॥

पहले चैतन्य को अलग कर फिर देहदाह उत्प्लावन आप्यायन आदि वाली शुद्धि का सम्पादन कर भैरवात्मतापत्ति करनी चाहिये । चैतन्य की शुद्धि—

'सवित् पहले पहल प्राणरूप में परिणत हुई ।'

इस नीति से प्राण के द्वारा ही करनी चाहिये । अशुद्ध उस (= प्राण) से वह (= आत्मशुद्धि) नहीं की जा सकती इसलिये पहले उस (= प्राण) की शुद्धि करनी होती है । (देहसंशुद्धिकारणम्) = देह की अर्थात् पुर्यष्टकरूप देह की, संशुद्धि का

तत्प्रदर्शयंश्चैतन्यविश्लेषं वक्तुमाह—

अशुद्धः स्वमरुद्रेच्यः शुद्धेनापूरयेत्तनुम् ॥ ३३ ॥
कुम्भकं रेचकं कृत्वा व्योम्न्यात्मानं निधापयेत्।

'अशुद्धः' इति बहिःप्रसरे हेवाकचाञ्चल्यप्राबल्योल्लासितविकल्पतया जीवस्य पाशत्वेन स्थितः । 'रेच्यः' इति स्वरसवाहप्रशमनेन भोगद्वादशान्ते निवेश्यः । 'शुद्धेन' इति द्वादशान्तविश्रान्तिलब्धशाक्तबलेन । आ समन्तात् स्वरसवाहनिरोधेन पूरयेत् तच्छाक्तस्पर्शेनाच्छुरयेत् । आपूर्यैवं कंचित्कालं प्रवेशनिरोधेन बललाभाय हृदयान्मूलपीठान्तं पूर्णकुम्भवदचलस्थित्या स्थापयेत् । ततः कुम्भकप्रकर्षलब्धशाक्तबलेन तेन वक्ष्यमाणदिव्यकरणानुसरणयुक्तयोर्ध्वरेचकं कृत्वा प्राणाश्रयमात्मानं व्योम्नि मुण्डान्ते विश्रामयेत् । एष च प्रणवोच्चारसगर्भः प्राणायामः कार्यः । अत्र च रेचनादौ व्योमविश्रान्त्यन्ते पञ्चके धारणापञ्चकं मनसा सूक्ष्मभुजयानुसंधायाविकल्पविश्रान्त्या मनोऽहङ्कारबुद्धीः परतत्त्वे विलाप्य विश्राम्येत् । एवं सूक्ष्मशरीरशुद्धिर्भवति, इति गुरवः ॥ ३३ ॥

कारण है ॥

उसको दिखलाते हुए चैतन्य का विश्लेष बतलाते हैं—

अशुद्ध अपने वायु का रेचन करना चाहिये । शुद्ध वायु से शरीर को पूरित करना चाहिये । इस प्रकार कुम्भक कर रेचक करके आत्मा को व्योम में स्थापित करना चाहिये ॥ -३३-३४- ॥

अशुद्ध-बाहर प्रसरण में हेवाक (= खेल-खेल में) चाञ्चल्य प्रबलता से उल्लासित यह वायु विकल्प के रूप में जीव के पाश के रूप में स्थित है । रेच्य—स्वाभाविक प्रवाह को रोक कर भोगद्वादशान्त (= बाह्य द्वादशान्त अर्थात् नासिका से बारह अङ्गुल सामने) में निवेश्य । शुद्ध के द्वारा—द्वादशान्त में विश्रान्ति के द्वारा प्राप्त शाक्त बलवाले के द्वारा । आपूरयेत्—आ = सब ओर से, स्वाभाविक प्रवाह के निरोध के द्वारा, पूरण करे = उस शाक्त स्पर्श से आच्छुरित करे । इस प्रकार आपूरण के प्रवेश को थोड़े समय के लिये रोकने से बल प्राप्त करने के लिये वायु को हृदय से लेकर मूलाधार तक पूर्णकुम्भ के समान अचल रूप से स्थापित करना चाहिये । इसके बाद कुम्भक के प्रकर्ष प्राप्त शाक्त बल से वक्ष्यमाण दिव्यकरणानुसरण युक्ति के द्वारा ऊर्ध्व रेचक कर प्राणाश्रित आत्मा को, व्योम = शिर के अन्त, में स्थापित करे । यह प्राणायाम प्रणव के उच्चारण के साथ करना चाहिये । यहाँ रेचन से लेकर व्योमविश्रान्ति तक पाँच धारणाओं को मनरूपी सूक्ष्म भुजा से टटोल कर अविकल्प विश्रान्ति के द्वारा मन अहङ्कार और बुद्धि को परतत्त्व में विलीन कर विश्राम कराना चाहिये । इस प्रकार सूक्ष्मशरीर की शुद्धि होती है—ऐसा हमारे गुरु ने कहा है ॥ ३३ ॥

किंरूपमात्मानमित्याह—

खद्योतकनिभं सूक्ष्मं करणैस्तु विवर्जितम् ॥ ३४ ॥
कार्येणैव विहीनं च मायाप्रध्वस्तगोचरम् ।

खद्योतकनिभं प्रकाशमात्रतत्त्वम्, सूक्ष्मम् अवेद्यम्, करणैः त्रयोदशभिरिन्द्रियैः कार्येण स्थूलसूक्ष्मात्मना दशविधेन, प्रध्वस्तो मायागोचरः कालनियत्यादिर्यस्य, इति व्यत्ययः पूर्वनिपातस्य ॥ ३४ ॥

एवं शुद्धतामापादितोऽपि—

शिवीकार्यस्तथात्मैव यथा भवति तच्छृणु ॥ ३५ ॥

'शिवो भूत्वा शिवं यजेत् ।'

इति न्यायात् । शृणु अन्तः परामृश ॥ ३५ ॥

परं भावं तु सङ्गृह्य................

'अहमेव परो हंसः शिवः परमकारणम्' (४।३९९)

इत्यादौ वक्ष्यमाणं परं स्वभावम्, सम्यगिति अविकल्पावष्टम्भेन, गृहीत्वा

किस रूप के आत्मा को (स्थापित करना चाहिये) यह कहते हैं—

खद्योत के समान, सूक्ष्म, इन्द्रियविहीन, कार्य से रहित और प्रध्वस्त विषय वाली माया से सम्बद्ध (आत्मा को) ॥ -३४-३५- ॥

खद्योत के समान = केवल प्रकाशरूप । सूक्ष्म = अवेद्य (अर्थात् ज्ञान से परे) । करणों = तेरह इन्द्रियों (= पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, अहङ्कार मन एवं बुद्धि) से रहित, कार्य = स्थूल सूक्ष्म भेद से दश प्रकार का (वचन आदान विहरण उत्सर्ग और आनन्द अथवा सृष्टि स्थिति संहार निग्रह और अनुग्रह) । ('मायाप्रध्वस्तगोचरम्' की व्याख्या करते हैं—) प्रध्वस्त है माया का विषय—काल नियति आदि जिसका । पूर्व निपात (= प्रध्वस्त) का व्यत्यय हो जाने से 'मायाप्रध्वस्तगोचरम्' बना (वेसे प्रध्वस्तमायागोचरम् होना चाहिये) ॥ ३४ ॥

इस प्रकार शुद्धता की प्राप्ति भी—

आत्मा जिस प्रकार शिवस्वरूप बनाया जाता है उसे सुनो ॥ -३५ ॥

'शिव बनकर शिव की पूजा करनी चाहिये ।'

इस नियम से । सुनो = अपने अन्दर परामर्श करो ॥ ३५ ॥

परभाव का सङ्ग्रह कर—

'मैं ही पर हंस हूँ, शिव हूँ, परमकारण हूँ ।' (४।३९९)

इत्यादि में वक्ष्यमाण परस्वभाव का, सङ्ग्रह = सम्यक् अर्थात् निर्विकल्पकरूप

स्वीकृत्य ॥

अत एव सृष्टिसंहारकारिपरमेशस्वरूपसमावेशात्—

.........ततः शोष्या तनुः प्रिये ।

सूक्ष्मायाः शुद्धत्वात् स्थूला ॥

कथम्—

संहारेण यभिन्नेन रुद्रबीजयुतेन च ॥ ३६ ॥

संहारः क्ष् ईशानस्फाररूपो यभिन्नो य इत्यनेन युक्तः, रुद्रबीजम् ऊकारः, बिन्दुरर्थाक्षिप्तः । एवमन्यत्र । अत्र देहे पार्थिवीं धारणां कृत्वा तच्छोषणे वायवी धारणा स्मर्तव्या । तनोः शोषोऽहन्ताभिमानरसतनूभावः ॥ ३६ ॥

तेनैव दहनं कार्यमूर्ध्वाधोऽग्नियुतेन च ।

तेनैवेदानीं निर्णीततत्त्वेन संहारेण, ऊर्ध्वाधोऽग्निना रेफेण युक्तेन तेन र् क्ष् र् य् ऊँ इति पिण्डीकृतबीजाक्षरेणाग्नेय्या धारणया कालाग्निना आ पादान्मुण्डान्तं दहनम्, इति अहन्ताभिमानपाशस्य प्लोषणं कार्यम् ॥

में, ग्रहण = स्वीकार कर ॥

इसीलिये सृष्टिस्थितिसंहारकारी परमेश्वर के स्वरूप के समावेश से—

हे प्रिये ! इसके बाद शरीर का शोधन करे ॥ -३६- ॥

सूक्ष्म शरीर के शुद्ध होने से स्थूल (यह शरीर शोध्य है) ॥

कैसे—

संहार जो कि 'य' से भिन्न है और रुद्रबीज से युक्त है (के द्वारा यह शरीर शोध्य है) ॥ -३६ ॥

संहार = क्ष जो कि ईशान का स्फार है । यभिन्न = य से संयुक्त । रुद्रबीज = ऊकार । यहाँ बिन्दु का अर्थात् आक्षेप है । (इस प्रकार मन्त्र बनेगा—क्ष्यूँ) । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये । इस शरीर में पार्थिव धारणा कर उसके शोषण के लिये (इसी शरीर में) वायवी धारणा करनी चाहिये । शरीर के शोषण का तात्पर्य है—इस शरीर में अहन्ता के अभिमान को नष्ट करना ॥ ३६ ॥

ऊपर और नीचे अग्नि से युक्त उसी (संहार बीज) से जलाना भी चाहिये ॥ ३७- ॥

उसी से = अभी अभी निर्णीत संहार (= क्ष्) से । ऊपर और नीचे अग्नि = रेफ से । इस प्रकार रूप बनेगा—र् क्ष् र् य् ऊँ (क्ष्र्यूँ) । इस पिण्डीकृत बीजाक्षर के द्वारा आग्नेयी धारणा रूप कालाग्नि के द्वारा पैर से लेकर शिर तक दहन करे।

अधो विष्णुसमायुक्तो वायुवर्णः सबिन्दुकः ॥ ३७ ॥

उत्पूयनकरो ह्येष.................

विष्णुरुकारः, वायुवर्णो य्, उत्पूयनमुत्प्लवनम्, प्लुष्टस्यापि देहाभिमानस्य संस्कारशेषस्य वायव्या धारणयैव निर्धूननम् ॥ ३७ ॥

..........प्लावने वारुणः स्मृतः ।

बिन्दुमस्तकसंभिन्नः...............

वारुणो वकारः सबिन्दुको वारुणधारणया ऊर्ध्वद्वादशान्तादधोमुखं प्रवृत्तैः पूर्णचन्द्राकारबिन्दुप्रसरत्सितप्रकाशवारिपूरैरशेषप्लावकः स्मृतः, स प्लावने भाविशुद्धसर्गभित्तिविरचने प्रभवतीत्यर्थः । सर्वाणि चैतानि बीजानि परस्वस्वभावप्रभावप्रभाश्रू(भू)तानि विचिन्त्यानि । अत्र च विषस्येव मारकत्वं मन्त्रयुक्त्या देहस्याहमभिमानात्मकपाशरूपत्वं दह्यते, प्रतिदिनं तदभ्यासप्रकर्षेण च शिवाहन्तोज्जृम्भते, न तु साक्षाद् देहो दह्यते, प्रत्यक्षबाधात् । अत एवानादिदेहहङ्कारस्यापसार्यत्वात् प्रत्यहं शुद्धात्मस्थितिग्रहणतदानयनामृतप्लावनभैरवतापादनादि क्रियमाणं युक्तमेव ॥

इस प्रकार अहन्ताभिमान पाश का प्लोषण (= दहन) करना चाहिये ॥

नीचे विष्णु से युक्त बिन्दुसहित वायुवर्ण उत्पूयनकारी बतलाया गया है ॥ -३७-३८- ॥

विष्णु = ऊकार । वायु वर्ण = य । उत्पूयन = उत्प्लवन । जलाये गये शरीराभिमान का जो कि संस्कार के रूप में अवशिष्ट है, वायवी धारणा के द्वारा निर्धूनन = ऊपर उड़ाना ॥ ३७ ॥

प्लावन कार्य में बिन्दु और मस्तक से सम्भिन्न वारुण बीज माना गया है ॥ -३८- ॥

वारुण बीज = वकार । बिन्दु से युक्त (वह बीज) वारुणी धारणा के द्वारा ऊर्ध्व द्वादशान्त से लेकर अधो द्वादशान्त तक प्रवृत्त, पूर्णचन्द्राकार बिन्दु से फैलने वाले श्वेत प्रकाश रूपी जलप्रवाह के द्वारा, (सम्पूर्ण शरीर का) प्लावक माना गया है । वह प्लावन में अर्थात् भावी शुद्ध सृष्टि के आधार की रचना में समर्थ होता है । इन समस्त बीजों का परस्वस्वभाव प्रभाव की प्रभा के रूप में चिन्तन करना चाहिये । जैसे मन्त्र के द्वारा विष की मारकता नष्ट कर दी जाती है उसी प्रकार (इन बीजों के द्वारा) इस देह का अहमात्मक अभिमानरूपी पाश जला दिया जाता है । प्रतिदिन उसके अभ्यास के प्रकर्ष से शिवाहन्ता का उज्जृम्भण होता है । न कि सचमुच देह जलाया जाता है । क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण से इसका बाध है । इसलिये अनादि देह अहङ्कार के अपसार्य होने के कारण प्रतिदिन शुद्ध आत्मस्थिति का ग्रहण, उसका आनयन, अमृत प्लावन, भैरवता का आपादन आदि, किया जाता है, ठीक ही है ॥

एवमशुद्धदेहसंहारयुक्तिमुक्त्वा शुद्धदेहसृष्टिं वक्तुमाह—

.......शक्तिन्यासस्ततो भवेत् ॥ ३८ ॥

ततो देहदाहाद्यनन्तरं विश्ववैचित्र्यं बिभ्रत्याः पारमेश्वर्या मनोन्मनिकायाः शक्तेर्भाविमन्त्रमयशुद्धदेहनिर्माणभित्तिभूताया न्यासो भवेत् ॥ ३८ ॥

तदनु—

आनयेत्तं यथानीतं प्लावयेदमृतेन तु ।

यथेति मध्यमार्गोर्ध्वरेचकेण नीतं तम् आत्मानमूर्ध्वरेचकेणैव आनयेत् शक्तिदेहस्य मध्यं हृदयं कल्पनया प्रापयेत्, अमृतेन परभावसमावेशावष्टम्भरसेन, प्लावयेत् भैरवाभेदपरामर्शमयं कुर्यादित्यर्थः । तथाभूतमेव नीतं तमानयेत् ॥

कीदृशं च—

मलप्रध्वस्तचैतन्यं कलाविद्यासमाश्रितम् ॥ ३९ ॥
रागेण रञ्जितात्मानं कालेन कलितं तथा ।
नियत्या यमितं भूयः पुंभावेनोपबृंहितम् ॥ ४० ॥

इस प्रकार अशुद्ध देह के संहार की युक्ति का कथन कर अब शुद्ध देह की सृष्टि को कहते हैं—

इसके बाद शक्ति का न्यास होता है ॥ -३८ ॥

इसके बाद = देह के दाह आदि के बाद । विश्ववैचित्र्य को धारण करने वाली, परमेश्वर की मनोन्मनी शक्ति जो कि भावी मन्त्रमय शुद्ध देह के निर्माण का आधार है, का न्यास होता है ॥ ३८ ॥

उसके बाद—

-जैसे ले गये थे उसी प्रकार ले आना चाहिये और अमृत के द्वारा उसे आप्लावित करना चाहिये ॥ ३९- ॥

जैसे = मध्यमार्ग से ऊर्ध्वरेचक के द्वारा, ले जाये गये उस आत्मा को ऊर्ध्व रेचक के द्वारा ही, ले आना चाहिये = शक्तिदेह के मध्य अर्थात् हृदय को कल्पना के द्वारा प्राप्त कराना चाहिये । अमृत के द्वारा = परभाव समावेश के अवष्टम्भ के रस के, प्लावित करे = भैरवाभेद परामर्शमय बनाये । इस प्रकार बनाये गये उसको ले आना चाहिये ॥

किस प्रकार के उस (= आत्मा) को—

मलों के द्वारा प्रध्वस्त चैतन्य वाले, (माया के पाँच कञ्चुकों) कला और विद्या से युक्त, राग से रञ्जित, काल से ग्रस्त, नियति के द्वारा नियमित

प्रधानाशयसंपन्नं गुणत्रयसमन्वितम् ।
बुद्धितत्त्वसमासीनमहङ्कारसमावृतम् ॥ ४१ ॥
मनसा बुद्धिकर्माक्षैस्तन्मात्रैः स्थूलभूतकैः ।

युक्तमिति शेषः । नयनानयनपात्रत्वादेव सङ्कोचाभासरूपेण मलेन प्रध्वस्तं गुणीभूतं चैतन्यं यस्य, अत एव किञ्चित्कर्तृत्वज्ञातृत्वरूपाभ्यां कलाविद्याभ्यां समाश्रितम् । एवमन्यत् । अन्येषां च कलादीनां स्वरूपमुत्तरत्र स्वावसरे निर्णेष्यामः ॥ ४१ ॥

यदेतन्मायादिक्षित्यन्तं तत्त्वजातम्—

प्रणवेन तु सर्वं तच्छरीरोत्पत्तिकारणम् ॥ ४२ ॥
न्यसेत्क्रमेण देवेशि त्रिंशदेकं च संख्यया ।

शरीरोत्पत्तेः कारणं मायादिक्षित्यन्तं तत्त्वानि एकत्रिंशतं प्रणवेन श्रीमन्निष्कलभट्टारकतुल्यव्याप्तिकेन शुद्धदेहोत्पत्त्यर्थं न्यसेत् । प्रणवन्यासाच्चैतानि प्राग्दशातोऽन्यादृंश्येव (भवन्ति) । तथाहि—अख्यातिरूपा माया भेदप्रागल्भ्याविमोहिनी

अत्यधिक नियमित पुनः पुरुष भाव से उपबृंहित, प्रधान (= प्रकृति) की वासना से सम्पन्न, तीनों गुणों (= सत्त्व रजस् तमस्) से युक्त, बुद्धि तत्त्व पर आरूढ़, अहङ्कार से युक्त, मन ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा स्थूल पञ्चमहाभूतों से समन्वित आत्मा को ले आना चाहिये ॥ -३९-४२- ॥

'युक्त है'—नयन और आनयन का पात्र होने के कारण ही सङ्कोचाभासरूप मल के कारण, प्रध्वस्त = गौण बना दिया गया है चैतन्य जिसका, इसलिये किञ्चित्कर्तृत्व किञ्चिज्ज्ञत्वरूप कला और विद्या से समाश्रित (आत्मा को ले आना चाहिये) । इसी प्रकार (राग आदि) अन्य (तत्त्वों से युक्त आत्मा का आनयन समझना चाहिये) । अन्य = कला आदि का स्वरूप आगे चलकर उनके अपने निरूपण के अवसर पर बतलायेंगे ॥ ४१ ॥

जो यह माया से लेकर पृथ्वी पर्यन्त स्थित तत्त्वसमूह है—

हे देवेशि ! शरीरोत्पत्ति के कारणभूत उन समस्त तत्त्वों का क्रमशः इकतीस बार प्रणव का उच्चारण करते हुए न्यास करना चाहिये ॥ -४२-४३- ॥

शरीर की उत्पत्ति के कारणभूत, माया से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तत्त्वों का निष्कलभट्टारक के तुल्य व्याप्ति वाले इकतीस प्रणव के द्वारा शुद्धदेह की उत्पत्ति के लिये न्यास करना चाहिये । प्रणव का न्यास करने से ये तत्त्व अपनी पूर्वदशा को छोड़कर अन्य प्रकार के हो जाते हैं । (उस अन्य प्रकारता को 'तथाहि' के द्वारा स्पष्ट करते हैं)—इस साधक के लिये अख्याति रूपा माया भेद की प्रगल्भता

अस्य, कला पूजाध्यानादिकिंचित्कर्तृत्वोन्मीलिका, विद्या तात्त्विकविवेकप्रदा, रागो भक्त्यभिष्वङ्गप्रदः, कालः उपदेशादिविषयकलनाप्रदः, नियतिः भगवदाराधनादौ नियामिका, पुंभावः 'अहं शिव एव' इति प्रथाप्ररोहकः । एवमन्यत् ॥ ४२ ॥

अस्यास्तत्त्वैकत्रिंशतो मध्यात्—

षट्तत्त्वी त्वात्मसंबद्धा ज्ञातव्यात्र वरानने॥ ४३ ॥

मायादिनियत्यन्ता कञ्चुकरूपा षट्तत्त्वी आत्मनः पुंस्तत्त्वस्य तण्डुलकम्बुकवत् सम्यगालक्ष्य पृथक्तया बद्धा ज्ञातव्या, न त्वस्यामात्माभेदो ग्राह्यः । एवमात्मनः परो देहः ॥ ४३ ॥

स्थूलसूक्ष्मौ युगपदाह—

प्रधानावनिपर्यन्तं शरीरं च विनिर्मितम् ।

ज्ञातव्यमिति लिङ्गविपरिणामात् । विनिर्मितं कृत्रिमं न तु तात्त्विकमित्यर्थः ॥

अत्र च—

चतुर्विंशतितत्त्वानि चैतन्यरहितानि तु ॥ ४४ ॥

का मोह नहीं उत्पन्न करती । कला किञ्चित्कर्तृत्व तो उत्पन्न करती है पर पूजा ध्यान आदि विषयक । विद्या साधक को तात्त्विक भेद का ज्ञान कराती है । राग उस परमेश्वर के प्रति भक्ति उत्पन्न करता है । काल उपदेश आदि विषयों की कलना करता है । नियति भगवान् की आराधना आदि की नियमिका हो जाती है और पुंभाव 'मैं शिव हूँ' इस प्रकार की धारण उत्पन्न करती है । इसी प्रकार अन्य तत्त्वों के बारे में समझना चाहिये ॥ ४२ ॥

इन इकतीस तत्त्वों में से—

हे वरानने ! आत्मा से सम्बद्ध छः तत्त्वों को जानना चाहिये ॥ -४३ ॥

माया से लेकर नियतिपर्यन्त कञ्चुकरूप छः तत्त्वों को आत्मा = पुरुष तत्त्व से तण्डुलकम्बु (= चावल की भूसी) के समान अच्छी तरह समझ कर पृथक् रूप में बद्ध समझना चाहिये न कि इनको आत्मा से अभिन्न समझना चाहिये । इस प्रकार शरीर आत्मा से भिन्न है ॥ ४३ ॥

स्थूल एवं सूक्ष्म को एकसाथ कहते हैं—

प्रधान (= प्रकृति) से लेकर पृथ्वी पर्यन्त शरीर को निर्मित समझना चाहिये ॥ ४४- ॥

समझना चाहिये क्योंकि उनका लिङ्ग परिणाम होता है । विनिर्मित का अर्थ है—कृत्रिम न कि तात्त्विक ॥

द्रष्टव्यानि वरारोहे................

द्रष्टव्यानि वेद्यतयैव निश्चेयानि ॥ ४४ ॥

यद्येतान्यचेतनानि कथमेतानि दृश्यन्ते ? इत्याह—

.........पुरुषाधिष्ठितानि तु ।
सचेतनानि सर्वाणि ज्ञातव्यानि सदैव हि॥ ४५ ॥

अधिष्ठितता कलोद्दलितस्वकर्तृताच्छुरणम्, ज्ञातव्यानि अहन्तापहस्तनेन वेद्यरूपाणि बोद्धव्यानि, बुद्धेरपि वृत्तिद्वारेण वेद्यत्वात् । वेद्यत्वादेवैतानि तण्डुलतुषवद् बहिरङ्गानि । षट्तत्त्वी तु आत्मनोऽन्तरङ्गप्रधानस्य संवेद्यपर्वत्वमिति ॥ ४५ ॥

तेन सह—

पञ्चविंशकमेतच्च प्राकृतं समुदाहृतम् ।

प्रकृतिरेव प्राकृतम्, प्रकृतेरायातं च प्राकृतं गुणादिक्षित्यन्तमेव । 'ॐ शुद्धदेहाय नमः' इति मन्त्रेण युगपत्षट्तत्त्वीरूपं परम्, तन्मात्रान्तःकरणरूपं सूक्ष्मम्, पृथिव्यादिरूपं च स्थूलं परामृतप्लावितस्यात्मनो देहं न्यसेत् ॥

हे वरारोहे ! (पृथ्वी से लेकर प्रकृति) तक चौबीस तत्त्वों को चैतन्य से रहित देखना अर्थात् जानना चाहिये ॥ -४४-४५- ॥

देखना चाहिये = वेद्य के रूप में जानना चाहिये ॥ ४४ ॥

प्रश्न है कि यदि ये अचेतन हैं तो दिखलायी क्यों पड़ते हैं? इसका उत्तर देते हैं—

पुरुष के द्वारा अधिष्ठित होने पर इन सबको सदैव सचेतन जानना चाहिये ॥ -४५ ॥

अधिष्ठित होना = कला (कञ्चुक) के द्वारा उत्प्रेरित स्वकर्तृता का बोध होना । जानने चाहिये = अहन्ता के हटने से वेद्यरूप समझे जाने चाहिये क्योंकि बुद्धि भी वृत्ति के द्वारा वेद्य होती है । वेद्य होने के कारण ही ये सब चावल की भूसी के समान बहिरङ्ग हैं और छः तत्त्व अन्तरङ्ग प्रधान आत्मा के संवेद्य है ॥ ४५ ॥

उसके साथ—

यह पचीस तत्त्वों का समूह प्राकृत कहा गया है ॥ ४६- ॥

प्रकृति ही प्राकृत है, अथवा प्रकृति से आया हुआ प्राकृत है अर्थात् गुणों से लेकर पृथ्वी तक के तत्त्व । 'ॐ शुद्धदेहाय नमः' इस मन्त्र से छः तत्त्व रूप पर, तन्मात्रा और अन्तःकरण रूप सूक्ष्म एवं पृथिवी आदि रूप स्थूल देह जो कि पर अमृत से प्लावित आत्मा का देह है, का न्यास करना चाहिये ॥

तामेव शुद्धरूपतां स्फुटयितुमाह—

ततो मूर्तिं न्यसेद् देवि मूलमन्त्रसुलक्षितम् ॥ ४६ ॥
सकलं भैरवं न्यस्य द्वात्रिंशार्णं सुलोचने ।
मुखानि कल्पयेत्पश्चान्मूर्धादिचरणावधि ॥ ४७ ॥
वक्त्राणि कल्पयेत् पश्चादूर्ध्वं पूर्वं च दक्षिणम् ।
उत्तरं पश्चिमं चैव यथावत्प्रविभागशः ॥ ४८ ॥
कलाभेदं यथापूर्वं शोध्याध्वानं प्रकल्पयेत् ।
नवतत्त्वं त्रितत्त्वं च विद्याङ्गा लोचनत्रयम् ॥ ४९ ॥
वर्गातीतेन क्षुरिकामूर्ध्वाधोऽग्निप्रदीपिताम् ।
षोडशान्तर्गता सा तु रक्षिका विघ्ननाशिका ॥ ५० ॥
नवकं कल्पयेत् पश्चात् मूर्ध्नि वक्त्रे च कण्ठके ।
हृदये नाभिदेशे च गुह्य ऊर्वोश्च जानुतः ॥ ५१ ॥
पादान्तं चैव विन्यस्य स्वध्यानगुणसंयुतम् ।
क्रियाज्ञाने तथेच्छा च दक्षे वामे च मध्यतः ॥ ५२ ॥
विद्याराजः स्मृतो ह्येष भैरवो मन्त्रनायकः ।

सर्वमेतत्प्रथमपटल एव यथा निर्णीतसतत्त्वं तथेहोत्तरत्रापि चानुसंधेयम्,

---

उसी शुद्धरूपता को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं—

हे देवि ! इसके बाद मूर्त्ति का न्यास करना चाहिये । हे सुलोचने ! मूल मन्त्र से सुलक्षित बत्तीस अक्षरों वाले सकल भैरव का न्यास कर मुखों की कल्पना करनी चाहिये । बाद में शिर से लेकर पैर तक वक्त्रों की कल्पना करे । ये वक्त्र ऊर्ध्व पूर्व दक्षिण पश्चिम और उत्तर की ओर उचित विभाग के साथ कल्पित होने चाहिये । पूर्वोक्त विधि से कला भेद और शोधनीय अध्वा की कल्पना करनी चाहिये ।[१] नव तत्त्व, तीन तत्त्व, विद्याङ्ग, तीन नेत्र, वर्गातीत के साथ ऊपर नीचे अग्निप्रदीपित क्षुरिका का ध्यान करना चाहिए । सोलह स्वरों के अन्त में वर्त्तमान यह क्षुरिका रक्षिका एवं विघ्ननाशिका है । इन नव की कल्पना करनी चाहिये । तत्पश्चात् शिर, मुख, कण्ठ, हृदय, नाभि, गुह्येन्द्रिय, दोनों ऊरुओं, दोनों जङ्घाओं और दोनों पैरों तक अपने स्थानों के गुणों से युक्त (मूल मन्त्र का) न्यास करना चाहिये । (भैरव के) दाहिने ज्ञानशक्ति का, बायें क्रियाशक्ति का और मध्य में इच्छाशक्ति का न्यास करना चाहिये । यह भैरव विद्याराज मन्त्रनायक माना गया है. ॥ -४६-५३- ॥

---

१. भागवत श्रीधरी टीका (११-१२-१) तथा (११-१२-२४) इत्यादि । अहिर्बुध्न्यसंहिता (८।२-५)

विषममतिरिक्तं च व्याक्रियते । मुखानीति क्षादीनि, मूर्धादीति दण्डभङ्ग्या सहायमेव क्रमो युक्तो भैरवन्यासान्तं सृष्टिक्रमस्य स्थितत्वादित्युक्तत्वात्; अतो न नैष्ठिकाभिप्रायेणान्यथा व्याख्येयम् । यथावत्प्रविभागश इति कवाटवक्त्रभङ्गिभ्याम् । शोध्याध्वानम् इति सकलन्यासान्ते कलाद्येकतममध्वानं भावियुक्त्या गर्भीकृतेतराध्वपञ्चकन्यासादिवशेन शोधनीयं दीक्षायामेव कल्पयेत् । यद्वक्ष्यति—

'दीक्षाकाले तु देवेशि शोध्याध्वानं प्रकल्पयेत्' (२।२७३)

इति । विद्याङ्गा इति सशोऽत्र आ-आदेशः, विद्याङ्गानीत्यर्थः । क्षुरिकामन्त्रः कट्यां न्यस्यः, स पूर्वमनुक्तत्वादिहोक्तः । वर्गातीतः क्ष्, अग्निः र्, षोडशान्तः षोडशस्वराणामन्तः अः, नवकम् इति श्रीस्वच्छन्देशकपालीशाद्यष्टकोपेतम् । अस्य मूर्ध्नि इत्यादिना निर्देशः । स्वस्था (ध्या) नादि समनन्तरं भविष्यति । क्रियेत्यादि पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वात्—

'ज्येष्ठाज्ञाने तथा दक्षे क्रिया वामा तथोत्तरे' (७।१५२)

यह सब पहले पटल में जैसा बतलाया गया वैसा ही यहाँ भी समझना चाहिये । जो अंश क्लिष्ट एवं प्रथम पटल में वर्णित से अतिरिक्त है उसकी व्याख्या की जा रही है—मुख = क्ष आदि । मूर्धा आदि-दण्डभङ्गी के साथ यही क्रम युक्त है क्योंकि भैरवन्यासपर्यन्त सृष्टिक्रम है—ऐसा कहा गया है । इसलिये आस्थावान् के अभिप्राय से इसकी अन्य प्रकार से व्याख्या नहीं करनी चाहिये । यथावत् प्रविभागशः का तात्पर्य है—कपाट और वक्त्र की भंङ्गिमाओं से । शोध्य अध्वा को—सकल न्यास करने के बाद भावी (= आगे कही जाने वाली) युक्ति के अनुसार जिसमें अन्य पाँच अध्वा का न्यास अन्तर्भूत है ऐसे किसी एक अध्वा का शोधन करना चाहिये अर्थात् दीक्षा के समय कल्पना करनी चाहिये । जैसा कि कहेंगे—

'हे देवेशि ! दीक्षाकाल में शोधनीय अध्वा की कल्पना करनी चाहिये ।' (२।२७३)

विद्याङ्गा—इस पद में विद्याङ्ग शब्द के बाद आने वाली शस् विभक्ति को 'आ' आदेश हो गया है अर्थात् विद्याङ्गा शब्द का रूप है—विद्याङ्गानि । क्षुरिका मन्त्र का न्यास कटिप्रदेश में करना चाहिये । यह न्यास पहले अनुक्त होने के कारण यहाँ कहा गया । वर्गातीत = क्षकार । अग्नि = रकार । षोडशान्त = सोलहस्वरों का अन्त अर्थात् अः । नव = स्वच्छन्देशकपालीश आदि आठ से युक्त शिव । इसका (५१वें श्लोक में) उक्त 'मूर्ध्नि' 'वक्त्रे' इत्यादि के द्वारा निर्देश किया गया है । स्वध्यान आदि (का निर्देश) बाद में होगा । क्रियाज्ञाने पाठक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम के बलवत्तर होने से तथा—

'ज्येष्ठा और ज्ञान शक्ति दायें क्रिया और वामा बायें (न्यस्य हैं) ।'(७।१५२)

इति भाविग्रन्थेनैकार्थत्वात् प्राधान्याच्च दक्षिणे ज्ञानशक्तेर्वामे क्रियाशक्ते-र्न्यासः ॥ ५२ ॥

परन्यासमाह—

निष्कलं तु तथावाह्य अङ्गान्येवं यथाक्रमम् ॥ ५३ ॥

न्यसेदित्येव । आ समन्तात् द्वादशान्ताद्वाहयित्वा अवतार्येत्यर्थः । एवमित्या-वाह्य, अङ्गानि च सर्वज्ञत्वादिगुणषट्करूपाणीति पूर्वमेवोक्तम् । तेनात्राङ्गत्राण-रूपाण्यङ्गानीति तन्त्रान्तरयोजनमसत् । अङ्गन्यासावसरे मुद्राषट्कबन्धः कार्यः इति गुरवः । तत्र हृदि निलीनाङ्गुष्ठा मुष्टिः, सैवोच्छ्रिताङ्गुष्ठा शिरसि, उच्छ्रिततर्जनीका शिखायां, परस्परान्तरिताङ्गुलि पाणिद्वयं कवचे, मध्यमातर्जन्यनामिकाभिर्नेत्रत्रय-स्पर्शो नेत्रे, तर्जन्यङ्गुष्ठच्छोटिकादर्शनमस्त्रे ॥ ५३ ॥

आवाहनानन्तरम्—

गन्धैर्धूपैस्तथा पुष्पैर्विविधैर्भक्ष्यभोजनैः ।

इस अग्रिमग्रन्थ के साथ सङ्गति होने से तथा प्रधानता के कारण सकल परतत्त्व के दक्षिण पार्श्व में ज्ञानशक्ति एवं वामपार्श्व में क्रियाशक्ति का न्यास करना चाहिये ॥ ५२ ॥

पर न्यास को बतलाते हैं—

उसी प्रकार निष्कल का आवाहन कर उसी क्रम से अङ्गों का न्यास करना चाहिये ॥ -५३ ॥

आवाह्य = आ = चारो ओर पूर्णरूप से अर्थात् द्वादशान्त पर्यन्त वाहन कर = अवतारणा कर । एवम् = आवाहन कर । अङ्गों को = सर्वज्ञता तृप्ति आदि छः गुणों के रूप वाले—यह पहले ही कहा जा चुका है । इसलिये यहाँ पर अङ्गत्राण रूप अङ्ग अर्थ लेना असङ्गत है । अङ्ग न्यास के अवसर पर छः मुद्राओं का बन्धन करना चाहिये ऐसा हमारे गुरु कहते हैं । (उन छः मुद्राओं को बतलाते हैं—) अङ्गूठा उस मुट्ठी के अन्दर छिपा रहना चाहिये । यह हृदय न्यास की मुद्रा है । वही मुट्ठी जिसमें अङ्गूठा ऊपर उठा हो शिर पर लगाना चाहिये यह शिर न्यास है । शिखा न्यास के समय उसमे लगने वाली मुट्ठी की तर्जनी उठी रहेगी । कवच में दोनों हाथ लगेंगे जिनकी अङ्गुलिया परस्पर सटी रहेंगी । मध्यमा तर्जनी और अनामिका के द्वारा नेत्र में तीन नेत्रों का स्पर्श होगा । यह नेत्रत्रय का न्यास है । तर्जनी एवं अङ्गूठे को मिलाकर ताली बजाना अस्त्राय फट् न्यास में होता है ॥ ५३ ॥

आवाहन के बाद—

(साधक) मन से प्रकल्पित गन्ध पुष्प धूप (दीप एवं) अनेक प्रकार

पूजयेद् देवदेवेशं मनसैव प्रकल्पितैः ॥ ५४ ॥

एवं च—

आत्मानं भैरवं ध्यात्वा ततो हृद्यागमाचरेत् ।

पुर्यष्टकशरीरमपि भैरवीकर्तुमयं प्रक्रम आरब्धः ॥ ५४ ॥

तत्र याज्यस्य भैरवरूपस्यात्मन आसनन्यासं तावद्वितत्य निरूपयति—

नाभौ कन्दं समारोप्य नालं तु द्वादशाङ्गुलम् ॥ ५५ ॥
हृदन्तं कल्पयेद्यावत्तत्र पद्मं विचिन्तयेत् ।
अष्टपत्रं महादीप्तं केसरालं सकर्णिकम् ॥ ५६ ॥

कन्दं पद्मोत्पत्तिमूलम्, समारोप्य परिकल्प्य, मत्तगन्धपीडनयुक्त्या च कन्दं नाभौ नाभिविषये समारोप्य उल्लास्य, नालं प्राणशक्तिरूपम्, नाभिहृदयान्तरालस्य द्वादशाङ्गुलत्वात् द्वादशाङ्गुलमित्युक्तम् ॥ ५५-५६ ॥

अत्र व्याप्तिमाह—

कन्दं शक्तिमयं तत्र नाले वै कण्टकास्तु ये ।

के भक्ष्य भोजन से देवाधिदेव की पूजा करे ॥ ५४ ॥

इस प्रकार—

आत्मा रूपी भैरव का ध्यान कर फिर हृदय में याग करना चाहिये ॥ ५५- ॥

पुर्यष्टक (= मन बुद्धि अहङ्कार पञ्चतन्मात्र से बने हुए शरीर) को भी भैरव बनाने के लिये यह क्रम प्रारब्ध किया गया ॥ ५४ ॥

पूजनीय भैरवरूप आत्मा के आसन के न्यास का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—

अपने शरीर की नाभि में कन्द का समारोपण (= ध्यान करके) हृदय पर्यन्त बारह अङ्गुल के कमलनाल की कल्पना करनी चाहिये । उस नाल के ऊपर में केसर कर्णिका से युक्त अष्टदल कमल का ध्यान करना चाहिये ॥ -५५-५६ ॥

कन्द = कमल की उत्पत्ति का मूल (जड़) । समारोपित कर = परिकल्पना कर । मत्तगन्ध (= गुदा मार्ग) के पीड़न के द्वारा कन्द को नाभि में समारोपित कर = उल्लासित कर, प्राणशक्तिरूप नाल को । नाभि और हृदय के बीच की दूरी बारह अङ्गुल है इसलिये बारह अङ्गुल कहा गया ॥ ५५-५६ ॥

यहाँ (= इस विषय में) व्याप्ति बतला रहे हैं—

भुवनानि च तान्येव रुद्राणां वरवर्णिनि ॥ ५७ ॥
मायात्मको भवेद् ग्रन्थिरशुद्धाध्वव्यवस्थितः ।
विद्यापद्मं महादीप्तं कर्णिकाबीजराजितम् ॥ ५८ ॥
पुष्कराणि च देवेशि तत्र विद्येश्वराः स्मृताः ।
एवं ध्यात्वा महापद्मं सर्वदेवमयं शुभम् ॥ ५९ ॥

कल्पयेदित्यनुवर्तते । शक्तिरिच्छात्मा पारमेश्वरी आधारभूता यस्यां विश्वमिदमाध्रियते सा 'व्योमाकाराम्' इति वक्ष्यमाणत्वात् गर्भीकृतधरादितत्त्वचतुष्टया । यथोक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे—

'आदावाधारशक्तिं तु नाभ्यधश्चतुरङ्गुलाम् ।
धरां सुरोदं पोतं च कन्दश्चेति चतुष्टयम् ॥' (८।५५)

इति । तत्र अप्तत्त्वव्याप्त्या सुरार्णवम्, तेजोव्याप्त्या ख्यातं (पोतम्), प्राणप्रसूतिहेतुं व्यूहात्मकं वायुव्याप्त्या कन्दमित्येवंव्यक्तिका शक्तिः प्रकृतं रूपं यस्य तत्सारमित्यर्थः । अत एव अङ्कुरनालरूपाशेषाध्वव्यक्तेः तत्र गन्धतन्मात्रादिकलातत्त्वान्तनालव्याप्तिः । रुद्राणामिति तत्तत्तत्त्वाधिष्ठातृणाम् । महादीप्तमिति

हे वरवर्णिनि ! (शरीर में कल्पित होने वाला) कन्द शक्तिमय है । उसकी नाल में जो काँटे हैं वे रुद्रों के भुवन हैं । अशुद्ध अध्वा में स्थित माया ही ग्रन्थि (= कमलवृन्त) है । शुद्धविद्या रूपी कमल कर्णिकाबीज से युक्त है । हे देवेशि ! उसमें जो पुष्कर (= बीज) हैं वे विद्येश्वर हैं । इस प्रकार सर्वदेवमय शुभ महापद्म का ध्यान कर (कल्पना करनी चाहिये) ॥ ५७-५९ ॥

'कल्पना करनी चाहिये' यह अंश श्लोक सं० ५६ से लाकर यहाँ जोड़ना चाहिये । शक्ति परमेश्वर की इच्छारूपा है । वह आधार है क्योंकि यह विश्व उसमें आधृत होता है । वह व्योमाकारा है ऐसा आगे कहेंगे । इस प्रकार (वह व्योमाकारा शक्ति) पृथ्वी आदि (= जल तेज और वायु) चार तत्त्वों के अपने अन्दर समाहित किये है । जैसा कि श्रीपूर्वशास्त्र में कहा गया—

'पहले नाभि के नीचे चार अङ्गुल परिमाण वाली आधार शक्ति पृथ्वी का ध्यान करे फिर सुरोद, पोत और कन्द इस प्रकार कुल मिलाकर चार की कल्पना करे ।'

उनमें से जलतत्त्व की व्याप्ति के कारण सुरार्णव (=मदिरा का समुद्र), तेजस् तत्त्व की व्याप्ति से (पोत) कहा गया । उसके बाद प्राण की उत्पत्ति का कारण तथा वायु से व्याप्ति होने से व्यूहरूप कन्द है इस प्रकार की व्यक्ति (= तत्त्वों) वाली शक्ति अर्थात् प्रकृतरूप है जिसका, उस तत्त्व वाले (कमल का ध्यान करना चाहिये) । इसलिये अङ्कुर नाल रूप समस्त अध्वा व्यक्ति की गन्धतन्मात्र से कलातत्त्व पर्यन्त नाल की व्याप्ति है । रुद्रों का = तत्तत् तत्त्वों के अधिष्ठाताओं

शुद्धाध्ववर्त्यशेषमन्त्रतेजोमयत्वात् । पुष्कराणि बीजानि । विद्येश्वराः अनन्तभट्टारकाद्याः शिखण्ड्यन्ताः । एवं कन्दनालग्रन्थिदलकर्णिकाबीजरूपं षड्उत्थमासनं प्रसिद्धम् ॥ ५९ ॥

आसनन्यासे क्रममाह—

शक्तिन्यासो भवेत् पूर्वं कन्दं तु तदनन्तरम् ।
अङ्कुरं नालविन्यासमनन्तं परिकल्पयेत् ॥ ६० ॥
तेजोमयं महाशुभ्रं स्फुरत्किरणभास्वरम् ।

विश्वोल्लेखभित्तिभूतामिच्छाशक्तिमाविश्य तदवष्टम्भरूपं कन्दमाक्रम्य तदुन्मेषतत्प्रसररूपाङ्कुरनालात्मकमशेषं मायान्तमध्वानमासूत्र्य तदुपरि अनन्तं विद्येशं तेजोमयं स्मरणमात्रेण कल्पयेदित्यर्थः ॥ ६० ॥

नालं विन्यस्य यदुक्तं 'अनन्तं परिकल्पयेत्' इति, तन्मध्ये ग्रन्थिस्थाने सिंहासनं तदुपरि च पद्मं क्रमेण कल्पयितुमाह—

धर्मं ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं च क्रमान्न्यसेत् ॥ ६१ ॥

का शुद्धविद्यापद्म महादीप्त इसलिये है क्योंकि शुद्ध अध्वा के अन्दर रहने वाले समस्त मन्त्रों के तेज से युक्त है । पुष्कर = बीज । विद्येश्वर = अनन्तभट्टारक से लेकर शिखण्डी तक । इस प्रकार कन्द, नाल, ग्रन्थि, दल, कर्णिका और बीज रूपी छः वस्तुओं से बना हुआ आसन प्रसिद्ध है ॥ ५९ ॥

आसन के न्यास में क्रम को बतलाते हैं—

सबसे पहले शक्ति का होना चाहिये फिर उसके बाद कन्द का । नाल में सर्वत्र फैले हुए अङ्कुर की कल्पना करनी चाहिये । इस नाल के ऊपर तेजोमय अत्यन्त उज्ज्वल, चमकती हुयी किरणों से देदीप्यमान अनन्त की कल्पना करनी चाहिये ॥ ६०-६१- ॥

विश्व के प्रकाशन की आधारभूता इच्छाशक्ति से आविष्ट होकर उसके अवष्टम्भ (= आधार) भूत कन्द को आक्रान्त कर उस (कन्द) के उन्मेष एवं प्रसार रूप अङ्कुरनाल रूपी समस्त मायापर्यन्तवर्तमान अध्वा की कल्पना कर उसके ऊपर तेजोमय विद्येश्वर अर्थात् अनन्त की कल्पना करनी चाहिये ॥ ६० ॥

नाल का न्यास करके, अनन्त की कल्पना करने के पहले उस (= नाल) के मध्य में ग्रन्थिस्थान में सिंहासन और उसके ऊपर कमल की कल्पना क्रमशः करनी चाहिये—यह कहते हैं—

(उस कमल पर) धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य का क्रमशः न्यास करना चाहिये ॥ -६१ ॥

एते च—

सितरक्तपीतकृष्णा आग्नेय्यादीशदिग्गताः ।
पादकाः सिंहरूपास्ते त्रिनेत्रा भीमविक्रमाः ॥ ६२ ॥

पादका इति-एतद्वासनानुविद्धा हि संचरन्ति संसारे—इत्यशेषसंसारिणः अज्ञाताः पादाः पादकाः, एते सिंहरूपा इति पराक्रममहिम्ना, अशेषविश्वा क्रमणात् । ईश्वरशक्त्यधिष्ठाने एवैतदेषां घटते न तु सांख्यनये जडबुद्धिधर्मरूपतायाम् इतीश्वरशक्त्यधिष्ठानादेते त्रिनेत्राः, घोरसंसारघातहेतुत्वाच्च भीमविक्रमाः ॥ ६२ ॥

एते च मुमुक्षुणा—

शिवशक्तिमया मन्त्रा न्यस्तव्या वीरवन्दिते ।

वस्तुतः परमेश्वरशक्तिमया एव, तथा त्वपरिज्ञाता अधरपदसञ्चारिणः । यदा तु यथा प्रत्यभिज्ञायन्ते, तदा मननत्राणधर्मकाः प्रत्यभिज्ञातुः शिवस्य इच्छया मन्त्ररूपतां प्रकटयन्तः शुद्धप्रसरणिसंसारिणो भवन्ति भक्तिभाज इति परमार्थः, न त्वन्यथैषां मन्त्ररूपता काचित्, अशुद्धाध्वव्यवस्थितेः ॥

ये (धर्म आदि)—

क्रमशः श्वेत रक्त पीत और कृष्ण वर्ण के होने चाहिये । इनका न्यास आग्नेयी दिशा से ईशान कोण तक होना चाहिये । ये पादक, सिंहरूप, त्रिनेत्र और भयङ्कर पराक्रम वाले हैं ॥ ६२ ॥

पादक का अर्थ है—अज्ञातपाद । (ये विद्येश्वर) इस वासना (= धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य की वासना) से अनुविद्ध होकर संसार में व्यवहार करते हैं । पराक्रम की महिमा से ये सिंहरूप हैं क्योंकि समस्त विश्व को ये आक्रान्त किये रहते हैं । ईश्वरशक्ति के द्वारा अधिष्ठित होने पर ही इनके विषय में यह (= सिंहरूपता भीमविक्रम गुण) घटित होता है न कि सांख्यसिद्धान्त के अनुसार इनको जड़बुद्धिधर्मा मानने पर । इस प्रकार ईश्वर शक्ति के अधिष्ठान के कारण ये त्रिनेत्र हैं और घोर संसार के नाश का हेतु होने से भयङ्कर पराक्रमी हैं ॥ ६२ ॥

इन मन्त्रों का न्यास मुमुक्षु द्वारा—

हे वीरवन्दिते ! शिवशक्तिमय इन मन्त्रों का न्यास मुमुक्षु के द्वारा किया जाना चाहिये ॥ ६३- ॥

(ये मन्त्र) वस्तुतः पारमेश्वरी शक्ति से सम्पन्न है । उस रूप में परिज्ञात न होने पर ये अधर पद में सञ्चरण करते हैं । और जब यथार्थ रूप में इनकी प्रत्यभिज्ञा होती है तब मनन एवं त्राण धर्म वाले ये प्रत्यभिज्ञाता शिव की इच्छा से अपनी मन्त्ररूपता को प्रकट कर शुद्ध प्रसरणी पर चलने वाले होते हैं अर्थात् भक्ति के पात्र बनते हैं । इनकी मन्त्ररूपता अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है क्योंकि वे अशुद्ध

सिंहासनेऽवयवान्तराण्याह—

अधर्माज्ञानावैराग्यमनैश्वर्यं च प्राग्दिशः ॥ ६३ ॥
उत्तरान्तं निवेश्यं तु............

एते हि—

............गात्रकाः सितवर्णकाः ।

सिंहासनपट्टिकारूपाः । प्रायश्च सर्वेऽख्यातिमयमायाच्छादितत्वादधर्मादिमयाः, अत एव धर्मादीन् प्रति स्पृहयालव इत्यधर्मादय एषां मायापदे अज्ञातानि गात्राणि गात्रकाणि, अज्ञातार्थे 'कन्' ॥ ६३ ॥

अत्रैव—

संधानकीलकाश्चैव अतसीपुष्पसंनिभाः ॥ ६४ ॥
वेदा युगाश्च ते चैव ज्ञातव्याः क्रमशः प्रिये ।

आग्नेय्यादिक्रमेण प्रतिकोणं पादकेन सह गात्रकद्वयस्य बन्धनार्थं कीलकद्वयमिति । ऋगादयो वेदाः, कृतादयश्च युगास्तत्तद्भोगवासनाः पुष्णन्तः संसारबन्धन-

---

अध्वा में रहते हैं ॥

अब सिंहासन में दूसरे अवयवों को बतलाते हैं—

पूर्व दिशा से लेकर उत्तर दिशा तक अधर्म अज्ञान अवैराग्य और अनैश्वर्य का निवेश करना चाहिये ॥ -६३-६४- ॥

ये—

गात्रक एवं श्वेतवर्ण के हैं ॥ -६४- ॥

ये सिंहासन की पट्टिका के समान हैं । प्रायः सब के सब अख्याति (= अज्ञान) मयी माया से आच्छादित होने के कारण अधर्म आदि से युक्त है । इसीलिये धर्म आदि के प्रति इनकी तीव्र स्पृहा रहती है । इस प्रकार माया के स्तर पर ये अधर्म आदि से युक्त हो जाते हैं । गात्रक का अर्थ है—अज्ञात गात्र (यहाँ अज्ञात अर्थ में 'कन्' प्रत्यय है) ॥ ६३ ॥

हे प्रिये ! यहीं पर चारो वेद और चारो युग जो कि सन्धानकीलक हैं और अतसी (= अलसी) के पुष्प के समान कृष्ण वर्ण वाले हैं, का क्रमश = ध्यान करे ॥ -६४-६५- ॥

आग्नेय आदि के क्रम से चारो दिक्कोणों में पादक के साथ दो गात्रकों को बाँधने के लिये दो कीलक का ध्यान करे । ऋक् आदि चार वेद और सत्य आदि चार युग तत्तद् भोगवासना को पुष्ट करते हुए संसार बन्धन के कारण है । विचित्र

हेतवो विचित्रशङ्काशङ्कुरूपाः संधानकीलका इत्युक्ताः । बन्धकत्वादेव च कृष्णवर्णा ज्ञातव्याः । पूर्वोक्तपारमेश्वरशक्तिरूपतया यथाऽज्ञाता बन्धका भवन्ति । ननु एते बुद्धिधर्माः कथमियतीं भूमिं प्राप्ताः? उच्यते—सर्वेषां बुद्ध्यादिधर्माणां मायोत्पत्तिभूः, बुद्ध्यादयस्तु विभवस्थानम्, उच्छेद्यास्तु मूलभूमित उच्छिन्ना न पुनः प्ररोहन्तीत्युत्पत्तिपदादुच्छेत्तुमेतानीदृक्क्रमो दर्शितः ॥ ६४ ॥

अत एव सत्त्वरजस्तमांसि मूलत एवोच्छेत्तुं सिंहासनोपरि गुणमयमेव मायामसूरकं न्यसितुमाह—

अधश्छादनमूर्ध्वं च रक्तं शुक्लं विचिन्तयेत् ॥ ६५ ॥
मध्ये तमो विजानीयाद्गुणास्त्वेते व्यवस्थिताः ।

ऊर्ध्वं शुद्धविद्यानिकटवर्तित्वात् सितं सत्त्वरूपम् । अधस्तु संसरणानुगुणत्वाद्रक्तं रजोमयम् । मध्ये तु ख्यात्याच्छादनप्रकर्षात् तमोमयं कृष्णम् । प्राधानिकः प्रपञ्चो मायायामसन्नित्यादि त्वसत्, अशेषमायाकार्यस्य मायायां सूक्ष्मरूपतया भुवनाध्ववर्णयिष्यमाणस्थित्यावस्थित्यावस्थितत्वात् । शक्तिपातपवित्रैस्तु

शङ्काशङ्कुरूप होने के कारण ये कीलक कहे गये हैं । बन्धन का कारण होने से इन्हें काले रङ्ग का समझना चाहिये । पूर्वोक्त पारमेश्वरीशक्ति के रूप में ज्ञात न होने के कारण ये बन्धन कारक होते हैं । प्रश्न है कि ये धर्म आदि बुद्धि के धर्म हैं फिर इस भूमि (बन्धक आदि भाव) को कैसे प्राप्त होते हैं? उत्तर देते हैं—समस्त बुद्धि धर्मों (धर्म ज्ञान आदि आठ) की उत्पत्ति भूमि माया है । बुद्धि आदि उसके वैभव के स्थान हैं । जो उच्छेद्य हैं मूलभूमि से उनका उच्छेद करने पर वे पुनः उत्पन्न नहीं होते । इसलिये उत्पत्तिस्थान से इनका उच्छेद करने के लिये यह क्रम दिखलाया गया ॥ ६४ ॥

इसलिये सत्त्व, रजस् एवं तमस् का मूल से उच्छेद करने के लिये सिंहासन के ऊपर गुणमय 'मायामसूरक (= मायारूपी छादन) का न्यास करने के लिये कहते हैं—

नीचे ऊपर एवं बीच में रक्त श्वेत एवं कृष्ण छादन की कल्पना करनी चाहिये । ये गुण (इसी प्रकार) स्थित करने चाहिये ॥ -६५-६६- ॥

ऊर्ध्व भाग शुद्धविद्या का निकटवर्ती होने से श्वेत सत्त्वरूप है । नीचे वाला संसरण के अनुरूप होने के कारण रक्त रजोगुण वाला है । मध्य में ख्याति (= ज्ञान) के आच्छादन के प्रकर्ष के कारण कृष्ण वर्ण का तमोगुणमय है । प्रकृति का प्रपञ्च माया में नहीं रहता यह कथन असत् है । क्योंकि माया का समस्त कार्य (= प्रकृति आदि) माया में सूक्ष्मरूप से स्थित रहता है । यह कार्य भुवनअध्वा रूप है जिसका वर्णन आगे किया जायेगा । शक्तिपात से पवित्र हुए साधकों के द्वारा

---

१. मसूरक का अर्थ खसरा रोग भी होता है ।

सर्वमेतच्छिवशक्तिरूपं मन्त्रतयैव भवनीयम् ।

यद्वक्ष्यति—

'यत्र यत्र' इत्युपक्रम्य, सर्वं शिवमयं यतः ॥ (४।३१०) इति ॥

अथ सिंहासनमसूरकोपरि विद्यापद्मं न्यसितुमाह—

सितं पद्मं विजानीयात् केसराणि विचिन्तयेत् ॥ ६६ ॥
सितरक्तप्रपीतानि मूलमध्याग्रदेशतः ।
कर्णिका हेमसङ्काशा बीजानि हरितानि तु ॥ ६७ ॥

ईदृग्वर्णमेव सितपद्मं भवति । सितत्वं चास्य शुद्धविद्यामयत्वात् ॥ ६७ ॥

अस्य दलेषु देवतान्यासमाह—

वामां पूर्वदले न्यस्य ज्येष्ठां वह्निदलाश्रिताम् ।
रौद्रीं दक्षिणपत्रे तु कालीं नैर्ऋतगोचरे ॥ ६८ ॥
कलविकरणीं देवीं विन्यस्येद् वारुणे दले ।
बलविकरणीं देवीं वायव्यदलमाश्रिताम् ॥ ६९ ॥
बलप्रमथनी देवीमुत्तरे विनियोजयेत् ।
सर्वभूतदमनीं च ऐशान्यां विनियोजयेत् ॥ ७० ॥
मध्ये मनोन्मनीं देवीं कर्णिकायां निवेशयेत् ।

शिवशक्ति रूप यह सब मन्त्र के रूप में समझा जाना चाहिये ।

जैसा कि कहेंगे—

'जहाँ-जहाँ मन जाता है वहाँ-वहाँ ज्ञेय (= शिव) को ही समझना चाहिये । यह मन चल कर अन्यत्र कहाँ जायेगा क्योंकि सब शिवमय ही है' ॥ (४।३१०)

अब सिंहासनमसूरक के ऊपर विद्यापद्म का न्यास बतलाते हैं—

श्वेत कमल का ध्यान करना चाहिये । कमल के मूल मध्य एवं अग्र भागों में श्वेत रक्त और पीत केशरों का चिन्तन करे । कर्णिका स्वर्ण के समान और बीज हरे रङ्ग का होना चाहिये ॥ -६६-६७ ॥

श्वेत कमल इसी वर्ण का होता है । इस कमल की श्वेतता इसके शुद्ध विद्यामय होने के कारण है ॥ ६७ ॥

इस (कमल) के दलों में देवताओं का न्यास बतलाते हैं—

पूर्व दल में वामा, आग्नेय दल में ज्येष्ठा, दक्षिण पत्र में रौद्री, नैर्ऋत्य दल में काली, पश्चिम दल में कलविकरणी, उत्तर पत्र में बलप्रमथनी, ऐशान पत्र में सर्वभूतदमनी मध्य में कर्णिका में मनोन्मनी देवी

स्पष्टमेतत् ॥ ७० ॥

एतच्च—

शक्रचापनिभं देवि ध्यातव्यं शक्तिमण्डलम् ॥ ७१ ॥

ततोऽपि—

मध्ये सूर्यसहस्राभां चिन्तयेत्तु मनोन्मनीम् ।

एता देव्यो भुवनाध्वनीत्या परेण रूपेण शक्तितत्त्वे स्थिताः, मध्ये तु पदे परापरेण, इह तु विद्यायामपरेण रूपेणेति विभागः । तत्रैव चासां नामानुसारि स्वरूपं दर्शयिष्यामः, सर्वं प्रागुक्तशक्तित्रयमयमिति ॥

विद्यातत्त्वे मानमेयमातृरूपं ज्ञानक्रियेच्छाव्याप्तिसतत्त्वं मण्डलत्रयं न्यसितुमाह—

सूर्याध्वमण्डलं पत्रे सोमं संयोज्य केसरे ॥ ७२ ॥
वह्निमण्डलकं देवि कर्णिकायां निवेशयेत् ।

अत्र हि मेयरूपस्य सोमस्य वह्निसूर्यात्मकमातृमानमध्यवर्तित्वम्, न हि

का न्यास करना चाहिये ॥ ६८-७१- ॥

इसका अर्थ स्पष्ट है ॥ ७० ॥

शक्तिमण्डल का इन्द्र धनुष के समान (रङ्ग-विरङ्गा) ध्यान करना चाहिए ॥ ७१- ॥

इसके बाद—

(कमल के) मध्य में हजारों सूर्य के समान चमक वाली मनोन्मनी का ध्यान करना चाहिये ॥ ७२- ॥

ये देवियाँ भुवन अध्वा (= देशाध्वा) की दृष्टि से शक्तितत्त्व में पर रूप से स्थित हैं, मध्यपद में परापर और इस विद्या में अपर रूप से स्थित हैं—ऐसा विभाग है । इनके नाम के अनुसार इनका रूप वहीं (भुवनाध्वाप्रकरण में) दिखलायेंगे । सब[१] = पूर्वोक्त तीनशक्तिमय ॥

विद्यातत्त्व में प्रमाण प्रमेय प्रमातारूप ज्ञान क्रिया इच्छा व्याप्ति वाले तीन मण्डलों का न्यास बतलाते हैं—

हे देवि ! कमल के पत्रों में सूर्याध्वमण्डल, केसर में चन्द्रमण्डल और कर्णिका में अग्निमण्डल का न्यास करना चाहिये ॥ -७२-७३- ॥

---

१. 'सर्वम्' इस प्रतीक से अनुमान होता है कि मूल पाठ में कोई श्लोकार्ध और रहा होगा अनुपलब्ध होने के कारण जिसका मुद्रण नहीं हुआ ।

मातृप्रकाशभित्तिं विना मानप्रकाशाच्छुरणं विना वा मेयप्रकाशः कश्चित् । प्रमात्रैव हि चिद्रसाश्यानीभावात्म मेयमाभास्यते, आभास्यमानं च प्रमाणप्रकाशाच्छुरितमेव भवतीत्यलमधिकेन; (विस्तृतं च) भविष्यत्येतत् सृष्टिसंहारपटले ॥ ७२ ॥

एतद्धामत्रयाधिष्ठातृदेवतात्रयं निरूपयति तदधिष्ठातृविश्वान्तर्भावमत्र प्रकटयितुम्—

ब्रह्मा विष्णुर्हरश्चैव मण्डलेष्वधिपाः स्मृताः ॥ ७३ ॥

परापरया व्याप्त्या एषां ध्यानमाह—

ब्रह्मा चतुर्मुखो रक्तश्चतुर्बाहुविभूषितः ।
कृष्णाजिनोत्तरीयश्च राजीवासनसंस्थितः ॥ ७४ ॥
कमण्डलुधरो देवि दण्डहस्तस्तथैव च ।
अक्षमालाधरो देवः पद्महस्तः सुलोचनः ॥ ७५ ॥
ध्यात्वा पत्रेषु तं न्यस्येत् सर्वकिल्विषनाशनम् ।
अतसीपुष्पसङ्काशं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ ७६ ॥
पीताम्बरधरं देवं वनमालाविभूषितम् ।
स्फुरन्मुकुटमाणिक्यं किङ्किणीजालमण्डितम् ॥ ७७ ॥

यहाँ प्रमेय रूप सोम अग्नि और सूर्य रूप प्रमाता और प्रमाण के बीच स्थित है क्योंकि प्रमातृ प्रकाश के आधार एवं प्रमाण प्रकाश के सम्बन्ध के बिना प्रमेय का कोई प्रकाश सम्भव नहीं होता । प्रमाता के द्वारा ही चिद्रसाश्यानी भाव रूप (= जहाँ चैतन्य का अंश बहुत क्षीण रहता है वह) मेय आभासित (= ज्ञात) होता है और वह आभास्यमानता बिना प्रमाण प्रकाश से सम्बद्ध हुए नहीं होती । इससे अधिक कहना ठीक नहीं । इसका विस्तृत वर्णन सृष्टिसंहार पटल में होगा ॥ ७२ ॥

तीन धामों के अधिष्ठातृ देवों का विश्व में अन्तर्भाव प्रकट करने के लिये इन तीन धामों के अधिष्ठातृ तीन देवों का निरूपण करते हैं—

इन (सूर्य सोम और वह्नि) मण्डलों में ब्रह्मा विष्णु और हर (= रुद्र) स्वामी माने गये हैं ॥ -७३ ॥

परापरा व्याप्ति से इनका ध्यान बतलाते हैं—

हे देवि ! ब्रह्मा चार मुखों, रक्तवर्ण, चार भुजाओं वाले हैं । ये काला चमड़ा ओढ़ते हैं । कमल के आसन पर बैठे हैं । एक हाथ में कमण्डलु, दूसरे में दण्ड, तीसरे में अक्षमाला और चौथे हाथ में कमल धारण किये हुए ये सुन्दर नेत्रों वाले हैं । समस्त पापों का नाश करने वाले इनका ध्यान कर इनका कमल के पत्तों में न्यास करना चाहिये । अतसी पुष्प के समान कान्ति वाले, शङ्ख चक्र गदा धारण करने वाले, पीतवस्त्र पहने

दिव्यकुण्डलधर्तारं गरुडासनसंस्थितम् ।
ध्यात्वा विष्णुं महात्मानं केशरेषु निवेशयेत् ॥ ७८ ॥

शङ्खेन पद्ममुपलक्ष्यते । मानमेययोर्लोलीभावान्मेयात्मनि सोममण्डले सृष्टिप्रधानेऽपि स्थितिकारी विष्णुः, स्थित्यात्मनि च प्रमाणरूपे सूर्यमण्डले सृष्टिकर्ता ब्रह्माधिष्ठाता, इति युज्यते एवैतत् ॥ ७८ ॥

शङ्खकुन्देन्दुधवलं शूलहस्तं त्रिलोचनम् ।
दशबाहुं विशालाक्षं नागयज्ञोपवीतिनम् ॥ ७९ ॥
सिंहचर्मपरीधानं शशाङ्ककृतभूषणम् ।
नीलकण्ठं वृषारूढं रुद्रं ध्यात्वा वरानने ॥ ८० ॥
निवेशयेत् कर्णिकायां महापातकनाशनम् ।

तदुपरि—

महाप्रेतं न्यसेत् पश्चात् प्रहसन्तं सचेतनम् ॥ ८१ ॥
रक्तवर्णं सुतेजस्कं नेत्रत्रयविभूषितम् ।

प्रकर्षेण इतः स्फुटेदन्तानिमज्जनेन अहन्ताप्रधानां स्थितिमनुप्रविष्टः प्रकर्षेण

हुए, वनमाला से विभूषित, उनके मुकुट में मणि चमक रही है, किङ्किणी (= छोटे-छोटे घुंघुरु) के जाल से अलङ्कृत, दिव्य कुण्डल को धारण किये हुए गरुड़ के आसन पर बैठे महात्मा विष्णु का ध्यान कर केशरों में उनका न्यास करना चाहिये ॥ ७४-७८ ॥

(श्लोक सं० ७६ में उक्त) शङ्ख शब्द पद्म का भी सङ्केतक है । प्रमाण और प्रमेय के चञ्चल होने से मेयरूप चन्द्रमण्डल जो कि सृष्टिप्रधान है, में स्थिति को विष्णु ही करते हैं एवं स्थिति रूप सूर्यमण्डल में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा अधिष्ठाता बनते हैं । इसलिये यह (= न्यास) ठीक है ॥ ७८ ॥

हे वरानने ! शङ्ख, कुन्द (= एक प्रकार का श्वेत वर्ण का कमल सदृश पुष्प) चन्द्रमा के समान श्वेत, हाथ में त्रिशूल लिये हुए, तीन नेत्रों वाले, दश भुजावाले, विशाल आँखों वाले, सर्प का यज्ञोपवीत धारण किये हुए, सिंह चर्म ओढ़ने वाले, बाल चन्द्रमा के अलङ्कार वाले, नील कण्ठ, बैल पर आरूढ़ रुद्र का ध्यान कर महापातक के नाशक इनका कर्णिका में न्यास करना चाहिये ॥ ७९-८१- ॥

उनके ऊपर—

बाद में (उनके ऊपर) सचेतन प्रहास करते हुए, रक्तवर्ण, तेजस्वी एवं त्रिनेत्र महाप्रेत (= सदाशिव) का न्यास करना चाहिये ॥ -८१-८२- ॥

च इतं गतं संबद्धं विश्वं यस्य इति व्युत्पत्त्या प्रेत इह सदाशिवः, स च महदिति पदेन अनाश्रितशिवरूपः । परमशिव एव च भगवानेकश्चिद्रूपस्तदधररूपवर्ती, इत्यनाश्रितादिस्तदेकजीवितः, स्वयं तु प्रेत इव प्रेतः, अधराध्वनोऽत्र स्तिमितत्वेनावस्थानाच्च प्रेतः, स च अपरया व्याप्त्या स्थूलः सदाशिवः, मध्यमया स एव नादरूपः, परया तु अनाश्रितः, इति तदनुसारेण सिंहासनं पद्मं च योज्यम् । स च प्रेतः परमशिवोऽहन्तानुप्रवेशादेव प्रहसन् नादामर्शरूपो महाविकासमयश्च, तेनैव परमशिवेन नादात्मना सचेतनः । एवमपि तावन्मात्रेदन्तोन्मेषात्मकोपाधिरूपत्वात् विश्वानुरञ्जकत्वाच्च रक्तवर्णः, बोधप्राधान्यात् सुतेजस्कः । वक्ष्यति च—

'सूर्यकोटिसमप्रभम् ।' (१०।१२१४)

इति भौवने पटले । इच्छाज्ञानक्रियाशक्त्यात्मना च एषणीयज्ञेयकार्यात्म विश्वं नयता नेत्रत्रितयेन ऊर्ध्वदृशा विशेषेण भूषितं राजमानम् । यथोक्तम्—

'तिस्रो देव्यो यदा चैनं नित्यमेवाभ्युपासते ।

(प्र उपसर्गपूर्वक 'इण्' गतौ धातु से बने प्रेत शब्द की व्याख्या करते हैं—) प्रकर्ष के साथ इत अर्थात् स्फुट इदन्ता का तिरोधान कर अहन्ताप्रधान स्थिति में अनुप्रविष्ट । अथवा प्रकर्ष के साथ इत = गत = सम्बद्ध है विश्व जिसका इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रेत का अर्थ है— सदाशिव । उसके आगे महा पद जोड़ने से उसका अर्थ हो गया—अनाश्रित शिव । भगवान् परमशिव एक और चिद् रूप हैं । वही अधररूपवर्त्ती होने पर अनाश्रितशिव हो जाते हैं । इस प्रकार अनाश्रित आदि उन्हीं (= परम शिव ही) के कार्य हैं । स्वयं तो वह प्रेत के समान प्रेत ही है । (चित् तत्त्व) यहाँ अधर अध्वा के स्तिमितरूप से (= शान्त रूप से) स्थित है होने के कारण प्रेत है । वह चिद्रूप तत्त्व अपर व्याप्ति के कारण स्थूल सदाशिव हो जाता है । मध्यव्याप्ति से वही नादरूप होता है और परव्याप्ति से वही अनाश्रित (शिव) हो जाता है । इसलिये उनके अनुसार सिंहासन और कमल की योजना करनी चाहिये । वह प्रेत परमशिव हैं । अपने अन्दर अहन्ता के अनुप्रवेश से वे हँसते रहते हैं अर्थात् नाद के आमर्श रूप हैं और महाविकासयुक्त हैं । उसी नादात्मक परम शिव के द्वारा (यह महाप्रेत) सचेतन हैं । ऐसा होने पर उतनी मात्रा में इदन्ता के उन्मेष वाली उपाधि से युक्त होने और विश्व का अनुरञ्जक होने के कारण वे सदाशिव रक्तवर्ण के हैं तथा बोध की प्रधानता के कारण अत्यन्त तेजस्वी हैं । जैसा कि आगे भुवन पटल में कहेंगे—

'करोड़ों सूर्य के समान कान्ति वाले हैं ।' (१०।१२२४)

इच्छा ज्ञान क्रिया शक्ति वाले, एषणीय ज्ञेय कार्यरूप विश्व का नयन करने वाले तीन नेत्रों ऊर्ध्व दृष्टि से विराजमान = विशेष रूप से अलङ्कृत (प्रेत का न्यास करना चाहिये) । जैसा कि कहा गया—

त्र्यम्बकस्तु तदा ज्ञेयः....................॥' इति ॥ ८१ ॥

एवमियत्पर्यन्तम्

प्रणवेन न्यसेत् सर्वमासनं भैरवस्य तु ॥ ८२ ॥

'ॐ आसनाय नमः' इति मन्त्रेण । एतत्सर्वमासनं चिद्भैरवाभेदेन व्याप्तं 'सर्वं शिवमयम्' इति वक्ष्यमाणत्वात् शक्तिरूपम्, न तु व्यतिरिक्तापररूपं प्रणवान्तर्गर्भीकारेण न्यसेत् । अत्र च—

'आसनं विभजेन्मन्त्री क्रमशः पद्ममुद्रया ।'

इति श्रीरौरव उक्तत्वात् करद्वयं मुकुलीकृत्य पद्ममुद्रास्फालनीया स्थापनीया ॥ ८२ ॥

गन्धैः पुष्पैः समभ्यर्च्य............

प्रणवेनैव ।

...........ततो मूर्तिं प्रकल्पयेत् ।
कदम्बकुसुमाकारां तुषारविरणत्विषम् ॥ ८३ ॥

प्रकाशाह्लादमयीमित्यर्थः ॥ ८३ ॥

'जब (इच्छा ज्ञान क्रिया रूप परा परापरा और अपरा) देवियाँ इनकी नित्य उपासना करने लगती हैं तब इन्हें त्र्यम्बक (= त्रिनेत्र) समझना चाहिये' ॥ ८१ ॥

इस प्रकार यहाँ तक—

भैरव के सम्पूर्ण आसन का प्रणव के द्वारा न्यास करना चाहिये ॥-८२॥

वह न्यास 'ॐ आसनाय नमः' इस मन्त्र से होगा । यह समस्त आसन चिद्भैरव के साथ अभेदेन व्याप्त है और 'सब शिवमय है' ऐसे वक्ष्यमाण वचन के कारण शक्तिरूप है न कि उससे भिन्न अपररूप । इसलिये इसको प्रणव के अन्दर समझ कर न्यास करना चाहिये । यहाँ—

'मन्त्रज्ञ विद्वान् आसन का विभाग क्रमशः पद्म मुद्रा के द्वारा करे ।'

रौरव शास्त्र की इस उक्ति के अनुसार दोनों हाथों को मिलाकर कमल की कली के समान बना कर पद्ममुद्रा का स्फालन स्थापन करना चाहिये ॥ ८२ ॥

प्रणव का उच्चारण करते हुए (ॐ गन्धं समर्पयामि आसनाय नमः इस प्रकार) गन्ध, पुष्प (धूप, दीप, नैवेद्य) के द्वारा पूजा कर फिर मूर्त्ति की कल्पना करनी चाहिये । यह मूर्त्ति कदम्ब के फूल के समान (गोल एवं) तुषार एवं विरण (= एक प्रकार की सुगन्धित घास) के समान कान्ति वाली अर्थात् प्रकाश और आह्लादमयी होनी चाहिये ॥ ८३ ॥

अथ—

मूर्त्यूर्ध्वे भैरवं देवं सकलं परिकल्पयेत् ।
द्वात्रिंशद्वर्णखचितं स्फुरत्तडिदिवोज्ज्वलम् ॥ ८४ ॥

हृत्तो द्वादशान्तं मन्त्रोच्चारं कृत्वा, तत्र क्षणं विश्रम्य हृद्येव मन्त्रराजं पुर्यष्टकं भैरवीकर्तुं न्यसेदिति गुरवः । अत्र च वक्ष्यमाणब्रह्मकवाटकलावक्त्रभङ्ग्यादि सर्वमासूत्रितमात्रं प्रभापुञ्जन्यायेन चिन्तयेत्, इत्याशयेन 'स्फुरत्तडिदिवोज्ज्वलम्' इत्युक्तम् ॥ ८४ ॥

अथ—

वक्त्राणि कल्पयेद् देवि स्वध्यानेन महेश्वरि ।
मूर्धादिचरणं यावत् प्रणवादिनमोन्ततः ॥ ८५ ॥
अष्टात्रिंशत्कलाभेदं शोध्याध्वानं प्रकल्पयेत् ।
नवतत्त्वं त्रितत्त्वं च नवकं भैरवाभिधम् ॥ ८६ ॥
विद्याङ्गा लोचनं चैव क्षुरिकां च प्रकल्पयेत् ।
शक्तित्रयं ततो न्यस्येद् दक्षदिग्वामगोचरे ॥ ८७ ॥
मध्यप्रदेशे देवेशि................

इसके बाद—

मूर्त्ति के ऊपर सकल (= कलाओं से युक्त) भैरव की परिकल्पना करनी चाहिये । ये भैरव बत्तीस वर्णों (क से लेकर स तक) के द्वारा निर्मित एवं चमकती हुई बिजली के समान उज्जवल हों ॥ ८४ ॥

हृदय से लेकर द्वादशान्त पर्यन्त मन्त्र का उच्चारण कर वहाँ एक क्षण के लिये विश्राम कर हृदय में ही पुर्यष्टक (= सूक्ष्म शरीर) को भैरव बनाने के लिये मन्त्रराज का न्यास करना चाहिये । यहाँ (= हृदय में) वक्ष्यमाण ब्रह्मकपाट, कला, वक्त्र की भङ्गिमा आदि सबको प्रभापुञ्जन्यायेन निर्मित समझना चाहिये इस अभिप्राय से 'स्फुरत् तडित् के समान उज्ज्वल' कहा गया ॥ ८४ ॥

इसके बाद—

हे देवि ! हे महेश्वरि ! अपने ध्यान के द्वारा भैरव के मुखों की कल्पना करनी चाहिये । प्रणव से लेकर नमः पर्यन्त शिर से लेकर पैर तक की कल्पना करनी चाहिए । फिर अँड़तीस कलाओं के भेद वाले शोध्य अध्वा की कल्पना करनी चाहिए । नव तत्त्व, तीन तत्त्व और नव भैरवों की कल्पना करनी चाहिए । विद्याङ्गों, नेत्र और क्षुरिका की कल्पना करने के बाद हे देवेशि ! दाँयीं-बाँयीं दिशा एवं मध्य स्थान में तीन शक्तियों का न्यास करनी चाहिए ॥ ८५-८८- ॥

एतदविस्मरणार्थं पुनरपि पठितम् । तत्त्वन्यासेन परमेश्वरसृष्टानि तच्छक्तिमयानि, भगवति तु प्रकाशानन्दघनानि अत एव आसनासी (नात्म?) विश्वं शिवमयमित्युक्तम् ॥ ८७ ॥

ध्यानमाह—

...........ततो रूपमनुस्मरेत् ।
त्रिपञ्चनयनं देवं जटामुकुटमण्डितम् ॥ ८८ ॥
चन्द्रकोटिप्रतीकाशं चन्द्रार्धकृतशेखरम् ।
पञ्चवक्त्रं विशालाक्षं सर्पगोनासमण्डितम् ॥ ८९ ॥
वृश्चिकैरग्निवर्णाभैर्हारिण तु विराजितम् ।
कपालमालाभरणं खड्गखेटकधारिणम् ॥ ९० ॥
पाशाङ्कुशधरं देवं शरहस्तं पिनाकिनम् ।
वरदाभयहस्तं च मुण्डखट्वाङ्गधारिणम् ॥ ९१ ॥
वीणाडमरुहस्तं च घण्टाहस्तं त्रिशूलिनम् ।
वज्रदण्डकृताटोपं परश्वायुधहस्तकम् ॥ ९२ ॥
मुद्गरेण विचित्रेण वर्तुलेन विराजितम् ।
सिंहचर्मपरीधानं गजचर्मोत्तरीयकम् ॥ ९३ ॥
अष्टादशभुजं देवं नीलकण्ठं सुतेजसम् ।

आरुरुक्षून् निष्कलधाम्नि प्रवेशयितुं भगवता स्वस्वातन्त्र्यात् ईदृगाकार

भूल न जायें इसलिये (एक बाद पढ़े गये इसको) पुनः पढ़ा गया । तत्त्वन्यास के द्वारा परेश्वरसृष्ट ये उस परमेश्वर की शक्तिवाले हैं । और भगवान् के अन्दर प्रकाशानन्दघन हैं । इसलिये आसन रूप विश्व शिवमय कहा गया है ॥ ८७ ॥

अब ध्यान को बतलाते हैं—

इसके बाद (भैरव के) रूप का स्मरण करना चाहिये । वह रूप तीन (शक्तियों से व्याप्त), पाँच नेत्रों वाला, जटा और मुकुट से सुशोभित, करोड़ों चन्द्रमा सी कान्तिवाला, मस्तक पर अर्धचन्द्रमावाला, पाँच मुखोंवाला, आँखें विशाल, सर्प और गोनास (= गोधा) से अलङ्कृत, अग्नि के समान रङ्ग वाले विच्छुओं और हार के द्वारा सुशोभित, कपालों की माला धारण किये हुए, खड्ग और ढाल लिये हुए, पाश और अङ्कुशधारी, हांथ में धनुष वाण वरद अभयमुद्रा मुण्ड खट्वाङ्ग वीणा डमरु घण्टा त्रिशूल वज्रदण्ड और परशु लिये हुए, गोलाकार विचित्र मुद्गर से सुशोभित, सिंह चर्म पहने एवं हाथी के चर्म को ओढ़े हुए अट्ठारह भुजा वाले तेजस्वी नीलकण्ठ वाला है ॥ -८८-९४- ॥

उन्मनाशक्तिभूमौ दर्शितः । नहि भौवने क्वापि ईदृग्देवोऽस्ति । शाक्तस्फारमयत्वादेव चायमष्टादशभुजो दुर्गादेव्यास्तथात्वात् । अस्मिंश्च प्रतिमुद्रास्थानीयाकृतिग्रन्थे चिद्भैरवव्याप्तिरखण्डितैवास्ति । तथाहि—तिसृभिः परादिशक्तिभिः स्थूलसूक्ष्मपरभेदान्मायान्तं व्याप्य स्थितानां पञ्चानां नयनं येन तं त्रिपञ्चनयनम्, जटाभिरुर्ध्वपदावस्थिताभिर्वामेश्वर्यादिशक्तिभिः, मुकुटेन च स्वातन्त्र्यस्फारेण मण्डितम्, चन्द्रकोटिप्रतीकाशम् इति प्रकाशानन्दघनम् । तदुक्तं श्रीलक्ष्मीकौलार्णवे—

'अद्वैतत्वात् सुरेशानि भैरवो गीयते भुवि ।
न तु दंष्ट्राकरालत्वात्तस्मात् सौम्यं विचिन्तयेत् ॥' इति ।

चन्द्रार्धकृतशेखरम् इति विश्वाप्यायकृदमाख्यामृतकलासंबद्धम्, पञ्चवक्त्रम् इति चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्यानि पञ्च परस्वरूपाभिव्यञ्जकानि संसारत्राणरूपाणि वक्त्राणि यस्य स तम्, विशालाक्षम् इति ।

'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जितः ।'

इत्याम्नातपरभैरवस्फारावस्थितम्, सर्पेत्यादिना हारेण तु विराजितम् इत्यन्तेन

निष्कल धाम में प्रवेश की इच्छा वालों को भगवान् ने अपने स्वातन्त्र्यवश उन्मनाशक्ति की भूमिका में इस प्रकार का आकार दिखलाया । भुवनाध्वा में कहीं भी वे देव इस प्रकार के नहीं दिखलायी पड़ते । शाक्तस्फार से परिपूर्ण होने के कारण ही यह अट्ठारह भुजा वाले हैं क्योंकि दुर्गा देवी भी वैसी (= अट्ठारह भुजा वाली) हैं । इस प्रतिमुद्रास्थानीय आकृति के ग्रथन में भी चिद्भैरव की व्याप्ति अखण्डित ही रहती है । परा आदि तीन शक्तियों के द्वारा स्थूल सूक्ष्म और पर भेद से माया पर्यन्त व्याप्त होकर स्थित पाँच (= चित आनन्द इच्छा ज्ञान और क्रिया) का नयन करने के कारण वे त्रिपञ्चनयन हैं । जटाओं अर्थात् ऊर्ध्व पद में स्थित वामेश्वरी आदि शक्तियों और मुकुट अर्थात् स्वातन्त्र्य के स्फार से मण्डित हैं करोड़ों चन्द्र के सदृश हैं अर्थात् प्रकाश एवं आनन्द से परिपूर्ण हैं । वही बात लक्ष्मीकौलार्णव में कही गयी है—

'हे सुरेशानि ! (परमेश्वर) अद्वैत होने के कारण पृथ्वी पर भैरव कहे जाते हैं न कि दाँतों की भयानकता के कारण । इसलिये उनके सौम्य रूप का चिन्तन करना चाहिये ॥'

मस्तक पर अर्धचन्द्र धारण किये हुए = विश्व का आप्यायन (= तर्पण) करने वाली अमा नामक अमृत कला से सम्बद्ध । पञ्चवक्त्र—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया नाम वाले तथा पर स्वरूप के अभिव्यञ्जक और संसार के रक्षक वक्त्र हैं जिनके, उनको । विशालाक्ष—

'जिसका लक्ष्य भीतर की ओर, दृष्टि बाहर की ओर हो और जो निमेष उन्मेष से रहित हो ।'

बहिष्कृतमायीयकार्मणवाख्यपाशत्रयसंयोजनवियोजनक्रीडापरत्वमुक्तम्, कपालमालाभरणम् इति अशेषविश्वशरीरम्, विश्वम् कपालमालात्मनावयवप्रपञ्चरूपमाभरणं न तु आवरणं यस्य, चिदानन्दघनस्य भगवतस्तिस्त्र इच्छाज्ञानक्रियाः करणरूपाः, एकैकस्याश्च शक्तेस्त्रैरूप्यान्नवत्वम्, तत्रापि परापरभेदेन द्वैविध्यादष्टादशभुजत्वम् । तत्र खड्गेन ज्ञानशक्त्यात्मना पाशच्छेदनम्, खेटकेन क्रियाशक्तिरूपेण भक्तानां संसारत्रासपरिहरणम्, पाशेन विश्वबन्धनेन स्वातन्त्र्यम्, अङ्कुशेन तदाकर्षणम्, शरपिनाकाभ्यां कारणग्रन्थिमालाभेदनम्, वरदाभयहस्तत्वेन भोगमोक्षप्रदत्वम् मुण्डधारणेन अख्यात्यात्मकमायामुण्डापहर्तृत्वम्, अनाश्रितान्तस्य विश्वस्य अस्थिकरङ्कस्थानीयस्य स्वचिद्भित्तिलग्नत्वं खट्वाङ्गधारणेन, वीणाडमरुघण्टाभिर्मन्द्रतारमध्यध्वनिवैचित्र्याश्रयनादावमर्शनिभालनावहितशक्तित्वम्, इच्छाज्ञानक्रियायोगिस्वातन्त्र्यशक्तिदण्डेन त्रिशूलेन पाशत्रयशातनम्, वज्रेण ऊर्ध्वस्थितेच्छादिशक्तित्रयेण अधः स्थितैषणीयादित्रयेण च अशेषविश्वात्मकनिजशक्तित्वम्, दण्डेन नियतिशक्त्यात्मना विश्वनियमनम्, परशुना हलाकृतिना नादशक्त्यात्मना मुद्गरेण बिन्दुशक्तिरूपेण अशेषभेदविदारणचूर्णीकरणम्, इति ध्वन्यते । सिंहो विद्येश्वर-

---

इस वचन के अनुसार पर भैरव के स्फार रूप (शाम्भवी मुद्रा) में स्थित । सर्प इत्यादि का हार पहने हुए इस कथन से आणव मायीय और कार्म नामक तीन मलों के संयोजन एवं वियोजन रूप क्रीड़ा में संलग्नता कही गयी है । कपालमाला का आभूषण धारण करने वाले—इस कथन का तात्पर्य है कि समस्त विश्वशरीर वाले । अर्थात् कपालमाला के रूप में अवयवप्रपञ्च रूप विश्व उनका आभरण है न कि आवरण । चिदानन्दघन भगवान् की इच्छा ज्ञान क्रिया रूप तीन शक्तियाँ (विश्व के आभासन में) करणरूप हैं । एक-एक शक्ति के तीन-तीन (= अघोर, घोर और घोरतर) रूप होने से ये नव प्रकार की हुईं और उनका भी पर अपर भेद से अट्ठारह प्रकार हुआ । यही अट्ठारह भुजायें हैं । (हाथों में स्थित) ज्ञानशक्ति रूप खड्ग से पाश का छेदन, क्रिया शक्तिरूपी खेट (= ढाल) से भक्तों का संसारभयनिराकरण, पाश से विश्वबन्धन से स्वातन्त्र्य, अङ्कुश से उसका (= पाश का) आकर्षण, शर एवं धनुष से कारणग्रन्थिमाला का भेदन, वरद और अभयमुद्रा से भोग और मोक्ष का प्रदान, मुण्डधारण से अज्ञानरूप मायामुण्ड का अपहरण, खट्वाङ्गधारण से अस्थिकरङ्कस्थानीय तथा अनाश्रितशिवपर्यन्त वर्त्तमान विश्व की अपनी चित्तरूपी भित्ति में लग्नता, वीणा डमरु और घण्टा के द्वारा ध्वनि की मन्द मध्य और तीव्र विचित्रता के आश्रयभूत नाद के अवर्मश के निभालन में शक्ति का लगाना, इच्छा ज्ञान क्रिया और स्वातन्त्र्य शक्ति वाले दण्डयुक्त त्रिशूल से तीनों पाशों का नाश, वज्र के द्वारा ऊर्ध्वस्थित इच्छा आदि तीन शक्तियों और अधः स्थित तीन एषणीयों (= पुत्र, वित्त और लोक) के द्वारा समस्तविश्वरूप अपनी शक्ति का होना, नियति शक्ति रूपी दण्ड से विश्व का नियमन, नादशक्ति रूपी हल की आकृति वाले परशु से तथा बिन्दुशक्तिरूपी मुद्गर से क्रमशः समस्त

सदाशिवशक्तिशिवात्मकपञ्चाननश्चित्स्फारः, तस्य चर्म चरितम्, गजस्य च विततविततस्य मायात्मन उक्तस्वरूपसिंहनिर्भेद्यस्य चर्म चरितं विलसितं स्वस्वरूपसंलग्नत्वात् परीधानं बोधाभेदात्मकस्वस्वरूपोपरि परिवर्तमानं यस्य, देवं क्रीडादिशीलम्, नीलकण्ठम् अख्यात्यात्मकमहाविषहरम्, सुतेजसं चिदानन्दघनम् । एवमादि च भैरवानुकरणस्तोत्रेऽस्माभिर्वितत्य दर्शितम् ॥ ९३ ॥

अस्य भगवतो वक्त्रध्यानमाह—

ऊर्ध्ववक्त्रं महेशानि स्फटिकाभं विचिन्तयेत् ॥ ९४ ॥
आपीतं पूर्ववक्त्रं तु नीलोत्पलदलप्रभम् ।
दक्षिणं तु विजानीयाद् वामं चैव विचिन्तयेत् ॥ ९५ ॥
दाडिमीकुसुमप्रख्यं कुङ्कुमोदकसन्निभम् ।
चन्द्रार्बुदप्रतीकाशं पश्चिमं तु विचिन्तयेत् ॥ ९६ ॥

वक्त्राणां दिग्रूपवैचित्र्यं तत्तदनुग्रहादिकृत्यवैचित्र्यात् ॥ ९६ ॥

एवमीदृशम्—

स्वच्छन्दभैरवं देवं सर्वकामफलप्रदम् ।

भेद का विदारण एवं उनका चूर्णीकरण लक्षित होता है । सिंह का अर्थ है—पञ्चानन अर्थात् शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति एवं शिव रूपी चित् शक्ति का विस्तार उसका चर्म = चरित । गज का = अत्यन्त विस्तृत माया रूपी, सिंहनिर्भेद्य गज का, चर्म = चरित = विलसित, अपने स्वरूप से संलग्न होने के कारण परीधान, अर्थात् बोध के अभेद रूप अपने ऊपर परिवर्त्तमान है जिसका वह । देव = क्रीड़ा में लगे हुए, नीलकण्ठ = अज्ञानरूपी महाविष का हरण करने वाले । सुतेजस = चिदानन्दघन । यह सब हमने भैरवानुकरणस्तोत्र में विस्तारपूर्वक बतला दिया है ॥ ९३ ॥

इन भगवान् के मुखों का ध्यान बतलाते हैं—

हे महेशानि ! ऊर्ध्वमुख का स्फटिक के समान कान्ति वाला चिन्तन (= ध्यान) करना चाहिये । पूर्व दिशा में वर्त्तमान मुख कुछ पीला है । दक्षिण दिशा वाला नीलकमल की पंखुड़ी के समान है । वाम (= उत्तर दिक् में वर्त्तमान) अनार के फूल या कुङ्कुम के जल के समान (लाल) है और पश्चिम दिक्स्थ (मुख) चन्द्र के गोलक के समान हैं—ऐसा ध्यान करना चाहिये ॥ -९४-९६ ॥

शिव के मुखों की दिग्रूपविचित्रता तत्तत् अनुग्रह कार्य के वैचित्र्य के कारण है ॥ ९६ ॥

इस प्रकार के—

ध्यायते यस्तु युक्तात्मा क्षिप्रं सिध्यति मानवः ॥ ९७ ॥

युक्तात्मा एकचित्तः, सिद्ध्यति भुक्तिमुक्ती लभते । यथा पूर्वं वाचकस्य सकृदुच्चारात् सर्वकिल्विषनाशित्वमुक्तम् तथा वाच्यस्यापि ध्यानमात्रात् सर्वसिद्धिप्रदर्शित्वमुक्तम्, इति महाप्रभावतास्योच्यते ॥ ९७ ॥

परं न्यासमाह—

ततः परमबीजेन परं परमकारणम् ।
सुशान्तं निष्कलं देवं सर्वव्यापि निरञ्जनम् ॥ ९८ ॥
आवाहयेत् सुहृष्टात्मा तव देवि वदाम्यहम् ।

परं निरतिशयम्, सुहृष्टात्मा इति शाम्भवपदसमावेशं प्रति उत्कण्ठातिशयात्, आवाहयेत् द्वादशान्तादवतारयेत्, परशक्त्यवष्टम्भेन तत्स्वरूपमुन्मज्ज्य हृत्पर्यन्तं तच्चमत्कारसारं कुर्वीतेत्यर्थः ॥ ९९ ॥

कीदृशम्—

हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यनादान्तान्तसमाश्रितम् ॥ ९९ ॥
निष्कम्पं कारणातीतम्..........

जो मनुष्य योगयुक्त होकर (इस प्रकार के) सर्वकामफलप्रद स्वच्छन्द भैरव देव का ध्यान करता है वह शीघ्र सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ९७ ॥

युक्त आत्मा वाला = एकाग्रचित्त । सिद्धि को प्राप्त करता है = भोग और मोक्ष को प्राप्त करता है । जिस प्रकार परमेश्वरवाचक मन्त्र का एक बार उच्चारण समस्त पापों का नाशक कहा गया है उसी प्रकार (उस मन्त्र के) वाच्य परमेश्वर का केवल ध्यान समस्तसिद्धिदायी होता है—यह कहा गया । इस प्रकार इस (= मन्त्र एवं देवता के स्मरण) की महाप्रभावता कही गयी ॥ ९७ ॥

अब पर न्यास को कहते हैं—

हे देवि ! अब तुमको मैं यह बतला रहा हूँ कि सुप्रसन्नात्मा साधक इस (ध्यान) के बाद परम बीज के द्वारा पर, परम कारण, सुशान्त, निष्कल, सर्वव्यापी निरञ्जन देव का आवाहन करे ॥ ९८-९९- ॥

पर = निरतिशय । शाम्भावपद में समावेश के प्रति अत्यन्त उत्कण्ठित होने से साधक सुहृष्टात्मा कहा गया । आवाहन करे = द्वादशान्त से अवतीर्ण कराये अर्थात् परशक्ति के बल से उसके स्वरूप को प्रकट कर हृदयपर्यन्त उसके चमत्कार को प्रसारित करे ॥ ९९ ॥

वह परमेश्वर कैसे हैं—

हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य, नादान्त एवं द्वादशान्त में स्थित निष्कम्प

नादान्तः शक्त्यन्तः, तस्यान्तः पर्यन्तो द्वादशान्तः, तेन हृदादिद्वादशान्तं युगपद्व्याप्नुवन्तं निष्कम्पं स्वरूपादचलितम् ॥

एवम्—

.............आवाह्य परमेश्वरम् ।
संस्थाप्य विधिवद् देवमङ्गषट्कं ततो न्यसेत् ॥ १०० ॥

'उत्तानौ तु करौ कृत्वा अङ्गुष्ठौ तलमध्यगौ।
आवाहनी त्वियम्.......................... ॥'

इति आवाहनमुद्रया आवाहनम् ।

'बद्धाङ्गुष्ठौ स्थितौ मुष्टी उन्मुखौ स्थापनी भवेत् ।'

इति मुद्रया स्थापनम् ॥

अथ—

पाद्यमाचमनं चार्घं स्वागतं तदनन्तरम् ।
संनिधानं च देवेशि................

कल्पयेदिति शेषः । पादार्थमुदकं पाद्यम् । सुशोभनम् अस्मदनुग्रहपरमागमन-

---

एवं कारणातीत हैं ॥ -९९-१००- ॥

(नादान्तान्त का अर्थ है—) नादान्त = शक्त्यन्त, उसका अन्त = द्वादशान्त, इस प्रकार हृदय से लेकर द्वादशान्त पर्यन्त एक साथ व्याप्त होने वाले । निष्कम्प = स्वरूप से अविचलित ॥

इस प्रकार—

परमेश्वर का आवाहन कर और उनकी विधिवत् स्थापना कर फिर षडङ्गन्यास करना चाहिये ॥ -१०० ॥

'दोनों हाथों को उतान कर दोनों अङ्गूठों को दोनों हथेलियों के मध्य में रखना आवाहनी मुद्रा है ।'

इस प्रकार की आवाहन मुद्रा से आवाहन करे ।

'दोनों अङ्गूठों को ऊपर की ओर उठाये हुये दोनों मुट्ठियों की मुद्रा स्थापनी मुद्रा होती है ।'

इस मुद्रा से परमेश्वर की स्थापना करे ॥

हे देवेशि ! इसके बाद पाद्य आचमन अर्घ स्वागत और सन्निधान करना चाहिये ॥ १०१- ॥

मस्त्विति स्वागतम्, योनिमुद्रया संनिधानम् ॥

एवं कृत्वा

..............निष्ठुरया निरोधयेत् ॥ १०१ ॥

निष्ठुरा मुद्रा, तया निरोधयेत् अविचलं स्थापयेत् । सा तु—

'अङ्गुष्ठगर्भगौ मुष्टी......................' इति ।

'.........................निष्ठुरा तन्निरोधने ।' इत्युक्ता ॥ १०१ ॥

ततः—

गन्धैः पुष्पैस्तथा धूपैर्धूपयित्वा तमर्चयेत् ।

सर्वमेतन्मानसं कुर्यात् ॥

अथ सन्निधानार्थं

मुद्रां प्रदर्शयेत्पश्चात् त्रिधा त्रैकाल्यकर्मणि ॥ १०२ ॥

मुदं हर्षं राति ददाति, परभैरवचैतन्यद्रविणं मुद्रयति, परावेशेन मोदयति भक्तान्, द्रावयति पाशान् इति वा निरुक्तां परस्वरूपप्रतिबिम्बरूपां मुद्रां

कल्पना करनी चाहिये—इतना अपनी ओर से जोड़ें । पैर धोने के लिये पानी को पाद्य कहते हैं । स्वागतम् = सुशोभन अर्थात् हमलोगों के ऊपर अनुग्रह करने वाला आगमन हो । सन्निधान योनिमुद्रा के द्वारा करना चाहिये ॥

ऐसा करने के बाद—

निष्ठुर मुद्रा के द्वारा निरोध करना चाहिये ॥ -१०१ ॥

निष्ठुरा मुद्रा का अर्थ है—उसके द्वारा निरोध करना चाहिये = स्थिर स्थापना करनी चाहिये । वह मुद्रा—

'जिन मुट्ठियों में अङ्गूठा अन्दर की ओर छिपा रहता है वह निष्ठुरा मुद्रा होती है' उसके निरोध में निष्ठुरा मुद्रा प्रयुक्त होती है' ॥ १०१ ॥

इसके बाद —

गन्ध, पुष्प, धूप (दीप एवं नैवेद्य) से उनकी पूजा करे ॥ १०२- ॥

यह सब मानसिक करना चाहिये ॥

इसके बाद सन्निधान के लिये—

त्रिकाल कर्म में मुद्रा का तीन बार प्रदर्शन करे ॥ -१०२ ॥

(मुद्रा शब्द का तात्पर्यार्थ बतलाते हैं—) जो मुद् = हर्ष को लाती है, परभैरव चैतन्य रूपी द्रविण (= धन) को मुद्रित करती है; पर चैतन्य के आवेश

वक्ष्यमाणाम् अष्टादशविधाम् ।

'एता मुद्रा महादेवि भैरवस्य प्रदर्शयेत् ।
आवाहने निरोधे च तथैव च विसर्जने ॥' (१४।२०)

इति वक्ष्यमाणत्रैकाल्यकर्मणि । त्रिधेति—

'मनोजा गुरुवक्त्रस्था वाग्भवा मन्त्रसंभवा ।
देहोद्भवाङ्गविक्षेपैर्मुद्रेयं त्रिविधा स्मृता ॥'

इत्याम्नायनिर्दिष्टा ॥ १०२ ॥

विस्तरेणान्तर्यागं वक्तुमाह—

ततः स्नादादिकं कर्म कृत्वा चैव वरानने ।
परिधाप्य सुवस्त्राणि नेत्रपट्टोद्भवानि च ॥ १०३ ॥
विलिप्यागुरुकर्पूरैर्मुकुटाद्यैर्विभूषयेत् ।

विलिप्य परिधाप्य भूषयेदिति क्रमः ॥

पुष्पैर्नानाविधैः शुभ्रैरर्चयेद्धूपयेत् पुनः ॥ १०४ ॥
अर्घं दत्त्वा महेशानि पुनर्मुद्रां प्रदर्शयेत् ।

के द्वारा भक्तों को मुदित करती है; या पाशों को द्रवित करती है—इस प्रकार व्याख्या वाली परस्वरूप की प्रतिबिम्बरूपा मुद्रा वक्ष्यमाण अट्ठारह प्रकार वाली है।

'हे देवि ! परमेश्वर के आवाहन स्थापन एवं विसर्जन में भैरव को इन मुद्राओं का प्रदर्शन करना चाहिये' ॥ (१४।२०)

ऐसा आगे कहे जाने वाले त्रैकाल्य कर्म के वर्णन में कहा गया । तीन प्रकार की—

'गुरु के मुख से सुनी गयी (मुद्रा) मनोजा, मन्त्र से उत्पन्न वाग्भवा और अङ्गविक्षेपों से बनायी गयी देहोद्भवा इस प्रकार मुद्रा तीन प्रकार की कही गयी है ॥'

ऐसा आम्नाय में निर्दिष्ट है ॥ १०२ ॥

अन्तर्याग (= मानसिक याग) को विस्तार के साथ कहते हैं—

हे वरानने ! इसके बाद स्नान आदि कर्म कर नेत्रपट्ट से उत्पन्न (= रेशमी) वस्त्र पहना कर, अगर कपूर का लेप कर मुकुट आदि से उनको अलङ्कृत करे ॥ १०३-१०४- ॥

पहले लेपन फिर वस्त्रधारण फिर अलङ्करण—यह क्रम है ॥

हे महेशानि ! अनेक प्रकार के पुष्पों से पुनः उनकी पूजा करे और

प्रणम्य भैरवं देवं स्वच्छन्दं विश्वनायकम् ॥ १०५ ॥

अर्घं विशेषार्घम् । प्रणम्य इति समावेशेन तन्मयीभावमाश्रित्य ॥ १०५ ॥

ततो ह्याभरणं बाह्ये विनिवेश्य वरानने ।

परमेश्वरशक्तिरूपं तदभेदेन न्यस्तमपि वक्त्राङ्गादि पुनस्तदिच्छयैव तदाभासितत्वात् प्रभापुञ्जवत् पृथगिव आवरणतया स्थितं विनिवेश्यम् । एवं चाभिदधद्देवं शिक्षयति यत्—विश्वं ग्राह्यग्राहकाभिमतं शिवरूपमपि शिवेन तथाभासितत्वात् पृथगिव लक्ष्यते, न तु वास्तवमस्य पृथक्त्वं कदाचित् ॥

आवरणन्यासे विभागमाह—

ऐशान्यां पूर्वतो याम्यां उत्तराप्यावसानकम् ॥ १०६ ॥
विन्यसेत् पञ्च वक्त्राणि पञ्चवक्त्रयुतानि च ।
बाहुभिर्दशभिश्चैव शशाङ्कमुकुटैः सह ॥ १०७ ॥
ध्यातव्यानि स्वरूपाणि वराभयकराणि तु ।

एकैकस्याः शक्तेः पञ्चशक्तिरूपत्वात् पञ्चवक्त्ररूपत्वमेकैकस्य च शाक्तस्फारा-

---

उन्हें अलङ्कृत करे । अर्घ देकर फिर मुद्रा का प्रदर्शन करे । अन्त में विश्वनायक स्वच्छन्द देव भैरव को प्रणाम करे ॥ -१०४-१०५ ॥

अर्घ = विशेषार्घ । प्रणाम करे = समावेश के द्वारा तन्मयीभाव का आश्रयण करना चाहिए ॥ १०५ ॥

हे वरानने ! इसके बाद आवरण का बाहर विनिवेश करे ॥ १०६- ॥

परमेश्वर के शक्तिरूप वक्त्र और अङ्ग आदि का उस परमेश्वर से अभिन्नरूप में यद्यपि पहले न्यास किया जा चुका है, तथापि पुनः उस परमेश्वर की इच्छा से ही उन अङ्ग आदि के आभासित होने से प्रभापुञ्ज की भाँति पृथक् की भाँति आवरण के रूप में उनका विनिवेश करना चाहिये । इस प्रकार का कथन करते हुए ग्रन्थकार यह शिक्षा देते हैं कि ग्राह्य और ग्राहक (= ज्ञेय और ज्ञाता) के रूप में अभिमत यह विश्व शिवरूप होते हुए भी शिव के द्वारा उस प्रकार आभासित किये जाने के कारण शिव से भिन्न जैसा लक्षित होता है । इसका वस्तुतः कभी भी उस शिव से पार्थक्य नहीं है ॥

आवरण के न्यास में विभाग बतलाते हैं—

ईशान पूर्व दक्षिण पश्चिम और उत्तर इन पाँच दिशाओं में पञ्चवक्त्र से युक्त पाँच मुखों का न्यास करना चाहिये । उनके साथ (शिर पर) अर्धचन्द्र, मुकुट, वरद और अभय मुद्रा आदि से युक्त दश भुजाओं का ध्यान करना चाहिये ॥ -१०६-१०८- ॥

त्मकस्वरूपतो भेदेनाभासितत्वात्, तथापि च मन्त्रनाडीसंधानाभ्यां तदभेदसारत्वात् पृथगपि एषां पूजनमुक्तम् । स्वं स्फटिकाभत्वादि पूर्वोक्तं रूपं येषां तानि स्वरूपाणि । वराभयकरत्वं खड्गखेटकपाशाङ्कुशशरपिनाकमुण्डखट्वाङ्गोपलक्षणपरम् । मन्त्राणां परपरापरापररूपत्वात् परादीनां च प्रत्येकं त्रैविध्यान्महासामान्यरूपव्याप्तत्वाच्च दशरूपता, इति तद्व्याप्तत्वाच्च दशबाहुत्वम् ॥ १०७ ॥

वक्त्रावरणानुषक्तान्यङ्गान्याह—

अग्नीशरक्षोवायव्यचतुर्दिक्षु च तं न्यसेत् ॥ १०८ ॥
हृच्छिरश्च शिखा वर्म अस्त्रं च प्रविभागशः ।

अग्नीशरक्षोवायव्यदिक्षु यथासंख्यं हृच्छिरःशिखावर्माणि अस्त्रं च चतुर्दिक्कम् इति विभागः । सकलाङ्गान्येव पृथगावरणतया पूज्यानि न तु निष्कलाङ्गानि, तेषां सर्वज्ञताद्येकरूपाणां निष्कलैकरूपत्वात् ॥ १०८ ॥

एषां रूपमाह—

एक-एक शक्ति (= मुख) के पाँच शक्ति (= चित् आनन्द इच्छा ज्ञान क्रिया) रूप होने से वे पाँच मुख हैं । एवं एक-एक मुख एक-एक शक्ति का स्फार रूप है इसलिये भिन्न आभासित होता है । फिर भी उससे अभिन्न होने के कारण मन्त्र और नाडी सन्धान के द्वारा इनका अलग से भी पूजन होता है । (अब १०८ श्लोकोक्त 'स्वरूप' शब्द की व्याख्या करते हैं—) स्व = पूर्वोक्त स्फटिकाभत्व आदि रूप हैं जिनके वे स्वरूप हैं । हाथ में वरद एवं अभय मुद्रा का कथन खड्ग, खेटक, पाश, अङ्कुश, बाण, धनुष, मुण्ड और खट्वाङ्ग को भी सङ्केतित करता है । मन्त्र पर परापर और अपर रूप होते हैं और पर आदि का (पर आदि भेद से =) तीन प्रकार होने से (३×३ = ९) और महासामान्य रूप से व्याप्त होने से, एक इस प्रकार मन्त्र के दश प्रकार हैं । उनसे व्याप्त होने से यह परमेश्वर दशभुजा वाला है ॥ १०७ ॥

वक्त्रावरण से सम्बद्ध अङ्गों को बतलाते हैं—

अग्नि, ईशान, निर्ऋति वायव्य इस चार दिशाओं में (और 'च' से ऊर्ध्व दिशा में) भैरव का हृदय, शिर, शिखा कवच एव अस्त्र से विभागपूर्वक न्यास करे ॥ -१०८-१०९- ॥

अग्नि, ईशान, निर्ऋति वायव्य (एवं ऊर्ध्व) दिशाओं में क्रमशः हृदय, शिर, शिखा, कवच और अस्त्र का न्यास करे (जैसे—हृदयायनमः, शिरसे स्वाहा, शिखायै वषट्, कवचाय हुम् और अस्त्राय फट्)—यह विभाग है । पृथक् आवरण के रूप में सकल अङ्गों की पूजा करनी चाहिये न कि निष्कल अङ्गों की क्योंकि सर्वज्ञता आदि एकरूप वाले ये (=सकलाङ्ग) परमार्थतः निष्कल ही है ॥ १०८ ॥

इनका रूप बतलाते हैं—

हृदयं रक्तवर्णाभं शिरो गोरोचनप्रभम् ॥ १०९ ॥
तडिद्वलयसङ्काशां शिखां देवीं विचिन्तयेत् ।
आधूम्रं कवचं विद्यात् कपिशं चास्त्रमेव च ॥ ११० ॥

नेत्ररूपस्थाननिर्देशं वक्तुमाह—

ज्योतीरूपप्रतीकाशं नेत्रं मध्ये च संस्थितम् ।

विन्यसेदित्येव । मध्ये इति कर्णिकायाम् वक्ष्यति हि—

'नेत्रं तु कर्णिकायां वै ।' (२।१७१) इति ॥

एते च—

पञ्चवक्त्राः स्मृताः सर्वे दशबाह्विन्दुभूषिताः ॥ १११ ॥
नानाभरणसंयुक्ता नानास्रग्गन्धलेपनाः ।
नानावस्त्रपरीधाना मुकुटैरुज्ज्वलैः शुभैः ॥ ११२ ॥
रत्नमालावनद्धाश्च हारकेयूरभूषिताः ।

एते च—

द्विरष्टवर्षकाकाराः सुरूपाः स्थिरयौवनाः ॥ ११३ ॥
भैरवाद्याः स्मृता मन्त्रा पीठेशाः पीठमर्दकाः ।

भैरवाद्या अङ्गान्ता मन्त्राः, पीठस्य विद्यामन्त्रमण्डलमुद्रारूपस्य चतुर्विधस्य,

---

हृदय को रक्तवर्ण का, शिर को गोरोचन की कान्ति वाला, शिखा को विद्युत् वलय जैसी समझना चाहिये । कवच कुछ-कुछ धूम के रङ्ग का और अस्त्र को कपिश (= अनेक रङ्गों वाला) समझना चाहिये ॥ -१०९-११० ॥

नेत्ररूप स्थान का निर्देश बतलाते हैं—

ज्योतिरूप नेत्र मध्य में स्थित समझना चाहिये ॥ १११- ॥

मध्य में = कर्णिका में । जैसा कि कहेंगे—

'नेत्र का कर्णिका में (नेत्रत्रयाय वौषट् कहकर न्यास करे)' ॥ (२।१७१)

ये पाँच मुख—

इस प्रकार ये पाँच मुखों वाले माने गये हैं । सबके सब दश भुजाओं एवं अर्धचन्द्र से अलङ्कृत हैं । अनेक अलङ्कारों, मालाओं गन्ध एवं शरीर लेप वाले ये (भैरव) अनेक वस्त्रों को धारण किये हुए, उज्ज्वल एवं शुभ मुकुटों से युक्त, रत्नों की माला एवं हार केयूर से विभूषित हैं । षोडशवर्षीय सुन्दररूप और स्थिर यौवन वाले भैरव से लेकर मन्त्रपर्यन्त ये सब पीठ के स्वामी और पीठ के विनाशक हैं ॥ -१११-११४- ॥

ईशाः स्वामिनः, स्वात्मसात्करणेन मर्दकाश्च । ये तु पीठक्षेत्रसंदोहादिपल्ली-परमेतद्व्याचक्षते तेऽस्मिन्नन्तर्यागे देवतान्यासस्य मध्येऽप्येवं कल्पयन्त उपहास्या एव ॥ ११३ ॥

अथ—

या सा पूर्वं मया ख्याता अघोरी शक्तिरुत्तमा ॥ ११४ ॥
भैरवं पूजयित्वा तु तस्योत्सङ्गे तु तां न्यसेत् ।

तस्या ध्यानमाह—

यादृशं भैरवं रूपं भैरव्यास्तादृगेव हि ॥ ११५ ॥

तथा च—

ईषत्करालवदनां गम्भीरविपुलस्वनाम् ।
प्रसन्नास्यां सदा ध्यायेद् भैरवीं विस्मितेक्षणाम् ॥ ११६ ॥

करालत्वं भैरवानुकारतः पाशभक्षणात्, गम्भीरविपुलस्वनत्वं विमर्शप्राधान्यात्, प्रसन्नास्यत्वं परभैरवानुरूप्येण अनुग्रहप्रवणत्वात्, अत एव भैरवमुद्रानुप्रवेशादेव

भैरव से लेकर अङ्गपर्यन्त मन्त्रों (का वैशिष्ट्य ऊपर बतलाया गया) । (पीठेश का अर्थ बतलाते हैं—) पीठ = विद्या मन्त्र मण्डल और मुद्रा रूप चार प्रकार के पीठ, के ईश = स्वामी हैं और इनको स्वात्मसात् करने के कारण वे मर्दक भी हैं । जो लोग पीठ शब्द का पीठ क्षेत्र सन्दोह आदि पल्ली अर्थ मानते हैं वे इस अन्तर्याग में देवतान्यास के बीच में भी इस प्रकार की कल्पना करते हुए उपहास के पात्र हैं ॥ ११३ ॥

इसके बाद—

जिस उत्तम अघोरी शक्ति का वर्णन मैने पहले किया है भैरव की पूजा कर उस भैरव की गोद में उसकी (= अघोरी की) स्थापना का ध्यान करना चाहिये ॥ -११४-११५- ॥

उस अघोरी शक्ति का ध्यान बतलाते हैं—

जैसा भैरव का रूप है वैसा ही भैरवी का भी है ॥ -११५ ॥

इस प्रकार—

थोड़ा विकराल मुख वाली, गम्भीर एवं अत्यधिक शब्द करने वाली, सदा प्रसन्न मुख एवं विस्मित आँखों वाली भैरवी का ध्यान करना चाहिये ॥ ११६ ॥

करालता का कारण भैरव के अनुसार पाशभक्षण है । गम्भीर एवं विपुल ध्वनि

विस्मितेक्षणत्वम् ॥ ११६ ॥

ततः—

द्वितीयावरणे देवि विन्यसेद् भैरवाष्टकम् ।

द्वितीयशब्देन अङ्गवक्त्राणि एकमेवावरणं समव्याप्तिकत्वाद् भगवद्देहारम्भकत्वाच्च, इति दर्शयति ॥

कथं न्यसेदित्याह—

कपालीशं तु पूर्वायामाग्नेय्यां शिखिवाहनम् ॥ ११७ ॥
दक्षिणे क्रोधराजं तु विकरालं तु नैर्ऋते ।
मन्मथं पश्चिमे भागे मेघनादेश्वरं तथा ॥ ११८ ॥
वायव्ये देवि विन्यस्य सोमराजं तथोत्तरे ।
विद्याराजं तथैशान्यां विन्यसेत्तु सुभावितः ॥ ११९ ॥

अष्टावपि—

पञ्चवक्त्रास्त्रिनेत्राश्च दशबाह्विन्दुशेखराः ।
कपालमालाभरणाः स्फुरन्माणिक्यमण्डिताः ॥ १२० ॥

का कारण है—विमर्श की प्रधानता । प्रसन्नमुखी होने का कारण है—पर भैरव के अनुरूप अनुग्रहपरक होना । इसीलिये भैरवीमुद्रा के अनुप्रवेश के कारण विस्मित नेत्रों वाली है ॥ ११६ ॥

इसके बाद—

हे देवि ! इसके बाद द्वितीय आवरण में आठ भैरवों का न्यास करना चाहिये ॥ ११७- ॥

द्वितीय शब्द का प्रयोग यह बतलाता है कि अङ्ग वक्त्र एक ही आवरण है क्योंकि उसकी व्याप्ति समान है और वह भगवान् के देह का आरम्भक है ॥

न्यास किस प्रकार करे—यह बतलाते हैं—

पूर्व दिशा में कपालीश, अग्निकोण में शिखिवाहन, दक्षिण में क्रोधराज, नैर्ऋत्यकोण ने विकराल, पश्चिम दिशा में मन्मथ, वायव्यकोण में मेघनादेश्वर, उत्तर दिशा में सोमराज और ईशानकोण में विद्याराज का न्यास सुन्दर भावना से युक्त होकर करना चाहिये ॥ -११७-११९ ॥

आठो भैरव—

पाँच मुखों तीन नेत्रों दशभुजाओं वाले, मस्तक पर अर्धचन्द्र धारण

एषां दिक्क्रमेण ध्यानमाह—

पूर्वं पीतं स्मृतं देवि रक्तमाग्नेयगोचरे ।
दक्षिणे नीलमेघाभं नैर्ऋत्यां ज्वलनप्रभम् ॥ १२१ ॥
श्यामं चापरदिग्भागे धूम्रं वायव्यगोचरे ।
चन्द्रबिम्बप्रभं सौम्ये ईशाने स्फटिकप्रभम् ॥ १२२ ॥

अथ—

तृतीये चैव लोकेशान् सास्त्रान् संपरिकल्पयेत् ।
नामानि तेषां वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ १२३ ॥
इन्द्राग्नियमनिर्ऋतिवरुणाश्च समीरणः ।
सोमराजः कुबेरश्च ईशानः परमेश्वरः ॥ १२४ ॥

'सास्त्रान् इति वदन्नस्त्रावरणं न पृथङ्न्यास्यम् इति निरूपयति, तृतीये इत्यभिधानाच्च ॥ १२४ ॥

ते च—

भैरवाष्टकरूपेण ध्यातव्यास्तु वरानने ।

किये हुए, कपाल की माला पहने हुए और चमकती हुई माणिक्य से अलङ्कृत हैं ॥ १२० ॥

दिशाओं के क्रम से इनके रङ्गों का ध्यान बतलाते हैं—

हे देवि ! पूर्व दिशा में पीत, अग्निकोण में रक्त, दक्षिण में नीलमेघ के समान, निर्ऋतिकोण में अग्नि की भाँति, पश्चिम में काला, वायुकोण में धूम के रङ्ग का, उत्तर में चन्द्रबिम्ब जैसा और ईशान दिशा में स्फटिक की प्रभा के समान भैरव का ध्यान करना चाहिये ॥ १२१-१२२ ॥

इसके—

तीसरे आवरण में अस्त्रों के सहित लोकेशों का ध्यान करना चाहिये । मैं क्रम से उनका नाम बतला रहा हूँ । इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, सोमराज (= उत्तर दिशा के स्वामी) कुबेर और ईशान उन दिशाओं के स्वामी हैं ॥ १२३-१२४ ॥

'तृतीय में' तथा 'सास्त्रान्' इन कथनों से अस्त्रावरण का पृथक् न्यास नहीं करना चाहिये—यह बतलाते हैं ॥ १२४ ॥

और वे—

हे वरानने ! उनका भी भैरवाष्टक के रूप में ही ध्यान करना

परभैरवशक्तिपुञ्जात्मकभैरवाष्टकप्रसररूपत्वात् पूर्वं पीतम् इत्याद्युक्तभैरवाष्टकरूपेणैव चिन्त्याः ॥

एवमेतदस्त्राण्यपि भैरवास्त्रव्याप्तिसाराणि यागरक्षापराणि नामत उद्दिशति—

वज्रं शक्तिस्तथा दण्डः खड्गपाशस्तथैव च ॥ १२५ ॥
ध्वजो गदा त्रिशूलं च लोकपालायुधानि वै ।

ध्यानमाह—

वज्रं चानेकवर्णाढ्यं शक्तिं हेमसमप्रभाम् ॥ १२६ ॥
दण्डं भिन्नाञ्जनाभं च खड्गं नीलोत्पलप्रभम् ।
किंशुकाभं तथा पाशं ध्वजं शुक्लं विचिन्तयेत् ॥ १२७ ॥
गदां तु विद्रुमाभां वै शूलं विद्युत्समप्रभम् ।

एतानि चैषां करस्थानि ध्येयानि ॥ १२७ ॥

अथ—

संपूज्यावरणं सर्वं संधानं मन्त्रनायके ॥ १२८ ॥

कर्तव्यमित्यनुषज्यते ॥ १२८ ॥

चाहिये ॥ १२५- ॥

ये आठ भैरव परभैरव की शक्ति के समूह रूप हैं इसलिये पहले 'पीत' इत्यादि कथित आठ भैरव के रूप से ही इनका ध्यान करना चाहिये ॥

भैरव के अस्त्र ही इनके भी अस्त्र होते हैं और ये याग की रक्षा करते हैं; इसलिये उनका नाम बतलाते हैं—

वज्र, शक्ति, दण्ड, खड्ग, पाश, ध्वजा, गदा और त्रिशूल ये आठ लोकपालों के (आठ) आयुध हैं ॥ -१२५-१२६- ॥

इन अस्त्रों का ध्यान बतलाते हैं—

वज्र अनेक रङ्गों वाला, शक्ति सोने के समान, दण्ड काले अञ्जन के रङ्ग का, खड्ग नील कमल की भाँति, पाश पलाश के पुष्प के रङ्ग का ध्वज श्वेत रङ्ग का, गदा मूङ्गा के रङ्ग की और शूल विद्युत् की आभा वाला है—ऐसा ध्यान करना चाहिये ॥ -१२६-१२८- ॥

इन आयुधों को इनके हाथों में स्थित ध्यान करे ॥ १२७ ॥

इसके बाद—

सभी आवरणों की पूजा करने के बाद मन्त्रनायक के विषय में सन्धान करना चाहिये ॥ १२८ ॥

कथमित्याकाङ्क्षायाम्—

अस्त्राणि लोकपालांश्च भैरवाष्टकमेव च ।
पञ्च ब्रह्माण्यथाङ्गानि एतान्यावरणानि तु ॥ १२९ ॥
क्रमेणोच्चारयेत् सर्वं यावत्तद्गर्भमैश्वरम् ।

अस्त्राणीत्यादिस्तृतीयपटलोक्तः प्रकारोऽनुसंधेयः । इदं चात्र पूजासतत्त्वम्—

'उल्लङ्घ्याखिलमध्वजालममलां चिन्मूर्तिमाश्रित्य ता-
मुन्मुज्जद्बहुरूपमूर्तिमभितः श्रित्वा धिया वाथ ताम् ।
उद्योगादिचतुष्कलद्युतिमहातत्त्वात्मिकां तन्मयी-
भाव्याशेषमिहार्पयेत मनसा विश्वं परार्चापरः ॥'

इति ॥ १२९ ॥

अनन्तरम्—

मूलमन्त्रेण कर्त्तव्यं नाडीसंधानमेव च ॥ १३० ॥

अत्रापि—

'आत्मनो निष्कलोच्चारं कृत्वा कुम्भे निवेशयेत् ।
कलशस्थस्य वामेन रेचयेत् पूरयेत्ततः ॥

कैसे (सन्धान करना चाहिये) ? इस आकांक्षा के होने पर—

अस्त्र, लोकपाल, आठभैरव, पाँच ब्रह्म, उनके हृदय आदि छः अङ्ग, और आवरण इन सबका क्रम से उन सबके गर्भ में वर्त्तमान ईश्वर (= स्वच्छन्द भैरव) तक उच्चारण करना चाहिये ॥ १२९-१३०- ॥

'अस्त्राणि' इत्यादि तृतीयपटल में उक्त प्रकार को समझना चाहिये । यहाँ पूजा इस प्रकार की है—

पहले (समस्त शुद्ध अशुद्ध) अध्वा समूह को पार करे । तत्पश्चात् निर्मल चिन्मूर्त्ति का आश्रयण कर उसमें चारो ओर से निकलती हुई अनेक रूपों वाली मूर्त्ति का बुद्धि में ध्यान करे । फिर उद्योग आदि (= इच्छा ज्ञान तथा क्रिया) चार कला द्युति वाले महातत्त्व रूपिणी मूर्त्ति के साथ तन्मय होकर परार्चापरक विद्वान् मन के द्वारा समस्त विश्व का अर्पण करे ॥ १२९ ॥

बाद में—

मूल मन्त्र के द्वारा नाडीसन्धान करना चाहिये ॥ -१३० ॥

यहाँ भी—

'आत्मा का निष्कल उच्चारण करते हुए कुम्भक करना चाहिये । कुम्भक में स्थित (देवता चक्र) को बायें नासारन्ध्र से बाहर निकाले । पुनः उसी से पूरित

मण्डलस्थस्य सव्येन पुनर्वामेन रेचयेत् ।' (४।४६-४७)

इति चतुर्थपटलनिरूपयिष्यमाणस्थित्या निष्कलनाथमुच्चारयेत्, स्ववामेन निर्गत्य भैरवदक्षिणेन विशेत्, ततः क्रमेण वक्त्राङ्गभैरवलोकपालान्तमेवमेव च कुर्वीत इति मूलमन्त्रेण नाडीसंधानम् । एवं ह्युपसंहारप्रसरक्रमाभ्यां सर्वं देवताचक्रं भगवत्परभैरवमयमेव जायते । ये तु तृतीयचतुर्थपटलग्रन्थमेतत् परामृश्य मन्त्रसंधाननाडीसंधाने अन्यथा चान्यथा व्याचक्षते ते भ्रान्ता एव, 'अनागतावेक्षणं तन्त्रयुक्तिः' इति हि वाक्यविदां निश्चयः ॥ १३० ॥

अथ—

परान्तं यावदाभाव्य नैवेद्यानि निवेदयेत् ।

परान्तं यावदाभाव्य इत्यनेन परमीकरणं कृत्वा नैवेद्यानि निवेदयेत्, इत्यादिशति । वक्ष्यति हि तृतीये पटले—

'मन्त्रसंधानमेतद्धि.......................... ।'

इत्युक्त्वा

'..........................परमीकरणं शृणु ।

करे । फिर मण्डल में स्थित (देवता) को दायें नासारन्ध्र से पूरित कर बायें से बाहर कर दें ।' (४।४६-४७)

चतुर्थ पटल में निरूपित की जाने वाली विधि से निष्कलनाथ का उच्चारण करे । अपने बायें से निकल कर भैरव के दायें से प्रवेश करे । इसके बाद क्रमशः वक्त्राङ्ग भैरव से लेकर लोकपाल पर्यन्त इसी प्रकार करना चाहिये । यह मूलमन्त्र के द्वारा नाड़ी का सन्धान है । इस प्रकार उपसंहार एवं प्रसार के क्रम से समस्त देवताचक्र भगवान् पर भैरव रूप हो जाता है । जो लोग तृतीय चतुर्थ पटल वाले इस ग्रन्थ का परामर्श कर मन्त्रसन्धान और नाडीसन्धान की दूसरी दूसरी व्याख्या करते हैं वे भ्रम में हैं । क्योंकि 'अनागत का अवेक्षण ही तन्त्र की युक्ति होती है ।' ऐसा न्यायपण्डितों का निश्चय (= मत) है ॥ १३० ॥

इसके बाद—

परम सत्ता तक ऐसी भावना कर (फिर उनके लिये) नैवेद्य का निवेदन करे ॥ १३१- ॥

'परान्त तक पूरी भावना कर' कहने का तात्पर्य है कि सबका परमीभाव कर नैवेद्य का निवेदन करे । (परमेश्वर) यह आदेश देते हैं । तृतीय पटल में—

'यह मन्त्रसन्धान...... ।'

ऐसा कर

उच्चारयेत्ततो देवं ह्रस्वदीर्घप्लुतान्वितम् ॥
तावदुच्चारयेन्मन्त्रं यावन्निर्वाणगोचरम् ।' (३।२०-२१)

इत्यादि यावत्,

'सर्वेष्वावरणेष्वेव देवि तद्व्यापकं न्यसेत् ।
तेन चाधिष्ठिताः सर्वे सर्वकामफलप्रदाः ॥' (३।२४)

इत्येवमीदृशेषु स्थानेषु पूर्वापरं विमृश्य अनुसंधेयम् । अथ च परान्तं यावदाभाव्य षट्त्रिंशत्तत्त्वमयत्वेन ध्यात्वा, नैवेद्यानि निवेदयेत् ब्रह्मार्पणदृष्ट्या भगवति अर्पयेत्, निवेदयेत् शिवमयानि जानीयादित्यर्थः ॥

मानसानि नैवेद्यानि उद्दिशति—

घारिकां वटकाँश्चैव शष्कुलीर्मोदकांस्तथा ॥ १३१ ॥
खण्डलड्डुशरावाणि भक्ष्याणि विविधानि च ।
शाल्योदनं मुद्गसूपमाज्याक्तं संप्रकल्पयेत् ॥ १३२ ॥
कौशल्यां मण्डजापूपांस्तथा क्षौद्रशिरांसि च ।
घृताक्ताँश्चिल्लकांश्चैव लवणं परिकल्पयेत् ॥ १३३ ॥
अवदंशान्यनेकानि कटूनि मधुराणि च ।

.....अब उनका परमीकरण सुनो । इसके बाद ह्रस्व दीर्घ प्लुत से युक्त देव का उच्चारण करना चाहिये, मन्त्र का तब तक उच्चारण करे जब तक निर्वाण की स्थिति प्राप्त न हो जाय । (३।२०-२१)

इत्यादि । यहाँ तक कहा गया ।

'हे देवि ! सभी आवरणों में उसका व्यापक न्यास करना चाहिये । इस न्यास से अधिष्ठित सब (मन्त्र, देवता आदि) समस्त कामनाओं को पूरा करते हैं ।' (३।२४)

इस प्रकार के स्थानों में पूर्वापर का विमर्श कर अनुसन्धान करना चाहिये । इसके बाद पर देवता पर्यन्त भावना कर = छत्तीसतत्त्व से व्याप्त के रूप में ध्यान कर, नैवेद्य का निवेदन करे = 'ब्रह्म को अर्पित कर रहा हूँ' यह भावना कर भगवान् के लिये अर्पित करे । निवेदन करे = शिवमय समझे ॥

मानस नैवेद्य के नाम बतलाते हैं—

धारिका (= छिद्रयुक्त पूड़ी) वटाका (= एक प्रकार की रोटी), शष्कुली (= पूड़ी) लड्डू, खांड़ के लड्डू से भरे कसोरे, अनेक भक्ष्यपदार्थ, साठी का चावल, घी से छौंकी मूग की दाल समर्पित करे । कौशल्या (= खाद्यविशेष), माड़, मधु का छत्ता, घृत से युक्त चिल्लका (= झींगुर) नमक देना चाहिये । अनेक प्रकार के कटु और मधुर अवदंश

रसालां च दधि क्षीरमासवं विविधं तथा ॥ १३४ ॥
मत्स्यमांसान्यनेकानि लेह्यपेयानि यानि च ।
अग्रमापूरयेच्छंभोर्वित्तशाठ्यविवर्जितः ॥ १३५ ॥

'यद्यत्किञ्चिन्मानसाह्लादि सर्वं तत्तद्युक्त्यैवानुसन्धाय पूर्वम् ।
विश्वाभेदाद्भैरवैकात्म तस्मिन् स्वस्मिन् सर्वं धाम्नि लीनं विदध्यात् ॥'

इति नैवेद्यरहस्यम् । वित्तशाठ्यविवर्जित इति बाह्ययागे योज्यम्, नहि मानसे यागे कृपणत्वं भवति कस्यचित् ॥ १३५ ॥

एवं कृत्वा भगवद्रूपस्य स्वात्मनः परमानन्दनिर्भरत्वमनुसन्धातुम्—

पाश्चादर्घः प्रदातव्यः सुरया सुसुगन्धया ॥

सुराया आनन्दहेतुत्वादेवमुक्तम् । ये तु जात्युद्धारपरभैरवरूपत्वोन्मीलकेऽप्यस्मिन् भैरवनये सुराशब्दं जलवाचिनमपि व्याचक्षते, ते जातिग्रहग्रस्ताः

'मद्यं मांसं तथा मत्स्यानन्यानि च वरानने ।
साचारांश्च निराचारांल्लिङ्गिनो न जुगुप्सयेत् ॥' (५।४८)

(= काटकर खाने की चीजें जैसे कमलनाल इत्यादि) आम, दधि, ईंख, मदिरा, मछली अनेक प्रकार के मांस, तथा जो कुछ लेह्य और पेय हैं सब शिव के आगे रख देना चाहिये । इसमें कृपणता नहीं करनी चाहिये ॥ -१३१-१३५ ॥

'जो कुछ मन को प्रसन्न करने वाला है उस सबका शास्त्र एवं व्यवहार की युक्ति के द्वारा पहले अनुसन्धान करे । विश्व के भैरव से अभिन्न होने के कारण वह सब पदार्थ स्वात्मधाम में लीन कर दें ।'

'वित्तशाठ्य (= कृपणता) से रहित'—यह सिद्धान्त बाह्य याग के विषय में अपनाना चाहिये । मानस याग में कोई भी कृपण नहीं होता' ॥ १३५ ॥

यह सब करने के बाद भगवद् रूप आत्मा की परमानन्दनिर्भरता का अनुसन्धान करने के लिये—

बाद में सुगन्धित सुरा के द्वारा अर्घ देना चाहिये ॥ १३६- ॥

चूँकि सुरा आनन्द का कारण है इसलिये ऐसा (= सुरा का अर्घ देने के लिये) कहा गया । जो लोग जाति की भावना से ऊपर उठ कर परभैरवरूपता का उन्मीलन करने वाले इस भैरवशास्त्र में 'सुरा' शब्द का अर्थ 'जल' मानते हैं वे जाति से ग्रस्त हैं ।

'हे वरानने ! शिवलिङ्ग धारी के मद्य, मांस, मत्स्य और अन्य वस्तुओं तथा सदाचार और अनाचार की निन्दा नहीं करनी चाहिये, न घृणा करनी

इति भाविसमयोल्लङ्घिनः पशव एव ॥

एवं च कृत्वा—

मुद्रां प्रदर्शयेत्पश्चात् त्रिधा त्रैकाल्यकर्मणि ॥ १३६ ॥

'त्रैकाल्यकर्मणि' इत्यनुवादः । व्याकृतं चैतत् प्राक् ॥ १३६ ॥

प्रणिपातं ततः कृत्वा जपं पश्चात् समाचरेत् ।

वासनामात्रशेषस्यापि देहादेश्चिदात्मनि परभैरवे समावेशः प्रणिपातः, अन्यथा अन्तर्बहिश्च भैरवीभावे कृते कः कुत्र कं प्रणिपतेत् । जपोऽत्र भूयोभूयः परभैरवस्वरूपे विमर्शः ॥

कथमित्याह—

अक्षमालां तु सङ्गृह्य गन्धैः पुष्पैः समर्चिताम् ॥ १३७ ॥
वाङ्निरुद्धः सुचित्तात्मा राजीवासनसंस्थितः ।
मूलमन्त्रं समुच्चार्य नादे लीनं विचिन्तयेत् ॥ १३८ ॥
उन्मील्याक्षाणि संचिन्त्य ततस्तु जपमारभेत् ।

चाहिये ॥' (५।४८)

इस प्रकार भावी समय (= आगे बतलाये जाने वाले) (शिव नियम) का उल्लङ्घन करने वाले पशु ही हैं ॥

ऐसा करके—

बाद में त्रैकाल्य कर्म में मुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिये ॥ -१३६ ॥

त्रैकाल्य कर्म की व्याख्या पहले की जा चुकी है ॥ १३६ ॥

इसके बाद साष्टाङ्ग प्रणाम कर के जप का प्रारम्भ करना चाहिये ॥ १३७- ॥

वासनामात्र अवशिष्ट शरीर आदि का चिदात्मा परभैरव में समावेश ही प्रणिपात है; अन्यथा अन्दर एवं बाहर भैरवीभाव होने पर कौन कहाँ किसके सामने प्रणिपात करेगा । जप का अर्थ है—बार-बार परभैरवस्वरूप के विषय में ध्यान लगाना ॥

कैसे जप करे—यह बतलाते हैं—

गन्ध पुष्प (= धूप दीप नैवेद्य) से पूजित अक्षमाला का ग्रहण कर, वाणी को रोक कर स्वस्थ प्रसन्नचित्त एवं आत्मा वाले जापक को पद्मासन लगाकर मूलमन्त्र का उच्चारण करना चाहिए । तत्पश्चात् उसे नाद में लीन हुआ ध्यान करना चाहिए । फिर इन्द्रियों को किञ्चित् अन्दर ही अन्दर

समर्चितामिति 'ॐ अक्षमालायै नमः' इतिप्रयोगेण । राजीवासनसंस्थित इत्यनेन वक्ष्यमाणदिव्यकरणाधिरूढत्वं लक्ष्यते । अत एव पश्यन्त्यादिरूपा वाक् निरुद्धा मन्त्रामर्शमयीकृता येन, अत एव शोभनमविचालि चित्तं यस्य तादृगात्मा यस्य, मूलमन्त्रम् इति सकलं निष्कलं वा, सम्यगिति अक्षराक्षरसन्तानम् इति क्रमेण, उच्चार्य ऊर्ध्वं चारयित्वा नाद इति ।

'नास्योच्चारयिता कश्चित्' (०।५९)?

इति वक्ष्यमाणनित्योदितस्फुरत्तात्मनि लीनं तन्मयीभूतं विशेषेण तदनुप्रवेशात्मना चिन्तयेत् । कथम् ? अक्षाणि इन्द्रियाणि, उन्मील्य ऊर्ध्वं मीलितानि कृत्वा, संचिन्त्य मन्त्रदेवतां सम्यगात्मैक्येन चिन्तयित्वा, चिन्तयन्नेव जपमारभेत भूयोभूयो मन्त्रं विमृशेत् । उक्तं च—

'भूयोभूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या ।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृशः ॥'

इति श्रीवैज्ञानभैरवे (१४५ श्लो०) ॥ १३८ ॥

अत्र च—

उन्मीलित कर (मन्त्र के देवता का) ध्यान कर तत्पश्चात् जप का प्रारम्भ करना चाहिए ॥ -१३७-१३९- ॥

माला की पूजा 'ॐ अक्षमालायै नमः' इस प्रयोग के द्वारा करे । 'राजीवासनसंस्थितः' इस कथन से दिव्यकरणाधिरूढता, जिसका वर्णन आगे किया जायेगा, को सङ्केतित किया गया है । इसलिये पश्यन्ती आदि वाणी को निरुद्ध = मन्त्रामर्शमयी, करने वाला 'वाङ्निरुद्ध' कहा गया । इसीलिये वह सुचित्तात्मा अर्थात् शोभन = अविचाली, चित्त से युक्त आत्मा वाला है । मूलमन्त्र सकल या निष्कल कोई भी हो सकता है । सम्यक् = क्रमशः एक-एक अक्षर का, उच्चारण करते हुए = ऊपर ले जाकर । नाद में—

'इसका कोई उच्चारणकर्त्ता नहीं है ।' (०।५९)

इस वक्ष्यमाण नित्य उदित स्फुरत्ता वाले नाद में लीन = तन्मयीभूत कर विशिष्ट रूप से = नाद में अनुप्रवेश रूप से, चिन्तन करना चाहिये । कैसे चिन्तन को? यह बतलाते हैं— अक्षों = इन्द्रियों को, उन्मीलित कर = ऊपर की ओर मीलित कर । संचिन्त्य का तात्पर्य है—मन्त्र के देवता का सम्यक् = आत्मा से अभिन्नरूप में चिन्तन करे । चिन्तन करते हुए जप का आरम्भ करे = बार-बार मन्त्र का विमर्श करे । कहा भी है—

'परम तत्त्व में जो बार-बार भावना की जाती है वही जप है । इस प्रकार का मन्त्र का आत्मास्वरूप नाद ही स्वयं जपनीय होता है' ॥ १३८ ॥ (वि०भै० १४५)

यहाँ—

अक्षराक्षरसन्तानं न द्रुतं न विलम्बितम् ॥ १३९ ॥
जपः प्राणसमः कार्यः................

अक्षरादक्षरं सन्तानः प्रसरणं यत्र । तेन बीजाक्षराणां ह्रस्वदीर्घादि मात्राः मालामन्त्राणामक्षराणि चिच्छक्त्यात्ममन्त्रदेवतास्रग्गुम्भितानि विमृशेत् । यथोक्तम्—

'मन्त्रं मणिवदालम्ब्य प्रभावन्मन्त्रदेवताम् ।
जपध्यानादिकं कुर्यान्न ताटस्थ्येन कुत्रचित् ॥'

इति । न द्रुतम् इति ग्रस्तक्रमविधिं परिहृत्येत्यर्थः । न विलम्बितम् इति मध्ये मध्येऽत्यनुसन्धिशून्यमिति यावत् । 'प्राणसमः' इति मध्यवाहिना प्राणेनोल्लासप्रवेशात्मना समो मध्यवाही प्राणो यथान्तर्मान्त्रं परामर्शं सहत इत्यर्थः । तेन मालामन्त्रान् प्राणशक्तावंशांशिकात्वात्मक्रमेण क्रमात्क्रममधिकं नियोजयंस्तावदभ्यसेत्, यावत् समस्तमालामन्त्रपरामर्शं प्राणशक्तिरन्तः क्षमते । तथा सति हि कलाग्रासात्मकसंवित्सतत्त्वासादनं भवति । चतुष्कलप्रणवादीनि तु पिण्डाक्षराणि पञ्चप्रणवाधिकारवक्ष्यमाणव्याप्त्यनुसन्धानेनैव मध्यमप्राणसाम्येन उच्चारयन् जपेत् । उक्तं च—

एक अक्षर के बाद दूसरे अक्षर का प्रसरण जो कि न शीघ्र न विलम्ब से उच्चारित हो जप है । उसे प्राण के साथ-साथ करना चाहिये ॥ -१३९-१४०- ॥

(अक्षराक्षर सन्तान का तात्पर्य है—) जिसमें एक अक्षर से दूसरे अक्षर का प्रसरण हो । इससे बीज अक्षरों की ह्रस्व दीर्घ आदि मात्रायें और माला मन्त्रों के अक्षरों का चित्शक्ति रूप मन्त्र देवता रूपी माला में गुथे हुए के समान चिन्तन करना चाहिये । जैसा कि कहा गया—

'मन्त्र और प्रभायुक्त मन्त्रदेवता को (माला की) मणि के समान पकड़ कर जप ध्यान आदि करना चाहिये । कभी भी तटस्थ भाव से जप नहीं करना चाहिये ॥'

द्रुत नहीं = गृहीत क्रमविधि को न छोड़कर । विलम्बित नहीं = बीच-बीच में मन्त्र के अनुसन्धान का लोप नहीं होना चाहिये । प्राण के साथ-साथ = शरीर के मध्य में प्रवाहित होने वाले उल्लासप्रवेशरूपी प्राण के साथ मन्त्र का परामर्श भी होता रहना चाहिये । इससे मालामन्त्रों को प्राणशक्ति में अंशांशीभाव से क्रमशः अधिक नियोजित करते हुए (उन माला मन्त्रों का) तब तक अभ्यास करना चाहिये जब तक प्राणशक्ति समस्त माला मन्त्र के परामर्श को आत्मसात् न करले । वैसा होने पर कलाग्रास वाली संवित् के तत्त्व का ज्ञान प्रथवा प्राप्ति होती है । साधक, चतुष्कल प्रणव जिनके प्रारम्भ में है ऐसे पिण्ड (= सम्पूर्ण माला मन्त्र) के अक्षरों का पञ्चप्रणव के अधिकार में वक्ष्यमाण व्याप्ति के अनुसन्धान वाले मध्यमप्राणसाम्य के साथ उच्चारण करता हुआ जप करे । कहा भी गया है—

'न पुंसि न परे तत्त्वे शक्तौ मन्त्रं नियोजयेत्।' इति ॥ १३९ ॥

एवमितिकर्तव्यतामुक्त्वा फलभेदं निरूपयति—

........दिनस्थो मुक्तिकाङ्क्षिभिः ।

हृदयाद् द्वादशान्तं प्राणवाहः दिनम्, तत्र तिष्ठति, इति निर्गर्भमपानवृत्त्या प्रविश्य मन्त्रगर्भमूर्ध्वं प्राणान्ते विश्रान्तिपरो जपेदिति यावत् ॥

संहारः स तु विज्ञेयः...............

समस्ताशेषसंहारात् ॥

अत एव—

..............शिवधामफलप्रदः ॥ १४० ॥

साधकाभिप्रायेण तु—

व्योम्नि प्राप्तो यदा नादः पुनरेव निवर्तते ।
शर्वरी सा तु विज्ञेया हृदब्जं यावदागतः ॥ १४१ ॥
सृष्टिरेषा समाख्याता सर्वसिद्धिफलोदया ।

'न पुरुष और न पर तत्त्व में वरन् शक्ति में 'मन्त्र का नियोजन करना चाहिये' ॥ १३९ ॥

इस प्रकार इतिकर्त्तव्यता को बतला कर फल भेद का निरूपण करते हैं—

मुक्ति के इच्छुक दिनस्थ होकर जप करे ॥ -१४०- ॥

हृदय (= नाभि) से लेकर ऊर्ध्व द्वादशान्त पर्यन्त प्राण का प्रवाह दिन कहलाता है । उसमें रहने वाला (साधक) 'दिनस्थ' होता है । बिना किसी अनुसन्धान के अपानवृत्ति से प्रवेश कर मन्त्र को अन्दर रखते हुए ऊर्ध्व प्राणान्त में विश्राम करते हुए जप करना चाहिये ॥

उसे संहार समझना चाहिये ॥ -१४०- ॥

क्योंकि वह (= जप) सबका पूर्णरूप से संहार करता है ।

इसलिये—

शिवधाम की प्राप्तिरूपी फल देता है ॥ -१४० ॥

साधक के अभिप्राय से—

जब नाद व्योम (= ऊर्ध्व द्वादशान्त) में प्राप्त होकर (= पहुँच कर) पुनः लौट जाता है तो उसे रात्रि जाननी चाहिये । जब वह प्राण हृदयकमल तक आ जाता है तब सर्वसिद्धिफल को देने वाली वह सृष्टि कही जाती है ॥ १४१-१४२- ॥

व्योम्नि द्वादशान्ते, नाद इति तच्छेषीभूतो मन्त्रो निवर्तते इति द्वादशान्ताव-स्थितिलब्धोन्मेषवशादपानक्रमेणान्तर्विशेत् । सृष्टिरिति आप्यायकरत्वात्, सर्वेषामुत्त-मादिसिद्धिफलानामुदयो यस्याम् । तेनैवं साधकैर्निर्गर्भमेव प्राणवृत्त्या मुक्तिप्रत्यूह-परिहाराय मुण्डान्तमाश्रित्य तत उन्मिषदपानशक्त्याश्रयेण हृत्प्राप्तिपर्यन्तं जपः कार्यः, उभयार्थिना तु उभयथापि, इत्यर्थान्मन्तव्यम् । इत्थं चास्य मन्त्रस्य अशुद्धतत्त्वसंहारशुद्धतत्त्वसृष्टिकारितया मुक्तिभुक्तिप्रदमेकमेव पूर्णं वीर्यम्, आराधकाशयभेदातु पृथग्विभज्य उपदिष्टम् ॥ १४१ ॥

एवं च कुर्वता—

आत्मनो भैरवं रूपं सदा भाव्यं वरानने ॥ १४२ ॥
तस्य विघ्ना विनश्यन्ति जपश्च सफलो भवेत् ।

सर्वदशासु परभैरवचैतन्यरूपमात्मानं भावयतो विमृशतो विशेषेण घ्नन्ति मुक्तिसिद्धिप्राप्तीः, इति विघ्नाः पाशाः प्रतिबन्धकाश्च नश्यन्ति, अत एव जपो भुक्तिमुक्तिभ्यां सफलो भवेदेषां यथाभिप्रायम् ॥ १४२ ॥

व्योम में = द्वादशान्त में । नाद = उसका शेषभूत (= अङ्गभूत) मन्त्र । लौट जाता है = द्वादशान्त में स्थिति के द्वारा प्राप्त उन्मेष के कारण अपान के क्रम से अन्दर की ओर प्रवेश करता है । आप्यायन करने के कारण (यह स्थिति) सृष्टि कही गयी है । इस सृष्टि में समस्त उत्तम आदि सिद्धियों का उदय होता है । इस प्रकार मुक्ति के विघ्नों को हटाने के लिये साधकगण निर्गर्भ (= बिना किसी अनुसन्धान के) प्राण वृत्ति के द्वारा मुण्ड (शिर = ऊर्ध्वद्वा) पर्यन्त जाकर उसके बाद उन्मिषत् अपान शक्ति का आश्रय लेकर हृदय की प्राप्तिपर्यन्त जप करे । उभयार्थी (= भोग और मोक्ष दोनों को चाहने वाले) के द्वारा दोनों प्रकार से (= सानुसन्धान एवं निरनुसन्धान पूर्वक) जप करना चाहिये—यह अर्थात् समझ लेना चाहिये । इस प्रकार अशुद्धतत्त्व का संहार और शुद्धतत्त्व की सृष्टि करने के कारण इस मन्त्र का भोगमोक्षप्रद एक ही पूर्ण वीर्य है । आराधक के आशय के भेद से इसका अलग-अलग उपदेश किया गया ॥ १४१ ॥

इस प्रकार करने वाला—

हे वरानने ! (ऐसा करने वाला) सदा अपने को भैरव रूप समझना चाहिए । उस जापक के सभी विघ्न नष्ट हो जाते हैं और जप सफल हो जाता है ॥ -१४२-१४३- ॥

समस्त दशाओं में अपने को परभैरव चैतन्य रूप समझते हुए साधक के विघ्न = मुक्ति और सिद्धि की प्राप्ति के बाधक = पाश और प्रतिबन्धक, नष्ट हो जाते हैं । इसलिये इन जापकों का जैसा अभिप्राय होता है उसी प्रकार का भोग-मोक्ष देने के कारण जप सफल हो जाता है ॥ १४२ ॥

जप्त्वा निवेदयेद् देवि भैरवाय वरानने ॥ १४३ ॥
पूरकेण प्रयोगेण.............

हृदि स्थिताय भैरवाय द्वादशान्तात् प्रवेशरूपेण पूरकप्रयोगेण मुमुक्षुस्तु फलानभिसंधिसंबन्धिना 'भगवन् जपमेवंसंख्याकं गृहाण' इति निवेदयेत् ॥१४३॥

कीदृशम्—

.........त्रिस्थं च त्रितयान्वितम् ।
त्रिसिद्धिसिद्धिदं देवि............

त्रिषु उल्लासप्रवेशोभयात्मकेषु पदेषु तिष्ठति, इति यः (सः त्रिस्थः), तथा वाङ्मनःप्राणात्मकेन त्रितयेनान्वितं युक्तम्, उत्तममध्यमाधमभेदात्त्रिरूपा या सिद्धिः साधकेभ्यः, तथा सिद्धिरेतद्विलक्षणा मुमुक्षोर्मुक्तिरूपा, तामुक्तवक्ष्यमाणयुक्त्या ददाति यः । त्रिसिद्धिरिति सिद्धिश्चेति योजयित्वा व्याख्येयम् ॥

किं च—

.............सरहस्यमुदाहृतम् ॥ १४४ ॥

हे देवि ! हे वरानने ! जप करने के बाद पूरक प्रयोग के द्वारा उसे भैरव के लिये निवेदित करे ॥ -१४३-१४४- ॥

हृदय में स्थित भैरव को द्वादशान्त से प्रवेश रूपी पूरक प्रयोग के द्वारा निवेदित करे । (बुभुक्षु निवेदन करते समय फलसिद्धि के लिये प्रार्थना करे) किन्तु मुमुक्षु फल को न चाहने के कारण 'भगवन् इतनी संख्या वाला जप आप स्वीकार करें' इस प्रकार निवेदन करे ॥ १४३ ॥

यह जप किस प्रकार का है—(यह बतलाते हैं—)

हे देवि ! यह (जप) तीन में रहने वाला, तीन से युक्त, तीन सिद्धियों तथा एक सिद्धि को देने वाला है ॥ -१४४- ॥

त्रिस्थ = उल्लास प्रवेश और उभयात्मक तीन पदों में रहने वाला । त्रितयान्वित = वाणी मन एवं प्राण इन तीन से अन्वित = युक्त । त्रिसिद्धि = उत्तम मध्यम अधम भेद से तीन प्रकार सिद्धि । तथा सिद्धि = उपर्युक्त तीन सिद्धियों से विलक्षण, मुमुक्षु के लिये मुक्तिरूपा सिद्धि, उनको देने वाला है । 'त्रिसिद्धिःसिद्धिश्च' इस प्रकार यहाँ द्वन्द्व समास है । त्रिसिद्धिसिद्धी ददाति इति त्रिसिद्धिसिद्धिदः ऐसी व्याख्या करनी चाहिये ॥

तथा—

इसे रहस्य के साथ कहा गया (अर्थात् स्पष्ट एवं विस्तृत रूप से नहीं कहा गया) ॥ -१४४ ॥

योजनिकायां पञ्चप्रणवाधिकारे च वक्ष्यमाणनीत्या मुमुक्षुबुभुक्षूणामूर्ध्वं द्वादशान्तमाहृतं प्रापितम्, ऊर्ध्वाच्चाहृतं हृदयान्तं प्रापितं सरहस्यं कैश्चिदेव विकसितमध्यमार्गैर्लभ्यमित्यर्थः ॥ १४४ ॥

सिद्धिवैशिष्ट्येनास्य साधकं प्रति विशेषं वक्तुमाह—

शान्तिके मानसो जप्य उपांशुः पौष्टिके स्मृतः ।
सशब्दश्चाभिचारेऽसौ प्रागुदग्दक्षिणामुखः ॥ १४५ ॥

एतद् व्याचष्टे—

आत्मा न शृणुते यं तु मानसोऽसौ प्रकीर्तितः ।
आत्मना श्रूयते यस्तु तमुपाँशुं विजानते ॥ १४६ ॥
परे शृण्वन्ति यं देवि सशब्दः स उदाहृतः ।

मानसो मध्यमायां वाचि उपांशुसशब्दौ तु सूक्ष्मस्थूलप्रयत्नायां वैखर्याम् । त्रयस्यास्य भोगहेतुत्वमन्यत्राप्युक्तम्—

'मध्यमो भोगमोक्षाख्य उपांशुः सिद्धिदायकः ।

(उदाहृत शब्द की व्याख्या करते हैं—) योजनिका दीक्षा एवं पञ्चप्रणवाधिकार में वक्ष्यमाण नीति से मुमुक्षु और बुभुक्षु के लिये उत् = ऊर्ध्व = द्वादशान्तपर्यन्त, आहृत = प्रापित है तथा ऊर्ध्व से (= द्वादशान्त से) आहृत = हृदयपर्यन्त प्रापित है । सरहस्य = किन्हीं विकसित सुषुम्ना मार्ग वालों के द्वारा प्राप्य है॥ १४४ ॥

सिद्धि के वैशिष्ट्य से इस (= जप) का साधक के प्रति विशेष बतला रहे हैं—

शान्तिकर्म में मानस, पौष्टिक कर्म में उपांशु तथा अभिचार कर्म में शब्द सहित (= स्पष्ट उच्चारण करते हुए) जप करना चाहिये । (इसी प्रकार क्रम से जापक) पूर्व उत्तर और दक्षिण मुख होकर जप करे ॥ १४५ ॥

इस (जप) की व्याख्या करते हैं—

जिसको जापक स्वयं न सुने वह मानस जप कहा गया है । जो अपने द्वारा (= जापक के द्वारा) सुना जाय उसे (विद्वान लोग) उपांशु मानते हैं । हे देवि ! जिस मन्त्र को जपते हुए दूसरे लोग भी सुन सकें वह जप सशब्द कहा गया है ॥ १४६-१४७- ॥

मानस = मध्यमावाणी में किया गया । उपांशु और सशब्द जप सूक्ष्म और स्थूल प्रयत्न वाली वैखरी वाणी में किया गया होता है । इन तीनों की भोगहेतुता अन्यत्र भी कही गयी है—

वाचिको भूतविषजित् सशब्दश्चाभिचारिकः ॥' इति ।

एवं वदन् पश्यन्तीपरावाग्भ्यां मुक्तौ जीवन्मुक्तौ च जपः कार्यः, इति सूचयति । उक्तं च—

'जीवन्मुक्तौ परो ज्ञेयो मुक्तौ मुद्रितभेदकः ।' इति ॥ १४६ ॥

जपोपयोगिनीमक्षमालां निदर्शयति—

अष्टोत्तरशतेनैव अक्षमाला समेरुका ॥ १४७ ॥
रुद्राक्षशङ्खपद्माक्षपुत्रजीवकमौक्तिकैः ।
स्फाटिकी मणिरत्नोत्था सौवर्णी वैद्रुमी तथा॥ १४८ ॥

एताश्च—

दशाक्षमाला देवेशि गृहस्थानां प्रकीर्तिताः ।

अष्टाभिरुत्कृष्टेन अधिकेन शतेन । एवकारेण अधिकसंख्याया व्युदासः, सप्तविंशतिचतुष्पञ्चाशत्संख्याया अपि भावात् ॥

यथाक्रमम्—

'मध्यम जप भोग और मोक्ष का दायक, उपांशुसिद्धिदायक वाचिक भूतविष को हटाने वाला तथा सशब्द जप आभिचारिक होता है ।'

ऐसा कहते हुए ग्रन्थकार यह सूचित करते हैं कि विदेहमुक्ति और जीवन्मुक्ति के विषय में पश्यन्ती और परावाणी से जप करना चाहिये । कहा भी गया है—

'जीवन्मुक्ति में पर ज्ञेय रहता है किन्तु विदेहमुक्ति में (ज्ञाता और ज्ञेय का) भेद समाप्त हो जाता है' ॥ १४६ ॥

जप की उपयोगिनी अक्षमाला को बतलाते हैं—

अक्षमाला १०८ दाने की और सुमेरु सहित होनी चाहिये । यह माला रुद्राक्ष, शङ्ख, कमलगट्टा, अक्षपुत्र (= बहेड़े का फल) जीवक (= विजयसार नामक वृक्ष), मोती, स्फटिक मणिरत्न, सोना एवं मूँगा की होनी चाहिये ॥ -१४७-१४८ ॥

और ये—

हे देवि ! गृहस्थों के लिये ये दश (प्रकार की) अक्षमालायें (ग्राह्य) कही गयी है ॥ १४९- ॥

ये सब की सब १०८ मनिकायें अथवा दाने की होनी चाहिये । ('अष्टोत्तरशतेनैव' पद में उक्त) एवकार से अधिक संख्या का निराकरण करते हैं । २७ और ५४ मणि की संख्यावाली माला भी स्वीकार्य है ॥ १४८ ॥

सूत्रं ध्यात्वा परां शक्तिमध्वभागांस्ततो मणीन् ॥ १४९ ॥
व्यक्तिस्थानं शिवस्याध्वा ततस्तत्तद्धर्मिणीं स्मरेत् ।
सप्तविंशतिभिः कुर्याद् द्विगुणैर्वा चतुर्गुणैः ॥ १५० ॥
समैस्तु संहतैरेकं शिवतत्त्वात्मकं मुखे ।
न तं विलङ्घयेद् विद्वान् सृष्टिसंहारकारणम् ॥ १५१ ॥

अत्र च नवानाम् अष्टादशानां वा षट्त्रिंशतो वा तत्त्वानां तत्त्वदीक्षायामिह मृत्युञ्जयादौ गणितानां परशक्तिशिवात्मकस्थूलसूक्ष्मपरभेदत्रैविध्यादेवंसंख्याकत्वमेव भवति, इति तत्र व्याप्तिरस्ति ॥ १५१ ॥

नैष्ठिकानामाह—

वीरस्थानरतानां हि वीराणां वरवर्णिनि ।
महाशङ्खाक्षसूत्रं तु सर्वकामफलप्रदम् ॥ १५२ ॥

वीरस्थानं श्मशानादि, महाशङ्खं नरास्थि, वीरा निष्कम्पाः ॥ १५२ ॥

एतत्तु—

क्रम से—

अक्षमाला के सूत्र का ध्यान कर परा शक्ति छः अध्व भागों का, फिर मणियों का, व्यक्ति, (देवता का प्राकट्य) स्थान का, शिव का अध्वाओं (अनाश्रितभुवन पर्यन्त) फिर उसके (= शिव के) धर्मिणी (= शक्ति) का स्मरण करे । सत्ताईस (मणियों) से, दोगुने (= चौवन मणियों) से अथवा चौगुने से (= १०८ मणियों) से युक्त एवं मिले हुए शिवतत्त्वात्मक सुमेरु का उल्लंघन न करे । विद्वान् सृष्टि एवं संहार के कारणभूत उसका (= सुमेरु का) उल्लङ्घन न करे ॥ -१४९-१५१ ॥

यहाँ नव, अट्ठारह अथवा छत्तीस तत्त्वों की तत्त्व दीक्षा में मृत्युञ्जय भट्टारक ग्रन्थों आदि में गिने गये परमशिव, शक्ति एवं अनाश्रितशिव रूप पर सूक्ष्म स्थूल भेद से तीन प्रकार का होने के कारण ही इस प्रकार की संख्या होती है । इसलिये वहाँ (शिव की) व्याप्ति है ॥ १५१ ॥

नैष्ठिकों की (माला को) बतलाते हैं—

हे वरवर्णिनि ! श्मशान आदि में (बैठकर साधना में) निरत वीराचारी साधकों के लिये महाशङ्ख की माला समस्त इच्छाओं को पूरी करने वाली होती है ॥ १५२ ॥

वीरस्थान = श्मशान । महाशङ्ख = मनुष्य की हड्डी । वीर = निष्कम्प अर्थात् भय अथवा शङ्कारहित ॥ १५२ ॥

यह तो—

गृहस्थेन न कर्तव्यमुद्वेगजननं परम् ।

यत एवम्—

तस्मात्तु स्फाटिकी माला जप्तव्या साधकोत्तमैः॥ १५३ ॥

साधकोत्तमैर्गृहस्थैः ॥ १५३ ॥

सा हि—

साधयेद्विविधान् कामानधमान् मध्यमोत्तमान् ।

विविधसिद्धिखगतिविद्यातत्त्वाद्याप्तिरूपान् । मुमुक्षोस्तु दशविधाक्षमाला उक्तैव ॥

उपसंहरति—

एवं हृदम्बुजावस्थो यष्टव्यो भैरवो विभुः ॥ १५४ ॥
सबाह्याभ्यन्तरं कृत्वा पश्चाद्यजनमारभेत् ।

सह बाह्याभ्यन्तराभ्यां देहपुर्यष्टकभैरवत्वापादनाभ्यां वर्तते यो याग एक एव, न तु करयोर्देहे अन्तश्च अन्यान्यरूपो भैरवैक्यस्यैव प्राप्यत्वेन उपदेक्ष्यमाणत्वादिति । सबाह्याभ्यन्तरम इत्यैक्येन य उपसंहृतो यागश्चिद्भैरवेऽशेषविश्वा-

---

गृहस्थ को ऐसी माला पर जप नहीं करनी चाहिये क्योंकि यह (साधक के मन में) उद्वेग उत्पन्न करती है ॥ १५३- ॥

इसलिए—

इस कारण उत्तम साधकों के द्वारा स्फटिकमणियों की माला से जप करना चाहिये ॥ -१५३ ॥

उत्तम साधक द्वारा = गृहस्थ द्वारा ॥ १५३ ॥

वह माला अधम मध्यम और उत्तम अनेक इच्छाओं को सिद्ध करती है ॥ १५४- ॥

(अनेक काम =) अनेक प्रकार की सिद्धियाँ, आकाश में सञ्चरण, विद्यातत्त्व आदि की प्राप्ति । मुमुक्षु के लिये दश प्रकार की माला कह दी गयी है ॥

इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार हृदयकमल में स्थित व्यापक भैरव का यजन करना चाहिये । बाह्य एवं आभ्यन्तर याग करने के बाद पूजन का आरम्भ करना चाहिये ॥ -१५४-१५५- ॥

बाह्य एवं आभ्यन्तर = देह, पुर्यष्टक एवं भैरवत्व के आपादन के साथ जो याग वर्त्तमान रहता है वह एक ही है न कि दोनों हाथों, देह एवं हृदय के अन्दर वर्त्तमान याग भिन्न-भिन्न रूपों वाला होता है क्योंकि यह सब भैरव के साथ ऐक्य

र्पणात्मा, तं कृत्वा हृद्यागप्रतिबिम्बकरूपं च बाह्ययागम् अभिसंधाय, इत्यपि च सबाह्याभ्यन्तरं कृत्वा इत्यस्यार्थः । पश्चादिति जपानन्तरम्—

महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम् ।
हूयते मनसा सार्धं स होमः स्रुक् च चेतना ॥ (१४९)

इति श्रीविज्ञानभैरवोक्तनीत्या द्वादशान्ते मन्त्रस्मरणपूर्वकं विश्वभावार्पणरूपं होमं विधाय अन्तर्यागप्रतिबिम्बरूपं यजनमारभेत बाह्यमित्यर्थः ॥ १५४ ॥

आत्ममन्त्रार्घपात्रमण्डलभैरवकुसुमादिद्रव्याणां कर्तृकरणापादानाधिकरण संप्रदानकर्मकारकरूपाणां ब्रह्मार्पणदृष्ट्या परमाद्वैतापादनरूपबाह्यपूजनाभ्यासपरिनिष्ठया सर्वव्यवहारेषु सर्वकारकाणां चिद्भैरवैक्यं प्रत्यभिज्ञाप्यते, इति यद् बहिर्यागसतत्त्वं तत्प्रस्तावनाय कर्तृकरणसंस्कारात्मकान्तर्यागानन्तरं कर्मादिसंस्काराधायकापाद नादिसंस्कारार्थमर्घपात्रविधिं तावदाह—

तत्रार्घपात्रमादौ वै सौवर्णं राजतं तथा ॥ १५५ ॥
शाङ्खं शाम्बूकं शौक्तं वा ताम्रं मृण्मयमेव वा ।
पद्मपत्रपलाशोत्थं गृहीत्वाऽऽक्षाल्य वारिणा ॥ १५६ ॥
अस्त्रजप्तेन देवेशि प्रलिप्यागुरुचन्दनैः ।

सम्पादन के लिये उपदिष्ट है । (सबाह्याभ्यन्तरम् का एक अर्थ और भी है—) स बाह्याभ्यन्तरम्' इस प्रकार एक साथ उपसंहृत जो याग = चिद्भैरव में समस्त विश्व का अर्पण, उसको करके, हृद्याग के प्रतिबिम्बरूपी बाह्ययाग को सम्पन्न करे—यह भी एक अर्थ है । बाद में—जप के अनन्तर ।

'पर शून्यात्मक वह्नि में मन के साथ भूत, इन्द्रिय, उनके विषय आदि का होम किया जाता है । इसमें बुद्धि स्रुक् का काम करती है ।' (वि०भै० १४९)

विज्ञानभैरव के उक्त वचन के अनुसार द्वादशान्त में मन्त्रस्मरणपूर्वक विश्वभावार्पणरूप होम का सम्पादन कर अन्तर्याग के प्रतिबिम्बरूप बाह्ययाग का आरम्भ करे ॥ १५४ ॥

कर्त्ता, करण, अपादान, अधिकरण, सम्प्रदान एवं कर्मकारक रूपी आत्मा, मन्त्र, अर्घपात्र, मण्डल, भैरव, पुष्प आदि द्रव्यों का ब्रह्मार्पण की दृष्टि से चिद्भैरव के साथ ऐक्य बतलाया जाता है । यह ऐक्य परम अद्वैतापादन रूप बाह्य पूजन के अभ्यास के द्वारा समस्तव्यवहारों में समस्त कारकों का होता है । इसलिये जो बाह्य याग है उसकी प्रस्तावना के लिये कर्त्ताकरणसंस्कार रूप अन्तर्याग के बाद कर्म आदि संस्कार के आधायक अपादान आदि संस्कार के लिये अर्घपात्र विधि को कहते हैं—

हे देवेशि ! पहले सुवर्ण, रजत, शङ्ख, शम्बूक, शुक्ति, ताँबा अथवा मिट्टी का बना हुआ अथवा कमल के पत्ते अथवा पलाश से रचित अर्घपात्र

मृष्टधूपेन संधूप्य वारिणा पूरयेत्ततः ॥ १५७ ॥
वस्त्रपूतेन शुद्धेन.................

अर्घपात्रं रक्षाधाम । तत्र इत्यन्तर्यागाद्भैरवीभावे जाते सति । आदाविति कुसुमादिसंस्कारार्थम् । सौवर्णादि मुमुक्षोर्यथासंभवम् । शम्बूकः सामुद्रः प्राणिविशेषः । पलाशो यज्ञियस्तरुः । आक्षालनं भेदशल्यापनयनम् । आपूरणम् अशेषविश्वमयीभावानाम् ॥ १५७ ॥

ततः—

............ताडयेदस्त्रमुच्चरन् ।
वर्मावगुण्ठितं कृत्वा.............

अत्रानुक्तमप्यनेन मन्त्रेणाप्यायनममृतमुद्रया कार्यम् ॥

अनन्तरम्—

.........यागं तत्रैव विन्यसेत् ॥ १५८ ॥

इज्यत इति याग मन्त्रगणः । अनेनैव चात्र पूजनमपि सूचितम् ॥ १५८ ॥

को जल से धोकर अस्त्र (मन्त्र) का जप करते हुए अगर, चन्दन से उपलिप्त कर मृष्टधूप (= घी देवदार की लकड़ी, गुड़ के मिश्रण) से अच्छी तरह धूपित कर वस्त्र से छाने गये पानी से भर देना चाहिये ॥ -१५५-१५८- ॥

अर्घपात्र = रक्षा का स्थान । तत्र (= तदनन्तर) अन्तर्याग के कारण भैरवी भाव के सम्पन्न होने पर । पहले—पुष्प आदि के संस्कार के लिये । सुवर्ण से आदि निर्मित यह मुमुक्षु के लिये है । जहाँ तक सम्भव हो (ऐसा ही अर्घपात्र बनाना चाहिये) । शम्बूक = समुद्र में रहने वाला एक प्रकार का प्राणी । पलाश = यज्ञीय वृक्ष (= ढाक) । आक्षालन =भेदरूपी शल्य (= काँटा, तिनका) को दूर करना । आपूरण—यह समस्तविश्वमयी भावों का होता है ॥ १५७ ॥

इसके बाद—

(उस अर्घपात्र का) वर्म से अवगुण्ठित कर अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए ताडन करना चाहिये ॥ -१५८- ॥

यद्यपि यहाँ आप्यायन नहीं कहा गया तो भी इस मन्त्र से अमृतमुद्रा के द्वारा आप्यायन करना चाहिये ॥

तत्पश्चात्—

वहीं पर याग करना चाहिये ॥ -१५८ ॥

कथम्—

पूर्वोक्तेन विधानेन..............

अन्तर्यागोक्तासनादिपूर्वं स्फुरत्तेजोरूपसकलमन्त्रैकादशिकानिष्कलतदङ्गन्यासयुक्त्येत्यर्थः ॥

ततोऽपि—

.................प्रोक्ष्यस्तेन समासतः ।
यागार्थो द्रव्यसंघातः.................

परावृत्त्यवष्टम्भेनावलोक्येति शेषः । प्रोक्षणम् अत्र तेजोमयत्वापादनम् ।

ततः पुष्पादिभिः शिरसि चिद्भैरवं पूजयित्वा—

.................ततो यजनमारभेत् ॥ १५९ ॥

अत्र भूमिकां रचयति—

शक्तिं न्यस्य ततश्चादौ व्योमाकारां सुजाज्वलाम् ।
सकलव्यापिकां सूक्ष्मां शिवाधारातु सर्वगाम् ॥ १६० ॥

जिससे पूजा की जाय वह याग है अर्थात् मन्त्रसमूह । इससे यहाँ पूजन का भी सङ्केत किया गया ॥ १५८ ॥

कैसे (याग करना चाहिये—यह बतलाते हैं)—

पूर्वोक्त विधान से ॥ १५९- ॥

अन्तर्याग में कथित आसन आदि के बाद स्फुरत् तेजो रूप सकलमन्त्रैकादशिका (= अ उ म् विन्दु अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना) और निष्कल तथा उसके अङ्गन्यास की युक्ति के अनुसार (याग करे) ॥

इसके बाद—

याग के लिये एकत्रित द्रव्यसमूह का उसी (मन्त्र) से प्रोक्षण करना चाहिये ॥ -१५९- ॥

यह प्रोक्षण परावृत्ति की स्थिति के द्वारा देखकर करना चाहिये । प्रोक्षण का अर्थ है—याग के द्रव्यों को तेजोमय बनाना ।

इसके बाद पुष्प आदि के द्वारा शिर में चिद्भैरव की पूजा करने के बाद—

यज्ञ का प्रारम्भ करना चाहिये ॥ -१५९ ॥

इस (= यज्ञ) के विषय में भूमिका बतलाते हैं—

पहले आधारशक्ति का न्यास करना चाहिये । यह आधारशक्ति

ओङ्कारदीपितां देवीं नमस्कारावसानिकाम् ।

शिव आधार आश्रयो यस्यास्तां प्रथमोन्मेषरूपां विन्यसनीयाशेषासनादिभित्तिभूताम्, चिन्मात्रमूर्तित्वेन व्योमाकाराम् अनुपाधिज्ञत्वरूपस्फुरत्तया सुज्ञाज्वलाम्, गर्भीकृताशेषविश्वतया सकलव्यापिकाम्, सर्वैरलक्ष्यत्वात् सूक्ष्माम्, आधारमासनपक्षम् आधेयं च शिवं प्राप्यावस्थिततत्वात् सर्वगां देवीं विश्वक्रीडादिप्रदर्शिनीं पारमेश्वरीं शक्तिमाधाररूपां परिकल्पनीयस्य अशेषस्य तदुत्थत्वेन शिवमयत्वमनुसंधातुम् उक्तवक्ष्यमाणव्याप्तिकेन ओङ्कारेण परभैरवरूपेणोत्तेजिताम् 'ॐ आधारशक्त्यै नमः' इति प्रयोगेण न्यस्य उत्तरं विधिमारभेतेत्यर्थः । एष च शक्तिन्यासः पूर्वत्र अन्तर्यागादावपि स्मर्तव्यः ॥ १६० ॥

अनन्तं चैव विन्यस्य धर्मं ज्ञानं तथैव च ॥ १६१ ॥
वैराग्यं च तथैश्वर्यमाग्नेय्यादिक्रमेण तु ।
अधर्मं च तथाज्ञानमवैराग्यमनैश्वरम् ॥ १६२ ॥
संधानकीलकांश्चैव अधश्छादनमूर्ध्वगम् ।

आकाश के आकार वाली, अत्यन्त प्रकाश युक्त, सर्वव्यापिनी, सूक्ष्म, शिव की आधारवाली, सर्वगामिनी है । ॐकार के द्वारा दीपित देवी नमस्कार अन्त वाली है ॥ १६०-१६१- ॥

शिव आधार = आश्रय, है जिसका उसको अर्थात् उनकी प्रथम उन्मेषरूपा (शक्ति) । जो कि विन्यसनीय समस्त आसनों की आधारभित्ति है । चिन्मात्रमूर्ति होने के कारण वह आकाशरूपिणी है । निरुपाधिक ज्ञानरूप स्फुरत्ता के कारण अत्यन्त प्रकाशयुक्त है । समस्त विश्व को अपने गर्भ में धारण करने के कारण सकलव्यापिका तथा सब लोगों के द्वारा अलक्ष्य होने के कारण सूक्ष्मा है । आधार = आसन, पक्ष, आधेय = शिव, को प्राप्त कर अवस्थित होने के कारण सर्वगामिनी है । देवी = विश्वरूपी क्रीड़ा आदि का प्रदर्शन करने वाली परमेश्वर की शक्ति जो कि आधार रूपा है । समस्त परिकल्पनीय विषय के उस शक्ति या शिव से उत्पन्न होने के कारण उन विषयों को शिवमय समझने के लिये उक्त एवं वक्ष्यमाण व्याप्ति वाले परभैरवरूप ओङ्कार के द्वारा उत्तेजित शक्ति का 'ॐ आधारशक्त्यै नमः' इस वाक्यप्रयोग के द्वारा न्यास करके उत्तर विधि का आरम्भ करे । इस शक्तिन्यास का पहले अन्तर्याग आदि के प्रकरण में भी स्मरण करना चाहिये ॥ १६० ॥

इसके बाद विधिपूर्वक अनन्त का न्यास करे । धर्म ज्ञान वैराग्य ऐश्वर्य अधर्म अज्ञान अवैराग्य और अनैश्वर्य का आग्नेयी आदि दिशाओं में क्रम से न्यास करना चाहिये ॥ -१६१-१६२ ॥

सन्धानकीलकों (= जोड़ने का खूँटा) अधः एवं उर्ध्व का छादन,

पद्मं सकेसरं देवि कर्णिकां पुष्कराणि च ॥ १६३ ॥
मण्डलत्रितयं देवान् शक्तिञ्चापि शिवान्तकम् ।
मूर्तिं ब्रह्मकलाजालं नवतत्त्वं त्रितत्त्वकम् ॥ १६४ ॥
भैरवाष्टकविद्याङ्गलोचनं क्षुरिकां तथा ।
शक्तित्रयं परं देवमङ्गषट्कसमन्वितम् ॥ १६५ ॥
विन्यस्य भावयेद् देवि सततं विधिपूर्वकम् ।

विधिपूर्वकमिति पूर्वोक्तध्यानादियुक्त्येत्यर्थः । यदिहानुक्तं तत्पूर्वतोऽनुसंधेयम्, यच्च पूर्वत्र नोक्तं तदितोऽनुसंधेयमधिकारभेदेनान्तर्बहिर्यागयोः पर्यायेण प्रकृतिविकृतिरूपत्वात्, सर्वं चैतत् पूर्वं निर्णीतम् ॥ १६५ ॥

निर्वर्त्य तु यथान्यायं प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ १६६ ॥
स्वागतं चार्घ्यपाद्यं च सन्निधानं तथैव च ।
रोधं निष्ठुरया कुर्यान्मूलमन्त्रमनुस्मरन् ॥ १६७ ॥
पूजा सुविपुला कार्या गन्धधूपस्रगादिभिः ।
मुद्रां प्रदर्शयेत् पश्चात् त्रिधा त्रैकाल्यकर्मणि ॥ १६८ ॥

केसर से युक्त कमल, कर्णिका, (नील) कमल के पत्तों का न्यास करना चाहिए ॥ १६३ ॥

तीन मण्डल (= रवि चन्द्र और अग्नि के), देवगण, शक्ति, शिव, मूर्त्ति (= साकार स्वरूप) ब्रह्मकलासमूह, नव तत्त्व, तीन तत्त्व, भैरवाष्टक, विद्याङ्ग लोचन, क्षुरिका, तीन शक्तियों वाले परमदेव, उनके छः अङ्गों का विधिपूर्वक न्यास कर निरन्तर इनकी भावना करनी चाहिये ॥ १६४-१६६-॥

विधि पूर्वक = पूर्वोक्त ध्यान आदि रूप युक्ति के द्वारा । जो बात इन (= १६१-१६६-) श्लोकों में नहीं कही गयी वह पहले के ग्रन्थ से जान लेनी चाहिये और जो पहले नहीं कही गयी उसका यहाँ से अनुसन्धान कर लेना चाहिये क्योंकि अधिकारभेद से अन्तर्याग और बहिर्याग क्रमशः प्रकृतिविकृति रूप है । यह सब पहले बताया जा चुका है ॥ १६५ ॥

नियम के अनुसार उपर्युक्त न्यास को पूर्ण कर प्रसन्न मन से उनका स्वागत अर्घ्य पाद्य, सन्निधान (= आसन पर बैठाना) रोध (= स्थापन) को निष्ठुरा मुद्रा (= मुद्राविशेष) के द्वारा मूल मन्त्र का स्मरण करते हुए करना चाहिये ॥ -१६६-१६७ ॥

(= मूल मन्त्र स्मरण करते हुए) गन्ध पुष्प माला धूप आदि के द्वारा भली-भाँति विस्तार से उनकी पूजा करनी चाहिये । बाद में त्रिकालकर्म (= त्रिकालसन्ध्या) में तीन प्रकार से मुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिये ॥ १६८॥

तत आवरणं बाह्ये विनिवेश्यं वरानने ।
ईशपूर्वयाम्यसौम्यवरुणान्तं प्रकल्पयेत् ॥ १६९ ॥
वक्त्राणां पञ्चकं देवि स्वध्यानगुणसंयुतम् ।
आग्नेयैशानरक्षःसु सामीरैन्द्रदिशोरपि ॥ १७० ॥
उत्तरान्तं निवेश्यं तु अङ्गानां पञ्चकं तथा ।
नेत्रं तु कर्णिकायां वै पूर्वस्यां दिशि संस्थितम् ॥ १७१ ॥

एतदपि पूर्वमेव व्याख्यातम् । प्रहृष्टेनान्तरात्मना इति भैरवाशेष (वेश)-मयेनेत्यर्थः । अत्र पूर्वं श्रीमदघोरेश्वरीन्यासः स्मर्तव्यः । सामीरैन्द्रदिशोरपि उत्तरान्तम् इत्यत्रैन्द्रदिश उत्तरान्तं चतुर्दिक्कमस्त्रं कल्पयेदिति योज्यम् । यथोक्तं पूर्वम्—

'अग्नीशरक्षोवायव्यचतुर्दिक्षु च तं न्यसेत्' (२।१०८)

इत्यादि ॥ १७१ ॥

सर्वत्र व्यापकं विधिमाह—

स्वमन्त्रेण तु सर्वेषामर्घ्यं पाद्यं समाहितः ।

दद्यादिति शेषः ॥

समाहितत्वं स्फुटयति—

हे वरानने ! इसके बाद बाहर की ओर आवरण लगाना चाहिये । इसे ईशान पूर्व, दक्षिण, उत्तर और पश्चिम तक लगाना चाहिये ॥ १६९ ॥

हे देवि ! अपने ध्यान गुणों से युक्त पाँच वक्त्रों को अग्नि ईशान निर्ऋति वायु एवं इन्द्र की दिशाओं में रखना चाहिये । इसी प्रकार (पूर्व से लेकर) उत्तर दिशा तक पाँच अङ्गों का निवेश करना चाहिये । पूर्व दिशा में स्थित नेत्र को कर्णिका में न्यस्त करना चाहिये ॥ १७०-१७१ ॥

इसका भी पहले व्याख्यान किया जा चुका है । प्रसन्न अन्तरात्मा से = भैरवावेशमय होकर । यहाँ पहले श्रीमत्अघोरेश्वरीन्यास करना चाहिये । सामीर ऐन्द्र दिशा से उत्तर तक—,यहाँ इन्द्र (= पूर्व) दिशा से उत्तर तक चार दिशाओं में अस्त्र की कल्पना करे—ऐसी योजना करनी चाहिये । जैसा कि पहले कहा गया—

'अग्नि ईशान रक्षस् (= निर्ऋति) एवं वायव्य इन चार दिशाओं में उनका न्यास करे ।' (२।१०८) इत्यादि ॥ १७१ ॥

सर्वत्र व्यापक विधि को बतलाते हैं—

समस्त देवताओं के लिए उनके अपने मन्त्र से अर्घ्य पाद्य आदि समाहित होकर देना चाहिये ॥ १७२- ॥

मन्त्रसङ्करपुष्पाणि न कुर्यात् साधकः सदा ॥ १७२ ॥
न बाहुं पृष्ठतो वापि मन्त्राणां परिकल्पयेत् ।
परिपाट्या तु दातव्यं न मन्त्रांल्लङ्घयेत् क्वचित् ॥ १७३ ॥

मन्त्राणां सङ्करो यत्र तादृंशि पुष्पाणि न कुर्यात्, नान्यमन्त्रेणान्यमर्चयेदित्यर्थः । तदित्येवं कृते सति साधकः परसिद्धिपात्रं भवतीत्यर्थः ॥ १७३ ॥

एवं च—

स्वमुद्रामन्त्रसंयुक्तान् युगपत् परिकल्पयेत् ।

ध्यानपूजादौ स्वमुद्राभिश्च मन्त्रैश्च संयुक्तान् देवान् परिकल्पयेत् । येषां विशिष्टमुद्रा नोक्तास्तेषाम्—

'कपालं चैव खट्वाङ्गमनुक्तेषु प्रदर्शयेत्' (१४।२०)

इति भाविनं विधिं स्मरेत् ॥

पूजा सुविपुला कार्या इत्युक्तम्, असंभवद्वित्तस्तु किं कुर्यात् ? इदित्याह—

समाहित होने को स्पष्ट करते हैं—

साधक सर्वदा मन्त्र एवं पुष्पों का सङ्कर न करे । (अर्थात् जिस देवता के लिये जो मन्त्र और पुष्प विहित है उसका प्रयोग उसी देवता के लिये करे अन्य देवता के लिये नहीं) मन्त्रों की भुजा या पीठ की ओर कल्पना नहीं करनी चाहिये । (प्रत्युत सामने की ओर करनी चाहिये) गुरुपरम्परा के अनुसार (अर्घ्य आदि) देना चाहिये । कहीं भी मन्त्र का लङ्घन नहीं करना चाहिये ॥ -१७२-१७३ ॥

जिनमें मन्त्रों का सङ्कर (= मिश्रण) हो वैसे पुष्प नहीं चढ़ाने चाहिये अर्थात् अन्य मन्त्र से अन्य देवता की पूजा नहीं करनी चाहिये । ऐसा करने पर साधक दूसरे (देवता) की सिद्धि का पात्र बन जाता है ॥ १७३ ॥

इस प्रकार—

एक साथ अपनी-अपनी मुद्रा एवं अपने-अपने मन्त्र से संयुक्त देवताओं की कल्पना करनी चाहिये ॥ १७४- ॥

ध्यान पूजा आदि में अपनी-अपनी मुद्राओं और मन्त्रों से संयुक्त देवताओं की परिकल्पना करनी चाहिये । जिन देवताओं की विशिष्टमुद्रा नहीं कही गयी उनकी—

'मन्त्र मुद्रा के अनुक्त होने पर कपाल एवं खट्वाङ्ग मुद्रा को प्रदर्शित करे ।' (१४।२०)

इस आगे कही जाने वाली विधि का स्मरण करे ॥

अर्घ्यं पाद्यं च धूपं च नित्यं तावत् समाचरेत् ॥ १७४ ॥
सर्वेषामेव मन्त्राणां विधिरेष प्रकीर्तितः ।

वित्तशाठ्यवर्जं नित्यं पूजयेत्, सर्वथा वित्ताभावे तूक्तशाम्बूकादिनापि वा मनसैवापि पूजयेदित्यर्थः ॥ १७४ ॥

एवमसंभवद्वित्तविषयामर्घ्यपाद्यपुष्पादिसंपाद्यां पूजां प्रसङ्गादुक्त्वा प्रकृतमनुबध्नाति—

भैरवाष्टकलोकेशान् सास्त्रान् सम्परिकल्पयेत् ॥ १७५ ॥

अथ—

बाह्ये श्मशानविन्यासं प्रणवादिनमोन्तगम् ।
पूर्वादीशानपर्यन्तं कल्पयेत विधानतः ॥ १७६ ॥
आमर्दकं च पूर्वं वै श्मशानाधिपतिं विभुम् ।
श्मशानैः सकबन्धैश्च सशूलोद्बन्धभीषणैः ॥ १७७ ॥
चितिभिः प्रज्वलन्तीभिः शिवारावैः सुभीषणैः ।

पूजा अच्छी तरह और विस्तार से करनी चाहिये—

ऐसा कहा गया । किन्तु जिसके पास धन नहीं है वह क्या करे—यह बतलाते हैं—

वह साधक केवल अर्घ्य पाद्य और धूप को प्रतिदिन करे । यह विधि सभी मन्त्रों के विषय में कही गयी ॥ -१७४-१७५- ॥

वित्तशाठ्य (= कृपणता) छोड़कर नित्य पूजा करनी चाहिये । सर्वथा धन न होने पर उक्त शाम्बूक (= समुद्री जीव) आदि (= मछली अथवा यथोपलब्ध पदार्थों) के द्वारा अथवा मानसिक पूजा करनी चाहिये ॥ १७४ ॥

धन के न होने पर अर्घ्य पाद्य पुष्प आदि से सम्पाद्य पूजा का प्रसङ्गवश वर्णन कर अब प्रस्तुत का वर्णन करते हैं—

लोकों के स्वामी आठ भैरवों की अस्त्रसहित कल्पना करे ॥ -१७५ ॥

इसके बाद—

बाहर श्मशान का न्यास करे । यह न्यास पहले प्रणव फिर उस देवता का चतुर्थ्यन्त नाम और अन्त में नमः जोड़कर (जैसे कि ॐ आमर्दकाय नमः) किया जाना चाहिये । पूर्व से लेकर ईशान दिशा पर्यन्त विधिपूर्वक कल्पना करे । सबसे पहले पूर्व दिशा में श्मशान के स्वामी एवं व्यापक आमर्दक नामक भैरव की कल्पना करे । शूलों उद्बन्धों (= पाश) को धारण करने से भयङ्कर लगने वाले कबन्धों, जलती चिताओं, शृगाली की

अग्निकं दक्षिणे भागे कालाख्यं पश्चिमे तथा ॥ १७८ ॥
एकपादं तथा सौम्ये आग्नेय्यां त्रिपुरान्तकम् ।
नैर्ऋत्यामग्निजिह्वं तु वायव्यां तु करालिनम् ॥ १७९ ॥
ऐशान्यां भीमवक्त्रं तु श्मशानेशाः प्रकीर्तिताः ।

एते च श्रीकामरूपोज्जयिनीकाश्मीरकाञ्चीकरवीरदेवीकोट्टोड्डियानहिरण्यपुरवासिनः, इत्याम्नायादेतदाधारपीठादिपूजाऽर्थसिद्धैव । अत्र श्मशानैः सकबन्धैरित्यादि सर्वश्मशानसाधारणम् । इत्थंभूतलक्षणे चैतास्तृतीयाः ॥ १७९ ॥

एतांश्च—

तर्पयेन्मत्स्यमांसाद्यैरासवैर्विविधैस्तथा ॥ १८० ॥
गन्धं पुष्पं तथा धूपं सर्वेषां तु प्रदापयेत् ।

श्मशानानि हृद्यागे नोक्तानि मा भूद् देहशोष इति, एवमुग्रत्वादादौ मत्स्यादिभिस्तर्पणं ततः पूजा, एतानि यतिविषयाण्येव । अत्र च पक्षे लोकपालास्त्रावरणे पृथक्कार्ये, यथा च पञ्चावरणा पूजा भवति ॥ १८० ॥

डरावनी ध्वनियों से युक्त श्मशानों के साथ आठों भैरवों की कल्पना करे । दक्षिण दिशा में अग्निक, पश्चिम में कालाख्य (= काल नाम वाले), सोम्य (= उत्तर) दिशा में एकपाद, आग्नेयी दिशा में त्रिपुरान्तक, नैर्ऋत्य में अग्निजिह्व, वायव्य दिशा में कराली, ईशान कोण में भीमवक्त्र ये आठ श्मशानेश कहे गये हैं ॥ १७६-१८०- ॥

'ये श्मशानेश क्रमशः कामरूप, उज्जयिनी, काश्मीर, काञ्ची, करवीर, देवीकोट्ट, उड्डीयान एवं हिरण्यपुर में रहने वाले हैं । ऐसा आगमवचन होने के कारण इनके आधारपीठ की पूजा अर्थात् सिद्ध है (उसके वर्णन की आवश्यकता नहीं) । उक्त श्लोकों में 'श्मशानैः कबन्धैः....' इत्यादि कहने का तात्पर्य है कि ये सभी श्मशानों में रहते हैं । उक्त पदों में तृतीया विभक्ति 'इत्थंभूतलक्षणे (पा.सू. २।३।२१) से लक्षण बतलाने अर्थ में हुयी है ॥ १७९ ॥

इन भैरवों का मत्स्य, मांस आदि तथा अनेक प्रकार के आसवों से तर्पण करना चाहिये । सभी को गन्ध, पुष्प और दीप प्रदान करना चाहिये ॥ -१८०-१८१- ॥

मानस याग में श्मशान की चर्चा नहीं की गयी क्योंकि वैसा करने पर (श्मशान की गर्मी राख आदि के कारण) देह शुष्क होने लगेगा । इसी प्रकार उग्र पूजा होने के कारण (अथवा भैरवों के उग्र होने के कारण) पहले मत्स्य आदि के द्वारा उनका तर्पण कर बाद में पूजा करने का विधान है । ये विधान सन्यासी के ही लिये हैं । यहाँ पक्षान्तर में लोकपालों के अस्त्र और आवरण अलग करने चाहिये । ताकि उनकी पञ्चावरण पूजा हो सके ॥ १८० ॥

अत्र च—

प्रणिपातं ततः कृत्वा जप्त्वा मन्त्रं सुभावितः ॥ १८१ ॥
रेचकेन प्रयोगेन निवेद्य विधिपूर्वकम् ।
हुडुङ्कारनमस्कारान् कृत्वा चैव ततो व्रजेत् ॥ १८२ ॥
अग्निकुण्डसमीपं तु अर्घहस्तः सुभावितः ।

मन्त्रमिति मूलमङ्गसहितम्, रेचकेन विधिपूर्वकम् इति द्वादशान्तारोहतद्विश्रान्ति-तदवरोहपूर्वं नासाग्रेण जप्तं मन्त्रं 'सपुष्पं भगवञ्जपं गृहाण' इति प्रयोगेणार्पयेत् । भक्तिवैवश्योन्मिषन्नादामर्शमयो ध्वनिर्मुखवाद्यापरपर्यायो हुडुङ्कारः ॥ १८२ ॥

कुण्डसंस्कारानाह—

कुण्डं तु लक्षणोपेतं प्रोक्षयेदस्त्रवारिणा ॥ १८३ ॥
कवचेनावगुण्ठ्यैतदस्त्रदर्भेण चोल्लिखेत् ।
उद्धृत्य प्रोक्षयेत् पश्चादस्त्रमन्त्रेण भामिनि ॥ १८४ ॥
पूरणं तेन कर्तव्यं समीकरणमेव च ।
सेचनं कुट्टनं चैव लेपनं तेन कारयेत् ॥ १८५ ॥
प्रोक्षणं शोषणं चैव तथास्त्रेणैव कारयेत् ।

और यहाँ—

उसके बाद श्रद्धा भावना से युक्त हो साष्टाङ्ग प्रणाम कर मन्त्र का जप करे । (उस जप का) रेचक प्रयोग के द्वारा विधिपूर्वक निवेदन करे । तत्पश्चात् हुडुङ्कार एवं नमस्कार कर हाथ में अर्घ लेकर श्रद्धापूर्वक अग्निकुण्ड के समीप जाये ॥ -१८१-१८३- ॥

मूल मन्त्र का जप अङ्गों के सहित होना चाहिये । रेचक के द्वारा विधिपूर्वक का अर्थ है—ऊर्ध्वद्वादशान्त तक आरोहण कर वहाँ विश्राम करे फिर वहाँ से अवरोह करते हुए जपे हुए मन्त्र को 'हे भगवन् ! जपे हुए मन्त्र को पुष्प के सहित ग्रहण करो' ऐसा कहते हुए नासिका के अग्र भाग से अर्पित करे । भक्ति की विवशता के कारण उठने वाली नादामर्शमय ध्वनि, जिसका दूसरा नाम मुखवाद्य है, हुडुङ्कार कही जाती है ॥ १८२ ॥

अब कुण्ड के संस्कारों को कहते हैं—

शुभ लक्षणों से युक्त कुण्ड का अस्त्रयुक्त जल से प्रोक्षण करना चाहिए। कवच के द्वारा उसका अवगुण्ठन कर अस्त्रदर्भ से उसमें खनन करे । हे भामिनि ! बाद में अशुद्ध मिट्टी को निकाल कर अस्त्र मन्त्र से प्रोक्षण करे । फिर उसी (अस्त्र मन्त्र) से पूरण, समीकरण (= भूमि को समतल बनाना) सेचन, कुट्टन, लेपन करे । प्रोक्षण और शोषण भी अस्त्र

लक्षणोपेतं प्रतिष्ठाशास्त्रादिनिरूपितमानस्वरूपम् । परदृगवलोकनानन्तरं प्रोक्षणं शुद्ध्यर्थमवगुण्ठनं रक्षार्थम् इति सर्वत्रानुमन्तव्यम्, प्रोक्षणविशेषात् संताडनं तेनैव सङ्गृहीतम् । एते च प्रोक्षणादयः शोषणान्तास्त्रयोदश कुण्डनिष्पत्त्यवसरे निष्पन्नेऽपि वा तत्र क्रियाशक्त्यात्मपरमेश्वररूपसंपत्तये भावनया कर्तव्याः । उल्लि-खेत् खनेत् । उद्धरणम् अशुद्धमृदपासनम् संमार्जनं रजोनिवारणम् ॥ १८५ ॥

अनन्तरम्—

पूजनं गन्धपुष्पाद्यैः................

'ॐ क्रियाशक्त्यात्मने कुण्डाय नमः' इति प्रयोगेण ।

अथात्र वागीश्वर्यवतारयोग्यतां कर्तुमस्त्रेणाभिमन्त्रणवज्रीकरणगृहीकरणानि वक्तुमाह—

............असिना चाभिमन्त्रणम् ॥ १८६ ॥
वज्रीकरणमस्त्रेण..................

तदेव व्याचष्टे—

मन्त्र से करना चाहिये ॥ -१८३-१८६- ॥

लक्षण से युक्त = प्रतिष्ठा शास्त्र आदि (= गुरुपरम्परा का निर्देश) के द्वारा निरूपित परिमाण वाला । दूसरे की दृष्टि से देखने के बाद शुद्धि के लिये प्रोक्षण, रक्षा के लिये अवगुण्ठन—ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये । प्रोक्षण के विशेष से सन्ताडन भी उसी (= प्रोक्षण) से ही सङ्गृहीत हो जाता है । प्रोक्षण से लेकर शोषण पर्यन्त तेरह संस्कार कुण्ड बनाने के समय या कुण्ड बन जाने के बाद भी करने चाहिये । कुण्ड क्रियाशक्ति वाले परमेश्वर रूप का हो इसके लिये भावना के द्वारा उन संस्कारों का किया जाना आवश्यक है । उल्लेख करे = खनन करे । उद्धार = अशुद्ध मिट्टी का हटाना । संमार्जन = धूल हटाना (या पानी छिड़क कर धूल को शान्त करना) ॥ १८५ ॥

उसके बाद—

गन्ध पुष्प आदि से पूजा करे ॥ -१८६- ॥

'ॐ क्रियाशक्त्यात्मने कुण्डाय नमः' यह उच्चारण करते हुए (गन्ध पुष्प आदि से) कुण्ड की पूजा करे ।

इस कुण्ड में वागीश्वरी के अवतार की योग्यता को उत्पन्न करने के लिये अस्त्र मन्त्र के द्वारा अभिमन्त्रण, वज्रीकरण और गृहीकरण बतलाने के लिये कहते हैं—

असिमन्त्रों के द्वारा अभिमन्त्रण करे और अस्त्र, मन्त्र के द्वारा कुण्ड का वज्रीकरण करे ॥ -१८६-१८७- ॥

............रेखाः पूर्वापरास्त्रयः ।
याम्यसौम्यमुखी चैका वज्रमेतत् प्रकीर्तितम् ॥ १८७ ॥

त्रय इति लिङ्गव्यत्ययात्, उल्लेखनव्यापारेणैतत्कार्यम् । यद्वा पूर्वापरायतदर्भत्रयमध्ये दक्षिणोत्तरायतं दर्भकाण्डमेकं क्षिप्त्वा वज्रसंस्थानेन कुण्डस्य दाढर्यं जनयेत् ॥ १८७ ॥

किं च—

असिनैवाग्निकुण्डं तद्दर्भैः पूर्वाग्रसंस्तरैः ।
सबाह्याभ्यन्तरं छाद्यं गृहहेत्वर्थमीश्वरि ॥ १८८ ॥

निर्विघ्नं गृहं संपादयितुम् ॥ १८८ ॥

अथ वागीश्या महत्तरकस्यासनं निरूपयति—

कुण्डस्य दक्षिणे भागे शुष्कगोमयमासनम् ।
दर्भेण विष्टरं पुष्पं प्रणवेन प्रकल्पयेत् ॥ १८९ ॥

कुण्डान्तर्दक्षिणे गोमयासनोपरि दार्भं विष्टरं तदुपरि पुष्पं ॐ ब्रह्मासनाय

उसकी व्याख्या करते हैं—

(कुण्ड के अन्दर) पूर्व से लेकर पश्चिम दिशा की ओर तीन रेखायें तथा दक्षिण से उत्तर दिशा की ओर एक रेखा खींचना वज्रीकरण कहा गया है ॥ -१८७ ॥

'त्रयः' यहाँ पुल्लिङ्ग व्यत्यय के कारण हुआ है । वस्तुतः 'तिस्रः' होना चाहिये । यह वज्रीकरण उल्लेखन व्यापार के द्वारा कहना चाहिये । अथवा पूर्व से पश्चिम की ओर फैले हुए तीन कुशाओं के बीच में दक्षिण से उत्तर की ओर फैले हुए एक दर्भकाण्ड को रखकर वज्रसंस्थान के द्वारा कुण्ड की दृढता को बनाये ॥ १८७ ॥

तथा—

हे ईश्वरि ! उस अग्निकुण्ड को पूर्व की ओर शिखा वाली कुशाओं के द्वारा असिमन्त्र के उच्चारण के साथ (निर्विघ्न) गृह बनाने के लिये बाहर और भीतर ढँके ॥ १८८ ॥

निर्विघ्न घर बनाने के लिये ॥ १८८ ॥

अब वागीश्वरी (= सरस्वती) के महत्तरक (= स्वामी = ब्रह्मा) के आसन का निरूपण करते हैं—

कुण्ड के दाहिनी ओर सूखे गोबर का आसन दर्भ के द्वारा विष्टर और पुष्प ॐकार (के उच्चारण) के साथ देना चाहिये ॥ १८९ ॥

नमः इति दद्यात् ॥ १८९ ॥

एतदुपरि महत्तरमाह—

स्वनामपदसंयुक्तं स्वध्यानेन नमोन्तगम् ।
आमन्त्रणपदेनैव ब्रह्माणं स्थाप्य पूजयेत् ॥ १९० ॥
पुष्पादिभिः सुधूपाद्यैर्ध्रुवेण तु यथाक्रमम् ।

अत्र च ॐ ब्रह्मन् संनिहितो भव नमस्ते' इति प्रयोगः ॥ १९० ॥

अत्र गृहमध्यलाभार्थमाह—

चतुष्पथं कुण्डमध्ये दर्भाभ्यां प्रणवेन तु ॥ १९१ ॥
पूर्वसौम्याग्रभागाभ्यां विष्टरं तस्य चोपरि ।
पुष्पं तस्योपरिष्टात्तु हृदयेनैव पूजयेत् ॥ १९२ ॥
वागीशीं च समाहूय प्रणवादिनमोन्तगाम् ।

हृदयेन नैष्कलेन, वागीशस्येयं वागीशी पराशक्तिः, आह्वानामन्त्रणविभक्त्या पश्चाद् नमस्ते इति सर्वत्र प्रयोगः ॥ १९२ ॥

कुण्ड के भीतर दक्षिण की दिशा में गोबर के आसन के ऊपर कुश का विष्टर और उसके ऊपर 'ॐ ब्रह्मासनाय नमः' कहकर पुष्प देना चाहिये ॥ १८९ ॥

इस (आसन) के ऊपर महत्तर को बतलाते हैं—

(साधक) उनके ध्यान के द्वारा ब्रह्मा के नाम के पद से संयुक्त 'नमः' अन्त वाले ब्रह्मा की आमन्त्रण पद के द्वारा स्थापना कर पुष्प धूप आदि के द्वारा ध्रुव मन्त्र (= पर चैतन्यमन्त्र) से यथा क्रम पूजा करे ॥ १९०-१९१- ॥

यहाँ पर 'ॐ ब्रह्मन् ! अत्रसन्निहितो भव नमस्ते' इस वचन के द्वारा स्थापना होगी ॥ १९० ॥

अब गृहमध्य के लाभ के लिये कहते हैं—

कुण्ड के बीच चतुष्पथ बनाना चाहिए । यह चतुष्पथ प्रणव का उच्चारण कर दो कुशों से बनाया जाता है । इनके अग्रभाग पूर्व एवं उत्तर दिशा में रहते हैं । प्रणव का उच्चारण कर उस पर विष्टर रखना चाहिए । उसके ऊपर प्रणवादि नमोऽन्तगा (= ॐ वागीश्यै नमः वागीशीमावाहयामि नमस्ते) वागीशी का आवाहन कर हृदय (= भावना) के ही द्वारा पूजन करना चाहिए ॥ -१९१-१९३- ॥

हृदय नैष्कल अवयवरहित भावना । वागीश से सम्बद्ध का नाम वागीशी है अर्थात् पराशक्ति । आवाहन आमन्त्रण के वाक्य के साथ सर्वत्र 'नमस्ते' प्रयोग किया जायेगा ॥ १९२ ॥

अस्या ध्यानपूर्वां पूजामाह—

नीलोत्पलदलश्यामामृतुमच्चारुलोचनाम् ॥ १९३ ॥
सर्वलक्षणसंपूर्णां सर्वावयवभूषिताम् ।
ध्यात्वा चैवंविधां देवीं स्थापयेत् कुण्डमध्यतः ॥ १९४ ॥
ऋतुकाल इवोत्तानां शिरसैशानसंस्थिताम् ।
पूजयेद् गन्धपुष्पाद्यैर्भवमन्त्रमनुस्मरन् ॥ १९५ ॥

देवीं द्योतमानां वाक्शक्तिम्, कुण्डस्य क्रियाशक्त्यात्मनो मध्ये, स्थापयेद् अवस्थितिं बन्धयेत् । उत्तानाम् ऊर्ध्वधाम्नि प्रसारात्मकतननरूपाम्, अत एव चारु लोचनं प्रकाशो यस्याः । नीलोत्पलश्यामलत्वं तु मायीयरूपापेक्षमस्याः । ऋतुकालः शुद्धविद्यात्मवह्न्यादिजननौन्मुख्यम्, शिरसा परारूपेण, ऐशाने स्वातन्त्र्यभट्टारके, संस्थितां नित्यसंबद्धामीशानदिशि निष्ठशिरसं च । किं कुर्वन्, भवति तेन तेन सकलब्रह्मभङ्ग्यादिरूपेण भवो निष्कलभट्टारकस्तस्य मन्त्रमनुस्मरन् तत्सत्तासमाविष्टः ॥ १९५ ॥

किं च—

ततो मुद्रां दर्शयेत संनिधानाय मन्त्रवित् ।

इस वागीश्वरी का ध्यान और उसके बाद पूजा बतलाते हैं—

नील कमल के दल के समान श्यामा, ऋतुमती (स्त्री के नेत्र) के समान सुन्दर नेत्रों वाली, समस्त सुलक्षणों से युक्त, समस्त अवयवों से भूषित इस प्रकार की देवी का ध्यान कर कुण्ड के बीच उसकी स्थापना करे । ऋतुकाल के समान उत्तान, शिर को ईशान (की गोद) में रखी हुई है—ऐसा ध्यान करे । तत्पश्चात् शिव के मन्त्र का स्मरण करते हुए गन्ध पुष्प आदि के द्वारा उसकी पूजा करे ॥ -१९३-१९५ ॥

देवी = चमकती हुयी वाक्शक्ति । (कुण्ड मध्य =) क्रियाशक्ति रूप कुण्ड के बीच । स्थापित करे = स्थिति बनाये । उत्तान = ऊर्ध्व धाम (= ऊर्ध्व द्वादशाप्तः शिवधाम) से प्रसार रूप विस्तार वाली, इसीलिये सुन्दर लोचन = प्रकाश वाली । इस वागीश्वरी की नीलोत्पलश्यामलता इसके मायीयरूप को दृष्टि में रख कर कही गयी है । ऋतुकाल = शुद्धविद्या रूपी अग्नि को उत्पन्न करने की उन्मुखता । शिर के द्वारा = परारूप से । ईशान में = स्वतन्त्र भट्टारक (की गोद) में । संस्थित = नित्य सम्बद्ध तथा ईशान दिशा में शिर रखने वाली । (अब 'भव' शब्द की व्याख्या करते हैं—) जो भिन्न-भिन्न सकल से लेकर ब्रह्मा आदि रूप से होता है वह भव है अर्थात् निष्कल भट्टारक । उसके मन्त्र का स्मरण करते हुए अर्थात्—उसकी सत्ता से समाविष्ट होकर (पूजा करनी चाहिये) ॥ १९५ ॥

तथा—

मुद्रां योन्याख्याम् ॥

ततोऽग्निपात्रमादाय शिवाम्भोऽस्त्रेण प्रोक्षयेत्॥ १९६ ॥
कवचेनावगुण्ठ्यापि प्रणवेनैव पूजयेत् ।
अरण्यादिसमुद्भूतं लोकाग्न्यन्तं विधानतः ॥ १९७ ॥

अग्निमित्युत्तरस्थं काकाक्षिवदिहापि संबन्ध्यम् ॥ १९७ ॥

अथ—

अग्निं तु शुक्रवद् ध्यात्वा चैतन्यं प्रणवेन तु ।

कल्पयेदस्येति शेषः । नासापथेनाग्निं प्रवेश्य स्वचैतन्यैकीकारं नीत्वा रेचयेदिति गुरवः ॥

ततोऽपि—

षडङ्गेनैव संपूज्यं अमृतत्वं ध्रुवेण तु ॥ १९८ ॥

ध्रुवेण इति परचैतन्यमन्त्रेण श्रीनिष्कलेन षडङ्गेनैव परामृतापादनरूपं पूजन-

---

इसके बाद मन्त्रवेत्ता (वागीशी के) सन्निधान के लिये योनिमुद्रा का प्रदर्शन करे ॥ १९६- ॥

मुद्रा = योनि नामक ॥

इसके बाद अग्निपात्र को लेकर अस्त्रमन्त्र के द्वारा शिवाम्बु (= कलशस्थ जल) का प्रोक्षण करे । कवच के द्वारा उसका अवगुण्ठन कर प्रणव से उसका पूजन करे । यह पूजन अरणी आदि से उत्पन्न लौकिक अग्नि तक विधिपूर्वक होना चाहिये ॥ -१९६-१९७ ॥

अव्यवहित उत्तर वाले श्लोक में पठित 'अग्निम्' का सम्बन्ध यहाँ भी काकाक्षिगोलक न्याय से करना चाहिये ॥ १९७ ॥

इसके बाद—

अग्नि का शुक्र (= वीर्य) के समान ध्यान कर प्रणव के साथ इसको चैतन्य समझना चाहिये ॥ १९८- ॥

समझना चाहिए—नासिका के मार्ग से अग्नि का अपने शरीर के अन्दर प्रवेश करा कर फिर अपने चैतन्य के साथ (उस अग्नि को) एक कर उसके बाद नासिका मार्ग से ही उसका रेचन करना चाहिये—ऐसा हमारे गुरुदेव कहते हैं ॥

इसके बाद—

ध्रुव मन्त्र के द्वारा षडङ्ग न्यास की सहायता से अमृतत्त्व का सम्पादन रूपी पूजन करना चाहिये ॥ -१९८ ॥

मस्य कुर्यादित्यर्थः ॥ १९८ ॥

अथ—

आत्मानं भैरवं ध्यात्वा अग्निं ध्यात्वा तु बीजवत् ।
ध्रुवेण कुण्डबाह्ये तु त्रिधा भ्राम्यावतारयेत् ॥ १९९ ॥
योनौ तु बीजवत् क्षिप्त्वा भैरवेण शिवाम्भसा ।
अस्त्रमुच्चार्य संप्रोक्ष्य योनिं प्रच्छादयेद् बुधः ॥ २०० ॥
दर्भेण ध्रुवमन्त्रेण................

त्रिधा भ्राम्य इति योन्याकारसंपुटगृहीतं पात्रं सव्यापसव्यक्रमेण त्रिधा योनिक्षोभार्थमाभ्राम्य अवतारयेद् योनिं प्रापयेत् । भैरवेण तु श्रीनिष्कलेन । ध्रुवमन्त्रेण इति प्रणवेन तदुच्चमेखलासंस्थैः प्रागग्रैरुदगग्रैर्हुतभुग्वेश्मनो दर्भैरक्षवाटं प्रकल्पयेत् । श्रीमन्त्रराजे इत्थमूर्ध्वमुखैः इति चोपकल्पितमुपेक्ष्यम् । बुद्धः शिवसमावेशैकशाली । आत्मनो हेतुकर्तृत्वं शिवस्य तु मुख्यकर्तृत्वम् इत्यादिव्याख्यानमसत्, शिवीभूतस्यैव शिवयागेऽधिकृतत्वात् कैवात्र पशुभावशङ्का ? पशुत्वे वा

ध्रुव मन्त्र के द्वारा = पर चैतन्य मन्त्र के द्वारा । निष्कल खडङ्ग से इसका पर अमृतत्त्व रूप पूजन करे अर्थात् इस पूजन से अग्नि के अन्दर चैतन्य स्थापन के साथ-साथ अमृतत्त्व का आपादन हो जाता है ॥ १९८ ॥

इसके बाद—

अपने को भैरव रूप में और अग्नि का बीजरूप में ध्यान कर ध्रुवमन्त्र के द्वारा (अग्नि को) तीन बार कुण्ड के बाहर घुमा कर कुण्ड के पास रख दे । तत्पश्चात् (अग्नि को) बीज की भाँति योनि (= कुण्ड) में रखकर अस्त्रमन्त्र का उच्चारण करते हुए भैरव शिवाम्बु से योनि का प्रोक्षण कर ध्रुवमन्त्र का उच्चारण करते हुए विद्वान् दर्भ के द्वारा योनि को आच्छादित कर दे ॥ १९९-२०१- ॥

तीन बार घुमा कर = योनि के आकार के द्वारा सम्पुटित पात्र को योनि के क्षोभ के लिये दायें बायें क्रम से तीन बार चारो ओर घुमा कर । अवतारित करे = योनि के पास ले जाये । भैरव = निष्कल शिव । ध्रुवमन्त्र = प्रणव, के उच्चारण के साथ उस (= कुण्ड) की ऊपरी मेखला पर स्थित कुशाओं, जिनके अग्रभाग पूर्व या उत्तर दिशा की ओर हैं, के द्वारा अग्नि के ग्रह का अक्षवाट (= यवनिका) की कल्पना करे । श्री मन्त्रराज में जो ऊर्ध्वमुख (कुशाओं) से (अक्षवाट बनाना चाहिये—यह कहा गया, उसकी) उपेक्षा करनी चाहिये । बुध = शिवसमावेशशाली । (शिवयाग में) अपना कर्तृत्व साधनरूप है और मुख्य कर्ता शिव हैं—यह सब व्याख्यान अनुचित है क्योंकि शिवयाग में वही अधिकृत होता है जो शिवसमावेश से युक्त होकर शिवस्वरूप हो जाता है । इसलिये यहाँ पशुभाव की शङ्का नहीं

कथं मोचकता ?

'मन्त्राः करणभूतास्तु पशुकार्यस्य साधने ।
आचार्यः करणं प्रोक्तः शिवरूपो यतः स्मृतः ॥' (३।१६०)

इत्यादिना च वक्ष्यमाणेन का सङ्गतिः ? इरित्यास्तामेतत् । अयं तत्र रहस्यार्थोऽद्याप्यनुन्मुद्रितोऽस्मद्गुरुवक्त्रपारम्पर्यायातः प्रकाश्यते—

परावाङ्माहेशी जगदजनयत् स्वाप्रथनतो
विशुद्धान्तर्धामा विकृतिकलनाग्रस्तविभवम् ।
श्रितज्येष्ठास्फारात्तनिततनुरेषा तदुचितं
शिशुं दृष्ट्या रौद्र्या प्रथयति शिवाभेदसरसम् ॥
अतः पूर्णाहन्तामृतरससमास्वादसुहितः
शिवावेशाद्वाचं शिवरसपरौन्सुख्यमुभगाम् ।
स्ववीर्येणाक्रम्य प्रवरगुरुरग्न्यादि निखिलं
शिवैकात्मस्वात्मद्युतिमयमयं सञ्जनयति ॥

इति ॥ २०० ॥

किं च—

.............अक्षवाटं ततो न्यसेत् ।

करनी चाहिये । यदि आचार्य पशु होगा तो शिष्य को मुक्त कैसे करायेगा ।

'पशुकार्य (= दीक्षा) की सिद्धि में मन्त्र करण होते हैं और आचार्य करण (करोति इति करणं, कर्त्तरि ल्युट्) अर्थात् कर्त्ता कहा गया है क्योंकि वह शिवरूप माना गया है ।' (३।१६०)

इत्यादि वक्ष्यमाण श्लोकार्थ से इसकी सङ्गति कैसे बनेगी ? यहाँ यह रहस्य है जो कि आज भी स्पष्ट नहीं हुआ है । हमारी गुरुपरम्परा से प्राप्त इसको यहाँ प्रकाशित किया जाता है—

परमेश्वरी परावाक्, जो कि विशुद्ध अन्तस्तेज वाली है, ने (वामा रूप धारण कर) अपने मूलस्वरूप को विस्तृत न करती हुयी, विकारयुक्त संसार को उत्पन्न किया । वही ज्येष्ठा रूप धारण कर उसका पालन करती है और रौद्री दृष्टि से इसी शिशु को शिव से अभिन्न अत एव सरस बनाती है ।

इसलिये पूर्ण अहन्ता रूपी अमृत के रसास्वाद से युक्त यह प्रवर गुरु शिवसमावेश के कारण शिवरस पर औन्मुख्य के कारण सुभग वाणी को अपने वीर्य से आक्रान्त कर शिव से अभिन्न स्वात्म द्युतिवाली अग्नि आदि को उत्पन्न करते हैं ॥ २०० ॥

तथा—

अस्त्रेणैव चतुर्दिक्षु दर्भैरेव प्रकल्पयेत् ॥ २०१ ॥

देव्या गुप्त्यर्थमक्षवाटं जवनिकास्थानीयं रक्षार्थमूर्ध्वमुखैर्दर्भैर्न्यसेत् ॥ २०१ ॥ अथान्तर्वत्न्या देव्याः—

सप्तवारास्त्रमन्त्रेण दर्भेणैव तु कङ्कणम् ।
दक्षहस्ते तु बध्नीयादस्त्रमन्त्रमनुस्मरन् ॥ २०२ ॥
रक्षार्थमग्निगर्भस्य................

'ॐ कङ्कणं बध्नामि नमः' इत्यूहमन्त्रोऽत्र । एवं सर्वत्र कर्मौचित्येनोहमन्त्राः कर्तव्याः । दक्षहस्ते पुङ्गर्भार्थं कङ्कणबन्धः ॥ २०२ ॥

एवं प्रोक्षणावगुंण्ठनोल्लेखनोद्धरणप्रोक्षणादिशोषणान्तैस्त्रयोदशभिः संस्कारैः कुण्डं संस्कृत्य संपूज्य, अस्त्राभिमन्त्रणवज्रीकरणकुण्डाच्छादनात्मसंस्कारत्रयं गृहहेत्वर्थं कृत्वा, ब्रह्मण आसनावाहनपूजनानि विधाय, गृहमध्यलाभाय चतुष्पथं कृत्वा, वागीस्यावाहनासनपूजनशुक्रध्यानचैतन्यापादन (अमृती) करणविशेषध्यानत्रिराभ्रमणयोनिप्रक्षेपान् नव संस्कारान् प्रकल्प्य, पुनर्वागीश्याः प्रोक्षणयोनिप्रच्छाद-

---

इसके बाद अस्त्रमन्त्र (= अस्त्राय फट्) के द्वारा अक्षवाट का न्यास करना चाहिये । दर्भ के द्वारा चारो दिशाओं में अक्षवाट की कल्पना करनी चाहिए ॥ २०१ ॥

देवी की रक्षा के लिये पर्दे के रूप में ऊर्ध्वमुख कुशाओं को रखे ॥ २०१ ॥ इसके बाद अन्तर्वत्नी (= गर्भवती) देवी के—

दायें हाथ में अस्त्र मन्त्र का स्मरण करते हुए कङ्कण बाँधे । यह कङ्कण अस्त्रमन्त्र से सात बार अभिमन्त्रित कुशा से बना हुआ होता है । इसका उद्देश्य अग्निगर्भ की रक्षा होता है ॥ २०२-२०३- ॥

यहाँ (= कङ्कणबन्धन में) 'ॐ कङ्कणं बध्नामि' (वाग्देव्यै) नमः इस मन्त्र की कल्पना की जाती है । इस प्रकार सर्वत्र कर्म के औचित्य के अनुसार ऊह मन्त्रों का प्रयोग करना चाहिये । दक्षिण हाथ में कङ्कण का बन्धन पुरुषगर्भ (= अग्नि को पुरुष के रूप में गर्भस्थ होने) के लिये किया जाता है ॥ २०२ ॥

इस प्रकार प्रोक्षण अवगुण्ठन उल्लेखन उद्धरण प्रोक्षण से लेकर शोषण पर्यन्त तेरह संस्कारों के द्वारा कुण्ड को संस्कृत कर उसकी पूजा करे । इसके बाद अस्त्र, मन्त्र से अभिमन्त्रण, वज्रीकरण एवं कुण्डाच्छादन रूप तीन संस्कार (अग्नि के) गृहहेतु करना चाहिये । फिर ब्रह्मा का आसन आवाहन पूजन आदि करने के बाद गृहमध्य को प्राप्त करने के लिये चतुष्पथ (= चौराहा) बनाकर वागीशी का आवाहन, आसन, पूजन, शुक्रध्यान, चैतन्यापादन, (अमृती) करण, विशेषध्यान, तीन बार कुशों का घुमाना और योनिप्रक्षेप इन नव संस्कारों का सम्पादन करे ।

नाक्षवाटकल्पनकङ्कणबन्धांश्चतुःसंस्कारान् विधाय, अग्नेर्दीक्षादिकर्मसंपत्तिसमर्थं मान्त्रं देहं संपादयितुं वक्त्राङ्गक्रमाद्गर्भाधानादिसंस्कारानाह—

..........गर्भाधानमतो भवेत् ।
अपरास्यत्रिराहुत्या पूजनं हृदयेन तु ॥ २०३ ॥
हृदा त्रिराहुतिं दत्त्वा गर्भाधानं कृतं भवेत् ।

प्रणवपूर्वं पश्चिमवक्त्रबीजं लकारमुच्चार्य 'गर्भाधानं करोमि स्वाहा' इति त्रिः कृत्वा हृदयेन नैष्कलेन 'गर्भाधानं संपद्यतां स्वाहा' इति त्रिर्जुहुयात् एवमुत्तरत्रानुसंधेयम् । अत्र 'पूजनं हृदयेन तु' इति मध्यग्रन्थः पूर्वं योज्यः, तेनादावङ्गमन्त्रेणाहुतित्रयम्, उत्तरत्र ईदृश एव क्रमस्य भावात् ॥ २०३ ॥

पुंसवनमाह—

हृदा वै जलबिन्दुं तु दर्भाग्रेणात्र पातयेत् ॥ २०४ ॥
गन्धपुष्पादिभिः पूजां शिखया कारयेत्ततः ।
त्रिराहुतिं चोत्तरेण शिखया च त्रिराहुतिम् ॥ २०५ ॥

इसके बाद वागीशी का प्रोक्षण, योनिप्रच्छादन, अक्षवाट की कल्पना और कङ्कण-बन्धन रूपी चार संस्कारों को करने के बाद अग्नि की दीक्षा आदि क्रिया के सम्पादन में समर्थ मन्त्रमय शरीर को सम्पादित करने के लिये वक्त्राङ्ग के क्रम से गर्भाधान आदि संस्कारों को कहते हैं—

इसके बाद गर्भाधान संस्कार होना चाहिये । अपर आस्य (= पश्चिम वक्त्र) के द्वारा तीन आहुति दे । हृदय मन्त्र के द्वारा पूजन और हृदय मन्त्र से तीन आहुति देकर गर्भाधान सम्पन्न होता है ॥ -२०३-२०४- ॥

पहले प्रणव (= ॐ) फिर पश्चिम वक्त्र बीज लकार का उच्चारण करे फिर 'गर्भाधानं करोमि स्वाहा' कहना चाहिये । (इस प्रकार पूरा मन्त्र होगा—ॐ लङ्गर्भाधानं करोमि स्वाहा) । ऐसा तीन बार उच्चारण कर फिर निष्कल हृदय (= ॐ यं) के साथ 'गर्भाधानं सम्पद्यतां स्वाहा' का तीन बार उच्चारण कर तीन बार आहुति देनी चाहिये । इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये । 'पूजनं हृदयेन तु' यह मध्य अंश पठित श्लोक के पहले जोड़ना चाहिये । इस प्रकार पहले मन्त्र के द्वारा 'अग्निगर्भाय नमः' ऐसा उच्चारण कर पूजन करना चाहिये । इसके बाद वक्त्र मन्त्र से तीन आहुति देनी चाहिये । इसके बाद उसी अङ्ग मन्त्र से तीन आहुति देनी चाहिये क्योंकि आगे ऐसा ही क्रम है ॥ २०३ ॥

(गर्भाधान के बाद अब अग्नि का) पुंसवन संस्कार कहते हैं—

हृदय मन्त्र का उच्चारण करते हुए कुशा के अग्रभाग से जल की बूँद यहाँ (= अग्नि में) गिरानी चाहिये । इसके बाद शिखामन्त्र (= वषट्) से गन्ध पुष्प आदि के द्वारा पूजा करे । फिर उत्तर शिखा के द्वारा तीन

पुंसः कल्पनमेव हि न स्त्रीगर्भे तु जन्यते ।

जलबिन्दुं पुर्यष्टकरूपं जीवमभिसंधातुं 'पुमान् भव नमः' इत्यन्तेन प्रयोगेण अत्रेत्याहिते गर्भे क्षिपेत् । शिखया नैष्कल्या, उत्तरेणेति वकारेण । पुंस्त्वमुपचयः कार्ये शक्तत्वम्, अपचयः स्त्रीत्वम् ॥ २०५ ॥

अथ—

सीमन्तं दक्षिणास्येन दर्भाग्रेण प्रकल्पयेत् ॥ २०६ ॥
ग्रीवामंसौ कटिं चैव बाहू जङ्घे प्रकल्पयेत् ।
प्रत्यङ्गानि च सङ्कल्प्य सीमन्तोन्नयनं भवेत् ॥ २०७ ॥

पुर्यष्टकोपरि स्थूलदेहप्रविभागमात्रमिह सीमन्तः । दक्षिणास्यम् अघोरवक्त्रमन्त्रः, प्रत्यङ्गानि करोदरचरणाङ्गुल्यादीनि ॥ २०७ ॥

अत्र च—

गन्धपुष्पादिभिः पूजा शिरसा चाहुतित्रयात् ।
पूर्वमध्यापरान् वह्नौ त्रीन् भागान् परिकल्पयेत् ॥ २०८ ॥
मुखहृत्पाददेशांस्तु होमात्तच्च त्रितत्त्वकम् ।

आहुति दे । इस प्रकार पुरुष की कल्पना होती है और गर्भ में स्त्री का जन्म नहीं होता ॥ -२०४-२०६- ॥

पुर्यष्टक रूप जीव का अभिसन्धान करने के लिये 'पुमान् भव नमः' प्रयोग के द्वारा जल बिन्दु को यहाँ = आहित गर्भ में, छोड़े । शिखा निष्कल होती है । उत्तर के द्वारा = वकार के द्वारा । पुंस्त्व का अर्थ है उपचय अर्थात् कार्य में सामर्थ्य । अपचय अर्थात् स्त्रीत्व ॥ २०५ ॥

इसके बाद—

दक्षिण वक्त्र मन्त्र के द्वारा दर्भ के अग्रभाग से सीमन्तोन्नयन संस्कार की कल्पना करनी चाहिये । ग्रीवा, दोनों कन्धों, कटि, दोनों भुजाओं, दोनों जङ्घाओं और अन्य अङ्गों की कल्पना करने के अनन्तर सीमन्तोन्नयन संस्कार सम्पन्न हो जाता है ॥ -२०६-२०७ ॥

पुर्यष्टकरूपी सूक्ष्मशरीर के ऊपर स्थूल देह की कल्पना सीमन्तोन्नयन कहलाता है । दक्षिणास्य = अघोर वक्त्र मन्त्र । प्रत्यङ्ग = हाथ, उदर, चरण, अङ्गुली आदि ॥ २०७ ॥

यहाँ—

शिरोमन्त्र से गन्ध पुष्प आदि के द्वारा अग्नि के स्थूल देह की पूजा करनी चाहिये । फिर शिरोमन्त्र से तीन आहुति वाले होम के द्वारा अग्नि में

पूजेति कार्या, शिरसेति काकाक्षिवत् । आहुतित्रयाद्धोमादित्येकवाक्यता । तच्चैतद्भागत्रयं शिवविद्यानराख्यतत्त्वत्रयरूपम् । मुखेन मूर्धा, पादाभ्यां गुह्यमाक्षिप्तमित्येषैवात्र दण्डभङ्गिः ॥ २०८ ॥

प्रत्यङ्गानीति यदुक्तं तद्विभक्तुं कवाटवक्त्रादि न्य सितुं कवाटन्यासं तावदाह—

शिरांसि पञ्चाहुत्यैव ऊर्ध्वास्येन त्रिभिस्त्रिभिः ॥ २०९ ॥

कल्पयेदिति शेषः । शिरांसि कवाटानि, ऊर्ध्वास्येन क्षकारेण । अत्र च सुतारिण्याद्याः प्राग्वत् कला अनुसंधेयाः ॥ २०९ ॥

अथैतदनूद्य वक्त्रकलाभिर्वक्त्रकल्पनामाह—

पञ्चवक्त्रं तु सङ्कल्प्य मध्यप्राग्याम्यसौम्यकम् ।
अपरं चाप्याहुतिभिः पूर्वास्येन त्रिसंख्यया ॥ २१० ॥
वक्त्राणां निष्कृतिं तद्वदाहुतीनां त्रिसंख्यया ।

'पञ्चमं यद् भवेद्वक्त्रं क्षकारेणैव' (१।४९)

पूर्व मध्य और अपर इन तीन भागों की और मुख हृदय तथा पैर अङ्गों की कल्पना करे । यह भाग तीन तत्त्वों वाला होता है ॥ २०८ ॥

श्लोकोक्त 'पूजा' शब्द के बाद 'करनी चाहिये' इतना अंश अपनी ओर से जोड़ना है । 'शिरसा' पद को काकाक्षिगोलकन्याय से ('गन्धपुष्पादिभिः' तथा 'आहुतित्रयात्' दोनों पदों के साथ जोड़ना चाहिये) । 'आहुतित्रयात्' को 'होमात्' के साथ जोड़ना चाहिये । यह तीन भाग शिव विद्या और नर ये तीन तत्त्व हैं । मुख से मूर्धा और पाद से गुह्याङ्ग का आक्षेप किया गया—यही यहाँ दण्डभङ्गि (= दण्डान्वय) है ॥ २०८ ॥

श्लोक सं० २०७ में जो 'प्रत्यङ्गानि' कहा गया । उसको अलग अलग करने लिये कवाट वक्त्र आदि न्यासों में से कवाट न्यास को बतलाते हैं—

ऊर्ध्ववक्त्र के द्वारा तीन-तीन आहुति देकर पाँच शिरों की कल्पना करनी चाहिये ॥ -२०९ ॥

शिर = कवाट । ऊर्ध्वास्य (= ऊर्ध्ववक्त्र) = क्षकार । यहाँ पहले की भाँति सुतारिणी आदि कलाओं का अनुसन्धान करना चाहिये ॥ २०९ ॥

अब इसका (= पाँच शिरों का) अनुवाद कर वक्त्रकलाओं के द्वारा वक्त्रकल्पना को बतलाते हैं—

मध्य, पूर्व, दक्षिण, उत्तर एवं पश्चिम इन पाँच वक्त्रों की कल्पना कर पूर्वदिग्वर्त्ती मुख से प्रारब्ध तीन-तीन आहुतियों को दे कर सभी मुखों की निष्कृति (= निर्माण) की कल्पना करे ॥ २१०-२११- ॥

इति पूर्वमुक्तत्वाद् आदौ मध्यममूर्ध्ववक्त्रं क्षकारेण शान्त्यतीतानुसंधानेन प्रकल्प्य, पश्चात् पूर्वास्येन यकारेण वक्त्रचतुष्टयं शान्त्यादिकलानुसंधिना प्रत्येकं तिसृभिराहुतिभिः कल्प्यम्, मध्येत्यादावुक्तत्वाद् आदौ मध्यमवक्त्रन्यासः । एतच्च सर्वत्रानुसंधेयम् ॥ २१० ॥

किं च—

नेत्रं नेत्रेण सङ्कल्प्य मुखेष्वेवं त्रयं त्रयम् ॥ २११ ॥
आहुतित्रितयेनैव....................

नेत्रेण सकलनेत्रमन्त्रेण ॥ २११ ॥

एतच्च—

.........तिलैः सर्वं तु कारयेत् ।

सर्वमित्यग्निसंस्कारजातम्, आज्यं तु निष्पन्नस्य शिवाग्नेस्तर्पणाय, निष्पत्तिश्चास्य भैरवरूपस्यैवेति ॥

ततः कलासमूहं च पञ्च चाथ चतुष्टयम् ॥ २१२ ॥

'पाँचवाँ मुख क्षकार के द्वारा ।' (१।४९)

ऐसा पहले उक्त होने के कारण पहले मध्यम अर्थात् ऊर्ध्ववक्त्र की 'क्ष'कार के द्वारा परमेश्वर की शान्त्यतीता कला के अनुसन्धान से कल्पना करे । तत्पश्चात् पूर्ववक्त्र 'य'कार के द्वारा शान्ता आदि (= निवृत्ति प्रतिष्ठा और विद्या) के अनुसन्धान से चारो मुखों की कल्पना तीन-तीन आहुतियों के द्वारा करनी चाहिये । उपर्युक्त श्लोक मे 'मध्यप्राक्.......' में वचन के अनुसार पहले मध्यम (= ऊर्ध्व) वक्त्र का न्यास करना चाहिये । इसका सर्वत्र ध्यान रखना चाहिये ॥ २१० ॥

तथा—

नेत्र अर्थात् सकलनेत्र मन्त्र के द्वारा नेत्र की कल्पना कर मुखों की कल्पना के विषय में तीन-तीन आहुतियों के द्वारा तीन-तीन (नेत्रों) की कल्पना करनी चाहिये ॥ -२११-२१२- ॥

नेत्र अर्थात् सकलनेत्र मन्त्र के द्वारा ॥ २११ ॥

यह—

सब (= आहुति अङ्गकल्पना आदि संस्कार) तिल के द्वारा करना चाहिये ॥ २१२- ॥

सब अर्थात् अग्नि के समस्त संस्कार । घृत का प्रयोग निष्पन्न शिवाग्नि के तर्पण के लिये होता है । निष्पन्न का अर्थ है—इस अग्नि की भैरवरूपता का होना ॥

सीमन्तोन्नयनमध्य एव तद्वक्त्रकलादिन्यासस्तन्त्रान्तरवैलक्षण्येनेहोक्तः ॥२१२॥

एवमीशानपुरुषकलाभिः प्रत्यङ्गन्यासमुक्त्वा अघोरकलाभिराह—

अष्टाङ्गानि तथा त्रीणि दश चाष्टावनुक्रमात् ।
शेषास्यैः संप्रकल्प्यैवं कलामूर्तिस्ततो भवेत् ॥ २१३ ॥

अङ्गानि 'हृदि ग्रीवा' (स्व० तं० १।५०) इत्यादिप्रागुक्तानि । एवमिति प्रत्यङ्गम्, तत्तत्कलानुसंधिनाहुतित्रयेण । कला मूर्तिर्यस्येति बहुव्रीहिः ॥ २१३ ॥

अथात्रैव—

अङ्गानि विन्यसेत् पश्चाद् हृदाद्यानि यथाक्रमम् ।

नेत्रस्योक्तत्वात् तद्वर्जितानि सकलाङ्गानि तन्मन्त्रैर्न्यसेत् । एवं 'प्रत्यङ्गानि सङ्कल्प्य' इति यदुक्तम्, तदेव पूर्वमध्येत्यादिना श्लोकषट्केन विभक्तम् ॥

एवमेतत्सर्वं कृत्वा—

इसके बाद पाँच और चार कलाओं के समूह की कल्पना करे ॥ -२१२॥

सीमन्तोन्नयन के मध्य में ही उस (= भैरव) के वक्त्र एवं कला आदि के न्यास का कथन दूसरे तन्त्रों से इसकी विलक्षणता के कारण कहा गया ॥ २१२ ॥

इस प्रकार ईशान और तत्पुरुष की (पाँच) कलाओं के द्वारा प्रत्यङ्गन्यास का वर्णन कर अघोर कलाओं के द्वारा उसको बतलाते हैं—

आठ, तीन दश अर्थात् तेरह और आठ अङ्गों की शेष मुखों के द्वारा कल्पना करने पर कलामूर्त्ति बन जाती है (ये कलायें क्रमशः अघोर वामदेव तथा सद्योजात की जाननी चाहिये) ॥ २१३ ॥

अङ्ग = 'हृदि ग्रीवा' (स्व०तं० १५० श्लोक में) पहले कहे गये अङ्ग । एवम् = प्रत्येक अङ्ग, तत्तत् कला का अनुसन्धान करने वाली तीन-तीन आहुतियों के द्वारा अङ्गकल्पना करे । कलामूर्त्ति = कलायें ही मूर्त्ति हैं । जिसकी वह अर्थात् भैरव ॥ २१३ ॥

यहीं पर—

बाद में क्रमानुसार हृदय आदि अङ्गों का न्यास करे ॥ २१४- ॥

चूँकि नेत्र का कथन पहले कर दिया गया है इसलिये उसको छोड़कर समस्त अङ्गों का उनके मन्त्रों के द्वारा न्यास करे । इस प्रकार 'प्रत्येक अङ्गों की कल्पना कर' यह कथन जो (श्लोक सं० २०७ में) किया गया वही 'पूर्व मध्य' इत्यादि छः श्लोकों के द्वारा अलग-अलग बतलाया गया ॥

यह सब करने के बाद—

त्रिराहुतिं दक्षिणेन................

दक्षिणवक्त्रमन्त्रेण 'सीमन्तोन्नयनं करोमि' इत्यन्तेन दद्यात् ॥

अथ—

............शिरसा चाहुतित्रयम् ॥ २१४ ॥

चकारोऽनेनैवादौ पूजां कुर्यात्, इति प्रस्तावपूरणं ध्वनति । यत्तु—

'गन्धपुष्पादिभिः पूजा शिरसा चाहुतित्रयात्' (२।२०८)

इति पूर्वोक्तम्, तद्भागत्रयकल्पनया त्रितत्त्वकल्पनार्थम् ॥ २१४ ॥

उपसंहरति—

सीमान्तोन्नयनं ह्येवं..............

एवं विभक्तावयवस्याग्नेः

..........जातकर्म त्वथोच्यते।
अस्त्रेण वीजयेदग्निमस्त्रेणैव तु पूजयेत् ॥ २१५ ॥
त्रिराहुतिं तु पूर्वेण अस्त्रेणैवाहुतित्रयम् ।

दक्षिणवक्त्र के मन्त्र (= अघोरवक्त्र के मन्त्र) से तीन आहुतियाँ देनी चाहिये ॥ -२१४- ॥

दक्षिणवक्त्र मन्त्र के अन्त में 'सीमन्तोन्नयनं करोमि' यह जोड़कर आहुति देनी चाहिये ॥

इसके—

बाद शिरोमन्त्र से तीन आहुतियाँ दे ॥ -२१४ ॥

'शिरसा च' यहाँ चकार से यह बतलाते हैं कि इसी मन्त्र से पहले पूजा करे (फिर आहुति दे) । और जो—

'शिरोमन्त्र से गन्ध पुष्प आदि के द्वारा पूजा तथा तीन आहुतियाँ दे' (श्लो० संख्या २।२०८ में) पहले कहा गया वह तीन भागों की कल्पना के द्वारा तीन तत्त्वों (= शिव विद्या एवं नर) की कल्पना के लिये कहा गया ॥ २१४ ॥

इस सीमन्तोन्नयन संस्कार के वर्णन का उपसंहार करते हैं—

सीमन्तोन्नयन करे ॥ २१५- ॥

इस प्रकार अलग-अलग अवयव वाली अग्नि का

अब जातकर्म संस्कार कहा जाता है । अस्त्र मन्त्र के द्वारा अग्नि का वीजन (= प्रसवाभिमुखीकरण) करे । उसी अस्त्र मन्त्र से उसका पूजन

एवं मन्त्रद्वयेनैव जातकर्म कृतं भवेत् ॥ २१६ ॥

वीजनं प्रसवाभिमुखीकरणम्, पूर्वेण 'य'कारेण ॥ २१६ ॥

एवं गर्भाधानसीमन्तोन्नयनजातकर्माणि कृत्वा—

अस्त्रेण प्रोक्षयेत् कुण्ड सद्यः सूतकशुद्धये ।

आपादितशिवभावोऽपि दीक्षादिसंपत्त्यर्थं यतोऽग्निः शरीरं ग्राहितस्ततश्चिदात्मनो देहग्रहः सूतकरूपः सर्वाशुद्धिप्रथमाङ्कुरः शोध्य एव ॥

जातस्याग्नेः—

वक्त्राण्युद्घाटयेत् पश्चाद्वक्त्रेणैवाहुतित्रयात् ।

उद्घाटनं विकासः ।

यथा—

वक्त्राणि शोध्यान्यसिना आहुतित्रययोगतः ॥ २१७ ॥

करे । तत्पश्चात् तीन आहुतियाँ पूर्व = यकार से और तीन अस्त्रमन्त्र से दे । इस प्रकार दो मन्त्रों (= अस्त्र मन्त्र और शिरोमन्त्र) से जातकर्म नामक संस्कार सम्पन्न होता है ॥ -२१५-२१६ ॥

वीजन = प्रसव के लिए अभिमुख करना । पूर्वेण = यकार से ॥ २१६ ॥

गर्भाधान सीमन्तोन्नयन और जातकर्म करने के बाद—

सूतक की शुद्धि के लिये तत्काल अस्त्र मन्त्र से कुण्ड का प्रोक्षण करे ॥ २१७- ॥

यद्यपि अग्नि शिवभाव को प्राप्त हो चुका है तथापि चूँकि दीक्षा आदि को सम्पन्न करने के लिये अग्नि को शरीर धारण कराया गया है इसलिये चिदात्मा के देहग्रह, जो कि सूतकरूप तथा समस्त अशुद्धियों का प्रथम अङ्कुर है, का शोधन करना ही चाहिये ॥

बाद में उत्पन्न हुए अग्नि का—

वक्त्र मन्त्र से ही तीन आहुतियों के द्वारा, मुख उद्घाटित = विकसित करे ॥ -२१७- ॥

उद्घाटन = विकास ।

जैसे कि—

तीन आहुतियों के द्वारा अस्त्र मन्त्र से वक्त्रों का शोधन करणीय होता है ॥ -२१७ ॥

प्रतिवक्त्रं स्वमन्त्रेण परामृश्य 'शोधयामि' इत्यूहान्तेऽस्त्रमुच्चार्य त्रिर्जुहुयात् ॥ २१७ ॥

तथा—

वक्त्राभिधारौ वक्त्रैस्तु वक्त्रे वक्त्रे त्रयं त्रयम् ।

वक्त्रेष्वभिधारो दीप्तिः । त्रयं त्रयमिति आहुतीनां दद्यादिति शेषः ॥

वह्नेः संरक्षणार्थं दिक्षु देवतान्यासं प्रस्तोतुमाह—

प्रोक्षयेत् कुण्डपार्श्वानि सास्त्रेणैव शिवाम्भसा ॥ २१८ ॥
दर्भानास्तीर्य पूर्वाग्रान् दक्षिणोत्तरसंस्थितान् ।
सौम्याग्रान् पूर्ववारुण्योः परिधीन् विष्टरांस्तथा ॥ २१९ ॥

हस्तमात्राः शाखाः परिधयः । समध्यग्रन्थि दार्भमासनं विष्टरः ।

एवं क्रमात्क्रममन्तर्दर्भपरिधिविष्टराः—

अर्थात् वक्त्रों के अपने-अपने मन्त्रों से उनका परामर्श करके मन्त्र के अन्त में 'शोधयामि' ऐसा ऊह कर बाद में अस्त्र मन्त्र का उच्चारण कर तीन आहुतियाँ दें ॥ २१७ ॥

उसी प्रकार—

वक्त्रमन्त्रों से एक-एक वक्त्र में तीन-तीन आहुतियाँ देकर वक्त्राभिघार करना चाहिये ॥ २१८- ॥

वक्त्राभिघार का अर्थ है—मुखों में दीप्ति तीन-तीन आहुतियाँ देनी चाहिये (इससे अग्नि मुख दीप्त होता है) ॥

वह्नि की रक्षा के लिये सभी दिशाओं में देवताओं का न्यास (= स्थापना) बतलाने का उपक्रम करते हैं—

शिवाम्भस् (= कलशस्थ जल अथवा सुरा) के द्वारा अस्त्रमन्त्र का उच्चारण करते हुए कुण्ड, के पार्श्वों का प्रोक्षण करना चाहिये । इसके बाद (कुण्ड के चारो ओर) दक्षिण से उत्तर की ओर पूर्वाग्र कुशों को फैलाना चाहिये । जो कुशायें पूर्व से पश्चिम की ओर बिछायी जाँयेंगी उनका अग्र भाग उत्तर की ओर रहेगा । इसके बाद कुण्ड के पूर्व और पश्चिम भाग परिधियों और विष्टरों को बिछाना चाहिये ॥ -२१८-२१९ ॥

परिधियाँ = एक हाथ की शाखायें और विष्टर उस कुशासन को कहते हैं जिसके मध्य में गाँठ दी गयी हो ।

इस प्रकार क्रम से समस्त दर्भो परिधियों और विष्टरों का न्यास अस्त्रमन्त्र से

अस्त्रमन्त्रेण ते सर्वे..............

न्यसनीयाः ।

तत्र—

................ब्रह्माणं पूर्वविष्टरे ।
रुद्रं च दक्षिणे स्थाप्य विष्णुं पश्चिमविष्टरे ॥ २२० ॥
सदाशिवं चोत्तरेऽथ स्वनामपदचिह्नितम् ।
आदौ ध्रुवं स्मरेद् देवि नमश्चान्ते प्रकल्पयेत् ॥ २२१ ॥
गन्धपुष्पादिभिः पूज्याः स्वरूपं तेष्वनुस्मरेत् ।

स्पष्टम् ।

ततोऽप्यन्तः—

मेखलोपरि लोकेशान् पूजयेत् प्रणवेन तु ॥ २२२ ॥

एवं च—

रक्षार्थं जातबालस्य ब्रह्माद्याः पूजितास्तु ये ।
ततः कङ्कणकं मुक्त्वा दक्षहस्तव्यवस्थितम् ॥ २२३ ॥
पुष्पं सङ्गृह्य देवेन शिवाग्नेर्नाम कल्पयेत् ।

करना चाहिये । इस न्यास में—

इस न्यास में—पूर्व विष्टर पर ब्रह्मा, दक्षिण विष्टर पर रुद्र, पश्चिम पर विष्णु, उत्तर पर सदाशिव की स्थापना उनके अपने नाम पद से चिह्नित करके करनी चाहिये । हे देवि ! पहले ध्रुव मन्त्र (= ॐ) की बाद में 'नमः' की कल्पना करनी चाहिये । तत्पश्चात् साधक उन सबकी गन्ध पुष्प आदि से पूजा करनी चाहिए और उन देवताओं में अपने रूप का स्मरण करना चाहिए ॥ २२०-२२२- ॥

उसके भीतर—

मेखला के ऊपर प्रणव के द्वारा लोकेश्वरों की पूजा करनी चाहिये ॥ -२२२ ॥

इस प्रकार—

इस उत्पन्न बालक (= शिवाग्नि) की रक्षा के लिये जो ब्रह्मा आदि पूजित हुए (उनकी पूजा के बाद) दायें हाथ में स्थित कङ्गन को हटा देना चाहिये । फिर पुष्प लेकर देव के द्वारा शिवाग्नि के नाम की कल्पना करनी चाहिये ॥ २२३-२२४- ॥

गर्भस्य जातत्वाद्रक्षान्तरस्य च विहितत्वाद् गर्भरक्षाया अधिकारो निवृत्त इति कङ्कणमोक्षः । देवेन मूलमन्त्रेण सप्रणवेन 'शिवाग्निर्भव नमः' इति नामकल्पनम् ॥ २२३ ॥

अथ—

कवचेनोपचारं तु गन्धपुष्पादिधूपकैः ॥ २२४ ॥

कवचेन नैष्कलेन 'शिवाग्नये नमः' इत्यन्तेन उपचारं पूजां कुर्यात् ॥२२४॥

अत्र—

ऊर्ध्वास्येनाहुतीस्तिस्रः कवचेन त्रयं पुनः ।

प्राग्वदूहमन्त्रेण दद्यात् । एवं सूतकशुद्धिवक्त्रोद्घाटनवक्त्रशुद्धिवक्त्राभिघारविष्टरादिन्यासदेवतास्थापनतदर्चनकङ्कणमोक्षणान्यष्टौ अवान्तरसंस्कारान् कृत्वा नामकरणाख्यः पश्चिमः संस्कारः कृतः ॥

अथ—

शिवनामाङ्कितं वह्निं जनयित्वा सुरांस्ततः ॥ २२५ ॥

गर्भ के उत्पन्न होने एवं अन्य रक्षा व्यवस्था के विहित होने से (ब्रह्मा आदि का) गर्भरक्षा का अधिकार समाप्त हो जाता है इसलिये कङ्गन को हटा देते हैं। देव के द्वारा = प्रणव सहित मूलमन्त्र के द्वारा । 'शिवाग्निर्भव नमः' इस प्रकार अग्नि के नाम की कल्पना की जाती है ॥ २२३ ॥

इसके बाद—

गन्ध, पुष्प एवं धूप आदि के द्वारा कवच से (अग्नि की) पूजा करनी चाहिए ॥ -२२४ ॥

निष्कल कवच से 'ॐ शिवाग्नये नमः' इससे उपचार = पूजा करे ॥२२४-॥

इसके बाद—

ऊर्ध्व वक्त्र मन्त्र से तीन आहुतियाँ फिर कवच से तीन आहुतियाँ देनी चाहिए ॥ २२५- ॥

आहुतियों को देने के समय पूर्ववर्णित ऊहमन्त्र का उच्चारण करना चाहिये । इस प्रकार सूतकशुद्धि, वक्त्रोद्घाटन, वक्त्रशुद्धि, वक्त्राभिघार, विष्टरादि की स्थापना, देवतास्थापन, उनकी पूजा, कङ्गन हटाना, इन आठ अवान्तर संस्कारों को करने के बाद पश्चाद्वर्त्ती नामकरण नामक संस्कार किया गया ॥

इसके बाद—

शिवनामाङ्कित अग्नि को उत्पन्न कर तत्पश्चात् प्रणव का उच्चारण

विसर्जयेत्तु स्वस्थानं सावित्रीं प्रणवेन तु ।
पुष्पादिभिः समभ्यर्च्य होमैरेव त्रिभिस्त्रिभिः ॥ २२६ ॥

तुश्चार्थे भिन्नक्रमः । तेन सुरान् ब्रह्मादीन् सरस्वतीं च प्रणवादिस्वनामभिरभ्यर्च्य प्रत्येकमाहुतित्रयेण संतर्प्य 'क्षम्यताम्' इत्युक्त्वा विसर्जयेत् ॥ २२६ ॥

अथ—

धाम्नैवेध्मास्तु होतव्या हस्तमात्रप्रमाणतः ।
[1]चतुर्विंशतिसंख्याताः शिवाग्नेस्तर्पणाय तु ॥ २२७ ॥

धाम्ना निष्कलेन । इध्मा अस्फुटिता ऋज्व्यः सत्वचः शखाः ॥ २२७ ॥

एवं तिलैः संस्कारानुक्त्वा आज्यकार्यान् संस्कारान् प्रस्तोतुमाज्यप्रक्षेपकरणस्रुक्स्रुवसंस्कारार्थमाह—

स्रुक्स्रुवौ संप्रताप्याग्नौ शिवाम्भोऽस्त्रेण प्रोक्षयेत् ।
कवचेनावगुण्ठ्यैतौ शिवाग्नौ भ्रामयेत् त्रिधा ॥ २२८ ॥

करते हुए पुष्प आदि तथा तीन-तीन होमों के द्वारा उन देवताओं की पूजा कर उनका विसर्जन करे ॥ -२२५-२२६ ॥

उक्त श्लोक में 'तु' का प्रयोग 'च' अर्थ में हुआ है और उसे 'सरस्वतीम्' के बाद जोड़ना चाहिये । इस प्रकार देवताओं ब्रह्मा आदि और सरस्वती की प्रणव के साथ उनके नाम का उच्चारण करते हुए 'नमः' अन्त में जोड़कर प्रत्येक देवता आदि की तीन-तीन आहुतियों के द्वारा तृप्ति कर 'क्षम्यताम्' ऐसा कह कर उनका विसर्जन करना चाहिये ॥ २२६ ॥

तत्पश्चात्—

शिवाग्नि के तर्पण के लिये एक-एक हाथ लम्बी चौबीस लकड़ियों की आहुति निष्कलमन्त्र से देनी चाहिये ॥ २२७ ॥

धाम के द्वारा = निष्कल (= मन्त्र अर्थात् ॐ) के द्वारा । इध्म ईंधन = विना फटी सीधी छिलकेसहित लकड़ियाँ ॥ २२७ ॥

इस प्रकार तिलों के द्वारा संस्कार का कथन कर घी के द्वारा किये जाने वाले संस्कारों को प्रस्तुत करने के लिये अग्नि में आज्य के प्रक्षेप के साधनभूत स्रुक् और स्रुवा के संस्कारों को कहते हैं—

स्रुक् और स्रुवा को अग्नि में सन्तापित कर शिवाम्भस के द्वारा अस्त्रमन्त्र से उनका प्रोक्षण करे । फिर इन दोनों को कवच से अवगुण्ठित

---

१. ये चौबीस लकड़ियाँ सम्भवतः गायत्री मन्त्र के चौबीस अक्षरों की प्रतीक है । इसीलिये केवल निष्कल मन्त्र से उनके हवन की बात कही गयी है ।

अस्त्रेण मार्जयेदद्भिर्दर्भाग्रेणाथ संस्पृशेत् ।
पुनरग्नौ परिभ्राम्य प्रोक्षयेत्तौ शिवाम्भसा ॥ २२९ ॥
दर्भमध्येन संस्पृश्य भूयोऽग्नौ भ्राम्य तापयेत् ।
शिवाम्भसा मार्जयित्वा दर्भमूलेन संस्पृशेत् ॥ २३० ॥
स्रुक्स्रुवाभ्यां ततो मूलं स्थापयेत्तावधोमुखौ ।
दर्भाणां पृष्ठतः पूज्यौ दक्षिणेऽग्नेः सदा बुधैः ॥ २३१ ॥

मार्जनं प्रोक्षणमेव, तापनं काष्ठादिभावनिवारणाय । यथोक्तम्—

'.........................तापयेत्तेजसि त्रिधा ।
सञ्जातौ तेन संतप्तौ काष्ठभावपराङ्मुखौ ॥' इति ॥

सृष्टिक्रमेणात्र दर्भस्याग्रमध्यमूलैस्तदग्रमध्यमूलस्पर्शेन त्रिर्भ्रमणेन च इच्छादि-शक्तित्रयमयत्वमनयोर्जायते । स्रुक्स्रुवाभ्यामिति स्रुक्स्रुवयोरित्यर्थः । संस्कारद्वादश-कानन्तरं पूज्यावधोमुखाविति सृष्ट्युन्मुखत्वाभिप्रायेण । अग्नेर्दक्षिणे होतुर्वामे, इति दीप्त्याप्यायनाभ्यामनयोर्युगपत् संबन्धेनाग्नीषोममयत्वापत्तिः ॥ २३१ ॥

कर तीन बार शिवाग्नि के ऊपर घुमाये । अस्त्र के द्वारा जल से (उन स्रुक् स्रुवा) का मार्जन कर कुश के अग्रभाग से उनका स्पर्श कराये । फिर अग्नि के ऊपर घुमाकर उन दोनों का कलश के जल से प्रोक्षण करे । फिर दर्भ के मध्य भाग से उनका स्पर्श कराकर, अग्नि के ऊपर घुमाकर तापित करे । फिर कलश के जल से उनका मार्जन कर दर्भ के मूल से उनका स्पर्श कराये । तत्पश्चात् स्रुक् और स्रुवा के मूल को अधोमुख कर स्थापित करे । विद्वान् सर्वदा उन दोनों को अग्नि के दक्षिण और कुशों के पीछे रख कर उनकी पूजा करे ॥ २२८-२३१ ॥

मार्जन का अर्थ है—प्रोक्षण, स्रुक् स्रुवा की तापन क्रिया उनके प्रति काष्ठ आदि भाव, को हटाने के लिये की जाती है । जैसा कि कहा गया—

'.......उन्हें अग्नि में तीन बार तपाना चाहिये । सतप्त होने पर वे काष्ठभाव से रहित हो जाते हैं ।।'

यहाँ सृष्टि के क्रम से दर्भ के अग्र मध्य और मूल से उन (= स्रुक् एवं स्रुवा) के अग्र मध्य मूल के स्पर्श तथा (अग्नि के ऊपर) भ्रमण से इन दोनों में इच्छा आदि (= ज्ञान क्रिया) रूप तीन शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं । (श्लोक सं० २१३) 'स्रुक्स्रुवाभ्यां' का स्रुक् स्रुवयोः (= स्रुक् और स्रुवा के)—यह अर्थ है । उक्त बारह संस्कारों के बाद उनकी पूजा करे । अधोमुख—यह कथन उनको सृष्टि के प्रति उनमुख करने के अभिप्राय से कहा गया । (ये स्रुक् स्रुवा) अग्नि के दायें तथा होता के बायें (रखे जाने चाहिये) । इससे दीप्ति एवं आप्यायन के द्वारा इनके सम्बन्ध से एक साथ अग्नीषोममयत्व की कल्पना की जाती है ॥ २३१ ॥

अथ—

आज्यसंस्करणं कुर्यादाज्याधिश्रयणादिकम् ।

अधिश्रयणं संप्रोक्षिते पात्रे प्रस्रुतस्य स्थापनम् । क्वचिदधिस्रवणमिति पाठः । तत्राधिकरणभाण्डे तापनमित्ययमर्थः ॥

आदिशब्दसूचितान् संस्कारानाह—

आज्यं संप्रोक्ष्य चास्त्रेण कवचेनावगुण्ठयेत् ॥ २३२ ॥
शिवाग्नौ ताप्यमस्त्रेण उद्वास्यं कवचेन तु ।
कुण्डस्य परितो देवि त्रिधा भ्राम्य तु स्थापयेत् ॥ २३३ ॥
योनिसंस्थं चाज्यपात्रं.................

तापनं दीप्त्यर्थमाग्नेय्यां दिशि । उद्वासनमग्नेरूर्ध्वधारणं दीप्तेः स्फुट-तार्थम् ॥ २३३ ॥

किं च—

.................उत्प्लवं संप्लवं ततः ।

तस्याज्यस्योत्प्लवं च कुर्यादिति शेषः ॥

केनेत्याह—

दर्भाग्रद्वयमादाय प्रादेशं मध्यग्रन्थितम् ॥ २३४ ॥

इसके बाद—

घी का आज्याधिश्रयण आदि संस्कार करना चाहिये ॥ २३२- ॥

अधिश्रयण का अर्थ है—प्रोक्षित पात्र में बूँद-बूँद कर गिराये गये घी को रखना । कहीं-कहीं 'अधिस्रवण' पाठ मिलता है—वहाँ उसका अर्थ है—आधारपात्र में रखे घी को गरम करना ॥

आदि शब्द से सङ्केतित अन्य संस्कारों को कहते हैं—

अस्त्र मन्त्र के द्वारा घृत का प्रोक्षण कर कवच के द्वारा उसका अवगुण्ठन करे । अस्त्र के द्वारा शिवाग्नि में उसको तपाना तथा कवच के द्वारा उद्वासन करना चाहिये । हे देवि ! कुण्ड के चारो ओर घृतपात्र को तीन बार घुमाकर फिर उसे योनि पर रख देना चाहिये ॥ -२३२-२३४-॥

तापन आग्नेयी दिशा में दीप्ति के लिये होता है । उद्वासन का अर्थ है—स्पष्ट करने के लिये अग्नि को ऊपर रखना ॥ २३३ ॥

उसके बाद घी का उत्प्लवन एवं सम्प्लवन करे ॥ -२३४- ॥

किसके द्वारा (उत्प्लवन सम्प्लवन करे)—यह कहते हैं—

पवित्रमेतद्विहितमुत्प्लवं तेन संप्लवम् ।

प्रसारिताङ्गुष्ठतर्जनीमानं प्रादेशः ॥ २३४ ॥

कथमित्याह—

अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां तु गृहीत्वैतत् पवित्रकम् ॥ २३५ ॥
पराङ्मुखं तु त्रीन् वारान् संमुखं त्रींस्तथैव च ।
अस्त्रेणैव तु मन्त्रेण.................

असारभागापनयनायोत्प्लवं साराहरणाय संप्लवम् ॥

किं च—

.............अवद्योतः शिवाग्निना ॥ २३६ ॥

अस्त्रेणेत्येव कार्य इति शेषः ॥ २३६ ॥

तं व्याचष्टे—

दर्भोल्मुकं तु सङ्गृह्य आज्यपात्रं निरीक्षयेत् ।

तेन प्रकाशयेत् । अत्र चावसरे स्वनेत्रतेजोनिरीक्षणेन परतेजोमयं चाज्यं

दो कुशाओं के अग्रभाग, जो कि प्रादेशमात्र के हों और बीच में गाँठ दी गयी हो, से पवित्री बनाये और उससे उत्प्लवन एवं सम्प्लवन करे ॥ -२३४-२३५- ॥

हाथ के अङ्गुष्ठ और तर्जनी को फैलाने पर जो नाप बनती है वह प्रादेश होता है ॥ २३४ ॥

कैसे करे—यह कहते हैं—

इस पवित्रक को अङ्गुष्ठ और अनामिका से पकड़कर तीन बार सामने और तीन बार पीछे अस्त्रमन्त्र के द्वारा करे ॥ -२३५-२३६- ॥

घी से अतिरिक्त निस्तत्त्व पदार्थ को घी से अलग करने के लिये उत्प्लवन और तत्त्व (= शुद्ध घी) का आनयन करने के लिये सम्प्लवन किया जाता है ॥

तथा—

शिवाग्नि के द्वारा अस्त्रमन्त्र से अवद्योतन करना चाहिये ॥ -२३६ ॥

अस्त्रमन्त्र से करे ॥ २३६ ॥

उस (= अवद्योत) की व्याख्या करते हैं—

(यजमान साधक) दर्भ का उल्मुक (= जलता हुआ कुश) लेकर उससे घृतपात्र को देखे ॥ २३७- ॥

कुर्यादित्यर्थः ॥

नीराजनं ततः कुर्यात्...............

निःशेषेण राजनं च ज्वलितेन दर्भेण सर्वतो भ्रामितेन दीपनमस्त्रेणैव ।

..............पर्यग्निकरणं ततः ॥ २३७ ॥

कथम्—

धाम्नास्त्रमन्त्रमुच्चार्य तमग्नावुल्मुकं क्षिपेत् ।

धाम्ना मूलेन सह परितः समन्तादग्निकरणं तेजोमयत्वापत्तिः ॥

ततः—

धाम्नैव विधिना मन्त्री प्रोक्षयेदस्त्रवारिणा ॥ २३८ ॥

विधिः शिवाभेदाभिसंधिः ॥ २३८ ॥

किं च—

अभिमन्त्र्य षडङ्गेन अमृतत्वं शिवेन तु ।

निरीक्षण का अर्थ है—प्रकाशित करना । इस अवसर पर अपने नेत्र के तेज से घृत का निरीक्षण करने से घृत को परतेजोमय बनाये—यह तात्पर्य है ॥

उसके बाद नीराजन करे ॥ -२३७- ॥

अस्त्र मन्त्र के ही द्वारा नीराजन करने से = जलते हुए कुश को घृत के चारो ओर घुमाने से दीपन होता है इसके बाद पर्यग्निकरण करे ।

कैसे—

धाम (= निष्कल = ॐकार) के साथ अस्त्रमन्त्र का उच्चारण कर उस उल्मुक को अग्नि में फेंक दे ॥ २३८- ॥

धाम = मूल (= ॐकार) के साथ । परि = चारो ओर । अग्निकरण = घृत को तेजोमय बनाना ॥

इसके बाद—

मन्त्रज्ञ साधक धाम के ही द्वारा विधिपूर्वक उस घृत का अस्त्रमन्त्र से प्रोक्षण करे ॥ -२३८ ॥

विधि = शिव के साथ अभेद मानना ॥ २३८ ॥

तथा—

षडङ्ग के द्वारा घृत का अभिमन्त्रण कर शिवमन्त्र के द्वारा उसको अमृत बनाये ॥ २३९- ॥

निष्कलेन साङ्गेनाभिमन्त्रणमेवममृतत्वममृतमुद्रया ॥

एवमाज्यप्रोक्षणावगुण्ठनतापनोद्वासनभ्रामणोत्प्लवसंप्लवावद्योतननीराजनपर्यग्निकरणप्रोक्षणामृताख्यसंस्कारान् द्वादश कृत्वा—

सकृदुच्चारयोगेन पूजयेद् भैरवेण तु ॥ २३९ ॥

निष्कलेन ॥ २३९ ॥

एवं कर्त्रपादानकरणाधिकरणकर्मणां यष्ट्रर्घपात्रस्रुगादिस्थण्डिलाग्न्याज्यादीनां संस्कारैः संप्रदानात्मकभैरवदेवतैक्यापादनं कृत्वा तदेव द्रढयितुमग्निवक्त्राणां भैरववक्त्रमन्त्रैरभिसन्धिमाह—

वक्त्रसंधानकं वक्त्रैराहुतित्रितयेन तु ।

एतद्व्याचष्टे—

अपरास्येन तद्वक्त्रसंधानं तु समाचरेत् ॥ २४० ॥
एवं सौम्यस्य वक्त्रस्य संधानं तु कृतं भवेत्।
त्रिराहुतिप्रयोगेण दक्षिणस्याप्ययं विधिः ॥ २४१ ॥

छः अङ्गों के सहित निष्कल मन्त्र (= ॐकार) के द्वारा अभिमन्त्रण एवं शिवमन्त्र के साथ अमृत मुद्रा दिखाकर घृत का अमृतत्व सम्पादित करे ॥

इस प्रकार घृत का प्रोक्षण, अवगुण्ठन, तापन, उद्वासन, भ्रामण, उत्प्लवन, सम्प्लवन, अवद्योतन, नीराजन, पर्यग्निकरण, प्रोक्षण, अमृतत्वापादन नामक बारह संस्कारों को करने के बाद—

(= ॐकार सहित) भैरव मन्त्र का एक बार उच्चारण कर भैरव का पूजन करे ॥ -२३९ ॥

निष्कल ॥ २३९ ॥

इस प्रकार यष्टा, अर्घपात्र, स्रुक् आदि (= स्रुवा), स्थण्डिल, अग्नि, आज्य जो कि क्रमशः कर्त्ता, अपादान, करण, अधिकरण और कर्मरूप हैं, के संस्कारों के द्वारा सम्प्रदानरूप भैरवदेवता के साथ ऐकात्म्य स्थापित करने के बाद उसी को दृढ़ करने के लिये अग्निवक्त्रों की भैरववक्त्रों के साथ अभिसन्धि बतलाते हैं—

तीन आहुतियों के द्वारा भैरव वक्त्रों के साथ (अग्नि) वक्त्रों का सन्धान करे (= उनको जोड़ दे) ॥ २४०- ॥

इस सन्धान की व्याख्या करते हैं—

पश्चिम वक्त्र के मन्त्र से उस (= पश्चिम) वक्त्र का सन्धान (= आन्तर हवन) करे । इस प्रकार तीन आहुतियों के प्रयोग से उत्तर वक्त्र का भी सन्धान सम्पन्न हो जाता है । दक्षिण वक्त्र के सन्धान के बारे में भी यही

पूर्ववक्त्रेऽप्यथैवं स्यादूर्ध्ववक्त्रं शिवान्वितम्।
त्रिराहुतिप्रयोगेण वक्त्रसंधिः प्रकीर्तितः ॥ २४२ ॥

अपरास्येनेति तन्मन्त्रेण, तद्वक्त्रसंधानमिति तेनैवापरवक्त्रेण संधानमिति अर्थादुत्तरवक्त्रबीजनामभ्यां विस्पष्टस्य उत्तरस्य । यदाह—एवं सौम्यस्य वक्त्रस्य संधानं तु कृतं भवेदिति । अतश्च 'ॐलं सद्योजातवक्त्रेण ॐवं वामदेववक्त्रमनुसंदधे स्वाहा' इति प्रयोगः । एवम् 'ॐवं वामदेववक्त्रेण ॐरं अघोरवक्त्रमनुसंदधे स्वाहा' इति प्रयोगः । एवमन्यत् । शिवान्वितमितिईशानविश्रान्तिसारम् । अत्र प्रतिवक्त्रानुसंधिं त्रिस्तिलैर्जुहुयात्, न त्वाज्येन, तत्संस्काराणामसमाप्तत्वात् । पश्चिमप्रमुखमूर्ध्वे विश्रान्तिः कार्या ॥ २४२ ॥

मुमुक्षून् प्रति अस्यैव प्राधान्यादित्याह—

मुख्यमूर्ध्वं स्मृतं वक्त्रं गुणत्वमितरेषु तु ।

अथ कर्मौचित्यानुगुण्येन यन्मुख्यं वक्त्रं तदूर्ध्वं स्मर्तव्यम्, इत्यत्राप्यर्थे-

---

विधि है । पूर्व वक्त्र के बारे में भी ऐसा ही होता है । ईशानवक्त्र से अन्वित ऊर्ध्व अर्थात् पूर्व वक्त्र का भी ऐसा ही होता है । तीन आहुतियों के प्रयोग से वक्त्रसन्धि कही गयी है ॥ -२४०-२४२ ॥

अपरास्येन का अर्थ है अपर अर्थात् पश्चिमवक्त्र के मन्त्र से तद्वक्त्रसन्धान = उसी अपर वक्त्र से सन्धान अर्थात् उत्तर वक्त्र के बीजाक्षर एवं नाम से स्पष्ट उत्तर वक्त्र का (सन्धान होगा) । वही कहा—इस प्रकार सौम्यवक्त्र का भी सन्धान हो जाता है । इसलिये 'ॐ लं सद्योजातवक्त्रेण ॐ वं वामदेव वक्त्रमनुसन्दधे स्वाहा' ऐसा प्रयोग होता है । (इसमें लं पश्चिम वक्त्र का बीजाक्षर है तथा वं उत्तर वक्त्र का) । इसी प्रकार 'ॐ व वामदेववक्त्रेण ॐ रं अघोरवक्त्रमनुसन्दधे स्वाहा' यह प्रयोग बनेगा । (इसमें रं पूर्ववक्त्र का बीजाक्षर है) । इसी प्रकार अन्य (ऊह को भी समझना चाहिये—जैसे—) ॐ रं अघोर वक्त्रमन्त्रेण ॐ यं तत्पुरुषवक्त्रमनुसन्दधे स्वाहा, ॐ यं तत्पुरुषवक्त्रमन्त्रेण ॐ क्षं ईशानवक्त्रमवुसन्दधे स्वाहा ये प्रयोग क्रमशः दक्षिण एवं ऊर्ध्व वक्त्रों के सन्धान के लिये बनेंगे । 'शिवान्वितम्' का अर्थ है—ईशानवक्त्र तक । यहाँ प्रत्येक वक्त्र की अनुसन्धि के लिये तीन बार हवन तिलों के द्वारा करना चाहिये न कि घी से क्योंकि उन वक्त्रों के संस्कार अभी समाप्त नहीं हुए हैं । यह अनुसन्धान पश्चिम वक्त्र से प्रारब्ध होकर ऊर्ध्ववक्त्र में समाप्त होता है ॥ २४२ ॥

क्योंकि मुमुक्षुओं के प्रति यही (= ऊर्ध्ववक्त्र में विश्राम ही) प्रधान होता है—यह कहते हैं—

ऊर्ध्व वक्त्र मुख्य माना गया है । शेष मुख गौण हैं ॥ २४३- ॥

कर्म के औचित्य को ध्यान में रखते हुए जो मुख्य वक्त्र है उसको मानना

ऽनुसंधिमुक्त्वा प्रसङ्गाद्वक्त्रभेदेन होममाह—

मुक्तिकामस्य दीक्षायामूर्ध्ववक्त्रस्य मुख्यता ॥ २४३ ॥

एतन्नैमित्तिकविषये ॥ २४३ ॥

काम्ये तु विभागेनाह—

पादलेपाञ्जनाद्या वै सिद्धीस्तु विविधाश्च याः ।
सदाशिवान्तगाः सर्वाः पूर्ववक्त्रे तु होमयेत् ॥ २४४ ॥

विविधा इति उत्तममध्यमाधमाः । होमयेदिति होमेन साधयेत् ॥ २४४ ॥

मारणोच्चाटनादौ तु विद्वेषे स्तम्भने तथा ।
दक्षिणे चैव वक्त्रे तु होमात् सिद्धिः परा भवेत् ॥ २४५ ॥
शान्तिकं पौष्टिकं चैव सौभाग्याकर्षणानि च ।
सौभाग्यारोहसिद्धिं तु उत्तरे होमयेत् सदा ॥ २४६ ॥

आकर्षणं परचित्तादेः ॥ २४६ ॥

नित्यविषयमप्याह—

पश्चिमे नित्यकर्माणि...............

चाहिये । यहाँ भी अनुसन्धि को कह कर प्रसङ्गात् वक्त्रभेद के अनुसार होम को बतलाते हैं—

मुक्ति चाहने वाले के लिये दीक्षा में ऊर्ध्ववक्त्र मुख्य होता है ॥-२४३ ॥

यह मुख्यता नैमित्तिक कर्म के विषय में है ॥ २४३ ॥

काम्य कर्म के लिये (वक्त्रों को) अलग-अलग करके बतलाते हैं—

पादलेप अञ्जन से लेकर सदाशिव पर्यन्त जो अनेक प्रकार की सिद्धियाँ हैं उन सबको प्राप्त करने के लिये पूर्ववक्त्र में हवन करना चाहिये ॥ २४४ ॥

विविध = उत्तम मध्यम और अधम । होम करे = हवन के द्वारा उन सिद्धियों को प्राप्त करे ॥ २४४ ॥

मारण उच्चाटन विद्वेषण स्तम्भन आदि की सिद्धि के लिये दक्षिण वक्त्र में होम करने से परा (= उत्कृष्ट) सिद्धि प्राप्त होती है । शान्ति कर्म पौष्टिक कर्म सौभाग्य दूसरे के चित्त आदि का आकर्षण, सौभाग्यारोहण की सिद्धि के लिये उत्तर वक्त्र में होम करना चाहिये ॥ २४५-२४६ ॥,

आकर्षणं = दूसरे के चित्त का अकर्षण ॥ २४६ ॥

नित्यकर्म के विषय में कहते हैं—

सर्वैः कार्याणि, तस्य विधिपूर्वकत्वात् ॥

स एष—

..............विनियोगः प्रकीर्तितः ।

एवं च यो यत्र वक्त्रे कर्म कर्तुं वाञ्छति, स तदूर्ध्वे न्यसेत्, ऊर्ध्वं तु तत्स्थाने । यद्वक्ष्यति—

'................येन यत्कर्म वाञ्छितम् ।
तन्मुख्यवक्त्रं सङ्कल्प्य .... ॥' (स्व० २।२६४)

इति ॥

एवं प्रस्तुते नित्यकर्मणि—

आज्यभागो हि होतव्य ऊर्ध्ववक्त्रे तु पश्चिमे ॥ २४७ ॥

पश्चिमे सद्योजाते, ऊर्ध्ववक्त्रे ऊर्ध्ववक्त्रस्थाने प्रापित इत्यर्थः ॥ २४७ ॥

एवमस्य भैरवापत्तिपर्यन्तान् संस्कारान् कृत्वा वह्नेर्भैरववक्त्रानुसंधिना भैरवेणैकतां संपूर्य, इदानीमाज्यवह्न्योः क्रमेण त्रिधामत्वापादनार्थमाह—

नित्यकर्मों के लिये पश्चिम वक्त्र में हवन करे ॥ २४७- ॥

यह हवन सब लोगों को करना चाहिये क्योंकि यह (= होम) नित्यविधि है ॥

यह—

हवन का विनियोग कहा गया ॥ -२४७- ॥

इस प्रकार जो जिस वक्त्र में कर्म करना चाहता है वह साधक उस मुख के ऊपर अर्थात् उस मुख में न्यास करे । जैसा कि कहेंगे—

'जो जिस कर्म को चाहता है उसके अनुसार वक्त्र की मुख्यता को कल्पित कर........।' (२।२६४) ॥

इस प्रकार नित्य कर्म के प्रस्तुत होने पर—

पश्चिम वक्त्र को ऊर्ध्व वक्त्र मानकर उसमें घृत का हवन करना चाहिये ॥ -२४७ ॥

पश्चिम मुख = सद्योजात । ऊर्ध्ववक्त्र = ऊर्ध्ववक्त्र के स्थान को प्राप्त कराये जाने पर ॥ २४७ ॥

इस प्रकार भैरवदशा की प्राप्ति तक इसके समस्त संस्कारों को करने के बाद भैरव के मुख में रहने वाली अग्नि की भैरव के साथ एकता का सम्पादन कर अब क्रम से घृत और अग्नि की त्रिधामता के सम्पादन के लिए कहते हैं—

आज्यपात्रस्य मध्ये तु दर्भे वै भैरवेण तु।
न्यसितव्यो वरारोहे ततो वै वर्त्मकल्पना ॥ २४८ ॥

तत इति मध्यस्थदर्भद्वयदानाद्वर्त्मनां त्रयाणां मार्गाणां कल्पना कार्या । दर्भे इति जातावेकवचनम् ॥ २४८ ॥

कथमित्याह—

उच्चार्य भैरवं पात्रे संपातं पात्य वर्त्मना ।
नाडीत्रयेण युगपत् पात्रे भागत्रयं न्यसेत् ॥ २४९ ॥

नाडीत्रयरूपेण वर्त्मना मार्गत्रयेण भैरवं निष्कलमुच्चार्य आज्यगतभागत्रये त्रिष्ठया प्राणशक्त्या इच्छाज्ञानक्रियात्मना समं पातं विश्रान्तिं कृत्वा वह्निसोमसूर्यात्मकधामत्रयमयं भागत्रयं न्यसेद् अनुसन्दधीत ॥ २४९ ॥

अत्र विभागः—

सुषुम्नां मध्यमार्गस्थां दक्षे पिङ्गां प्रकल्पयेत् ।
इडाभागे तु यत्तेजो वामे सौम्यं प्रकल्पयेत् ॥ २५० ॥

हे वरारोहे ! आज्यपात्र के मध्य में भैरव मन्त्र के द्वारा दर्भ को रखना चाहिये । इसके बाद मार्गों की कल्पना करे ॥ २४८ ॥

इसके बाद वृत्त के मध्य में दो कुशाओं के दान (= रखने) से । वर्त्म की = तीन मार्गों की कल्पना करनी चाहिये । 'दर्भः' यहाँ एक वचन जाति अर्थ में है ॥ २४८ ॥

कैसे—यह कहते हैं—

तीन नाड़ी रूपी मार्गों से भैरव (= ॐ) का उच्चारण कर अलग किसी पात्र में घृत का एक साथ सम्पात कर (हवनीय) पात्र में तीन भागों का न्यास करे ॥ २४९ ॥

(इडा पिङ्गला सुषुम्ना रूपी) तीन नाडी रूपी तीन मार्ग से भैरव मन्त्र = निष्कल (= ॐ) का उच्चारण कर घी में वर्तमान तीन भाग में तीन प्रकार से स्थित इच्छा ज्ञान क्रिया वाली प्राणशक्ति के द्वारा एक साथ पात = विश्राम कर अग्नि सोम सूर्यात्मक तीन तेज वाले तीन भागों का न्यास = अनुसन्धान करना चाहिये ॥ २४९ ॥

यहाँ विभाग को बतलाते हैं—

सुषुम्ना की मध्य मार्ग में स्थिति तथा पिङ्गला की दायें भाग में स्थिति की कल्पना करनी चाहिये । इडा के भाग में जो तेज है उस सौम्य की वामभाग में कल्पना करे (ये सब कल्पनायें घृत में ही होती हैं) ॥ २५० ॥

एवमाज्यं त्रिधाममयीकृत्य तद्धोमाद्वह्निमपि तन्मयीकर्तुमाह—

एवं त्रिभागं सङ्कल्प्य स्रुवमापूर्य होमयेत् ।
भैरवेणैव मन्त्रेणाग्नये स्वाहान्तमेव च ॥ २५१ ॥
अग्निभागात्तु सङ्गृह्य................

मध्यनाडिस्थं प्रकाशानन्दसारमग्नीषोमात्मकं धाम पृथक्त्वमाभासयद् वामे सोमतां श्रयति दक्षिणे तु वह्निताम्, तत्र सोमात्मनो हविषोऽन्तर्वर्तिनः प्रज्वालकस्याभावात्र न मध्यवद् भेददाहकात्मत्वम्, इति तत्प्रकाशकत्वमात्रात् सूर्यरूपताप्युच्यते, उपादानौचित्यात् त्वग्नितापीत्यग्निभागोऽत्र दक्षिणः, अत एवेह पिङ्गलेत्यग्निनाम्ना दक्षनाडी व्यवहिता । तृतीयपटले तु—

'पिङ्गलामध्यमार्गेण वर्णोच्चारक्रमेण तु ।' (स्व०तं० ३।२२) इति,
'पिङ्गला मध्यमा नाडी' (स्व०तं० ३।१४९)

इति च मध्यनाड्युक्तेति युज्यत एव, इति न कश्चित् पूर्वापरव्याघातोऽस्ति । ततो विभागोऽत्रदक्षिणकृतनाडीसम्पातानुसारं स्वदक्षिणस्ततो होमोऽग्नेर्दक्षिणे भागे । एवं वामेऽपि ज्ञेयम् ॥ २५१ ॥

इस प्रकार घी को तीन धाममय करके उसके होम से अग्नि को भी तन्मय (तीन धाम वाला) बनाने के लिये कहते हैं—

इस प्रकार (घृत में) तीन भाग की कल्पना कर स्रुवा को घी से आपूरित कर होम करना चाहिये । होम के लिये भैरवमन्त्र के साथ अन्त में 'अग्नये स्वाहा' जोड़ना चाहिये । (इस प्रकार 'ॐ अग्नये स्वाहा' मन्त्र बनेगा) । अग्नि भाग से लेकर ॥ २५१-२५२- ॥

मध्य नाड़ी में वर्त्तमान, प्रकाश आनन्दतत्त्व वाले अग्नीषोमात्मक तेज की पृथक्ता को आभासित करते हुए वामभाग में सोमता को रखते हैं दायें भाग में वह्निता को (न्यस्त करते हैं) । उसमें सोमात्मक हवि के भीतर वर्तमान प्रज्वालक के न होने से मध्यनाडीस्थ अग्नि के समान वह सोम दाहक नहीं है । इसलिये केवल प्रकाशक होने के कारण वह सूर्यरूप कहा जाता है । उपादान के औचित्य के कारण यह अग्नि भी है इसलिये यहाँ अग्नि भाग दक्षिण की ओर है । इसलिये अग्नि के नाम से पिङ्गला नाड़ी दक्षनाड़ी कही गयी है । तीसरे पटल में—

'पिङ्गला नामक मध्य मार्ग से वर्णोच्चार क्रम के द्वारा ।' (३।२२)

'पिङ्गला नामक मध्यमा नाड़ी ।' (३।१४९)

इन वाक्यों से पिङ्गला पर से मध्यनाडी कही गयी है अतः यहाँ का कथन समीचीन ही है । इस प्रकार कोई पूर्वापरव्याघात नहीं है । यहाँ इस प्रकार विभाग है—दक्षिण कृत नाड़ी के सम्पात के अनुसार अपने से दक्षिण होता है । इसके

अथ—

............स्रुवेणाज्याहुतिं क्षिपेत् ।
सोमभागस्तु सोमाय स्वाहेत्यन्ते समुच्चरन् ॥ २५२ ॥

सप्रणवं निष्कलपूर्वोऽत्र मन्त्रः, इत्यादिकमादिशन् पूर्वोक्तमनुवदति—

धामादिप्रणवाद्यं च स्रुवेणाज्याहुतिं क्षिपेत् ।

क्रियाविशेषणमेतत् ॥

ततोऽपि—

अग्नीषोमेति संज्ञे द्वे स्वाहान्ते धाम चादितः ॥ २५३ ॥
प्रणवाद्याज्यमध्यात् तु स्रुवमापूर्य होमयेत् ।
शुक्लपक्षे विधिर्ह्येष................

अग्निषोमेत्यत्र अग्नीषोमाभ्यामिति प्रयोग: । अयं शुक्लपक्षे विधि: । अन्यत्र तु—

बाद होम को अग्नि के दक्षिण भाग में करे । इसी प्रकार वामभाग के विषय में भी जानना चाहिये ॥ २५१ ॥

इसके बाद—

स्रुवा के द्वारा घी की आहुति दे । उस आहुति के समय अन्त में 'सोमाय स्वाहा' ऐसा अन्त में उच्चारण करते हुए सोम भाग दिया जाना चाहिये ॥ -२५२ ॥

यहाँ (होम के समय उच्चारणीय) मन्त्र प्रणवसहित निष्कल पूर्वक होगा—यह बतलाते हुए पूर्वोक्त का अनुवाद करते हैं—

प्रणव एवं धाम (= हृदय) को पहले जोड़ कर स्रुवा के द्वारा (= ॐ हृदयाय नम: से) घी की आहुति दे ॥ २५३- ॥

'धामादि प्रणवाद्यम्' यह क्रियाविशेषण है ॥

इसके बाद—

अग्नि और सोम ये दो संज्ञायें हैं जिनके अन्त में स्वाहा तथा आदि में धाम जोड़ा गया है । (इस प्रकार ॐ अग्नये स्वाहा, ॐ सोमाय स्वाहा—ये रूप होंगे) यथा ॐ सूर्याय स्वाहा बीच में अग्निसूर्याभ्यां स्वाहा । स्रुवा को घी से भर कर होम करे । यह विधि शुक्लपक्ष में की जाती है ॥ -२५३-२५४- ॥

अग्नीषोम यहाँ पर 'अग्नीषोमाभ्याम्' ऐसा प्रयोग होता है यह विधि शुक्ल पक्ष

................कृष्णपक्षेऽन्यथा भवेत् ॥ २५४ ॥

तमाह—

सोमभागे भवेत् सूर्यो ह्यग्निसंज्ञा तु पूर्ववत् ।
अग्नेः सूर्यस्य मध्याद् (वै) आहुतिं प्रतिपादयेत् ॥ २५५ ॥
यतः सूर्यस्य मध्ये वै अमावस्यां विशेच्छशी ।

शुक्लपक्षे सोमस्य पूर्णत्वात् सोमायेत्याहुति: । कृष्णपक्षे तु क्षीणस्येन्दो: सूर्यमण्डलाक्रमणात् सूर्यायेत्याहुति: । मध्ये तु अग्निसूर्याभ्यामिति । अन्यत्तु पूर्ववत् ॥ २५५ ॥

एवमग्नेरपि त्रिधाममयत्वं संपाद्य—

प्राशनार्थमतो होमो वक्त्राणां भैरवेण तु ॥ २५६ ॥

कार्य इति शेष: । अत एव त्रिधाममयीकारादनन्तरं तेन प्रणवं निष्कलं वक्त्रमन्त्रं चोच्चार्य 'अग्ने: प्राशनं करोमि स्वाहा' इत्यन्तोऽत्र प्रयोग: । प्राशनं च भाविपाशभक्षणाद्यौचित्याधानम् ॥

में अपनायी जाती है । अन्यत्र तो—

कृष्णपक्ष में (यह होम विधि) दूसरे प्रकार की है ॥ -२५४ ॥

उस विधि को बतलाते हैं—

सोम भाग में सूर्य प्रधान होता है । अग्नि संज्ञा पहले की भाँति है । इस प्रकार अग्नि और सूर्य के बीच में आहुति देनी चाहिये । अमावस्या में चन्द्रमा क्योंकि सूर्य के मध्य में प्रवेश कर जाता है ॥ २५५-२५६- ॥

शुक्ल पक्ष में सोम के पूर्ण होने से 'सोमाय' कहकर आहुति दी जाती है । किन्तु कृष्ण पक्ष में क्षीण चन्द्रमा सूर्यमण्डल में चला जाता है इसलिये 'सोमाय' की जगह 'सूर्याय' कहते हुए आहुति दी जाती है । मध्य में अर्थात् अग्नि और सूर्य के द्वारा । शेष प्रक्रिया पूर्ववत् होती है ॥ २५५ ॥

इस प्रकार अग्नि की त्रिधाममयता (= सूर्य अग्नि चन्द्रमयता) का सम्पादन कर—

(भैरवरूपी अग्नि के) मुखों को खिलाने के लिये भैरव मन्त्र से होम करे ॥ -२५६ ॥

इसलिये अग्नि के त्रिधाममयीकार के बाद उसके साथ भैरव मन्त्र के साथ प्रणव निष्कल एवं वक्त्रमन्त्र का उच्चारण कर 'अग्ने: प्राशनं करोमि स्वाहा' यह उच्चारण कर होम करे । प्राशन = भावीपाश के भक्षण आदि के औचित्य का (अग्नि में) आधान ॥

अन्यानपि संस्कारानेकप्रघट्टकेन शिवाग्नेः पुष्कलतासंपत्तिसतत्त्वानाह—

चूडाद्या ये तु संस्कारा अग्नेर्बालान्तसंस्थिताः ।
प्रापणार्थाय सर्वेषां पूर्णमिकां प्रदापयेत् ॥ २५७ ॥
भैरवं तु समुच्चार्य................

आदिशब्दादुपनयनादयो बालस्य ब्रह्मचारिणोऽन्ते ये संस्थिता उद्वाहादयः । अत्र च 'अग्नेः चूडाद्याः सर्वे संस्काराः सन्तु स्वाहा' इत्यन्तः प्रयोगः । पूर्णायामितिकर्तव्यता भविष्यति ॥ २५७ ॥

एवं कृते सति प्रवृद्धः—

..............शिवाग्निः सर्वसिद्धिदः ।

सर्वेषां समय्यादीनां सर्वाः सिद्धिर्ददातीति तन्त्रेणेत्यर्थः । एवं संस्कृताच्छिवाग्नेश्चर्वर्थं पुनः संस्कारं विना नित्यकर्मार्थं च—

'श्राप्याश्चरुपुरोडाशाः पञ्चसंस्कारसंस्कृते ।
अनाहूते शिवे वह्नौ.................... ॥'

इत्यन्यत्रोक्तत्वादनाहूतपरमेश्वर एव ॥

शिवाग्नि की पुष्कलता के विधायक अन्य संस्कारों को एक प्रघट्टक (= एक श्लोकवर्णन) के द्वारा बतलाते हैं—

अग्नि के बाल्यकाल के अन्त तक संस्थित जो चूडाकर्म आदि संस्कार उन सबके सम्पादन के लिये भैरव मन्त्र का उच्चारण कर एक पूर्णाहुति देनी चाहिये ॥ २५७-२५८- ॥

'चूडाद्याः' में 'आदि' पद से उपनयन आदि समझना चाहिये । बाल अर्थात् ब्रह्मचारी के अन्त में संस्थित जो उद्वाह आदि उनके सम्पादन के लिये । यहाँ 'अग्नेः चूडाद्याः सर्वे संस्काराः सन्तु स्वाहा' यह अन्तिम होम होता है । पूर्ण आहुति देने पर इतिकर्त्तव्यता (= कर्त्तव्य कर्म की पूर्णता) हो जाती है ॥ २५७ ॥

ऐसा करने से सम्वर्द्धित—

शिवाग्नि सब प्रकार की सिद्धि देने वाला हो जाता है ॥ -२५८- ॥

(सर्व शब्द की आवृत्ति करने से) सबको = समयी आदि को सब सिद्धियाँ देता है—यह अर्थ निकलता है । इस प्रकार संस्कारयुक्त शिवाग्नि के चरु के लिये पुनः संस्काररहित नित्य कर्म के लिये—

'चरु पुरोडाश आदि का पाक पाँच संस्कार से संस्कृत अनाहूत शिवाग्नि में करना चाहिये ।'

ऐसा अन्यत्र कथन होने से अनाहूत परमेश्वर ही (शिवाग्नि = संस्कृत अग्नि

अग्निं तु प्रोद्धरेत् पश्चात् पात्रे संस्थाप्य रक्षयेत् ॥ २५८ ॥

कवचावगुण्ठितं रक्षितं कुर्यात् ॥ २५८ ॥

अथ—

कुण्डस्य चोत्तरे भागे विष्टरस्य च बाह्यतः ।
प्रणीतं कल्पयेत्तत्र.............

विष्टरस्येति रुद्राश्रयस्य ॥

प्रणीतं व्याचष्टे—

................चमसं वारिपूरितम् ॥ २५९ ॥

चमसं दारुपात्रम् ॥ २५९ ॥

तत्र च यज्ञध्वंसनाशिनो विष्णोरासनार्थम्—

पुष्पाक्षततिलैर्युक्तं पवित्रं तत्र विन्यसेत् ।

तस्मिंश्च—

प्रणवादि समावाह्य विष्णुनाम ततो नमः ॥ २६० ॥

होते हैं) ॥

तत्पश्चात् हवन कुण्ड में से अग्नि को निकाले । बाद में पात्र में रख कर उसकी रक्षा करे ॥ -२५८ ॥

अग्नि की रक्षा उसको कवच से अवगुण्ठित करने से होती है ॥ २५८ ॥

इसके बाद—

कुण्ड की उत्तर दिशा में विष्टर के बाहर (= उत्तर) प्रणीता की कल्पना करनी चाहिये ॥ २५९- ॥

विष्टर जो कि रुद्र का आसन है उसके बाहर ॥

प्रणीता की व्याख्या करते हैं—

चमस को जब पानी से भर दिया जाता है (तब वह प्रणीता कहलाता है) ॥ -२५९ ॥

चमस् का अर्थ है—लकड़ी से बना पात्र ॥ २५९ ॥

इस प्रक्रम में यज्ञ के विध्वंसकं (= राक्षस आदि) के नाशक विष्णु के आसन के लिये—

वहाँ पुष्प अक्षत तिल से युक्त पवित्रक रखे ॥ २६०- ॥

उस पवित्रक पर—

आमन्त्रणपदेनैव विष्णुं संस्थाप्य पूजयेत् ।
स्वागतासनपाद्यार्घैः..............

अत्र प्राग्वत् प्रयोगत:

............ततो विज्ञापयेत्तु तम् ॥ २६१ ॥
पश्वर्थं यज्ञ आरब्ध आत्मार्थं वाथ साधकैः ।
भगवंस्त्वत्प्रसादेन यागे निश्छिद्रताऽस्तु नः ॥ २६२ ॥

पश्वर्थं नैमित्तिके, दीक्षाविधानार्थं नित्ये, भगवन् काम्ये इति योज्यम् ॥

एवमितिकर्तव्यतां कृत्वा—

ततोऽग्नौ यजनं कृत्वा भैरवं तु प्रपूजयेत् ।

कथमित्याह—

स्थण्डिलोक्तविधानेन अनन्तादीन् प्रकल्पयेत् ॥ २६३ ॥

अत्र विभागं तावदुक्त्वा कर्मौचित्येनाग्निवक्त्रजिह्वाकल्पनं कर्तुमाह—

साधक पहले प्रणव के उच्चारण के बाद विष्णु पद उसके बाद नमः कह कर (ॐ विष्णुमावाहयामि नमः) इस प्रकार आवाहन कर पुनः आमन्त्रण पद (= भो विष्णो ! अत्र आसने तिष्ठ) से उनकी स्थापना कर स्वागत, आसन, पाद्य और अर्घ से उनकी पूजा करे ॥ -२६०-२६१- ॥

यहाँ पूर्व की भाँति प्रयोग के द्वारा—

उनको बतलाये कि हे भगवन् ! यह यज्ञ साधकों के द्वारा पशु के लिये अथवा आत्मा के लिये आरब्ध हुआ है । आपकी प्रसन्नता या कृपा से हमारे इस याग में छिद्रता (= दोष, व्याघात) न हो ॥ -२६१-२६२ ॥

पश्वर्थ नैमित्तिक पूजा में, दीक्षाविधानार्थ नित्य कर्म में तथा काम्यकर्म में भगवन् पद जोड़ना चाहिये (जैसे भगवन् । विष्णो । अयं यज्ञ एतदर्थं क्रियते । त्वत् प्रसादादस्मिन् यज्ञे निश्छिद्रता भूयात्) ॥

इस प्रकार इतिकर्त्तव्यता का विधान कर—

फिर अग्नि में हवन करने के बाद भैरव का पूजन करे ॥ २६३- ॥

कैसे ? यह कहते हैं—

स्थण्डिल—प्रकरण में कथित विधान के द्वारा अनन्त आदि की कल्पना करनी चाहिये ॥ -२६३ ॥

यहाँ विभाग का कथन कर कर्म के औचित्य को ध्यान में रख कर अग्नि के मुख और जिह्वा की कल्पना करने के लिये कहते हैं—

ध्यात्वा वक्त्राणि पञ्चादौ येन यत्कर्म वाञ्छितम् ।
तन्मुख्यवक्त्रं सङ्कल्प्य मुखं कुण्डप्रमाणतः ॥ २६४ ॥
भावयेन्नव जिह्वास्तु वक्त्रे वक्त्रे प्रतिष्ठिताः ।

वक्त्राणां गुणमुख्यताकल्पनं पूर्वमेव सुविभक्तम् । मुखमित्यास्यम् ॥ २६४ ॥

जिह्वानां दिग्विभागमाह—

प्रागाद्यष्टौ मध्य एका...................

प्रागादि कृत्वा च ऐशान्तमष्टौ ॥

तासां च—

..............काम्यार्थे दिग्गतास्तु याः ॥ २६५ ॥

याः प्रागादिदिगष्टस्थास्ताः काम्ये कर्मणि इत्यर्थः ॥ २६५ ॥

ताः कर्मचोदितैर्नामभिरुद्दिशति—

राज्यार्था दाहजननी मृत्युदा शत्रुकारिका ।
वशीकर्त्र्युच्चाटनी स्यादर्थदा मुक्तिदायिका ॥ २६६ ॥

पहले शिवाग्नि के पाँच मुखों का ध्यान कर फिर जिस मुख के द्वारा जिस प्रकार का कर्म करना है उस मुख को मुख्य मानकर उस मुख की कुण्ड के परिमाण के बराबर भावना करे । मुख में नव जिह्वा की प्रतिष्ठा करे ॥ २६४-२६५- ॥

वक्त्रों की गुणमुख्यता की कल्पना पहले ही स्पष्ट कर दी गयी है । मुख का अर्थ है—आस्य = उच्चारणस्थान ॥ २६४ ॥

नव जिह्वाओं का दिग्विभाग बतलाते हैं—

पूर्व आदि (आठ दिशाओं) में आठ और मध्य में एक (इस प्रकार नव मुख होते हैं) ॥ -२६५- ॥

पूर्व दिशा से लेकर ईशान कोण तक आठ (मुख समझने चाहिये) ॥

उन जिह्वाओं में से—

जो दिशाओं में स्थित हैं वे काम्य के लिये है ॥ -२६५ ॥

जो पूर्व आदि आठ दिशाओं में स्थित है वे काम्य कर्म के लिये हैं ॥ २६५ ॥

कर्म के अनुसार उनका नाम बतलाते हैं—

(उन जिह्वाओं के नाम हैं—) राज्यार्था, दाहजननी, मृत्युदा, शत्रुकारिका, वशीकर्त्री, उच्चाटनी, अर्थदा, मुक्तिदायिका ॥ २६६ ॥

नवम्याः कर्मोचितं नामाह—

सर्वसिद्धिप्रदा मध्ये.................

यत एवम्—

..............तस्मान्मध्ये तु होमयेत् ।

एवमुद्दिष्टानाम्—

पूर्णा तु भैरवेणैव जिह्वानां कल्पनाय च ॥ २६७ ॥
पुनः पूर्णाहुतिं चैव भैरवेण प्रदापयेत् ।

एकत्र मूलमन्त्रपूर्वम् 'अग्निजिह्वाः कल्पयामि' इति प्रयोगः । अन्यत्र 'जिह्वासंनिधिरस्तु स्वाहा' इति ॥ २६७ ॥

अथ वह्नेः परमसंस्कारकरणपूर्वमनन्तादीन् प्रकल्पयेदिति यदुपक्षिप्तं तन्निर्वाहयति—

ज्वालाग्रं तु हृदागृह्य वह्निचैतन्यकल्पितम् ॥ २६८ ॥
आत्महृत्स्थं तु सङ्कल्प्य योगपीठं तु कल्पयेत् ।
मध्यजिह्वानुसारेण अग्निनाभौ तु कन्दकम् ॥ २६९ ॥
नालं हृदवधि ध्यात्वा पद्मं तत्र विचिन्तयेत् ।

नवीं जिह्वा का कर्मोचित नाम बतलाते हैं—

मध्य में सर्वसिद्धिप्रदा (जिह्वा) रहती है ॥ २६७- ॥

चूँकि ऐसा है—

इसलिये मध्यवक्त्र में हवन करना चाहिये ॥ -२६७- ॥

इस प्रकार नाम गिनाये जाने वाली—

अग्नि की सात जिह्वाओं की कल्पना के लिये भैरवमन्त्र से पूर्ण आहुति दे । पुनः भैरव मन्त्र से ही पूर्णाहुति दे ॥ -२६७-२६८- ॥

एक जगह मूलमन्त्र का उच्चारण करने के बाद 'अग्निजिह्वाः कल्पयामि' यह प्रयोग होगा । दूसरी जगह 'जिह्वासन्निधिरस्तु स्वाहा' यह प्रयोग होगा ॥ २६७ ॥

अब वह्नि का परम (= मुख्य और अन्तिम) संस्कार करने से पहले 'अनन्त आदि की कल्पना करनी चाहिये' ऐसा जो पहले कहा गया था, उसी को बतलाते हैं—

वह्निचैतन्य के रूप में कल्पित (कुण्डस्थ अग्नि की) ज्वाला के अग्रभाग को हृदयमन्त्र से गृहीत कर उसको अपने हृदय में स्थित मानकर योगपीठ की कल्पना करे । मध्य जिह्वा के अनुसार अग्नि रूपी नाभि में

वह्निचैतन्यरूपतया कल्पितं भावितं ज्वालाग्रं हृदा हृन्मत्रेण आगृह्य नासापथेन स्वीकृत्य हृद्गतचैतन्यानलैकीभावेन भैरवीकृत्य बाह्यवह्नेः सूक्ष्मदेहस्यापि भैरवतां कर्तुं ।

'योगोऽस्य शक्तयः स्वाक्या विस्फूर्जन्ति समन्ततः' । (१।५।५)

इति मतङ्गोक्तनीत्या योगपीठम् अनन्तादिसदाशिवान्तं शक्तिरूपमासनमस्य कल्पयेत् ॥ २६९ ॥

पत्राष्टकसमोपेतं सितवर्णं सुतेजसम् ॥ २७० ॥
अनन्तं कल्पयेत्तत्र धर्मादिचरणान्तिकम् ।
ॐकारेण शिवान्तं च...............

गतार्थमेतत् ॥ २७० ॥

ततः—

.............अग्निमूर्तिं प्रकल्पयेत् ॥ २७१ ॥

कन्द एवं नाल का हृदयपर्यन्त ध्यान कर वहाँ कमल का ध्यान करना चाहिये ॥ -२६८-२७०- ॥

वह्नि चैतन्य के रूप में कल्पित = भावित, ज्वालाग्र का हृदय = हृन्मन्त्र के द्वारा, ग्रहण कर = नासिका मार्ग से स्वीकार कर, हृदय में वर्त्तमान चैतन्य रूपी अग्नि के साथ एक रूप मानकर = अग्नि को भैरव रूप मानकर, बाह्य अग्नि = हृद्गत चैतन्य की अपेक्षा बाह्य सूक्ष्म देह को भी भैरवरूप बनाने के लिये ।

'इसकी अपनी शक्तियाँ चारो ओर स्फुरित होती है ।' (१।५।५)

मतङ्ग शास्त्र में कथित इस नीति के अनुसार, योगपीठ = अनन्त से लेकर सदाशिवपर्यन्त इसका शक्तिरूप आसन कल्पित करे ॥ २६९ ॥

उसमें अष्टदल से युक्त, श्वेतवर्ण वाला, तेजस्वी, धर्म से लेकर चरण पर्यन्त (= धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य रूप ही कमल की आठ पंखुडियाँ हैं जो योगपीठ के चरण अर्थात् पाये हैं । इन पर अनन्त से लेकर सदाशिव तक आठ देवताओं के आसन की कल्पना की जाती है) अनन्त तथा ॐकार से लेकर शिव तक की कल्पना करनी चाहिये ॥ -२७०-२७१- ॥

इसका अर्थ स्पष्ट है ॥ २७० ॥

इसके बाद—

पूर्व की भाँति हंसाक्षर (= ह) से अग्निमूर्त्ति की कल्पना करे ॥-२७१ ॥

प्राग्वत् हंसाक्षरेणैव ॥ २७१ ॥

ततोऽपि—

शिखा हृदि स्थिता या तु ध्रुवेणोत्कीलयेत् पुनः ।
रेचकेण क्षिपेद् वह्नौ सा मूर्तिर्भैरवात्मिका ॥ २७२ ॥

ध्रुवेण निष्कलेन, उत्कीलयेत् स्वचैतन्यभैरवेणैकीकृतामुद्धरेत्, ततो दक्षनासापथेन बाह्यवह्निमूर्तौ क्षिपेत्, एवमेषा मूर्तिर्भैरवात्मिका भवति ॥ २७२ ॥

अथ—

मूर्तिभूतं प्रकल्प्यैवमष्टात्रिंशत्कलायुतम् ।
शोध्याध्वानं तु विन्यस्येद् दीक्षाकाले वरानने ॥ २७३ ॥

अष्टात्रिंशत्कलाः पूर्वोक्ता वक्त्रभङ्ग्याद्युपलक्षणपराः । शोध्याध्वानमिति येनाध्वना गुरुर्दीक्षां चिकीर्षति ॥ २७३ ॥

एवं कृत्वा—

भैरवं पूजयित्वा तु शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ।
वक्त्रसंधिश्च वक्त्राभ्यां शिववक्त्राग्निवक्त्रयोः ॥ २७४ ॥

इसके भी बाद—

हृदय में स्थित जो शिखा है उसको ध्रुवमन्त्र से उत्कीलित करे । तत्पश्चात् रेचक के द्वारा उसे वह्नि में फेंक दे । वह भैरवात्मिका मूर्त्ति होती है ॥ २७२ ॥

ध्रुव = निष्कल । उत्कीलित करे = अपने चैतन्यरूपी भैरव से एकीकार कर उद्धार करे । इसके बाद नाक के दायें मार्ग से बाह्यवह्नि की मूर्त्ति के ऊपर फेंके । इस प्रकार यह भैरवात्मिका मूर्त्ति बनती है ॥ २७२ ॥

इसके बाद—

हे वरानने ! अँड़तीस कलाओं से युक्त मूर्त्तिभूत (भैरव) की कल्पना कर दीक्षा के समय शोध्य अध्वा का न्यास करे ॥ २७३ ॥

अँड़तीस कलायें—जो कि पहले कही जा चुकी हैं अर्थात् वक्त्रभङ्गी आदि के उपलक्षण वाली । शोध्य अध्वा = जिस अध्वा के द्वारा गुरु दीक्षा करना चाहते हैं वह ॥ २७३ ॥

ऐसा करने के बाद—

शास्त्र वर्णित कर्म (= विधि) के अनुसार भैरव की पूजा कर वक्त्रमन्त्रों के द्वारा शिववक्त्र एवं अग्निवक्त्र की वक्त्रसन्धि बनानी चाहिये ॥ २७४ ॥

शास्त्रदृष्टेनेति यथोक्तावरणान्तं मानसेनार्घादिक्रमेण । वक्त्राभ्यामिति बह्वर्थं द्विवचनम्, तेन वक्त्रमन्त्रैरित्यर्थः । शिववक्त्रे भैरववक्त्रम्, अत्र च 'ॐ लं सद्योजाताख्यभैरववक्त्रं शिवाग्निवक्त्रेऽनुसंदधे स्वाहा' इत्यादिक्रमेण वक्त्रसंधिश्च पूर्वोक्तवक्त्रसंधिविलक्षणः कर्तव्यः ॥ २७४ ॥

किं च—

संधाय चैवं जिह्वाभ्यां.................

अन्तर्बहिर्वह्निवक्त्राणां परमेशवक्त्रैर्मन्त्रपूर्वं जिह्वानुसंधानं कृत्वा

............नाडीसंधिरतो भवेत् ।

तदाह—

मूलमन्त्रं समुच्चार्य अग्निनासाविनिर्गतम् ॥ २७५ ॥
स्थण्डिलस्थशिवालीनमेकार्थं चैव संधयेत् ।

अग्निहृदयाद्भावनया मूलमन्त्रमुच्चार्य तद्दक्षिणेन निर्गत्य स्थण्डिलेशस्य वामेन प्रविश्य दक्षिणेन निर्यायात्, इति क्रमेण सर्वावरणमन्त्रेष्वनुसंधाय अग्नेर्वामेन

शास्त्रदृष्ट के द्वारा = यथोक्त आवरणपर्यन्त मानसिक अर्घ आदि के क्रम से । 'वक्त्राभ्याम्' पद में द्विवचन बहुत अर्थ में प्रयुक्त है । इसलिये 'वक्त्राभ्याम्' का अर्थ है—वक्त्रमन्त्रैः । शिववक्त्र में भैरववक्त्र की सन्धि करे । उसका स्वरूप होगा—ॐ लं सद्योजाताख्यभैरववक्त्रं शिवाग्निवक्त्रे अनुसन्दधे स्वाहा ।' इसी क्रम से वामदेव अघोर आदि वक्त्रों की भी तत्तद् बीजमन्त्रों के उच्चारण के साथ वक्त्रसन्धि करनी चाहिये (जैसे ॐ वं वामदेवाख्यभैरववक्त्रं शिवाग्निवक्त्रे अनुसन्दधे स्वाह—इत्यादि) । यह वक्त्रसन्धि पूर्वोक्त वक्त्रसन्धियों से विलक्षण है ॥ २७४ ॥

तथा—

इस प्रकार जिह्वाओं के द्वारा वक्त्रसन्धि सम्पन्न कर ॥ २७५- ॥

आन्तरिक एवं बाह्य वह्निवक्त्रों का परमेश्वर के वक्त्रों के साथ मन्त्रोच्चारपूर्वक जिह्वानुसन्धान कर—

इसके बाद नाडीसन्धि होती है ॥ -२७५- ॥

वही कहते हैं—

मूल मन्त्र का उच्चारण कर अग्निनासा (= नाक के दायें छिद्र) से विनिर्गत तथा स्थण्डिल पर स्थिर शिव में पूर्णतया लीन एकार्थ का अनुसन्धान करना चाहिये ॥ -२७५-२७६- ॥

भावना के द्वारा अग्निहृदय से मूलमन्त्र का उच्चारण कर (= अग्नि के साथ अभिन्न नासा के) उसके छिद्र दाँये से निकल कर अर्थात् वामनासाछिद्र से श्वास

विशेत् एकार्थमित्यभिन्नं स्वच्छन्दभैरवात्मकं वाच्यदेवतारूपमित्यर्थः ॥ २७५ ॥

एवमनुसंधाय—

शुद्धाज्येनाहुतिशतमष्टोत्कृष्टं वरानने ॥ २७६ ॥
भैरवस्य तु होतव्यं वक्त्राङ्गानां दशांशकम् ।
भैरवाष्टकलोकेशान् दशमांशेन होमयेत् ॥ २७७ ॥

षट्त्रिंशत्तत्त्वानि स्थूलसूक्ष्मपरभेदादष्टोत्तरशतमिति (व्याप्त्या) (अधिश्रयणादि-द्वादश)-संस्कारै[1]रापादिताशेषविश्वमयत्वेन आज्येन अष्टोत्तरशतस्रुवहोमाद्भैरवमन्त्र-देवतां तर्पयेत् अनुग्रहाभिमुखीकुर्यादित्यर्थः । वक्त्रादीनां दशांशत्वेऽभिप्रायो जप-प्रकरणे निर्णीतोऽङ्गवद्देव्या देववदित्यन्ये ॥ २७७ ॥

अथ—

मूलमन्त्रं समुच्चार्य पूर्णामेकां प्रपातयेत् ।

का पूरण कर मन में ही मूलमन्त्र का उच्चारण करते हुए श्वास को दायें छिद्र से निकाल देना चाहिये । तत्पश्चात् स्थण्डिल के स्वामी के बायें से प्रवेश कर दायें से निकल जाना चाहिये । इसी क्रम से समस्त आवरण मन्त्रों में अनुसन्धान कर अग्नि के बाँये से प्रवेश करना चाहिये । एकार्थ = अभिन्न अर्थात् स्वच्छन्द भैरव वाला वाच्य देवतारूप ॥ २७५ ॥

इस प्रकार अनुसन्धान कर—

हे वरानने ! भैरव के लिये शुद्ध घी की एक सौ आठ आहुति देना चाहिए । उनके वक्त्राङ्गों के लिये (जप किये गये मन्त्रों के) दशांश से हवन करे । भैरवाष्टक और लोकेश के लिये जपे हुए मन्त्र के दशांश से होम करना चाहिए ॥ -२७६-२७७ ॥

छत्तीस तत्त्व ही स्थूल सूक्ष्म पर भेद से (३६×३ =) एक सौ आठ होते हैं । अधिश्रयण आदि संस्कारों से समस्त विश्वमयता जिसमें निहित की गयी है ऐसे घी के द्वारा १०८ स्रुवहोम से भैरवमन्त्र देवता को तृप्त करे = अनुग्रह की ओर उन्मुख करे । वक्त्र आदि के दशांशत्व का अभिप्राय जप प्रकरण में बताया जा चुका है । कुछ लोगों का विचार है कि भैरव के साथ रहने वाली वक्त्राङ्गवाली देवी अर्थात् भैरवी का भी होम देव अर्थात् भैरव के होम के समान करे ॥ २७७ ॥

इसके बाद—

मूलमन्त्र का उच्चारण कर एक पूर्ण आहुति (अग्नि में) देनी चाहिये ॥ २७८- ॥

---

१. द्रष्टव्य (स्व०तं० २।२३२, २३९)

सर्वमन्त्रचक्रतर्पणाय ॥

ततोऽपि प्रधानभूतमूलमन्त्रतृप्त्यर्थं द्वितीयां पूर्णां दद्यादित्याह—

भैरवाप्यायनार्थाय तथा पूर्णां प्रपातयेत् ॥ २७८ ॥

ततोऽपि—

पुनर्न्यूनातिरिक्तार्थं निश्छिद्रकरणाय च ।

मूलेन पूर्णां पातयेदिति शेषः । न्यूनातिरिक्तनिवृत्त्यर्थमेव निश्छिद्रकरणम् ॥

एवं नित्यहोमविधिं निर्वर्त्य—

पश्चाद्धोमः प्रकर्तव्यो यथेच्छं तु वरानने ॥ २७९ ॥

यथेच्छमिति नैमित्तिकः काम्यो वा ॥ २७९ ॥

अथैवं होमद्रव्यविभागं तत्तत्साधनाभिप्रायतो निर्दिशति—

सर्वकामप्रदो होमस्तिलैः शस्तो घृतान्वितैः ।

पृथक् तु—

समस्त मन्त्रचक्र के तर्पण के लिये ॥

इसके भी बाद प्रधानभूत मूलमन्त्र की तृप्ति के लिये दूसरी पूर्ण आहुति देनी चाहिये—यह कहते हैं—

उसी प्रकार भैरवमन्त्र के तर्पण के लिये दूसरी पूर्णाहुति देनी चाहिये ॥ -२७८ ॥

इसके बाद—

पुनः न्यूनाधिक्य दोष के परिहार तथा अनुष्ठान को निश्छिद्र करने के लिये ॥ २७९- ॥

मूल मन्त्र का उच्चारण कर पूर्ण आहुति देनी चाहिये । न्यूनातिरिक्त की निवृत्ति के लिये ही निश्छिद्रकरण है ॥

इस प्रकार नित्य होमविधि को सम्पन्न कर—

हे वरानने ! बाद में यथेच्छ होम करना चाहिये ॥ -२७९ ॥

यथेच्छ का अर्थ है नैमित्तिक या काम्य ॥ २७९ ॥

अब तत्तद् साधन (= सिद्धि) के उद्देश्य से हवनीय द्रव्य का विभाग बतलाते हैं—

घृत से युक्त तिल का हवन सर्वकामप्रद कहा गया है ॥ २८०- ॥

धान्यैर्धनार्थसिद्ध्यर्थं...............

आज्याक्तैरिति सर्वत्रानुषङ्गः । धनमजाविकम्, अर्थो हिरण्यादिकम् ॥

...............घृतगुग्गुलहोमतः ॥ २८० ॥
जायते विपुला सिद्धिरधमा मध्यमोत्तमा ।

तथा—

श्वेतारविन्दैराज्याक्तैः.................

होमः कार्यः ।

..........बिल्वैश्च श्रियमाप्नुयात् ॥ २८१ ॥
क्षीराक्ततिलहोमेन शान्तिकर्म वरानने ।

प्रायश्च द्रव्याणि जातभेदेन चतुर्धा स्थितानीति तैर्होमार्हैः ।

सितरक्तपीतकृष्णैः शमनाकृष्टिपौष्टिकम् ॥ २८२ ॥
मारणं च वरारोहे क्रमेण परिकल्पयेत् ।

किं च—

कुन्दपुष्पैः सुतार्थाय..............

धन एवं अर्थ की सिद्धि के लिये धान्य से हवन करे ॥ -२८०- ॥

(हवनीय द्रव्य) घृत से युक्त होना चाहिये—ऐसा सर्वत्र समझना चाहिये । धन का तात्पर्य है—बकरी भेंड़ आदि । अर्थ = सोना चाँदी आदि ।

घृत और गुग्गुल के होम से अनेक प्रकार की अधम मध्यम उत्तम सिद्धि होती है ॥ -२८०-२८१- ॥

उसी प्रकार—

घृत से युक्त श्वेत कमल से ॥ -२८१- ॥

हवन करना चाहिये ।

बिल्व से हवन करने से लक्ष्मी प्राप्त होती है और हे वरानने ! दूध मिले तिल के होम से शान्ति कर्म किया जाता है ॥ -२८१-२८२- ॥

समूह के भेद से द्रव्य प्रायः चार प्रकार के होते हैं । इसलिये होम के योग्य—

हे वरारोहे ! श्वेत रक्त पीत एवं कृष्ण वर्ण के द्रव्यों द्वारा क्रमशः शान्ति, आकर्षण, पौष्टिक एवं मारण कर्म करना चाहिये ॥-२८२-२८३-॥

तथा—

होमो भवति ॥

...............अशोकैः प्रियसङ्गमः ॥ २८३ ॥
जातिकुड्मलकैः कन्या गान्धर्वी बकुलोद्भवैः ।
नागैस्तु नागकन्या वै सिद्धार्थैः सिद्धकन्यका ॥ २८४ ॥
चण्यकैश्चाप्यप्सरसो नरेन्द्रः फल्गुषेण तु ।
घृताक्तेन वरारोहे समन्त्रो सपुरोहितः ॥ २८५ ॥
राज्ञी पुत्रसमोपेता वशं याति वरानने ।
यक्षिणी वशमायाति पुष्पैश्चैव कदम्बजैः ॥ २८६ ॥

सर्वेष्वभिमतेषु तैरित्यनुषङ्गः कार्यः । नागैरिति पुंनागैः, सिद्धार्थैः पुष्पविशेषैः । अत्र यैः पुष्पैर्होमस्तत्र तैरेवार्चनं कार्यम्, फल्गुषमिति नृमांसम् ॥ २८६ ॥

तथा

विद्याधरीं कुय्यकैश्च साधयेन्नात्र संशयः ।

कुय्यकानि कुटकाख्यानि । नात्र संशय इत्यनेन निश्चितप्रतिपत्तेः कर्म फलदं भवति, इत्याह, अत एव शिष्यलक्षणे दृढव्रत इत्येतत्साधकविषये योजितम् ॥

पुत्र प्राप्ति के लिये कुन्द पुष्प से होम होता है । अशोक के पत्र पुष्प आदि से होम करने पर प्रियव्यक्ति से मिलन होता है । चम्पा की कलियों से हवन करने पर कन्या, मौलसिरी के पुष्प से हवन करने पर गन्धर्वकन्या, नागकेशर से नागकन्या, सफेद सरसों से सिद्धकन्या, चण्यक (चना के पुष्प फल) से अप्सरा, यदि घृताक्त फल्गुष (= नरमांस) से हवन करे तो मन्त्री और पुरोहित के समेत राजा पुत्र समेत रानी सब वश में हो जाते हैं । कदम्ब के पुष्पों से हवन करने पर यक्षिणी वश में होती है ॥ -२८३-२८६ ॥

समस्त उद्दिष्ट वस्तुओं के लिये उन-उन द्रव्यों से हवन करे । नाग = पुंनाग = नागकेसर । सिद्धार्थ = पुष्पविशेष (= पीली सरसो का फूल) । जिनमें जिन पुष्पों से हवन का विधान है उन्हीं के द्वारा पूजा भी की जानी चाहिये । फल्गुष का अर्थ है—नरमांस ॥ २८६ ॥

तथा—

विद्याधरी की सिद्धि कुय्यक से करनी चाहिये इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ २८७- ॥

कुय्यक = कुटक (= एक औषधि का नाम) । 'नात्र संशयः' इस से यह कहते हैं कि निश्चित ज्ञान वाले के लिये कर्म फलप्रद होता है । इसीलिये शिष्य का लक्षण बतलाते समय साधक के विषय में 'दृढ़व्रत' शब्द कहा गया है ।

होमे हस्तसंस्थानमाह—

मृगीं बद्ध्वा तिलैर्होमः...............

प्रसृततर्जनीकनिष्ठाङ्गुलिरङ्गुष्ठमध्यमानामासंदंशात्मा मृगीबन्धः ॥

................पद्मबिल्वैरधिष्ठितम् ॥ २८७ ॥

अखण्डितैः कृत्वा जुहुयादिति शेषः ॥ २८७ ॥

भक्ष्यैर्ग्रासप्रमाणैस्तु धान्यैः प्रसृतिसम्मितैः ।

अत्र च हस्तसंनिवेशो यथोचितमनुमन्तव्यः ॥

उपसंहरति—

एवं होमानुसारेण साधको विधिसंस्थितः ॥ २८८ ॥
पूजाहोमरतो नित्यं यान् यान् कामान् समीहते ।
तांस्तान् स साधयत्येव भैरवस्य वचो यथा ॥ २८९ ॥

विधौ शास्त्रनियन्त्रिते कर्मणि सम्यक् स्थितः कामान् काम्यमानानि फलानि,

---

होम करने के विषय में हाथ के संस्थान (= मुद्रा) को कहते हैं—

मृगीमुद्रा का बन्धन कर तिल से होम करना चाहिये ॥ -२८७- ॥

तर्जनी कनिष्ठा अङ्गुष्ठ मध्यमा और अनामिका को फैलाकर सन्दंश (= संड़सी) जैसी मुद्रा मृगीबन्ध कहा जाता है ॥

कमल और बिल्व को अखण्डित (= खण्डित न कर) ही होम करना चाहिए ॥ -२८७ ॥

अखण्डित कमलों से हवन करें ॥ २८७ ॥

भक्ष्य पदार्थों का हवन करे तो ग्रासप्रमाण द्रव्य की एक आहुति होनी चाहिये । धान्य की आहुति हो तो एक प्रसृति (= पसर = अङ्गुली एवं अङ्गुष्ठ सटे हुए और करतल में गड्ढा) के बराबर (ध्यान से होम करना चाहिये) ॥ २८८- ॥

इस (= धान्य के हवन) में हाथ की मुद्रा यथोचित होनी चाहिये अर्थात् यदि हवनीय धान्य कम है तो एक प्रसृति से कम की आहुति दी जा सकती है ॥

उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार साधक विधि के अनुसार पूजा एवं होम में नित्य निरत रह कर जो जो कामना करता है उन उन के फलों को उसी प्रकार सिद्ध कर लेता है जैसे भैरव का वचन सत्य होता है ॥ -२८८-२८९ ॥

यथा भैरवस्याज्ञा स ह्यागमात्माज्ञामात्रेणैव सर्वं सम्पादयति । अथ च यथा येन सत्याभिसंधिरूपेण भैरवस्य सर्वशक्तेः, न तु परिमितस्य कस्यचिदिदं वचः, तथा तेन प्रकारेण आश्वस्तानामेष विधिरनुष्ठीयमानः साधयत्येवाभीष्टमिति शिवम् ॥ २८९ ॥

गुरुचरणसरोजामोदमत्तं मनो मे
यदिह किमपि तत्त्वं व्याकरोच्छैवशास्त्रे ।
विविधविधिरहस्यं स्यात् तदासेव्यमानं
भवहरहरधामावेशि सद्भक्तिभाजाम् ॥

॥ इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्य-व्याख्योपेतेऽर्चाधिकारो नाम द्वितीयः पटलः ॥ २ ॥

(विधिसंस्थितः की व्याख्या करते हैं—) विधि = शास्त्र के द्वारा नियन्त्रित कर्म, में संस्थित = अच्छी तरह स्थित (= दृढ विश्वास श्रद्धा एवं क्रिया वाला) । काम = काम्यमान फल । जैसे भैरव की आज्ञा-वह आगम रूपी आज्ञामात्र से ही सबका सम्पादन करते हैं । अथवा यथा = सत्याभिसन्धि रूप जिस के द्वारा सर्वशक्ति भैरव का, न कि परिमित शक्ति वाले किसी साधारण का, यह वचन है, उस प्रकार आश्वस्त लोगों के विधिवत् अनुष्ठित होने पर यह अभीष्ट की सिद्धि देता है ॥ २८९ ॥

गुरु के चरणकमल की सुगन्धि से मतवाले मेरे मन ने इस शैव शास्त्र में जिस अद्भुत तत्त्व की व्याख्या की, अनेक प्रकार के रहस्य से युक्त यह शैवशास्त्र पूर्ण रूप से सेव्यमान होता हुआ सद्भक्ति के पात्र मनुष्यों के लिये संसार का अपहरण करने वाले शिव के तेज के आवेश वाला हो ॥

॥ इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र के द्वितीय पटल 'अर्चाधिकार' की श्रीक्षेमराजविरचित स्वच्छन्दोद्योत नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ २ ॥

तृतीयः पटलः

*** स्वच्छन्दोद्योतः ***

यत्र गलत्युन्मिषितेऽशेषा संसारवासनाविस्रा ।
अधिवासोऽसौ सर्वो जयति परानन्दनिःष्यन्दी ॥

एवं प्रासङ्गिकानन्तरप्रमेयगर्भमवश्यानुष्ठेयं नित्यकर्मोक्त्वा प्राप्तनिरूपणावसरं नैमित्तिकप्रथमभूतमधिवासं निर्णेतुं भैरव उवाच—

अधिवासं प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।

देवगुरुशिष्यद्रव्याणां भाविदीक्षोचितयोग्यतात्मकसंस्कारपरिग्रहो यागगृहाधिकरणवसनं चाधिवासः स च गुरुणा कार्यः—इति तत्संस्कारोपक्रममेव तमाह—

वारिणा सुविशुद्धात्मा कृतकृत्यः प्रसन्नधीः ॥ १ ॥
भस्मोद्धूलितदेहस्तु मुद्रालङ्कारभूषितः ।

*** ज्ञानवती ***

जिसके उन्मिषित होने पर समस्त सांसारिक वासनाओं की गन्ध नष्ट हो जाती है, परानन्द से निसृत होने वाला वह समस्त अधिवास सर्वोत्कृष्ट हैं ॥

प्रसङ्गतः प्राप्त प्रमेय को गर्भ में रखने वाले अवश्य अनुष्ठेय नित्य कर्म का वर्णन कर निरूपण के लिये उपस्थित नैमित्तिक कर्म के प्रथम अंशभूत अधिवास का निर्णय करने के लिये भैरव ने कहा—

(अब मैं) अधिवास को क्रमशः एवं यथास्वरूप कहूँगा ॥ १- ॥

अधिवास का अर्थ है—देव गुरु शिष्य एवं द्रव्यों का भावी दीक्षोचित योग्यता वाले संस्कार का किया जाना तथा यागगृह रूपी आश्रय में निवास । चूँकि वह गुरु के द्वारा करणीय होता है इसलिये उस (= गुरु) के संस्कार को पहले कहने के बाद उसे कहेंगे—

गुरु जल के द्वारा अपने को भली प्रकार शुद्ध कर नित्य कर्म को सम्पन्न कर, बाह्य इच्छारहित, भस्म से शरीर को उपलिप्त कर, मुद्रा,

जिह्मजेनोपवीतेन सवासा वा दिगम्बरः ॥ २ ॥
सुगन्धिगन्धलिप्ताङ्गः पुष्पस्त्रग्दामभूषितः ।
दिव्याभरणसंपन्नः सुप्रसन्नः सुभावितः ॥ ३ ॥
सुधूपितः सुताम्बूलश्चन्दनागुरुचर्चितः ।

आत्मा शरीरं मनश्च । कृत्यं संध्यावन्दनादि, अथ च कृतकृत्यः परभैरवैक्यपरिपूर्णः, तत एव प्रसन्ना त्यक्तबाह्याभिलाषा धीः यस्य । मुद्रालङ्कारभूषितः शिखाकर्णप्रकोष्ठप्रतिष्ठापितपञ्चमुद्रः । जिह्मः शवः तज्जेन तत्केशजेन । एतच्च यथायोगं गृहस्थनैष्ठिकाचार्यविषयं व्याख्येयम् । सुगन्धि इत्यादिना इदमाह—यस्य स्वभावेन शिवभावनापरत्वं नास्ति, स बाह्योपचारेणापि चेतः प्रसाद्य सुभावितः शिवावेशोन्मेषमयः स्यात् । यतः—

'न चावज्ञा क्रियाकाले संसारोद्धरणं प्रति ।
मन्त्रदानव्रतादेशशिष्यध्रुङ् नारकी भवेत् ॥'

इत्याम्नातम् ॥

किं कुर्यादित्याह—

रूपी आभूषण से अलङ्कृत, शव के केश द्वारा निर्मित यज्ञोपवीत धारण किये हुए, वस्त्रयुक्त अथवा नग्न, शरीर में सुगन्धित द्रव्य का लेप किये हुए, फूलों की माला पहने, दिव्यालङ्कारयुक्त, प्रसन्नचित्त, सुन्दर भावना से युक्त, धूप से धूपित, मुख में ताम्बूल लिये हुए, चन्दन एवं अगर से सुशोभित हो जाय ॥ -१-४- ॥

आत्मा = शरीर और मन । कृत्य = सन्ध्या वदन आदि और कृतकृत्य = परभैरव के ऐक्य से परिपूर्ण । इस कारण प्रसन्न = परित्यक्त हो गयी है बाह्य अभिलाषा रूपी बुद्धि जिसकी वह । मुद्रालङ्कारभूषित = शिखा, कान एवं प्रकोष्ठ में पाँच मुद्राओं को प्रतिस्थापित करने वाला । जिह्म = शव, उससे उत्पन्न केश से बने हुए । इस यज्ञोपवीत को गृहस्थ एवं नैष्ठिक आचार्य को उनकी योग्यता के अनुसार धारण करने की व्याख्या करनी चाहिये । 'सुगन्धि' इत्यादि के द्वारा यह कहते हैं कि जो स्वभावतः शिवभावना युक्त नहीं है वह बाह्य उपचार से भी चित्त को प्रसन्न कर, सुभावित = शिवावेश के उन्मेष से परिपूर्ण हो जाय । क्योंकि—

'क्रिया के करने के समय संसार के उद्धरण के प्रति उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । मन्त्र का दान उसके लिये व्रत के आदेश से एवं शिष्य से द्रोह करने वाला गुरु नरकगामी होता है ।'

ऐसा कहा गया है ॥

क्या करना चाहिये—यह कहते हैं—

मखद्वारप्रदेशे तु स्थित्वा प्रागिव भावितः ॥ ४ ॥
द्वाराध्यक्षान् पूजयित्वा पुष्पप्रक्षेपणं ततः ।
हुंफट्कारप्रयोगेण तालाशब्दं विधाय च ॥ ५ ॥
पार्ष्ण्यधोहस्तसंयोगाद्विघ्नप्रोच्चाटनाय वै ।
पार्ष्ण्या भूमिगतान् हन्यात्तालया चान्तरिक्षगान् ॥ ६ ॥
मन्त्रैर्दिव्यान् विशोध्यैवं यागहर्म्यं विशेत्ततः ।

पुष्पप्रक्षेपणं तालाशब्दं विघ्नप्रोच्चाटनाय पार्ष्ण्या अधोभूमिसंयोगात् हस्तसंयोगाच्च विधायेति विदधद्विशेदिति योजना । अन्तरिक्षं भुवोलोकः । स्पष्टमन्यत् ॥ ६ ॥

अथ—

रक्षां पूर्ववदस्त्रेण परितः परिकल्पयेत् ॥ ७ ॥
वर्मणा मायारूपेणाच्छाद्यैव तु मखालयम् ।
ततो दक्षिणदिग्भागे उपविश्य वरानने ॥ ८ ॥
करन्यासं यथापूर्वं दहनोत्पूयने तथा ।
प्लावनाप्यायने चैव सकलीकरणं तथा ॥ ९ ॥
पूर्ववन्मानसं यागमन्तर्देहे समाचरेत् ।

यज्ञमण्डप के द्वार पर पूर्व की भाँति सुभावित होकर द्वारपालों का पूजन करे तत्पश्चात् पुष्प का प्रक्षेपण करे । विघ्नों को हटाने के लिये 'हुं फट्' का उच्चारण कर हाथों से ताली बजाकर पैर की एड़ी और हाथ को नीचे कर भूमि से संयुक्त करे । एड़ी के द्वारा भूमिगत, ताली के द्वारा अन्तरिक्षस्थ और मन्त्रों के द्वारा दिव्य विघ्नों का शोधन कर फिर यागगृह में प्रवेश करे ॥ -४-७- ॥

पुष्प का प्रक्षेपण और ताली का बजाना विघ्नों को हटाने के लिये किया जाता है । पार्ष्णि से अधोभूमि के संयोग और दोनों हाथों के संयोग के द्वारा विघ्ननाश करके अर्थात् करते हुए—ऐसा अन्वय है । अन्तरिक्ष = भुवर्लोक । शेष स्पष्ट है ॥

इसके बाद—

पूर्व की भाँति अस्त्र मन्त्र से चारो ओर रक्षा करनी चाहिये । फिर मायारूपी कवच मन्त्र से यागगृह को आच्छादित करे ।

हे वरानने ! इसके बाद यज्ञगृह में दक्षिण दिशा की ओर बैठ कर पूर्व की भाँति करन्यास, दहन, उत्पूयन प्लावन, आप्यायन, सकलीकरण तथा अपने देह के भीतर पूर्ववत् मानसिक याग करे ॥ -७-१०- ॥

परित इति अस्त्रप्राकाररूपाम्, मायारूपेण इति माया हि कलातत्त्वान्ताशेषाच्छादिका दुर्भेदा चेति तद्रूपेण । शिष्टं निर्णीतपूर्वम् ॥ ९ ॥

अन्तर्यागे प्रागुक्तं विधिं स्मारयति—

शक्त्याधारमनन्तं च धर्मादिचरणावधि ॥ १० ॥
गात्रकाणि त्वधर्माद्यास्तथा संधानकीलकान् ।
अधश्छादनमूर्ध्वं च पद्मकेसरकर्णिकाः ॥ ११ ॥
पुष्कराणि च शक्तीश्च मण्डलान् मण्डलाधिपान् ।
शिवान्तमासनं दद्यात् पूर्वरूपं ध्रुवेण तु ॥ १२ ॥
मूर्तिब्रह्मकलाव्यूहं नवतत्त्वं त्रितत्त्वकम् ।
द्वात्रिंशदक्षरं देवं भैरवाष्टकमेव च ॥ १३ ॥
विद्याङ्गानि तथा देवीं क्षुरिकां लोचनत्रयम् ।
शक्तित्रयं परं देवमङ्गषट्कसमन्वितम् ॥ १४ ॥

निर्णीतं चैतत् । नैमित्तिकेऽपि सर्वमेतत् कार्यमिति पुनः पाठेऽभिप्रायः ॥ १४ ॥

अपि च—

मुद्रामन्त्रांश्च द्रव्याणि यथास्थानं प्रकल्पयेत् ।

चारो ओर = अस्त्र की चहारदीवारी । मायारूप से = माया = कलातत्त्वपर्यन्त सबकी आच्छादिका और दुर्भेद्य तत्त्व, उस रूप वाली । शेष पहले ही बतलाया जा चुका है ॥ ९ ॥

अन्तर्याग के विषय में पूर्वोक्त विधि का स्मरण कराते हैं—

शक्त्याधार, अनन्त, धर्म आदि चरण पर्यन्त, अधर्म आदि शरीर, सन्धानकीलक, अधश्छादन, ऊर्ध्वछादन, पद्म, केशर, कर्णिका, पुष्कर, शक्तिसमूह, मण्डलसमूह, मण्डलाधिपगण, शिव तक पूर्व की भाँति ध्रुव मन्त्र से आसन देना चाहिये । मूर्त्ति ब्रह्म कला का समूह, नव तत्त्व, तीन तत्त्व, बत्तीस अक्षर वाले भैरव, भैरवाष्टक, विद्याङ्ग, क्षुरिका देवी, तीन नेत्र, तीन शक्ति और छः अङ्गों से युक्त परमदेव की कल्पना करनी चाहिये ॥ -१०-१४ ॥

इसको पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है । फिर से उन सबको पढ़ने का अभिप्राय यह है कि नैमित्तिक कार्य में भी यह सब करना चाहिये ॥ १४ ॥

तथा—

मुद्राओं, मन्त्रों और द्रव्यों की भी यथास्थान कल्पना करनी चाहिये ॥ १४- ॥

आवाहनस्थापनसंनिधाननिरोधनादिरूपा मुद्राः, आसनतो भैरवान्तान् मन्त्रान्, पाद्याचमनीयार्घादीनि द्रव्याणि । यथास्थानमिति पूर्वोक्तया नीत्या ॥

तदेतत्सर्वम्—

सङ्कल्प्य च यथान्यायं यथायोगं प्रकल्पयेत् ॥ १५ ॥

यथायोगं यथाक्रमं यो यो न्यायो निरूपितव्याप्त्यनुसरणं तदनतिक्रमेणेत्यर्थः ॥ १५ ॥

अथावरणन्यासमपि स्मारयति—

सद्योजातं च वामं च अघोरं च यदुक्तवान् ।
पुरुषेशौ च देवस्य दलस्थांश्चोपकल्पयेत् ॥ १६ ॥
हृदयादींस्ततः पञ्च दिशासु विदिशासु च ।

उक्तवानहमित्यर्थः । दिशास्वित्यादिरैशः पाठः ॥ १६ ॥

किं च—

पूर्वतो यावदीशान्तं भैरवावरणं बहिः ॥ १७ ॥

आवाहन, स्थापन, सन्निधान निरोधन (= तिरोधान) आदि मुद्राओं, आसन से लेकर भैरव पर्यन्त मन्त्रों तथा पाद्य अर्घ आचमन आदि द्रव्यों की कल्पना करे । यथास्थान = पूर्वोक्त विधान के अनुसार करने चाहिये ॥

इन सब की—

'मन में' कल्पना कर न्याय एवं युक्ति क्रम के अनुसार रखना चाहिये ॥ -१५ ॥

यथायोग = यथाक्रम । जो जो न्याय है = निरुपित व्याप्ति का अनुसरण है उसको अतिक्रान्त न करके ॥ १५ ॥

अब आवरणन्यास का भी स्मरण कराते हैं—

सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान की भैरवरूपी कमल के तत्तत् दलों में बैठे हुए रूप में कल्पना करे । इसके बाद हृदय आदि पाँच की कल्पना करे । इन सबकी कल्पना दिशाओं और विदिशाओं में करे ॥ १६-१७- ॥

ऐसा मैंने कहा है । दिशासु विदिशासु यह ऐश्वर पाठ है । (लौकिक संस्कृत में दिक्षु विदिक्षु पाठ होता है) ॥ १६ ॥

और भी—

बाहर पूर्व से लेकर ईशान कोण पर्यन्त भैरवों के आवरण की तथा

लोकपालांस्तदस्त्राणि पूर्वादीशान्तकावधि ।

परिकल्पयेदित्यनुषज्यते ॥ १७ ॥

मन्त्रसंधानमाह—

अस्त्राणि लोकपालांश्च भैरवाष्टकमेव च ॥ १८ ॥
पञ्चब्रह्माण्यथाङ्गानि एतान्यावरणानि हि ।
क्रमेणोच्चारयेत् सर्वान्यावत्तद्गर्भमैश्वरम् ॥ १९ ॥
मन्त्रसंधानमेतद्धि................

'शूलहस्तायेशानाय नमः' इति प्रातिलोम्यक्रमेण सकलान्तमुत्तरोत्तरलीनताक्रमेणोच्चारणं मन्त्रसंधानम् 'पञ्चब्रह्माण्यथाङ्गानि' इति प्रातिलोम्यक्रमेऽप्यानुलोम्येन पाठो वक्त्राङ्गानामेकावरणहेतुतया, इति त्र्यावरणोऽयं क्रमः ॥ १९ ॥

अथ—

..............परमीकरणं शृणु ।
उच्चारयेत्ततो देवं ह्रस्वदीर्घप्लुतान्वितम् ॥ २० ॥
तावदुच्चारयेन्मन्त्रं यावन्निर्वाणगोचरम् ।

पूर्व से लेकर ईशान कोण तक लोकपालों एवं उनके अस्त्रों की कल्पना करनी चाहिये ॥ -१७-१८- ॥

अब मन्त्र सन्धान को कहते हैं—

अस्त्र, लोकपाल, भैरवाष्टक, पाँच ब्रह्म, उनके अङ्ग आवरण, और उनको अन्दर रखने वाले ईश्वर सम्बन्धी मन्त्रों का क्रम से उच्चारण करे । यह मन्त्रसन्धान है ॥ -१८-२०- ॥

'शूल हस्ताय ईशानाय नमः' इस प्रकार उल्टे क्रम[1] से सकल पर्यन्त उत्तरोत्तर लीनता के क्रम से उच्चारण करना मन्त्रसन्धान है । 'पञ्च ब्रह्माणि अथाङ्गानि' ऐसा सीधा क्रम होने पर उल्टे क्रम से पाठ, वक्त्राङ्ग एक आवरण के हेतु हैं इस कारण हैं । इस प्रकार यह क्रम तीन आवरणों वाला है (पहले प्रतिलोम क्रम तत्पश्चात् अनुलोम पुनः प्रतिलोम क्रम से उच्चारण करने पर तीन आवरण बनते हैं) ॥ १९ ॥

अब परमीकरण को सुनो । इसके बाद ह्रस्व दीर्घ प्लुत से युक्त देव

---

१. पहले अस्त्र फिर लोकपाल फिर भैरवाष्टक यह अनुलोम क्रम है । भैरवाष्टक, लोकपाल, अस्त्र यह प्रतिलोम क्रम है इसी प्रकार पञ्च ब्रह्म फिर अङ्ग यह अनुलोम क्रम और अङ्ग पुनः पञ्च ब्रह्म यह प्रतिलोम क्रम है । जैसे—ॐ ईशानाय नमः ॐ तत्पुरुषाय स्वाहा इत्यादि ।

देवं द्योतनादिसतत्त्वं श्रीनिष्कलम् । ह्रस्वेत्यादि,

'ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्मं परं शिवम्' (६।४)

इति पञ्चप्रणवाधिकारे वक्ष्यमाणस्थित्या अकारोकारमकारबिन्दुनादवर्णकलासु ह्रस्वादिमात्रारूपासु वक्ष्यमाणव्याप्त्यनुसारेण विश्रम्य निर्वाणगोचरं द्वादशान्तं यावन्मन्त्रमुच्चारयेदित्यर्थः ॥ २० ॥

अत्रैवेतिकर्तव्यतां पूरयति—

अधःशक्तेर्यावदूर्ध्वं सोमसूर्यपथान्तरा ॥ २१ ॥
पिङ्गलामध्यमार्गेण वर्णोच्चारक्रमेण तु ।
देवतापञ्चकं शक्तिं व्यापिनीं समनोन्मने ॥ २२ ॥.
भेदयित्वा क्रमात् सर्वं यावद्वै निधनान्तिकम् ।
निस्तरङ्गं निरध्वाख्यं सकलव्यापि चोन्मनम् ॥ २३ ॥

वक्ष्यमाणदिव्यकरणक्रमेण अध इति कन्दात् प्राणशक्तिं हृदयं प्रापय्य वामदक्षिणवाहमध्ये पूर्वनिर्णीतदिशा पिङ्गलानाम्ना मध्यमार्गेणाकारोकारादीन् नादपर्यन्तं

(= भैरव मन्त्र) का उच्चारण करना चाहिए । मन्त्र का उच्चारण तब तक करना चाहिये जब तक कि निर्वाण (= द्वादशान्त) तक न प्राप्ति हो जाय ॥ -२०-२१- ॥

देव = द्योतन आदि करने वाले श्रीनिष्कल देव । ह्रस्व—

'परम शिव ह्रस्व दीर्घ प्लुत सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म है ।' (६।४)

इस प्रकार पञ्चप्रणव अधिकार में कही जाने वाली स्थिति के अनुसार अकार उकार मकार बिन्दु. नाद वर्ण कला जो कि ह्रस्व आदि मात्राओं वाली है, में वक्ष्यमाण व्याप्ति के अनुसार विश्राम कर निर्वाणगोचर = द्वादशान्त पर्यन्त मन्त्र का उच्चारण करे ॥ २० ॥

यहीं पर इतिकर्त्तव्यता को बतलाते हैं—

अधः शक्ति से लेकर ऊर्ध्व सोमसूर्य मार्गों के बीच पिङ्गला नामक मध्य मार्ग से वर्ण अकार उकार आदि वर्णोच्चार के क्रम से ब्रह्मा आदि (= विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव) पाँच देवताओं, शक्ति व्यापिनी समना उन्मना का क्रम से भेदन कर तब तक उच्चारण करना चाहिये जब तक कि निस्तरङ्ग, अध्वारहित, सर्वव्यापी उन्मना वाला निधनान्तिक अर्थात् द्वादशान्त पद न प्राप्त हो जाय ॥ -२१-२३ ॥

वक्ष्यमाण दिव्यकरण के क्रम से अधः = कन्द (= मूलाधार) से लेकर प्राण शक्ति को हृदय में ले जाना चाहिये । वहाँ से पहले बतलायी गयी नीति से वाम

ह्रस्वादिरूपवर्णोच्चारक्रमेण ब्रह्मादिसदाशिवान्तं देवतापञ्चकं तदुपरितनसुसूक्ष्मतममन्त्रांशैश्च शक्त्याद्युन्मनान्तं भेदयित्वा, ग्रन्थिरूपताविदारणयुक्त्या परावाग्रूपमन्त्रपरामर्शं शेषं कुर्वन् निधनान्तिकं सर्वोपशान्तिपदं द्वादशान्तं यावत् मन्त्रमुच्चारयेदित्यर्थः । कीदृशं निधनान्तिकम् ? तरङ्गेभ्यो भेदकल्लोलेभ्यो निष्क्रान्तम्, निष्क्रान्ता उल्लसिता वर्णमन्त्राद्याध्वनामाख्याः प्रथा यतस्तादृशम्, तथा सकलस्याशेषस्य व्यापकम् । ईदृशं कथमेकं वस्तु भवतीत्याह—उन्मनम् मननं सर्वं सङ्कुचितं संवेदनमुत्क्रम्य स्थितं स्वतन्त्रमित्यर्थः ॥ २३ ॥

अथ—

तदध्यास्य.................

तन्निष्कलं तत्त्वं गाढावष्टम्भेन किंचित्कालं समाविश्य ।

दक्षिण नासाप्रवाह के बीच में स्थित पिङ्गला नामक मध्य मार्ग (= सुषुम्ना) से अकार उकार से लेकर नाद पर्यन्त ह्रस्व आदि रूप वर्णोच्चार के क्रम से ब्रह्मा से लेकर (विष्णु रुद्र ईश्वर एवं सदाशिव पर्यन्त पाँच देवताओं का एवं उनके ऊपर स्थित सुसूक्ष्मतम मन्त्रांशों के द्वारा शक्ति से लेकर (व्यापिनी समना) उन्मना तक के स्तरों का भेदन कर ग्रन्थिरूपता के विदारण की युक्ति से सबको परावाक् रूप मन्त्रपरामर्श के रूप में अवशिष्ट बना कर निधनान्तिक = समस्त उपद्रवों से रहित शान्तियुक्त द्वादशान्त, पर्यन्त मन्त्र[1] का उच्चारण करना चाहिये । निधनान्तिक कैसा है—(यह बतलाते हैं—) तरङ्गों = भेद कल्लोलों, से परे हैं । उसमें से वह वर्ण मन्त्र पद आदि अध्वाओं के निष्क्रमण = उल्लसन, का स्रोत है तथा सबको व्याप्त करने वाला है । एक ही वस्तु इस प्रकार की कैसे हो जाती है—यह बतलाते हैं—क्योंकि वह उन्मन = मनन = सर्व सङ्कुचित संवेदन को उत्क्रान्त कर स्थित है अर्थात् स्वतन्त्र है (इसलिये एक होने पर भी अनेक रूप वाला हो जाता है) ॥ २३ ॥

इसके बाद—

उसको अध्यासित कर ॥ २४- ॥

उसको = निष्कल तत्त्व को, (अध्यासित कर =) गाढ़ अवष्टम्भ के द्वारा थोड़ी

१.

चक्र	मन्त्र	देवता
१. मूलाधार	लं	ब्रह्मा
२. स्वाधिष्ठान	वं	विष्णु
३. मणिपूर	रं	रुद्र
४. अनाहत	यं	ईश्वर
५.. शाकिनी (विशुद्ध)	हं	सदाशिव
६. आज्ञा	ॐ	शिव (पृथक्) शक्ति (पृथक्)

...........आनुलोम्येन हृत्पद्मे विनिवेशयेत् ।

द्वादशान्तात् प्रभृति तत्त्वं च—

'समना उन्मना चैव' (११।२९)

इत्यादिवक्ष्यमाणदृष्ट्या मन्त्रप्रमेयसृष्टिक्रमेणावरुह्य हृत्पद्मप्रतिष्ठापितसकल-भट्टारकव्यापकत्वेन भावयेत् ॥

किं च—

सर्वेष्वावरणेष्वेवं देवि तद् व्यापकं न्यसेत् ॥ २४ ॥

एवमिति एकेनैव प्रयत्नेन ॥ २४ ॥

तेन चाधिष्ठिताः सर्वे सर्वकामफलप्रदाः ।

तद्रश्मिपुञ्जात्मकत्वात् सकलादिमन्त्राणाम् । चो ह्यर्थे ॥

अत्र पूर्वोक्तं ध्यानादि स्मारयति—

यथा स्वरूपसंस्थानवर्णा ये कथिता मया ॥ २५ ॥
तथा ते विनियोक्तव्या मानसे मानसेन तु ।

देर तक समावेशित कर अनुलोम क्रम से हृदयकमल में विनिवेशित करे ।

द्वादशान्त से लेकर—

'समना और उन्मना............' (११।२९)

इस वक्ष्यमाण रीति से समस्त तत्त्वों तक मन्त्र के द्वारा प्रतिष्ठापित सकल-भट्टारक के व्यापक के रूप में भावना करनी चाहिये ॥

तथा—

हे देवि ! इस प्रकार समस्त आवरणों में उस व्यापक का न्यास करना चाहिये ॥ -२४ ॥

इस प्रकार = एक ही प्रयत्न से ॥ २४ ॥

उसके (= सकल भट्टारक के) द्वारा अधिष्ठित समस्त मन्त्र समस्त कामनाओं को पूर्ण करने वाले होते हैं ॥ २५- ॥

क्योंकि समस्त मन्त्र उसकी रश्मिसमूह रूप हैं ॥

यहाँ पर पूर्वोक्त ध्यान आदि का स्मरण कराते हैं—

मेरे द्वारा जिस प्रकार के स्वरूप और जिस प्रकार के संस्थान वाले वर्ण कहे गये हैं । मानसिक यज्ञ में मन के द्वारा उनका उसी प्रकार विनियोग करना चाहिये ॥ -२५-२६- ॥

स्वरूपं मूलं ब्रह्माङ्गादिरूपम्, संस्थानम् आकृतिः, वर्णः सितादिः कथिता इति द्वितीये पटले । मानस इति यागे, मानसेन चित्तेन ॥ २५ ॥

ततश्च—

कर्णिकायां तु संस्थाप्य द्विधावस्थं च भैरवम् ॥ २६ ॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं सर्वमन्त्रैरलङ्कृतम् ।

द्विधा सकलनिष्कलभावेन, अवस्था अनुग्राह्यानुग्रहाय स्वस्वातन्त्र्येणा-वस्थितिर्यस्य, सकलं सिताकारं निष्कलं तु प्रकाशमात्रतत्त्वम् अलङ्कृतम् इति रश्मिपरिवृतम् । एवं द्वात्रिंशदक्षरापेक्षया यद्यपि मूलमन्त्रस्य निष्कलत्वं तथाप्यका-रादिकलोच्चारे सति सकलत्वमप्यस्तीति ॥ २६ ॥

यत्सत्यतो निष्कलं तत्त्वं तन्निर्दिशति—

तत्रापि परतो ज्ञेयमनिर्देश्यमनामयम् ॥ २७ ॥

तत्र तयोः सकलनिष्कलयोरुपरि परतः परं परिपूर्णेन रूपेण भैरवस्वरूपं ज्ञेयम्, स्वतः प्रकाशमानं प्रत्यभिज्ञेयमित्यर्थः । यतस्तद् अनिर्देश्यम् इदन्ताया न विषयो यस्मात्, अनामयं सूक्ष्मतमेनापि आमयेनाख्यात्यात्मकमहामायास्पर्शेन

स्वरूप = मूल ब्रह्माङ्ग आदि । संस्थान = आकृति । वर्ण = शुक्ल आदि जो कि द्वितीय पटल में कहे गये हैं । मानस में = मानसिक याग में । मन से = चित्त से ॥ २५ ॥

इसके बाद—

दो प्रकार से वर्तमान, शुद्ध स्फटिक के समान कान्तिवाले तथा सब मन्त्रों से अलङ्कृत भैरव को कर्णिका में स्थापित करना चाहिये ॥ -२६-२७- ॥

दो प्रकार से = सकल निष्कल भाव से, अवस्था = अनुग्राह्य के ऊपर अनुग्रह करने के लिए अपने स्वातन्त्र्य के अनुसार स्थिति । सकल = श्वेत आकार वाले । निष्कल = प्रकाशमात्रस्वरूप । अलङ्कृत = रश्मियों से घिरे हुए । इस प्रकार मूलमन्त्र यद्यपि बत्तीस अक्षरों की अपेक्षा निष्कल है तथापि अकार आदि कलाओं का उच्चार होने पर यह सकल भी है ॥ २६ ॥

जो सचमुच निष्कल तत्त्व है उसका भी निर्देश करते हैं—

उसके भी परे पर तत्त्व को अनिर्देश्य और अनामय समझना चाहिये ॥ -२७ ॥

उसके = उन दोनों सकल निष्कल के ऊपर परतः = परम परिपूर्णरूप से भैरव स्वरूप को, जानना चाहिये = स्वतः प्रकाशमान समझना चाहिये क्योंकि वह अनिर्देश्य है = इदन्ता का विषय नहीं है । अनामय है = सूक्ष्मतम भी आमय

शून्यम् ॥ २७ ॥

तथा च—

यत्र नास्ति द्विधाभावः.........

निष्कलसकलाद्यशेषसामरस्यात्मकत्वात् ॥

..........न (च)मन्त्रादिकल्पना ।
ॐकारबिन्दुनादानां विलयं तं विनिर्दिशेत् ॥ २८ ॥

सर्वमन्त्रप्रमेयविश्रान्तिपदं तज्जानीयादित्यर्थः । यद्वक्ष्यति—

'यावदुच्चार्यते वाचा यावल्लेख्येऽपि तिष्ठति।
तावत् स सकलो ज्ञेयः ।' (७।२३९) इति ।

तथा—

'अक्षरेषु कुतो मोक्षः परं तत्त्वमनक्षरम् ।' (७।२३८)

इति ॥ २८ ॥

अतश्च—

तत्स्थानं दुर्लभं मत्वा संभवेन्न कदाचन ।

अर्थात् अख्यात्यात्मक महामाया के स्पर्श से शून्य है ॥ २७ ॥

तथा—

जहाँ न तो द्विधा भाव है ॥ २८- ॥

क्योंकि वह निष्कल सकल आदि समस्त सामरस्य रूप है ॥

और न मन्त्र आदि की कल्पना है, उसे ॐकार बिन्दु नाद का विलयस्थान समझना चाहिये ॥ -२८ ॥

उसे समस्त व मन्त्रों एवं प्रमेयों का विश्रामस्थान समझना चाहिये । जैसा कि कहेंगे—

'जब तक वाणी से उसका उच्चारण होता है और जब तक उसका लेखन होता है तब तक उसको सकल समझना चाहिये ।' (७।२३९)

तथा

'अक्षरों में मोक्ष की सम्भावना कहाँ ? पर तत्त्व तो अनक्षर है' ॥ २८ ॥ (७।२३८)

इसलिए—

उस (= निष्कल) स्थान को दुर्लभ समझ कर कभी भी उसको

यस्य नाग्रं च मूलं च न दिशो विदिशस्तथा ॥ २९ ॥
न शब्दो नापि चाकाशं ध्यात्वा तत्तु विमुच्यते ।

तिष्ठत्यस्मिन् सर्वमिति स्थानम् । आकृतिशून्यत्वाद् मूलाग्राद्यभावः, वर्णात्मकमन्त्ररूपशून्यत्वान्न शब्द इत्युक्तम् । एवमपि न तच्छून्यमित्याशयेनोक्तं नाकाशमिति । ध्यात्वा इति अकृतकाहंविमर्शविश्रान्त्या समाविश्य विमुच्यते जीवन्मुक्तिराप्यते ॥ २९ ॥

तदित्थम्—

प्रथमं मानसं यागं पश्चाद् द्रव्यसमन्वितम् ॥ ३० ॥
य एवं सततं कुर्याद् दैशिको यागतत्परः ।
स्वहस्ते स्थण्डिले लिङ्गे मण्डले चरुके तथा ॥ ३१ ॥
जले चाग्नौ च संपूज्य सम्यग् दीक्षाफलं लभेत ।

मानस्य प्राथम्यं शिवीभावं विना शिवयागेऽधिकाराभावादित्युक्तत्वात्, देशिक उपदेशप्रयोजन आचार्यः । सततमिति नित्यार्चारतत्वात् । स्वहस्ते इति शिवहस्तदानावसरे, स्थण्डिल इत्यधिवासमये, लिङ्गे इति

सम्भावित नहीं करना चाहिये (= उसके लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये) । जिसका न अग्र भाग है, न मूल, न दिशायें न विदिशायें । जो न शब्द है न आकाश । उसका ध्यान कर साधक मुक्त हो जाता है ॥ २९-३०- ॥

स्थान का अर्थ है—जिसमें सब कुछ स्थित हो । निराकार होने से उसके मूल आदि का अभाव है । वर्णात्मक मन्त्र रूप से शून्य होने के कारण वह शब्द नहीं है—यह कहा गया । ऐसा होने पर 'वह शून्य नहीं है' इस आशय से कहा गया कि 'वह आकाश नहीं है ।' ध्यान कर = स्वाभाविक अहंविमर्श में विश्रान्ति के द्वारा समावेश का लाभ कर । मुक्त होता है = जीवन्मुक्ति प्राप्त करता है ॥ २९ ॥

तो इस प्रकार—

पहले मानसिक याग करे फिर स्थूल द्रव्यों से युक्त बाह्य याग करे। याग में तत्पर जो आचार्य सर्वदा ऐसा करता है, वह स्वहस्त, स्थण्डिल, मण्डल, चरु, जल और अग्नि में (उस निष्कल की) पूजा कर दीक्षा का फल भली प्रकार प्राप्त करता है ॥ -३०-३२- ॥

मानस याग पहले इसलिये किया जाता है क्योंकि बिना शिवीभाव के बाह्य शिवयाग में किसी का अधिकार नहीं होता—ऐसा कहा जा चुका है । दैशिक = उपदेश देने वाला आचार्य । निरन्तर—क्योंकि यह नित्य अनुष्ठान में संलग्न रहता है । स्वहस्त में = शिवहस्तदान के अवसर पर । स्थण्डिल में = अधिवासन के समय लिङ्ग में—

'लिङ्गशब्देन विद्वांसः सृष्टिसंहारकारणम् ।'

इत्यादिनिरुक्तेः प्रस्तावोचितशिष्यचैतन्ये बाह्येऽपि वा बाणादिरूपे भाक्ते, मण्डले इति वक्ष्यमाणरूपे, चरुके हविर्विशेषात्मनि, जले कलशस्थे, वह्नौ पाशदाहके । दीक्षायाः फलं शिष्याणां भैरवात्मकस्वरूपप्रत्यभिज्ञानम् लभेत तत्र हेतुकर्तृकत्वसामर्थ्यमासादयत्येव । एवं च सर्वथा शिवीभावात्मकमानसयागपूर्वं बाह्ययागं निर्वर्तयेत् ॥ ३१ ॥

अन्यथा—

अकृत्वा मानसं यागं योऽन्यं यागं समारभेत् ॥ ३२ ॥
अशिवः स तु विज्ञेयो न मोक्षाय विधीयते ।

अशिव इति मानसयागकार्यशिवीभावाभावात् तथाभूतश्च पशुर्मोक्षाय न विधीयते तदर्थमधिक्रियते इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

यतः—

आत्मयागे कृते चैव देहशुद्धिः प्रजायते ॥ ३३ ॥

'विद्वान् लोग लिङ्ग शब्द से सृष्टिसंहारकारण का ग्रहण करते हैं ।'

इत्यादि कथन से प्रस्ताव के लिए उचित शिष्यचैतन्य में अथवा बाहर बाण आदि रूपी लाक्षणिक लिङ्ग में । मण्डल में, इसका निरूपण आगे किया जायेगा । चरुक = विशेष प्रकार का हविष्यान्न । जल जो कि कलश में वर्त्तमान है उसमें । वह्नि में—पाशदाहक वह्नि में । दीक्षा का फल = शिष्यों को उनके अपने भैरवात्मक रूप की प्रत्यभिज्ञा । प्राप्त करता है = तद्विषयक हेतु एवं कर्तृकत्व का सामर्थ्य प्राप्त करता ही है । इस प्रकार बाह्य याग को सर्वथा शिवीभावात्मक मानस याग के बाद करना चाहिये ॥ ३१ ॥

अन्यथा—

मानस याग को सम्पादित किये बिना जो व्यक्ति अन्य याग का प्रारम्भ करता है उस व्यक्ति (अथवा याग) को अशिव समझना चाहिये । वह मोक्ष के लिये समर्थ नहीं होता अर्थात् न तो वह व्यक्ति अधिकारी (और न वह याग मोक्ष देने में समर्थ) होता है ॥ -३२-३३- ॥

अशिव होता है क्योंकि मानस याग रूपी कार्य के द्वारा उसमें शिवीभाव नहीं आया है । उस प्रकार का पशु मोक्ष के लिये विहित = अधिकृत, नहीं होता है ॥ ३२ ॥

क्योंकि—

आत्मयाग करने पर ही देहशुद्धि होती है ॥ -३३ ॥

चो ह्यर्थे । एवशब्दो जायतेशब्दादनन्तरं योज्यः । तेन यस्माद्यागादनन्तरं बाह्यान्तरोभयरूपस्य देहस्य शिवीभावावेशात्मा शुद्धिर्जायत एव, तस्मादसावश्यकार्य इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

तथा हि सति—

अधिष्ठितं शिवेनैव तमाचार्यं विनिर्दिशेत् ।

शिवेन सहचारित्वादाचार्य इति हि वक्ष्यति ॥

किं च—

आत्मनिर्दहनं चैव मानसं च यदुक्तवान् ॥ ३४ ॥

अहमित्यर्थः । आत्मा इह द्विविधो देहः ॥ ३४ ॥

विदित्वा सम्यगाचार्यः पाशहा स शिवः स्मृतः ।

सम्यग्वेदनं देहाद्यहन्ताप्रशमनेन शिवाहंभावावेशः ।

यागस्यास्य प्रभावमाह—

यत्र यत्र स्थितो देशे यश्चैवं तु विधिं यजेत् ॥ ३५ ॥

'च' शब्द 'हि' अर्थ में प्रयुक्त है । श्लोकस्थ 'एव' शब्द को 'जायते' शब्द के बाद जोड़ना चाहिये । इससे यह अर्थ निकलता है कि चूँकि मानस याग के बाद बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार के देहों की शिवीभावावेश रूप शुद्धि होती है इस कारण इसे अवश्य करना चाहिये ॥ ३३ ॥

वैसा होने पर—

शिव के द्वारा अधिष्ठित ही उसको आचार्य कहना चाहिये ॥ ३४- ॥

शिव के साथ आचरण करने के कारण यह आचार्य कहा जायेगा ॥

तथा—

मैने जो मानसिक आत्मनिर्दहन कहा है (अर्थात् सूक्ष्म एवं स्थूल शरीर का मानसिक शुद्धीकरण कहा है) ॥ -३४ ॥

उक्त श्लोक में आत्मा शब्द का अर्थ है स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार का देह ॥ ३४ ॥

उसको भली भाँति समझ कर आचार्य पाशहा हो जाता है । वह शिव माना गया है ॥ ३५- ॥

सम्यक् ज्ञान = देह आदि को आत्मा न मानकर अपने को शिव मानना ।

इस याग के प्रभाव को बतलाते हैं—

ब्रह्महापि स मुच्येत किं पुनः शिवतत्परः ।

विहितमहापातकोऽपि भगवदिच्छाप्रयोजनाद् यो विधिमिममभिसंधाय यजेत् भगवन्तमर्चयेत्, सोऽपि मुच्यते ॥ ३५ ॥

किं च—

सर्वावस्थागतश्चैव विषयैरनुरञ्जितः ॥ ३६ ॥
सकृत् संपूज्य मुच्येत किं पुनर्यो दिने दिने ।

'सर्वावस्थागत' इत्यादिना समयपालनासमर्थो भोगभुगपि सकृन्निर्बीजदीक्षायामर्चनान्मुच्यते, तस्मात् सततमेतदर्चनं पुत्रकाद्यैर्विधेयमित्येवंपरमेतत् ॥ ३६ ॥

अस्या अर्चादिक्रियाया महत्तां प्रथयति—

एतत्तन्त्रोक्तविधिना यदुक्तं विधिपूर्वकम् ॥ ३७ ॥
इज्यादि चान्यतन्त्रेऽपि तद्वैतत् कामिकं भवेत् ।

समानासमानस्रोतस्यन्यत्रापि पारमेश्वरे तन्त्रे यदिज्यादि दीक्षादिविधिपूर्वकमुक्तम्,

---

जिस-जिस देश में स्थित होकर जो व्यक्ति इस प्रकार विधिपूर्वक याग करता है यदि वह ब्रह्मघाती हो तो भी मुक्त हो जाता है फिर शिव याग में तत्पर याजक की क्या बात ॥ -३५-३६- ॥

महापाप को किया हुआ व्यक्ति भी यदि भगवत्-इच्छा के प्रयोजन से इस विधि को लक्ष्य कर भगवान् की पूजा करता है तो वह भी मुक्त हो जाता है ॥ ३५ ॥

तथा—

सर्वावस्था को प्राप्त, विषयों में अनुरक्त व्यक्ति भी एक बार (निष्कल भैरव की) पूजा कर मुक्त हो जाता है फिर जो प्रतिदिन (पूजा करता है उसकी क्या बात) ॥ -३६-३७- ॥

सर्वावस्था को प्राप्त = अपने सम्प्रदाय के नियमों के पालन में असमर्थ तथा भोगों में आसक्त मनुष्य, भी एक बार निर्बीज दीक्षा में पूजन करने से मुक्त हो जाता है । इस कारण पुत्रक दीक्षा आदि प्राप्त लोगों के द्वारा इनकी निरन्तर पूजा की जानी चाहिये ॥ ३६ ॥

इस अर्चन आदि क्रिया की महत्ता दिखलाते हैं—

अन्य तन्त्रग्रन्थों में भी जो यज्ञ आदि विधिपूर्वक कहे गये हैं । इस तन्त्र में उक्त विधि के अनुसार करने पर वह अनुष्ठान कामिक (= कामनापूरक) हो जाता है ॥ -३७-३८- ॥

समान एवं असमान स्रोतवाले अन्य पारमेश्वर तन्त्र में जो यज्ञ आदि, दीक्षा आदि

तदेतत्तन्त्रोक्तेन संपूर्णेतिकर्तव्यताकेन विधिना तत् 'कामिकम्' इति तत्तत्काम्यमानभोगमोक्षप्रयोजनं स्यात् । एतदुक्त्या दीक्षादावितिकर्तव्यतान्यत्राश्रीयमाणाभिलषितं पूरयत्येव संपूर्णत्वादित्यर्थः । 'तद्वै' इत्यत्र तस्येति पाठे तस्य कर्तुमिति व्याख्येयम् ॥ ३७ ॥

अत एवान्यत्राप्याश्रीयमाणमेतत्—

नानासिद्धिगुणैर्युक्तं..............

अधिकानपि क्रियापादोक्तान् सिद्धिरूपान् गुणान् करोति ॥

तथा

............नानाकामफलप्रदम् ॥ ३८ ॥

चर्यापादोक्तमप्यविलम्बितं फलं संपादयति ॥ ३८ ॥

योगपादोक्तमपि घटयतीत्याह—

योगसिद्धिश्च जायेत................

विद्यापादोक्तमपि इतः पराद्वयस्पर्शिनो विधेरनुष्ठानाच्चसाधयत्येवानुष्ठातृजन इत्यप्याह—

विधि के बाद करने के लिये कहा गया है वह सम्पूर्ण इतिकर्त्तव्यता वाली इस तन्त्र में कथित विधि के द्वारा कामिक अर्थात् तत्तत् काम्यमान भोग मोक्ष प्रयोजन वाला होता है । ऐसा कहने से दीक्षा आदि में इतिकर्त्तव्यता से अन्यत्र आश्रीयमाण अभिलषित को यह पूरा करता है क्योंकि यह सम्पूर्ण हैं । 'तद्वै' के बदले जहाँ 'तस्य' पाठ है वहाँ उसका अर्थ होगा-उसको करने के लिये ॥ ३७ ॥

इसलिये अन्यत्र भी आश्रीयमाण यह (आभ्यन्तर अर्चन)—

अनेक सिद्ध गुणों से युक्त है (अर्थात् सिद्धिप्रद है) ॥ -३८- ॥

(तात्पर्य यह है कि यह आभ्यन्तरयाग) क्रियापाद में उक्त अन्य सिद्धिरूप गुणों को देता है ॥

तथा

अनेक कामनाओं की पूर्ति करता है ॥ -३८ ॥

चर्यापादोक्त भी फल को शीघ्र देता है ॥ ३८ ॥

योगपाद में कथित (सिद्धि) को भी पूर्ण करता है—यह कहते हैं—

और योगसिद्धि भी प्राप्त होती है ॥ ३९- ॥

परम अद्वय का स्पर्श करने वाली विधि के अनुष्ठान से अनुष्ठाता मनुष्य

............मुक्तिं च लभते ध्रुवम् ।

अपि चैतदिज्यानुष्ठातृपूजनम्—

सदाशिवोऽपि जानाति देवाश्चैवासुरादयः ॥ ३९ ॥

परभैरवभक्तिशालिनोऽपि महाप्रभावा अपि स्पृहयन्तीति यावत् ॥ ३९ ॥

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाह—

एवं तु मानसं यागं कृत्वा बाह्यं समाचरेत् ।

तत्र प्रथमम्—

परां वृत्तिमनुध्यायन् द्रव्याण्यादौ विलोकयेत् ॥ ४० ॥

पराम् अन्तर्यागनिष्पन्नभैरवावेशमयीं वृत्तिं स्फुरत्तामवलम्बमानो यागद्रव्याणि प्रोक्षणादिकल्पितसंस्कारेभ्यः पूर्वं पराद्वयज्ञानापादितैक्यात्ममहाशुद्धीनि कुर्यादित्यर्थः ॥ ४० ॥

तान्युद्दिशति—

विद्यापाद में उक्त सिद्धि को प्राप्त करता है—यह भी कहते हैं—

मुक्ति भी निश्चित रूप से प्राप्त करता है ॥ -३९- ॥

साथ ही इस यज्ञ के अनुष्ठाता के पूजन (= आदर) को—

सदाशिव, देवता और असुर आदि सब लोग जानते हैं ॥ -३९ ॥

परभैरव की भक्ति में निरत भी महाप्रभावशाली सदाशिव आदि भी इसकी स्पृहा करते हैं (= अर्थात् इसके प्रति सम्मान की भावना रखते हैं) ॥ ३९ ॥

प्रसङ्गतः प्राप्त इसका कथन करने के बाद अब प्रस्तुत को कहते है—

इस प्रकार मानसिक याग करने के बाद ही बाह्य याग को करना चाहिये ॥ ४०- ॥

उस क्रिया में सबसे पहले—

(याजक) परावृत्ति का ध्यान करता हुआ पहले द्रव्यों का अवलोकन करे ॥ -४० ॥

परा = अन्तयोग से निष्पन्न भैरव के आवेश वाली, वृत्ति = स्फुरत्ता का अवलम्बन करता हुआ अनुष्ठाता यागद्रव्यों को, प्रोक्षण आदि कल्पित संस्कारों से पहले द्रव्यों को पर अद्वय ज्ञान के द्वारा शिव से अभिनन मानकर महाशुद्ध करना चाहिये ॥ ४० ॥

उन द्रव्यों के नाम बतलाते हैं—

सितचन्दनकर्पूरं सुधूपं सितवाससी ।
पुष्पाणि दिव्यगन्धीनि तिलव्रीहिघृतादिकम् ॥ ४१ ॥
चूतपल्लवदर्भास्तु सिद्धार्थान् खटिकां तथा ।
करणीं कर्तरीं चैव पाशबन्धनसूत्रकम् ॥ ४२ ॥
वार्धानीं शिवकुम्भं च तथेध्मान् परिधीनपि ।
समिधो दन्तकाष्ठं च चरुस्थालीं स्रुचं स्रुवम् ॥ ४३ ॥
तण्डुलांश्च तथा क्षीरमेवमादीन्यनेकशः ।

दीक्षायाः शिवत्वापादनात्मनः शुद्धेः कार्यत्वात्तदौचित्येन सितगुणस्य प्रधानत्वम् । सितवाससी चूतपल्लवाश्च कलशवार्धान्यर्थम्, व्रीहयो विकिरार्थम्, सिद्धार्थाः शय्याद्यवसरे रक्षार्थम्, खटिकाकरण्यौ मण्डलार्थम्, कर्तरी पाशसूत्रच्छेदाय, वार्धान्यस्त्रयागाय, इध्माः प्रागुक्ताः हस्तमात्राश्चतुर्विंशतिः समिद्धस्याग्नेस्तृप्त्यर्थम्, परिधयो हस्तप्रमाणाः सपत्राः शाखाश्चतस्रः कुण्डबाह्ये दिक्षु विघ्नप्रवेशरक्षार्थम्,

'समिधो यज्ञवृक्षोत्थाः सत्वचो निर्व्रणाः शुभाः ।
प्रादेशमात्राः स्थौल्येन कनिष्ठाभ्यधिकाश्च याः ॥'

इत्युक्तास्ताश्चाग्नेर्दीप्त्युत्पादनाय, दन्तकाष्ठं शिष्यार्थम्, तण्डुलक्षीरचरुर्देव-

---

सफेदचन्दन, कपूर, सुधूप, दो श्वेत वस्त्र, दिव्यगन्धवाले पुष्प, तिलव्रीहिघृत आदि, आम का पल्लव, कुश, सिद्धार्थ (= सफेद या पीली सरसो) खटिका, करणी, कैंची, पाशबन्धन का सूत्र, वार्धानी, शिवकुम्भ, ईंधन, परिधि, समिधा, दन्तकाष्ठ (= दातौन), चरुस्थाली, स्रुक्, स्रुवा, चावल, क्षीर आदि अनेक प्रकार के (द्रव्यों का अवलोकन करे) ॥ ४१-४४- ॥

चूँकि दीक्षा शिवत्वापादन रूप शुद्धि का कार्य है अतः उसके लिये उचित होने के कारण सफेद गुण की प्रधानता होती है । श्वेतवस्त्र और आम के पल्लव कलश और वार्धानी के लिये होते हैं । धान विकिरा के लिये और सिद्धार्थक शय्या आदि के अवसर पर रक्षा के लिये होती है । खटिका और करणी मण्डल बनाने के लिये, कैंची पाशसूत्र को काटने के लिये, वार्धानी अस्त्रयाग के लिये होती है । ईंधन का वर्णन पहले हो चुका है, वे एक हाथ लम्बी २४ लकड़ियाँ होती हैं जो जली हुयी अग्नि के तर्पण के लिये होती हैं । परिधियाँ = एक हाथ लम्बी, पत्तों से युक्त चार शाखायें, जो कि कुण्ड के बाहर चारो दिशाओं में विघ्नों के प्रवेश से रक्षा के लिये होती हैं ।

'समिधायें वे होती हैं जो यज्ञ करने के योग्य वृक्षों से निकली, त्वचायुक्त, व्रणरहित, सुन्दर, बारह अङ्गुल लम्बी और कनिष्ठा से अधिक मोटी होती हैं ।'

गुर्वर्थमपि । स्पष्टमन्यत् । एवमादीनि । आदिशब्दान्मण्डलार्थं रजांसि, शिष्यार्थं पञ्चगव्यनेत्रपट्टाद्यपीति ॥ ४३ ॥

एवं द्रव्याण्यवलोक्य—

ततोऽर्घपात्रमादाय क्षालयेदस्त्रवारिणा ॥ ४४ ॥
कवचेनावगुण्ठ्यैव प्रणवेन तु पूजयेत् ।
उदकादिभिरष्टाङ्गै पूरयेत्तु वरानने ॥ ४५ ॥
उदकं क्षीरकुसुमं कुशसर्षपतण्डुलाः ।

सयवघृता अष्टौ । इहाष्टमूर्तेरर्घ्यं पुर्यष्टकाकूतम् ॥ ४५ ॥

अथ—

प्रणवेनासनं सर्वं ततो मूर्तिं न्यसेत् प्रिये ॥ ४६ ॥
भैरवावरणैर्युक्तां पूजयेत्तां यथाक्रमम् ।
गन्धैः पुष्पैस्तथा धूपैर्मन्त्रसन्धानपूर्वकम् ॥ ४७ ॥

भैरवेणावरणैश्च युक्तां. न्यसेत्, मन्त्रसंधानपूर्वकं पूजयेत् ॥ ४७ ॥

इस श्लोक में कही गयी, अग्नि को अद्दीप्त करने के लिये लकड़ियाँ समिधा कहलाती हैं । दन्तकाष्ठ शिष्य के लिये होता है । चावल और दूध को पकाने पर चरु बनता है जो देवता और गुरु के लिये होता है । शेष का अर्थ स्पष्ट हैं 'एवमादीनि' में आदि शब्द से मण्डल बनाने के लिये (चूना, लकड़ी आदि का) चूर्ण, शिष्य के लिये पञ्च गव्य और उसके नेत्रों को ढँकने के लिये वस्त्र आदि समझना चाहिये ॥ ४३ ॥

इन द्रव्यों के अवलोकन के बाद—

अर्घपात्र को लेकर उसे अस्त्राभिमन्त्रित जल से धोये; कवच मन्त्र के द्वारा उसका अवगुण्ठन कर प्रणव से उसका पूजन करे । हे वरानने! जल आदि आठ वस्तुओं से उसकी पूरित करे । वे आठ वस्तुयें हैं—जल, दूध, पुष्प, कुश, सरसो, चावल और यव ॥ -४४-४६- ॥

आठ द्रव्यों का यह अर्घ्य अष्टमूर्त्ति स्वच्छन्द भैरव के पुर्यष्टक का सूचक है । (= पुर्यष्टक पञ्चप्राण, मन, बुद्धि, अहङ्कार से निर्मित सूक्ष्म शरीर) ॥ ४५ ॥

इसके बाद—

हे प्रिये ! प्रणव का उच्चारण कर समस्त आसनों को देना चाहिये । उसके बाद भैरव एवं आवरणों से युक्त मूर्त्ति का न्यास करना चाहिए । फिर उस भैरवमूर्त्ति की क्रमशः गन्ध पुष्प धूप से मन्त्रोच्चारण करते हुए पूजा करनी चाहिए ॥ -४६-४७ ॥

किं च—

मन्तव्यं परमं तत्त्वं ततश्चैवामृती भवेत् ।

परमं तत्त्वं निष्कलं पूर्वोक्तयुक्त्या जपन्नमृतमुद्राप्रदर्शनेनामृतीकुर्यादित्यर्थः ॥

अर्घपात्रार्थं च—

पात्राणां त्रितयं कल्प्यं निरोधार्थे विधौ तथा ॥ ४८ ॥
पश्वर्घे च..................

विध्यर्घपात्रं पूजार्थम्, निरोधार्घपात्रं तु निरोधविसर्जनाद्यवसरोपयोगि सुरया कर्तव्यम् । यदवोचत्—

'पश्चादर्घः प्रदातव्यः सुरया सुसुगन्धया' (२।१३६) इति ।

पशोस्तु प्रोक्षणाद्यर्थं पश्वर्घपात्रम् ॥ ४८ ॥

तदेतत्त्र्यम्—

............प्रकल्प्यैवं शिवहस्तं प्रकल्पयेत् ।

इह लौकिके दीक्षाकर्मणि शिक्षकात्मनाचार्येण प्रस्तूयमानेऽविशिष्टेन करेण

(भैरवावरणैः की व्याख्या करते हैं—) भैरव एवं आवरणों से युक्त उस मूर्त्ति का न्यास करे, फिर मन्त्रसन्धानपूर्वक पूजन करे ॥ ४७ ॥

तथा

उस परम तत्त्व का मनन करे । इससे वह (= निष्कल) अमृत हो जाता है ॥ ४८- ॥

परम तत्त्व = निष्कल भैरव के मन्त्र का पूर्वोक्त युक्ति से जप करते हुए उसको अमृतमुद्रा दिखाकर अमृत बनाना चाहिये ॥

अर्घपात्र के लिये—

निरोधार्घ, विध्यर्घ एवं पश्वर्घ के लिये तीन पात्रों को बनाना चाहिये (= चयन करना चाहिये) ॥ -४८-४९- ॥

विधि नामक अर्घपात्र पूजा के लिये, निरोधार्घपात्र निरोध विसर्जन आदि अवसरों के लिये सुरा के द्वारा बनाना चाहिये । जैसा कि कहा—

'बाद में सुगन्धित सुरा के द्वारा अर्घ देना चाहिये ।' (२।१३६)

पश्वर्घपात्र पशु के प्रोक्षण के लिये होता है ॥ ४८ ॥

इन तीनों पात्रों को

कल्पित कर शिवहस्त की कल्पना करे ॥ -४९- ॥

कथं करणम्, इत्यस्य नित्यकर्मन्याससंस्कृतस्यापि सातिशयपाशक्षपणशिवत्वदानात्मकनैमित्तिककर्मविशेषविशिष्टां साधकतमतामाधातुं दीप्तमन्त्रचक्रन्यासतत्स्वात्मैक्यानुसंध्यध्यासितशिवात्मककर्तृवीर्यावष्टम्भसारा शिवहस्तता प्रथममवश्यमेव विधातव्या । यत्तु—

'शिवहस्ते विभुं ध्यात्वा मन्त्रग्रामं सुजाज्वलम् ।' (३।१४२)

इतीहैव वक्ष्यति, तदनुग्राह्यैकविषयम् ॥

मन्त्रसंधानकं प्रागवन्नाडीसंधानमेव च ॥ ४९ ॥

कर्तव्यमिति शेषः ॥ ४९ ॥

मन्त्रसंधाने मुख्यप्रकारमाह—

मूलमन्त्रमनुस्मृत्य हृत्कण्ठतालुमध्यगम् ।
भ्रूमध्यं शब्दकूटं तत्तुर्यस्थानं विभेदयेत् ॥ ५० ॥
वामदक्षिणमध्ये तु विषुवत्स्थेन भेदयेत् ।
द्वादशान्तं परं नीत्वा करस्थो मन्त्रविग्रहः ॥ ५१ ॥

अनुसंधेय इति शेषः । परं मूलमन्त्रं शब्दकूटम् अशेषवाचकशब्दात्मकमन्त्र-

---

शिक्षक आचार्य से प्रस्तूयमान लौकिक दीक्षा कर्म में सामान्य हाथ कैसे शिवहस्तविधि करेगा, इसलिये नित्यकर्म के न्यास से संस्कृत (हाथ) की भी सातिशय पाशनाश एवं शिवत्वदानरूप नैमित्तिक कर्मविशेष से विशिष्ट साधकतमता को सम्पन्न करने के लिये दीप्तमन्त्र चक्रन्यास और उसके अपने (= आचार्य के) ऐक्य की अनुसन्धि से अध्यासित शिवात्मककर्तृवीर्य के अवष्टम्भ वाली (= शिवरूपी कर्त्ता की शक्ति से दृढ़) शिवहस्तता पहले अवश्य करनी चाहिये । और जो—

'सुजाज्वल एवं व्यापक मन्त्रसमूह का शिवहस्त में ध्यान कर ।' (३।१४२)

ऐसा इसी अध्याय में कहेंगे वह केवल अनुग्राह्य के लिये है ॥

पूर्व की भाँति मन्त्रसन्धान एवं नाड़ीसन्धान करना चाहिये ॥ -४९ ॥

मन्त्रसन्धान में मुख्य प्रकार को बतलाते हैं—

आचार्य शब्दसमूह रूप पर मूलमन्त्र का अनुस्मरण कर उससे हृदय कण्ठ तालु और भ्रूमध्य इन चार स्थानों का भेदन करे । वाम और दक्षिण (नासापुट के) मध्य में विषुवत् में स्थित प्राण से भेदन करे । फिर उसे पर (= ऊर्ध्व) द्वादशान्त तक ले जाकर मन्त्रविग्रह को करस्थ मानना चाहिये ॥ ५०-५१ ॥

पर मूलमन्त्र = ऐसा शब्दसमूह जो समस्त वाचक शब्दात्मक मन्त्र की

राशिरूपमन्तःस्वीकृतमन्त्रग्रामम्, शब्दनरूपं च कूटं परनादात्मकनित्यस्वरूपमनुस्मृत्य वक्ष्यमाणकरणबन्धमात्रार्थानुसंधिमान् स्वेच्छयाचार्यो हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यात्मकं तुर्यस्थानं च भेदयेत् । कथमित्याह—वामेत्यादिना । मध्यमार्गेण भ्रूमध्यं यावत्करण क्रमेण भ्रूमध्यदत्तचित्तः सव्येतरनासापुटसमस्फारणयुक्तिलब्धमध्यप्राणतीक्ष्णसूच्यग्रेण बिन्दुग्रन्थिं भित्त्वाऽनायासेन नादादिग्रन्थीनपि भिन्द्यादित्यर्थः । भविष्यति चैतत् । ततो द्वादशान्तं मन्त्रं नीत्वा करस्थो मन्त्रविग्रहः शुद्ध्याप्त्यैवानुसंधेयो यथा करणस्य कर्तृवीर्यसारता भवति ॥ ५१ ॥

नाडीसंधानमप्याह—

तस्याप्यनेन न्यायेन विलोमेन विशेद्धृदि ।
आत्मनो रेचकेनैव पूरकेण विशेद्धृदि ॥ ५२ ॥
नाडी संधानमेतद्धि शिवेन परिकीर्तितम् ।

आत्मन ऊर्ध्वरेचकेन गत्वा, तस्यापि इति करस्थस्य भगवतो विलोमेन इति द्वादशान्ताद्धृदि विशेत् पुनस्तत उल्लास्य तद्द्वादशान्तं प्राप्य तेनैव पूरकेण हृदि स्वस्मिन् विशेत्, इत्येतन्नाडीसंधानं पूर्वोद्दिष्टनासाक्रमनाडीसंधानविलक्षणं शिवेन

राशिरूप है । इसमें मन्त्रसमूह निहित रहता है । इस शब्दनरूपी समूह को परनादात्मक नित्यस्वरूप मानकर वक्ष्यमाण करण बन्ध मात्रा और अर्थ का अनुसन्धान करने वाला आचार्य अपनी इच्छा से हृदय कण्ठ तालु और भ्रूमध्य रूपी चार स्थानों का भेदन करे । कैसे?—यह कहते हैं—वाम दक्षिण......इत्यादि । मध्यमार्ग (= सुषुम्ना) के द्वारा भ्रूमध्य तक, करण के क्रम से (= हठयोगशास्त्रीय बन्ध या मुद्रा के क्रम से) भ्रूमध्य में ध्यान लगा कर बायें दायें नासापुटों से समान श्वास प्रश्वास की युक्ति से लब्ध मध्यप्राण के अग्रभाग, जो कि सूची के अग्रभाग से समान तीक्ष्ण है, से बिन्दुग्रन्थि का भेदन कर सरलता से नाद आदि ग्रन्थियों का भी भेदन करे । इसके बाद मन्त्र को ऊर्ध्व द्वादशान्त पर्यन्त ले जाकर मन्त्रशरीर को करस्थ समझते हुए शुद्धि प्राप्ति के रूप में समझना चाहिये जिससे करण (= हाथ) कर्त्ता हो जाता है (= शिष्य के शरीर में भैरवीय वैद्युत ऊर्जा भरने में समर्थ हो जाता है) ॥ ५१ ॥

नाडीसन्धान को भी बतलाते हैं—

इसी रीति से उल्टे क्रम के द्वारा उस मन्त्र को हृदय में प्रविष्ट कराये । फिर रेचक कर तत्पश्चात् पूरक प्राणायाम से उसे पुनः हृदय में प्रविष्ट कराये । शिव ने इसे नाडीसन्धान कहा है ॥ ५२-५३- ॥

अपने ऊर्ध्व रेचक के द्वारा जाकर उसका = करस्थ भगवान् (= परम शिवरूप आत्मा) का । विलोम से = ऊर्ध्व द्वादशान्त से हृदय में प्रवेश कराये । फिर वहाँ से उस प्राणसहित जीव को द्वादशान्त तक पहुचाये । फिर उसी पूरक से (जीव

परिकीर्तितम् इत्यनेनास्याभेदव्याप्तिप्रदर्शकस्योपादेयत्वमिति ध्वनति ॥ ५२ ॥

एवं नाडीसंधानेन स्वहृदयं प्रविश्य—

व्यापकं तु शिवं ध्यायेन्मन्त्रमूर्तिमधिष्ठितम् ॥ ५३ ॥

अन्तर्बाह्ये शिवहस्ते च स्थितां सर्वां मन्त्रचक्रमूर्तिमधिष्ठाय स्थितं शिवं निष्कलनाथं व्यापकं ध्यायेत् ॥ ५३ ॥

अथैवं शिवहस्ते महाव्याप्तिमनुसंधाय शिष्याद्युपयोगिपञ्चगव्यसंस्कारमाह—

दर्भं संगृह्य चास्त्रेण सप्तवाराभिमन्त्रितम् ।
पञ्चगव्याय पात्रं तु शोधयेत्तु शिवाम्भसा ॥ ५४ ॥

'पवित्राः पावना गावः सर्वदैवतविग्रहाः ।
गोमूत्रे स्वःसरिन्मुख्या तटस्था मृच्च गोमयम् ॥
अमृतं तत्पयो दिव्यं तद्विकारो दधि स्थितम् ।
तद्घृतं तद्गतः सारस्तत्सदामरतर्पणम् ॥'

इति श्रीमत्पराख्यसंहितोक्तातिशयानि पञ्चगव्यानि समाह्रियन्ते यस्मिंस्तत् पञ्चगव्यं कुशोदकेन शोधयेत् क्षालयेदित्यर्थः ॥ ५४ ॥

अस्त्रेण क्षालयेत्तच्च कवचेनावगुण्ठयेत् ।

तस्य च—

दर्भासनं ध्रुवेणैव मण्डलं तु प्रकल्पयेत् ॥ ५५ ॥

वर्तुलं स्वस्तिकं वा ॥ ५५ ॥

तस्योपरि न्यसेत् पात्रं गोमयादीनि चाहरेत् ।
पृथक्पात्रस्थितान्येव प्रोक्ष्यास्त्रेण शिवाम्भसा ॥ ५६ ॥

अथ—

गोमयं तु हृदामन्त्र्य गोमूत्रं शिरसा दधि ।
शिखया वर्मणा क्षीरमस्त्रेणाज्यं कुशोदकेन ॥ ५७ ॥

तथा—

धाम्ना च मन्त्रयेत् पश्चाद् गोमयादीनि योजयेत् ।
पूर्वसंस्कृतपात्रे तु स्वमन्त्रैः............

तथा—

....................गोमयादिकम् ॥ ५८ ॥

(... अपने नाड़ी को ... का) अपने हृदय में प्रवेश कराये । यह नाड़ीसन्धान पूर्वोक्त नासाक्रम नाड़ीसन्धान से विलक्षण है । 'इसे शिव ने बतलाया है'—इस कथन से यह ध्वनित होता है कि यह शिव के साथ अभेदव्याप्ति का प्रदर्शक होने से उपादेय है ॥ ५२ ॥

इस प्रकार नाड़ीसन्धान के द्वारा अपने हृदय में प्रवेश कर—

मन्त्रमूर्त्ति में अधिष्ठित व्यापक शिव का ध्यान करे ॥ -५३ ॥

जो भीतर बाहर और शिवहस्त में स्थित सम्पूर्ण मन्त्रचक्रमूर्त्ति को अधिष्ठित कर स्थित हैं साधक को ऐसे व्यापक निष्कलनाथ भगवान् शिव का ध्यान करना चाहिये ॥ ५३ ॥

इस प्रकार शिवहस्त में व्यापक शिव की महाव्याप्ति का अनुसन्धान कर शिष्य आदि के लिये उपयोगी पञ्चगव्य संस्कार को बतलाते हैं—

अस्त्र मन्त्र से सात बार अभिमन्त्रित कुशा को लेकर पञ्च गव्य के लिये उपयोगी पात्र को शिव जल से शुद्ध करे ॥ ५४ ॥

'गायें स्वयं पवित्र हैं तथा दूसरों की पवित्र करती हैं । उनके शरीर में समस्त देवता विराजमान रहते हैं । गोमूत्र में मुख्य स्वर्णदी (गङ्गा) रहती है और गोमय उस स्वर्णदी के तट पर वर्त्तमान मिट्टी है । उसका दूध अमृत और उस दूध का विकार दधि दिव्य है । उससे निकला घी उस गाय में वर्त्तमान सार रूप है और सदा देवताओं का तर्पण करने वाला है ।'

परासंहिता में उक्त विशेषताओं वाले पाँच गोविकार जिसमें एकत्रित किये जाते हैं वह पञ्चगव्य होता है । कुशोदक से शुद्ध करे = धोये ॥ ५४ ॥

उस (= पञ्चगव्य) का अस्त्र मन्त्र से क्षालन तथा कवच से अवगुण्ठन करे ॥ ५५- ॥

ध्रुव मन्त्र से उसे दर्भ का आसन दे और उसके लिये गोलाकार अथवा स्वस्तिक आकार वाला मण्डल बनाये ॥ -५५ ॥

उस मण्डल के ऊपर पात्र रखे और गोबर इत्यादि को ले आये अस्त्र मन्त्र एवं शिवोदक से प्रोक्षण कर उनको अलग-अलग पात्रों में रखे ॥ ५६ ॥

इसके बाद—

गोमय को हृन्मन्त्र से, गोमूत्र को शिरोमन्त्र, दधि को शिखा, दूध को वर्म (कवच), घी को अस्त्र मन्त्र से कुशोदक से अभिमन्त्रित करे ॥ ५७ ॥

तथा—

बाद में धाम (= मूल मन्त्र) के द्वारा अभिमन्त्रित कर उस पूर्वसंस्कृत पात्र में तत्तत् स्वमन्त्रों से अभिमन्त्रित गोमय आदि मिलाये ॥ ५८- ॥

इसके बाद—

संयोज्य मन्त्रयेत् पश्चात्तैरेव हृदयादिभिः।

सर्वैरेव युगपत् ॥

एवं संस्कृतस्यास्यात्र विशेषसंस्कारार्थमासनपूर्वं मन्त्रन्यासमाह—

प्रणवेन तु सङ्कल्प्य अनन्तं मूर्तिविग्रहम् ॥ ५९ ॥
धामाङ्गानि च बाह्ये तु संपूज्यावरणस्थितिम् ।
मन्त्रसंधानकं कृत्वा अमृतीकरणं तथा ॥ ६० ॥
शिवामृतं तत्संचित्य संपूज्य स्थापयेत्ततः ।

मूर्तिः चिद्रूपा, विग्रहः सकलभट्टारकः, धाम मूलमन्त्रः ॥ ६० ॥

अथ यागभूमिं संस्कर्तुम्—

अस्त्राभिमन्त्रितं दर्भं गृहीत्वोल्लेखनं कुरु ॥ ६१ ॥
यावद्भूमौ समन्तात्तु सौम्यास्यो दक्षिणे स्थितः ।
ततश्चैवोद्धरेच्छल्यमाजलान्तं व्यवस्थितम् ॥ ६२ ॥
रेचितं भावयेच्छुद्धं मौक्तिकाद्यैः प्रपूरयेत् ।

गोबर आदि मिलाने के बाद उन्हीं हृदय आदि मन्त्रों से उन गोमय आदि को एक साथ अभिमन्त्रित करे ॥ -५८-५९- ॥

सभी को एक साथ मिलावे ॥

इस प्रकार से संस्कृत इस पात्र के विशेष संस्कार के लिये आसन तथा मन्त्रन्यास को कहते हैं—

प्रणवोच्चार के द्वारा मूर्त्तिमान = चिद्रूप, अनन्त = सकल भट्टारक धाम = मूल मन्त्र एवं अङ्गों की कल्पना करे । आवरण स्थिति की पूजा कर उसमें मन्त्रसन्धान एवं उसका अमृतीकरण करे । ऐसा कर उसे शिवामृत मानकर उसकी पूजा करे फिर उसे रख दे ॥ -५९-६१- ॥

(मूर्ति विग्रहों पद को स्पष्ट करते हुए कहते हैं—) मूर्ति चिद्रूप है । विग्रह का अर्थ है सकल भट्टारक और धाम का अर्थ है मूल मन्त्र ॥ ६० ॥

अब यागभूमि का संस्कार करने के लिये—

अस्त्र के द्वारा अभिमन्त्रित कुश को लेकर उससे यागभूमि का उल्लेखन करे (= रेखा खींचे) । पहले उत्तर की ओर मुख कर फिर दक्षिण की ओर मुख कर उल्लेखन (= खुदाई) करे । इसके बाद उस भूमि से काँटे तिनके वगैरह वहाँ तक हटाये (जहाँ तक नीचे पानी न मिले) । इस प्रकार शुद्ध भूमि में मोती आदि बिछाये । अस्त्रमन्त्र से

समीकरणमस्त्रेण कवचेन तु सेचनम् ॥ ६३ ॥
आकोटनमथास्त्रेण............

एतान् संस्कारान्निष्पन्नकुण्डवद्भावनया कृत्वा—

...............ततो मार्जनलेपने ।
अस्त्रेण पञ्चगव्येन गन्धतोयेन चोपरि ॥ ६४ ॥

पञ्चगव्येन लेपनं ततोऽपि गन्धतोयेनेत्यर्थः ॥ ६४ ॥

अथ—

शिवाम्भसास्त्रयुक्तेन विकिराण्यभिमन्त्रयेत् ।
सप्तकृत्वोऽस्त्रमन्त्रेण................

शिवाम्भसा संप्रोक्ष्य, विकीर्यन्त इति विकिराणि तिलादीनि । यथोक्तं श्रीमन्मतङ्गतन्त्रे—

'तिला लाजा यवाश्चैव दूर्वाः सिद्धार्थकाः शुभाः ।
कुसुमानि च शुक्लानि सुसुगन्धीनि भूरिशः।
ईषच्चन्दनपङ्केन मिश्रोऽयं विकिरः शुभः।' (२।५०।२३-२४)

इति । एतानि विकिराण्यभिमन्त्रयेत् ॥

समीकरण (= समतल बनाना) कवच से सेचन और फिर अस्त्र से आकोटन (= खुरच कर उठाना) करे (तात्पर्य यह है कि शल्य आदि को हटाने से बने गड्ढे को मोती आदि से भरकर भूमि को सपाट बनाने के बाद उस पर पानी छिड़क कर फिर लेपन करे) ॥ -६१-६४- ॥

बने हुए कुण्ड की भाँति इन संस्कारों को भावना से करके ।

फिर अस्त्र मन्त्र से पहले पञ्चगव्य फिर गन्ध एवं जल से उस भूमि का मार्जन एवं लेपन करे ॥ -६४ ॥

पहले पञ्चगव्य से और फिर सुगन्धित जल से लेपन करना चाहिए ॥ ६४ ॥

इसके बाद—

तत्पश्चात् अस्त्रयुक्त शिवोदक से प्रोक्षण कर अस्त्रमन्त्र का उच्चारण करते हुए विकिराओं का सात बार अभिमन्त्रण करे ॥ ६५- ॥

जो विखेर दिये जायें वे विकिरा कहलाते हैं । जैसे तिल आदि । जैसा कि मतङ्गतन्त्र में कहा गया—

'तिल, धान का लावा, यव, दूर्वा, सफेद सरसो, सफेद पुष्प, गन्ध, घिसे हुए चन्दन में मिलाने पर शुभ विकिर होता है ।' (म.तं. २।५०।२३-२४)

ततः—

.........स्थित्वा मध्ये तु प्राग्दिशः॥ ६५ ॥
ऊर्ध्वाधो विकिरेद्धान्यान्यस्त्रभूतानि चिन्तयेत् ।

शिववदाचार्यस्य मध्ये स्थितिः ॥ ६५ ॥

एतानि च—

चामरेण सुशुभ्रेण अस्त्रमन्त्रेण संहरेत् ॥ ६६ ॥
ऐशान्यभिमुखान्येव................

कुतः किमवधि? इत्याह—

..............नैर्ऋत्या यावदैश्वरम् ।

अथ यागक्षेत्रमध्यक्रमेण

पञ्चगव्येन संप्रोक्ष्य गन्धाम्भोभिः शिवाम्भसा॥ ६७ ॥
ध्रुवेण श्रियमावाह्य पद्महस्तां सुलोचनाम् ।
शुक्लपुष्पाणि मुञ्चन्तीं सर्वलक्षणसंयुताम् ॥ ६८ ॥
नीलोत्पलदलश्यामां यागहर्म्यावलोकिनीम् ।

इन विकिरों को अभिमन्त्रित करे ॥

इसके बाद—

मध्य में खड़े होकर पूर्व दिशा की ओर मुड़ कर ऊपर नीचे धान्यों को विखेर दें और उन (= धान्यों) को अस्त्र समझे ॥ -६५-६६- ॥

शिव के समान आचार्य (यागगृह के) मध्य में बैठते हैं ॥ ६५ ॥

इन विकीर्ण धान्यो को—

सुन्दर चामर के द्वारा अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए एकत्रित करना चाहिए । ये धान्य ईशान दिशा से संहृत होने (= एकत्रित किये जाने) चाहिये ॥ -६६-६७- ॥

कहाँ से लेकर कहाँ तक ? यह बतलाते हैं—

नैर्ऋत्य दिशा से लेकर ईशान दिशा तक संग्रह करे ॥ -६७- ॥

इसके बाद यागक्षेत्र के मध्यक्रम से (= मध्य में)

(भूमि का) पञ्चगव्य सुगन्धित जल तथा शिवाम्बु से संप्रोक्षण कर ध्रुव मन्त्र से लक्ष्मी का आवाहन करे । वह लक्ष्मी हाथ में कमल ली हुई, सुन्दर नेत्रों वाली, श्वेतपुष्पों को नीचे गिराती हुई, समस्त लक्षणों से युक्त,

ब्रह्मस्थानोपविष्टां तु द्वाराभिमुखभद्रदाम् ॥ ६९ ॥
गन्धपुष्पादिभिः पूज्य शिवकुम्भं प्रकल्पयेत् ।

द्वाराभिमुखस्य यागधाम प्रविशतः शिष्यादेः कल्याणकारिणीं मोक्षलक्ष्मीं संपूज्य शिवकुम्भं कुर्यात् ॥ ६९ ॥

कथम् ? इत्याह—

ऐशानीं दिशमाश्रित्य पञ्चगव्येन मण्डलम् ॥ ७० ॥
गन्धोदकेन संलिप्य शिवाम्भोऽस्त्रेण प्रोक्षयेत्।
अनन्ताद्यासनं दत्त्वा ध्रुवेणामण्डलावधि ॥ ७१ ॥
सर्वदोषविनिर्मुक्तं कुम्भं चन्दनलेपितम् ।
स्वस्तिकाद्यैश्चर्चयित्वा यवसिद्धार्थदूर्वभिः ॥ ७२ ॥
सितसूत्रेण संवेष्ट्य वस्त्रपूतेन चाम्भसा ।
संपूर्य सर्वतश्छन्नं चूताश्वत्थादिपल्लवैः ॥ ७३ ॥
रत्नगर्भौषधीयुक्तं सहदेवादिभिर्गणैः ।
प्रोक्ष्य चास्त्रेण संगृह्य कवचेनावगुण्ठितम् ॥ ७४ ॥
आसनस्योपरि न्यस्येन्मूलमन्त्रमनुस्मरन् ।

नीलकमल की पंखुड़ी के समान नील, यागगृह का अवलोकन करने वाली, ब्रह्मस्थान पर बैठी हुई, द्वार से प्रवेश करने वाले के लिये कल्याणप्रदा है । इस लक्ष्मी का गन्ध पुष्प आदि से पूजन कर शिवकुम्भ की रचना करे ॥ -६७-७०- ॥

द्वाराभिमुख = यागधाम में प्रवेश करने वाले शिष्य आदि की कल्याणकारिणी मोक्षलक्ष्मी की पूजा कर शिवकुम्भ का निर्माण करे ॥ ६९ ॥

कैसे ? यह बतलाते हैं—

ईशान दिशा की ओर स्थित मण्डल का सुगन्धित जल से लेपन कर अस्त्रमन्त्र के द्वारा शिवाम्बु का अस्त्र से प्रोक्षण करना चाहिए । अनन्त आदि के लिये मण्डल पर्यन्त ध्रुवमन्त्र से आसन देकर सर्वदोषविनिर्मुक्त कुम्भ का संस्कार करना चाहिये । उस कुम्भ का चन्दन से लेप कर स्वस्तिक आदि से अलङ्कृत कर उसे श्वेत सूत्र से वेष्टित करे । वस्त्र से छाने हुए जल से उसे भर कर उसमें यव सफेद सरसों और दूर्वा छोड़ना चाहिए । आम पीपल आदि (= बरगद, गूलर, पाकड़) के पल्लवों से उसे ढँक दे । फिर उस घट के अन्दर रत्न और सहदेवी (= सहदेइया—एक प्रकार की घास) आदि औषधियों को डाल देना चाहिए । अस्त्रमन्त्र से प्रोक्षण कर कवच से अवगुण्ठित कर कलश को आसन के ऊपर मूलमन्त्र

आमण्डलावधि इति परव्याप्त्या ब्रह्मबिलशक्तिव्यापिन्यात्मकानि ब्रह्मविष्णुरुद्राधिष्ठितानि यानि सूर्यादिमण्डलानि, तदन्तं न तु शिवान्तम्

'मन्त्रशक्तिभिरुग्राभिः शोषनिर्दहनादिभिः ।
शरीरं शोषितं यस्मात्तदर्थमभिषेचनम् ॥' (४।४५०)

इति भाविनीत्याप्यायनप्रयोजनस्योपसंहारप्रधानशिवान्तासनत्वानुपपत्तेः । यवादिभिरन्तर्गतैरुपलक्षितम्, सूत्रेण वर्मभूतेनेति, रत्नगर्भमोषधीयुक्तं च । सहदेवादिभिर्गणैरिति

'ओषधीनां वरैकैव सहदेवा शिवागमे ।'

इति सारसङ्ग्रहे कथितत्वात् सहदेवाप्रधानौषधिलोहधातुबीजपुञ्जैर्युक्तमित्यर्थः । 'मूलमन्त्रम्' इत्यादिना कलशस्य परचिन्मूर्तिमयत्वमुक्तम् ॥ ७४ ॥

अथ तत्र—

कलाध्वभैरवादीनि न्यस्यार्घादीन् प्रकल्पयेत् ॥ ७५ ॥
मुद्रां बद्ध्वा हृदादीनि पूज्यान्यग्निदलादिषु ।

का स्मरण करते हुए रखना चाहिए ॥ -७०-७५- ॥

मण्डल पर्यन्त—पर व्याप्ति के द्वारा ब्रह्मबिल शक्ति और व्यापिनी रूप तथा ब्रह्मा विष्णु रुद्र से अधिष्ठित जो सूर्य आदि मण्डल हैं वहाँ तक, न कि शिवपर्यन्त ।

'चूंकि उग्र मन्त्रशक्तियाँ शोषण निर्दहन आदि के द्वारा शरीर को शोषित कर डालती हैं इस कारण उस (शोषण आदि) की निवृत्ति के लिये अभिषेक किया जाता है ।' (४।४५०)

इस भावी सिद्धान्त के अनुसार आप्यायन के प्रयोजन की उपसंहारप्रधान शिवपर्यन्त व्याप्ति नहीं होगी अर्थात् मण्डल तक ही सीमितर्भमो रहेगी । (यह अभिषेचन) अन्तर्वर्त्ती यव आदि से उपलक्षित होता है । सूत्र कलश का कवच होता है । (रत्नगषधीयुक्तम् को स्पष्ट करते हैं—) रत्नों से भरा हुआ और औषधियों से युक्त । सहदेवी आदि ओषधिसमूहों से—

'शैवागम में एकमात्र सहदेवी ही श्रेष्ठ मानी गयी है ।'

ऐसा सारसंग्रह नामक ग्रन्थ में कथन होने से प्रधान औषधि सहदेवी लोहधातु (सोना) और बीजों के समूह से युक्त । 'मूलमन्त्र का स्मरण' इत्यादि कथन कलश को परचिन्मूर्त्तिमय बतलाता है ॥ ७४ ॥

इसके बाद उस कलश में—

कला अध्वा, भैरव आदि का न्यास कर अर्घ आदि देना चाहिए ।

गन्धपुष्पपवित्राद्यैः सितवस्त्रेण भूषयेत् ॥ ७६ ॥

अ(त्र) च पूर्वोक्तः सर्वो न्यासादिक्रम आश्रयणीयः । पवित्रम् अर्घपात्राम्बु न तु पवित्रकम्, तस्य नियतसमयपूरणाय नियतकालत्वात् । एवमुत्तरत्रापि ॥ ७६ ॥

अथ—

वामभागे तु कुम्भस्य पञ्चगव्येन मण्डलम् ।
शिवाम्भसा तु संप्रोक्ष्य प्रणवेनासनं न्यसेत् ॥ ७७ ॥
संप्रोक्ष्य च शिवाम्भोभिर्वार्धानीं मङ्गलान्विताम् ।
कुम्भवच्चार्चयित्वा तामासनस्योपरि न्यसेत् ॥ ७८ ॥

वामभाग इति क्रियाशक्तिव्याप्त्या भाविधारापातनक्रमेण विघ्नप्रशमनसिद्ध्यर्थम्, कुम्भवदासनस्योपरि तदङ्गत्वात्तद्व्याप्त्यैवेत्यर्थः । मङ्गलान्वितां सुलक्षणान्विताम् ॥ ७८ ॥

अथ—

गन्धपुष्पपवित्राद्यैः पूजयित्वा तु वार्धनीम् ।
उच्चार्यास्त्रं क्रमेणाग्रे द्रव्याणां वार्धनीं नयेत् ॥ ७९ ॥

तत्पश्चात् मुद्रा (= योनिमुद्रा) दिखाकर अग्निकोणस्थ दल आदि में हृदय आदि की गन्ध पुष्प पवित्र आदि से पूजा कर श्वेत वस्त्र से उस घट को अलङ्कृत करना चाहिए ॥ -७५-७६ ॥

यहाँ पूर्वोक्त समस्त न्यास आदि का क्रम अपनाना चाहिये । पवित्र = अर्घ पात्र का जल न कि पवित्रक क्योंकि वह (= पवित्रक) निश्चित काल तक निश्चित समय की पूर्त्ति के लिये रहता है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये ॥ ७६ ॥

तत्पश्चात्—

कलश के वाम भाग में पञ्चगव्य से मण्डल बनाये । फिर उसका शिवाम्बु से प्रोक्षण कर प्रणव मन्त्र के द्वारा वहाँ आसन रखे । शुभ लक्षण वाली वार्धानी का शिवाम्बु से प्रोक्षण कर कुम्भ की भाँति उसका पूजन कर उसे आसन के ऊपर रखे ॥ ७७-७८ ॥

वाम भाग में—क्रियाशक्ति की व्याप्ति के द्वारा भावी जलधारा के पातन के क्रम से विघ्नों के नाश के लिये ऐसा किया जाता है । कुम्भ के समान आसन के ऊपर उसका (= कुम्भ का) अङ्ग होने के कारण उसी की व्याप्ति से यह (= वार्धानी) युक्त होती है । मङ्गलान्वित = शुभलक्षणों वाली ॥ ७८ ॥

इसके बाद—

वार्धानी की गन्ध पुष्प पवित्र जल आदि से पूजा कर अस्त्रमन्त्रों का शिष्य के द्वारा उच्चारण करा कर द्रव्यों के आगे क्रम से वार्धानी को ले

अच्छिन्नामनुलोमेन जलधारां तु पातयन् ।
तत्स्थानात्तु समुद्धृत्य यावत्कोणं तु शाङ्करम् ॥ ८० ॥

उच्चार्येति काकाक्षिवत् । तत्स्थानात् कलशवामादस्त्रमुच्चार्य वार्धानीं समुद्धृत्य अधिवास्यानां द्रव्याणामग्रे पृष्ठतोऽनुलोमेन पूर्वादिदिक्क्रमेण शाङ्करं कोणम् ऐशानं कोणं यावदच्छित्रां विघ्नोत्सादनाय जलधारामस्त्रमुच्चार्य पातयन्निति द्वौणिचौ ॥ ८० ॥

अत्र च कर्मणि—

आचार्यः कलशं पश्चाद् भैरवेण समुद्धरेत्।
नयेद्वार्धानिमार्गेण तस्मिन् संस्थापयेत् पुनः ॥ ८१ ॥

अग्रे भ्रमन्त्या वार्धान्याः पश्चाच्छिवकुम्भं भ्रमयन् स्वमन्त्रेण स्थापयेदित्यर्थः ॥ ८१ ॥

वार्धानीं स्थापयेत् पश्चादस्त्रमन्त्रमनुस्मरन् ।

स्थापयेदिति, क्रियाशक्तिव्याप्त्या धारापातेन लोकपालान् व्यवस्थाप्य भगवतो

जाये । अनुलोम क्रम से अच्छिन्न जल धारा को गिराते हुए उस स्थान (= कलश के बायें से) प्रारम्भ कर ईशानकोण तक जाये ॥ ७९-८० ॥

'उच्चार्य' पद को काकाक्षि की भाँति जोड़ना चाहिये (अर्थात् वार्धानी को उठाते समय और जलधारापात के समय अस्त्र मन्त्रों का उच्चारण कराना चाहिये)। उस स्थान से = कलश के बायें से, अस्त्र मन्त्र का उच्चारण कर वार्धानी को उठाकर अधिवास्य द्रव्यों के आगे पीछे अनुलोम क्रम से पूर्व दिशा से प्रारम्भ कर शाङ्कर = ईशान कोण तक विघ्नों को हटाने के लिये अच्छिन्न जलधारा को अस्त्र मन्त्र का उच्चारण कराते हुए गिराये = गिराते हुए शिष्य को गुरु ले जाय । यहाँ 'उच्चार्य' और 'पातयन्' दोनों जगह णिच् का प्रयोग है ॥ ८० ॥

इस कर्म में—

जलपात के बाद आचार्य भैरव मन्त्र का उच्चारण करते हुए कलश को उठाये और वार्धानी के रास्ते ले जाकर फिर भैरव मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसी मार्ग से कलश को लाकर रख दे ॥ ८१ ॥

आगे भ्रमण करती हुई वार्धानी के पीछे शिव कुम्भ को घुमाते हुए अपने (= भैरव) मन्त्र से उसे रख दे ॥ ८१ ॥

बाद में अस्त्र मन्त्र का स्मरण करते हुए वार्धानी को भी रख देना चाहिए ॥ ८२- ॥

स्थापित करे = क्रियाशक्ति की व्याप्ति से धारापात के द्वारा लोकपालों को

दक्षिणहस्ते वार्धान्यस्त्रमिति ॥

अथ—

विशेषपूजामुभयोर्गन्धपुष्पपवित्रकैः ॥ ८२ ॥
मन्त्रसंधानकं कुर्यान्नाडीसंधिमथोभयोः ।

किं च—

विकिरान् संहितान् पूर्वं वार्धान्याः कल्पयेदधः ॥ ८३ ॥

अत एव च—

अक्षतास्त्राण्यनेकानि शरकुन्तासिमुद्गराः ।
चक्रपट्टिसवज्रादित्रिशूलान्तान्यनेकशः ॥ ८४ ॥
यागौको व्याप्य सर्वं तु तिर्यगूर्ध्वमधः स्थिताः ।
वार्धान्यस्त्रस्य सर्वे ते रश्मिभूता व्यवस्थिताः ॥ ८५ ॥

एतच्च—

शिष्यस्य दक्षिणे हस्ते वार्धान्यस्त्रं तु संहितम् ।

तेन स्वस्थान एव स्थापितस्य शिवस्य शिवकुम्भदक्षिणेऽस्त्रं स्थापयेत् । यदुक्तं मृगेन्द्रेऽपि—

स्थापित कर भगवान् के दायें हाथ में वार्धानी अस्त्र को स्थापित करे ॥

इसके बाद—

(आचार्य) गन्ध पुष्प पवित्र जल से (कलश एवं वार्धानी) दोनों की पूजा कर दोनों का मन्त्रसन्धान और नाड़ीसन्धान करे ॥ -८२-८३- ॥

तथा—

वार्धानी के नीचे पहले एकत्रित किये गये विकिरा को गिराये ॥-८३ ॥

और इसीलिये—

अनेक प्रकार के अक्षत (= बिना टूटे फूटे) अस्त्र जैसे बाण, भाले, तलवार, मुद्गर, चक्र, पट्टिस (तेज धार की बर्छी) वज्र और त्रिशूल इत्यादि सम्पूर्ण यागगृह में सर्वत्र ऊपर नीचे और तिरछे रखे जाते हैं । वे सब वार्धानी अस्त्र की रश्मि के समान कल्पित होते हैं ॥ ८४-८५ ॥

और यह—

एकत्रित वार्धानी और अस्त्र शिष्य के दायें हाथ में रखे ॥ ८६- ॥

इससे अपने स्थान में ही स्थापित शिवकुम्भ के दायीं ओर अस्त्र को स्थापित

'तद्दक्षिणे '[1]महाशस्त्रम्' (कि० ७।२४) इत्यादि ॥

यत एवम्—

तेनैतं यज्ञरक्षार्थं यागादौ कलशं न्यसेत् ॥ ८६ ॥

'कलशम्' इति कलशाधिकरणमशेषयागाद्याप्यायनाद्यवभृथस्नानान्तप्रयोजनं भगवन्तमित्यर्थः ॥ ८६ ॥

तं च—

नैवेद्यं विविधं दत्त्वा नुत्वा विज्ञापयेद्विभुम् ।
भगवंस्त्वत्प्रसादेन यागं निर्वर्तयाम्यहम् ॥ ८७ ॥
संनिधानं सदा तुभ्यं............

इच्छामीति शेषः । क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यमिति चतुर्थी ॥

ततश्च—

............अविघ्नार्थं सदा भव ।

एवं कृत्वा—

करे । जैसा कि मृगेन्द्रागम में कहा गया है—

'उसके दक्षिण में महाशस्त्र (रखना चाहिये !' कि० ७२४) इत्यादि ॥

चूँकि ऐसा है—

इस कारण याग के आदि में यज्ञ की रक्षा के लिये इस कलश को रखना चाहिये ॥ -८६ ॥

कलश = कलश में स्थित भगवान् (शिव), जिनका प्रयोजन आप्यायन से लेकर अवभृथ स्नान पर्यन्त यज्ञ की रक्षा करना है (को स्थापित करे) ॥ ८६ ॥

उस (कलशस्थ भगवान्) के लिये—

अनेक प्रकार का नैवेद्य देकर उनकी स्तुति कर उन्हें यह बतलाये कि हे भगवन् ! आपकी कृपा से मैं याग को सम्पन्न कर रहा हूँ । आप यहाँ सदा सन्निहित रहिये ॥ ८७-८८- ॥

'तुभ्यम्' यहाँ चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग 'क्रिया का भी ग्रहण करना चाहिये'— इस नियम के अनुसार ('इच्छामि' क्रिया के सन्दर्भ में किया गया है) ॥

इसके बाद (कहे कि)—

आप सदैव निर्विघ्नता के लिये यहाँ रहिये ॥ -८८- ॥

---

१. महेशास्त्रम् (इति पाठान्तरम्)

अनुज्ञातोत्थितो यायादर्घहस्तो दिगीश्वरान् ॥ ८८ ॥

ततश्च—

स्वनामपदविन्यासानोंकारादिनमोन्तगान् ।
गन्धपुष्पपवित्राद्यैः पूजयेत्तान् प्रयत्नतः ॥ ८९ ॥

'ॐ इन्द्र संनिहितो भव नमस्ते' इत्यादिस्वनामपदविन्यासपूर्वमेतान् प्रपूजयेत् ॥ ८९ ॥

तानुद्दिशति संक्षेपेण—

इन्द्राद्यनन्तपर्यन्तांल्लोकपालान् प्रपूजयेत् ।

ऊर्ध्वे ब्रह्मा, अधोऽनन्तः, इत्यनन्तपर्यन्तानित्युक्तम्, तत्र चैशानदिगूर्ध्वे ब्रह्मा नैर्ऋतदिग्भागेऽनन्तः पूज्यः । इहाधिवासे गृहरक्षार्थं दश लोकपालाः पूज्याः । यागे तु पूर्वोक्तभैरवाष्टकव्याप्त्याष्टावेव, तथा श्रुतत्वात्[1] ।

यदर्थमेतत्तदाह—

ततो मण्डलकं मध्ये यागभूमौ प्रकल्पयेत् ॥ ९० ॥

ऐसा करके—

उनसे आज्ञा लेकर हाथ में अर्घ लिये हुए आचार्य दिशाओं के स्वामी देवताओं के पास जाये ॥ -८८ ॥

इसके बाद—

ॐकार के साथ उस दिगीश्वर का नाम फिर अन्त में 'नमः' जोड़कर गन्ध पुष्प पवित्रक (जल) आदि से प्रयत्नपूर्वक उनकी पूजा करे ॥ ८९ ॥

'ॐ इन्द्र सन्निहितो भव (तुभ्यं पुष्पं समर्पयामि नमः) इस प्रकार उनके नामों के उच्चारण के साथ पूजा करे ॥ ८९ ॥

संक्षेप में उनके नाम बतलाते हैं—

इन्द्र से लेकर अनन्त पर्यन्त (दश) लोकपालों की पूजा करे ॥ -९० ॥

ऊपर ब्रह्मा नीचे अनन्त होने से 'अनन्त पर्यन्त' कहा गया । उसमें ईशान दिशा के बाद ब्रह्मा और नैर्ऋत दिशा में अनन्त की पूजा करनी चाहिये । यहाँ अधिवास में यागगृह की रक्षा के लिये दश दिक्पालों की पूजा करे । लेकिन याग में पूर्वोक्त आठ भैरव की व्याप्ति के कारण आठ ही की पूजा करे क्योंकि वैसी ही श्रुति है ।

जिसके लिये यह विधान है उसको कहते हैं—

---

१. अत्र योगिनीहृदयदीपिकास्थः (पृ० २३५) इन्द्रेशानदिशोरितो श्लोको द्रष्टव्यः ।

पञ्चगव्येन लिप्त्वादौ गन्धतोयेन चोपरि ।

मण्डलं लिम्पेदित्यर्थः । रजोमण्डलकं त्वधिवासादुत्तरकालं भविष्यति ॥ ९० ॥

अथैतत्—

शिवाम्भसास्त्रमन्त्रेण संप्रोक्ष्य त्ववगुण्ठयेत् ॥ ९१ ॥

अर्थात् कवचमन्त्रेण ॥ ९१ ॥

अत्र चादौ—

ब्रह्मस्थानस्य पूर्वेण गुरुन् पूज्य विनायकम् ।
वायव्ये पूजयेद् देवि गन्धपुष्पैरनुक्रमात् ॥ ९२ ॥

अविघ्नार्थमादौ वायव्ये गणपतिं पूजयेत्, ततः पूर्वस्यां दिशि गुर्वादीनित्यनुक्रमार्थः ॥ ९२ ॥

अथैतांस्तु नमस्कृत्य आज्ञां दत्तां विभावयेत् ।

एतैरेव ।

इसके बाद यागभूमि के बीच में मण्डल बनाये । इसके लिये पहले (मण्डलभूमि) को पञ्चगव्य से लीपना चाहिए । उसके ऊपर सुगन्धित जल से लीपना चाहिए ॥ -९०-९१- ॥

अर्थात् मण्डल के लीपे । रजोमण्डल अधिवास के बाद में होगा ॥ ९० ॥

इसके बाद इस (मण्डल) का—

शिवोदक से अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए प्रोक्षण कर (कवच मन्त्र से उस मण्डल का) अवगुण्ठन करे ॥ -९१ ॥

अर्थात् कवच मन्त्र से अवगुण्ठन करे ॥ ९१ ॥

यहाँ पहले —

हे देवि ! ब्रह्मस्थान से पूर्व वायव्य कोण में गन्ध पुष्प आदि से गणेश की पूजा कर बाद में क्रम से गुरुओं की पूजा करे ॥ ९२ ॥

निर्विघ्नता के लिए पहले वायव्य कोण में गणेश की पूजा करनी चाहिए । इसके बाद पूर्व दिशा में गुरु आदि की । श्लोक में आये हुए 'अनुक्रम' शब्द का यही अर्थ है । इन्हीं के द्वारा (आज्ञा दी गई ऐसी भावना करनी चाहिए) ॥ ९२ ॥

तत्पश्चात् इनको नमस्कार करे और यह भावना करे कि इन लोगों ने यज्ञ के लिये आज्ञा दे दी है ॥ ९३- ॥

इस प्रकार आज्ञा लेकर—

इत्थं गृहीताज्ञः—

ततस्तु मध्यदेशस्थं योगपीठं प्रकल्पयेत् ॥ ९३ ॥
पूर्वोक्तेन विधानेन................

आधारशक्त्यादिप्रेतान्तं परमेश्वरस्य योगशब्दवाच्यस्वशक्तिरूपपीठमासनम् । यथोक्तम्—

'योगोऽस्य शक्तयः स्वाक्याः' (मतङ्ग० १।१।४) इति ॥ ९३ ॥

अत्र च—

..................भैरवेशं वरानने ।
पूजयित्वा पवित्राद्यैस्त्रिरावरणसंयुतम् ॥ ९४ ॥
स्वध्यानगुणसंयुक्तं मुद्रालङ्कारभूषितम् ।

ब्रह्माङ्गावरणं भैरवावरणं सास्त्रलोकपालावरणं च—इति त्रीण्यावरणानि । ध्याने गुणः शुद्धस्फटिकत्वादिः । मुद्रा आयुधसंनिवेशाः, आभरणं कपालमालादि ॥ ९४ ॥

अत्र च—

मन्त्रसंधानकं पूर्वं नाडीसंधानमेव च ॥ ९५ ॥
परमीकरणं कुर्याद् व्यापकेन परेण तु ।
नैवेद्यान् विविधाकारान् दत्त्वा मुद्रां प्रदर्शयेत् ॥ ९६ ॥

पूर्वोक्त विधान से यागगृह के मध्यदेश में योगपीठ बनाये ॥-९३-९४-॥

आधारशक्ति से लेकर प्रेत पर्यन्त परमेश्वर के लिये जो आसन होता है वही योगशब्द की वाच्य उनकी अपनी शक्ति रूपी पीठ है । जैसा कि कहा गया—

'योग इस (परमेश्वर) की अपनी शक्तियाँ ही हैं' ॥ ९३ ॥ (मतङ्ग १।१।४)

यहाँ—

हे वरानने ! तीन आवरणों से संयुक्त, अपने ध्यान में आने वाले गुणों से युक्त, मुद्रा एवं अलङ्कार से भूषित भैरवेश की पूजा करे ॥ -९४-९५-॥

तीन आवरणों के नाम हैं—ब्रह्माङ्गावरण, भैरवावरण और सास्त्रलोकपालावरण । ध्यानगुण का अर्थ है—ध्यान करते समय गुण = शुद्ध स्फटिक स्वरूप होना आदि । मुद्रा = शस्त्रों का सन्निवेश । आभरण = कपालों की माला (सर्प) आदि ॥ ९४ ॥

यहाँ—

पहले मन्त्रसन्धान करे फिर नाडीसन्धान । फिर व्यापक पर के साथ परमीकरण करे । तत्पश्चात् अनेक प्रकार का नैवेद्य देकर मुद्रा का प्रदर्शन

प्रणिपातं जपं कृत्वा निवेद्य विधिपूर्वकम् ।
पश्चाद् बलिः प्रदातव्यो मातृणां भूतसंहतेः ॥ ९७ ॥
भूतेश्वराणां देवेशि क्षेत्रपालस्य सर्वतः ।

'भूता ये विविधाकारा दिव्यभौमान्तरिक्षगाः ।' (३।२०७)

इत्यादिना भाविना मन्त्रेण कलशादियागान्तोऽपि, एतेभ्यो भगवदनुचरेभ्यो बलिर्देयः ॥ ९७ ॥

एवं दत्तबलिराचार्यः—

ततः स्नायादथोद्धूल्य अथवाचम्य सुव्रते ॥ ९८ ॥
ततोऽग्निकुण्डं गत्वा तु पूर्ववच्छोधनं तथा ।
भैरवं पूजयेत्तत्र विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ९९ ॥

सत्कर्मान्तरायभूतबलिस्पर्शसञ्जाताशुद्धिविकल्पानुसारेण स्नानादि कार्यम्, शोधनमग्नेः संस्करणम् ॥ ९९ ॥

ततश्च शिवीकृत्य पूजितस्य—

अग्नेः संतर्पणं कुर्यात् सहस्रेण शतेन वा ।

करे । साष्टाङ्ग प्रणाम कर जप करे और उस जप को विधिपूर्वक परमेश्वर को समर्पित करे । बाद में माताओं के लिये भूतसंहति (= प्राणीसमूह) के लिये बलि देनी चाहिये । हे देवेशि! भूतेश्वरों और क्षेत्रपालों के लिये भी सब प्रकार से बलि दे ॥ -९५-९८- ॥

कलश स्थापन से लेकर याग के अन्त तक—'भूता ये विविधाकारा दिव्य अन्तरिक्षगा ।' (३।२०७)

इत्यादि वक्ष्यमाण मन्त्र से भगवान् के अनुचरों के लिये बलि दे ॥ ९७ ॥

इस प्रकार बलिदान करने के बाद आचार्य—

हे सुव्रते ! स्नान करे अथवा भस्म धारण करे अथवा केवल आचमन करे । तत्पश्चात् अग्निकुण्ड के पास जाकर पूर्व की भाँति शोधन करे । फिर भैरव की विधिविधान के साथ पूजा करे ॥ -९८-९९ ॥

सत्कर्म के समय विघ्न उत्पन्न करने वाले भूतों के लिये दी गयी बलि के स्पर्श से उत्पन्न अशुद्धि के परिहार के लिये स्नान आदि करना चाहिये । शोधन = अग्नि का संस्कार ॥ ९९ ॥

इसके बाद शिव बनाये गये—

अग्नि की एक हजार या एक सौ आहुति देकर तृप्ति करे ॥ १००- ॥

यथासंभवं तिलाद्यैः, परिवाराणां दशांशतः, इत्युक्तमेव ॥

ततश्चरुं च श्रपयेत्................

पचेत् पाचयेद्वा ॥

तद्वा कथम् ?

.........स्थालीं संगृह्य निर्व्रणाम् ॥ १०० ॥
शिवाम्भसा तु प्रक्षाल्य कवचेनावगुण्ठयेत् ।
चन्दनाद्यैर्विलिम्पेत् तां मृष्टधूपेन धूपयेत् ॥ १०१ ॥
सूत्रेण वेष्टयेत् कण्ठे वर्मभूतेन सुव्रते ।

अथ स्थाल्याः—

दर्भेणास्त्रस्वरूपेण कल्पयेन्मण्डलं प्रिये ॥ १०२ ॥
प्रोक्ष्य चैव शिवाम्भोभिः कवचेनावगुण्ठयेत् ।
आसनं तत्र विन्यस्येदनन्तादिशिवान्तकम् ॥ १०३ ॥

तत्र च—

यह हवन यथासम्भव तिल आदि से होना चाहिये । अग्नि के परिवार की दशांश आहुति से तृप्ति करे ॥

इसके बाद चरु को या तो आचार्य स्वयं पकाये या किसी के द्वारा पाचन कराये ॥ -१००- ॥

स्वयं पकावे या किसी से पकवाए ॥

वह कैसे—

निर्व्रण (= टूटी फूटी टेढ़ी मेढ़ी नहीं) स्थाली (= मिट्टी की हँड़िया) को लेकर उसे शिवोदक से धुल कर कवच मन्त्र से अवगुण्ठित करना चाहिए । चन्दन आदि से उसका लेप करे और शुद्ध धूप से उसे धूपित करना चाहिए । हे सुव्रते ! बाद में वर्मभूत सूत्र से (उस स्थाली के) कण्ठ में वेष्टन करना चाहिए ॥ -१००-१०२- ॥

इसके बाद स्थाली का—

हे प्रिये ! इसके बाद अस्त्रस्वरूप दर्भ से स्थाली का मण्डल करना चाहिए । फिर शिवोदक से उसका प्रोक्षण कर कवच से अवगुण्ठन करना चाहिए । उसके बाद अनन्त से लेकर शिवपर्यन्त देवताओं के लिये आसन देना चाहिए ॥ -१०२-१०३ ॥

वहाँ पर—

मूर्तिभूतां न्यसेत् स्थालीं तत्रस्थं भैरवं यजेत् ।
त्रिरावरणसंयुक्तं गन्धपुष्पैरनुक्रमात् ॥ १०४ ॥
मानसेन प्रयोगेण भावपुष्पैर्वरानने ।

चरोः पुष्पादिसङ्कीर्णतया विरसता मा भूत्, इति पूजात्र नोक्ता ॥ १०४ ॥

अथ—

चुल्लीं संप्रोक्ष्य चास्त्रेण कुण्डवच्चार्चयेत्ततः ॥ १०५ ॥

प्रोक्षणं कुण्डोक्तसंस्कारान्तरोपलक्षणाय ॥ १०५ ॥

तत्र स्थालीं समारोप्य पश्चादग्निं न्यसेदधः ।

पूर्वसंस्कृतोद्धृतम् ॥

अथ स्थाल्याम्—

क्षीरं प्रोक्ष्य शिवाम्भोभिस्तण्डुलांश्च समासतः ॥ १०६ ॥
मन्त्रेणाष्टशतेनैव प्रक्षिप्य पाचयेच्छनैः ।

(स्वच्छन्द भैरव की) मूर्त्ति स्वरूप स्थाली को रखे और उसमें स्थित तथा तीन आवरण (= आवरण भूत देवताओं ब्रह्मा तथा अस्त्र धारण किये हुए लोकपाल) से युक्त भैरव की क्रमशः गन्ध पुष्प आदि से पूजा करनी चाहिए । हे वरानने ! यह पूजा भावनात्मक पुष्पों के द्वारा मानसिक होनी चाहिये ॥ १०४-१०५- ॥

चरु के पुष्प आदि से मिश्रित हो जाने के कारण उसमे विरसता न हो जाय इस भय से यहाँ (स्थूल) पूजा नहीं कही गयी ॥ १०४ ॥

इसके बाद—

अस्त्र मन्त्र से चुल्हे का प्रोक्षण कर फिर कुण्ड के समान उस चूल्हे की पूजा करे ॥ -१०५ ॥

यहाँ प्रोक्षण कुण्ड के विषय में कहे गये अन्य संस्कारों का उपलक्षण है (अर्थात् कुण्ड के संस्कारों की भाँति चूल्हे भी समस्त संस्कार करना चाहिये) ॥ १०५ ॥

उस चूल्हे पर पूर्व संस्कार के बाद उठायी गयी अग्नि को स्थाली के नीचे रखे ॥ १०६- ॥

पूर्व में किये गये संस्कार के बाद उद्धृत ॥

तत्पश्चात् स्थाली में—

शिवोदक से तण्डुल एवं दूध को संक्षेप में १०८ बार प्रोक्षित कर उसे स्थाली में डाले और हे देवेशि ! फिर मूलमन्त्र का जप करते हुए उसे

मूलमन्त्रेण देवेशि एकचित्तः समाहितः ॥ १०७ ॥

शनैरिति, यथा स्थाली न भज्यते ॥ १०७ ॥

तत्र च—

चालनोद्घाटनादीनि अस्त्रमन्त्रेण कारयेत् ।

कारयेदिति पूर्वदीक्षितशिष्येण ॥

अथात्र चरौ—

तप्ताभिघारं सुस्विन्ने अङ्गैश्चैव प्रकल्पयेत् ॥ १०८ ॥
त्रिभिस्त्रिभिर्घृतेनैव स्रुवेण जुहुयात् प्रिये ।

तप्तश्चासावग्निव्याप्त्याभिघारश्च आज्यामृतसेचनेन उद्दीपनात्मा, धात्वर्थानुसारात् । एष च दीप्तस्वाहान्तमन्त्रैः स्थाल्यां होमोऽस्विन्नतादोषनाशनाय ॥ १०८॥

अथ—

भूमौ मण्डलकं कृत्वा प्रणवेनावतारयेत् ॥ १०९ ॥

मूल मन्त्र का जप करते हुए अग्नि से पकाये ॥ -१०६-१०७ ॥

(इस पाकक्रिया को) धीरे-धीरे (किया जाना चाहिये) ताकि हँड़िया फूट न जाये ॥ १०७ ॥

इस (पाचन क्रिया) में—

चलाना और उड़ेलना आदि अस्त्रमन्त्र (का जप करने वाले शिष्य) के द्वारा करवाना चाहिये ॥ १०८- ॥

पूर्व में दीक्षित शिष्य द्वारा करवाए ॥

इसके बाद—

अच्छी तरह पके हुए इस चरु में तप्त अभिघार करे । हे प्रिये ! स्रुवा के द्वारा घृत से तीन-तीन बार अङ्गों (= दीप्तस्वाहान्त मन्त्रों) के साथ हवन करना चाहिए ॥ -१०८-१०९- ॥

('तप्तअभिघार' का अर्थ स्पष्ट करते हैं—) अग्नि व्याप्ति के कारण तप्त जो अभिघार वह घृतरूपी अमृत के द्वारा सेचन के कारण उद्दीपनवाला है । दीप्त स्वाहान्तमन्त्रों के द्वारा स्थाली में यह होम अस्विन्नता (चिकनाई या परिपक्वता का अभाव) रूपी दोष को नष्ट करने के लिये है ॥ १०८ ॥

इसके बाद—

पृथ्वी पर ॐकार के द्वारा मण्डल बनाकर ॐकार का उच्चारण

स्थालीमाज्योपलिप्तां तु शीताघारं च होमयेत् ।
भैरवेण षडङ्गेन वषड् जातियुतेन च ॥ ११० ॥

शीतेति सोमव्याप्त्या अस्विन्नतादोषनाशनाय, अत्रान्तरे स्वा इति चरौ हा इत्यग्नौ उच्चार्य जुहुयादिति गुरवः । एवमग्नीषोममयश्चरु. संस्कारतः संपन्नः । यथोक्तं श्रुतौ—

'यो ह वैतदग्नीषोमीयमाज्यं जुहोति तस्यैतदमृतीभवति ।' इति ।

[1]श्रीमृगेन्द्रोत्तरेऽपि—

'अग्नीषोमात्मकावेतावाघारौ विहितौ चरौ ।
अमृतत्वाप्तये तत् स्यादग्नीषोमात्मकं यतः ॥' इति ॥ ११० ॥

ततः—

मण्डलं कुण्डसामीप्ये कृत्वा दर्भासनं न्यसेत् ।
स्थाल्यां(लीं) तस्योपरि न्यस्य संपातं मन्त्रसंहिताम् ॥ १११ ॥
जपन्नेकैकयाहुत्या पातयेद् भैरवेण तु ।

निष्कलतदङ्गवक्त्रोच्चारपूर्वं स्वा इत्यग्नौ हा इति चरौ उच्चार्य जुहुयादिति

करते हुए घी से उपलिप्त स्थाली को नीचे उतारे । फिर उसमें वषट् जाति से युक्त षडङ्ग भैरवमन्त्र के द्वारा शीताघार का होम करे ॥ -१०९-११० ॥

शीताघार करने का उद्देश्य है—सोमव्याप्ति के द्वारा उत्पन्न अस्विन्नतादोष का नाश । यहाँ 'स्वा' का उच्चारण कर चरु में और 'हा' का उच्चारण कर अग्नि में हवन करे—ऐसा हमारे गुरु कहते हैं । इस प्रकार संस्कार के द्वारा चरु अग्नीषोममय हो जाता है । जैसा कि श्रुति में कहा गया—

'जो व्यक्ति इस अग्नीषोमीय घृत का हवन करता है उसके लिये यह अमृत हो जाता है ।'

श्रीमृगेन्द्रोत्तर तन्त्र में भी (कहा गया है—)

'चरु में दो अग्नीषोमात्मक आघार का विधान बतलाया गया है । यह अमृतत्व की प्राप्ति के लिये किया जाता है क्योंकि वह अग्नीषोमात्मक होता है' ॥ ११० ॥

इसके बाद—

कुण्ड के समीप मण्डल बना कर कुश का आसन रखना चाहिये । उसके ऊपर स्थाली रख कर मन्त्रसंहिता का जप करते हुए भैरव मन्त्र से एक-एक आहुति के द्वारा, संपात होम करना चाहिये ॥ १११-११२- ॥

---

१. मृगेन्द्रे क्रियापादे (७।४२) द्रष्टव्यम् ॥

संपातहोमक्रमः ॥ १११ ॥

प्रसङ्गादग्नीषोमताभिव्यक्तये सर्वत्र संपातहोममाह—

अष्टोत्कृष्टशतेनैव परामृतमनुस्मरन् ॥ ११२ ॥
रजस्यादौ ततो देवि कर्तर्यां करणौ तथा ।
खटिकातिलाज्यसंपातं मूलमन्त्रेण कारयेत् ॥ ११३ ॥

मूलमन्त्रं तत्करणे चिदानन्दात्मकपरामृतानुस्मरणेन तत्समर्थाचरणेन प्रयुञ्जीतेत्यर्थः ॥ ११२-११३ ॥

अथ—

त्रिभागं कल्पयित्वा तं चरुं स्थाल्यां तु संस्थितम् ।
शिवाग्निसाधकेभ्यश्च शिवायाग्रं निवेदयेत् ॥ ११४ ॥

शिवाग्निसाधकार्थं त्रयो भागा यस्य तादृशं तमिति अलौकिकं चरुं कल्पयित्वा अग्रं शिवभागात् स्थालिकलशाद्यर्थं भागीकृतात् प्रथमं भागं शिवाय मण्डलस्थाय दद्यात् ॥ ११४ ॥

अग्न्यादिभागादिविनियोगमाह—

निष्कल और उसके अङ्गवक्त्र का उच्चारण करते हुए 'स्वा' कह कर अग्नि में और 'हा' कह कर चरु से हवन करे । यह सम्पातहोम का क्रम है ॥ १११ ॥

प्रसङ्गवश अग्नीषोमता की अभिव्यक्ति के लिये सर्वत्र सम्पात होम को बतलाते हैं—

हे देवि ! एक सौ आठ बार परामृत का स्मरण करते हुए पहले रजस् में तत्पश्चात् कर्त्तरी और करणी में मूलमन्त्र से खटिका (हवनीय पदार्थ विशेष) तिल एवं घी की आहुति दे ॥ -११२-११३ ॥

उसको करने में (= सम्पात होम को करने में) चिदानन्दरूप परअमृत के स्मरण तथा उसके योग्य आचरण के द्वारा मूलमन्त्र का प्रयोग करे ॥ ११२-११३॥

तत्पश्चात्—

स्थाली में स्थित उस चरु का शिव अग्नि और साधक के लिये तीन भाग कर पहला भाग शिव के लिये निवेदित करे ॥ ११४ ॥

शिव अग्नि और साधक के लिये बनाये गये तीन भाग वाले उस अलौकिक चरु को बना कर उसमें से अग्र = प्रथम भाग, जो कि स्थाली कलश आदि के लिये अलग किये गये से भाग से भिन्न है, को मण्डलस्थ शिव के लिये देना चाहिये ॥ ११४ ॥

द्वितीयं होमयेदग्नौ साधकेभ्यस्तृतीयकम् ।

साधकाः शिवाराधकाः ॥

शिवाय विनिवेदने विधिमाह—

चरुं पात्रे तु संगृह्य पूजयेद् भैरवेण तु ॥ ११५ ॥
पुष्पधूपादिभिर्नीत्वा धाम्ने तं विनिवेदयेत् ।

अनन्तरम्—

हृदाद्यावरणस्थानां दशमांशं निवेदयेत् ॥ ११६ ॥
कलशेऽप्येवमेव तु................

मण्डलवत् कलशे सपरिवारे विधिः ॥ ११६ ॥

अथ—

.........अग्नौ होम्यश्चरुः स्रुचा ।

अत्र—

अग्नि आदि के (लिये अलग किये गये) भाग आदि का विनियोग बतलाते हैं—

दूसरे भाग का अग्नि में हवन करे और तीसरा भाग साधकों को दे देना चाहिए ॥ ११५- ॥

साधकों = शिव के आराधकों को दे दे ॥

शिव के लिये निवेदन करने की विधि बतलाते हैं—

पात्र में चरु को रख कर भैरवमन्त्र से उस चरु की पुष्प धूप आदि से पूजा करे । फिर ले जाकर धाम (= अग्नि सूर्य सोम रूपी) शिव के लिये उस चरु को निवेदित करे ॥ -११५-११६- ॥

इसके बाद—

हृदय आदि आवरण में स्थित (देवताओं) के लिये चरु का दशमांश निवेदित करे । कलश में भी यही करे ॥ -११६-११७- ॥

('कलशेऽप्येवमेव' को स्पष्ट करते हैं—मण्डल की भाँति सपरिवार कलश के विषय में भी यही विधि है ॥ ११६ ॥

इसके बाद—

स्रुक् के द्वारा अग्नि में चरु का होम करे ॥ -११७- ॥

इसमें—

भैरवस्य शतं होम्यमङ्गानां तु दशांशकम् ॥ ११७ ॥
साधकेभ्यस्तु यच्छेषं पिधाय स्थापयेत् प्रिये ।

शेषम् इत्यवशिष्टभागरूपम् । स्थापयेदिति साधकानां शिष्याणामद्याप्य-संस्कृतानां संस्कृतचरुभोजनेऽनधिकारात् ॥ ११७ ॥

अथाधिवासार्थं होममाह—

विनायके शतं होम्यं भूपरिग्रहणे तथा ॥ ११८ ॥

भुवः पूर्वावतारितमोक्षलक्ष्याधिष्ठितायाः परिग्रहे स्वीकारनिमित्तम्, तेन 'ॐ भुवे स्वाहा, ॐ श्रिये स्वाहा' इति प्रयोगः । शतं शतं होम्यम् ॥ ११८ ॥

किं च—

अधिवासे तथैवेह अष्टोत्तरशतं हुतिः ।

प्राङ्निर्णीताधिवासनिमित्तम् । हुतिरिति भैरवस्य स्यादित्यर्थः ॥

अथ—

प्रायश्चित्तनिमित्तं तु अनुलोमविलोमके ॥ ११९ ॥

भैरव के लिये १०० आहुति (भैरव के) अङ्गों के लिये दशांश आहुति देनी चाहिये । हे प्रिये! उन हवनों से जो शेष बचता है उसे साधकों के लिये ढँक कर रख देना चाहिये ॥ -११७-११८- ॥

शेष = हवन से बचा हुआ भाग । स्थापित करे-क्योंकि साधक शिष्यों, जो कि अभी भी संस्कारविहीन हैं, का संस्कृतचरुभोजन में अधिकार नहीं है ॥ ११७ ॥

अब अधिवास के लिये होम का वर्णन करते हैं—

विनायक एवं भूपरिग्रह के लिये एक-एक सौ होम करे ॥ -११८ ॥

पूर्वावतारित (= पूर्व प्रक्रान्त) मोक्ष रूपी लक्ष्य से अधिष्ठित पृथ्वी के परिग्रह के विषय में अर्थात् स्वीकार के लिये होम करे । इससे 'ॐ भुवे स्वाहा । ॐ श्रिये स्वाहा ।' इस प्रकार आहुतिमन्त्र बनेगा । यह होम एक-एक सौ बार होना चाहिये ॥ ११८ ॥

तथा—

उसी प्रकार अधिवास में भी १०८ आहुति देनी चाहिये ॥ ११९- ॥

यह हवन पूर्ववर्णित अधिवास के लिये होता है । यह हवन भैरव के लिये होता है ॥

इसके बाद—

हे देवेशि ! अज्ञान वशात् उचित क्रम के उल्टा-पुल्टा होने के कारण

न्यूनातिरिक्ते देवेशि अष्टोत्तरशतं हुतिः ।

अनुलोमस्य विधिक्रमस्य विलोमोऽन्यथात्वम्, तत्र न्यूनाधिके च यत् प्रायश्चित्तं प्रायस्तपसि चित्तं निश्चयस्तदर्थम्, मूलेन 'प्रायश्चित्ताय जुहोमि स्वाहा' इत्यन्तेन होमः ॥ ११९ ॥

शिष्यं संस्कर्तुं पीठबन्धं करोति—

भैरवं पूजयित्वाथ प्रार्थ्यानुज्ञां वरानने ॥ १२० ॥
शिशोः कर्म प्रकर्तव्यं यथा भवति तच्छृणु ।

शिशोरिति शक्तिपाताङ्कुरितश्रीशिवभावस्य । कर्म इति अधिवासरूपम् ॥१२०॥

तदाह—

द्वारे मण्डलकं कृत्वा दर्भं तस्योपरि न्यसेत् ॥ १२१ ॥
प्रणवेनासनं कल्प्यं शिष्यं तस्मिन्निवेशयेत् ।
समपादं स्तब्धकायं सौम्याननकृताञ्जलिम् ॥ १२२ ॥

द्वारे द्वारसमीपे, स्तब्धकायम् उत्थितम्, सौम्यदिगभिमुखं प्रसन्नवदनं च ॥१२२॥

न्यूनाधिक्य होने पर प्रायश्चित्त के लिये एक सौ आठ आहुतियाँ देना चाहिए ॥ -११९-१२०- ॥

अनुलोम = विधिक्रम, का विलोम = विपरीत हो जाना । उस न्यूनाधिक में जो प्रायश्चित्त अर्थात् प्रायः = तपस्या में, चित्त = निश्चय, उसके लिये मूल मन्त्र को पढ़ कर 'प्रायश्चित्ताय जुहोमि स्वाहा' यह कहते हुए होम करना चाहिये ॥११९॥

शिष्य का संस्कार करने के लिये पीठबन्ध करते हैं—

हे वरानने ! भैरव की पूजा कर उनसे आज्ञा लेकर जिस प्रकार शिशु का कर्म (= संस्कार) किया जाता है उसे सुनो ॥ -१२०-१२१- ॥

शिशु = शक्तिपात के कारण जिसमें शिवभाव अङ्कुरित हो गया है । कर्म = अधिवास ॥ १२० ॥

उस (= कर्म) को बतलाते हैं—

द्वार पर मण्डल बना कर उसके ऊपर कुशा रखे । प्रणव के द्वारा आसन की कल्पना करे । उस पर शिष्य को खड़ा करे । शिष्य के दोनों पैर सम (= जुड़े हुए) हों; शरीर स्थिर हो और वह उत्तर की दिशा में मुँह कर प्रसन्नमुख हुआ हाथ जोड़े हो ॥ -१२१-१२२ ॥

द्वारे = द्वार के, समीप में, स्तब्धकायम् = उठा हुआ, सौम्यानन = उत्तर दिशा को अभिमुख होकर एवं प्रसन्नमुख होकर ॥ १२२ ॥

गुरुः पूर्वमुखोऽस्त्रेण प्रोक्षयेत्तं शिवाम्भसा ।
भस्मना ताडयेन्मूर्ध्नि अस्त्रमन्त्रेण चालभेत् ॥ १२३ ॥

भस्मना ताडनं यतेः, आलम्भनं स्पर्शश्च ॥ १२३ ॥

नाभ्यूर्ध्वं त्रींस्तथा वारान्नाभ्यधस्त्रीन् प्रकल्पयेत् ।

एतत्संस्कारत्रयं पाशशैथिल्याय अधस्त्रीन् वारान् मलत्रयोत्पुंसनार्थम्, ऊर्ध्वं तु शक्तित्रयोत्तेजनाय ॥

अथैवं शिथिलपाशत्वादेव विहितदेहादिशुद्धौ शिशौ—

शिवं न्यासाङ्गसहितं पूजयेद् भैरवेण तु ॥ १२४ ॥

किं च—

वस्त्रं संप्रोक्ष्य चास्त्रेण कवचेनावगुण्ठयेत् ।
पूजयेद् भैरवेणैव.................

तेनैवास्य—

गुरु पूर्व मुख हो कर शिवोदक के द्वारा अस्त्र मन्त्र पढ़ते हुए उस (= शिष्य) का प्रोक्षण करे । भस्म के द्वारा शिर पर ताडन करे और अस्त्र मन्त्र से आलम्भन करे ॥ १२३ ॥

भस्म के द्वारा यति = नियम का पालन करने वाले सन्यासी का ताड़न करे । आलम्भन और स्पर्श (दोनों करने चाहिये) ॥ १२३ ॥

(ये संस्कार) नाभि के ऊपर और नीचे क्रमशः तीन-तीन बार करने चाहिये ॥ १२४- ॥

ये तीन संस्कार नाभि के नीचे तीन बार तीन (= आणव मायीय और कार्म) मलों को हटाने के लिये अर्थात् पाश को शिथिल करने के लिये होते हैं, नाभि के ऊपर तीन शक्तियों (परा, परापरा और अपरा) को उत्तेजित करने के लिये किये जाते हैं ॥

इसके बाद उक्त प्रकार से पाश के शिथिल होने से शिशु के देह आदि के शुद्ध हो जाने पर ।

न्यास एवं अङ्ग के सहित शिव की भैरवमन्त्र से पूजा करे ॥ -१२४॥

तथा—

वस्त्र का अस्त्रमन्त्र से संप्रोक्षण, कवच से अवगुण्ठन तथा भैरवमन्त्र से पूजन करना चाहिये ॥ १२५- ॥

उसी वस्त्र से इस शिष्य के—

...............मुखं प्रच्छादयेत्तथा ॥ १२५ ॥

करणानां बहिष्प्रसरनिवारणायान्तर्विन्यस्तभैरवप्रकाशप्रत्यङ्मुखीकरणाय च बुद्धीन्द्रियाश्रयस्य मुखस्य प्रच्छादनम् ॥ १२४ ॥

बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाणां संयमनाय यत्प्रधानपाण्यवष्टम्भपूर्वं शिष्यं प्रवेशयेदित्याह—

हस्ताभ्यां तं गृहीत्वाथ विशेज्जवनिकान्तरम् ।

ततोऽपि—

देवस्याभिमुखं कृत्वा...............

तस्य च—

...............पुष्पं पाणौ प्रदापयेत् ॥ १२६ ॥

एकमेव पुष्पं मूलाभिमन्त्रितं पुष्पपातस्य सम्यङ्निर्णयाय दत्त्वा ॥

ततश्च—

प्रक्षेपयेत्ततो धाम्ना..................

क्षिप पुष्पमिति तं प्रयुञ्जीत, तत्पातावसरे च मूलमुच्चारयेद् गुरुरित्यर्थः ॥

मुख को ढँक दे ॥ -१२५ ॥

इन्द्रियों को बाहर जाने से रोकने के लिये तथा विन्यस्त भैरवप्रकाश को लौटाने के लिये ज्ञानेन्द्रियों के आधारभूत मुख का प्रच्छादन होता है ॥ १२४ ॥

ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के संयमन के लिये पहले नियन्त्रित प्रधान हाथ से अवलम्बन करे अर्थात् पकड़े फिर शिष्य को अन्दर प्रविष्ट कराये—यह कहते हैं—

(गुरु) अपने दोनों हाथों से उस शिष्य को पकड़कर यवनिका (पर्दे) के भीतर प्रवेश करे ॥ १२६- ॥

इसके बाद—

(आचार्य शिष्य को) देवता के सामने ले जाकर और उसके हाथ में पुष्प दे ॥ -१२६ ॥

मूलमन्त्र से अभिमन्त्रित एक ही पुष्प पुष्पपात के सम्यक् निर्णय के लिये देकर ॥

इसके बाद—

पुष्प को धाम के (= मूलमन्त्रोच्चार) के द्वारा फेंकने के लिये प्रेरित करे ॥ १२७- ॥

अथास्य—

............मुखमुद्घाट्य दर्शयेत् ।
विद्यामन्त्रगणैः सार्धं कारणं ससदाशिवम् ॥ १२७ ॥

कारणम् इति निष्कलनाथम्, सह सदाशिवेन सकलभट्टारकेण वर्तमानम् ॥ १२७ ॥

अथासौ—

अज्ञानपटनिर्मुक्तः प्रबुद्धः पशुरीक्षते ।
दण्डवद्धरणीं गत्वा प्रणिपत्य पुनः पुनः॥ १२८ ॥

अज्ञानेत्यनेन पटापासने व्याप्तिरुक्ता । प्रागवस्थो यः पशुः स इदानीमेव प्रबुद्धः, अत एव जन्मसहस्रापूर्वभगवत्स्वरूपावलोकनाद्विस्मयाविष्टः पुनः पुनर्भगवन्तमीक्षते । दण्डवद् गमनेन देहादिप्रमातृतापहस्तनात् श्रीशिवसमावेशानुसरणे योग्यतास्य दर्शिता ॥ १२८ ॥

अत एवासौ—

कृतकृत्यः प्रहृष्टात्मा...............

(आचार्य) 'पुष्प को फेंको'—ऐसा शिष्य से कहे । और पुष्प के गिरने के समय तक गुरु मूलमन्त्र का उच्चारण करता रहे ॥

इसके बाद इस—

(= शिष्य के) मुख को खोल कर विद्येश्वरों मन्त्रों के समूह के साथ तथा सदाशिव के साथ कारण को दिखलाये ॥ -१२७ ॥

कारण = निष्कलनाथ । सदाशिव = सकल भट्टारक, के (सह =) साथ वर्त्तमान ॥ १२७ ॥

इसके बाद यह (= शिष्य)—

अज्ञानरूपी पट से मुक्त हुआ पशु (= शिष्य) प्रबुद्ध होकर (भगवान् को) देखने लगता है । उस समय वह दण्ड के समान पृथ्वी पर गिरकर बार-बार प्रणाम भी करता है ॥ १२८ ॥

'अज्ञान' शब्द के कथन से पट के हटाने में व्याप्ति कही गयी है पहले जो पशु था वह अभी-अभी प्रबुद्ध हुआ है । इसलिये हजारों जन्म में (अननुभूत अत एव) अपूर्व भगवान् के स्वरूप को देखने से आश्चर्ययुक्त होकर बार-बार भगवान् को देखता है । दण्डवत् गमन से देहादिप्रमातृता के दूर करने से इसकी शिवसमावेश के अनुसरण में योग्यता बतलायी गयी है ॥ १२८ ॥

इस कारण यह—

तं च—

................प्रहृष्टनयनं शिशुम् ।
उत्थाप्य हस्तात् संगृह्य दक्षिणां मूर्तिमानयेत् ॥ १२९ ॥

चिदानन्दात्मकस्वरूपस्पर्शात् प्रहृष्टनयनम् । उत्थाप्य इति चिरतरं देहादिभूमिमग्नं तत उन्मज्ज्य युक्त्येत्यर्थः । दक्षिणाम् अनुकूलां शिवात्मिकामेव, न तु पाशवीं देहमयीम् ॥ १२९ ॥

श्रीमदघोरभट्टारकसंमुखं च—

तत्र मण्डलकं कृत्वा पुष्पेण प्रणवासनम् ।
तस्योपरि शिशुं न्यस्य ऊर्ध्वकायमुदङ्मुखम् ॥ १३० ॥
गुरुः पूर्वाननः स्थित्वा प्रोक्षणादीनि कारयेत् ।

आदिशब्दात्ताडनालम्भने प्राग्वत् । कारयेदिति, कुर्वतो मन्त्रांस्तद्वीर्यानुप्रवेशेन प्रयुञ्जीत ।

अथात्रासने—

उपवेश्य ततः कृत्वा सकलीकरणे विधिम् ॥ १३१ ॥

कृतकृत्य और प्रसन्नचित्त हो जाता है ॥ १२९- ॥

और वह—

गुरु उस प्रसन्न नेत्रों वाले शिशु को उठा कर हाथ से पकड़ कर दक्षिणामूर्त्ति के पास लाये ॥ -१२९ ॥

चिदानन्दात्मकस्वरूप का स्पर्श होने से यह प्रसन्न नेत्रों वाला हो जाता है । उठा कर = बहुत दिनों तक देह आदि भूमिकाओं में संलीन (उस शिष्य) को युक्ति के द्वारा उस भूमिका से ऊपर उठा कर । दक्षिणामूर्त्ति = अनुकूला शिवात्मिका मूर्त्ति न कि पशुदेह वाली ॥ १२९ ॥

और श्रीमान् अघोर भट्टारक के सम्मुख—

मण्डल (= गोल आकार की अल्पना या चौका) बना कर पुष्प के द्वारा प्रणवासन बनाये । उसके ऊपर ऊर्ध्वकाय शिशु को उत्तरमुख किये हुए बैठाये । गुरु स्वयं पूर्व की ओर मुख कर बैठे और शिष्य का प्रोक्षण आदि करे ॥ १३०-१३१- ॥

प्रोक्षण आदि—यहाँ 'आदि' शब्द से (ज्ञाप्य) ताडन और आलम्भन पहले की भाँति करे । कराये—प्रोक्षण आदि करने वाले (शिष्य के लिये) मन्त्रों का उनके वीर्य के अनुप्रवेश के साथ प्रयोग करे ।

इसके बाद इस आसन पर मुमुक्षु अथवा साधक को उसको विशेष

विशेषफलसिद्ध्यर्थं मुमुक्षोः साधकस्य वा ।

सामान्येन कृतसंस्कारस्य दृष्टभगवत्स्वरूपस्यापि—

'शिवपूजाग्निकार्यादौ सकलीकृतविग्रहः ।
नान्यथा प्राक्स्वरूपेण ।' (३।१४६)

इति वक्ष्यमाणत्वात् पुनर्यथायोगं भोगाय मोक्षाय वा शिवार्चाद्यर्हत्वविशेषफलसिद्ध्यर्थं सकलीकरणेऽस्य विधिं कृत्वा 'कलाध्वानं न्यसेत्पश्चात्' इति व्यवहितेन संबन्धः ॥ १३१ ॥

सकलीकरणं क्रमेणादिशति—

गन्धदिग्धौ करौ कृत्वा अस्त्रेण परिशोधयेत् ॥ १३२ ॥
कवचेनावगुण्ठ्यैतौ प्लावयेदमृतेन तु ।

तयोरेव च—

अनन्तमासनं कल्प्यं भैरवाङ्गानि विन्यसेत् ॥ १३३ ॥

भैरवश्चाङ्गानि चेति द्वन्द्वः ॥ १३३ ॥

फल प्राप्त कराने के लिये सकलीकरण के विषय में विधि का सम्पादन कर (बाद में कालाध्वा का न्यास करे) ॥ -१३१-१३२- ॥

सामान्यतः संस्कारसम्पन्न हुए तथा भगवत्स्वरूप का दर्शन कर चुके (साधक) का भी—

'शिवपूजा अग्निकार्य आदि में (शिष्य) को सकलीकृत शरीरवाला होना चाहिये । पूर्व स्वरूप में (पूजा नहीं होती) ।' (३।१४६)

ऐसा आगे कहेंगे । इस कारण पुनः यथायोग भोग अथवा मोक्ष के लिये शिवपूजा आदि की योग्यता रूपी विशेषफल की सिद्धि के लिये इस (शिष्य) के सकलीकरण के विषय में विधि का सम्पादन कर बाद में 'कलाध्वा का न्यास करे' ऐसा आगे के श्लोक से अन्वय है ॥ १३१ ॥

अब क्रम प्राप्त सकलीकरण को बतलाते हैं—

(गुरु शिष्य के) दोनों हाथों में गन्ध का लेप कर अस्त्र मन्त्र से उसका परिशोधन करे । फिर इन दोनों का कवच से अवगुण्ठन कर अमृत मन्त्र से उनको प्लावित करे ॥ -१३२-१३३- ॥

उन दोनों हाथों के ऊपर—

अनन्त आसन की कल्पना करे तथा भैरव और उनके अङ्गों का न्यास करना चाहिए ॥ -१३३ ॥

देहन्यासमाह—

व्योम्न्यात्मानं योजयित्वा शिशोः शोष्या तनुः प्रिये ।
आग्नेयीं धारणां ध्यात्वा निर्दह्यास्त्रेण तं शिशुम् ॥ १३४ ॥
धूमज्वालाविनिर्मुक्तं दग्धकायं विभावयेत् ।
भस्मीभूतं ततः शान्तं प्लावयेदमृतेन तु ॥ १३५ ॥
व्योमवच्चिन्तयेद् देहं चैतन्यं कनकाग्निवत् ।
शक्तिन्यासं न्यसेत् पूर्वं कमलं प्रणवेन तु ॥ १३६ ॥
तस्योपरि तदात्मानं ध्यायेज्ज्योतिर्मयं शुभम् ।
मूर्तिमन्त्रं समुच्चार्य मूर्तिभूतं प्रकल्पयेत् ॥ १३७ ॥

तत्सर्वं भावनया कार्यम् ॥ १३७ ॥

कथमित्याह—

पूर्वोद्धृतेन मन्त्रेण..................

जातावेकवचनम् । तेन—

'संहारेण यभिन्नेन' (२।३६)

भैरवाङ्गानि—यह भैरवश्च अङ्गानि च यह द्वन्द्वसमास है ॥ १३३ ॥

अब देहन्यास को कहते हैं—

हे प्रिये ! गुरु अपनी आत्मा को आकाश से जोड़ कर शिष्य के उस शरीर को सुखा दे । फिर आग्नेयी धारणा का ध्यान कर अस्त्रमन्त्र से उस शिशु को पूरी तरह जला डाले । फिर उस शिशु को यह समझे कि वह धूम की ज्वाला से मुक्त हो गया और उसका शरीर जल गया । इस प्रकार पहले भस्मीभूत बाद में शान्त उस शिशु के शरीर को अमृत से आप्लुत करे । फिर उस शिशुशरीर का आकाश की भाँति चेतन एवं कनकाग्नि (= स्वर्णिम तेज अथवा दह्यमानस्वर्ग में वर्त्तमान अग्नि) के समान ध्यान करे । पहले शक्तिन्यास करे फिर प्रणव के उच्चारण से कमल को बनाना चाहिए । उस (कमल) के ऊपर ज्योतिर्मय शुभ शिशु आत्मा का ध्यान करे । फिर मूर्त्तिमन्त्र का उच्चारण कर उस आत्मा को मूर्त्तिमान् समझे ॥ १३४-१३७ ॥

यह सब अनुष्ठान भावनात्मक करना चाहिये ॥ १३७ ॥

कैसे करना चाहिये—यह बतलाते हैं—

पहले उद्धृत मन्त्रों के द्वारा ॥ १३८- ॥

यहाँ 'मन्त्रेण' में एक वचन का प्रयोग जाति अर्थ में है । इससे—

इत्यादिः सर्वः पूर्वोक्तः क्रम आश्रयितव्यः । एवमुत्तरत्र ॥

प्राग्वदेव शिवावेशावष्टम्भरसेन—

......................प्लावयेदमृतेन तु ।

अथ—

मन्त्रन्यासो यथापूर्वमष्टात्रिंशत्कलावधि ॥ १३८ ॥

अथात्रैवान्तर्बहिश्च शुद्धतत्त्वात्मकदेहसर्गाय सृष्टिक्रमेण—

कलाध्वानं न्यसेत् पश्चाच्छान्त्यतीताद्यनुक्रमात् ।
स्फटिकाभा तथा कृष्णा रक्ता शुक्ला च पीतका॥ १३९ ॥
शान्त्यतीतादिका ज्ञेयास्तत्त्वभूतास्तु ताः कलाः ।

तत्त्वभूता इति खादिपृथिव्यन्तास्तत्त्वरूपतां प्राप्ताः, अत एवासां यथोचितमेव ध्यानं युक्तमित्येष शुद्धतत्त्वसृष्ट्यर्थं कलापञ्चकन्यासोऽत्राधिवासे तावदुक्तः । पुत्रकादीनां तु भाविपटलेऽन्यथैव संहारक्रमेण दीक्षार्थमसौ इति भविष्यति, न त्वत्राप्राकरणिकमेतदिति भ्रमितव्यम् ॥ १३९ ॥

'यकार से भिन्न संहार मन्त्र (= क्षं अथवा क्ष्यं) से' (२।३६)

इत्यादि पूर्वोक्त समस्त क्रम का आश्रयण करना चाहिये । इसी प्रकार आगे भी करे ॥

पूर्व की भाँति शिवावेश के अवष्टम्भन के रस से—

अमृत मन्त्र (= वं) से उसे आप्लावित करना चाहिये ॥ -१३८- ॥

इसके बाद—

मन्त्रन्यास को पूर्व की भाँति अँड़तीस कला पर्यन्त करे ॥ -१३८ ॥

तत्पश्चात् यहीं पर बाहर और भीतर शुद्ध तत्त्व वाली देह की सृष्टि के लिये सृष्टिक्रम से—

यहाँ शान्त्यतीता आदि कलाओं के कलाध्वा का क्रम से न्यास करे । तत्त्वभूता ये शान्त्यतीता आदि (= शान्ता विद्या प्रतिष्ठा और निवृत्ति) कलायें (क्रम से) स्फटिकाभ, कृष्ण, रक्त, शुक्ल तथा पीत वर्ण की हैं—ऐसा जानना चाहिये ॥ १३९-१४०- ॥

तत्त्वभूत = आकाश से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्वरूपता को प्राप्त । इसलिये इनका यथोचित ही ध्यान करना ठीक है । इस कारण शुद्ध तत्त्व की सृष्टि के लिये पाँच कलाओं का यह न्यास यहाँ अधिवास में कहा गया । आगे वर्णित होने वाले पटल में पुत्रक आदि की दीक्षा के लिये यह न्यास अन्यथा =

उक्तसकलमन्त्रन्यासोपरि—

धाम्नावाह्य तथाङ्गानि न्यस्यान्तःकरणं भवेत् ॥ १४० ॥
आत्मान्तःकरणे यद्वत् तद्वत् पूजां समारभेत् ।
धाम प्रोच्चार्य संदध्यात् सबाह्याभ्यन्तरं पुनः ॥ १४१ ॥

संधानं नाडीमन्त्रात्मकम् सबाह्याभ्यन्तरम् इति देहान्तःकरणाश्रयभैरवविषयम् । स्थण्डिलाभ्यन्तरभेदेति त्वसत् ॥ १४१ ॥

अथ—

शिवहस्ते विभुं ध्यात्वा मन्त्रग्रामं सुजाज्वलम् ।
धामोच्चार्य च संधाय शिष्यमूर्ध्नि करं न्यसेत् ॥ १४२ ॥
अधोमुखेन हृत्पृष्ठे शिवहस्तेन चालभेत् ।

विभुं व्यापकम्, सुजाज्वलत्वं पाशदाहाय । संधायेति पूर्ववन्नाडीमन्त्रक्रमेण, ब्रह्मरन्ध्रहृदययोर्भगवदधिष्ठानेऽपि पाशावृतत्वमस्तीति मूलभूमौ तत्र पाशदाहेन पारमेश्वरस्वभावोद्दीपनार्थमङ्गुलिपञ्चकाभिव्यक्तचिदादिशक्तिपञ्चकव्याप्तिना शिवहस्तेन

संहारक्रम से होगा । इसलिये यहाँ यह कथन अप्राकरणिक है—ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये ॥ १३९ ॥

उक्त सकलमन्त्रन्यास के बाद—

धाम के द्वारा अङ्गों का आवाहन एवं न्यास कर अन्तःकरण हो जाता है । जिस प्रकार अपने अन्तःकरण में (पूजा होती है) उसी प्रकार पूजा करनी चाहिये फिर धाम का उच्चारण कर बाहर एवं अन्दर सन्धान करना चाहिए ॥ -१४०-१४१- ॥

यह सन्धान नाडी रूप एवं मन्त्रा रूप होता है । सबाह्याभ्यन्तर = देह एवं अन्तःकरण में वर्तमान भैरवविषयक । जो लोग सबाह्याभ्यन्तर का अर्थ स्थण्डिल एवं आभ्यन्तर भेद से—ऐसा मानते हैं (उनका यह कथन) असमीचीन है ॥ १४१ ॥

इसके बाद—

(आचार्य अपने) शिवहस्त में व्यापक एवं जलते हुए मन्त्रसमूह का ध्यान कर धाम का उच्चारण और सन्धान कर उस हाथ को शिष्य के शिर पर रखे । तथा अधोमुख शिवहस्त से शिष्य के हृदय एवं पीठ का स्पर्श करे ॥ १४२-१४३- ॥

विभु = व्यापक । जलता हुआ ताकि पाशदाह हो सके । सन्धान कर-पूर्व की भाँति नाडी एवं मन्त्र के क्रम से सन्धान कर । ब्रह्मरन्ध्र और हृदय ये दोनों यद्यपि भगवान् के अधिष्ठान हैं तथापि चूँकि ये पाश से आवृत हैं इसलिये उस मूलभूमि

स्पर्शः ॥

उत्थाप्य दत्त्वा पुष्पं तु अञ्जलौ भैरवेण तु ॥ १४३ ॥
प्रवेश्याभ्यर्चयेच्छंभुं...............

उत्थाप्येति, उत्पूर्वस्य तिष्ठतेरीहार्थत्वाद्भगवत्पूजोद्योगं ग्राहयित्वेत्यर्थः । प्रवेशो 'मण्डलेऽत्र शिवं पूजय' इत्याज्ञया भक्तिश्रद्धोन्मुखस्य तत्परत्वापादनम्, यथा व्याकरणे प्रवेशित इति । अर्चयेदिति—अर्चतेर्णिच् ॥ १४३ ॥

शिष्योऽपि तथाचार्येण शिक्षितमन्त्रः पुष्पम्—

..............शिवमुच्चार्य निक्षिपेत् ।

अथ—

निर्गत्य वन्दयेद् देवं दण्डवत्..........

मण्डल इति योज्यम् ॥

तथा—

में पाश के दाह से शिष्य में पारमेश्वर स्वभाव का उद्दीपन करने के लिये शिवहस्त से स्पर्श किया जाता है । गुरु के हाथ की पाँच अङ्गुलियाँ चूँकि शिव की चित् आनन्द इच्छा ज्ञान एवं क्रिया रूपी पाँच शक्तियों से व्याप्त रहती हैं इसलिये उसे शिवहस्त कहा जाता है ॥

फिर शिष्य को उठाकर (गुरु) उसकी अञ्जली में पुष्प देकर भैरव मन्त्र के द्वारा प्रवेश करा कर शिव की पूजा कराये ॥ -१४३-१४४- ॥

उत्थाप्य—'उत्' उपसर्गपूर्वक 'स्था' धातु का अर्थ है ईहा उसका सम्पादन कर—अर्थात् भगवान् की पूजा के लिये प्रेरित कर । प्रवेश—'इस मण्डल में शिव की पूजा करो ।' इस आज्ञा के द्वारा भक्ति एवं श्रद्धा से युक्त (शिष्य) की तत्परता को बनाना । जैसे कि व्याकरण में प्रवेशित (= यहाँ व्याकरणाध्ययन के लिये तत्पर या उद्युक्त होना यह अर्थ है) । 'अर्चयेत्' यहाँ प्रेरणार्थक णिच् है न कि स्वार्थ में ॥ १४३ ॥

शिष्य भी आचार्य से मन्त्र की शिक्षा प्राप्त करने के बाद—

शिव (मन्त्र) का उच्चारण कर (अञ्जलिस्थ) पुष्प को फेंक देना चाहिए ॥ -१४४- ॥

इसके बाद—

बाहर निकल कर मण्डलस्थ देव को दण्डवत् प्रणाम करे ॥ -१४४-॥

तथा—

..................त्रिः प्रदक्षिणम् ॥ १४४ ॥
शिवकुम्भाग्निमध्यस्थं स्थण्डिलस्थं च वन्दयेत् ।

त्रिरिति त्रिविधेऽपि कालाध्वनि दण्डवत्, दक्षिणः स्वस्वरूपप्रथापरो मे भवेति वाञ्छया स्वदक्षिणमेव भगवन्तं कुर्वन् परिभ्राम्यन् स्तुवीत ॥ १४४ ॥

एवं च—

शिवपूजाग्निकार्यादौ सकलीकृतविग्रहः ॥ १४५ ॥
नान्यथा प्राक्स्वरूपेण पूजनार्हो भवेत्तु सः ।

भवेदिति वाक्यद्वये योज्यम् । आदिशब्दाज्जपध्यानादौ ॥ १४५ ॥

किं च—

नीत्वा कुण्डसमीपं तं शिष्यहस्तावियोगतः ॥ १४६ ॥
आत्मसव्येऽथ दिग्भागे मण्डलं प्रणवेन तु ।
प्रणवेनासनं दत्त्वा तस्योपरि शिशुं न्यसेत् ॥ १४७ ॥

विन्यास्यमन्त्रतेजसां ज्ञानक्रियाशक्तिस्फारमयेन स्वहस्तेनास्य निमग्ने ज्ञान-

---

उनकी तीन बार प्रदक्षिणा करनी चाहिए । शिव कुम्भ एवं अग्नि के मध्य वर्त्तमान और स्थण्डिल पर स्थित (परमेश्वर की) वन्दना करनी चाहिए ॥ -१४४-१४५- ॥

तीन बार—तीन प्रकार के कालाध्वा में दण्ड के समान दक्षिण अर्थात् 'मेरे लिये अपने स्वरूप के विस्तार से युक्त हो जाइये' इस इच्छा से भगवान् को अपने दक्षिण की ओर करते हुए परिक्रमा करे और परिक्रमा करते हुए स्तुति करे ॥ १४४ ॥

इस प्रकार—

साधक शिवपूजा हवन आदि में अपने शरीर को सकलीकृत बना ले । अन्यथा पूर्वरूप में वर्त्तमान वह साधक (भैरव का) पूजन करने के योग्य नहीं होता ॥ -१४५-१४६- ॥

'होना चाहिये'—यह अंश दोनों वाक्यों में जोड़ना चाहिये । वह इस प्रकार—१. शिवपूजानिकार्यादौ सकलीकृतविग्रहो भवेत् । २. अन्यथा प्राक्स्वरूपेण पूजनार्हो न भवेत् । अग्निकार्य आदि यहाँ 'आदि' पद से जप ध्यान आदि के समय भी वैसा होना चाहिये ॥ १४५ ॥

गुरु शिष्य का हाथ पकड़ कर उसे कुण्ड के समीप ले जाये । अपने दाँयीं दिशा में प्रणव का उच्चारण करते हुए (अथवा प्रणव के द्वारा) मण्डल बनाये । प्रणव के द्वारा आसन देकर उस आसन के ऊपर शिशु को बैठाये ॥ -१४६-१४७ ॥

क्रियाशक्ती हस्ताकर्षणयुक्त्या कर्षन्निति हस्तावियोगार्थः । सव्ये दक्षिणे, शिशुमित्यद्यापि अतरुणीभूतशिवस्वरूपम् ॥ १४७ ॥

उपवेश्य करे दर्भं भैरवेण समर्पयेत् ।

दर्भस्य—

मूलं शिष्यस्य हस्तस्थं साग्रमाचार्यजङ्घयोः ॥ १४८ ॥

हस्तयोः प्रसारितयोः सव्येतरशाखारूपयोर्मध्ये तिष्ठति, इति हस्तस्थम्, जङ्घयोरिति जङ्घोपजङ्घयोरूरुजानुसंधावित्यर्थः ॥ १४८ ॥

दर्भस्य व्याप्तिमाह—

पिङ्गला मध्यमा नाडी शिष्यदेहाद्विनिर्गता ।
सैवात्र दर्भभूता तु गुरुनाड्यां लयं गता ॥ १४९ ॥

अथ—

नाडीसंधानहेत्वर्थं भैरवेणाहुतित्रयम् ।
तया नाड्या प्रवेष्टव्यं शिष्यस्य हृदये सकृत् ॥ १५० ॥

हस्तावियोग का अर्थ है—विन्यास्य, मन्त्र और तेज की जिनका शिष्य के अङ्गों में न्यास करना है ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के स्फार से युक्त अपने हाथ से इस (शिशु) की निमग्न ज्ञान और क्रियाशक्ति को हस्ताकर्षण युक्ति के द्वारा खींचते हुए सव्य = दक्षिण । शिशु का अर्थ है—अभी भी तरुण न हुये शिव ॥ १४७ ॥

(आचार्य शिशु को आसन पर) बैठा कर भैरव मन्त्र का उच्चारण करते हुए शिशु के हाथ में कुशा दे ॥ १४८- ॥

दर्भ का मूल शिष्य के हाथों में और अग्र भाग आचार्य की जङ्घाओं में रहता है ॥ -१४८ ॥

दायीं बायीं शाखा के समान फैलाये गये दोनों हाथों के बीच में रहने से कुशा हस्तस्थ होती है । दोनों जङ्घाओं—जङ्घाओं एवं उपजङ्घाओं अर्थात् जाघों एवं घुठनों की सन्धि में कुश रहता है ॥ १४८ ॥

दर्भ की व्याप्ति को बतलाते हैं—

पिङ्गला अर्थात् मध्यमा (= सुषुम्ना) नाडी शिष्य के शरीर से बाहर निकल कर दर्भ बन कर गुरु की (मध्यमा) नाडी में लीन हो गयी ॥१४९॥

इसके बाद—

नाडीसन्धान (= एक शरीर में स्थित नाडी को दूसरे शरीर में स्थित नाडी से जोड़ना या उसमें लीन करना) के लिये भैरवमन्त्र से तीन

ग्रहणाकर्षणार्थं तु.............

भैरवो निष्कलः, 'शिष्यमध्यनाडी मन्मध्यनाड्यां संलीनास्तु स्वाहा' इत्यत्र प्रयोगः । ऐकात्म्यप्राप्तिरूपनाडीसंधानपूर्वमेव ग्रहणाकर्षणे युज्येते । यथोक्तं श्रीस्पन्दे—

'अयमेवात्मनो ग्रहः ।' (४।२) इति ॥ १५० ॥

अत एवाह—

.........गृह्णन् मुञ्चन् पुनः पुनः ।
दीक्षाकाले यतश्चैवं तदर्थं नाडिसंहतिः ॥ १५१ ॥

आचार्यः शिष्यात्मा भवतीति पूर्वपादान्तशेषः । समयिदीक्षायां शिष्यात्मनो हृदयाद् द्वादशान्तमाकर्षणम्, ततोऽपि स्वहृदये सामरस्यापत्तिरित्यादि, पुत्रकादिदीक्षायां तु पाशमात्र (सूत्र) वागीशीगर्भयोजनादिकमधिकम् ॥ १५१ ॥

अथ सर्वाश्रयन्यस्तमन्त्रैः समं शिष्ये वह्नौ चाग्नीषोमात्मतामभिव्यङ्क्तुं संपातहोमं निरूपयति—

शिष्यस्याथ शिरोभूमौ भैरवेण विधाय तु ।

आहुतियाँ देनी चाहिये । गुरु उस पिङ्गला रूप मध्यमा नाडी के द्वारा (शिष्य की जीवात्मा के) ग्रहण और आकर्षण के लिये एक बार शिष्य के हृदय में प्रवेश करे ॥ १५०-१५१- ॥

भैरव = निष्कल शिव । यहाँ हवनीय मन्त्र होगा—'शिष्यमध्यनाडी मन्मध्यनाड्यां संलीनास्तु स्वाहा' । ग्रहण आकर्षण के पहले ऐकात्म्यप्राप्तिरूप नाडीसन्धान उचित होता है । जैसा कि स्पन्दशास्त्र में कहा गया—

'यही आत्मा का ग्रहण है' ॥ १५० ॥ (स्पं०का०४।२)

इसीलिये कहते हैं—

चूँकि दीक्षा के समय इस प्रकार का ग्रहण एवं मोचन बार-बार करना पड़ता है इसके लिये नाडीसन्धान आवश्यक है ॥ -१५१ ॥

(ग्रहण एवं मोचन को बार-बार करने से) आचार्य शिष्य की आत्मास्वरूप हो जाता है—यह पूर्वपाद के अन्त में जोड़ देना चाहिये । समयी दीक्षा में शिष्य की आत्मा का हृदय से लेकर ऊर्ध्व द्वादशान्त तक आकर्षण होता है इसके बाद अपने हृदय से सामरस्य होता है । पुत्रक आदि दीक्षा में पाशसूत्र वागीशीगर्भयोजन आदि कृत्य अधिक होता है ॥ १५१ ॥

अब समस्त आश्रयों में न्यस्त मन्त्रों के साथ शिष्य एवं अग्नि दोनों में अग्नीषोमात्मता को अभिव्यक्त करने के लिये सम्पातहोम का निरूपण करते हैं—

सम्पातं सर्वमन्त्रैस्तु ध्रुवेणाज्याहुतिं क्षिपेत् ॥ १५२ ॥

जुहुयादिति शेषः ॥ १५२ ॥

कथमित्याह—

मूलमन्त्रं समुच्चार्य स्वा इत्यग्नौ प्रपातयेत् ।
हेति शिष्यस्य शिरसि सम्पातः शिवचोदितः ॥ १५३ ॥

स्पष्टार्थम् ॥ १५३ ॥

संपातं व्याचष्टे—

शिष्यदेहे तु ये मन्त्राः सबाह्याभ्यन्तरं स्थिताः ।
कुण्डस्थाः पूजिता ये तु धामाद्यावरणान्तगाः ॥ १५४ ॥
युगपत्तर्पणं तेषां सम्पातस्तेन कीर्तितः ।
एकैकस्यात्र मन्त्रस्य आहुतित्रितयेन तु ॥ १५५ ॥

संपातो युगपत् सर्वत्राग्नीषोमात्मकस्वरूपोन्मीलनात्मा संस्कार इत्यर्थः ॥१५५॥

किं च—

उत्थाप्य च ततः शिष्यं तदर्थं मन्त्रतर्पणम् ।

इसके बाद शिष्य के शिररूपी भूमि में भैरवमन्त्र के द्वारा सम्पात करने के बाद ध्रुव के साथ समस्त मन्त्रों का उच्चारण कर घी की आहुति देनी चाहिये ॥ १५२ ॥

किस प्रकार ?—यह बतलाते हैं—

मूल मन्त्र का उच्चारण कर 'स्वा' कहते हुये अग्नि में घी की आहुति दे । फिर 'हा' कहते हुए शिष्य के शिर पर घी गिराये । यह शिव के द्वारा निर्देशित सम्पातहोम है ॥ १५३ ॥

सम्पात की व्याख्या करते हैं—

जो मन्त्र शिष्य के शरीर में बाहर-भीतर स्थित हैं जो कुण्ड में स्थित तथा पूजित हैं, जो धाम से लेकर आवरण तक स्थित हैं उनका चूँकि एक साथ तर्पण होता है इसलिये वह सम्पात (सम् = एक साथ, पात = निष्पत्ति) कहा गया है । यहाँ एक-एक मन्त्र से तीन-तीन आहुति दे कर सम्पात निष्पन्न होता है ॥ १५४-१५५ ॥

सम्पात का अर्थ है एक साथ सर्वत्र अग्नीषोमात्मक स्वरूप को उन्मीलित करने वाला संस्कार ॥ १५५ ॥

तथा—

कुर्यादित्यर्थः ॥

तत्र—

भैरवाय शतं हुत्वा हृदादौ दशकं हुतिः ॥ १५६ ॥

दशांशेन स्यादित्यर्थः ॥ १५६ ॥

अथ—

धाम्ना चोत्थाय होतव्यं पूर्णाहुत्यानुतर्पयेत् ।

उत्थायेत्यनेन पूर्णाहुतिप्रयोग स्मारयति ॥

एवं सामान्येन समयिदीक्षाविषयमधिवासमुक्त्वा पुत्रकादौ तद्विशेषमाधातुं यः पाशसूत्रविधिर्भविष्यति, तत्र पाशानां बन्धनाय मन्त्रोद्दीपनं कर्तुमाह—

मन्त्राणां दीपनं कुर्याद् धामाद्यस्त्रावधि क्रमात् ॥ १५७ ॥

कथमित्याह—

हुङ्कारद्वयमध्ये तु मूलमन्त्रं समुच्चरन् ।
प्रणवादिफडन्तेन आहुतीः प्रतिपादयेत् ॥ १५८ ॥

उसके बाद शिष्य को उस (= आसन) से उठाकर उसके लिये मन्त्र का तर्पण करना चाहिये ॥ १५६- ॥

उसमें—

भैरव के लिये एक सौ आहुति देकर हृदय आदि के लिये दश अर्थात् दशांश आहुति देनी चाहिये ॥ -१५६ ॥

तत्पश्चात्—

आचार्य धाम (= ॐकार) का उच्चारण करते हुए हवनीय द्रव्य को उठकर धाम के द्वारा हवन करे । बाद में पूर्णाहुति से तर्पण करे ॥१५७-॥

'उठकर' इस कथन से पूर्णाहुति देने की बात का स्मरण कराते हैं । इस प्रकार सामान्यरूप से समयी दीक्षाविषयक अधिवास को सम्पन्न कर पुत्रक आदि दीक्षा में उसके विशेष का कथन करने के लिये जो पाशसूत्रविधि की जायगी उसमें पाशों के बन्धन के लिये मन्त्रोद्दीपन की चर्चा करते हैं—

धाम से लेकर अस्त्रपर्यन्त मन्त्रों का दीपन करना चाहिये ॥ -१५७ ॥

कैसे करे ?—यह कहते हैं—

दो 'हुम्' के बीच मूलमन्त्र का उच्चारण करते हुए प्रणव को पहले और 'फट्' को अन्त में कहते हुए आहुतियाँ देनी चाहिये । (जैसे 'ॐ हुं

एषैव—

हृदादीनां च सर्वेषां जातिरुक्तात्र दीपने ।

जायते तत्तत्कार्यानुगुण्यमनयेति 'जातिः' विशिष्टो मन्त्रप्रयोगः । हृच्छब्दो वक्त्रादीन्युपलक्षयति ॥

एतच्च—

पाशानां बन्धनार्थाय मन्त्राणां दीपनं स्मृतम् ॥ १५९ ॥

ते च दीप्ताः सन्तः—

मन्त्राः करणभूतास्तु पशुकार्यस्य साधने ।

पशुकार्यं दीक्षा ॥

यस्यैतानि करणानि स महाप्रभावः—

आचार्यः करणं प्रोक्तः...........

कर्तेत्यर्थः ।

कथमस्य शरीरादिमतो मन्त्राः करणमित्याह—

............शिवरूपो यतः स्मृतः ॥ १६० ॥

सत्यपि देहे निरुपाधिचित्प्रकाशशिवाहंभावमय इत्यर्थः । ईदृशस्यैवानुग्रहेऽ-

---

अघोरेभ्यः सर्वात्मने हृदयाय नमः हुं फट्') ॥ १५८ ॥

यहाँ दीपन में समस्त हृदय आदि की यही जाति बतलायी गयी है ॥ १५९- ॥

जिसके द्वारा तत्तत् कार्यानुगुणता उत्पन्न होती है वह जाति है अर्थात् विशिष्ट मन्त्र का प्रयोग । हृदय शब्द वक्त्र आदि का उपलक्षण है ॥

मन्त्रों का यह दीपन पाशों के बन्धन के लिये माना गया है ॥-१५९॥

दीप्त हुये वे—

मन्त्र पशुकार्य अर्थात् दीक्षा की सिद्धि के लिये साधन या करण होते हैं ॥ १६०- ॥

जिसके पास ये करण हैं महाप्रभावशील वह—

आचार्य करण अर्थात् कर्त्ता कहा गया है ॥ -१६०- ॥

मन्त्र शरीर आदि वाले इस आचार्य का करण कैसे बनते हैं—यह कहते हैं—

क्योंकि (वह आचार्य) शिवरूप माना गया है ॥ -१६०- ॥

धिकृतत्वाच्चेत्याहुः—'आचार्याधिकरणः शिवो दीक्षायां साक्षात्कर्ता मण्डलस्थस्तु प्रयोजकः' इति । ततस्तेषां सरस्वतीगर्भाधानसमये शिवः साक्षात्कर्ता, प्रयोजक आचार्यः, इत्यादि स्वोक्तेन व्याहन्यते । न च प्रयोज्यप्रयोजकभावः कश्चिदत्र पूर्वत्र वा ग्रन्थेऽस्तीत्यसदेवैतत् । तस्मात् सर्वमन्त्रोदयप्रणयहेतुश्चिद्घनशिवात्ममय एवाचार्योऽत्राधिकृतः । मन्त्राणामुद्दीपनमवश्यं कार्यमित्यर्थः ॥ १६० ॥

क्रूरकार्ये तु कर्तव्ये मन्त्रान् संदीप्य योजयेत् ।
क्रूरजात्यनुरूपेण वाचकान् योजयेत् सदा ॥ १६१ ॥

क्रूरकार्यं पाशानां बन्धच्छेदादि, पूर्वोक्तेन क्रूरजातिक्रमेण योजनमेव मन्त्राणामुद्दीपनम् ॥

अत्र चावसरे—

भ्रुकुटीकरालवदनान् वाच्यरूपान् विचिन्तयेत् ।

ईदृशं वाच्यवाचकानां क्रूरत्वमन्यत्रापि साधकविषये क्रूरकार्ये मन्तव्यम् ॥

वह आचार्य शरीर के रहने पर भी निरूपाधि चित्प्रकाशरूप शिवाहंभाव वाला है । ऐसा ही आचार्य अनुग्रह के लिये अधिकृत है । इसीलिये कहा गया है—आचार्य के अन्दर वर्त्तमान भगवान् शिव दीक्षा में साक्षात् कर्त्ता हैं । मण्डल में बैठा मनुष्य रूपी आचार्य केवल प्रयोजक (= प्रेरक होता) है । इससे 'उन शिष्यों के हृदय में सरस्वती के गर्भाधान के समय शिव साक्षात् कर्त्ता हैं' आचार्य प्रयोजक हैं—इत्यादि कथन अपने ही वचन से खण्डित हो जाता है । क्योंकि इस ग्रन्थ अथवा पूर्व के किसी ग्रन्थ में ऐसा नहीं कहा गया । इस कारण यह कथन असमीचीन है । इसलिये समस्त मन्त्रों के उदय एवं प्रणयन का हेतुभूत तथा चिद्घनशिवात्ममय आचार्य ही इस कार्य के लिये अधिकृत है (सामान्य शास्त्रवेत्ता पुरुष नहीं) । तात्पर्य यह है कि मन्त्रों का उद्दीपन अवश्य करना चाहिये ॥ १६० ॥

क्रूरकार्य करने के लिये मन्त्रों को उद्दीप्त करके जोड़ना चाहिये । वाचकों को सदा क्रूरजाति के अनुरूप जोड़ना चाहिये ॥ १६१ ॥

क्रूर कार्य = पाशों का बन्धच्छेद आदि । पूर्वोक्त क्रूरजाति के क्रम से मन्त्रों का योजन ही मन्त्रों का उद्दीपन है ॥

इस अवसर पर—

(टेढी भौंह और) विकराल मुख वाले वाच्य रूपों का ध्यान करना चाहिये ॥ १६२- ॥

अन्यत्र भी साधकों से सम्बद्ध क्रूरकार्य के विषय में वाच्य-वाचकों का ऐसा ही क्रूरत्व मानना चाहिये ॥

अत एवाप्यायनादौ—

सौम्यजातियुतान् सौम्ये सौम्यरूपान् विचिन्तयेत् ॥ १६२ ॥

सौम्यजातिर्वषडादिका ॥ १६२ ॥

यदर्थं मन्त्रोद्दीपनं तत्प्रतिजानीते—

पाशकर्म ततो वक्ष्ये................

एतच्च भाविपुत्रकदीक्षाधिवासाय । तत इति मन्त्रोद्दीपनानन्तरम् । पाशकर्म पुत्रकादिदीक्षोपयोक्ष्यमाणस्य भाविपाशसूत्रस्य यदधिवासरूपं कर्म तद्वक्ष्ये इत्यर्थः ॥

तत्क्रमेणाह—

................कन्याकर्तितसूत्रकम् ।

त्रिगुणं त्रिगुणीकृत्य...............

कन्या अनुपजातविकारपरशक्त्यानुकृतरूपेति । ततो मूलभूमेः प्रवृत्तानामाणवमायीयकार्मरूपाणां सत्त्वादिगणत्रयात्मकप्रपञ्चव्याप्तिभाजां पाशानां भाविबन्धच्छेदादिकं समूलमुन्मूलनार्थम्, इति कन्याकर्तितत्वे त्रिगुणत्रिगुणत्वे चाशयः ॥

इसीलिये आप्यायन आदि में—

सौम्य कार्य में सौम्य जाति से युक्त सौम्य रूपों का ध्यान करना चाहिए ॥ -१६२ ॥

सौम्य जाति = वषट् आदि वाली ॥ १६२ ॥

जिसके लिये मन्त्रों का उद्दीपन किया जाता है उसको बतलाते हैं—

इसके बाद पाशकर्म को बतलाऊँगा ॥ १६३- ॥

यह वर्णन भावी पुत्रकदीक्षा के अधिवास के लिये होता है । उसके बाद = मन्त्र के उद्दीपन के बाद । पाशकर्म = पुत्रक आदि दीक्षा के लिये उपयोक्ष्यमाण भावीपाशसूत्र का अधिवास रूप कर्म, उसे कहूँगा ॥

उसको क्रम से कहते हैं—

कन्या के द्वारा काते गये सूत को तीन गुना करके फिर तीन गुना करे ॥ -१६३- ॥

जिसके अन्दर विकार (= मासिक धर्म, वक्षोज आदि) उत्पन्न नहीं हुआ हो ऐसी पराशक्ति की अनुकृतिरूपा बालिका कन्या मानी जाती है । मूलभूमि से प्रवृत्त पाश आणव मायीय और कार्मरूप तीन प्रकार के हैं तथा वे सत्त्व रजस् तमस् इन तीनों के प्रपञ्च से व्याप्त रहते हैं । इनके समूल उन्मूलन के लिये भावी बन्धछेद आदि किये जाते हैं । यही कन्या के द्वारा कताई होने और त्रिगुण त्रिगुण होने का

अथैतत्—

...............पाशबन्धनसूत्रकम् ॥ १६३ ॥

शिवाम्भोऽस्त्रेण संप्रोक्ष्य कवचेनावगुण्ठयेत् ।
पूजयित्वा विधानेन गन्धपुष्पादिधूपकैः ॥ १६४ ॥
प्रसारयेद् गृहीत्वा तन्मूर्धाद्यङ्गुष्ठकावधि ।
शिष्यस्य स्तब्धदेहस्य............

'ॐ पाशबन्धनसूत्राय नम' इति पूजाविधानं सर्वाध्वव्याप्तिचिन्तनम्, 'शिष्यस्य इति पुत्रकादेर्न तु समयिनः । स्तब्धदेहता पाशानां बन्धाद् देहेन्द्रियादीनां निष्क्रियत्वानुव्याप्त्या । तत्सूत्रं पुमान् दक्षिणेन स्त्री वामेन करेण मूर्ध्नि धारयेदित्यसत् । दीक्ष्यहस्तयोर्दर्भनाडीधारणे व्यापृतत्वमतः शिखायामेव पाशसूत्रं लम्बयेत् । एकैव क्रियाशक्तिः पारमेश्वरीत्थं स्वरूपगोपनेन पाशरूपतया स्थिता, इत्येकत्वमिह पाशसूत्रस्य । श्रीपूर्वादौ तु शक्तित्रयमेव त्रितत्त्वेन स्थितम्, इत्याशयेन त्रीणि सूत्राणीति प्रक्रियामात्रभेदः ॥ १६४ ॥

तच्चास्य सूत्रम्—

............नाडीभूतं विचिन्तयेत् ॥ १६५ ॥

आशय है ॥

इसके बाद—

अस्त्रमन्त्र का उच्चारण करते हुए शिवोदक से इस पाशबन्धन सूत्र का प्रोक्षण करना चाहिये । फिर कवच से अवगुण्ठन करना चाहिये । तत्पश्चात् गन्ध पुष्प धूप आदि से विधिवत् पूजा कर उसे उठाये और स्थिरशरीर वाले शिष्य के शिर से लेकर पैर के अङ्गूठे तक फैलाये ॥ -१६३-१६५- ॥

'ॐ पाशबन्धनसूत्राय नमः' इस वाक्य से पूजा करना तथा उस सूत्र की सर्वाध्वव्याप्ति की भावना करनी चाहिये । शिष्य का = पुत्रक आदि का न कि समयी का । स्तब्धदेहता = पाशों के बन्ध के कारण देह इन्द्रिय आदि का निष्क्रिय होना । उस सूत्र को पुरुष दायें हाथ से और स्त्री बायें हाथ से शिर पर रखे यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि दीक्ष्य के दोनों हाथ दर्भ एवं नाडी को धारण करने में व्यस्त रहते हैं । इसलिये पाशसूत्र को शिखा में ही धारण करना = लटकाना चाहिये । इस प्रकार परमेश्वर की एक ही क्रियाशक्ति अपने रूप को छिपा कर पाशरूप में स्थित है इसलिये यह पाशसूत्र भी एक ही है । मालिनीविजयतन्त्र आदि में तीन शक्तियाँ (= परा परापरा और अपरा) ही तीन तत्त्व (= नर शक्ति और शिव) के रूप में स्थित हैं इस आशय से पाश में तीन सूत्र होते हैं । इस प्रकार केवल प्रक्रिया में भेद है ॥ १६४ ॥

सा च—

सुषुम्ना मध्यमा नाडी सर्वनाडीसमन्विता ।
ॐकारादि स्वनाम्ना तु नमस्कारावसानकम् ॥ १६६ ॥
शिष्यदेहस्थितां नाडीं सूत्रे संगृह्य योजयेत् ।

भावनयेति शेषः । सूत्रभूतायां नाड्यां सर्वनाडीभिः समन्विता भावनया सङ्गता योजिता च ॥ १६६ ॥

ताम्—

गन्धपुष्पादिभिः पूज्य कवचेनावगुण्ठयेत् ॥ १६७ ॥

अत्रैव संनिधानार्थं होममाह—

संनिधानाहुतीस्तिस्रः स्वनामपदजातिकाः ।

दद्यादिति शेषः । 'ॐ सुषुम्नायै स्वाहा' इत्यत्र प्रयोगः ॥ १६७ ॥

अथ—

इस पाशसूत्र को इस (= शिष्य) की नाडी रूप समझना चाहिये ॥ -१६५ ॥

तथा

वह नाडी सुषुम्ना है इसे मध्यमा नाडी भी कहते हैं । यह समस्त नाड़ियों से समन्वित है । ॐकार का उच्चारण कर गुरु अपना नाम उच्चारण करे फिर 'नमः' कह कर शिष्य के देह में स्थित सुषुम्ना नाडी को सूत्र में संगृहीत कर जोड़ देना चाहिये (इसका स्वरूप इस प्रकार होगा—ॐ अहं अमुक नामा आचार्यः अमुकशिष्यदेह स्थितां नाडी सूत्रे संयोजयामि नमः) ॥ १६६-१६७- ॥

यह सब कार्य भावना के द्वारा होता है । नाडी स्वयं सूत्र हो गयी है । भावना के द्वारा उसे समस्त नाड़ियों से युक्त मानना चाहिये । भावना के ही द्वारा सब नाड़ियों को उसमें मिली हुयी समझना चाहिये ॥ १६६ ॥

उस सूत्रनाड़ी की गन्ध पुष्प आदि से पूजा कर कवच के द्वारा उसे अवगुण्ठित करना चाहिये ॥ -१६७ ॥

यहीं पर सन्निधान के लिये होम को बतलाते हैं—

उस शिष्य के नाम, पद (= सुषुम्ना) और जाति (= स्वाहा) वाली एवं तीन सन्निधान आहुतियाँ देनी चाहिये ॥ १६८- ॥

यहाँ प्रयोगवाक्य होगा—'ॐ सुषुम्नायै स्वाहा' ॥ १६७ ॥

शिवाम्भोऽस्त्रेण सम्प्रोक्ष्य शिष्यस्य हृदयं पुनः ॥ १६८ ॥
ताडयेदस्त्रपुष्पेण.................

एवं च—

.............हृदि चित् संहृता भवेत् ।

सर्वव्यापिकापि हृदयैकनिष्ठीकृता भवतीत्यर्थः ॥

तदनु योगक्रमेण भावनयापि वा—

हुङ्कारोच्चारयोगेन रेचकेन विशेद्धृदि ॥ १६९ ॥
नाडीरन्ध्रेण गत्वा तु चैतन्यं भावयेच्छिशोः ।
कदम्बगोलकाकारं स्फुरत्तारकसंनिभम् ॥ १७० ॥
हृत्स्थं छित्वास्त्रखड्गेन हुंफट्कारान्तजातिना ।

निष्कलास्त्रमेव खड्गः तेन शिशोः पुर्यष्टकं रश्मिमात्रवियोगिच्छित्वा ॥१७०॥

धाम्ना चाङ्कुशरूपेण कर्षेच्छक्त्यवधि क्रमात् ॥ १७१ ॥

अङ्कुशेति पाश्चात्यकुटिलालकात्मना ख्यातेन । शक्त्यवधि द्वादशान्तं तच्च नासिक्यमिह ॥ १७१ ॥

फिर शिष्य के हृदय को अस्त्रोच्चारणपूर्वक शिवोदक से प्रोक्षित करे। और अस्त्र पुष्प से उसका ताड़न करे ॥ -१६८-१६९- ॥

इस प्रकार करने से शिष्य के हृदय में चैतन्य का संहार हो जाता है ॥ -१६९- ॥

यद्यपि चैतन्य सर्वव्यापी है तथापि वह केवल (शिष्य के) हृदय में सीमित हो जाता है ॥

उसके बाद (आचार्य) योगक्रम से या भावना के द्वारा—

हुङ्कार का उच्चार करते हुए रेचक प्राणायाम के द्वारा शिष्य के हृदय में प्रवेश करे। नाडीरन्ध्र से जाकर शिशु के अन्दर जीव चैतन्य की भावना करे। यह चैतन्य कदम्बपुष्प के समान गोल आकार वाला और चमकते तारे की भाँति होता है। हृदय में स्थित पुर्यष्टक को हुंफट्कारान्त जाति के द्वारा अस्त्र रूपी खड्ग से काट कर ॥ -१६९-१७१- ॥

निष्कल अस्त्र ही खड्ग है। उसके द्वारा रश्मियुक्त पुर्यष्टक को काट कर ॥ १७० ॥

अङ्कुश रूपी धाम के द्वारा उसको शक्ति पर्यन्त खींचे ॥ -१७१ ॥

अङ्कुश का स्वरूप पुरुष के शिर के पीछे घुँघराले बाल जैसा कहा गया है। शक्ति पर्यन्त = नासिका के समक्ष वर्तमान द्वादशान्त तक ॥ १७१ ॥

ततः—

द्वादशान्तं तु संगृह्य सम्पुटय हृदयेन तु ।
संहारमुद्रया योज्यं सूत्रे नाडीप्रकल्पिते ॥ १७२ ॥
व्यापकं भावयित्वा तु कवचेनावगुण्ठयेत् ।

प्रणवनिष्कलोच्चारपूर्वं 'देवदत्तचैतन्यं पाशसूत्रे योजयामि नमः' इति प्रयोगात् सूत्रदेहयोजितस्यास्य व्यापकत्वभावना ॥ १७२ ॥

अथास्मै पूजां कृत्वा—

भैरवेणाहुतीस्तिस्रः संनिधानस्य हेतवे ॥ १७३ ॥

दद्यादिति शेषः ॥ १७३ ॥

पाशसूत्रविधेः प्रयोजनमाह—

द्वितीयः सूत्रदेहस्तु पाशा यत्र स्थितास्त्विमे।
बन्ध्याश्छेद्यास्तथा दाह्याः सूत्रस्थाने.....

सूत्रस्थाने समस्तपाशाश्रयस्य समावृतिहेतोः प्राणदेहस्य परोक्षत्वेन साक्षाद् बन्धाद्ययोगे तत्प्रतिकृतिरूपं भाविशोध्यदेहासूत्रणात् सूत्रदेहं कल्पयित्वा तत्स्थान् पाशान् बध्नीयात् छिन्द्यात् दहेच्चेत्यर्थः । 'इमे' इत्यनन्तरमेव वक्ष्यमाणाः ॥

इसके बाद—

द्वादशान्तपर्यन्त उसको खींच कर हृदय से सम्पुटित कर संहार मुद्रा के द्वारा उसे नाडी के रूप में कल्पित सूत्र से जोड़ दे। फिर उसे व्यापक मानते हुए उसका कवच से अवगुण्ठन करना चाहिये ॥ १७२-१७३- ॥

प्रणवनिष्कल का उच्चारण कर 'देवदत्तस्य चैतन्यं पाशसूत्रे योजयामि नमः', इस वाक्य का उच्चारण कर सूत्रदेह में योजित इस शिशु चैतन्य की व्यापक भावना करनी चाहिये ॥ १७२ ॥

इसके बाद इस सूत्र की पूजा कर (आचार्य)—

सन्निधान हेतु भैरवमन्त्र से इसके लिये तीन आहुतियाँ दे ॥ -१७३ ॥

पाशसूत्र विधि का प्रयोजन बतलाते हैं—

सूत्र शिष्य का दूसरा देह होता है जिसमें स्थित ये पाश बन्ध्य छेद्य तथा दाह्य होते हैं। यह बन्धन आदि सूत्र में ही होता है ॥ १७४- ॥

समस्त पाशों के आश्रय के समावर्तन का कारणभूत प्राणदेह के परोक्ष होने से यह (स्थूल) देह साक्षाद् बन्धन आदि से युक्त नहीं होता इसलिये उसकी प्रतिकृतिरूप सूत्रदेह की कल्पना करते हैं क्योंकि भावी शोध्यदेह को बनाना है।

'.....................येनेदं तद्धि भोगतः ।'

इत्याम्नातत्वादारब्धकार्ये दीक्षोत्तरकाले, भगवदर्चादिहेतौ तु न दाहादि युक्तमित्याह—

......न विग्रहे ॥ १७४ ॥

पाशानां संख्यासंज्ञास्वरूपाणि क्रमेण कथयति—

पाशास्तु त्रिविधा भाव्या मायीयाणवकर्मजाः ।
चैतन्यरोधकास्त्वेते कार्यकारणरूपिणः ॥ १७५ ॥

मायोत्थत्वं मायायां भवत्वं मलान्तरेऽप्यस्तीति रूढ्यैव भिन्नवेद्यप्रथारूपं मलं मायीयम् उच्यते । अत एवान्यत्र—

'अथात्ममलमायाख्या..................... ।'

इत्याख्याशब्दः । अणूनामयम् आणवः अपूर्णम्मन्यतात्मा लोलिकारूपः । कर्म यजनब्रह्महननादिरूपम्, ततो जातम्, अत्र वासनाधिरूढं धर्माधर्मात्मकम् ।

उस सूत्रदेह में स्थित पाशों को बाँधना काटना और जलाना चाहिये । श्लोकस्थ 'इमें' का अर्थ है—तुरन्त बाद में कहे जाने वाले ॥

'जिस कर्म के द्वारा यह (जन्म) प्राप्त हुआ है वह (कर्म) भोग से नष्ट होता है । अर्थात् संचित् कर्म का नाश तो सूत्रदेह से होगा किन्तु इस देह का प्रारम्भ जिससे हुआ है वह कर्म भोग से समाप्त होगा ।' ऐसा कथन होने से जिसके कार्य का आरम्भ हो चुका है दीक्षा के उत्तरकाल में भगवान् की पूजा आदि का जो कारण (= साधन) बनता है उस शरीर में दाह आदि उचित नहीं है—यह कहते हैं—

शरीर में (दाह आदि उचित) नहीं है ॥ -१७४ ॥

पाशों की संख्या उनके नाम और स्वरूप को क्रम से बतलाते हैं—

पाश तीन प्रकार के जानने चाहिये—मायीय आणव और कार्म ये कार्यकारण रूप हैं तथा चैतन्य के रोधक हैं ॥ १७५ ॥

दूसरे मल भी माया से उत्पन्न होते हैं इसलिये (सभी मल मायीय हैं फिर भी) रूढि के कारण भिन्नवेद्य का विस्तार ही मायीय मल कहलाता है । इसीलिये अन्यत्र—

'आत्ममल मायाख्य (= मायीय नामक) है........ ।'

यहाँ 'आख्या' शब्द का प्रयोग किया गया है । जो अणुओं से सम्बद्ध है उसे आणव मल कहते हैं । यह अपने को अपूर्ण मानना है अर्थात् यह मल लोलिका (लोभ-इच्छा अभिलाषा) रूप है । कर्म—याग, ब्रह्महत्या आदि । उससे उत्पन्न मल

एषां च चैतन्यप्रतिरोधकत्वं गुणभावापादनरूपमेव पाशत्वम् ॥ १७५ ॥

एषां कार्यकारणरूपतां स्फुटयति—

मलः कर्म निमित्तं तु नैमित्तिकमतः परम् ।

मलः कर्म चेत्येतदद्वयं निमित्तं मलस्य कर्महेतुत्वात् कर्मणश्च मायीये कारणत्वात्, अतः परं मायीयं नैमित्तिकं मलकर्मणोः कार्यमेवेत्यर्थः । यद्यपि कार्मं भिन्नवेद्यप्रथारूपे मायीये सति भवति, तथापि न तद्धेतुकम्, पूर्णस्फाराणां ज्ञानिनां तत्सद्भावेऽपि तस्यादर्शनात्, इत्यपूर्णम्मन्यानामेवाज्यमानं तद्भवतीति यथोक्तमेव ज्यायः ॥

ततश्च—

आधाररूपं नैमित्तं शरीरभुवनादिकम् ॥ १७६ ॥

आधारता भोगाश्रयता, आदिशब्दात् भावाः ॥ १७६ ॥

अत्र च नैमित्तिके मायीये मले—

निमित्तमभिलाषाख्यं...............

कार्म होता है । वासना के कारण यह धर्माधर्मरूप होता है । ये सभी मल चैतन्य के प्रतिरोधक हैं अर्थात् ये चैतन्य को गौण बना देते हैं इसलिये पाश हैं ॥१७५॥

इनकी कार्यकारणरूपता को प्रदर्शित करते हैं—

मल और कर्म दोनों निमित्त हैं । इनसे भिन्न उनका नैमित्तिक (कार्य) होता है ॥ १७६- ॥

मल और कर्म ये दोनों कारण होते हैं क्योंकि मल कर्म का कारण है और कर्म मायीय मल का कारण है । इसके बाद मायीय ही नैमित्तिक है अर्थात् मल एवं कर्म का कार्य है । यद्यपि कार्म मल भिन्नवेद्यप्रथारूप मायीय मल के होने पर ही होता है तथापि वह कार्ममल मायीय मल का कार्य नहीं होता क्योंकि पूर्ण स्फार वाले ज्ञानियों के पास उस (= कार्म मल) के होने पर भी वह (= मायीय मल) नहीं दिखलाई पड़ता । इसलिये जो अपूर्ण मन्य हैं उन्हीं को वह (= मायीय मल) होता है । इसलिये जैसा कहा गया वही ठीक है ॥ १७५- ॥

इसके बाद—

भोग का आधाररूप कार्य शरीर भुवन आदि उत्पन्न होते हैं ॥ -१७६ ॥

आधार = सुख दुःख आदि भोग का आश्रय । श्लोकस्थ 'आदि' शब्द से 'भावों' को समझना चाहिये ॥ १७६ ॥

कार्यरूप इस मायीय मल में—

लोलिकारूपमाणवं मलमित्यर्थः ॥

किं केवलेनेत्याह—

...............विचित्रैर्हेतुरूपकैः ।

धर्माधर्मात्मकैः सहकारिभिर्युक्तमित्यर्थः ॥

प्रकृतमनुसरति—

तांश्चावलोकयेत् सूत्रे बन्ध्यबन्धनहेतुतः ॥ १७७ ॥

तानिति पाशान् वक्ष्यमाणव्याप्यव्यापकभावयुक्त्यावलोकयेत्, किमर्थं बन्ध्यानामर्थात्तेषामेव बन्धनहेतुतो बन्धनायेत्यर्थः ॥ १७७ ॥

अथैषां शिष्यदेहस्थानां ताडनग्रहणपूर्वकं सूत्रे क्रमेण योजनमाह—

पाशानां ताडनं कार्यं हुंफट्कारान्तजातिना।
स्वनामप्रणवाद्येन शान्त्यतीताद्यनुक्रमात् ॥ १७८ ॥

प्रणवं शान्त्यतीताबीजं धाम चोच्चार्य 'अमुकात्मस्थपाशव्यापिकायै शान्त्यतीतायै हुं फट्' इति मन्त्रमुच्चारयन् ॥ १७८ ॥

अभिलाषा ही कारण है ॥ -१७७- ॥

अभिलाषा का अर्थ है—लोलिका रूप आणव मल ॥

क्या केवल अभिलाषा मात्र ही मायीय मल का कारण होती है ?—यह कहते हैं—

विचित्र कारणों के साथ (वह कारण बनती है अकेले नहीं) ॥ १७६- ॥

धर्म अधर्म रूप सहकारी से युक्त (आणवमल कारण बनता है) ॥

अब प्रस्तुत का अनुसरण करते हैं—

सूत्र में उन (पाशों) को बन्ध्य के बन्धन के रूप में देखे ॥ -१७७ ॥

उनको = पाशों को, वक्ष्यमाण व्यापकव्यापक भाव के साथ देखना चाहिये । किसलिये देखना चाहिये ? (उत्तर है—) उन बन्ध्यों के बन्धन के लिये ॥ १७७॥

शिष्य के देह में स्थित इनका पहले ताडन ग्रहण का फिर क्रम से सूत्र में योजन करे बतलाते हैं—

पहले प्रणव फिर शिष्य का नाम जुड़े हुए विशिष्ट मन्त्र के अन्त में हुं फट् जोड़ कर शान्त्यतीता आदि के क्रम से पाशों का ताडन करना चाहिये ॥ १७८ ॥

प्रणव और शान्त्यतीता कला के बीज को उच्चारित कर 'अमुकात्मस्थपाश-

पुष्पेण ताडयेन्मूर्ध्नि ग्राह्यं..........

ततः—

..................हूमादि योजयेत् ।
हुंफट्कारान्तयोगेनागृह्य संहारमुद्रया ॥ १७९ ॥
धाम्ना तु योजयेत् सूत्रे नमस्कारान्तयोगिना ।

पूर्वोक्तेनैव प्रणवपूर्वमूलमन्त्रसहितेन मन्त्रेण संहारमुद्रया वक्ष्यमाणया पाशत्रयमागृह्योक्तां जातिमपास्य नमस्कारान्तजातिनानेनैव मन्त्रेण पाशसूत्रे योजयेत् ॥ १७९ ॥

अमुमेव क्रमं शान्त्यादिकलास्वपि स्वमन्त्रनामयोजनयुक्त्यातिदिशति—

एवं शान्त्यादिकान् पाशान् स्थानात् संगृह्य योजयेत् ॥ १८० ॥

स्थानमत्र क्रमेण वक्त्रं हृद् गुह्यं पादौ ॥ १८० ॥

एतांश्च—

व्यापिकायै शान्त्यतीतायै हुम् फट्' इस अस्त्र मन्त्र का उच्चारण करते हुए ताड़न करे ॥ १७८ ॥

ग्राह्य (शिष्य) के शिर पर पुष्प के द्वारा ताड़न करे ।

इसके बाद—

'हूम्' आदि की योजना करनी चाहिये । फिर अन्त में हुं 'फट्' जोड़ कर संहार मुद्रा से उसको खींच कर मन्त्र के अन्त में 'नमः' और पहले धाम (= ॐ) जोड़ कर सूत्र से उस शिष्य को जोड़े ॥ १७९-१७९- ॥

प्रणवपूर्वक मूल मन्त्र के सहित पूर्वोक्त मन्त्र से, वक्ष्यमाण संहार मुद्रा के द्वारा तीनो पाशों का पूर्णतया ग्रहण कर पूर्वोक्त जाति[1] को हटा कर 'नमः' अन्त जाति वाले इसी मन्त्र से शिष्य को पाशसूत्र से जोड़ दे ॥ १७९ ॥

इसी क्रम का शान्ता आदि कलाओं में स्वमन्त्र नामयोजन युक्ति के द्वारा अतिदेश करते हैं—

इसी प्रकार शान्ता आदि पाशों का भी तत्तत् स्थान में सङ्ग्रह कर संयोजन करना चाहिये (यहाँ क्रम उल्टा है—पहले शान्त्यतीता फिर शान्ता तत्पश्चात् विद्या उसके बाद प्रतिष्ठा और सबके अन्त में निवृत्ति रूप पाश का संयोजन किया जाता है) ॥ -१८० ॥

यहाँ स्थान पद का अर्थ है—क्रमशः मुख हृदय गुह्य और दोनों पैर ॥१८०॥

---

१. नमः, स्वाहा, स्वधा, वषट् एवं हुम् आदि शब्द जाति कहे जाते हैं ।

भावयेत् त्रिविधान् पाशान् पञ्चतत्त्वाध्वव्यापकान् ।

कलादीक्षायां समनन्तरं

'तत्त्वभूतास्तु ताः कलाः ।' (३।१४०)

इति वक्ष्यमाणत्वात् पञ्च यानि तत्त्वानि कलारूपाणि तैरात्मभूतैरध्वनोऽशेषस्य व्यापकानित्यर्थः ॥

अथ कथं पाशानां कलाव्याप्तिः ?, कथं च मायोर्ध्वस्थशान्ताशान्त्यतीतापदे पाशानां सत्ता ?—इत्याशङ्क्याह—

त्रयाणां व्यापिका शक्तिः क्रियाख्या पारमेश्वरी ॥ १८१ ॥
शान्त्यतीतादिभेदेन पञ्चसंज्ञाप्रतिष्ठिता ।

येयं परमेश्वरस्य नित्यावियोगिनी शक्तिः, सा क्रियाख्या गृहीतक्रियाशक्तिभूमिका सती इदन्तावैचित्र्योट्टङ्कनात् शान्त्यतीतादिपञ्चधात्वं प्राप्ता त्रयाणां मलानां व्यापिका । तदुक्तम्—

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री' (स्प० ४।१८) इति ।

अत एव यावदिदन्ताभासस्य स्थितिस्तावत्तदौचित्येन पाशाः स्थिताः, इति

इन त्रिविध पाशों के पाँच तत्त्व और षड्ध्वा में व्याप्त होने की भावना करनी चाहिये ॥ १८१- ॥

कला दीक्षा होने पर उसके बाद—

'वे कलायें तत्त्वभूतं हैं ।' (३।१४०)

ऐसा पहले कथन होने से कला आदि (= विद्या राग काल नियति) रूप जो पाँच तत्त्व हैं उन आत्मभूत तत्त्वों के द्वारा समस्त अध्वाओं को व्याप्त समझना चाहिये ॥

पाशों की कला व्याप्ति कैसे होती है और माया के ऊपर स्थित शान्ता शान्त्यतीता आदि स्तरों में पाशों की सत्ता कैसे है ? यह शङ्का कर कहते हैं—

परमेश्वर की क्रिया नामक शक्ति जो कि तीनों पाशों में व्याप्त है, शान्त्यतीता आदि भेद से पाँच संज्ञाओं की प्राप्त होती है ॥ -१८१-१८२-॥

परमेश्वर की शक्ति जो कि उनसे नित्य संयुक्त है, क्रिया शक्ति के रूप में अपने को अवतीर्ण करती हुई इदन्तावैचित्र्य के उट्टङ्कन के कारण शान्त्यतीता आदि पाँच प्रकारों वाली हो कर तीनों मलों को व्याप्त करती है । वही कहा गया है—

'शिव की यही क्रिया शक्ति पशु में रहकर उसका बन्धन करती है ।' (स्प०का० ४।१८)

शान्त्यतीतापदेऽपि तच्छोधनं युक्तम् । व्यापके च शुद्धे व्याप्यस्य तत्प्राणस्य सम्यक् शुद्धिर्भवति, इति मलानामात्मभूतकलाव्याप्त्या तद्व्यपदेशैः शोधनम्, तच्च नित्यावियोगिपारमेश्वरस्वातन्त्र्यशक्तिरूपतोन्मज्जनमेव । यथोक्तम्—

'स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ।' (स्प० ४।१८) इति ।

निर्णीतैतच्छक्तिवीर्यसारैरेव मन्त्रैर्निमग्नपारमार्थिकतद्रूपतया प्राप्तभेदानामिवासां संशोधनम्, इति सर्वमुपपन्नम् ॥ १८१ ॥

एवं च—

आधेयग्रह आधारं गृहीतं भावयेत् पशोः ॥ १८२ ॥

आधेयाः कलाः, आधारा मलाः ॥ १८२ ॥

अथ पारमेश्वरशक्तिव्याप्त्या तत्सारानाह—

गन्धपुष्पादिभिः पूज्य सूत्रे पाशांस्तु तर्पयेत् ।
शान्त्यतीताक्रमेणैव................

इसलिये जब तक इदन्ता के आभास की स्थिति रहती है तब तक उसके औचित्य के कारण पाश भी रहते हैं । इस प्रकार शान्त्यतीता स्तर पर भी उसका शोधन उचित है । व्यापक के शुद्ध होने पर उसका व्याप्य जो प्राण उसकी भी सम्यक् शुद्धि हो जाती है । इस कारण मलों की आत्मभूत कला की व्याप्ति से उस कला के बहाने मलों का भी शोधन हो जाता है । और यह (= शोधन) परमेश्वर की नित्य अवियोगिनी स्वातन्त्र्यशक्तिरूपता का उन्मज्जन ही है । जैसा कि कहा गया—

'उसकी अपने मार्ग में स्थिति का ज्ञान होने पर वह सिद्धिदात्री होती है ।' (स्प०का० ४।१८)

इस शक्ति के वीर्य से सशक्त मन्त्रों के द्वारा ही इन (= कला आदि), जो कि अपने पारमार्थिक पारमेश्वर रूप के तिरोहित हो जाने के कारण भेदयुक्त हो गयी हैं, का संशोधन होता है । इस प्रकार सब ठीक है ॥ १८१ ॥

इस प्रकार—

पशु के आधेय का ग्रहण होने पर आधार भी गृहीत हो गया—ऐसी भावना करनी चाहिये ॥ -१८२ ॥

आधेय = कलायें । आधार = मल ॥ १८२ ॥

अब पारमेश्वर शक्ति की व्याप्ति से उस तत्त्व वाले पाशों को कहते हैं—

सूत्र में गन्ध पुष्प आदि से पाशों की पूजा कर उनका शान्त्यतीता आदि के क्रम से तर्पण करना चाहिये ॥ १८३- ॥

तच्च तर्पणम्—

.............आहुतीनां त्रयं त्रयम् ॥ १८३ ॥
संनिधानाय पाशानामतः पाशांस्तु दीपयेत् ।

मन्त्रशक्त्या भाव्यक्रमसमस्तभोगसिद्ध्यौचित्येन युगपत् परिपक्वान् विदधीत् ॥ १८३ ॥

कथमित्याह—

स्वनामजातिफट्कारधामभिश्च त्रयं त्रयम् ॥ १८४ ॥

आहुतीनां दत्त्वेति शेषः । जातिरत्र हुङ्कारः । मन्त्रपाठस्य क्रमः प्राग्वत् ॥ १८४ ॥

एतच्च शिष्यचैतन्यात्—

विश्लेषकरणार्थं तु पाशानां दीपनं भवेत् ।

यत एव—

दीप्ताः पाशास्ततो बन्ध्यास्ताडनग्रहणादिना ॥ १८५ ॥

आदिशब्दाद् ग्रन्थिदानमपुनःप्ररोहार्थम् । उद्दीपितवीर्याणामेव पाशानां बन्धनं

और वह तर्पण—

तीन-तीन आहुतियों के द्वारा होता है । यह तर्पण पाशों की सन्निधि के लिये होता है । इसके बाद पाशों का दीपन करना चाहिये ॥ -१८३-१८४-॥

मन्त्रशक्ति के द्वारा भविष्य में होने वाली समस्त भोगसिद्धि की दृष्टि से पाशों को एक साथ परिपक्व बनाना चाहिये ॥ १८३ ॥

कैसे परिपक्व बनाये ?—यह कहते हैं—

स्व (= शिष्य) का नाम जाति फट् एवं धाम के द्वारा तीन-तीन ॥ -१८४ ॥

आहुतियाँ देकर (परिपक्व बनाये) । यहाँ जाति का अर्थ है—हुम् । मन्त्र पाठ का क्रम पहले की भाँति है ॥ १८४ ॥

यह (दीपन) पाशों को शिष्य चैतन्य से अलग करने के लिए होता है ॥ १८५- ॥

जिस कारण है—

दीपन के बाद (आचार्य) पाशों का ताड़न ग्रहण आदि के द्वारा बन्धन करे ॥ -१८५ ॥

शिष्यचैतन्यावरणे स्वातन्त्र्यापसारणम् ॥ १८५ ॥

ताडनमाह—

सूत्रस्थांस्ताडयेत् पुष्पैः स्वदेहस्थानिव क्रमात् ।

(स्वदेहस्थानिवेति—) यथा स्वदेहे । क्रमादिति प्रोक्तमन्त्रतद्व्याप्त्यादिक्रमेण ताडितांस्तथा ताडयेत् ॥

बन्धने युक्तिमाह—

धाम्ना च संपुटीकृत्य स्वनाम्ना च सकृत्सकृत् ॥ १८६ ॥
बन्धने तु प्रयोगोऽयं...............

एवं प्रणवधामशान्त्यतीताबीजेभ्योऽनन्तरं 'शान्त्यतीतां देवदत्तात्मस्थपाशव्यापिकां बध्नामि' इत्युच्चार्य धाम 'नमः' शब्दान्तमुच्चारयन् पाशसूत्रस्य मूर्ध्नि ग्रन्थिं दद्यात् । एवमन्यत् ॥ १८६ ॥

तदाह—

...............सूत्रे ग्रन्थीन् प्रदापयेत् ।

आदि शब्द से गाँठ बाँधना समझना चाहिये । यह ग्रन्थिबन्धन पाशों को पुनः प्ररोहण से रोकने के लिये होता है । जिन पाशों का वीर्य उद्दीपित हो गया रहता है उन्हीं का बन्धन अर्थात् शिष्य के चैतन्य का आवरण करने में उनकी स्वतन्त्रता को दूर करना, होता है ॥ १८५ ॥

अब ताडन को बतलाते हैं—

जैसे अपने देह में उसी प्रकार सूत्र में स्थित उन पाशों का पुष्पों से क्रमशः, ताडन करना चाहिये ॥ १८६- ॥

क्रम से = उक्त मन्त्र और उसकी व्याप्ति आदि के क्रम से जैसे अपने देह में ताड़ित होते हैं वैसे ही ताड़ित करना चाहिये ॥

ग्रन्थिबन्धन में युक्ति बतलाते हैं—

पाश को धाम के द्वारा तथा अपने नाम से एक-एक बार संपुटित करे । बन्धन के लिये यह प्रयोग होता है ॥ -१८६-१८७- ॥

प्रणव धाम शान्त्यतीता और बीजों के बाद 'देवदत्त की आत्मा में स्थित पाशों को व्याप्त करने वाली शान्त्यतीता शक्ति का बन्धन कर रहा हूँ' ऐसा उच्चारण कर धाम से लेकर 'नमः' शब्द पर्यन्त उच्चारण करते हुए पाशसूत्र के शिरे पर गाँठ लगानी चाहिये । इसी प्रकार अन्य (बन्धन करना चाहिये) ॥ १८६ ॥

उसको कहते हैं—

ग्रन्थीनिति, व्याप्त्या पञ्च ॥

किं च—

बन्धने परिमाणं च कर्मणो विषयस्य च ॥ १८७ ॥

न केवलं ग्रन्थीन् यावद् बन्धनसमये कर्मण: शुभाद्यात्मनो विषयस्य भुवनादेर्मायीयमलात्मनः, चशब्दादाणवस्य मलस्य परिमाणं नियतामध्वव्याप्तिं च प्रकल्पयेत् । तथा निवृत्तावेकं पार्थिवं तत्त्वम्, अष्टोत्तरशतं च कालाग्न्यादि-भुवनानामिति विषयस्य परिमाणं भविष्यति । कर्मणो निवृत्तिप्रतिष्ठाविद्यान्तं यावद्व्याप्तेः, मलस्य तु शान्ताशांन्त्यतीतान्तमपि संस्कारात्मना सूक्ष्मेण रूपेण सत्तास्त्येवैतत्सर्वमनुसंदधीत ॥ १८७ ॥

एवं च पाशसंयोगाज्जीवः —

षट्त्रिंशत्तत्त्वमध्यस्थो भुङ्क्ते भोगं......

शुद्धम् ।

अन्यच्च पाशविच्छेदात्तु नेत्याह—

....न चान्यथा ।

न एवार्थे ॥

सूत्र में गाँठे देनी चाहिये ॥ -१८७- ॥

ये ग्रन्थियाँ (निवृत्ति आदि पाँच की) व्याप्ति के कारण पाँच होती हैं ॥

तथा—

बन्धन में कर्म और विषय के परिमाण की भी (कल्पना करनी चाहिये) ॥ -१८७ ॥

बन्धन के समय केवल गाँठों की ही नहीं बल्कि शुभाशुभ कर्मों, मायीय मल रूप भुवन आदि विषयों और 'च' शब्द से आणव मल के परिमाण = निश्चित अध्वा में व्याप्ति, की कल्पना करनी चाहिये । निवृत्ति कला में एक पार्थिव तत्त्व तथा कालाग्नि आदि १०८ भुवन ये सब विषय का परिमाण है । कर्मों की निवृत्ति प्रतिष्ठा और विद्या कलाओं तक व्याप्ति है । मल की शान्ता और शान्त्यतीता तक सूक्ष्म संस्कार के रूप में सत्ता है । इसलिये इन सब का अनुसन्धान करना चाहिये ॥ १८७ ॥

इस प्रकार पाश के संयोग से जीव—

३६ तत्त्वों के मध्य में रह कर शुद्ध भोगों को भोगता है ॥ १८८- ॥

प्रकृतमाह—

पाशान् संस्थाप्य पात्रे तु संपातं जुहुयात् सकृत् ॥ १८८ ॥

पाशानिति पाशसूत्रम् संस्थाप्य इति शिष्यदेहाद्विमुच्येत्यर्थः । सम्पातहोमः 'सम्पातं सर्वमन्त्रैश्च' (३।१४२) इत्यादौ निर्णीतः ॥ १८८ ॥

अथैतान् पाशान्—

पात्रसंपुटमध्यस्थान् स्थण्डिले विनिवेदयेत् ।

पात्रमध्यस्थवेद्यवेदकान्तरावस्थिता एते, इत्याशयात् कवचावगुण्ठनव्याप्त्या च 'स्थण्डिले' इति तत्रार्चिते भगवति । विनिवेदयेदिति । एतस्य पशोः(पाशाः) त्वयैव मामिकां तनुमाविश्य बद्धाः (बन्धयाः ?), इति विज्ञप्तिं कुर्यादित्यर्थः ॥

तथैव च—

नीत्वा समर्पयेत् कुम्भे................

तत्स्थं भगवन्तं विज्ञापयेद् यथा—

................पाशान् संरक्ष हे विभो ॥ १८९ ॥

पाश का विच्छेद हो जाने से नहीं भोगता यह कहते हैं—

अन्यथा नहीं ॥ -१८८- ॥

अब प्रस्तुत को कहते हैं—

पात्र में पाशों को रख कर एक बार सम्पात होम करे ॥ -१८८ ॥

पाशोंको = पाशसूत्र को । स्थापित करे—शिष्य के देह से छुड़ा कर स्थापित करे । सम्पात होम की व्याख्या 'सम्पातं सर्वमन्त्रैश्च' (३।१४२) इत्यादि श्लोक में की गयी है ॥ १८८ ॥

पात्र सम्पुट के मध्य में स्थित इन पाशों को स्थण्डिल (स्थ शिव) के लिये निवेदित करे ॥ १८९- ॥

वेद्य वेदक रूप दो पात्रों के बीच में स्थित इन पाशों को कवच से अवगुण्ठित कर स्थण्डिल अर्थात् वहाँ पर पूजा किये गये भगवान् शिव के लिये निवेदित करे । (निवेदन का वाक्य है—हे भगवन्!) मेरे शरीर में आविष्ट होकर आप ही इस पशु (= शिष्य के पाशों) को बाँधें ॥

और उसी प्रकार—

उन पाशों को ले जाकर कुम्भ में डाल दे ॥ -१८९- ॥

और उस (= कुम्भ) में स्थित भगवान् से कहे कि—

संरक्षणं च भाविपुत्रकादिदीक्षोच्छेद्यानामेषां सांप्रतं स्वकार्यशक्तिबन्धनात्माधिवास संस्कार: ॥ १८९ ॥

तत:—

दर्भं विमोचयेच्छिष्यं................

नाडीसंधानार्थं प्राक्परिकल्पितम् ॥

अथ चास्मै—

..............पुष्पं पाणौ प्रदापयेत् ।

तेन चासौ श्रीभगवन्तं समन्त्रकमेव—

स्थण्डिले शिवकुम्भे च शिवाग्नौ च प्रपूजयेत् ॥ १९० ॥

चकाराद्गुरुमूर्तावपि ॥ १९० ॥

ततः प्रदक्षिणं कृत्वा दण्डवन्निपतेद्भुवि ।

अथ चास्मै—

उत्थाप्य पञ्चगव्यादीन् दद्याद्वै भैरवेण तु ॥ १९१ ॥

हे विभो ! पाशों की रक्षा करो ॥ -१८९ ॥

संरक्षण का अर्थ है—भावी पुत्रक आदि दीक्षा के द्वारा उच्छेद्य इन पाशों का इस समय स्वकार्यशक्तिबन्धन रूप अधिवास संस्कार ॥ १८९ ॥

इसके बाद—

दर्भ को खोल देना चाहिये ॥ १९०- ॥

नाडीसन्धान के लिये पहले से परिकल्पित ॥

तत्पश्चात् इसके हाथ में पुष्प देना चाहिये ॥ -१९०- ॥

उस (= पुष्प) के द्वारा यह (= शिष्य) वर्त्तमान श्री भगवान् की मन्त्र के साथ पूजा करे—

स्थण्डिल, शिवकुम्भ एवं शिवाग्नि की पूजा करे ॥ -१९० ॥

गुरुमूर्ति (= गुरु के शरीर) में भी ॥ १९० ॥

(शिष्य) प्रदक्षिणा कर सबको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करे ॥ १९०- ॥

इसके बाद—

फिर गुरु शिष्य को उठा कर सकल भैरव मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसको पञ्चगव्य आदि दे ॥ -१९१ ॥

आदिशब्दाच्चरुं दन्तकाष्ठम्, भैरवेणेति सकलेन ॥ १९१ ॥

अत्र विधिमाह—

गोमयेन शुचौ देशे कार्यं मण्डलकत्रयम् ।
एकस्मिन् मण्डले विष्टः पञ्चगव्यं शिशुः पिबेत् ॥ १९२ ॥
उपविश्य द्वितीये तु चरुकं प्राशयेद् बुधः ।
आचम्य दन्तकाष्ठं तु तृतीये मण्डले स्थितः ॥ १९३ ॥
भक्षयित्वा च देवेशि ततश्चैव विनिक्षिपेत् ।

पञ्चगव्यं संस्कृतस्थापितचरुभागभोजनयोग्यतायै, चरुकं तु इतः प्रभृति शिवमयभोग्यभोक्तृत्वावसायाय, दन्तकाष्ठं परां शुद्धिमभिव्यङ्क्तुम् । आचम्येति पूर्वत्रापि योज्यम् ॥ १९३ ॥

तच्च पतितम्—

पूर्वं पश्चात्तथैशोर्ध्वं चोत्तरस्यां च शोभनम् ॥ १९४ ॥
अन्यस्यामशुभं विद्धि तस्य होमः शतं भवेत् ।

अस्त्रमन्त्रेण विघ्नशमनायेत्यर्थात् । एतच्च बाहुल्येन साधकविषयम् ॥१९४॥

'आदि' शब्द से चरु और दातौन समझना चाहिये ॥ १९१ ॥

अब (पञ्चगव्य आदि के प्रयोग की) विधि बतलाते हैं—

पवित्र स्थान पर गोबर के द्वारा तीन मण्डल बनाये । एक मण्डल में प्रवेश कर शिशु पञ्चगव्य को पीये । तत्पश्चात् दूसरे मण्डल में बैठ कर चरु का भक्षण करना चाहिए । तीसरे मण्डल में जाकर आचमन कर दन्तकाष्ठ का भक्षण करे और हे देवि ! उसी मण्डल में खड़े-खड़े उस दन्त काष्ठ को फेंक दे ॥ १९२-१९४- ॥

पञ्चगव्य का प्राशन संस्कृत एवं स्थापित चरु के अक्षणार्थ शिष्य में योग्यता उत्पन्न करने के लिये किया जाता है । चरु का भक्षण यहाँ से लेकर शिवमय भोग्य के भोक्तृत्व का निश्चय करने के लिये तथा दन्तकाष्ठ शिष्य की पराशुद्धि को अभिव्यक्त करने के लिये होता है । दन्तकाष्ठभक्षण के बाद आचमन करे—यह भी समझना चाहिये ॥ १९३ ॥

प्रक्षिप्त वह—

दन्तकाष्ठ यदि पूर्व पश्चिम ईशान या उत्तर दिशा में गिरता है तो शुभ और अन्य दिशा में गिरता है तो अशुभ समझो । उस अशुभ के परिहार के लिये १०८ बार होम करे ॥ -१९४-१९५- ॥

यह होम अस्त्रमन्त्र से होना चाहिये । यह सब प्रायः साधक से सम्बन्धित

अथैतदन्तस्यास्य कर्मण: सम्यक् संपत्त्यर्थम्—

आचार्यो जुहुयात् पश्चात् प्रायश्चित्तं शिवेन तु ॥ १९५ ॥
विधेर्न्यूनातिरिक्तस्य चित्तविक्षेपकर्मणि ।

चित्तविक्षेपकर्मणि सति विधेर्न्यूनातिरिक्तत्वं तस्य प्रायश्चित्तं जुहुयादिति सङ्गति: ।

तच्च—

'अग्निकार्यं यथापूर्वं ....।' (४।३१)

इति भाविनीत्या अग्निकार्यान्ते, न त्वधुनैवेति, पश्चादित्यस्यार्थ: ॥ १९५ ॥

अत्र च—

अष्टोत्तरशतं हुत्वा प्रायश्चित्ताद् विशुध्यति ॥ १९६ ॥

अथ मूलविश्रान्तिमेवानुसंधातुम्—

पश्चात् संतर्पयेद्धोमसहस्रेण शतेन वा ।

यावदस्य विश्रान्तिर्घटत इत्यर्थ: ॥

होता है ॥ १९४ ॥

इसको करने के बाद इस कर्म की सम्यक् सिद्धि के लिये—

चित्तविक्षेप के होने पर विधि के न्यूनाधिक्य दोष के परिहार के लिये आचार्य को शिवमन्त्र (= पूर्वोक्त भैरवमन्त्र) से प्रायश्चित्त होम करना चाहिए ॥ -१९५-१९६- ॥

चित्तविक्षेप कर्म हेतु विधि के न्यूनाधिक्य दोष परिहार हेतु उस (आचार्य) को इस प्रकार प्रायश्चित्त होम करना चाहिए ।

यह प्रायश्चित्त होम—

'अग्निकार्य पहले की भाँति........' (४।३१)

इस भावी सिद्धान्त के अनुसार अग्निकार्य के अन्त में होना चाहिये न कि अभी । श्लोकोक्त 'पश्चात्' शब्द का यही तात्पर्य है ॥ १९५ ॥

यहाँ १०८ बार हवन कर प्रायश्चित्त से शुद्ध हो जाता है ॥ -१९६ ॥

इसके बाद मूलविश्रान्ति के लिये—

बाद में एक हजार आठ या एक सौ आठ बार हवन करे ॥ १९७- ॥

इससे इसकी विश्रान्ति हो जाती है ॥

अङ्गवक्त्रवाचिन:—

मन्त्रांश्च दशभागेन................

अनन्तरमेषामेव—

................वह्नौ नैवेद्यदापनम् ॥ १९७ ॥

किं च—

विशेषपूजनं चार्घं मुद्राबन्धं वरानने ।
स्तोत्रं वाद्यं तत: कृत्वा चरुं प्राश्य विसर्जयेत् ॥ १९८ ॥

परमेशमित्यर्थात् ॥ १९८ ॥

निरोधार्घेण चार्घं तु दत्त्वा चैव वरानने ।
रेचकेन तु संगृह्य भैरवं तमनुस्मरन् ॥ १९९ ॥
मुष्टिना पूरितं नीत्वा पूजयित्वा वरानने ।
अग्निष्ठं वै.........

अग्निष्ठं तमिति पूर्वोक्तम्, पूरितमिति पूरकेण, मण्डलात् संगृह्य रेचकेनाग्नौ स्थितं कृत्वा तत्रापि तथैवार्चयित्वा ॥ १९९ ॥

इसके बाद—

अङ्ग और वक्त्र[१] वाची—

मन्त्रों के लिये हवन के दशांश से वह्नि में नैवेद्य दे ॥ १९७- ॥

तथा

हे वरानने ! इसके बाद विशेष पूजन, अर्घ, मुद्राबन्ध, स्तुति, वाद्य को करने के बाद (शिष्य) चरु का प्राशन करे और परमेश्वर का विसर्जन कर दे ॥ १९८ ॥

हे वरानने ! निरोधार्घ के द्वारा (= कुम्भक प्राणायाम के द्वारा) परमेश्वर को अर्घ देकर रेचक के द्वारा अग्नि में स्थित भैरव का संग्रह करने के बाद उनका स्मरण करते हुए मुट्ठी से पूरित उनको ले जाकर पूजा करना चाहिए ॥ १९९-२००- ॥

अग्निष्ठं = अग्नि में स्थित उस पूर्वोक्त को पूरक प्राणायाम द्वारा, मण्डल से संग्रह करके रेचक प्राणायाम द्वारा अग्नि में स्थित करके वहाँ भी वैसे ही अर्चन करके ॥ १९९ ॥

---

१. अङ्ग पाँच हैं—हृदय, शिर, शिखा, कवच (= दोनों बाहें) और अस्त्र । वक्त्र भी पाँच है—ऊर्ध्व, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर । इन्हें ही ईशान तत्पुरुष वामदेव, सद्योजात और अघोर नाम से जाना जाता है ।

.....पूरकेण गृहीत्वा स्थापयेत् पुनः ॥ २०० ॥
तत्रस्थं पूजयित्वा च कलशे तु विनिक्षिपेत् ।
कुसुमादिभिरभ्यर्च्य कुम्भ एव तु भैरवम् ॥ २०१ ॥

यागगृहमनधिष्ठितं माभूदित्याशयात् ॥ २०१ ॥

अथ स्थण्डिलात्—

प्रक्षिप्य चैव निर्माल्यं गोमयेन स्पृशेत् प्रिये ।

निष्क्रान्तं माल्यं न त्वत्र चण्डीशयोगतः ॥

तत्रैव च—

शिवाम्भसा तु संप्रोक्ष्य शिश्यें शय्यां प्रकल्पयेत् ॥ २०२ ॥
गृहिणो दर्भशय्यां तु यतेर्वै भस्मना प्रिये ।
पूर्वाशिरा गृही कार्यो यतिर्वै दक्षिणाशिराः ॥ २०३ ॥

दक्षिणवक्त्राभिमुखेन । शिष्टं स्पष्टम् ॥ २०३ ॥

अथ शिखामन्त्रेण—

तत्र स्थितस्य शिष्यस्य शिखाबन्धं वरानने ।

पूरक प्राणायाम् के द्वारा ले कर उस परमेश्वर को (याग गृह में) पुनः स्थापित करे । वहाँ स्थित उसकी पूजा कर उसे कलश में डाल दे । फिर कुम्भ में ही भैरव की पुष्प आदि के द्वारा पूजा करे ॥ -२००-२०१ ॥

यागगृह (परमेश्वर से) अनधिष्ठित न हो इसलिये कलश में पुनः उनकी पूजा करनी होती है ॥ २०१ ॥

हे प्रिये ! फिर स्थण्डिल से निर्माल्य का प्रक्षेप कर उस स्थण्डिल आदि में गोबर लगाना चाहिये ॥ २०२- ॥

निर्माल्य से— यहाँ माला में योग्यता न होने से निर्माल्य कहा गया न कि चण्डीश को अर्पित करने से ॥

वहीं पर शिवोदक से दर्भ आदि का प्रोक्षण कर उससे शिष्य के लिये शय्या बनाये । गृहस्थ के लिये कुश की तथा संन्यासी के लिये भस्म की शय्या बनायी जाय । गृहस्थ की शय्या का शिर पूर्व-दिशा में तथा यति का दक्षिण दिशा में करना चाहिये ॥ -२०२-२०३ ॥

दक्षिणशिरा का अभिप्राय है—शिव के दक्षिण मुख के सामने ॥ २०३ ॥

इसके बाद—

शिखा मन्त्र के द्वारा—

तथा—

सिद्धार्थरोचनाद्यैश्च रक्षां कुर्यादसिं स्मरन् ॥ २०४ ॥

यतेर्गृहिणश्च क्रमेण रेखायुक्त्या—

भस्मना रोचनाद्यैश्च अस्त्रप्राकारचिन्तनम् ।

एतदुपसंहरति—

कवचेनावगुण्ठ्यैव शिष्यं तु स्वापयेत् ततः ॥ २०५ ॥
ततश्चैव तु निर्गत्य बलिकर्म समारभेत् ।

तदाह—

बलिस्तु कल्पितः पूर्वं सर्वभूतेष्वथादरात् ॥ २०६ ॥
तं तु संगृह्य देवेशि पूर्वादीशान्तकं क्षिपेत् ।

कल्पितो भूतार्थं साधितः ॥ २०६ ॥

अत्र च—

भूता ये विविधाकारा दिव्यभौमान्तरिक्षगाः ॥ २०७ ॥
पातालतलसंस्थाश्च शिवयागे सुभाविताः ।

हे वरानने ! (आचार्य) उस शय्या पर स्थित शिष्य का शिखा मन्त्र से शिखाबन्धन करे । तथा सफेद सरसो गोरोचन आदि से, असिमन्त्र का स्मरण करते हुए उस शिष्य तथा शय्या की रक्षा करे ॥ २०४ ॥

यति और गृही दोनों का रेखा के द्वारा—

भस्म और गोरोचन आदि से अस्त्रप्राकार बनाये ॥ २०५- ॥

इसका उपसंहार करते हैं—

इसके बाद गुरु कवच से अवगुण्ठन कर शिष्य को उस शय्या पर सुलाये । उसके बाद यागगृह से निकल कर बलिकर्म का प्रारम्भ करना चाहिए ॥ -२०५-२०६- ॥

उस (बलि) को कहते हैं—

समस्त प्राणियों के लिये आदर पूर्वक बलि पहले ही बना दी गयी है । हे देवेशि ! उसको लेकर पूर्व दिशा से लेकर ईशान पर्यन्त उसका क्षेप करे ॥ -२०६-२०७- ॥

कल्पित = प्राणियों के लिये बनायी गयी ॥ २०६ ॥

इस बलि को देते समय यह कहना चाहिये—'भूता ये.......तृप्यन्तु' ।

ध्रुवादिसर्वभूताश्च ऐन्द्र्याद्याशास्थिताश्च ये ॥ २०८ ॥
स्वाहाकारसमायोगात् तृप्यन्तूच्चारयन् क्षिपेत्।

प्रणवपूर्वं 'भूता ये' इत्यादि 'स्थिताश्च चे' इत्यन्तमुच्चार्य 'तृप्यन्तु स्वाहा' इति मन्त्रेण बलिं क्षिपेत् । अत्र मध्ये ध्रुवादीत्येतत् ध्रुवलोकपरामर्शाय । अथ च ध्रुवः प्रणवः, तदादि कृत्वायं मन्त्रः पठनीयः ॥ २०८ ॥

बलिं च पूजापूर्वकं क्षिपेदित्याह—

नमस्कारेण सम्पूज्य गन्धैर्धूपैरनुक्रमात् ॥ २०९ ॥
पूर्वादीशानपर्यन्तमधश्चोर्ध्वं समन्ततः।

अधिवासे बलिकर्मोपसंहरन् द्रव्यान्तरमुपक्षिपति—

कोणस्थान् क्षेत्रपालांश्च पतिताञ्छ्वपचानपि ॥ २१० ॥
बलिं दत्त्वा तु सर्वेभ्य आचम्य च वरानने ।
सकलीकरणं कृत्वा क्रमेण प्राशयेच्चरुम् ॥ २११ ॥

अनुग्रहावसरेऽत्र यावत्संभवं सर्वान् पूजयित्वैषामाशां पूरयेदित्यर्थः । चरुमिति, यमवशिष्टं भगवदग्रात् प्रार्थितं च । क्रमेण इति गुरुसाधकपरिपाट्या ॥ २११ ॥

इसका अर्थ है—अनेक प्रकार के जो प्राणी पृथिवी अन्तरिक्ष और स्वर्ग में स्थित हैं, जो पातालस्थ हैं, जो इस शिवयाग में आहूत हैं, ध्रुवलोकस्थ समस्त प्राणी तथा जो ऐन्द्री आदि दिशाओं में स्थित हैं वे सब 'स्वाहा' के उच्चारण के साथ तृप्त हो जायें ॥ -२०७-२०९- ॥

पहले ॐ का उच्चारण करे फिर 'भूता ये................स्थिताश्च ये' यहाँ तक उच्चारण करे । यहाँ 'ध्रुवादि' का एक अर्थ यह भी है कि ध्रुवलोक आदि । और दूसरा अर्थ है प्रणव जिसका उच्चारण सबसे पहले किया जाता है ॥ २०८ ॥

पहले बलि की पूजा करे फिर उसका दान दे—यह कहते हैं—

पूर्व दिशा से लेकर ईशान तक तथा ऊर्ध्व एवं अधः इन दशों दिशाओं में बलि की नमस्कार तथा गन्ध धूप आदि से क्रमशः पूजा कर फिर बलि दे ॥ -२०९-२१०- ॥

अधिवास के सन्दर्भ में बलिकर्म का उपसंहार करते हुए द्रव्यान्तर को कहते हैं—

चारो कोनो में स्थित क्षेत्रपालों, पतितों एवं चाण्डालों के लिये बलि देकर आचमन करना चाहिए । तत्पश्चात् सकलीकरण कर क्रम से चरु का भक्षण करना चाहिए ॥ -२१०-२११ ॥

इस अनुग्रह के अवसर पर जहाँ तक सम्भव है सबकी पूजा कर इनकी आशा

यदाह—

सहायैः सहितो वीर एकचित्तः समाहितः ।
प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा मण्डलस्थः पृथक्पृथक् ॥ २१२ ॥

वीर इति त्यक्तजात्यादिग्रहो निष्कम्पः, एकत्र शिवाभेदे चित्तं यस्य तादृक् समाहितः, बुभुक्षुर्दीक्षायां प्राङ्मुखो मुमुक्षुस्तु उदङ्मुखः, पृथक् पृथग् मण्डलस्थ इति स्वसहायानां साधकपुत्रकादीनां समव्याप्त्यभावात् सङ्करशङ्का माभूदित्यभिप्रायात्, समव्याप्तिविश्रान्तौ त्वेकमण्डलत्वेऽपि न काचिद्धानिः ॥ २१२ ॥

तत्र—

पञ्चगव्यं पिबेत् पूर्वं चरुकं दन्तधावनम् ।
प्राश्यैवं सकलीकृत्य रक्षां पूर्ववदेव च ॥ २१३ ॥

विधायेति शेषः ॥ २१३ ॥

यागभूमौ स्वपेत् पश्चाच्छिष्यै सह वरानने ।

भगवदधिष्ठिते यागगृहे गुर्वादीनां स्वापो दीक्ष्यविषयसमुचितस्वप्नदर्शनाय ॥

पूर्ण करे । भक्षणीय चरु भगवान् के आगे से अवशिष्ट एवं प्रार्थित होना चाहिये । क्रम से = पहले गुरु फिर साधक ॥ २११ ॥

जैसा कि कहते हैं—

वीराचारी गुरु को अपने सहायकों के साथ एकचित्त और समाहित होकर मण्डल में अलग-अलग बैठकर पूर्वमुख या उत्तर मुख होकर बैठना चाहिए ॥ २१२ ॥

वीर = जाति आदि के आग्रह से रहित, दृढ, एकचित्त = एकत्र-शिवा भेद में चित्त है जिसका वह और वही समाहित होता है । ऐसा भोगेच्छु दीक्षा के समय पूर्व मुख बैठे और मोक्षेच्छु उत्तर मुख । पृथक्-पृथक् मण्डलस्थ अपने सहायक साधक पुत्रक आदि (= अनभिषिक्त आचार्य) की समव्याप्ति (= समानस्तर) न होने से साङ्कर्य की शङ्का न हो इस अभिप्राय से कहा गया (समयी की अपेक्षा पुत्रक-पुत्रक की अपेक्षा साधक गरीयान् होता है) और यदि समव्याप्ति है तो एक मण्डल में बैठने पर भी कोई हानि नहीं है ॥ २१२ ॥

वहाँ (बैठकर)—

(गुरु) पहले पञ्चगव्य का पान करे । फिर चरुभक्षण फिर दातौन करे । फिर सकलीकरण कर और पूर्व की भाँति रक्षा कर ॥ २१३ ॥

हे वरानने ! यागभूमि में शिष्यों के साथ सो जाय ॥ २१४- ॥

भगवान् के द्वारा अधिष्ठित यागगृह में गुरु आदि का सोना दीक्ष्यविषयक

प्रकारान्तरमाह—

भैरवध्यानयोगेन समाधौ जाग्रदेव वा ॥ २१४ ॥

गुरुर्भवेत् शिष्यार्थमिति शेषः । समाधौ इति समाधाननिमित्तम् । इति शिवम् ॥ २१४ ॥

सन्मानसाम्बरविबोधदिनेशभाभि-
रामोदवद्विकसितं हृदयाम्बुजन्म ।
कृत्वा शिवार्चनविधौ विनिवेशयध्व-
मार्या भवभ्रमणदुःखमलं जहीत ॥

॥ इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्य-व्याख्योपेते अधिवास नाम तृतीयः पटलः ॥ ३ ॥

समुचित स्वप्नदर्शन के लिये होता है ॥ २१३- ॥

प्रकारान्तर को बतलाते हैं—

अथवा गुरु जाग्रत अवस्था में ही भैरवध्यान के योग से समाधि में लीन हो जाय ॥ -२१४ ॥

हो जाय—शिष्य के लिये समाधि = समाधान का कारण ॥ २१४ ॥

हे श्रेष्ठ जन! शुद्धमनरूपी आकाश में स्थित विशिष्ट बोधरूपी सूर्य की किरणों से विकसित आमोद (= परमानन्द एवं परमसुगन्ध) वाले हृदयकमल को शिवार्चन विधि में लगा दो और उसके फलस्वरूप संसार के अन्दर बार-बार आवागमन के चक्कर को भली भाँति छोड़ दो ॥

॥ इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र के तृतीय पटल 'अधिवास' की श्रीक्षेमराजविरचित स्वच्छन्दोद्योत नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ ३ ॥

चतुर्थः पटलः

*** स्वच्छन्दोद्योतः ***

दीक्षाज्ञानक्रियाप्लुष्टदुष्टपाशवनावलिः ।
महाज्योतिर्जयत्येको ह्लादी भैरवहव्यभुक् ॥

अधिवासानन्तरभाविनीं दीक्षां प्रस्तावयितुं श्रीभैरव उवाच—

प्रत्यूषे विमले कृत्वा शौचाद्यान् पूर्ववत् क्रमात् ।
सकलीकरणं कृत्वा पूर्ववत् प्रविशेद् गृहम् ॥ १ ॥

पटलसङ्गत्या प्रकृत आचार्यः, शौचाद्यानित्यादिशब्दात् स्नानादि, पूर्ववत् प्रविशेदिति द्वारदेवतार्चां कृत्वा

शिष्यश्च शुचिराचान्तः पुष्पहस्तः.........

प्रविशेत् ।

*** ज्ञानवती ***

दीक्षा ज्ञान क्रिया के द्वारा पाशरूपी दुष्ट वनावली को जला देने वाले, महाज्योतियुक्त, प्रसन्न, भैरवरूपी अग्नि सर्वोत्कृष्ट है ॥

अधिवास के बाद होने वाली दीक्षा को प्रस्तुत करने के लिये श्रीभैरव ने कहा—

आचार्य स्वच्छ प्रातःकाल में पूर्व की भाँति शौच आदि कृत्यों का सम्पादन कर क्रमानुसार सकलीकरण को भी पूर्ववत् कर यागगृह में प्रवेश करे ॥ १ ॥

पूर्व एवं इस पटल की सङ्गति की दृष्टि से प्रस्तुत आचार्य (सब कृत्य करे)। 'शौच आदि'—यहाँ 'आदि' शब्द से स्नान (वस्त्रधारण सन्ध्या आदि को कर के)। पूर्व की भाँति = द्वारदेवताओं की पूजा कर प्रवेश करे ।

और शिष्य भी पवित्र होकर आचमन कर हाथ में पुष्प लेकर (यागगृह

स च

.............गुरुं ततः ।
प्रणम्य शिरसा............

तत्प्रणामादेव च

.........हृष्टो गुरोः स्वप्नान्निवेदयेत् ॥ २ ॥

तांश्च—

शुभान् स्वप्नान् प्रवक्ष्यामि अशुभांश्च वरानने ।
स्वप्नेषु मदिरापानमाममांसस्य भक्षणम् ॥ ३ ॥
क्रिमिविष्ठानुलेपं च रुधिरेणाभिषेचनम् ।
भक्षणं दधिभक्तस्य श्वेतवस्त्रानुलेपनम् ॥ ४ ॥
श्वेतातपत्रं मूर्धस्थं श्वेतस्त्रग्दामभूषणम् ।
सिंहासनं रथं यानं ध्वजं राज्याभिषेचनम् ॥ ५ ॥
रत्नाङ्गाभरणादीनि ताम्बूलं फलमेव च ।
दर्शनं श्रीसरस्वत्योः शुभनार्यवगूहनम् ॥ ६ ॥

क्रिमिर्लाक्षा, एतत्सर्वं श्रेष्ठम् ॥ ६ ॥

नरेन्द्रैर्ऋषिभिर्देवैः सिद्धविद्याधरैर्गणैः ।
आचार्यैः सह सम्वादं कृत्वा स्वप्ने प्रसिद्ध्यति ॥ ७ ॥

सम्यक् वादः संवादः ॥ ७ ॥

में) प्रवेश करे । तत्पश्चात् गुरु को शिर से प्रणाम करे । उस प्रणाम से प्रसन्न हुआ शिष्य गुरु को स्वप्नों के बारे में बतलाये ॥ २ ॥

हे वरानने ! अब मैं शुभ और अशुभ स्वप्नों को कहूँगा । स्वप्न में मदिरापान, कच्चे मांस का भोजन, कृमियुक्त विष्ठा अथवा कृमि (= लाक्षा) और विष्ठा का (शरीर में) लेपन, रक्त से स्नान, दहीयुक्त भात को खाना, श्वेत वस्त्र, श्वेत (चन्दन आदि) का लेप, शिर पर श्वेत छाता लगाना, सफेद फूलों की माला रस्सी को पहनना, सिंहासन रथ सवारी को देखना या उस पर बैठना, ध्वज देखना, राज्याभिषेक, रत्नों के आभूषण, ताम्बूल, फल को देखना, लक्ष्मी और सरस्वती का दर्शन, सौभाग्यवती स्त्री के साथ समागम यह सब देखना श्रेष्ठ (= शुभ सूचक) है ॥ ३-६ ॥

तथा—

स्वप्न में राजा, ऋषि, देवता, सिद्ध, विद्याधर, गणदेवता, आचार्य के साथ संवाद करना सिद्धिप्रद होता है ॥ ७ ॥

तथा च—

नदीसमुद्रतरणमाकाशगमनं तथा ।
भास्करोदयनं चैव प्रज्वलन्तं हुताशनम् ॥ ८ ॥
ग्रहनक्षत्रताराणां चन्द्रबिम्बस्य दर्शनम् ।
हर्म्यस्यारोहणं चैव प्रासादशिखरेऽपि वा ॥ ९ ॥
नराश्ववृषपोतेभतरुशैलाग्ररोहणम् ।
विमानगमनं चैव सिद्धमन्त्रस्य दर्शनम् ॥ १० ॥
लाभः सिद्धचरोश्चैव देवादीनां च दर्शनम् ।
गुटिकां दन्तकाष्ठं च खड्गपादुकरोचनाः ॥ ११ ॥
उपवीताञ्जनं चैव अमृतं पारतौषधीः ।
शक्तिं कमण्डलुं पद्ममक्षसूत्रं मनःशिलाम् ॥ १२ ॥
प्रज्वलत्सिद्धद्रव्याणि गैरिकान्तानि यानि च ।
दृष्ट्वा सिद्ध्यति स्वप्नान्ते क्षितिलाभं व्रणं तथा॥ १३ ॥

सिद्धो जपादिक्रमेण मन्त्रो यस्य, व्रणमिति स्वदेहेऽस्त्रजम्, स्वप्नान्ते इति, न तु स्वप्नस्याद्यमध्ययोः । यथोक्तमन्यत्र—

'प्राङ्निमित्तं दिवा ग्राह्यं रात्रौ ग्राह्यं तु पश्चिमम् ।' इति ॥ १३ ॥

(संवाद का अर्थ है—) मधुर शिष्ट भाषण ॥ ७ ॥

तथा—

नदी या समुद्र में तैरना, आकाश में उड़ना, सूर्योदय, जलती हुयी (निर्धूम) आग, ग्रह नक्षत्र तारा चन्द्रमण्डल का दर्शन, घर के ऊपर महल के शिखर पर चढ़ना, आदमी, घोड़ा, बैल, नाव, हाथी, वृक्ष और पर्वत के शिखर पर चढ़ना, विमान के द्वारा गमन, सिद्धमन्त्र वाले व्यक्ति का दर्शन, सिद्ध चरु की प्राप्ति, देवता आदि (= देवी) का दर्शन, गोली (= सिद्ध गुटिका जिसको मुख में रखलेने पर अदृश्यदर्शन होने लगता है) दातौन, खड्ग, पादुका, रोचना (= गोरोचन अथवा अल्पना), यज्ञोपवीत, अञ्जन, अमृत, पारतौषधि, (= पारा से बनी हुई औषधि) शक्ति, कमण्डलु, कमल, अक्षमाला, मैनसिल, जलते हुए गैरिक आदि सिद्ध द्रव्य, स्वप्न के अन्त में क्षिति (= पृथिवी) की प्राप्ति और अपने शरीर में शस्त्र से घाव लगना देखकर (शिष्य) सिद्ध बन जाता है ॥ ८-१३ ॥

जपादि क्रम से मन्त्र को सिद्ध करने वाला साधक सिद्ध कहलाता है । घाव अर्थात् अपने शरीर में अस्त्र से लगने वाला घाव । यह स्वप्न के अन्त में न कि आदि और मध्य में देखे । जैसा कि अन्यत्र कहा गया—

किं च—

क्षतजार्णवसङ्ग्रामतरणं विजयं रणे ।
ज्वलत्पितृवनं रम्यं वीरवीरेशिभिर्वृतम् ॥ १४ ॥
वीरवेतालसिद्धैश्च महामांसस्य विक्रयम् ।
महापशोः संविभागं लब्ध्वा देवेभ्य आदरात् ॥ १५ ॥
आत्मना पूजयन् देव जपन् ध्यायन् स्तुवन्नपि।
सुहुतं चानलं दीप्तं पूजितं वा प्रपश्यति ॥ १६ ॥
हंससारसचक्राह्वमयूरशवरोहणम् ।
मातृभिर्भैरवैश्चैव मातृरुद्रगणैः सह ॥ १७ ॥
भैरवं भैरवीं दृष्ट्वा सिद्ध्यत्यत्र न संशयः।

वीरवेतालसिद्धैश्चेति सहार्थे तृतीया । मातृरुद्रा देवविशेषाः । महापशुः पुरुषपशुः । सारसः सरस्येव य आस्ते हंसविशेषः । सिद्ध्यतीति तत्स्वप्नानुसारिणीमुत्तमादिरूपां सिद्धिं प्राप्नोतीत्यर्थः । यद्यपि—

'दृष्टः श्रुतोऽनुभूतश्च प्रार्थितः कल्पितस्तथा ।
भावितो दोषजश्चेति स्वप्नः सप्तविधः स्मृतः ॥'

'दिन में स्वप्न के आदि में तथा रात्रि में अन्त में देखना शुभ होता है' ॥ १३ ॥

घाव लगने पर खून निकलना, समुद्र में या युद्ध स्थल में जाना, युद्ध में विजय देखना, जलता हुआ श्मशान जो कि सुन्दर हो और वीर (= वीराचारीसाधक) अर्थात् कौलिक सिद्ध वीरेश्वरी (= योगिनियाँ) से युक्त हो, वीरों, वेतालों एवं सिद्धों के साथ स्वयं को देखना, महामांस (= मनुष्य के मांस) का विक्रय, देवताओं से आदरपूर्वक महापशु (= पुरुष) का संविभाग प्राप्त करना, स्वयं देवताओं की पूजा, ध्यान, स्तुति करना, अग्नि में सुष्ठु हवन एवं जलती हुई अथवा पूजित अग्नि को देखना, हंस, सारस, चक्रवाक, मयूर एवं शव पर चढ़ना, माताओं (= योगिनियों) भैरवों मातृरुद्रों के समूहों के साथ भैरव एवं भैरवी को देखने से सिद्धि प्राप्त होती है । इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ १४-१८- ॥

'वीरवेतालसिद्धैश्च' यहाँ (सहयुक्तेऽप्रधाने पा०सू०) के अनुसार 'सह' अर्थ में तृतीया विभक्ति का प्रयोग है । मातृरुद्र = विशेष प्रकार के देवता । महापशु = पुरुष । सारस = जो तालाब में ही रहता है वह-हंस विशेष । सिद्ध होता है—उस स्वप्न के अनुसार उत्तम, मध्यम या अधम सिद्धि प्राप्त करता है । यद्यपि—

'दृष्ट, श्रुत, अनुभूत, प्रार्थित, कल्पित, भावित एवं दोषज ये सात प्रकार के स्वप्न कहे गये हैं ।'

इति निमित्तान्तरजोऽस्ति स्वप्नः, तथापीह भगवद्गुर्वधिष्ठिते यागधाम्नि मन्त्रादिमाहात्म्याद् भाविफलानुरूप एव दृश्यतेऽसावधिवासे ॥ १७ ॥

एवम्—

शुभाः स्वप्ना मयाख्याता अशुभांश्च निबोध मे ॥ १८ ॥

तानाह—

तैलाभ्यङ्गस्तथा पानं............

तैलस्यैव च ।

.................विशनं च रसातले ।
अन्धकूपे च पतनमथ पङ्के निमज्जनम् ॥ १९ ॥
वृक्षवाहनयानेभ्यः पतनं हर्म्यपर्वतात् ।
कर्तनं कर्णनासाभ्यामथ वा हस्तपादयोः ॥ २० ॥
पतनं दन्तकेशानामृक्षवानरदर्शनम् ।
वेतालक्रूरसत्त्वानां तथैव कालपूरुषाः ॥ २१ ॥
कृष्णोर्ध्वकेशा मलिनाः कृष्णमाल्याम्बरच्छदाः।
रक्ताक्षी स्त्री च यं स्वप्ने पुरुषं त्ववगूहयेत् ॥ २२ ॥
म्रियते नात्र संदेहो यदि शान्तिं न कारयेत् ।
गृहप्रासादभेदं च शय्यावस्त्रासनेषु च ॥ २३ ॥

इस के अनुसार उपर्युक्त सात में से किसी एक कारण से ही स्वप्न उत्पन्न होता है तथापि यहाँ भगवान् एवं गुरु के द्वारा अधिष्ठित यागस्थल में मन्त्र आदि की महिमा से अधिवास में भावी फल के अनुरूप ही स्वप्नदर्शन होता है ॥ १७॥

इस प्रकार मैंने शुभ स्वप्नों को बतलाया अब मुझसे अशुभ स्वप्नों को जानो ॥ १८ ॥

उनको बतलाते हैं—

शरीर में तेल लगाना, तेल पीना, रसातल में प्रवेश करना, अन्धकूप में गिरना, वृक्ष वाहन यान घर की छत अथवा पर्वत से गिरना, कान, नाक, हाथ, पैर का कटना, दाँतों एवं शिर के बालों का गिरना, भालू बन्दर को देखना, वेताल क्रूर प्राणी को देखना, काल पुरुषों (= यमदूतों) जो कि काले एवं ऊपर उठे हुए बालों वाले, मलिन, काले रङ्ग की माला एवं वस्त्र धारण किये हों, लाल नेत्रों वाली स्त्री स्वप्न में जिस पुरुष का आलिङ्गन करें वह स्वप्नद्रष्टा यदि शान्ति न कराये तो निश्चित रूप से मर जाता है । घर एवं महल का गिरना, शय्या वस्त्र आसन में स्वयं लेटना,

आत्मनोऽभिभवं संख्ये आत्मद्रव्यापहारणम् ।
खरोष्ट्रश्वसृगालेषु कङ्कगृध्रबकेषु च ॥ २४ ॥
महिषोलूककाकेषु रोहणं च प्रवर्तनम् ।
भक्षणं पक्वमांसस्य रक्तमाल्यानुलेपनम् ॥ २५ ॥
कृष्णरक्तानि वस्त्राणि विकृतात्मा प्रपश्यति ।
हसनं वल्गनं स्वप्ने म्लानस्त्रग्दामधारणम् ॥ २६ ॥
स्वमांसोत्कर्तनं बन्धं कृष्णसर्पेण भक्षणम् ।
उद्वाहं च तथा स्वप्ने दृष्ट्वा नैव प्रसिध्यति ॥ २७ ॥

क्रूरसत्त्वं व्याघ्रादि, संख्ये सङ्ग्रामे, विकृतात्मा विघ्नव्याकुलचित्तो भीषणाकृतिर्वा, हसनोद्वाहादि आत्मनः, वल्गनं नृत्तम् ॥ २७ ॥

उपसंहरति—

अशुभा ह्येवमाख्याता विज्ञेया दैशिकोत्तमैः ।

विज्ञेया इति कालस्वरूपाधिकार्यनुसारेणैव एषां बलाबलचिन्ता कार्येत्यर्थः ॥

तत्र—

युद्ध में अपनी पराजय, अपने धन का अपहरण, गदहा, ऊँट, कुत्ता, सियार, कङ्क (= पक्षिविशेष सम्भवतः चील्ह), गिद्ध, बकुला, भैंसा, उल्लू कौवा के ऊपर सवारी करना या इनको हाँकना, पके मांस का भोजन करना, रक्त का लेप या लाल फूल की माला का पहनना, काला, लाल वस्त्र पहनना, यह सब देखने वाला पागल या रोगी हो जाता है या मर जाता है । स्वप्न में हँसना, उछलना कूदना नाचना या दौड़ना, गन्दी माला या रस्सी पहनना, अपने मांस को काटना, काला साँप का शरीर में लपेटना, भोजन करना, विवाह यह सब स्वप्न में देखने पर सिद्धि नहीं मिलती (अपितु अशुभ होता है) ॥ १९-२७ ॥

क्रूर सत्त्व = बाघ शेर आदि । संख्य में = सङ्ग्राम में । विकृतात्मा = विघ्न से व्याकुल चित्त वाला अथवा भयङ्कर आकृतिवाला । हँसना या विवाह-यह अपना होना चाहिये । वल्गन = नृत्त ॥ २७ ॥

उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार ऊपर बतलाये गये स्वप्नों को उत्तम आचार्य अशुभ समझे ॥ २८- ॥

जानना चाहिये—समय स्वरूप और अधिकारी के अनुसार ही इन स्वप्नों के बलाबल की चिन्ता करनी चाहिये ॥

(आचार्य) इनमें से—

शुभास्तत्रानुमोद्यास्तु अशुभेषु तु होमयेत् ॥ २८ ॥
अष्टोत्तरशतं धाम्ना...............

तथा सति दीक्षान्तरायोपशान्तिः ॥ २८ ॥

...............प्रायश्चित्ताद् विशुद्ध्यति ।

अत्र विधिमाह—

पूर्ववत् सकलीकृत्य विघ्नोच्चाटनरक्षणम् ॥ २९ ॥
वेष्टनं पूर्ववत् कुर्याच्छिवाम्भः शिवहस्तकम् ।
लोकपालांस्तु सम्पूज्य शिवकुम्भं च स्थण्डिलम् ॥ ३० ॥
अग्निकार्यं यथापूर्वं पूर्णाहुतिप्रपातनम् ।
प्रायश्चित्तं ततः पश्चाद् दुःस्वप्नार्थं यदुक्तवान् ॥ ३१ ॥

तत् कुर्यादिति शेषः । वेष्टनं कवचेन, शिवाम्भ इति प्रोक्षणा([1]द्यर्थम्) शिवहस्तः कर्मणो दीप्त्यापत्त्या सम्यक् प्रायश्चित्तशान्त्यर्थम्, स्थण्डिलमिति तदाधेयं भैरवम् ॥ ३१ ॥

एतदुपसंहरन् प्रकृतं प्रस्तावयति—

शुभ स्वप्नों का अनुमोदन करे और अशुभ होने पर धाम (= मूलमन्त्र शिवप्रणव 'हूम्') से १०८ बार होम करे ॥ -२८-२९- ॥

वैसा करने पर दीक्षा के विघ्नों की शान्ति होती हैं ॥ २८ ॥

प्रायश्चित्त करने के कारण (दीक्ष्य) शुद्ध हो जाता है ॥ -२९ ॥

इसके विषय में विधि बतलाते हैं—

पूर्व की भाँति सकलीकरण करने के बाद विघ्न का उच्चाटन एवं रक्षण करना चाहिये । पूर्ववत् वेष्टन करे । फिर शिवोदक एवं शिवहस्तविधि करे तत्पश्चात् । शिष्य लोकपालों की पूजा कर शिवकुम्भ की स्थापना करे एवं स्थण्डिल बनाये । पूर्ववर्णित रीति से अग्निकार्य करते हुए (शिष्य) पूर्णाहुति दे । इसके बाद दुःस्वप्न के लिये जो प्रायश्चित्त कहा गया उसे करे ॥ -२९-३१ ॥

वेष्टन-कवच मन्त्र से होना चाहिये । शिवाम्भः (की कल्पना) प्रोक्षण आदि के लिये होती है । शिवहस्त प्राप्ति कर्म की दीप्ति की आपत्ति के द्वारा प्रायश्चित्त के सम्यक् शान्ति के लिये (किया जाता है) । यहाँ स्थण्डिल तात्पर्य अर्थ है—उस पर बैठने वाले भैरव, उनकी (स्थापना करे) ॥ ३१ ॥

---

१. दिकम्

एवं पूजादिकं कृत्वा विसृज्य स्थण्डिलाच्छिवम् ।
निर्माल्यापनयं कृत्वा भूमिं संशोध्य पूर्ववत् ॥ ३२ ॥
नित्यकर्म ततः कुर्यात् पूजाहोमजपादिकम् ।
नित्याह्निके समाप्ते तु नैमित्तिकमथाचरेत् ॥ ३३ ॥

नित्यकर्म स्वानुष्ठानविषयम् । तत्र प्रायश्चित्तिनो नाधिकार इति तच्छुद्ध्यन्ते तस्याभिधानम्: नैमित्तिकं दीक्षाख्यान्निमित्तादागतम् ॥ ३३ ॥

तदुपक्रमते—

उपलिप्य शिवाम्भोभिर्ब्रह्मस्थानं प्रपूजयेत् ।
भावेन गन्धपुष्पाद्यैः............

भावेन प्रणवेन ।

.................ततो मण्डलमालिखेत् ॥ ३४ ॥

तद्विधिरग्रे भविष्यति ॥ ३४ ॥

अथ—

करणीं खटिकां चैव भैरवेण प्रपूजयेत् ।
धाम्ना तु रजसां पातः............

इसका उपसंहार करते हुए प्रस्तुत का आरम्भ करते हैं—

इस प्रकार पूजा आदि कर स्थण्डिल पर से शिव का विसर्जन करे । तत्पश्चात् भूमि से माला वगैरह को हटा कर पहले की भाँति भूमि का संशोधन करे । उसके बाद पूजा होम जप आदि नित्य कर्मों को करने के बाद नैमित्तिक कार्य करे ॥ ३२-३३ ॥

नित्यकर्म = अपने अनुष्ठान से सम्बद्ध । उस विषय में प्रायश्चित्ती का अधिकार नहीं होता । इसलिये उस (= प्रायश्चित्ती) की शुद्धि के बाद उस (= नित्यकर्म) का कथन किया गया है । नैमित्तिक = दीक्षा नामक निमित्त के कारण उपस्थित हुआ कार्य ॥ ३३ ॥

उसको बतलाने का उपक्रम करते हैं—

ब्रह्मस्थान को शिवोदक के द्वारा उपलिप्त कर फिर भावनात्मक गन्ध एवं पुष्प आदि (= पञ्चोपचार) से उसकी पूजा करे और इसके बाद मण्डल बनाये ॥ ३४- ॥

उस (= मण्डल' बनाने) की विधि आगे बतलायी जायेगी ॥ ३४ ॥

करणी और खटिका की भैरव के द्वारा पूजा करे । धाम (= हूँ) के

भैरवः सकलः, धाम्नाभिमन्त्रितानां रजसां पश्चात् पातो निर्मन्त्रक एव, अन्यथा भाविरजोदोषोक्त्यनुपपत्तिः ॥

स च रजसां पातः—

...............सिताद्यश्चागमोदितः ॥ ३५ ॥

सितं रजः पात्यमानमाद्यं यस्य, आगमे बृहत्तन्त्रे उदितः ॥ ३५ ॥

अथ—

निष्पन्ने मण्डले स्नात्वा नित्यकर्म समाचरेत् ।

अपरेऽह्नि, इत्यर्थः ॥

नित्यकर्मसमाप्तौ तु कुर्यान्नैमित्तिकं बुधः ॥ ३६ ॥

तन्नित्यकर्मानूद्य नैमित्तिकमादिशति—

स्नानादि पूर्ववन्मन्त्रैः सकलीकरणादिकम् ।
आत्मरक्षास्त्रप्राकारद्वारपालादिपूजनम् ॥ ३७ ॥
विघ्नोच्चाटनदिग्बन्धौ भूपातालखवासिनाम् ।
अस्त्रप्राकारमारोप्य कवचेनावगुण्ठनम् ॥ ३८ ॥

द्वारा धूल को गिराये ॥ ३५- ॥

भैरव = सकल मन्त्र । धाम के द्वारा अभिमन्त्रित धूल (= सफेद बालू, आँटा इत्यादि) को बिना मन्त्रोचार के गिराये, अन्यथा भावी रजोदोष का कथन असङ्गत हो जायेगा ॥

वह सिताद्य धूलीप्रपात आगमोक्त है ॥ -३५ ॥

(अर्थात् सबसे पहले श्वेत धूली गिराये) । यह विधि आगम = बृहत्तन्त्र में उक्त है ॥ ३५ ॥

इसके बाद—

मण्डल के निष्पन्न हो जाने पर (शिष्य) स्नान कर नित्य कर्म करे । यह कार्य दूसरे दिन करना चाहिये । नित्यकर्म समाप्त होने पर विद्वान् नैमित्तिक कर्म करे ॥ ३६ ॥

उस नित्य कर्म को पुनः बतला कर नैमित्तिक को बतलाते हैं—

मन्त्रों द्वारा पूर्व की भाँति स्नान आदि कर सकलीकरण आदि करे । आत्मरक्षा के लिये अस्त्रप्राकार और द्वारपाल आदि का पूजन करे । पृथ्वी पाताल एवं आकाश में रहने वालों के द्वारा संभाव्य विघ्न को हटाने के

उदङ्मुखं तूपविष्टः करशुद्ध्यादि पूर्ववत् ।
शिवाम्भः शिवहस्तं च अर्घत्रयप्रकल्पनम् ॥ ३९ ॥

कृत्वेति शेषः । आत्मरक्षार्थोऽस्त्रप्राकारः । भूपातालखवासिनां विघ्नानामुच्चाटनमिति व्यवहितः संबन्धः, आगमप्रामाण्यात् । अस्त्रप्राकारमिति यागगृहविषयम् । उदङ्मुखमिति बुभुक्षुदीक्षाया अपि मुक्तिपर्यवसायित्वात् । दक्षिणास्यस्य चाशेषपाशदाहकत्वात्, दीक्षाप्रारम्भे च अत्राचार्यस्योदङ्मुखत्वमेवोक्तम्, करशुद्ध्यादीत्यादिशब्दात् देहशुद्ध्यादिकम् । शिवाम्भ इति प्रोक्षणाद्यर्थं शिवमन्त्रितमम्भोऽर्घपात्रात् पृथक्, तच्च प्राक्पटलयोरनुमन्तव्यम् । पात्रत्रये विधिनिरोधपशुप्रयोजनमर्घत्रयम् ॥ ३९ ॥

ततः—

लोकपालांस्तु सम्पूज्य शिवकुम्भं प्रपूजयेत् ।

ततोऽपि—

मण्डलस्याग्रतो भूत्वा मण्डलं प्रोक्ष्य चासिना ॥ ४० ॥

लिये उच्चाटन और दिग्बन्ध करे । अस्त्रप्राकार को आरोपित कर कवच मन्त्र से अवगुण्ठन करे । पुनः उत्तर दिशा की ओर मुख कर बैठे और करशुद्धि आदि पहले की भाँति करे । तत्पश्चात् शिवाम्भस् शिवहस्त एवं अर्घत्रय की रचना करे ॥ ३७-३९ ॥

अस्त्रप्राकार आत्मरक्षा के लिये होता है । भू, पाताल और आकाश में रहने वाले विघ्नों का उच्चाटन-इस प्रकार व्यवहित अन्वय समझना चाहिये । क्योंकि इसमें आगम प्रमाण है । अस्त्रप्राकार यागगृह से सम्बद्ध होता है । उत्तर की ओर मुख करने में तात्पर्य यह है कि यद्यपि मोक्षकामी उदङ्मुख होकर अनुष्ठान करता है तथापि भोगेच्छु का भी पर्यवसान मोक्ष में ही होता है । दक्षिण की ओर मुख करने वाले का समस्तपाश दग्ध हो जाता है इस कारण उदङ्मुख कहा गया । दीक्षा के प्रारम्भ में आचार्य के लिये उत्तर की ओर मुखकर बैठना कहा गया । कर शुद्धि आदि—यहाँ 'आदि' शब्द से देहशुद्धि आदि समझना चाहिये । शिवाम्भस्—यह प्रोक्षण आदि के लिये होता है । शिवमन्त्रित यह जल अर्घपात्र से पृथक् बनाया जाता है । इसे पूर्व के दो पटलों से समझ लेना चाहिये । विधि, निरोध एवं पशु के लिये तीन पात्रों में तीन अर्घ बनाते हैं ॥ ३९ ॥

इसके बाद—

लोकपालों की पूजा कर शिवकुम्भ की पूजा करनी चाहिये ॥ ४०- ॥

तत्पश्चात्—

मण्डल के आगे जाकर असि मन्त्र से मण्डल का प्रोक्षण करने के

वर्मणा वेष्टयेत् पश्चात् प्रणवेनाभिमन्त्रयेत् ।
अष्टोत्तरशतं धाम्ना रजोदोषैर्विशुद्ध्यति ॥ ४१ ॥

मण्डलस्याग्रत इत्यनेन दीक्ष्यजनातिशयेन मण्डलस्य दिगन्तराभिमुखत्वमपि ध्वनति । प्रणवेन धाम्नेति प्रणवपूर्वेण निष्कलेनेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

इत्थं च संस्कृतस्य मण्डलस्य—

चतुर्दिक्ष्वस्त्रं सम्पूज्य द्वारे गन्धादिभिः क्रमात् ।
प्राकारं भावयेदस्त्रं..............

द्वार इति जातावेकवचनम्, तेन वक्ष्यमाणनवनाभमण्डलस्य चतुर्दिक्षु यान्यष्टौ द्वाराणि तत्रेत्यर्थः ॥

..............मण्डलं प्रविशेत् ततः ॥ ४२ ॥

पूजामत्रारभेत इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

तत्र—

गुरून् सम्पूज्य विघ्नेशं पुष्पाद्यैः प्रणवेन तु ।

पूर्वं गणपतिं वायव्यकोणे संपूज्य गुरून् प्राच्यां दिशि प्रपूजयेत् । यथोक्तं

बाद वर्म मन्त्र से उसका वेष्टन करे । बाद में प्रणव धाम (= ॐ हूं) से मण्डल को एक सौ आठ बार अभिमन्त्रित करे । इस प्रकार (मण्डल) रजोदोष से शुद्ध हो जाता है ॥ -४०-४१ ॥

मण्डल के आगे—दीक्ष्य शिष्य के अन्दर अतिशय होने से मण्डल अन्य दिशाओं की ओर हो सकता है—यह सङ्केतित करते हैं । प्रणव धाम से = प्रणवपूर्वक निष्कल मन्त्र के द्वारा ॥ ४१ ॥

इस प्रकार से संस्कृत मण्डल की—

चारो दिशाओं में गन्ध आदि के द्वारा द्वारों पर अस्त्र की पूजा कर अस्त्रप्राकार की भावना करनी चाहिये ॥ ४२- ॥

'द्वारे' यहाँ एक वचन जाति अर्थ में है । इसलिये वक्ष्यमाण नवनाभमण्डल की चारो दिशाओं में जो आठ द्वार हैं वहाँ (पूजा करे) ॥

इसके बाद (शिष्य) मण्डल में प्रवेश करे ॥ -४२ ॥

अर्थात् यहाँ पूजा का आरम्भ करे ॥ ४२ ॥

वहाँ—

पुष्प आदि के द्वारा प्रणव का उच्चारण करते हुए गुरुओं की और विघ्नेश की पूजा करे ॥ ४३- ॥

तृतीयपटले—

'ब्रह्मस्थानस्य पूर्वेण गुरून् पूज्य विनायकम्' । (३।९२)

वायव्ये इति ॥

ततः—

अनन्तमासनं प्राग्वच्छिवान्तं प्रणवेन तु ॥ ४३ ॥
मूर्त्यादि पूर्ववन्न्यस्येद्धृदाद्यावरणान्तगम् ।
पूर्वोक्तविधिना पूज्य नैवेद्यानि निवेदयेत् ॥ ४४ ॥
निरोधार्घेण चार्घं तु दत्त्वा चैव निरोधयेत् ।
जपध्यानादिकं कृत्वा अग्निष्ठं भैरवं यजेत् ॥ ४५ ॥
नाडीसन्धानकं त्रिष्ठं कृत्वा सन्तर्पयेद्विभुम् ।

अग्नाविति शेषः ॥ ४५ ॥

तत्र तावन्नाडीसंधानमाह—

आत्मनो निष्कलोच्चारं कृत्वा कुम्भे निवेशयेत्॥ ४६ ॥
कलशस्थस्य वामेन रेचयेत् पूरयेत् ततः ।

पहले वायव्य कोण में गणपति की पूजा करे फिर पूर्वदिशा में गुरुओं की पूजा करे । जैसा कि तृतीय पटल में कहा गया—

ब्रह्मस्थान के पूर्व में गुरुओं की पूजा कर वायव्यकोण में गणपति की पूजा करनी चाहिए ॥ (३।९२)

इसके बाद—

प्रणव का उच्चारण करते हुए अनन्त से लेकर शिव पर्यन्त आसन दे । फिर पहले की तरह हृदय से लेकर आवरण तक मूर्त्ति आदि का न्यास करना चाहिये । पूर्वोक्त विधि के अनुसार (अनन्त आदि की) पूजा कर नैवेद्य निवेदित करे । निरोधार्घ के द्वारा अर्घ देकर उनको निरुद्ध करे (ताकि वे अन्यत्र न जा सकें) । तत्पश्चात् जप ध्यान आदि कर अग्नि में स्थित भैरव की पूजा करे । फिर नाडीसन्धान कर त्रिष्ठ (= सोम सूर्य और अग्नि इन) तीन में स्थित व्यापक भैरव को अग्नि में (आहुति द्वारा) तृप्त करे ॥ -४३-४६- ॥

अग्नि में (आहुति से तृप्त करें) यह जोड़ना चाहिए ॥ ४५ ॥

अब नाडीसन्धान को बतलाते हैं—

अपनी निष्कल (= प्राणशक्ति का) उच्चार (= रेचन) कर स्थापित

मण्डलस्थस्य सव्येन पुनर्वामेन रेचयेत् ॥ ४७ ॥
अग्निष्ठस्य तु तत्तेजो दक्षिणेन विशन् स्मरेत्।

मन्त्रकलशाद्भिर्ग्रन्थिभेदक्रमेण ऊर्ध्वद्वादशान्तमाश्रयन् ततोऽपि हृदयमागत्य तत्र विश्रम्य प्रदक्षिणं भ्रमित्वा सोममार्गेण निःसृत्य कलशस्थस्य दक्षिणेन प्रविशेत्, तत्राप्यमुमेव क्रममास्थाय तद्वामेन निर्गत्य मण्डलस्थस्य दक्षिणेन प्रविश्य प्राग्वद्वामेन निर्गत्य वह्निस्थस्य दक्षिणेन प्रविशेत्, प्राग्वदेव च हृदये विश्राम्येत् । एवमधिकरणचतुष्टयैक्यापत्त्या वह्नावग्नीषोमसूर्यतेजःसामरस्येन स्थेयम्, न तु ततः स्वहृदयमागन्तव्यमग्निष्ठ एव भवति यागस्य प्रस्तुतत्वात् प्राधान्येनैवावस्थितेर्युक्तत्वात् ॥ ४७ ॥

यदाह—

एवं संधानकं कृत्वा ततस्तर्पणमारभेत् ॥ ४८ ॥

एवमित्यग्निविश्रान्त्यन्तम् ॥ ४८ ॥

कुम्भ में उसे प्रविष्ट कराये । कलशस्थ प्राण को वाम नासाछिद्र (= पिङ्गला नाडी) से रेचन करे, फिर मण्डलस्थ सव्य (दायें नासाछिद्र = इडा) से पूरित करे । फिर अग्नि मण्डल में स्थित प्राण को वाम से रेचित करना चाहिए । फिर उस तेज का दक्षिण नासापुट से अन्दर जाते हुए स्मरण करना चाहिए ॥ -४६-४८- ॥

मन्त्र (= अभिमन्त्रित) कलशजल से द्वादश ग्रन्थि (= माया, पाशव, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव, इन्धिका, दीपिका, वैन्दव, नाद, शक्ति—द्रष्टव्य ने०तं० ७।२२-२५) के भेदक्रम के द्वारा ऊर्ध्व द्वादशान्त में पहुँच कर फिर वहाँ से हृदय में आकर वहाँ विश्राम करे । प्रदक्षिणा करने के बाद सोममार्ग (= पिङ्गलामार्ग) से निकल कर कलश के दक्षिण से प्रवेश करे । वहाँ भी उपर्युक्त क्रम से उसके बायें भाग से निकल कर मण्डलस्थ देवता के दक्षिण से प्रवेश कर बायें से निकल कर बहिस्थ देवता के दक्षिण से प्रवेश करे । पूर्व की ही भाँति हृदय में विश्राम करे । इस प्रकार चार अधिकरणों (= ऊर्ध्वद्वादशान्त, हृदय, मण्डलस्थदेवता और वह्निस्थदेवता) को एक मानकर कुण्डस्थ वहि में अग्नि सोम और सूर्य रूपी तीन तेजों को समरस बनाये । वहाँ से अपने हृदय में नहीं आना चाहिये वहीं (= अग्नि में) रहना चाहिये क्योंकि याग प्रस्तुत है । प्रधान में ही स्थिति समीचीन होती है ॥ ४७ ॥

जैसा कि कहते हैं—

इस प्रकार नाडीसन्धान कर फिर तर्पण का आरम्भ करे ॥ -४८ ॥

इस प्रकार अर्थात् अग्निविश्रान्तिपर्यन्त ॥ ४८ ॥

ततश्च—

दशभागविभागेन हुत्वा पूर्णाहुतिं क्षिपेत् ।

मूलहोमात् पूर्वोक्ताद्वक्त्राणां दशमांशेन हुत्वेत्यर्थः ।

अथ—

प्रायश्चित्तविशुद्ध्यर्थं कुर्यादष्टोत्तरं शतम् ॥ ४९ ॥
विधेः पूर्णातिरिक्तस्य धाम्ना पूर्णाहुतिं ततः ।

धाम्नेति काकाक्षिवत् ॥ ४९ ॥

किं च—

आचार्योऽथार्घहस्तस्तु मण्डलं प्रविशेत्ततः ॥ ५० ॥
सम्पूज्य परमेशानं पुष्पाद्यैरर्घपश्चिमम् ।
मुद्रां बद्ध्वा प्रणम्यादौ जानुभ्यामवनिं गतः ॥ ५१ ॥
विज्ञापयेत पश्वर्थं प्रारब्धोऽयं मखोत्तमः ।
स्नानाधिवासनाद्यं यन्मण्डलेऽग्नौ च यत्कृतम् ॥ ५२ ॥

इसके बाद—

इस प्रकार दश भाग कर मूलमन्त्र से हवन कर पूर्णाहुति डालना चाहिए ॥ ४९- ॥

पूर्वोक्त मूलहोम से वक्त्रों के दशमांश से हवन कर (पूर्णाहुति दे) ॥

इसके बाद—

प्रायश्चित्त की विशुद्धि के लिये । धाम (= मन्त्र शिव प्रणव हूँ) से १०८ बार हवन करना चाहिए । तत्पश्चात् प्रधान अग्निहोत्र के लिये भी धाम से पूर्णाहुति देनी चाहिए ॥ -४९-५०- ॥

'धाम्ना' इस पद को काकाक्षि की भाँति (प्रायश्चित्त होम एवं प्रधान होम के साथ जोड़ना चाहिये) ॥ ४९ ॥

तथा—

इसके बाद आचार्य हाथ में अर्घपात्र लेकर मण्डल में प्रवेश करना चाहिए । पुष्प आदि और अन्त में अर्घ के द्वारा परमेश्वर की पूजा कर योग मुद्राबन्ध को दिखाकर घुठनों को नीचे ले जाकर (शिर को) पृथ्वी पर रख कर प्रणाम कर (पशु को दृष्टि में रखकर) परमेश्वर को विज्ञापित करना चाहिए कि हे परमेश्वर ! यह उत्तम यज्ञ पशु के लिये शुरू किया गया है । स्नान अधिवासन आदि और जो मण्डल तथा अग्नि में किया

विधानं पुष्कलं सम्यक् त्वत्प्रसादादिहास्तु तत् ।

परमेशानं विज्ञापयेत् पश्वर्थमिति सङ्गतिः ॥ ५२ ॥

अनुष्ठितकर्मविषयां विज्ञप्तिं कृत्वा, अनुष्ठास्यमानविषयामप्याह—

इदानीं शिष्यदेहे तु सकलीकरणादिका ॥ ५३ ॥
योजन्यन्ताध्वशुद्धिस्तु त्वत्प्रसादात् प्रसिद्ध्यतु ।

ततः कर्मप्रारम्भनिष्पत्त्यन्तं केवलमन्तर्मुखक्रमेण यावन्निश्चितप्रतिपत्त्यापि भगवदधिष्ठितिमात्मनः स्फुटयेदिति विज्ञप्तेराशयः ॥ ५३ ॥

अत एव—

एवमस्त्वित्यनुज्ञातः परमेशेन वीरराट् ॥ ५४ ॥
लब्धानुज्ञः प्रहृष्टात्मा निष्क्रामेन्मण्डलाद् बहिः ।

वीरराडिति परमेश्वराधिष्ठितः । एवं लब्धाशेषनिर्दलनात्मकभैरवीभावोऽत एव तत्समावेशात् प्रहृष्टात्मा । बहिरिति जव निकान्तरिते यागधाम्न्येव ॥ ५४ ॥

गया आपकी कृपा से यह सम्पूर्ण विधान यहाँ पुष्कल (= पर्याप्त सम्पूर्ण) हो जाय ॥ -५०-५३- ॥

पशु के लिये परमेश्वर को विज्ञापित करे—यह अन्वय है ॥ ५२ ॥

अनुष्ठित कर्मविषयक विज्ञापन करने के बाद भविष्य में किये जाने वाले अनुष्ठान से सम्बद्ध विज्ञप्ति को बतलाते हैं—

अब शिष्य के देह में सकलीकरण से लेकर योजनिका पर्यन्त अध्वशुद्धि आपके प्रसाद से सिद्ध हो जाय (ऐसा भगवान् से आचार्य कहे) ॥ -५३-५४- ॥

इसके बाद कर्म के प्रारम्भ से लेकर सम्पूर्णता पर्यन्त केवल अन्तर्मुख के क्रम से निश्चित ज्ञान (अथवा समर्पण) के द्वारा भी अपने अन्दर भगवान् का अधिष्ठान स्पष्ट करे यह विज्ञप्ति का उद्देश्य है ॥ ५३ ॥

इसीलिये—

परमेश्वर के द्वारा 'एवमस्तु' ऐसी आज्ञा पाकर वीराचारी गुरु प्रसन्नचित्त होकर मण्डल से बाहर निकल जाय ॥ -५४-५५- ॥

वीरराड्— परमेश्वर से अधिष्ठित हुआ । इस प्रकार आचार्य सम्पूर्ण (भेदमयता) का निर्दलन करने वाले भैरवी भाव को प्राप्त करने वाला फलतः उस (= भैरवी भाव) के समावेश के कारण प्रसन्नचित्त हो जाता है । बाहर = पर्दे से घिरे हुए याग स्थल में (प्रवेश करे) ॥ ५४ ॥

पश्वर्थाय कृतं यत्तु तद् गृहीत्वार्घपात्रकम् ॥ ५५ ॥
धाम्नस्तु दक्षिणे भागे कारयेन्मण्डलं गुरुः ।

दक्षिण इति दक्षिणास्यस्य पाशप्लोषकत्वात् ॥ ५५ ॥

अथात्र—

प्रणवासनं कुशैर्न्यस्य शुचिं शिष्यं निवेशयेत् ॥ ५६ ॥
शिवाम्भोऽस्त्रेण संताड्य भस्मना च कुशैः क्रमात् ।
मण्डले कल्पिते शिष्यं मूर्तिभूतं प्रकल्पयेत् ॥ ५७ ॥

शुचिं स्नातम् । अस्त्रेणेति त्रिषु योज्यम् । कल्पित इति आसनत्वेन, अत्र च मूर्त्यादीनां पूर्वोक्तैव व्याप्तिः । एवमुत्तरत्रापि ॥ ५७ ॥

अथास्य—

उपविश्य करन्यासं निर्दाहाद्यस्त्रपूर्वकम् ।
सबाह्याभ्यन्तरं न्यासं मन्त्रसंधानमेव च ॥ ५८ ॥

गुरुः कुर्यात् ॥ ५८ ॥

ततः—

जो पशु (= दीक्ष्य शिष्य) के लिये बनाया गया है उस अर्घपात्र को लेकर गुरु धाम के दक्षिण भाग में मण्डल बनवाये ॥ -५५-५६- ॥

दक्षिण भाग में—क्योंकि दक्षिण वाला मुख पाशदाहक होता है ॥ ५५ ॥

इसके बाद यहाँ—

कुशों के द्वारा प्रणवासन (= प्रणव की आकृति का आसन अथवा प्रणवोच्चार युक्त आसन्) बना कर पवित्र शिष्य को उस पर बैठा दे । अस्त्र के द्वारा शिवोदक को ताड़ित कर क्रमशः भस्म और कुशों से बनाये गये मण्डल में शिष्य को मूर्त्तिभूत हुआ कल्पित करे ॥ -५६-५७ ॥

शुचि = स्नान किया हुआ । 'अस्त्र के द्वारा'—इसे तीनों (= भस्म, शिवोदक और कुश) के साथ जोड़ना चाहिये । कल्पित-आसन के रूप में । यहाँ मूर्त्ति आदि की व्याप्ति पूर्वोक्त ही जाननी चाहिये । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये ॥ ५७॥

इसके बाद गुरु—

(आसन पर) बैठ कर इस शिष्य का करन्यास अस्त्रपूर्वक निर्दाह आदि, बाह्य एवं आभ्यन्तर न्यास और मन्त्रसन्धान करे ॥ ५८ ॥

गुरु को करना चाहिए ॥ ५८ ॥

फिर गुरु—

शिवहस्तः प्रदातव्यो ध्यात्वा देवं सुजाज्वलम् ।

गुरुणा ॥

एवं गुरुरस्य—

मूर्ध्नि सम्पातयेत्तेजः पाशाङ्कुरविनाशनम् ॥ ५९ ॥

पाशानामङ्कुराः संसारप्ररोहहेतव आद्या उद्भेदास्तेषां नाशनम् । यथोक्तमन्यत्र—

'ब्रह्मपञ्चकसंयुक्तः शिवेनाधिष्ठितः शिवः ।
पाशच्छेदकरः क्षेमी शिवहस्तः प्रकीर्तितः ॥
अनेनालब्धमात्रस्तु देही निर्मुक्तबन्धनः ।
प्रयाति शिवसायुज्यं निर्मलो निरुपप्लवः ॥' इति ॥ ५९ ॥

उत्थाप्य च ततो नीत्वा मण्डलं तु प्रवेशयेत् ।

इन्द्रियाणां बाह्यप्रसरप्रशमनेन भगवदेकाग्रतामाधातुं बद्धनेत्रस्य मण्डलदर्शनमुचितमित्याह—

वस्त्रं सम्प्रोक्ष्य तोयेन कवचेनावगुण्ठयेत् ॥ ६० ॥

देदीप्यमान भैरवदेव का ध्यान कर (शिष्य को) शिवहस्त दे ॥ ५९- ॥

इस प्रकार गुरु—

(= शिवहस्त दे कर) पाश के अङ्कुर के नाशक तेज को इस (शिष्य) के शिर पर गिराये ॥ -५९ ॥

(पाशाङ्कुरविनाशनम् =) पाशों के अङ्कुर—संसार की उत्पत्ति के कारणभूत प्रथम उद्भेद, उनका नाशक । जैसा कि अन्यत्र कहा गया—

यह शिवहस्त पाँच ब्रह्म (= ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव) से संयुक्त (अनाश्रित) शिव से अधिष्ठित पाश का नाशक, क्षेमवान् शिवस्वरूप कहा गया है । इससे आलब्ध हुआ देही बन्धन से मुक्त हो कर निर्मल और निरुपप्लव हुआ शिवसायुज्य को प्राप्त होता है ॥ ५९ ॥

(तत्पश्चात् गुरु शिष्य को) उठा कर ले जाय और मण्डल में प्रवेश करा दे ॥ ६०- ॥

इन्द्रियों के बाह्य प्रसार को रोकने से भगवान् के प्रति मन की एकाग्रता को बनाने के लिये आँख बन्द किये हुए शिष्य के द्वारा मण्डल का दर्शन उचित है—यह कहते हैं—

वस्त्र को पानी से धुलकर कवच के द्वारा उसे अवगुण्ठित करे । फिर

पूजयेद् गन्धपुष्पाद्यैर्भैरवेणाभिमन्त्रयेत् ।
नेत्रे बद्ध्वा तु नेत्रेण...........

नेत्रेणाभिमन्त्रिते नेत्रमन्त्रोच्चारपूर्वं सर्वेन्द्रियप्रसरपुरःसरभूते नेत्रे बद्ध्वा ॥

शिष्यस्य—

...........पुष्पं पाणौ प्रदापयेत् ॥ ६१ ॥

स च—

अकामान्निक्षिपेत्पुष्पं देवस्याभिमुखं स्थितः।

तदनन्तरं बुभुक्षोः—

पुष्पपातवशान्नाम कुर्याद्वै साधकस्य च ॥ ६२ ॥

वक्त्राङ्गादिपूर्वं शिवान्तं पुंसः, स्त्रियस्तु शक्त्यन्तम् ॥ ६२ ॥

यस्तु निष्कामस्तस्य—

मुमुक्षोर्गुरुरिच्छातः.............

यथारुचि कुर्याद्वा न वेत्यर्थः ॥

गन्ध पुष्प आदि से उस वस्त्र की पूजा कर भैरवमन्त्र से उसका अभिमन्त्रण करे । फिर नेत्रमन्त्र का उच्चारण करते हुए उस वस्त्र से शिष्य के दोनों नेत्रों को बाँध दे ॥ -६०-६१- ॥

नेत्रमन्त्र के द्वारा अभिमन्त्रित अर्थात् नेत्रमन्त्र का उच्चारण कर दोनों नेत्रों, जो कि समस्त इन्द्रियों के प्रसरण के अग्रणी हैं, को बाँध कर ॥

(आचार्य) शिष्य के

हाथों में पुष्प दे ॥ -६१ ॥

और वह

शिष्य देवता के समक्ष खड़ा होकर किसी दिशा को लक्ष्य किये बिना उस पुष्प को फेंक दे ॥ ६२- ॥

उसके बाद

आचार्य पुष्पपात के आधार पर भोगेच्छु साधक का नाम रखें ॥-६२॥

पुरुष का नाम रखने के लिये पहले वक्त्राङ्ग आदि और बाद में शिव जोड़ना चाहिये और स्त्रियों का शक्त्यन्त होना चाहिये । (उदाहरण के लिये दक्षिण—हस्तशिव अग्निहस्तशिव पश्चिमहस्तशिव तथा पूर्वशक्ति दक्षिणशक्ति आदि) ॥ ६२ ॥

जो मोक्षेच्छु है उस मुमुक्षु का गुरु अपनी इच्छा से यथारुचि नामकरण

पूर्वोक्तस्य साधकदीक्षादीक्ष्यस्य—

...........नाम वै साधकस्य वा ।

'वा' शब्दो निश्चये । कुर्यादेवेत्यर्थः ॥

अथ—

मुखमुद्घाट्य तं शिष्यं शिवाय प्रणिपातयेत् ॥ ६३ ॥

शाक्तमार्गोद्घाटनव्याप्त्या मुखमस्य लाघवेनोद्घाटयेत्, यथासावुद्भूतफुल्लन्यायेन[1] विकसतीति गुरवः ॥ ६३ ॥

किं च—

प्रदक्षिणमतः कृत्वा मण्डलेऽग्नौ प्रणम्य च ।
अग्निकुण्डसमीपे तु आचार्यः पशुना सह ॥ ६४ ॥

भवेदिति शेषः । प्रदक्षिणादिकर्तृत्वं द्वयोरपि । अत्र च पूर्वोक्ता कराकर्षणयुक्तिः स्मर्तव्या ॥ ६४ ॥

आत्मसव्येऽथ दिग्भागे मण्डलं प्रणवेन तु ।

करे अथवा न करे । गुरु पूर्वोक्त साधकदीक्षा दीक्ष्य साधक का नाम अवश्य रखे ॥ ६३- ॥

इसके बाद (शिष्य का) मुख खोल कर उस शिष्य को शिव के समक्ष प्रणत कराये ॥ -६३ ॥

शाक्त मार्ग की उद्घाटनव्याप्ति से इस (दीक्ष्य) का मुख शीघ्र खोलना चाहिये जिससे कि यह (= दीक्ष्य पशु) उद्भूतफुल्लन्याय[2] से विकसित हो ॥ ६३ ॥

तथा—

इसके बाद आचार्य पशु (= दीक्ष्य शिष्य) के साथ मण्डलस्थ अग्नि की प्रदक्षिणा कर अग्नि को प्रणाम करे । फिर अग्निकुण्ड के समीप उपविष्ट हो जाय ॥ ६४ ॥

प्रदक्षिणा आदि कृत्य आचार्य और दीक्ष्य दोनों को करना चाहिये । यहाँ पूर्वोक्त कराकर्षण युक्ति का स्मरण करना चाहिये ॥ ६४ ॥

अपने दाहिने दिग्भाग में मण्डल को रखना चाहिये । प्रणव के द्वारा

---

१. उद्भूतफुल्लन्यायोविज्ञानभैरवे (श्लो० ६१) विवृतः ।
२. ज्यों ही उत्पन्न हो तत्काल पूर्णरूप से विकसित हो जाना न कि क्रमशः पहले अप्रौढकलिका, फिर कलिका, फिर अर्धविकास और तब अन्त में पूर्ण विकास।

पूर्ववन्नाडिसन्धानं तदर्थं चाहुतित्रयम् ॥ ६५ ॥
सम्पाताभिहुतिं कृत्वा अणुतर्पणमेव च ।
पूर्णाहुतिं ततो दत्त्वा प्रायश्चित्तानि होमयेत् ॥ ६६ ॥
धाम्ना चाष्टशतं.............

'पिङ्गला मध्यमा नाडीशिष्यदेहाद्विनिर्गता ।' (३।१४९)

इति प्रागुक्तस्थित्या शिष्यकरगुरुजङ्घासङ्घातदर्भयुक्त्या नाडीसन्धानम्, अणवो मूलाद्या मन्त्राः ॥ ६६ ॥

एतत् कृत्वा—

........पश्चात् पातयेदाहुतित्रयम् ।
जात्युद्धारे ध्रुवेणैव द्विजत्वापादने तथा ॥ ६७ ॥

ध्रुवं प्रणवमुच्चार्य 'अमुकस्य जात्युद्धारङ्करोमि स्वाहा' इति प्रयोगेण पशुदेहसम्बद्धाया जातेरुद्धारे तिस्र आहुतीः पातयेत् । ततोऽपि 'द्विजत्वापादनं करोमि स्वाहा' इति प्रयोगेण भाविरुद्रांशापादनयोग्यतार्थाचिन्त्यशक्तिभिर्मन्त्रैः शुद्धविद्यापदजननयोग्यतात्मकद्विजत्वापादनायाहुतीस्तिस्रः पातयेत् । अतश्च यत्केचिदूचुः—द्विजत्वापादनमेतन्न वर्तमानशरीरविषयम्, तत्र (द्रव्या?) तद्देहाश्रितायाः शूद्रादिजातेरेव स्थितत्वाद् द्विजत्वजातेश्च परस्या नित्याया जन्यत्वाभावादिति कर्मान्तरवशसंभाव्यमानद्विजदेहापेक्षयैवैतदष्टाचत्वारिंशतसंस्कारापादनेन द्विजस्यैव कार्यमिति तदेषां जातिग्रहग्रस्ततयाननुन्मिषितविवेकत्वादविदितपरमेशशास्त्रार्थसतत्त्वमभिधानमुपेक्ष्यमेव । यतो भाविद्विजदेहविषयमेतदित्यत्रार्थे श्रुतिरस्ति । यथा च वर्तमानस्य पशुशरीरस्याचिन्त्यशक्तिमन्त्रप्रभावाद् दाहादिकं जात्युद्धारश्च क्रियते, तथा शुद्धतत्त्वमयदेहान्तरोत्पत्तिर्द्विजत्वापादनं च यद्य (न्त्यजा-)[1]देरपि क्रियते, तन्न काचिदनुपपत्तिः । श्रुतिस्तर्ह्यत्रार्थे यथाभिहितरूपा सेतिकर्तव्यता स्पष्टैवास्ति । श्रूयते हि एतद्यथाद्यापि योगिन्यो मन्त्रादिप्रभावेन देहजात्यादि आत्मनः परस्य च परिवर्तयन्तीति । माहेश्वरे च नये तदुक्तप्रक्रिययापि शिवपुंमायाभ्योऽन्यत्तत्त्वजात्यादि सर्वमेवानित्यम् । यत् तु भुवनाध्वनि अष्टचत्वारिंशत्संस्काराधानेन द्विजत्वापादनं क्रियते, तत्पुत्रकस्य वागीश्यां गर्भाधानादियुक्त्या तत्तत्त्वसंभाव्यमानभूतसर्गभोगशुद्धिमध्ये द्विजभोगशुद्ध्यर्थम्। इदं तु समयिनो वर्तमानदेहविषयम्, तस्य तत्त्वशुद्धरचोदितत्वात् । अतश्चैतदेव यतो दीक्षितानाम्—

'एकैव सा स्मृता जातिर्भैरवीया शिवाव्यया ।' (४।५४३)

पहले की भाँति नाडीसन्धान करे । उस (= सन्धान) के लिये तीन आहुतियाँ दे । तत्पश्चात् सम्पात हवन कर अणुओं के द्वारा तर्पण करे । इसके बाद पूर्णाहुति देकर भैरवमन्त्र से १०८ आहुति के द्वारा प्रायश्चित्त होम करे ॥ ६५-६७- ॥

'शिष्य के देह से जो पिङ्गला और मध्यमा नाडी निकली ॥' (३।१४९)

इस पूर्वोक्त स्थिति के अनुसार शिष्य के हाथ एवं गुरु की जङ्घा के समूहरूपी दर्भ की युक्ति से नाडीसन्धान होता है । अणु = मूल आदि वाले मन्त्र ॥ ६६ ॥

यह करने के बाद (आचार्य)—

(शिष्य की) जाति को हटाने और (उसके अन्दर) द्विजत्व को ले आने के लिये ध्रुव के द्वारा तीन आहुतियाँ दे ॥ -६७ ॥

ध्रुव = प्रणव (= ॐ) का उच्चारण कर 'इस (देवदत्त) का जात्युद्धार करता हूँ स्वाहा' इस प्रयोग से पशुदेह से सम्बद्ध जाति के उद्धार के विषय में तीन आहुतियाँ दे । इसके बाद 'इस (देवदत्त) के द्विजत्व की रचना करता हूँ स्वाहा' इस प्रयोग से भावीरुद्रांश के आपादन की योग्यता को (शिष्य के अन्दर) उत्पन्न करने के लिये तथा, अचिन्त्यशक्ति वाले मन्त्रों से शुद्धविद्यापद के जनन की योग्यता वाले द्विजत्व को बनाने के लिये तीन आहुतियाँ (अग्नि में) गिराये । इसलिये जो कुछ लोगों ने कहा—यह द्विजत्वापादन वर्त्तमान शरीर के विषय में (करणीय) नहीं है क्योंकि वहाँ उस देह में आश्रित शूद्रत्व आदि जाति ही स्थित है । जो पर एवं नित्य जाति है वह जन्य नहीं है । इसके अतिरिक्त कर्मान्तरवश सम्भावित द्विजदेह की अपेक्षा से ही ये ४८ संस्कार किये जाते हैं ये संस्कार द्विज के ही लिये करणीय हैं । इसलिये जातिग्रह से ग्रस्त होने के कारण इनके विवेक के उन्मिषित न होने से परमेश्वरशास्त्र का ज्ञान इनको नहीं होता । इसलिये इनको उपदेश नहीं दिया जाना चाहिये ।—इस प्रकार का उनका कथन उपेक्ष्य है । क्योंकि यह अनुष्ठान भावीद्विजदेहविषयक है इस विषय में श्रुति भी है । जैसे अचिन्त्यशक्ति वाले मन्त्र के प्रभाव से वर्त्तमान पशुशरीर का दाह आदि और जात्युद्धार किया जाता है उसी प्रकार अन्त्यज आदि का भी शुद्ध तत्त्वमय देह की उत्पत्ति और द्विजत्वापादन भी किया जाता है । इस प्रकार यहाँ कोई अनुपपत्ति नहीं है । इस विषय में यथाभिहित रूप वाली तथा इतिकर्त्तव्यता वाली श्रुति स्पष्ट ही है । यह सुना जाता है कि आज भी योगिनियाँ मन्त्र आदि के प्रभाव से अपनी तथा दूसरे की देह जाति आदि बदल देती हैं । माहेश्वर शास्त्र में उक्त प्रक्रिया से शिव पुरुष और माया से अतिरिक्त तत्त्व जाति आदि सब अनित्य हैं । और जो भुवनाध्वा में अँड़तालिस संस्कारों के आधान से द्विजत्व का सम्पादन किया जाता है वह पुत्रक के दीक्षा योग्य व्यक्ति की वागीशी में गर्भाधान आदि की युक्ति से उस तत्त्व में संभाव्यमान भूतसृष्टि की शुद्धि के बीच द्विजभोग की शुद्धि के लिये होता है । और यह (संस्कार) समयीदीक्षा के योग्य व्यक्ति के वर्त्तमान देह के विषय में है । क्योंकि उसकी तत्त्वशुद्धि उक्त नहीं है । इसलिये यह समझना चाहिये । क्योंकि—

'दीक्षितों की भैरवीया शिवाव्ययरूपा एक ही जाति कही गयी है ।' (४।५४३)

---

१. न्तजात्या ।

इति वक्ष्यमाणस्थित्या न शूद्रादिजातीयत्वमस्ति, प्रत्युत प्राग्जात्युदीरणात् प्रायश्चित्तत्वं शास्त्रसमये स्थितानामुक्तम् । द्विजस्यापि चैतदलौकिकं द्विजत्वापादनं कार्यमेव । यत्तु—

'येनेदं तद्धि भोगतः ।' (किरणा०)

इति देहस्थित्यां वर्तमानदेहे मन्त्रयोजनं (न) कार्यमित्याहुः, तदारब्धदेहकर्मशुद्ध्यर्थं न कार्यमितियदुच्यते त(दयु)क्तम्, शोषदाहाप्यायजात्युद्धाराद्यर्थं तु वर्तमानदेहेऽपि चोदितत्वात् कर्तव्यमेव । अन्यथा—

'मन्त्रशक्तिभिरुग्राभिः शोषनिर्दहनादिभिः ।
शरीरं शोषितं यस्मात्तदर्थमभिषेचनम् ॥' (४।४५०)

इत्यसङ्गतं स्यात् ॥ ६७ ॥

अत्र द्विजत्वापादने कर्तव्यान्तरमाह—

बीजाहारे तथा देशभावशुद्धौ द्विजो भवेत् ।

इस वक्ष्यमाण स्थिति से उनकी शूद्र आदि जाति नहीं होती बल्कि शास्त्र के नियम का पालन करने वालों की जाति का कथन करने पर प्रायश्चित करने का विधान है और यदि दीक्ष्य व्यक्ति द्विज है तो उसको अलौकिक द्विज बनाने के लिये यह उपर्युक्त अनुष्ठान करना चाहिये । और जो—

'जिस (प्रारब्धकर्म) के द्वारा यह (शरीर उत्पन्न हुआ है) वह निश्चित रूप से भोग के कारण ही (क्षीण या नष्ट होता है) ।' (किरणा०)

यह कथन कर देह की स्थिति होने पर वर्त्तमान देह में मन्त्र का योजन नहीं करना चाहिये—ऐसा कुछ लोग कहते हैं—वह आरब्धदेहकृत कर्म की शुद्धि के लिये न करना चाहिये—यह कथन ठीक नहीं है । 'शोषण, दाह, आप्यायन जाति (= ब्राह्मणत्व आदि) के उद्धार के लिये वर्तमान देह में भी (शोधन) करना चाहिये' ऐसा श्रुति में कहा गया है ।

अन्यथा—

'चूँकि उग्र मन्त्रशक्तियाँ शोषण निर्दहन आदि के द्वारा शरीर को सुखा देती है इसलिये उस (शोष आदि को दूर करने के लिये अभिषेक किया जाता है)। (४।४५०)

यह कथन असङ्गत हो जायगा ॥ ६७ ॥

द्विजत्व को ले आने के लिये यहाँ अन्य कर्त्तव्यों को कहते हैं—

(साधक) बीज, आहार, देश एवं भाव की शुद्धि होने पर द्विज होता है ॥ ६८- ॥

प्रणवपूर्वं '(= ॐ) बीजाहारदेशभावशुद्धिममुकस्य करोमि स्वाहा' इत्यत्र प्रयोगः । इह—

'ब्रह्मण्यं बीजशुद्ध्या स्यात् सा च स्त्रीषु व्यवस्थिता ।
तासां तु चपलं चित्तं चण्डालेष्वपि धावति ॥'

इति मुकुटसंहितोक्तन्यायात्र क्वचिद् बीजशुद्धिर्वास्तवी संभाव्यते, इति सा मन्त्रैरेव संपाद्या । आहारस्य श्रुतिस्मृत्युक्तप्रक्रियया अनिर्वाहादशुद्धिरस्ति, देशस्यापि म्लेच्छादिसंपर्कात्, भावस्यासत्यानार्जवदियोगादिति शुद्धिराधेयैव ॥

अत्रैवमस्य मन्त्रैः शुद्धविद्यायां जननेनापादितलोकोत्तरद्विजत्वस्य—

प्रणवेनाहुतीस्तिस्रो रुद्रांशापादने तथा ॥ ६८ ॥

प्रणवपूर्वं 'रुद्रांशो भव स्वाहा' इति प्रयोगाद् भाविभैरवीभावभूमिकाग्रहणाय रुद्रांशत्वापादनमस्य कार्यम्, येनाधिगतशास्त्रार्थो रुद्रध्यानैकनिष्ठः स्यात् ॥ ६८ ॥

तत्रेतिकर्तव्यतां दर्शयितुमाह—

अस्त्रेण प्रोक्षयेच्छिष्यं पुष्पयुक्तेन ताडयेत् ।

यहाँ—ॐकार का उच्चारण कर इस (देवदत्त) की बीज आहार देश भाव की शुद्धि कर रहा हूँ, 'स्वाहा' ऐसा बोल कर हवन करे । यहाँ—

'बीज की शुद्धि से ब्राह्मणत्व की प्राप्ति होती है और वह (बीज शुद्धि) स्त्रियों पर आधृत होती है । क्योंकि उनका चित्त चञ्चल होता है और चाण्डाल के प्रति भी आसक्त हो जाता है ।'

मुकुटसंहिता के इस कथन के अनुसार वास्तविक बीजशुद्धि कहीं भी सम्भव नहीं है । इसलिये वह (बीज शुद्धि) मन्त्रों से सम्पाद्य है आहार की अशुद्धि श्रुति स्मृति में वर्णित भोजनप्रक्रिया का निर्वाह करने से होती है । देश की भी म्लेच्छ आदि के सम्पर्क से (अशुद्धि होती है), भाव की अशुद्धि असत्य कुटिल आदि के योग से होती है । इसलिये शुद्धि का आधान तो करना ही चाहिये ॥

मन्त्रों के द्वारा इस दीक्ष्य का शुद्धविद्या में जन्म होने से (उसके अन्दर) अलौकिक द्विजत्व सम्पन्न होता है । फलतः इसके—

रुद्रांशापादन के लिये प्रणव से तीन आहुतियाँ देनी चाहिये ॥ -६८ ॥

प्रणव का उच्चारण कर 'रुद्रांशो भव स्वाहा' ऐसा प्रयोग कर इस दीक्ष्य के भावी भैरवीभाव की भूमिका के ग्रहण के लिये रुद्रांशापादन करना चाहिये जिससे भैरवशास्त्र का अध्ययन कर यह रुद्रध्यान में लग जाय ॥ ६८ ॥

वहाँ इतिकर्त्तव्यता को दिखलाने के लिये कहते हैं—

अस्त्र मन्त्र के द्वारा शिष्य का प्रोक्षण करे । पुष्पयुक्त (अस्त्र) से ताड़न

रेचकेन ततो गत्वा शिष्यदेहे विशेद्धृदि ॥ ६९ ॥

पुष्पेति अस्त्रजप्तेन पुष्पेणेत्यर्थः । रेचकेनेत्यूर्ध्वमार्गिकेण ॥ ६९ ॥

अथ तत्र—

ॐकारादिशिवं जप्त्वा अस्त्रमन्त्रं फडन्तगम् ।
विश्लेषकरणं कृत्वा चैतन्यस्य विधानतः ॥ ७० ॥
छेदयेदस्त्रमन्त्रेण कवचेनावगुण्ठयेत् ।
अङ्कुशेन समाकृष्य द्वादशान्ते तु कारयेत् ॥ ७१ ॥
तत्रस्थः पुद्गलो ग्राह्यः सम्पुट्यैव ध्रुवेण तु ।
संहारमुद्रया सम्यक्..........'

शिवं निष्कलम्, चैतन्यस्येति पुर्यष्टकरूपस्य, विधानत इति पूर्वोक्तरश्मिमात्रावियोगभावनया, अङ्कुशेनेति मूलमन्त्रस्य कुटिलकलाक्रमेण अङ्कुशमुद्राप्रदर्शनेन चेत्यर्थः । पुद्गलो जीवः, सम्यगिति स्वाभेदप्रतीतिदार्ढ्येन । यथोक्तं स्पन्दे—

'अयमेवात्मनो ग्रहः ।' (स्प० २।७) इति ॥

अथोर्ध्वकेन—

....पूरकेण विशेद्धृदि ॥ ७२ ॥

करे । इसके बाद रेचक के द्वारा निकल कर शिष्यदेह के अन्दर वर्त्तमान हृदय में प्रवेश करे ॥ ६९ ॥

पुष्प के द्वारा = अस्त्रमन्त्र के जप से युक्त पुष्प के द्वारा । रेचक = ऊर्ध्वमार्ग वाले रेचक के द्वारा ॥ ६९ ॥

इसके बाद वहाँ—

पहले ॐकार जोड़ कर अस्त्र मन्त्र के अन्त में फट् लगा कर शिव का जप करे । तत्पश्चात् चैतन्य का विधिपूर्वक विश्लेषकरण कर अस्त्र मन्त्र से छेदन करे और कवच से अवगुण्ठन करे । फिर अङ्कुश से खींच कर (उस चैतन्य को) द्वादशान्त में ले जाय । वहाँ स्थित पुद्गल को ध्रुव से सम्पुटित कर संहारमुद्रा से पकड़ ले ॥ ७०-७२- ॥

शिव = निष्कल शिव । चैतन्य का = पुर्यष्टकरूप सूक्ष्म शरीर का । विधान से = पूर्वोक्त रश्मिमात्र के साथ संयोग की भावना से । अङ्कुश से = मूलमन्त्र के कुटिल कलाक्रम से और अङ्कुशमुद्रा के प्रदर्शन से । पुद्गल = जीव । सम्यक् = अपने से अभिन्न बुद्धि की दृढ़ता से । जैसा कि सपन्दकारिका में कहा गया—

ऊर्ध्व—तत्पश्चात् 'यही आत्मा का ग्रहण है ।' (स्प०का० २।७)

पूरक के द्वारा अपने हृदय में प्रवेश करे ॥ -७२ ॥

स्वस्मिन् ॥ ७२ ॥

तत्र—

संस्कुभ्य सरसीकृत्य रेचयेत् पुद्गलं पुनः ।
त्यजन्तं देवताषट्कं ततश्चापि स्वकं पदम् ॥ ७३ ॥

समरसीकरणं वक्ष्यमाणस्वाभेदापादनम्, रेचनमूर्ध्वोद्वेष्टनक्रमेण, देवता ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवाख्या हृत्कण्ठतालुभ्रूमध्यललाटब्रह्मरन्ध्रगाः, तत्त्याग एव शिष्यस्य तदधिष्ठिताध्वनि विश्लेषयोग्यताधानहेतुः, स्वामिनि जिते स्वस्यापि जयात्, स्वकं पदं भ्रूमध्यम् । यद्वक्ष्यति—

'ऐश्वरं लभते पदम् ।' (४।७९) इति ।

तन्त्रये तु तत्पदप्रापकात् तदाराधनाद्योग्यतामस्यादधीत । यदुक्तं मृगेन्द्रायाम्—

'इति सामयिकं कर्म' (क्रि० ७।७०)

इत्युपक्रम्य

'यत्प्राप्य योग्यतामेति (क्रि० ७।७०) ॥' इति ॥ ७३ ॥

तत्रस्थं पुद्गलं गृह्य सम्पुट्य च भवेन तु ।

(उस शिष्य के) पुद्गल रूप (चैतन्य को) वहाँ थोड़ी देर रोक कर उसे सरस बना कर फिर उसे छोड़ दे । (साथ ही वह पुद्गल) छः देवताओं को और अपने पद को भी छोड़ दे ॥ ७३ ॥

समरसीकरण = वक्ष्यमाण स्वाभेद (= गुरु के साथ अभेद) को करना । रेचन— यह ऊर्ध्वउद्वेष्टन क्रम से होता है । देवता = ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव और अनाश्रित शिव । ये क्रमशः हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य ललाट और ब्रह्मरन्ध्र में रहते हैं । इनका त्याग ही इनके द्वारा अधिष्ठित अध्वा में शिष्य के अन्दर वियोग की योग्यता को लाने का कारण होता है । क्योंकि स्वामी को जीत लेने पर अपने को भी जीत लिया जाता है । अपना पद = भ्रूमध्य । जैसा कि कहेंगे—

'ईश्वर के पद को प्राप्त करता है ।' (४।७९)

इस शास्त्र में उस पद को दिलाने वाली उनकी आराधना से इस शिष्य के अन्दर योग्यता का आधान होता है । जैसा कि मृगेन्द्रागम में कहा गया है—

'यह सामयिक कर्म है ।' (क्रि०पा० ७।७०)

ऐसा प्रारम्भ कर

'जिसको प्राप्त कर (साधक) योग्यता का लाभ करता है ।' (क्रि०पा० ७।७०) ॥ ७३ ॥

संहारमुद्रयोद्धृत्य शिष्यस्य हृदि योजयेत् ॥ ७४ ॥
भैरवेणाभिमन्त्र्य............

भवेन भैरवेणेति निष्कलेनाभिमन्त्रणं च सप्तवारमित्याहुः । तदेतावत्पर्यन्तो रुद्रांशापादनाय ग्रन्थो न तु द्विजत्वापादनायेति (न) भ्रमितव्यम् ॥ ७४ ॥

द्विजत्वापादने तु पूर्वोक्ते वक्तव्यशेषमाह—

............एवमुपवीतं शिशोर्ददेत् ।

एवमिति भैरवेणाभिमन्त्र्य मन्त्रशक्त्यैव इदानीं शुद्धविद्यापदोद्भवात्मकद्वितीय-जन्मयोगाद् द्विजत्वं भवति । उपवीतमिति, उप आत्मसमीपे विशेषेण मन्त्र-सामर्थ्यात्मना इतं संबद्धम्, वीतं च शुद्धमनन्तमन्त्रदैवतव्यापकशुद्धविद्यात्मक-शक्तिसूत्रप्रतिकृतिरूपमेतदुपवीतम् ॥

दत्तोपवीतो हि असौ—

आधानाद्यावदन्त्येष्टिं द्विजत्वे संस्कृतो भवेत् ॥ ७५ ॥

गर्भाधानादयो वक्ष्यमाणाश्चत्वारिंशच्छुद्धविद्योद्भवात्मकप्रोक्तद्वितीयजन्मोपयोगाय ।

वहाँ (= गुरु के हृदय में) स्थित पुद्गल को पकड़ कर, भैरव मन्त्र से सम्पुटित कर संहारमुद्रा के द्वारा (उस चैतन्य को) उद्धृत (= निकाल) कर भैरव मन्त्र से अभिमन्त्रित कर शिष्य के हृदय में उसे जोड़ देना चाहिए ॥ ७४-७५- ॥

भव के द्वारा = भैरव के द्वारा निष्कल भैरव से अभिमन्त्रण सात बार करना चाहिये—यह कहा गया है । इसलिये यहाँ तक का ग्रन्थ जीव को रुद्रांश बनाने के लिये है न कि उसके द्विजत्व के आपादन के लिये, ऐसा भ्रम नहीं करे ॥ ७४ ॥

पूर्वोक्त द्विजत्वापादन के विषय में जो वक्तव्य शेष था उसे बतलाते हैं—

इस प्रकार (आचार्य) शिशु को उपवीत दान करे ॥ -७५ ॥

इस प्रकार—भैरव मन्त्र से अभिमन्त्रित करने के बाद अब मन्त्रशक्ति के द्वारा ही शुद्धविद्यापद से उत्पत्ति रूप द्वितीय जन्म होने से शिशु का द्विजत्व होता है । उपवीत—उप = अपने समीप, वि = मन्त्रसामर्थ्यरूप विशेष के द्वारा, इत = सम्बद्ध । इस प्रकार वीत का तात्पर्य है—शुद्ध अनन्त मन्त्रदेवतायुक्त व्यापक शुद्ध-विद्यावाले शक्तिसूत्र का प्रतिकृति (= प्रतिरूप) । यही उपवीत है ॥

उपवीत को प्राप्त करने वाला यह (शिष्य)—

आधान से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त द्विजत्व के विषय में संस्कृत हो जाता है ॥ -७५ ॥

वक्ष्यमाण गर्भाधान आदि चालिस संस्कार शुद्धविद्या से उत्पत्तिरूप द्वितीय जन्म

ते च मन्त्रशक्त्यैव सिद्ध्यन्ति ॥ ७५ ॥

एतच्चत्वारिंशता संस्कारैः—

पिण्डस्यापादनं जातेः............

भवतीति शेषः ॥

कथमित्याह—

................आहुतित्रितयेन तु ।

पूर्वं निर्णीतेनैव इत्यर्थः ॥

न केवलमियता संस्कारैः पिण्डस्य जात्यापादनं यावत्—

चैतन्यस्यापि संस्कारमाधानान्त्येष्टितः परम् ॥ ७६ ॥
सूक्ष्मविज्ञानतः कृत्वा द्विजत्वे संस्कृतो भवेत् ।

आधानेनादिभाविना सहितः पर्यन्तवर्तीअन्त्येष्ट्यात्मा चत्वारिंशः संस्कारः, ततः परं वक्ष्यमाणं दयाक्षान्त्याद्यात्मकात्मगुणसंस्काराष्टकं सूक्ष्मविज्ञानत इति भावनया । एवं द्विजत्वापादनार्थं यथोक्तं निर्वर्त्योक्तसतत्त्वं रुद्रांशापादनं कर्तव्यम् ॥ ७६ ॥

तदन्तेऽपि—

के उपयोग के लिये हैं । वे मन्त्रशक्ति से ही सिद्ध होते हैं ॥ ७५ ॥

इन चालिस संस्कारों के द्वारा—

पिण्ड की जाती की सिद्धि होती है ॥ ७६- ॥

कैसे ?—यह कहते हैं—

(यह सिद्धि) पूर्व निर्णीत तीन आहुतियों के द्वारा होती है ॥ -७६- ॥

इतने संस्कारों से केवल पिण्ड की ही जाति सिद्ध नहीं होती बल्कि—

चैतन्य का भी सूक्ष्मविज्ञान के द्वारा गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक के संस्कारों को सम्पादित करके ही शिशु द्विजत्व के विषय में संस्कृत होता है ॥ -७६-७७- ॥

सर्वप्रथम किये जाने वाले गर्भाधान से लेकर अन्त में होने वाले अन्त्येष्टि रूप संस्कार चालिस हैं । उसके बाद आगे कहे जाने वाले दया क्षमा आदि आत्मा के गुण ये आठ संस्कार और हैं । (इस प्रकार अँड़तालिस संस्कार होते हैं) । सूक्ष्म विज्ञान = भावना । इस प्रकार शिशु के द्विजत्व को बनाने के लिये यथोक्त संस्कारों को सम्पन्न कर उक्त स्वरूप वाला रुद्रांशापादन करना चाहिये ॥ ७६ ॥

उसके बाद—

शतहोमं सहस्रं वा हुत्वा पूर्णाहुतिं ततः ॥ ७७ ॥

दद्यादिति शेषः । शतादिहोमो मूलमन्त्रस्य तदङ्गानां तु दशांश इति स्थितमेव ॥ ७७ ॥

तदिदमुपसंहरति—

समयी संस्कृतो ह्येवं..........

एवमिति जात्युद्धारद्विजत्वरुद्रांशापत्तिभिः । समयी समयः पारमेशशास्त्रमर्यादावर्तनमस्यास्तीति कृत्वा ।

यदाह—

........वाचनेऽस्यार्हता भवेत् ।
श्रवणेऽध्ययने होमे पूजनादौ तथैव च ॥ ७८ ॥

वाचनं बुद्ध्याद्यारोहायावर्तनम्, श्रवणमर्थावबोधः, अध्ययनं वेदवत्सततपाठ आगमंग्रन्थस्य, आदिशब्देन जपध्यानादयः ॥ ७८ ॥

इत्थमयं समयी—

चर्याध्यानविशुद्धात्मा लभते पदमैश्वरम् ।

एक सौ या एक हजार आहुति दे कर पूर्णाहुति दे ॥ -७७ ॥

एक सौ या एक हजार आहुति मूल मन्त्र की देनी चाहिये । उस (मूल मन्त्र) के अङ्गों की दशांश आहुति दे—यह पहले से ज्ञात ही है ॥ ७७ ॥

इसका उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार समयी (शिशु) का सँस्कार सम्पन्न होता है ॥ ७८- ॥

इस प्रकार = जाति के उद्धार, द्विजत्वापादन और रुद्रांश की आपत्ति के द्वारा । समयी = समय अर्थात् पारमेश्वर शास्त्र की मर्यादा, उसका पालन करने वाला ।

जैसा कि कहते हैं—

(पारमेश्वर शास्त्र के) वाचन, श्रवण, अध्ययन एवं तदनुसार हवन और पूजन आदि के करने पर इस (= शिशु) की (ऐश्वरपद प्राप्त करने की) अर्हता होती है ॥ -७८ ॥

वाचन = कण्ठ करने के लिये बार-बार पढ़ना । श्रवण = अर्थावबोध । अध्ययन = वेद की भाँति प्रतिदिन आगमग्रन्थ का पाठ ('पूजनादौ' में) आदि शब्द से जप ध्यान आदि समझना चाहिये ॥ ७८ ॥

इस प्रकार यह समयी दीक्षा—

चर्याध्यानाभ्यां समयपालनयोगाभ्यासाभ्यामेव विशुद्ध आत्मा यस्य । दीक्षया हि अस्याध्वशुद्धियोजनेन विना ईश्वरयोगयोग्यतैवाहितेति तद्योगादेवास्य पाशशुद्धावीश्वरपदाप्तिः । अतश्च यत्कश्चिदीश्वरतत्त्वयोजितस्यास्य पुत्रकादिदीक्षायामधरपदशोधनं न युक्तम् इति ईश्वरपदम्—

'शुद्धभावस्थितस्यास्य कालरुद्रं निधापयेत् ।'

इति कैरणवाक्यानुसारेण कालाग्निधाम वा (मैव) इत्यवोचत्, तदसत्, समयिनो योजनिकादेरचोदितत्वात् कैरणस्य वाक्यस्य चास्य पुत्रकाश्रयभुवनदीक्षाविषयत्वात् । किरणायां हि समयिदीक्षान्ते

'ततो दीक्षां समाचरेत् ।'

इत्युपक्रम्य पुत्रकविषयभुवनदीक्षा एतद्वाक्यप्रमुखं निर्वाहितेत्यलम् । ऐश्वरपदलाभोऽपरा मुक्तिः ॥

अथोक्तसमयिदीक्षानन्तरनिर्वर्त्यां प्रथमत एव वा कर्तव्यां पुत्रकादिदीक्षां निर्णेतुं प्रस्तौति—

चर्या और ध्यान के द्वारा विशुद्ध आत्मा वाला ईश्वर के स्थान को प्राप्त करता है ॥ ७९- ॥

जिसकी आत्मा चर्या और ध्यान अर्थात् नियम के पालन और योगाभ्यास से शुद्ध हो गयी है वह । दीक्षा के द्वारा इस दीक्ष्य की अध्वशुद्धियोजना के विना भी ईश्वरयोग की योग्यता मिलती ही है। इस प्रकार उसके योग से ही इस (= साधक) के पाशशुद्धि होने पर ईश्वरपद की प्राप्ति होती है । इसलिये जो किसी ने ऐसा कहा कि ईश्वर तत्त्व में योजित इस साधक के लिये पुत्रक आदि दीक्षा में निम्न पद का शोधन ठीक नहीं है इसलिये ईश्वर पद को (प्राप्त करता है)—

'शुद्ध भाव में स्थित इसके काल रुद्र के रखना चाहिये ।'

इस किरणागम के वाक्य के अनुसार कालाग्निरुद्र का धाम ही—उसका यह कथन असमीचीन है क्योंकि समयी साधक के लिये योजनिकादीक्षा आदि आगमसम्मत नहीं है । जहाँ तक किरणागम के इस वाक्य का सम्बन्ध है तो वह इस साधक की पुत्रक विषयक आश्रय भुवनदीक्षा से सम्बद्ध है । किरणागम में समयी दीक्षा के अन्त में—

'इसके बाद दीक्षा करनी चाहिये ।'

ऐसा प्रारम्भ कर पुत्रकविषयक भुवनदीक्षा इस वाक्य को प्रमुखता देते हुए कही गयी है । ऐश्वरपद लाभ = अपरा मुक्ति ॥

अब उक्त समयी दीक्षा के बाद की जानी वाली अथवा पहले ही करणीय पुत्रक आदि दीक्षा को बतलाने का उपक्रम करते हैं—

अथ दीक्षाध्वशुद्ध्यर्थं भुक्तिमुक्तिफलार्थिनाम्॥ ७९ ॥
विधानमुच्यते सूक्ष्मं पाशविच्छित्तिकारकम् ।

भुक्त्यर्थिनः साधकाः, मुक्त्यर्थिनः पुत्रकाचार्याः, तेषां या दीक्षा तस्यामध्वशुद्ध्यर्थं सूक्ष्ममिति भाविव्याप्त्या समूलपाशोन्मूलने परतत्त्वयोजनिकादिरूपं विधानमुच्यते । समयिनस्तु अधिष्ठातृकारणविश्लेषमात्रपूर्वमीश्वरतत्त्वाराधनयोगयोग्यता, इति तं प्रति न सूक्ष्मविधानं नापि परा मुक्तिर्नापि मन्त्राराधनक्रमेण भुक्तिरिति भाविपुत्रकादिपदप्राप्तियोग्यताजननमात्रं समयिदीक्षालक्षणम् । यथोक्तम्—

'समयी राजपुत्रवत् ।' इति ॥ ७९ ॥

अथ पुत्रकसाधकदीक्षयोर्विषयविभागं सपीठिकाबन्धं करोति—

गुरुः संपृच्छते शिष्यं द्विविधं फलकाङ्क्षिणम्॥ ८० ॥

द्विविधं बुभुक्षुं मुमुक्षं वा, फलमिति मोक्षो भोगो वा ॥ ८० ॥

अतश्चेदमस्मै ब्रूयात्—

फलमाकाङ्क्षसे यादृक्तादृक् साधनमारभे ।

साधनं दीक्षाविधिः ॥

अब भोग और मोक्ष फल चाहने वालों की दीक्षा में अध्व शुद्धि के लिये पाशविच्छेदकारक सूक्ष्म विधान का वर्णन किया जाता है ॥ -७९-८०- ॥

भोगार्थी = साधक, मोक्षार्थी = पुत्रकाचार्य, उनकी जो दीक्षा उसमें अध्वशुद्धि के लिये । सूक्ष्म - भावी व्याप्ति के द्वारा समूल पाशच्छेद के विषय में परतत्त्व योजनिका आदि रूप विधान को बतलाते हैं । समयी की तो अधिष्ठातृकारण का विश्लेष होने के बाद ईश्वरतत्त्वाराधन योग योग्यता होती है इसलिये उसके प्रति न तो सूक्ष्म विधान है न परामुक्ति और न मन्त्राराधनक्रम से भोग । इसलिये भावी पुत्रक आदि पद की प्राप्ति की योग्यता का उत्पादन ही समयी दीक्षा का लक्षण है । जैसा कि कहा गया—

'समयी (दीक्षा में दीक्ष्य की दीक्षा) राजपुत्रवत् होती है' ॥ ७९ ॥

अब पुत्रकदीक्षा एवं साधकदीक्षा को विषयविभाग की भूमिका के साथ बतलाते हैं—

गुरु दो प्रकार के फलों को चाहने वाले शिष्य से पूछता है ॥ -८० ॥

दो प्रकार—भोगेच्छु अथवा मोक्षेच्छु । फल—भोग अथवा मोक्ष ॥ ८० ॥

इसलिये आचार्य शिष्य से ऐसा कहे—

जैसा फल तुम चाहते हो वैसे ही साधन का मैं प्रारम्भ करूँगा ॥ ८१- ॥

यतः—

वासनाभेदतः प्राप्तिः साध्यमन्त्रप्रचोदिता ॥ ८१ ॥

साध्य आराध्यो यो मन्त्रः स चिन्तामणिकल्पो वासनानुसारं फलति अत एव श्रीस्पन्दे—

'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः' (स्प० २।१०)

इत्युपक्रम्य

'सहाराधकचित्तेन' (स्प० २।१०) इत्यन्तम् ॥ ८१ ॥

तथा च—

मन्त्रमुद्राध्वद्रव्याणां होमः साधारणः स्मृतः ।

भुक्तौ मुक्तौ च ॥

स तु—

वासनाभेदतो भिन्नः शिष्याणां च गुरोस्तथा ॥ ८२ ॥

यदा शिष्यः स्वप्रत्ययी तदा गुरुः तद्वासनानुसारं मुक्तये भुक्तये वा जुहुयात् । यदा तु गुरुप्रत्ययी तदासौ स्ववासनानुसारं मुक्तय एव, तस्य

साधन = दीक्षाविधि ॥

क्योंकि—

साध्यमन्त्र से प्रेरित फलप्राप्ति वासना के भेद से उसी प्रकार की होती है (जैसी वासना-इच्छा रहती है) ॥ -८१ ॥

साध्य = आराध्यमन्त्र, वह चिन्तामणि के समान होता है, अतः वासना के अनुसार फल देता है । इसीलिये श्रीस्पन्दकारिका में—

'उस बल को आक्रान्त कर मन्त्र.........' (स्प०का० २।१०)

से प्रारम्भ कर

'आराधक के चित्त के साथ' (स्प०का० २।१०)

यहाँ तक (उक्त बात कही गयी है) ॥ ८१ ॥

तथा भोग और मोक्ष में—

मन्त्र मुद्रा अध्वा और द्रव्यों का होम साधारण माना गया है ॥ ८२- ॥

और वह (होम)—

शिष्य और गुरु की वासना के भेद से भिन्न-भिन्न होता है ॥ -८२ ॥

यदि शिष्य स्वप्रत्ययी (= अपनी इच्छानुसार चलने वाला) है तो गुरु उसकी

बुभुक्षाभावादित्यर्थलभ्योऽयमत्राशयः ॥ ८२ ॥

अथ वासनाभेदतः शिष्यभेदं प्रतिपादयति—

साधको द्विविधस्तत्र शिवधर्म्येकतः स्थितः ।
शिवमन्त्रविशुद्धाध्वा साध्यमन्त्रनियोजितः ॥ ८३ ॥
ज्ञानवांश्चाभिषिक्तश्च मन्त्राराधनतत्परः ।
त्रिविधायास्तु सिद्धेर्वै सोऽत्रार्हः शिवसाधकः॥ ८४ ॥

शिवधर्मः शिवशास्त्रोक्तसमाचारो नित्यावियोगेन विद्यते यस्य, अत एव शिवपदेन साध्यमन्त्रेणैव विशुद्धो न तु लोकधर्मिण इव अंशेन स्थापितोऽध्वा यस्य, यस्मिन्नेव च साध्यमन्त्रयोजित इत्याचार्येणाराधकत्वेन नियुक्तः । ज्ञानवानिति अधिगतमन्त्रतन्त्ररहस्यः ॥ ८४ ॥

अपरमाह—

द्वितीयो लोकमार्गस्थ इष्टापूर्तविधौ रतः ।
कर्मकृत् फलमाकाङ्क्षन् शुभैकस्थोऽशुभोज्झितः ॥ ८५ ॥

वासना के अनुसार उसके भोग अथवा मोक्ष के लिये हवन करे । और यदि शिष्य गुरुप्रत्ययी (= गुरु की इच्छा उसके अनुसार व्यवहार करने वाला) है तो यह (= गुरु) अपनी वासना के अनुसार उसकी मुक्ति के लिये ही हवन करे । उस (शिष्य) के अन्दर भोगेच्छा नहीं है—यह बात अर्थात् समझ लेनी चाहिये ॥ ८२ ॥

अब वासना के भेद से शिष्य का भेद बतलाते हैं—

साधक दो प्रकार का होता है । उनमें पहला शिवधर्मी है । यह शिवमन्त्र के द्वारा विशुद्ध अध्वावाला, नियोजित साध्यमन्त्र वाला, ज्ञानवान्, अभिषिक्त, मन्त्र की आराधना में तत्पर होता है । यह शिवसाधक तीन प्रकार की (= दैहिक दैविक और भौतिक अथवा—अपर परापर और पर अथवा उत्तम मध्यम अधम) सिद्धि के योग्य होता है ॥ ८३-८४ ॥

शिवधर्मी = शैवशास्त्र में कथित नियमों का नित्य पालन करने वाला । इसलिये शिवपद = साध्यमन्त्र, से ही विशुद्ध न कि लोकधर्मी की भाँति आंशिक रूप से स्थापित अध्वा वाला और जिसमें साध्यमन्त्र योजित हैं अर्थात् जिसको आचार्य ने आराध्य मन्त्र तन्त्र के आराधक के रूप में नियुक्त किया है । ज्ञानवान् = मन्त्र के रहस्य को जानने वाला ॥ ८४ ॥

दूसरे (साधक) को बतलाते हैं—

दूसरा साधक लोकमार्ग में स्थित (= लोकधर्मी) होता है । यह इष्ट[1]

---

१. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् । आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टामित्यभिधीयते ॥

लोकमार्गः श्रुतिस्मृत्याचारः, इष्टं तीर्थस्नानान्नदानादि, पूर्तं कूपतडागमठादि (निर्माणं), फलमाकाङ्क्षन् कर्म शुभमेव करोति, न तु मन्त्राराधनम्—

'लोकधर्मिण्यसौ दीक्षा मन्त्राराधनवर्जिता ।' (४।१४४)

इति वक्ष्यमाणत्वात् शुभकर्मणैव तु फलस्य साधनात् साधकोऽयम्, दीक्षया त्वस्याशुभमात्रमेव शमनीयमित्याह, अशुभोज्झित इति ॥ ८५ ॥

अत एव—

तस्य कार्यं सदा मन्त्रैरशुभांशविनाशनम् ।

सदेति देहारम्भकर्मवर्जं यद्यदकरोत् करिष्यति वा तत्र मध्ये योऽशुभांशः स सर्वोऽस्य शोध्यः ॥

'.............प्रारब्धेकं न शोधयेत् ।' (४।१४१)

इति वाक्यस्य प्रायशः सर्वविषयत्वादसङ्कीर्णाचारेण शिवधर्मिणा भाव्यमित्याह—

एवं पूर्त[1] विधि में संलग्न रहता है । कर्म को करने वाला, फल चाहने वाला, शुभ कार्यों में अनुषक्त और अशुभ कार्य से रहित होता है ॥ ८५ ॥

लोकमार्ग = श्रुतिस्मृतिवर्णित आचार । इष्ट = तीर्थ स्नान अन्नदान आदि । पूर्त = कूप तालाब, मठ आदि का निर्माण । फल को चाहता हुआ यह साधक शुभ ही कर्म करता है न कि मन्त्र की आराधना क्योंकि—

'लोकधर्मी के विषय में यह दीक्षा मन्त्र की आराधना से रहित होती है ।' (४।१४४)

ऐसा आगे कहा जायगा । शुभ कर्म के ही द्वारा फल की सिद्धि प्राप्त करने के कारण यह साधक है । दीक्षा के द्वारा तो इसका केवल अशुभ ही शान्त किया जाना चाहिये इसलिये कहा—अशुभ से रहित ॥ ८५ ॥

इसलिये—

सर्वदा मन्त्रों के द्वारा इसके अशुभ अंश का नाश करना चाहिये ॥ ८६- ॥

सदा—देहारम्भक कर्मों को छोड़ कर इसने जो-जो कर्म किये हैं या जो जो कर्म करेगा उनमें जो अशुभांश है उन सबका शोधन करना चाहिये ॥

'केवल एक कर्म जो कि प्रारब्ध (= शरीरारम्भक) है का शोधन नहीं करना चाहिये ।' (४।१४१)

इस वाक्य के प्रायः सर्वविषयक होने से शिवधर्मी को असङ्कुचित आचरण

---

१. वापीकूपतडागादि देवता यतनानि च । अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

गृहस्थो वा यतिर्वासावाश्रमैकतमस्थितः ॥ ८६ ॥

श्मशानादिकवृत्तेनैव वा सिद्धिं साधयेत्, गृहस्थवृत्तेन तादृशैरेव द्रव्यैर्न तु शबलतया, असाविति शिवधर्मी न त्वन्यः, तस्य मन्त्राराधनेऽनधिकारात् । न तु आश्रमानवक्लृप्तिपरमेतत्, इहानुपयोगात् ॥ ८६ ॥

साधकं निर्णीय मोक्षैकनिष्ठं पुत्रकं निर्णेतुमाह—

मुमुक्षुर्द्विविधः प्रोक्तो निर्बीजो बीजवान् पुनः ।

उभयोर्विषयविभागमाह—

बालबालिशवृद्धस्त्रीभोगभुग्व्याधितात्मनाम् ॥ ८७ ॥
एषां निर्बीजिका दीक्षा समयादिविवजिता ।

बालिशो मूर्खः । वृद्धोऽनुष्ठानासमर्थः । भोगभुग् उपनतभोगैकसक्तोऽप्यायातशक्तिपातो दीक्ष्य एव । अन्ये त्वालस्योपहतोऽयं न पात्रम्, अतो भोगभुक् अपथ्यपरश्चासौ व्याधित इति योजयन्ति, व्याधितो दुश्चिकित्स्यः, निर्बीजिकेत्यस्य व्याख्यानं समयादिविवर्जितेति । आदिशब्दात् पवित्रकादिविधिः । वक्ष्यति च—

वाला होना चाहिये—यह कहते हैं—

गृहस्थ हो अथवा संन्यासी, इसे किसी एक आश्रम में स्थित (होकर साधना करनी चाहिये) ॥ -८६ ॥

अथवा श्मशान आदि वाले व्यवहार से सिद्धि प्राप्त करनी चाहिये । गृहस्थ में रहने वाला उन्हीं (= गृहस्थ के लिये निर्दिष्ट) द्रव्यों से सिद्धिलाभ करे न कि मिश्रित । यह = शिवधर्मी न कि दूसरा कोई । क्यों कि उस (= दूसरे) का मन्त्र की आराधना में अधिकार नहीं है । यह नियम आश्रम की अनवकल्पना नहीं बतलाता क्योंकि उसका यहाँ उपयोग नहीं है ॥ ८६ ॥

साधक को बतला कर अब केवल मोक्ष चाहने वाले पुत्रक का वर्णन करते हैं—

मुमुक्षु दो प्रकार का कहा गया है—निर्बीज और बीजवान् ॥ ८७- ॥

दोनों का विषयविभाग बतलाते हैं—

बालक, बालिश, वृद्ध, स्त्री, भोग भोगने वाला तथा रोगी इनकी समय आदि से रहित निर्बीज दीक्षा होती है ॥ -८७-८८- ॥

बालिशः = मूर्ख । वृद्ध = अनुष्ठान करने में असमर्थ । भोगभोक्ता = प्राप्त भोगों में लगा हुआ, भी यदि शक्तिपात को प्राप्त कर लिया है तो उसकी दीक्षा करनी ही चाहिये । दूसरे लोग (भोगभुग्व्याधितात्मना की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—) भोगभुक् अर्थात् अपथ्यसेवी अत एव व्याधियुक्त । व्याधित = दुश्चिकित्स्य ।

'समयाचारपाशांश्च निर्बीजायां विशोधयेत् ।' (४।१४७)

इति ॥ ८७ ॥

विद्वद्द्वन्द्वसहानां तु सबीजा कीर्तिता प्रिये ॥ ८८ ॥

विदुषां शास्त्रविवेककुशलानां द्वन्द्वसहानां व्रतचर्यादिक्लेशक्षमाणां समयपालनेऽपि शक्तत्वात् ॥ ८८ ॥

दीक्षानुग्राहिका तेषां समयाचारसंयुता ।

पूर्वाविवेक्यशक्तविषया, इयं तु विपरीतविषयेति तात्पर्यम् ॥

अतश्च—

विशेषसमयाचारा मन्त्राख्ये ये प्रकीर्तिताः ॥ ८९ ॥
तेऽत्र पाल्याः प्रयत्नेन मोक्षसिद्धिमभीप्सता।

मन्त्राख्ये मन्त्रपीठे, अस्मिन् ये—

'न निन्देद्भैरवं देवं न च शास्त्रं तदुद्भवम् ।' (५।४४)

'निर्बीजिका' पद की व्याख्या है—समय 'आदि' से रहित । आदि शब्द से पवित्रक आदि विधि को समझना चाहिये । आगें कहेंगे—

'निर्बीज दीक्षा में समयाचारपाशों का शोधन करना चाहिये' ॥ ८७ ॥ (४।१४७)

हे प्रिये ! विद्वानों एवं द्वन्द्वसह लोगों के लिये सबीज दीक्षा कही गयी है ॥ -८८ ॥

विद्वानों = शास्त्रों एवं विवेकज्ञान में कुशल । क्योंकि शीत उष्ण आदि द्वन्द्वसह और व्रत, चर्या आदि से उत्पन्न क्लेशों को सहने में सक्षम लोग नियमपालन करने में भी सक्षम होते हैं ॥ ८८ ॥

ऐसे लोगों हेतु समयाचार से युक्त दीक्षा अनुग्राहिका होती है ॥ ८९- ॥

पूर्ववर्णित दीक्षा अविवेकी और अशक्त लोगों के लिये है और यह (= सबीज) दीक्षा विपरीतविषया (= विवेकी तथा सक्षम लोगों के लिये) है—यह तात्पर्य है ॥

इसलिए—

मन्त्रपीठ में जो विशेष समयाचार कहे गये हैं, मोक्ष चाहने वाले के द्वारा उनका प्रयत्नपूर्वक पालन किया जाना चाहिये ॥ -८९-९०- ॥

मन्त्राख्य = मन्त्रपीठ । इसमें—

'न भैरवदेव की और न उस (भैरव) से उत्पन्न भैरवीय शास्त्र की निन्दा करनी चाहिये ।' (५।४४)

इत्यादयो वक्ष्यमाणा विशेषसमयाचारा उक्ताः, तेऽत्रेति सबीजदीक्षायां प्रयत्नेन पाल्याः, अन्यथा प्रायश्चित्तित्वमिति भविष्यति । मन्त्राख्ये इति विद्यापीठादेरप्युपलक्षणपरम् ॥ ८९ ॥

येयमेवं निर्णीता दीक्षा—

सबीजा सा तु विज्ञेया पुत्रकाचार्ययोः स्थिता ॥ ९० ॥

वागीश्या गर्भोद्भूतेः संसारप्रशमनेनानुकम्पितः पुत्रः पुत्रकः, साधकदीक्षायां यद्यपि समयपालनमाम्नातम् तथापि न तद्दीक्षा सबीजोच्यते, मुमुक्षुर्द्विविधः, इति परिभाषणात् ॥ ९० ॥

एवमस्मिंश्चतुर्विधे दीक्षाकर्मणि प्रथमम्—

गृहस्थो वाश्रमी वाथ यतिः सङ्कल्प्य दीक्षयेत् ।

वाक्यार्थस्यात्र कर्मता पश्य मृगो धावतीतिवत्, तेन गृहस्थोऽयमाश्रमीति ऐहिकभोगस्पृहयालुः, यतिरित्येतद्विपरीतो वेत्येतत् प्रथमं सङ्कल्प्य एतदुचितेनैव असङ्कीर्णेन विधिना दीक्षां कुर्यात् ॥

इत्यादि जो वक्ष्यमाण विशेष समयाचार कहे गये हैं उनका यहाँ = सबीज दीक्षा में प्रयत्न के साथ पालन किया जाना चाहिये । अन्यथा (= प्रयत्नपूर्वक पालन न करने वाला) प्रायश्चित्ती हो जाता है । 'मन्त्राख्य' कथन विद्या पीठ आदि को भी सङ्केतित करता है ॥ ८९ ॥

इस प्रकार की जो दीक्षा बतलाई गयी—

उसे सबीज दीक्षा जानना चाहिये । वह पुत्रक और आचार्य के विषय में होती है ॥ -९० ॥

वागीशी (= शुद्धविद्या) के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण संसार के प्रशमन से जो अनुकम्पित पुत्र है वह पुत्रक कहा जाता है । यद्यपि साधकदीक्षा में समय का पालन करने को कहा गया है तथापि वह दीक्षा सबीज नहीं कही जाती क्योंकि मुमुक्षु दो प्रकार का होता है—यह कहा जा चुका है ॥ ९० ॥

चार प्रकार के दीक्षा कर्म में सबसे पहले—

गृहस्थ हो अथवा आश्रमी या यति उसकी सङ्कल्प करके दीक्षा करनी चाहिये ॥ ९१- ॥

यहाँ 'गृहस्थः' इत्यादि प्रथमान्त पदों को कर्म समझना चाहिये जैसे—पश्य, मृगो धावति (देखो मृग दौड़ता है) यहाँ 'मृगो धावति' वाक्य कर्म सूचक होते हुए भी 'मृगः' में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग हुआ है । इससे यह गृहस्थ आश्रमी = ऐहिक भोग चाहने वाला है । यति = इस आश्रमी के विपरीत है—ऐसा पहले

तत्र पुत्रकदीक्षायां प्रक्रमते—

पाशसूत्रकमादाय शिष्यदेहेऽवलम्बयेत् ॥ ९१ ॥

अधिवासावसरे अधिवास्यकुम्भाग्रे यत्संरक्ष्य स्थापितमवलम्बनं शिखाग्रात् पादान्तं प्राग्वत् ॥ ९१ ॥

अथ—

अध्वानं संधयेदग्नौ धाम्ना चैव विचक्षणः ।

वक्ष्यमाणषडध्वव्याप्तिज्ञो गुरुः प्राधान्यात् शिवाग्नावेव अशेषपाशप्लोषिणि, अध्वानमितीह प्रस्तुतं कलाध्वानम्, तत्त्वादिदीक्षायां तु तत्त्वादिरूपं संदधीत ॥

न चाग्नावेव यावत्—

कुम्भमण्डलवह्निस्थश्चाध्वात्मस्थः शिशोश्च यः ॥ ९२ ॥
सूत्रस्थश्चापि चैकत्र अध्वसंधिः प्रकीर्तितः ।

आत्मस्थ इति गुरोः ॥ ९२ ॥

एकत्रेत्युक्तमधिकरणं विभजन्नध्वशुद्धिं निरूपयितुमाह—

सङ्कल्प (निश्चय) कर उसके अनुकूल असङ्कीर्ण विधि से दीक्षा करनी चाहिये ॥

उनमें से पुत्रक दीक्षा को बतलाते हैं—

आचार्य पाशसूत्र को लेकर उसे शिष्य के शरीर में लटकाये ॥ -९१ ॥

अधिवास के समय अधिवास्य कुम्भ के सामने रक्षापूर्वक जो स्थापित किया गया । उस सूत्र को शिष्य की शिखा के अग्रभाग से लेकर पैर (के अङ्गूठे) तक पूर्व की भाँति लटकाना चाहिये ॥ ९१ ॥

इसके बाद—

विचक्षण आचार्य को धाम (= हूँ) के द्वारा अध्वा को अग्नि से जोड़ देना चाहिए ॥ ९२- ॥

वक्ष्यमाण षडध्वा की व्याप्ति को जानने वाला गुरु प्रधानतया समस्त पाश की दाहिका अग्नि में (अध्वा का सन्धान करे) । अध्वा = कला अध्वा । तत्त्व आदि की दीक्षा में तत्त्व आदिरूप का सन्धान करे ॥

केवल अग्नि में ही (सन्धि नहीं बल्कि)—

कुम्भ, मण्डल, वह्नि, अध्वा, आत्मा (= गुरु) और शिशु के सूत्र में भी एकत्र अध्वसन्धि कही गयी है ॥ -९२-९३- ॥

आत्मस्थः अर्थात् गुरु ॥ ९२ ॥

षड्विधस्याध्वमार्गस्य साधारणगतस्य तु ॥ ९३ ॥
कुण्डे सङ्कल्प्य संशोध्यमध्वसंधौ तु होमयेत् ।

वर्णमन्त्रपदकलातत्त्वभुवनभेदात् षड्विधस्याध्वनस्तत्तत्पदप्राप्तिहेतुतया मार्गरूपस्य कुम्भादिषु षट्सु अधिकरणेषु साधारणगतस्याभेदेन स्थितस्य तथा ज्ञातस्य च मध्यात् संशोध्यमित्यन्तर्भूताध्वपञ्चकमेकतमं प्राधान्येन शोधयितुमिष्टम् । कुण्डे इति तत्स्थे शिवाग्नौ सङ्कल्प्य अध्वसंधिनिमित्तं होमं कुर्यात् ॥ ९३ ॥

कथमित्याह—

मूलमन्त्राष्टशतिकमध्वसन्धानहेतुतः ॥ ९४ ॥

प्रणवमूलमन्त्रोच्चारपूर्वमध्वसंधिर्भवतु स्वाहा इति प्रयोगेनाध्वव्याप्तिज्ञो गुरुरष्टोत्तरं शतं जुहुयादिति यावत् ॥ ९४ ॥

अध्वावलोकनं पश्चाद् व्याप्यव्यापकभेदतः ।

अवलोकनं भावनं, कुर्यादिति शेषः ॥

व्याप्तिं स्फुटयति—

'एकत्र' इस अधिकरण का विभाग करते हुए अध्वशुद्धि का निरूपण करने के लिये कहते हैं—

छः प्रकार के अध्वमार्ग जो कि अभेद रूप से स्थित है, का कुण्ड में संशोधन करना चाहिये और सङ्कल्प कर अध्वसन्धि में होम करना चाहिये ॥ -९३-९४- ॥

वर्ण मन्त्र पद कला तत्त्व और भुवन के भेद से छः प्रकार का अध्वा भिन्न-भिन्न पद की प्राप्ति का कारण होने से मार्ग रूप है तथा कुम्भ आदि छः अधिकरणों में साधारणतया अर्थात् अभेदेन स्थित और उसी प्रकार ज्ञात है । उनमे से संशोधन करना चाहिये अर्थात् एक अध्वा को प्रधान मानकर शेष पाँच को उनके अन्तर्भूत समझ कर शोधन करे । कुण्ड में = कुण्ड में स्थित शिवाग्नि में, सङ्कल्प कर अध्वसन्धि के लिये होम करना चाहिये ॥ ९३ ॥

कैसे ?—यह कहते हैं—

अध्वसन्धान के हेतु मूलमन्त्र से १०८ बार होम करे ॥ -९४ ॥

अध्वा की व्याप्ति का ज्ञाता गुरु प्रणव और मूलमन्त्र का उच्चारण कर उसके बाद 'ॐ अध्वसन्धिर्भवतु स्वाहा' इस प्रयोग से १०८ बार हवन करे ॥ ९४ ॥

बाद में अध्वा का अवलोकन अर्थात् व्याप्य-व्यापक भेद से उसकी भावना करे ॥ ९५- ॥

व्याप्ति को स्पष्ट करते हैं—

भुवनव्याप्तिता तत्त्वेष्वनन्तादिशिवान्तके ॥ ९५ ॥

अनन्तादिशिवान्तके यानि भुवनानि तद्व्यापकत्वं तत्त्वेषु ॥ ९५ ॥

तानि च तत्त्वानि—

व्यापकानि च षट्त्रिंशत्..................

ये त्वन्ये त्रयोऽध्वानः—

...............मन्त्रवर्णपदात्मकाः ।

वर्णाः पञ्चाशत्, पदानि नवात्मसंबन्धीन्येकाशीतिः ॥

ते च—

तत्त्वान्तर्भाविनः सर्वे...............

तत्त्वानि अन्तर्भावयन्तीति कृत्वा ।

कथम्—

...............वाच्यवाचकयोगतः ॥ ९६ ॥

तत्त्वानि वाच्यानि मन्त्रादयो वाचकाः । यथा च अयं वाच्यवाचकभावस्तथाग्रे भविष्यति ॥ ९६ ॥

अनन्त से लेकर शिवपर्यन्त भुवन में तत्त्वों की व्याप्ति रहती है ॥ -९५ ॥

अनन्त से लेकर शिव पर्यन्त जो भुवन हैं, तत्त्व उनमें व्याप्त है ॥ ९५ ॥

और वे—

व्यापक तत्त्व छत्तीस हैं ॥ ९६- ॥

और जो अन्य तीन अध्वा—

वर्ण मन्त्र पद (नाम से जाने जाते हैं) ॥ -९६- ॥

वर्ण ('अ' से लेकर 'क्ष' तक) ५० हैं । पद नव × नव = इक्यासी हैं ।

और वे

सब तत्त्वों के अन्तर्भूत हैं ॥ -९६- ॥

अर्थात् तत्त्वों को अपने में अन्तर्भूत करते हैं ।

यह कैसे होता है ?—(उत्तर में कहते हैं—)

वाच्यवाचक भाव से ॥ -९६ ॥

तत्त्व वाच्य है मन्त्र आदि वाचक हैं । यह वाच्यवाचक सम्बन्ध आगे बतलाया

कलादीक्षायाः प्रस्तुतत्वात् तदन्तर्भावं तावत् पञ्चानामध्वनामाह—

कलान्तर्भाविनस्ते वै निवृत्त्याद्याश्च ताः स्मृताः ।

अस्य सर्वस्य अध्वग्रन्थस्यायं पिण्डार्थः—परमेश्वरश्चिदानन्दघनः स्वतन्त्रभट्टारक एकादशपटलनिरूपयिष्यमाणस्थित्या उन्मनाख्यया स्वस्वातन्त्र्यशक्त्या शून्यादिक्षित्यन्तमनन्तं वाच्यवाचकरूपं स्वभित्तौ स्वानधिकमप्यधिकमिव युगपदवभासयति । तत्र वाचकं ग्राहकभागावस्थितं परसूक्ष्मस्थूलभेदेन वर्णमन्त्रपदात्मकं त्रिधा, वाच्यमपि ग्राह्यभागाभिनिविष्टं कलातत्त्वभुवनात्मकम्, तथैव वर्णा ह्यभेदविमर्शसाराः किंचित्स्थौल्येन भेदाभेदविमर्शनात्मकमन्त्ररूपतामाश्रित्य ततोऽपि स्थौल्येन भेदविमर्शावगमकपदरूपतया भान्ति । एवं वाच्यरूपा पारमेश्वरी कलाख्या शक्तिरुत्तरोत्तरवैशिष्ट्येन तत्त्वभुवनात्मतां गृह्णाति, वस्तुतश्चेयमक्रमैव पारमेश्वरी शक्तिः स्फुरति, तत्रापि च स्वस्वातन्त्र्याद् दर्पणनगरवत् क्रममप्यादर्शयति, क्रमेऽपि च पूर्वं पूर्वमुत्तरत्र व्यापकतया स्थितं मृदिव घटादौ उत्तरमुत्तरं

जायेगा ॥ ९६ ॥

कलादीक्षा के प्रस्तुत होने से पाँच अध्वाओं का उसमें अन्तर्भाव बतलाते हैं—

वे (अध्वा) कला के अन्तर्भूत है । वे (कलायें) निवृत्ति आदि (= प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ता, शान्त्यतीता) कही गयी है ॥ ९७- ॥

इस समस्त अध्ववर्णन का यह पिण्डार्थ (= एकत्र सङ्कलित सम्पूर्ण अर्थ) है—चिदानन्दघन स्वतन्त्र भट्टारक परमेश्वर एकादश पटल में कही जाने वाली उन्मना नामक अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति के द्वारा शून्य से लेकर पृथिवी पर्यन्त अनन्त वाच्यवाचक विश्व को अपनी ही आधारभूमि में अपने से अनधिक भी अधिक की भाँति एक साथ अवभासित करता है । उसमें वाचक ग्राहक भाग में अवस्थित है । वह पर सूक्ष्म स्थूल भेद से वर्ण मन्त्र पद नाम से तीन प्रकार का है । वाच्य भी ग्राह्य भाग में निविष्ट होकर कला तत्त्व और भुवन (रूप से तीन प्रकार का है) । वर्ण अभेदविमर्श रूप हैं । वे जब किञ्चिन्मात्रा में स्थूल होते हैं तब भेदाभेदविमर्श वाले होते हैं । उस समय उन्हें मन्त्र[1] कहा जाता है । (वही उन्मना शक्ति) जब और स्थूल होकर भेदविमर्श वाली हो जाती है तब 'घट' 'पट' आदि पद के रूप में भासित होती है । इसी प्रकार वाच्यरूपा कला नामक पारमेश्वरी शक्ति उत्तरोत्तर विशिष्ट होने से तत्त्व और भुवन रूप हो जाती है । वस्तुतः यह (उन्मना नामक) पारमेश्वरी शक्ति क्रमरहित होकर स्फुरित होती है । इस स्फुरणक्रम में वह अपने स्वातन्त्र्यवश दर्पणनगर[2] की भाँति क्रम को भी प्रतिबिम्बित करती है । इस क्रम में भी पूर्व-पूर्व उत्तरोत्तर की अपेक्षा व्यापक होता है जैसे मिट्टी घट की अपेक्षा व्यापक

---

१. यह पारिभाषिक शब्द है इसका अर्थ गायत्री या पञ्चाक्षर आदि मन्त्र नहीं है ।

२. दर्पण छोटा होता है, नगर बहुत बड़ा । यदि सम्पूर्ण नगर को दर्पण में दिखलाना हो तो क्रम से ही दिखलाया जा सकता है ।

तु पूर्वत्र शक्त्यात्मना स्थितं वृक्ष इव स्वबीज इति सर्वं सर्वात्मकमेव । अत एव पञ्चतत्वदीक्षायामनाश्रिततत्त्वपर्यन्ता भूतव्याप्तिर्भविष्यति । एवं चैकैकोऽपि प्रमाता भावो वा वस्तुतः षडध्वस्फाररूपपारमेशशक्तिमयादिहान्तपरामर्शसाराहन्ताविश्रान्तिसतत्त्वः परभैरवरूप एव, तथात्वापरिज्ञानात् तु तन्मायाशक्तिकृतादपूर्णंमन्यः शब्दराशिकलाविलुप्तविभवत्वात् वर्णादिभिः कलादिभिश्च तात्त्विकस्वरूपेणास्फुरद्भिः प्रत्ययोद्भवक्रमेण देहादौ ग्राहिताहंभावो विषयमात्रासु ग्राहितभोक्तृताभिमानश्च खेचर्यादिचक्रचतुष्टयस्य भोग्यतां प्राप्तो बद्धः पशुः संपन्न इत्यस्य पशुभावशमनाय पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्तिः शिवाभिन्नाचार्यहृदये पारमार्थिकेन स्वरूपेण स्फुरन्ती शिष्यस्य सर्वमध्वानं सङ्कोचकत्वप्रशमनेन असङ्कुचितस्वशक्तिसारतया स्फारयन्ती शोधयति दीक्षाज्ञानादियोगेन, अत एवमाचार्यस्फारसारा मन्त्रादयः शोधकाः, पश्वात्माभिनिविष्टाः शोध्या, इति शोध्यशोधकभावेऽपि न काचित् क्षतिः । यतश्चैकैकस्याप्यध्वनः सर्वमयत्वमस्ति, अत एव तत्तदध्वप्राधान्येन दीक्षायामन्याध्वपञ्चकमन्तर्भावशोधनमुक्तव्याप्तिसतत्त्वं कार्यम् । उक्तं च श्रीस्पन्दे—

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।

है । उत्तरोत्तर पदार्थ पूर्व-पूर्व में शक्ति के रूप में स्थित है, जैसे कि बीज में उसका वृक्ष । इस प्रकार सब सब में स्थित है । इसलिये पञ्चतत्त्व दीक्षा में अनाश्रित शिवपर्यन्त भूतों की व्याप्ति रहेगी । इस प्रकार एक-एक प्रमाता अथवा प्रमेय पदार्थ वस्तुतः षडध्वस्फार रूपा पारमेश्वरी शक्ति से व्याप्त 'अ'कार से लेकर 'ह'कार पर्यन्त परामर्शसारअहन्ता की विश्रान्ति वाला परभैरवरूप है । उपर्युक्त तथ्य को न जानने तथा उस परमेश्वर की मायाशक्ति के कारण अपने को अपूर्ण मानने वाला (यह परमेश्वर) शब्दराशिकला के द्वारा विलुप्त विभव वाला होने से वर्ण आदि और कला आदि जो कि तात्त्विकरूप से स्फुरित नहीं होतीं, के द्वारा प्रत्यय के उद्भव के क्रम से देह आदि में आत्मबुद्धि रखने लगता है । फलतः रूप रस गन्ध आदि विषयों को भोग्य और अपने को उनका भोक्ता समझता है । इस कारण वह खेचरी आदि (= गोचरी भूचरी दिक्चरी) चार चक्रों का भोग्य बनकर बद्ध पशु हो जाता है । इसके पशु भाव को दूर करने के लिये परमेश्वर की अनुग्राहिका शक्ति शिव से अभिन्न आचार्य के हृदय में पारमार्थिक रूप से स्फुरित होती हुई शिष्य के सङ्कोच को दूर करती है । अपने असङ्कुचित शक्तितत्त्व के कारण यह शक्ति शिष्यगत सङ्कोच को दूर कर उसके समस्त अध्वा को दीक्षा ज्ञान आदि के योग से विस्तारित कर शुद्ध करती है । इस प्रकार आचार्य स्फार वाले मन्त्र आदि शोधक और पशु की आत्मा में अभिनिविष्ट मन्त्र आदि शोध्य होते हैं । इस प्रकार शोध्यशोधक भाव में भी कोई क्षति नहीं है क्योंकि एक-एक भी अध्वा सबसे पूरित है । इसलिये किसी एक अध्वा को प्रधान मान कर दीक्षा होने में अन्य पाँच अध्वा का अन्तर्भाव और शोधन करना चाहिये । श्रीस्पन्दशास्त्र में कहा भी गया है—

बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥' (३।१६)

इत्यलम् । केवलम्—

'यावन्न वेत्ति वै व्याप्तिं कुण्डस्यैवात्मनोऽपि वा ॥
साध्यस्यैव पशोश्चैव पाशानां च षडध्वनः ।
बालवत् क्रीडते तावत् कार्यं तस्य कथं भवेत् ॥'(१६।५४-५५)

इति मृत्युजित्युक्तत्वात् तत्र तत्र व्याप्तिप्रदर्शनायायमस्माकं भर इति न नो वाचालता कल्प्या सचेतोभिः ॥

अथ प्रसङ्गात् कलावाचकान् मन्त्रानाह—

हृदाद्या वाचकास्तासां बीजमन्त्राः प्रकीर्तिताः ॥ ९७ ॥

बीजमन्त्रा इति निष्कलाः, हृदाद्या इति हृच्छिरःशिखाकवचनेत्रमन्त्राः क्रमेण निवृत्त्यादीनां वाचकाः ॥ ९७ ॥

एवं चास्मिन् कलादीक्षाविधौ—

एकैकस्याः कलायाश्च पृथग् व्याप्तिं विभावयेत् ।

'शिव की यह क्रियात्मिका शक्ति पशु में रह कर उसका बन्धन करती है और यह अपने मार्ग (शिवस्वरूप मार्ग) में स्थित है ऐसा ज्ञात होने पर सिद्धि देती है। (स्प०का० ३।१६)

'मनुष्य जब तक कुण्ड, आत्मा, साध्य, पशु, पाशों और षडध्वा की व्याप्ति नहीं जानता तब तक वह (इस संसार में) बालक की भाँति खेलता रहता है। फिर उसका कार्य कैसे होगा।' (१६।५४-५५)

ऐसा मृत्युजित् भट्टारक (= नेत्रतन्त्र) में कहे जाने के कारण हमारा यह वक्तव्य तत्तत् स्थान में व्याप्ति के प्रदर्शन के लिये है। इसलिये हमारे इस कथन को विद्वान् लोग वाचालता न समझें ॥

अब प्रसङ्गप्राप्त कला वाचक मन्त्रों को बतलाते हैं—

हृद् आदि (निवृत्ति आदि) के वाचक मन्त्र हैं वे (निवृत्ति आदि के) बीजमन्त्र कहे गये हैं ॥ -९७ ॥

बीजमन्त्र—निष्कल । हृद् आदि—हृदय (= हृदयाय नमः) शिरः शिखा (= शिखायै वषट्) कवच (= कवचाय हुम्) और नेत्र (= नेत्रत्रयाय वौषट्) मन्त्र क्रमशः निवृत्ति आदि (= प्रतिष्ठा विद्या शान्ता और शान्त्यतीता नाम पाँच कलाओं) के वाचक हैं ॥ ९७ ॥

इस कलादीक्षा विधि में—

सा चादूर एव व्यक्तीभविष्यति ॥

ताश्च—

पृथिव्यादिकला ज्ञेया ब्रह्माद्याः कारणश्च ते ॥ ९८ ॥

निवृत्याद्याः पृथिव्यादिशक्तिरूपा ज्ञेयाः, पृथिव्यादीनामेवानाश्रितपर्यन्तं सूक्ष्मतयावस्थानात् । एतच्च पञ्चतत्त्वदीक्षाविधौ स्फुटीभविष्यति । एता एवमधिष्ठातृरूपतया ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवाः, अतश्च अधिष्ठातृदेवताशुद्ध्याप्येताः शुद्धा भवन्तीत्यपि सूचितम् ॥ ९८ ॥

उपसंहरति—

एवं व्याप्तिं भावयित्वा...............

प्रतिकलं समनन्तरवक्ष्यमाणव्याप्तिम् । एवमिति निर्णीतपरसूक्ष्मस्थूलक्रमेण-ध्वनो भावयित्वा ॥

...............अध्वोपस्थापनं भवेत् ।

उपस्थापनमेकतमस्य प्रधानतया शुद्ध्यर्थं सम्मुखीकरणम् । अत्र च धामादीत्यादिना (स्व० ४।१०१) मन्त्रं वक्ष्यति ॥

एक-एक कला की अलग-अलग व्याप्ति की भावना करे ॥ ९८- ॥

वह (व्याप्ति इस प्रकरण में) निकट ही स्पष्ट होगी ॥

उनको पृथिवी आदि की कला और ब्रह्मा आदि को कारण समझना चाहिये ॥ -९८ ॥

निवृत्ति आदि को पृथिवी आदि की शक्ति समझना चाहिये क्योंकि पृथिवी आदि ही अनाश्रित शिव पर्यन्त सूक्ष्म रूप से स्थित हैं। यह विषय पञ्चतत्त्वदीक्षाविधि में स्पष्ट हो जायेगा। ये ही (निवृत्ति आदि कलायें) अधिष्ठातृ देवता के रूप में ब्रह्मा विष्णु रुद्र ईश्वर सदाशिव और अनाश्रित शिव हैं। इसलिये अधिष्ठातृदेवता की शुद्धि के द्वारा भी ये शुद्ध होती हैं—यह भी सूचित किया गया ॥ ९८ ॥

उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार व्याप्ति की भावना करने पर ॥ ९९- ॥

पूर्व वर्णित पर सूक्ष्म स्थूल क्रम से अध्वा की प्रत्येक कला में समनन्तर वक्ष्यमाण व्याप्ति की भावना करने पर ॥

अध्वा की उपस्थापना होती है ॥ -९९- ॥

उपस्थापना = शुद्धि के लिये किसी एक का प्रधान रूप से संमुखीकरण । इस विषय में 'धामादिः......' (४।१०१) इत्यादि श्लोक द्वारा मन्त्र को बतलायेगें ॥

एवमुपस्थितस्य संनिधानाय—

त्रिराहुतिं ध्रुवेणैव................

दद्यादिति शेषः ॥

किं च—

................अध्वशुद्धिरतो भवेत् ॥ ९९ ॥

कथम् ?—त्याह—

अग्नौ तु पूजिते देवे अध्वन्यासे कृते सति ।
तदेव पादादारभ्य पृथिव्यादिक्रमान्न्यसेत् ॥ १०० ॥

तदेवेति निवृत्यादिरूपम् । पादादिति संहारक्रमेण । तत्र गुल्फान्तं निवृत्तिः, नाभ्यन्तं प्रतिष्ठा, ताल्वन्तं विद्या, मूर्धान्तं शान्तिः, ब्रह्मरन्ध्रान्तं शान्त्यतीता, इति भविष्यति । इत्थं च वर्तमानप्राणदेहप्रतिकृतिरूपे सूत्रके देहानुसारिगुल्फनाभ्याद्यवधिमति अध्वन्यासतच्छुद्ध्यादिकं कृतं देहेऽपि संपन्नमेवेति न तत्र समयदीक्षायामिव पृथग् जात्युद्धारद्विजत्वापत्त्यादि क्रियते, पृथगचोदनात् । भाविस्थित्या तु निष्कृतिहोमान्तर्भाविन भाविदेहाश्रयतयापि चैतन्यस्य तत्कृतं तत्स्थीकरणादियुक्त्या वर्तमानदेहाश्रयस्यापि संपद्यते । एवं समयदीक्षान्तर्भाविपुत्रकदीक्षापक्षे च वर्तमानदेहविषयो दीक्षासंस्कारः पुनरुपयुक्तः ॥ १०० ॥

इस प्रकार उपस्थित अध्वा के सन्निधान के लिये—

ध्रुव मन्त्र से तीन आहुतियाँ दे । इससे अध्वशुद्धि हो जाती है ॥-९९॥

कैसे ?—यह बतलाते हैं—

अग्निदेव की पूजा करने तथा अध्वन्यास के सम्पन्न होने पर उन्हीं निवृत्ति आदि का पैर से लेकर (ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त) पृथिव्यादि क्रम से न्यास करना चाहिये ॥ १०० ॥

वही = निवृत्ति आदि रूप । पैर से प्रारम्भ कर = संहारक्रम से । उसमें गुल्फ तक निवृत्ति, नाभि तक प्रतिष्ठा, तालुपर्यन्त विद्या, मूर्धा तक शक्ति और ब्रह्मरुध्र तक शान्त्यतीता कला का न्यास होता है । इस प्रकार देहानुसारी गुल्फ नाभि आदि अवधि वाले तथा वर्त्तमान प्राणदेह के प्रतिकृति रूप सूत्र में किया गया अध्वन्यास और उसकी शुद्धि आदि (शिष्य के) देह में भी सम्पन्न होती है इसलिये जैसे समयी दीक्षा में जात्युद्धार द्विजत्वापादन आदि अलग से किया जाता है वैसा यहाँ नहीं होगा क्योंकि उनको पृथक् करने का वचन यहाँ नहीं है । भावी स्थिति से निष्कृतिहोम के अन्तर्भूत होने से भावीदेह के लिये भी जो चैतन्य का वह (शुद्धि आदि) किया गया वह तत्स्थीकरण युक्ति से वर्त्तमान देहस्थ चैतन्य के विषय में भी हो जाता है । इस प्रकार समयीदीक्षा की अन्तर्भावी पुत्रक दीक्षा के पक्ष में वर्त्तमान

पूर्वोक्ते उपस्थापने मन्त्रमाह—

धामादिः प्रणवादिश्च निवृत्त्यै च नमः पुनः ।
उपस्थापनमन्त्रोऽयं व्याप्तिं ध्यात्वाध्वसंस्थिताम् ॥ १०१ ॥

प्रयोक्तव्य इति शेषः । अत्र च प्रणवधामभ्यामनन्तरं हृन्मन्त्रः पूर्वोक्तः पठनीयः,

'हृदाद्या वाचकास्तासां बीजमन्त्राः' (४।९७)

इत्युक्तत्वात् । एवमुत्तरत्रापि ज्ञेयम् ॥ १०१ ॥

यदुक्तमेकैकस्याः कलायाः पृथग्व्याप्तिरिति, तत् स्पष्टयति—

निवृत्त्यभ्यन्तरे पृथ्वी शतकोटिप्रविस्तरा ।
तस्यां च भुवनानां च शतमष्टोत्तरावधि ॥ १०२ ॥
अष्टाविंशतिः पदानि वर्ण एकोऽत्र संस्थितः ।
मन्त्रौ द्वावेव विज्ञेयौ...............

शतकोटीति योजनशतकोटिविस्तारेत्यर्थः । शतमष्टोत्तरावधीति—तत्र कालाग्निः

देहविषयक दीक्षासंस्कार पुनः उपयोग में लाया गया है ॥ १०० ॥

पूर्वोक्त उपस्थापन के विषय में मन्त्र को बतलाते हैं—

'धामादिः प्रणवादिश्च निवृत्त्यै च नमो नमः'—यह उपस्थापन मन्त्र है । अध्वा में स्थित साधक को व्याप्ति का ध्यान कर इस मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये ॥ १०१ ॥

यहाँ प्रणव और धाम (शिव प्रणव—हूँ) के बाद पूर्वोक्त हृन्मन्त्र का पाठ करना चाहिये । क्योंकि—

'हृदय आदि उनके वाचक बीजमन्त्र हैं ।' (४।९७)

ऐसा कहा गया है । ऐसे ही आगे भी समझना चाहिये ॥ १०१ ॥

जो कहा गया कि एक-एक कला की पृथक्-पृथक् व्याप्ति है—उसको स्पष्ट करते हैं—

निवृत्ति कला के भीतर पृथ्वीतत्त्व है । उसका विस्तार १०० करोड़ योजन[१] है । उसमें १०८ भुवन हैं । यहाँ २८ पद एक वर्ण और २ मन्त्र स्थित हैं—ऐसा समझना चाहिये ॥ १०२-१०३- ॥

शतकोटि = १०० करोड़ योजन । १०८ भुवनों का विश्लेषण करते हैं—

---

१. एक योजन ४ कोस अर्थात् ८ मील का होता है और १ मील में १.६ कि.मी. होता है । इस प्रकार १०० करोड़ योजन में लगभग १३०० करोड़ कि.मी. होगा ।

कूष्माण्डो हाटक इति ब्रह्माण्डान्तरधोभागगतास्त्रयः । मध्ये भूलोकाधिपतिः शिवः, तदुपरि सत्यलोकान्तमधिष्ठाता ब्रह्मा, तदुपरि विष्णुरुद्रौ स्वलोकयोरित्यन्तः सप्त, बहिरस्य दशसु दिक्षु स्थितं रुद्रशतम्, तदुपरि सर्वेषां स्वामी वीरभद्रः, इत्येतदष्टोत्तरं शतम् । पदानि त्वष्टाविंशतिः, भाविनवनाभमण्डलारम्भिभागैकाशीतिनिविष्टवक्ष्यमाणविभागनवात्मवर्णान्येकाशीतिस्तत्तद्विश्रान्तिप्रदत्वात्पदानि, तेभ्यः प्रकृतितत्वाधिष्ठितेशदिग्गतभागनवकगतं प्रातिलोम्येनेशोत्तरादिक्रमेण मध्यपदं यावद् ॐकाराद्यकारान्तं पदनवकम् । तथैव पुरुषतत्त्वाश्रितकुबेरदिग्गतमकारादि-

---

कालाग्नि कूष्माण्ड और हाटक ये तीन भुवन ब्रह्माण्ड के भीतर नीचे की ओर हैं। मध्य में भूर्लोक है उसके अधिपति शिव है । उसके ऊपर (भुवः से लेकर) सत्यलोक तक के अधिष्ठाता ब्रह्मा है । उसके ऊपर विष्णु और रुद्र अपने-अपने लोकों (= विष्णुलोक और रुद्रलोक) में स्थित हैं । इस प्रकार ब्रह्माण्ड के भीतर सात लोक हो गये । इस के बाहर दशो दिशाओं में १०० रुद्र स्थित है; उनके ऊपर सबके स्वामी वीरभद्र हैं । इस प्रकार १०८ भुवन हो गये । पद २८ हैं । भावी नव नाभमण्डल (= आगे वर्णनीय नाव नाभ मण्डल जिसका चित्र इसी पृष्ठ पर नीचे बना है) के आरम्भाक ८१ भागों मे निविष्ट वक्ष्यमाण नवात्मक विभाग वाले वर्ण ८१ हैं । ये उन-उन (= कोष्ठको) के लिये विश्रान्तिप्रद होने के कारण पद कहलाते हैं । उनसे लेकर प्रकृति तत्त्वाधिष्ठित ईशानदिशा में वर्त्तमान नव भाग में रहने वाला प्रतिलोम क्रम से अर्थात् ईशान उत्तर वायव्य आदि के क्रम से

					सदाशिवः					
प्रकृतिः	ओं	ह	र	ऊ	ओं	र	ऊ	ह	ओं	ईश्वर
	य	ऊ	क्ष	य	ह	क्ष	य	र	क्ष	
	व	ल	म	व	ल	म	व	ल	म	
पुरुष	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	शुद्धविद्या
	ओं	य	क्ष	य	ओं	क्ष	य	क्ष	ओं	
	व	ल	म	व	ल	म	व	ल	म	
नियतिः	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	ऊ	ह	र	माया
	य	व	क्ष	य	ल	क्ष	य	म	क्ष	
	ओं	ल	म	व	ओ	म	व	ल	ओ	
					कालः					

यकारान्तं नवकम् । एवं नियतिस्थानस्थवायुदिग्गतमूकारा(दिमकारा)न्तमिति सप्तविंशतिः पदानि; कालतत्त्वास्पदवरुणदिग्गतैशकोणस्थ ऊकारश्चेत्यष्टाविंशतिः पदानि । अत्रैव स्पष्टीकरणार्थमयं प्रस्तारः प्रदर्श्यते—(पूर्वपृष्ठे द्रष्टव्यः)

वर्ण एक इति मातृकासंबन्धी प्रातिलोम्येन क्षः । यद्यप्ययं पूर्वं वक्त्रभङ्ग्या शान्त्यतीतापरमार्थ ईशानवक्त्रवाचकत्वेन निरूपित इह तु पृथिवीवाचकत्वेन, तथापि आदिक्षान्तस्य शब्दराशेरशेषविश्वशरीरपरभैरवपरामर्शात्मकत्वेन एकैकोऽप्यंशः—

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च ।'

इति स्थित्या विश्वरूपत्वाद्विश्वाभिधायकाः, वाच्योऽपि चांशः—

'एकैकत्र च तत्त्वेऽपि षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपता ।'

इति नीत्या विश्वात्मकत्वात् सर्ववर्णवाच्यः । ततश्च भगवता शक्तिनियन्त्रणाय एवमत्यण्वपि वा तत्तदागमे सिद्धवाचकभावे विचित्रदीक्षादिक्रमोपयोगिनि निरूप्यमाणेऽपि न काचिदनुपपत्तिः । मन्त्राविति निष्कलसद्योजातौ ॥

मध्यपद तक ॐकार से लेकर अकार तक नव पद हैं । उसी प्रकार पुरुष तत्त्व में आश्रित कुबेर दिशा में वर्त्तमान मकार से लेकर यकार पर्यन्त नव पद है । उसी प्रकार नियति स्थान में स्थित वायुदिशा में वर्त्तमान म से लेकर ऊ पर्यन्त २७ पद हैं । और कलातत्त्व का स्थानभूत वरुण (= पश्चिम दिग् में स्थित ईशान कोण ऊकार) ये २८ पद हैं । इसको स्पष्ट करने के लिये यह प्रस्तार (= रेखाचित्र) दिखाया जाता है ।

एक वर्ण = विलोम क्रम से मातृका सम्बन्धी क्षकार । यद्यपि यह (= 'क्ष' वर्ण) पहले वक्त्र भङ्गी (= पाँच मुखों के क्रम) के द्वारा शान्त्यतीता परमार्थवाला ईशान वक्त्र के वाचक के रूप में कहा गया और यहाँ पृथ्वीवाचक के रूप में, तो भी अकार से लेकर क्षकार तक शब्दराशि के समस्त विश्वशरीर वाले परभैरवपरामर्श के रूप में इसका एक-एक भी अंश—

'ब्रह्म का एकदेश भी न तो विश्वरूपता का अतिक्रमण करता है और न विकल्प का विषय बन सकता है ।'

इस नियम के अनुसार विश्वरूप होने से विश्व का अभिधायक है और इसका वाच्य भी अंश—

'एक-एक तत्त्व भी छत्तीस तत्त्व रूप है ।'

इस सिद्धान्त के अनुसार विश्वात्मक होने से समस्त वर्णों का वाच्य हो जाता है । इस कारण भगवान् के द्वारा शक्ति को नियन्त्रित करने के लिये तत्तत् आगमों में विचित्र दीक्षा आदि क्रम के उपयोगी सिद्ध वाचक भाव के अत्यन्त अल्प मात्रा

एवमस्यां निवृत्तिकलायाम्—

..............अध्वषट्कं विभावयेत् ॥ १०३ ॥

अथेमां निवृत्तिमन्तर्भावितापराध्वव्याप्तिं पूर्वोक्तक्रमेण—

पुष्पगन्धादिना पूज्य..............

अस्याश्च प्राङ्मन्त्रेण—

..................संनिधावाहुतित्रयम् ।

संनिधानाय आहुतित्रयं दद्यादिति शेषः ।

कलाद्यध्वान्तर्मलत्रयं शोध्यमिति वक्तुमाह—

मायीया भुवनाकारा मलाः कर्म च संस्थिताः ॥ १०४ ॥

पाशा इति शेषः ॥ १०४ ॥

तत्र—

शरीरभुवनाकारा मायीयाः परिकीर्तिताः ।
भोगहेतुश्च कर्म स्यादभिलाषो मलोऽत्र तु ॥ १०५ ॥

में भी निरूपित किये जाने पर कोई अनुपपत्ति नहीं है । दो मन्त्र = निष्कल और सद्योजात ॥

इस प्रकार इस निवृत्ति कला में—

छः अध्वाओं की भावना करनी चाहिये ॥ -१०३ ॥

इसके बाद पर अध्वव्याप्ति को अपने अन्दर निहित करने वाली इस निवृत्ति कला की पूर्वोक्त क्रम से—

पूर्वमन्त्र से पुष्पगन्ध आदि से पूजाकर इसकी सन्निधि के लिये तीन आहुतियाँ देनी चाहिये ॥ १०४- ॥

कलादि अध्वा के भीतर वर्तमान तीन मलों का शोधन करना चाहिये—यह कहते हैं—

भुवनाकारमायीय मल और कार्म मल भी (पाश) हैं ॥ -१०४ ॥

'पाश' हैं' यह जोड़ना चाहिए ॥ १०४ ॥

उनमें से-

शरीर एवं भुवन आकार वाले मायीय मल हैं । कार्म मल भोग का हेतु होता है । यहाँ इच्छा ही मल है ॥ १०५ ॥

भुवनैर्भावभूतादि लक्ष्यते, तेन यत्किंचिद्वेद्यतया भाति स मायीयो मलः, भोगेन तदाक्षिप्तं जन्मापि लक्षितम् । उक्तं च प्रत्यभिज्ञायाम्—

'भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यम्,

इति तथा—

जन्मभोगदम् कर्तर्यबोधे कार्मं तु ।' (ई०प्र० ३।२।५) इति ।

अभिलाष इति अपूर्णंमन्यतात्मा लोलिकारूपः, न तु किंचिन्मे स्यादितीदृक्, रागतत्त्वस्यैवमात्मत्वात् । अत्र त्विति, एतस्मिन्नाणवे भित्तिभूते सति अन्यन्मलद्वयमित्यर्थः ॥ १०५ ॥

अत एव शान्त्यतीतायामपि सूक्ष्मभुवनावस्थितेः प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् तावतांशेन मलसंस्कारस्य सत्त्वात् शोध्यतां प्रतिपादयिष्यन्नुपसंहरति—

एवं पाशत्रयं भाव्यं दीक्षायामध्वसंस्थितम् ।

अथैतद्भावयित्वा—

तद्विशुद्ध्यै च दीक्षा च क्रियते सा यथाविधि ॥ १०६ ॥

'भुवन' शब्द से यहाँ पदार्थ और भूत आदि समझना चाहिये । इसलिये जो कुछ वेद्य के रूप में प्रतीत होता है वह मायी मल है । 'भोग' शब्द से 'जन्म' भी आक्षिप्त है (क्योंकि जन्म होगा तभी भोग सम्भव है) । ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा भी गया है—

'भिन्न रूप में पदार्थों का जानना ही मायीय मल है ।'

तथा—

'कर्त्ता का बोध न होने पर कार्म मल होता है जो कि जन्म और भोग देने वाला होता है ।'

अभिलाष का अर्थ है—अपने को अपूर्ण मानना । यह लोलिका रूप है न कि 'मुझे कुछ मिल जाय'—ऐसा है । क्योंकि ऐसा तो रागतत्त्व होता है । यहाँ तो = इस आणव मल के आधारस्वरूप होने पर अन्य दो मल स्थित होते हैं ॥१०५॥

इसीलिये शान्त्यतीता कला में भी भुवनों की सूक्ष्म स्थिति को आगे प्रतिपादित करने की इच्छा से उतने अंश में मलसंस्कार के रहने के कारण आगे शोध्यता का प्रतिपादन करने की इच्छा से इस विषय का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार दीक्षा के लिये अध्वा में स्थित तीनों पाशों की भावना करे ॥ १०६- ॥

तत्पश्चात इनकी भावना कर—

विविधं तेषां पाशानां विशेषेण संस्कारपर्यन्तताप्रशमनरूपेण शुद्ध्यर्थं चकाराद्योजनिकाग्रन्थनिर्वर्त्यशिवत्वाभिव्यक्त्यर्थं च दानक्षपणात्मा दीक्षा क्रियते ॥ १०६ ॥

तद्विधिं प्रस्तौति—

आदौ शक्तिं न्यसेद् देवि कलातत्त्वसमन्विताम् ।

शक्तिमाधाररूपां पारमेशीं क्रियाख्यां कलादीक्षाप्रस्तावात् प्रथमं निवृत्तिकलात्मना तत्त्वेनान्तर्भावितापराध्वपञ्चकेन सम्बद्धाम् ॥

तथा—

हृदा सङ्कल्प्य वागीशीं व्यापिकां सर्वयोनिषु ॥ १०७ ॥

न्यसेत् । हृदेति काकाक्षिवत् पूर्वत्रापि योज्यम् । उक्तं च—

'हृदाद्या वाचकास्तासां (४।९७) इति ।
'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे ।'

उनकी विशुद्धि के लिये वह दीक्षा विधिवत् की जाती है ॥ -१०६ ॥

(विशुद्धि शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ बतलाते हैं—) उन पाशों की वि = विशेष रूप से = संस्कार पर्यन्त प्रशमन के द्वारा, शुद्धि के लिये मूलश्लोक में उक्त 'च'कार से योजनिका ग्रन्थ में निर्वर्त्य शिवत्व की अभिव्यक्ति के लिये दानक्षपण रूपी दीक्षा विधिवत् की जाती है ॥ १०६ ॥

उस विधि को बतलाते हैं—

हे देवि ! पहले कला तत्त्व से समन्वित शक्ति का न्यास करना चाहिये ॥ १०७- ॥

शक्ति = परमेश्वर की क्रिया नाम वाली आधार रूपा । कलादीक्षा के प्रस्ताव पहले निवृत्ति कला वाले तत्त्व के द्वारा अन्तर्भावित अन्य पाँच अध्वाओं से यह सम्बद्ध के कारण इसका न्यास करना चाहिये ॥

और—

समस्त योनियों में व्यापक वागीश्वरी का हृदय से सङ्कल्प कर न्यास करना चाहिये ॥ -१०७ ॥

न्यसेत् = न्यास करे । 'हृदा' पद को काकाक्षि के समान पहले भी जोड़ना चाहिये (इस प्रकार इस पद का सम्बन्ध श्लोक सं० १००, १०१, १०३, १०६ में भी बनेगा) कहा भी गया है—

'हृद् आदि उन (= निवृत्ति आदि शक्तियों) के वाचक हैं ।' (४।९७)
'वाग् ही समस्त भुवनों को उत्पन्न की है ।'

इति स्थित्या यथास्याश्चतुर्दशविधभूतसर्गजन्मभूमिव्यापकत्वं तथा निर्णीतमेव ॥ १०७ ॥

निवृत्त्यनुसारेण योनीर्निरूपयति—

शतरुद्राद्यनन्तान्तं योनयो विविधाः स्थिताः ।

विविधाश्चतुर्दशविधभूतसर्गजनिकाः ॥

तासु च—

समकालमृतुत्वेन वागीशीं सन्निधापयेत् ॥ १०८ ॥

आयातशक्तिपातं प्रति शुद्धसृष्ट्यौन्मुख्यसंपाद्ययुगपदनेकदेहसर्गयोग्यतात्मकार्तवयुक्तया सा तावत्संनिहिता । आचार्यस्तु तन्मूलबलावष्टम्भात्मना प्रयोजकव्यापारेण तां संनिधिमुद्राबन्धनपूर्वमग्निकुण्डेऽवस्थापयेत् ॥ १०८ ॥

अथ ताम्—

ध्रुवेण पूजयेत् पुष्पैर्गन्धधूपैरनुक्रमात् ।

अत्र च प्रणवं हृद्बीजं चोच्चार्य, 'पृथिवीतत्त्वस्थानन्तादिवीरभद्रान्तनाना-

---

इस नियम से यह वागीशी चौदह प्रकार के भूतसर्ग रीति से जन्मभूमि की जिसकी व्यापक है—वह बतला दिया गया ॥ १०७ ॥

निवृत्ति के अनुसार योनियों का निरूपण करते हैं—

शतरुद्र से ले कर अनन्त पर्यन्त अनेक प्रकार की योनियाँ बतलायी गयी हैं ॥ १०८- ॥

विविध = चौदह प्रकार की भूतसृष्टि की उत्पादिका ॥

और उनमें—

ऋतु के साथ वागीशी को सन्निधापित करे ॥ -१०८ ॥

शक्तिपातयुक्त (शिष्य) के प्रति शुद्धसृष्टि के औन्मुख्य के द्वारा संपाद्य युगपत् अनेक देह की सृष्टि की योग्यता वाले आर्त्तव (= रजस्) की युक्ति से वह (= वागीशी) संनिहित रहती है । आचार्य उसके मूल बल के अवष्टम्भरूप प्रयोजक व्यापार के द्वारा सन्निधिमुद्राबन्धनपूर्वक उसको (= वागीशी को) अग्नि कुण्ड में अवस्थापित करे ॥ १०८ ॥

इसके बाद—

ध्रुव मन्त्र का उच्चारण करते हुए उसका क्रमशः गन्ध, पुष्प, धूप (दीप नैवेद्य) से पूजन करे ॥ १०९- ॥

भुवनगतचतुर्दशविधभूतसर्गविचित्रशरीरहेतवे 'निवृत्तिव्यापिकायै वागीश्यै नमः' इति मन्त्रः संनिधापनपूजनयोः ॥

अथ—

ॐकारेणाहुतीस्तिस्रो वागीशीसंनिधापने ॥ १०९ ॥

दद्यादिति शेषः ॥ १०९ ॥

दत्त्वा च—

शिष्यं संप्रोक्ष्य चास्त्रेण ताडयेदस्त्रमुच्चरन् ।

प्रोक्षणं हृदयदेशानुसारे पाशसूत्रे शिवाम्भसा, ताडनं तु भस्मना तैरेव वा ॥

ततोऽपि—

रेचकेनात्मनो गत्वा छिन्द्यात्तस्यासिनाहृदः ॥ ११० ॥

'शशिमार्गेण शिष्याणां सूर्यस्थः प्रविशेद्धृदि ।'

इस पूजन में प्रणव (= ॐ) और हृद्बीज (= नमः) का उच्चारण कर पृथ्वी तत्त्व में रहने वाले अनन्त से लेकर वीरभद्र तक नाना भुवन में वर्त्तमान चौदह प्रकार के भूतसर्ग वाले विचित्र शरीर के लिये 'निवृत्तिव्यापिका वागीशी को नमस्कार हैं ।' इस मन्त्र से वागीशी का सन्निधापन और पूजन करना चाहिये ॥

इसके बाद—

वागीशी के सन्निधान के लिये ॐकार से तीन आहुतियाँ देनी चाहिये ॥ -१०९ ॥

दद्यात् = देना चाहिए ॥ १०९ ॥

ये आहुतियाँ देकर—

अस्त्र मन्त्र से शिष्य का प्रोक्षण कर अस्त्र मन्त्र का ही उच्चारण करते हुए ताड़न करना चाहिये ॥ ११०- ॥

प्रोक्षण हृदयप्रदेश का अनुसरण करने वाले पाशसूत्र का होना चाहिये वह भी शिवकलश के जल से । ताडन भस्म से करे अथवा उन (पुष्पों गन्धों) से ॥

उसके बाद—

(आचार्य) अपने रेचक के द्वारा (= शिष्य के अन्दर प्रवेश कर) असि के द्वारा उसके हृदय के (जाल को) काट दे ॥ -११० ॥

'सूर्य (= पिङ्गला) में स्थित (आचार्य) चन्द्रमार्ग (= इडा) से शिष्यों के हृदय में प्रवेश करे ।'

इति श्रीलक्ष्मीकौलार्णवोक्तनीत्या स्वदक्षिणेन निर्गत्य शिष्यस्य वामेन प्रविश्य पुर्यष्टकरूपं शिष्यात्मानमस्त्रमन्त्रेण भावनया सूत्रस्थं छिन्द्यात् ॥ ११० ॥

छिन्नं च—

धाम्नाकृष्य तदात्मानं द्वादशान्ते निधापयेत् ।

आकर्षणयुक्तिः पूर्वमेवोक्ता । एतच्च—

'रश्मिमात्रावियोगेन कार्यम् ।' इत्युक्तम् ॥

अथ—

ध्रुवेण तत्स्थं संपुट्य चैतन्यं मुद्रयात्मनि ॥ १११ ॥
पूरयेद् भैरवेणैव..................

तत्स्थं द्वादशान्तस्थम् । मुद्रयेति दीप्तशिवहस्तकृतया संहाराख्यया, आत्मनीति स्वहृदये । भैरवेण निष्कलेन ॥ १११ ॥

तेनैव च—

..........कुम्भयेद् रेचयेत् ततः ।

श्रीलक्ष्मीकौल में वर्णित इस नीति से (आचार्य) अपने दक्षिण (= पिङ्गला) में स्थित होकर (रेचक के द्वारा उसी पिङ्गला में से) निकल कर शिष्य के बायें (मार्ग अर्थात् इडा) से (शिष्य के हृदय में) प्रवेश कर पुर्यष्टक रूप शिष्य की आत्मा, जो कि भावना के द्वारा सूत्र में (स्थापित होने के बाद) स्थित है, को अस्त्र मन्त्र से काट दे ॥ ११० ॥

और छिन्न उस शिष्यात्मा को—

धाम के द्वारा खींचकर द्वादशान्त में ले जाकर स्थापित करे ॥ १११-॥

आकर्षण की विधि पहले ही कह दी गयी है । यह (आकर्षण)

'रश्मिमात्र को साथ में रख कर करना चाहिये'—यह कहा गया ॥

इसके बाद—

उसमें स्थित चैतन्य को ध्रुव मन्त्र से सम्पुटित कर (संहार) मुद्रा से अपने अन्दर भैरव मन्त्र से आपूरित करे ॥ -१११-११२- ॥

उसमें स्थित = द्वादशान्त में स्थित । मुद्रा के द्वारा = दीप्ताशवहस्तकृत संहार नामक मुद्रा के द्वारा । अपने अन्दर = अपने हृदय में । भैरव मन्त्र द्वारा = निष्कल द्वारा ॥ १११ ॥

और उसी से (= भैरवमन्त्र से)—

बाद में कुम्भक करे और फिर रेचन कर दे ॥ -१११- ॥

नासाक्रमेणैव ॥

तत एव च—

द्वादशान्तात्तु संगृह्य योजयेद् भवमुद्रया ॥ ११२ ॥

योजनं वागीशीगर्भे, भवमुद्रा लिङ्गमुद्रा ॥ ११२ ॥

योजने इतिकर्तव्यतामाह—

आत्मानमीश्वरं ध्यात्वा मायां वागीश्वरीमपि ।
संयोज्य तस्यां चैतन्यं शरीराण्यध्वनि सृजेत् ॥ ११३ ॥

ईश्वरः क्रियाशक्तिप्राधान्यात् स्रष्टा, प्राङ्निर्णीता तु वागीश्वरी संप्रत्यशुद्धा-ध्वप्रमातृत्वान्माया, शुद्धाध्वप्रसवे तु एषैव महामायात्मा भविष्यति, मायारूपा-याश्चास्याः शुद्धविद्यास्पर्शो नास्ति, अन्यथा क्रमिककर्मभोगानां युगपच्छुद्ध्यर्थ-मनन्तदेहसृष्टेरयोगात्, चैतन्यमिति दीक्ष्यस्येति अर्थात्, अध्वनीति प्रकृते निवृत्ति-कलाप्रधाने ॥ ११३ ॥

किमर्थं सृजेदित्याह—

प्राक्कर्मवासनाशेषफलभोगत्वहेतवे ।

यह सब कार्य नासिका के द्वारा होना चाहिये ॥

और उसके बाद—

उसे द्वादशान्त से लेकर भवमुद्रा से जोड़ देना चाहिये ॥ -११२ ॥

यह योजन वागीशी के गर्भ में होना चाहिये । भवमुद्रा = लिङ्गमुद्रा कहते हैं ॥ ११२ ॥

योजना कैसे की जाय—यह बतलाते हैं—

अपनी आत्मा का ईश्वर के रूप में ध्यान कर उसमें वागीश्वरी (= शुद्ध विद्या) जो कि माया है, को जोड़ कर उसमें चैतन्य की और शरीरों की, अध्वा में सृष्टि करे ॥ ११३ ॥

ईश्वर क्रियाशक्ति की प्रधानता होने के कारण स्रष्टा है । पहले बतलायी गयी वागीश्वरी ही शुद्ध अध्वा की प्रमात्री होने से माया है । शुद्ध अध्वा के प्रसव में यही महामाया हो जाती है । जब यह माया रूप हो जाती है तो इसको शुद्ध विद्या का स्पर्श भी नहीं रहता । अन्यथा क्रमशः होने वाले कर्म भोगों की एक साथ शुद्धि के लिये अनन्त शरीरों की सृष्टि नहीं होगी । चैतन्य अर्थात् दीक्षित (शिष्य का चैतन्य) । अध्वा में—यहाँ यह अध्वा निवृत्तिकलाप्रधान है ॥ ११३ ॥

(यह) सृष्टि क्यों करनी चाहिये—यह कहते हैं—

पूर्वकर्मवासनाहेतुकानि यान्यशेषाणि जन्मायुर्भोगात्मकानि फलानि, तेषां भोग्यत्वं भोगसिद्धिर्यथा स्यात् ॥

एतानि च शरीराणि—

युगपद्भिन्नभोगानि देशकालशरीरतः ॥ ११४ ॥
मन्त्रशक्त्या विपच्यन्ते............

शरीरमत्र स्वभावः । भिन्नो भोगो येषु, देशादित्रयान्तानि शरीराणि मन्त्र-शक्त्या युगपद्विपच्यन्ते फलदानोन्मुखानि संपद्यन्ते ॥ ११४ ॥

न केवलं शरीराणि युगपद्भिन्नभोगानि विपच्यन्ते यावत्—

..........पुद्गलाश्च तथाविधाः ।
भिन्नदेहा विसृज्यन्ते गर्भे वागीशियोनिषु ॥ ११५ ॥

पुद्गला इत्यनेनैकस्यापि दीक्ष्यस्य नानाशरीरतया बहुत्वं वदन् भेदवादस्या-वास्तवतां ध्वनति । यस्मादेकस्यापि दीक्ष्यात्मनो नानाभोगाश्रयविचित्रदेहशुद्धौ भोग्यवैचित्र्येण नानात्वभावः । तथाविधा इति भिन्नभोगाः । योनिष्विति चतुर्दश-

---

यह सृष्टि पूर्व जन्म में अर्जित कर्मों की वासना के समस्त फलों के भोग के लिये की जाती है ॥ ११४- ॥

पूर्व जन्म के कर्मों की वासना के फल स्वरूप जो जन्म, आयु और भोग रूप फल हैं उनकी भोग्यता = भोगसिद्धि, हो जाय (इसलिये सृष्टि होती है) ॥

और ये शरीर—

देश काल और शरीर (= स्वभाव) की दृष्टि से अलग-अलग भोग करने वाले होते हैं किन्तु मन्त्र की शक्ति से इनका एक साथ ही परिपाक होता है ॥ -११४-११५- ॥

यहाँ शरीर का अर्थ है—स्वभाव । (भिन्न भोग का अर्थ है—) भिन्न भोग वाले देश आदि तीन (= काल और शरीर) के द्वारा अन्त होने वाले शरीर । मन्त्रशक्ति के द्वारा एक साथ विपाचित होते हैं = फलदान के लिये तैयार कर दिये जाते हैं ॥ ११४ ॥

भिन्न भोग वाले शरीर ही एक साथ परिपक्व नहीं होते बल्कि—

उस प्रकार के पुद्गल भी जो कि भिन्न देह वाले होते हैं वागीश्वरी की योनियों में गर्भ में विसृष्ट होते हैं ॥ -११५ ॥

'पुद्गलाः' इस कथन से एक-एक दीक्षित के अनेक शरीर होने के कारण बहुत्व को कहते हुए (भगवान्) भेदवाद की अवास्तविकता की ओर सङ्केत करते हैं । जिससे एक भी दीक्ष्य आत्मा का अनेक भोगाश्रयरूपी विचित्र देह की शुद्धि

विधभूतसर्गापेक्षं बहुत्वम्, विसृष्टिः नियतभोगार्थं संयोजनम् ॥ ११५ ॥

तदित्थं शिष्यचैतन्यम्—

धाम्ना च योजयित्वा च जुहुयादाहुतित्रयम् ।

निष्कलोच्चारपूर्वनिवृत्तिव्याप्तानन्तादिवीरभद्रान्तनानाभुवनगतचतुर्दशविधभूतसर्गसंपत्त्यर्थं देवदत्तस्य वागीशीगर्भयोजनं करोमि नमः—इति मन्त्रः । होमे तु स्वाहान्तः । एवमुत्तरत्राप्यूहमन्त्राः स्वयमभ्यूह्याः ॥

एवं संयोजने सति—

युगपत् सर्वगर्भेषु देहा विविधरूपकाः ॥ ११६ ॥
भैरवेच्छासुसम्पन्नाः शतरुद्राद्यनन्तगाः ।

भवन्तीति शेषः । भैरवशब्देनात्र भैरवसमावेशशाली आचार्य उक्तः ॥ ११६ ॥

अथ—

गर्भेषु गर्भनिष्पत्तिं भैरवेणाहुतित्रयम् ॥ ११७ ॥

में भोग के अनेक होने से अनेकता होती है । उस प्रकार के = भिन्न-भिन्न भोगों वाले । 'योनिषु' यहाँ बहुवचन चौदह प्रकार के भूतसर्गों को दृष्टि में रख कर कहा गया है । विसृष्टि = नियत भोग के लिये शिष्य की आत्मा का संयोजन ॥११५॥

तो इस प्रकार शिष्य के चैतन्य को-

धाम (हूं) के साथ जोड़कर तीन आहुतियाँ देनी चाहिये ॥ ११६- ॥

निष्कल (= ॐकार) का उच्चारण कर 'पूर्वनिवृत्ति .... करोमि नमः' (= पूर्व निवृत्ति से व्याप्त अनन्त से लेकर वीरभद्र पर्यन्त अनेक भुवनों में वर्त्तमान चौदह प्रकार की भूतसृष्टि को बनाने के लिये देवदत्त (अर्थात् दीक्ष्य शिष्य) की वागीशी के गर्भ में योजना कर रहा हूँ)—यह मन्त्र है । (पूजा के लिये मन्त्र के अन्त में 'नमः' और) होम में (मन्त्र के अन्त में) 'स्वाहा' जोड़ना चाहिये । इसी प्रकार आगे भी ऊह मन्त्रों की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये ॥

इस प्रकार संयोजन होने के बाद—

समस्त गर्भों में अनेक रूपों वाले शरीर भैरव की इच्छा से सुसम्पन्न होकर शतरुद्र से लेकर भगवान् अनन्तनाथ तक जाने वाले होते हैं ॥ -११६-११७- ॥

श्लोक के अन्त में 'भवन्ति' यह स्वयं जोड़ लेना चाहिये । उक्त श्लोक में 'भैरव' शब्द से भैरवसमावेशशाली आचार्य कहा गया है ॥ ११६ ॥

इसके बाद—

हुत्वा तु जननं कार्यं पुनस्तेनाहुतित्रयात् ।

कर्मनामानुसारी अत्रोहमन्त्रः, गर्भाणां निष्पत्तिर्यत्र आहुतित्रये तद्गर्भेषु गर्भनिमित्तं हुत्वा, जननं गर्भनिःसरणम्, तेनेति निष्कलेनैव ॥ ११७ ॥

शिष्यदेहे—१. पाशसूत्रावलम्बनम्, २. षडधिकरणगताध्वसंधानम्, ३. तद्धोमः, ४. अध्वव्याप्त्यवलोकनम्, ५. अध्वोपस्थापनम्, ६. तत्पूजा, ७. होमः, ८. तदन्तःपाशत्रयचिन्तनम्, ९. कलाशक्तिसमन्विताधारशक्तिन्यासः, १०. वागीश्याः संनिधापनम्, ११-१२. तत्पूजाहोमौ, १३-१४. शिष्यसम्प्रोक्षणताडने, १५. तच्चैतन्याकर्षणम्, १६. द्वादशान्ते स्थापनम्, १७. ततो ग्रहणम्, १८. स्वहृदि योजनम्, १९. स्वद्वादशान्तप्रापणम्, २०. वागीशीगर्भे योजनम्, २१. नानागर्भनिष्पत्तिहोमः—इत्येकविंशत्यवान्तरसंस्कारैरुपस्कृतं होमेन जन्माख्यं संस्कारमभिधाय, अधिकाराख्यं संस्कारं वक्तुमाह—

सर्वयोनिषु देहास्ते युगपद् वृद्धिमागता ॥ ११८ ॥

भैरव मन्त्र (= निष्कल) के द्वारा तीन आहुति देकर (आचार्य) गर्भ में गर्भ की पूर्णता करे । तत्पश्चात् उसी भैरव मन्त्र से तीन आहुति देकर शिष्य का जन्म कराना चाहिये ॥ -११७-११८- ॥

यहाँ कर्म के नाम के अनुसार मन्त्रों की कल्पना करनी चाहिये । जिन तीन आहुतियों को देने के बाद गर्भ की पूर्णता हो जाती है उन तीन आहुतियों को गर्भ के लिये देकर जनन = गर्भ का बाहर आना, करना चाहिये । उससे = निष्कल से ही ॥ ११७ ॥

शिष्य के देह में—१. पाश सूत्र लटकाना, २. छः अधिकरण में वर्त्तमान अध्वा का सन्धान, ३. उस सन्धान के लिये होम, ४. अध्वव्याप्ति को देखना, ५. अध्वा की उपस्थापना, ६. उस अध्वा की पूजा, ७. उसका होम, ८. उस अध्वा के भीतर वर्त्तमान तीन पाशों का ध्यान, ९. कला शक्ति से युक्त आधार शक्ति का न्यास, १०. वागीशी का सन्निधापन, ११-१२. उस (वागीशी) की पूजा और होम, १३-१४. शिष्य का संप्रोक्षण और ताडन, १५. उस (शिष्य) के चैतन्य का आकर्षण, १६. उस चैतन्य की द्वादशान्त में स्थापना, १७. उसके बाद वहाँ से उसको निकालना, १८. निकाल कर आचार्य के हृदय में रखना, १९. फिर अपने द्वादशान्त में पहुँचाना, २०. वागीशी के गर्भ में उसको जोड़ना, २१. नाना गर्भ-निष्पत्ति सम्बन्धी होम, इन इक्कीस अवान्तर संस्कारों से उपस्कृत, होम के द्वारा जन्म नामक संस्कार का कथन कर अधिकार नामक संस्कार को बतलाने के लिये कहते हैं—

वे शरीर सभी योनियों में एक साथ वृद्धि को प्राप्त हो गये—ऐसी भावना करनी चाहिये ॥ -११८ ॥

भाव्या इति शेषः ॥ ११८ ॥

प्रवृद्धदेहानामेव भोगेऽधिकाराद्भोगमाह—

भोगनिष्पत्तये कर्म व्यापारसहकारणम् ।

भाव्यमिति शेषः । पशोरतीतमनागतं च यत् क्रमिकानन्तभोगसंपादकं संभाव्यते शुभादि वासनात्मकं कर्म तत्सर्वं

'अनेकभविकं कर्म दग्धं बीजमिवाणुभिः ।
भविष्यदपि संरुद्धं येनेदं तद्धि भोगतः ॥'

इति श्रीकिरणोक्तनीत्या मन्त्रयुक्त्या युगपद्भोगनिष्पत्त्यर्थमनुसंधेयम् । कीदृक्? व्यापारैः वाङ्मनःकायचेष्टाभिः । सहकारणं सहेतुकमित्यर्थः ॥

अवश्यं चैतत् अन्यथा—

तदभावान्न भोगः स्यात्............

कर्मैव हि मायीयभोगहेतुः ॥

भोगार्थमेव तत्साधनाहरणाय सर्वे प्रवर्तन्ते—इत्याह—

भाव्या = भावन करे ॥ ११८ ॥

प्रवृद्ध देह वाले जीवों का ही भोग में अधिकार होता है, इसलिये भोग को बतलाते हैं—

भोग की समाप्ति के लिये व्यापारों के द्वारा निष्पाद्य कर्म की भावना करनी चाहिये ॥ ११९- ॥

'भाव्यम्' = भवना करे । पशु का अतीत और अनागत, क्रमिक अनन्त भोग का सम्पादक जो वासनात्मक शुभाशुभ कर्म वह सब—

'अणुओं के द्वारा विहित अनेक जन्मों का कर्म, बीज की भाँति दग्ध होता है । भविष्यत् कर्म भी संरुद्ध (= फल देने में असमर्थ) हो जाता है । और जिस कर्म के द्वारा यह (शरीर प्राप्त हुआ) है वह भोग से दग्ध होता है ।'

किरणागम में उक्त इस नीति के अनुसार, मन्त्र की युक्ति से, एक साथ भोग की निष्पत्ति के लिये, भावना करनी चाहिये । कैसा कर्म ? उत्तर देते हैं—'व्यापारसहकारणम्' व्यापार = वाणी मन एवं शरीर की चेष्टाओं के द्वारा । सहकारण = कारणयुक्त ॥

यह अवश्य करना चाहिये अन्यथा—

उसके (= कर्म के) अभाव के कारण भोग नहीं होगा ॥ -११९- ॥

क्योंकि कर्म ही मायीय भोग का कारण है ॥

...............तदर्थं मार्जनं स्मृतम् ॥ ११९ ॥

यस्मात् शुभाद्यनुष्ठानाद् भोगसाधने

अर्जिते सति भोक्तव्यो भोगो दुःखसुखात्मकः ।

एवं भोगं निर्णीय, निवृत्तेऽपि तस्मिन् तत्संस्कारान्तर्मायीयभावरूपमिव लयं वक्तुमाह—

लयः परमया प्रीत्या सुखदुःखादिकेऽप्यलम् ॥ १२० ॥

दीक्ष्यस्य गुरुणा भाव्य इति शेषः । तदुक्तं श्रीमृगेन्द्रे—

'कंचित्कालं लयः (८।९०) इति ॥ १२० ॥

एवमधिकारभोगलयाख्यं संस्कारत्रयं भावनया परिकल्प्य—

तिसृभिस्तिसृभिर्होमं धाम्नैव त्रिषु कारयेत् ।

ऊहमन्त्रान्तेनेत्यर्थात् तिसृभिरित्याहुतिभिः ॥

भोग के लिये ही सब लोग उसका साधन जुटाने में प्रवृत्त होते हैं—यह कहते हैं—

इसी के लिये मार्जन (= अपसारण) कहा गया है ॥ -११९ ॥

क्योंकि शुभ अशुभ कर्मों के अनुष्ठान से भोग साधन के प्राप्त होने पर दुःखसुखात्मक भोग भोगना ही पड़ता है ॥ १२०- ॥

इस प्रकार भोग का वर्णन कर उस (= भोग) के निवृत्त होने पर भी उनमें उनके संस्कार के अन्दर मायीयभाव सदृश के लय को बतलाने के लिये कहते हैं—

सुख दुःख आदि के लीन होने पर भी (गुरु के द्वारा) शिष्यसम्बन्धी उन (= सुखादि) की वासना का लय भी परम प्रीति के साथ किया जाना चाहिये ॥ -१२० ॥

'दीक्ष्य गुरु के द्वारा भावना करे'—वही बात मृगेन्द्रागम में कही गयी है—
'कुछ समय तक लय होता है' ॥ १२० ॥ (८।९०)

इस प्रकार भावना के द्वारा अधिकार भोग एवं लय नामक तीन संस्कारों की कल्पना कर—

(इन) तीनों के विषय में धाम के द्वारा ही तीन-तीन आहुतियों से होम करना चाहिये ॥ १२१- ॥

यहाँ भी मन्त्रों का ऊह करना चाहिये ॥

एवं जन्माधिकारभोगलयान् प्रतिपाद्य, निष्कृत्याख्यं पञ्चमं संस्कारं प्रतिपादयितुमाह—

आहुतीनां शतं होम्यं धाम्ना निष्कृतये पुनः ॥ १२१ ॥

निष्कृतेरदूर एव स्वरूपं निर्वक्ष्यति ॥ १२१ ॥

नन्वस्यां किमिति विशेषेण होम इति ? अत्रहेतुमाह—

यत्कर्म भोग्यरूपं तु जात्यायुर्भोगलक्षणम् ।
निष्कृत्यन्ते विशुद्ध्येत् तद् भूलोकसमवस्थितम् ॥ १२२ ॥

कर्मणा शुभाशुभात्मना भोग्यं रूपं यस्य जात्यायुर्भोगात्मनः फलस्य तद् निष्कृतावेव शुद्ध्यति, अतो युक्तोऽस्यां शतहोमः । भुवो लोका वीरभद्रान्तानि भुवनानि, तत्र समवस्थितं भोग्यतां प्राप्तम्, एतच्चेह निवृत्तिशुद्धिप्रसादादेवमुक्तम्, तच्च प्रतिष्ठादिव्याप्ताप्ततत्त्वान्तर्गतभुवनभोगोपलक्षणपरम् । अन्यस्तु भूलोके इति पठित्वा भूर्लोकैकदेशे कन्याद्वीपेऽर्जितमित व्याकृतवान् ॥ १२२ ॥

'भोगो दुःखसुखात्मकः' इत्युक्त्या भोग इदानीमेव निर्णीतः, आयुः सृष्टि-

---

इस प्रकार जन्म अधिकार भोग और लय का प्रतिपादन कर निष्कृति नामक पाँचवें संस्कार का प्रतिपादन करने के लिये कहते हैं—

निष्कृति के लिये धाम (= निष्कल मन्त्र) के द्वारा एक सौ आहुतियाँ देनी चाहिये ॥ -१२१ ॥

निष्कृति के स्वरूप को तुरन्त बाद ही बतलायेंगे ॥ १२१ ॥

यहाँ विशेष रूप से (= एक सौ) होम क्यों कहा गया । इसमें हेतु बतलाते हैं—

जाति (= जन्म) आयु और भोग लक्षण वाला जो कर्म भोग्यरूप है भूलोक में स्थित वह (कर्म) निष्कृति के बाद शुद्ध हो जाता है ॥ १२२ ॥

शुभाशुभ कर्म के द्वारा भोग्य रूप है जिसका वह जन्म आयु भोग रूप फल, वह निष्कृति होम के करने पर ही शुद्ध होता है । इसलिये इसमें (= निष्कृति में) एक सौ होम समीचीन ही है । पृथ्वी के लोक = वीरभद्र तक के भुवन, उनमें समवस्थित = भोग्यता को प्राप्त । यहाँ इसका उल्लेख निवृत्ति शुद्धि के कारण उत्पन्न हुई । प्रसन्नता से किया गया । और वह (= कर्म) प्रतिष्ठा आदि कला में वर्त्तमान जो जलीयादि तत्त्व उनके अन्तर्गत वर्त्तमान भुवनों में होने वाले भोगों का भी उपलक्षण है । किसी अन्य विद्वान् ने नेतु 'भूर्लोके'—ऐसा पाठ कर भूलोक के एक भाग = कन्या दीप में अर्जित-इस प्रकार की व्याख्या की है ॥ १२२ ॥

'भोग सुखदुःखात्मक होता है'—इस कथन से भोग का निर्वचन इसी समय

संहारपटले निर्णेष्यते, इत्यवशिष्टां जाति जन्मप्रकारभेदैरादिशति—

संसारा दशचत्वारः...............

देवमानुषतिर्यग्भेदभिन्नश्चतुर्दशधा भूतसर्ग एव संसारा नानाजातय इत्यर्थः ॥

भुवनदीक्षायाम्

'अन्त्यजान् शुद्रविट्क्षत्रब्राह्मणांश्च विशोधयेत् ।' (१०।३८४)

इति सर्वजातिशोधनं वक्ष्यति । इह तु

'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥' (९।२१)

इति गीतोक्तनीत्या षट्कर्माधिकारित्वेन बन्धकर्मत्वान्मनुष्यजातिशुद्धौ ब्राह्मण्यजातिरेव निष्कृतिहोमेनैवावश्यं शोध्या । संक्षिप्तत्वादस्य विधेरिति वक्तुमाह—

.............संस्कारा अष्टभिः सह ।
चत्वारिंशद् द्विजत्वाय वक्ष्यन्ते भुवनाध्वनि ॥ १२३ ॥
योनिर्बीजं तथा भाव आहारो देश एव च ।
एतेषां शोधनं देवि...............

कर दिया गया । आयु का निर्णय सृष्टिसंहारपटल में किया जायगा । इस प्रकार अवशिष्ट जाति को जन्म के प्रकार भेदों के द्वारा बतलाते हैं—

संसार १४ प्रकार का है ॥ १२३- ॥

देव मनुष्य तिर्यक् भेद से भिन्न १४ प्रकार का भूतसर्ग-अर्थात् अनेक प्रकार की ही संसार है ॥

'अन्त्यज शूद्र वैश्य क्षत्रिय और ब्राह्मण का शोधन करना चाहिये ॥' (१०।३८४)

इस वाक्य के अनुसार भुवनदीक्षा के विषय में सभी जातियों का शोधन कहा जायगा । और यहाँ—

'इस प्रकार त्रयीधर्म (= वैदिक धर्म) से युक्त कामकामी लोग गतागत (= मृत्यु और जन्म) को प्राप्त करते हैं ।' (९।२१)

इस भगवद्गीतोक्त नीति के अनुसार छः कर्मों (अध्ययनाध्यापन यजन याजन, दान देना दान लेना) का अधिकारी होने से बन्धन वाले कर्म के कारण मनुष्य जाति की शुद्धि होने पर ब्राह्मण जाति की ही निष्कृति होम से शुद्धि करनी चाहिये । क्योंकि यह विधि संक्षिप्त है—यह कहते हैं—

भुवनाध्वा में द्विजत्वापादन के लिये अँड़तालिस संस्कार कहे जायेंगे । हे देवि ! योनि, बीज, भाव, आहार और देश इनका शोधन करना चाहिये ॥ -१२३-१२४- ॥

आधानादयोऽन्त्येष्ट्यन्ताश्चत्वारिंशत्, दयादयः स्पृहान्ताश्च अष्टाविति येऽष्टचत्वारिंशत् संस्कारा अग्रे स्फुटीभविष्यन्ति, ते तु भुवनदीक्षायां पृथक् शोध्याः, आहाराद्याश्च कलादिदीक्षासु तु निष्कृतिहोमान्तर्भावयुक्त्या, इति भाविवाक्यसङ्गत्यात्र पिण्डार्थः । इदं च द्विजजात्यापादनं कर्महेतुकभाविशरीरविषयम्, पूर्वं तु समयिनो वर्तमानदेह एव शुद्धविद्याजातियोग्यत्वरूपमन्यदेवेति निर्णीतम् । अत एव पूर्वं समयिनो रुद्रांशापादनमीश्वरतत्त्वप्राप्तियोग्यतात्मकमुक्तम्, इदं तु शक्तिगर्भानुप्रवेशवशभविष्यद्रुद्रत्वापत्तियोग्यताभावनात्मकम्, न तु रुद्रत्वापत्त्यात्मकम् निवृत्तिपाशानामद्याप्यशुद्धत्वात् । उक्तं च श्रीमृगेन्द्रे—

'रुद्राणी शक्तिरुच्यते तद्गर्भयोग्यतापत्तिरुद्रांशत्वं न रुद्रता ॥' (क्रि०८।६५)

इति ॥ १२३ ॥

तदेतदीदृशं रुद्रांशापादनं जात्यायुर्भोगशुद्ध्या सह निष्कृतिहोममध्य एव संपाद्यमित्याह—

................रुद्रांशापादनं तथा ॥ १२४ ॥
अत्रावलोकनं कृत्वा निष्कृत्यामेव शुद्ध्यति ।

न केवलं जन्मायुर्भोगानां निष्कृतौ शुद्धिराधातव्या, यावद्रुद्रांशापत्तिरूपापि

गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टिपर्यन्त चालिस और दया से लेकर स्पृहा तक आठ ये संस्कार आगे स्पष्ट किये जायेंगे । भुवन दीक्षा में इनका पृथक्-पृथक् शोधन करना चाहिये । आहार आदि की शुद्धि कला आदि की दीक्षाओं (विधीयमान) में निष्कृति होम में अन्तर्भाव की युक्ति से होती है—यह भावी वाक्य की सङ्गति के अनुसार पिण्डार्थ है । यह द्विजजाति का आपादन कर्म के द्वारा उत्पन्न भावी शरीर के विषय में है । समयी का वर्त्तमान देह में ही शुद्धविद्या जाति योग्यत्वरूप संस्कार दूसरा है जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है । इसलिये पहले समयी साधक का ईश्वरतत्त्वप्राप्ति योग्यता वाला रुद्रांशापादन संस्कार कहा गया । यह उच्यमान संस्कार सम्प्रति शक्तिगर्भ के अनुप्रवेशवश भावी रुद्रत्वप्राप्ति की योग्यता वाली भावना वाला है न कि रुद्रत्वापादन वाला क्योंकि निवृत्ति नामक पाशों की अशुद्धि आज भी (शिष्य में) है । मृगेन्द्रागम में कहा भी गया है—

'रुद्राणी शक्ति कही जाती है । उस गर्भ की योग्यता की आपत्ति ही रुद्रांशत्व है न कि रुद्रता' ॥ १२३ ॥ (क्रि० ८।६५)

इस प्रकार का रुद्रांशापादन जन्म आयु और भोग की शुद्धि के साथ निष्कृतिहोम के मध्य में ही किया जाना चाहिये—यह कहते हैं—

तथा रुद्रांश का आपादन करना चाहिये । इस निष्कृति में अवलोकन कर (दीक्ष्य) शुद्ध हो जाता है ॥ -१२४-१२५- ॥

शुद्धिर्व्याकृतस्वरूपा तत्रैवाधातव्येत्यर्थः । अत्रेति निष्कृतौ, अवलोकनमिति भावानाम् ॥ १२४ ॥

निष्कृतिस्वरूपं व्याचष्टे—

विषया भुवनाकारा ये केचिद्भोग्यरूपिणः ॥ १२५ ॥
भुक्तकर्मफलाशेषा निष्कृतिस्तेन सा स्मृता ।

भुवनं स्त्र्यादिभावोपलक्षणपरम् । तेष्विति श्लोकमध्येऽध्याहार्यम् । भुक्तं कर्मफलमशेषं समग्रं यया हेतुना दीक्ष्येण सा तथा, पूर्वनिपातव्यत्यय एषः । निःशेषेण कृतिः समस्तकर्मफलभोगसमाप्तिर्यस्यामिति व्युत्पत्त्या निष्कृतिः । स्मृतेति दीक्षायामेव शोध्यत्वेनेति शेषः ॥ १२५ ॥

अथ—

विश्लेषो निष्कृतेर्भोगात्...............

भोगाद्विश्लेषः पुनर्भोगैरसंबन्धो भोक्तुर्भोक्तृत्वाभावात्, संस्कारोऽपि निष्कृतेः

केवल जन्म आयु और भोग की निष्कृति में ही शुद्धि नहीं करनी चाहिये बल्कि रुद्रांश की आपादनरूपा शुद्धि भी जो कि व्याकृतिस्वरूपा है, वहीं करनी चाहिये । यहाँ = निष्कृति में । यह अवलोकन भावों (= पदार्थों) का होता है ॥ १२४ ॥

निष्कृति के स्वरूप की व्याख्या करते हैं—

भुवन के आकार वाले वे विषय जो कि भोग्यरूप हैं दीक्ष्य के द्वारा सम्पूर्णरूप से भुक्त हो जाते हैं इसलिये वह निष्कृति बतलायी गयी है ॥ -१२५-१२६- ॥

उक्त श्लोक में 'भुवन' पद स्त्री आदि पदार्थों को भी सङ्केतित करता है । 'तेषु' (= उनके विषय में) यह पद श्लोक के मध्य में आध्याहृत होना चाहिये । (इसे ये केचित् भोग्यरूपिणः के बाद जोड़ना चाहिये) । ('भुक्तकर्मफलाशेषा' इस शब्द का विग्रह बतलाते हैं—) भुक्त हो चुका है समस्तकर्म फल जिस दीक्ष्यरूप हेतु के द्वारा वह, उस प्रकार की (निष्कृति) । यह पूर्व निपात का व्यत्यय ऐश है । (= ईश्वर के द्वारा उक्त है) । 'निष्कृति' शब्द की निःशेषेण कृति = समस्त कर्मफलभोग की समाप्ति है जिसमें यह व्युत्पत्ति है । स्मृता–दीक्षा में ही शोध्य मानी गयी है ॥ १२५ ॥

तत्पश्चात्—

भोग से विश्लेष होने पर निष्कृति का (संस्कार भी साधक को करना चाहिये) ॥ -१२६- ॥

भोग से विश्लेष = भोगों से सम्बन्ध का न होना, क्योंकि उस समय भोक्ता का

कार्यः ॥

...........भोगाभावे स हि स्मृतः ॥ १२६ ॥

नहि भोगसमाप्तिरूपां निष्कृतिं विना संस्कर्तुं शक्यः ॥ १२६ ॥

भोक्तृताभावरूपं विश्लेषं भोक्तृतानुवादपूर्वं वक्तुमाह—

भोक्तृत्वं विषयासक्तिर्मलकार्यं प्रकीर्तितम् ।
भोक्तृत्वाभावस्तत्रैव शरीरेण तु यत्कृतम् ॥ १२७ ॥
विश्लेषः क्रियते तस्य पशोर्मन्त्रैः शिवाज्ञया ।

शरीरेण यत् कृतं शरीरैर्यदर्जितं किंचित् तत्रैव या विषयत्वेनासक्तिः 'किंचिन्मे स्यात्'—इत्यभिष्वङ्गस्तदेतन्मलकार्यम्, अपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलोत्थापितं भोक्तृत्वम्, तस्येदृशस्य भोक्तृत्वस्य पशोः शिवाभिन्नगुर्वाज्ञया मन्त्रैर्विश्लेषः क्रियते, स च यथोक्तस्य भोक्तृत्वस्याभाव उच्यत इति सङ्गतिः ॥ १२७ ॥

अत्र च—

धाम्ना चाहुतयस्तिस्रो विश्लेषकरणाय च ॥ १२८ ॥

भोक्तृत्व ही नहीं रहता । ऐसा होने पर निष्कृति का संस्कार भी करना चाहिये ॥

क्योंकि भोग का अभाव होने पर ही वह (= निष्कृति संस्कार) कहा गया है ॥ -१२६ ॥

भोग समाप्ति रूप निष्कृति संस्कर्ता के बिना शक्य नहीं है ॥ १२६ ॥

भोक्तृता का अनुवाद कर भोक्तृत्वाभावरूप विश्लेष को बतलाते हैं—

भोक्तृत्व का अर्थ है—विषयों के प्रति आसक्ति और यह आसक्ति मल (= अज्ञान) का कार्य बतलाया गया है । शरीर के द्वारा जो कुछ भी किया जाता है उसी के विषय में भोक्तृत्व का अभाव होता है । भगवान् शिव की आज्ञा से मन्त्रों के द्वारा उस (कृतकर्मफल) का पशु से विश्लेष किया जाता है ॥ १२७ ॥

शरीर के द्वारा जो किया गया अर्थात् अर्जित हुआ है उसी में विषय के रूप में जो आसक्ति = 'मुझे कुछ मिल जाये'—इस प्रकार का अभिष्वङ्ग (अर्थात् संलिप्तता) यह मल का कार्य है अर्थात् अपूर्णम्मन्यता रूप आणवमल के द्वारा उत्थापित भोक्तृत्व है । पशु के इस प्रकार के भोक्तृत्व का शिव से अभिन्न गुरु की आज्ञा मन्त्रों के द्वारा पशु से विश्लेष किया जाता है। यह विश्लेष यथोक्त भोक्तृत्व का अभाव कहा जाता है—ऐसी सङ्गति (= अन्वय) है ॥ १२७ ॥

यहाँ—

विश्लेषकरण के लिये साधक को धाम (हूँ) के द्वारा तीन आहुतियाँ

'अमुकाय निवृत्तिपाशविश्लेषं करोमि स्वा'—इत्यत्र मन्त्रः । एवमुत्तरत्रापि स्वयमूहः कर्मणामौचित्येन कार्यः ॥ १२८ ॥

अथ—

आहुतित्रितयं धाम्ना पाशच्छेदेऽपि दापयेत् ।

यत्पाशच्छेदनिमित्तमाहुतिस्तत्पाशानाह—

पाशा देहे तु मायीयाः कलाद्या भूतकावधि ॥ १२९ ॥
शरीरकरणाकाराः पुरुषार्थप्रसिद्धये ।

देहे देहनिमित्तं कलाद्या महाभूतान्ता मायीयाः पाशाः, ते च शरीरेन्द्रियाणि तदुपलक्षितांश्च भुवनभावादीन् आकारयन्ति संपादयन्ति पुरुषार्थस्य भोगस्य प्रसिद्ध्यर्थम् । उक्तं च—

'कलादिक्षितिपर्यन्तमेतत् संसारमण्डलम्' । (११।२९५) इति ।

'तु'शब्दः—

'भोक्तृत्वं विषयासक्तिर्मलकार्यम् ।' (४।१२७) इति ।

देनी चाहिये ॥ -१२८ ॥

यहाँ पर 'अमुकाय निवृत्तिपाशविश्लेषं करोमि' इस मन्त्र का प्रयोग किया जायगा । इसी प्रकार कर्म की समीचीनता के अनुसार आगे भी मन्त्रों का ऊह करना चाहिये ॥ १२८ ॥

इसके बाद—

पाशच्छेद के लिये भी धाम (हूँ) के द्वारा तीन आहुतियाँ दिलानी चाहिये ॥ १२९- ॥

जिन पाशों के छेद के लिये आहुति दी जायगी उन पाशों को बतलाते हैं—

देह में मायीय पाश होते हैं । वे कला से लेकर पञ्च महाभूत तक माने जाते हैं । शरीर और इन्द्रियाँ ही उनके आकार हैं और वे पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिये होते हैं ॥ -१२९-१३०- ॥

देह में = देह का कारण, कला से लेकर महाभूत तक मायीय पाश हैं । वे शरीर एवं इन्द्रिय रूप तथा इनसे उपलक्षित भुवन और भाव (= पदार्थ) आदि की, भोग के लिये रचना करते हैं । कहा भी गया है—

'कला से लेकर पृथिवीपर्यन्त संसारमण्डल है ।' (११।२९५) ।

(श्लोक सं० १२७ में प्रयुक्त) 'तु' शब्द—

'भोक्तृत्वविषया शक्तिर्मलकार्यम्' । (४।१२७)

तथा तत्रैव—

'शरीरेण तु यत्कृतम् ।' (४।१२७)

इति पूर्वोक्ताणवकार्मपाशवैलक्षण्यं द्योतयति ॥ १२९ ॥

एवं च निष्कृतिविश्लेषरूपात्—

भोगाभावाद्विपद्यन्ते शरीराणि सहस्रधा ॥ १३० ॥

शरीराणीति स्थूलसूक्ष्मादिरूपाणि । सहस्रधेति नानाविचित्रभेदभूतसर्गरूपाणि । विपद्यन्ते अपुनर्भविन नश्यन्तीत्यर्थः ॥ १३० ॥

यस्य च दीक्ष्यस्यैतानि विपद्यन्ते—

पाशच्छेदे विधिस्तस्य मन्त्रैश्च विधिचोदितैः ।

प्रदर्शिताणवादिपाशव्याप्तिकपाशसूत्रगतनिवृत्तिभागात्मनः पाशस्य च्छेदे विद्यात्मकशास्त्रवाक्यचोदितैर्मन्त्रैर्विधिः कार्यः । स च विधिः—

'शिवशक्तिरमोघेयं कर्तरी परिकीर्तिता ।'

इति श्रीहंसपारमेशोक्तव्याप्त्या कर्तर्यास्त्रजप्तया शिवं सास्त्रं हुंफडन्तं

तथा वहीं पर

'शरीरेण च यत् कृतम्'

के द्वारा पूर्वोक्त आणव और कार्म पाश से (मायीय पाश की) विलक्षणता दिखलाता है ॥ १२९ ॥

इस प्रकार निष्कृतिविश्लेष रूप—

भोगाभाव से सहस्रों प्रकार के शरीर विपत्ति में पड़ जाते हैं ॥-१३० ॥

शरीर का अर्थ है—स्थूल सूक्ष्म आदि (= कारण महाकारण शरीर) । सहस्रों प्रकार के = अनेक प्रकार के विचित्र भेद वाले भूतसर्ग रूप । विपत्ति में पड़ जाते हैं = पुनर्जन्म न होने से नष्ट हो जाते हैं ॥ १३० ॥

जिस दीक्ष्य के ये (शरीर) नष्ट हो जाते हैं—

उसी के लिये विधिवर्णित मन्त्रों के द्वारा पाशच्छेदविषयक विधि (अनुष्ठित) की जाती है ॥ १३१- ॥

प्रदर्शित आणव आदि व्याप्ति वाले पाशसूत्र में स्थित निवृत्ति भाग वाले पाश का छेदन होने पर विद्यात्मक शास्त्र में वर्णित मन्त्रों के द्वारा विधि की जानी चाहिये । और वह विधि—

'यह शिवशक्ति अमोघ कर्त्तरी (= कैंची) कही गयी है ।'

प्लुतयुक्त्योच्चारयन् पाशान् छिन्द्यादित्येवंरूपः । यथोक्तं श्रीमृगेन्द्रे—

'ततः शिवेन सास्त्रेण हुंफडन्तेन सस्वरम् ।
छिन्द्यात् स तावतः पाशान् कर्तर्या चास्त्रजप्तया ॥'
(क्रि० ८।११३-११४) इति ॥

उपसंहरति—

एवं पाशत्रयस्यापि विश्लेषो दीक्षयोच्यते ॥ १३१ ॥

एवमिति जन्माधिकारभोगलयनिष्कृत्याख्ययथाप्रतिपादितसंस्कारपञ्चकपूर्वमित्यर्थः । अत्र चोक्तेनैव हुंफडन्तेन मन्त्रेण पूर्णाहुत्या समं छिन्नस्य पाशस्य होमः कार्यः,—इति संहितान्तरोक्तोऽर्थोऽनुमन्तव्यः । तथोक्तं श्रीमृगेन्द्र एव—

'ततस्तां स्रुवमापूर्य जुहुयादाज्यसंयुतान् ।
तेनैव मन्त्रयोगेन' (क्रि० ८।११४-११५) इति ॥ १३१ ॥

एवं विश्लेषान्ते संस्कारषट्के कृते—

शरीराशेषभङ्गेन एकचैतन्यभावना ।

इस हंसपारमेश्वर नामक आगम ग्रन्थ में कथित व्याप्ति वाली अस्त्रजप्त कर्त्तरी के द्वारा अस्त्रयुक्त हुंफट् अन्त वाले शिव मन्त्र का प्लुत युक्ति के साथ उच्चारण करता हुआ (आचार्य) पाशों का छेदन करे । जैसा कि मृगेन्द्रागम में कहा गया—

'इसके बाद वह (= आचार्य) हुं फट् अन्त वाले अस्त्रयुक्त शिव मन्त्र के द्वारा अस्त्रजप्त कर्त्तरी की सहायता से उतने पाशों को काट दे' ॥ (मृ०क्रि० ८।११३-११४)

इसका उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार से दीक्षा के द्वारा तीन पाशों का विश्लेष बतलाया जाता है ॥ -१३१ ॥

इस प्रकार—जन्म, अधिकार, भोग, लय और निष्कृति नामक पूर्व प्रतिपादित पाँच संस्कारों को करने के बाद । यहाँ पूर्व कथित हुं फट् अन्त वाले मन्त्र के द्वारा पूर्णाहुति के साथ छिन्न पाश का होम करना चाहिये—किसी अन्यसंहिता में उक्त इस अर्थ (= विषय) का अनुमान करना चाहिये । मृगेन्द्रागम में ही कहा गया—

'इसके बाद उस स्रुवा को (घी से) पूरित कर घी से युक्त (पाशों) का उसी मन्त्रयोग से हवन करना चाहिये' ॥ १३१ ॥ (मृ०क्रि० ८।११४-११५)

इस प्रकार विश्लेष पर्यन्त छः संस्कारों के सम्पन्न होने पर—

(शिष्य के) शरीर के सम्पूर्ण नाश के साथ गुरु के द्वारा शिष्य के

गुरुणा शिष्यस्य कार्येत्यर्थः ॥

अत्र चावसरे—

पूर्णाहुतिं शिवेनैव वौषड्जातियुतेन च ॥ १३२ ॥

दद्यादित्यनुषङ्ग ॥ १३२ ॥

अथ पाशाभावात्—

शुद्धतत्त्वाग्रसंस्थं तच्चैतन्यं कनकप्रभम् ।

तदेकीकृतं चैतन्यं शुद्धस्य निवृत्त्याख्यस्य तत्त्वस्याग्रे उपरि सम्यगनावृततया स्थितं दीप्तं भावयित्वा

उद्धारायाहुतीस्तिस्त्रः पुनर्धाम्ना तु दापयेत् ॥ १३३ ॥

'निवृत्तिव्याप्तात् पृथिवीतत्त्वाद् देवदत्तमुद्धरामि'

इति चात्र प्रयोगः ॥ १३३ ॥

अथ—

चैतन्य की अपने चैतन्य के साथ एकता की भावना करनी चाहिये ॥१३२-॥

इस अवसर पर—

'वौषट्' नामक मन्त्रजाति[१] से युक्त शिवमन्त्र से ही पूर्णाहुति देनी चाहिये ॥ -१३२ ॥

इसके बाद पाश के न रहने से—

शुद्धतत्त्व के अग्रभाग में स्थित उस चैतन्य की 'यह स्वर्णप्रभायुक्त है' ॥ १३३- ॥

वह एकीकृत चैतन्य निवृत्ति नामक शुद्ध तत्त्व के अग्रभाग = ऊपर, पूर्णतया अनावृत होकर स्थित और दीप्त है—ऐसी भावना कर—

पुनः (वहाँ से) उसके उद्धार के लिये धाम के द्वारा तीन आहुति देनी चाहिये ॥ -१३३ ॥

यहाँ प्रयोग होगा—'निवृत्ति कला से व्याप्त पृथ्वीतत्त्व से देवदत्त का उद्धार कर रहा हूँ स्वाहा' ॥ १३३ ॥

इसके बाद—

---

१. जाति मन्त्र छः प्रकार के बतलाये गये हैं—नमः, स्वाहा, नेत्रत्रयाय वौषट्, वषट्, कवचाय हुं और अस्त्राय फट् ।

तस्मात् तत्त्वाद् गृहीत्वा तु चैतन्यं मलसंयुतम् ।
मुद्रया प्राग्विधानेन आत्मस्थं पूरयेद्धृदि ॥ १३४ ॥

निवृत्तिशुद्धया निर्मलमपि कलान्तराणामशोधितत्वात् मलसंयुतम् । मुद्रयेति संहाराख्येति, प्राग्विधानं प्रणवसंपुटहंसबीजत्वादिरूपम् ॥ १३४ ॥

ततः—

कुम्भित्वा रेच्य संगृह्य द्वादशान्ताद् ध्रुवेण तु ।
शिष्यदेहे निवेश्यैतन्नाडीरन्ध्रेण पूर्ववत् ॥ १३५ ॥

अथास्मै—

तत्स्थीकरणहेत्वर्थं धाम्ना चैवाहुतित्रयम् ।

देयमिति शेषः । 'शोधितचैतन्यं देवदत्तस्य हृत्स्थं करोमि स्वाहा' इत्यन्तोऽत्रायं प्रयोगः ॥

एवं पाशच्छेदः, तद्धोमः, पूर्णाहोमः, चैतन्यस्यैक्यभावनम्, तदुद्धारहोमः, पूरकेण हृत्स्थीकरणम्, कुम्भनम्, द्वादशान्तरेचनम्, ततो ग्रहणम्, शिष्यदेहे निवेशनम्, तदर्थो होमः—इत्येकादशभिरवान्तरसंस्कारैरुपस्कृतं विश्लेषं निर्वर्त्य

मलयुक्त आत्मस्थ चैतन्य को उस (= पृथिवी) तत्त्व से लेकर पूर्व विधान के अनुसार संहारमुद्रा के द्वारा हृदय में पूरित करे ॥ १३४ ॥

निवृत्ति कला की शुद्धि से निर्मल भी वह चैतन्य अन्य कलाओं के शोधित न होने के मलयुक्त के कारण है । मुद्रा का अर्थ है—संहार मुद्रा । पूर्वविधान = प्रणव से सम्पुटित हंसबीजत्व (ॐ हं ॐ) आदि रूप ॥ १३४ ॥

इसके बाद—

कुम्भक करे । फिर ध्रुव मन्त्र के द्वारा द्वादशान्त से उस शिष्य चैतन्य का रेचन करे । तत्पश्चात् सङ्ग्रह कर नाडीरन्ध्र से शिष्यदेह में पूर्व की भाँति स्थापित करे ॥ १३५ ॥

इसके बाद—

तत्स्थीकरण के लिये धाम के द्वारा तीन आहुतियाँ दे ॥ १३६- ॥

यहाँ पर 'शोधित चैतन्य को देवदत्त के हृदय में स्थापित कर रहा हूँ स्वाहा' —यह प्रयोग होगा ॥

इस प्रकार १. पाशच्छेद, २. उसका होम, ३. पूर्णा होम, ४. चैतन्य के ऐक्य की भावना, ५. उसका उद्धार होम, ६. पूरक के द्वारा हृदय में स्थित करना, ७. कुम्भन, ८. द्वादशान्त रेचन, ९. सङ्ग्रह, १०. शिष्यदेह में चैतन्य का

तदवशिष्टनिवृत्त्यर्थमाह—

कलाशुद्ध्यवसाने तु ब्रह्माणं (करणा)धिपमे[1] ॥ १३६ ॥
स्वनामप्रणवाह्वानपूजं संतर्प्य चार्पयेत् ।

'ॐ ब्रह्मन्नागच्छ' इति स्वनामप्रणवपूर्वमाह्वानं 'तुभ्यं नमः' इति च पूजा यस्येति बहुव्रीहिः । तत्सन्तर्पणं वह्नौ 'स्वाहा' इति प्रयोगात्, ततोऽपि चार्पणं पुर्यष्टकार्पणाय ॥ १३६ ॥

तदाह—

शब्दस्पर्शौ त्यजेत् तस्मिन्............

कथम्—

................ध्रुवाद्यौ नामसंयुतौ ॥ १३७ ॥
स्वाहाकारप्रयोगेन तौ ब्रह्मणि निवेदयेत् ।
तिसृभिस्तिसृभिर्होमात्..............

निवेश और ११. उसके लिये होम—इन ग्यारह अवान्तर संस्कारों से युक्त विश्लेष का सम्पादन कर उससे अवशिष्ट कार्य की निवृत्ति के लिये कहते हैं—

कलाशुद्धि के अन्त में करणाधिप (पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और मन के स्वामी) ब्रह्मा का प्रणव के साथ नाम लेकर आवाहन, पूजन, तर्पण कर (समस्त कार्य उन्हें) अर्पण करे ॥ -१३६-१३७- ॥

पहले प्रणव फिर उनके नाम का उच्चारण करे जैसे—'ॐ ब्रह्मन् आगच्छ तुभ्यं नमः' इस प्रकार पूजा करनी चाहिये । फिर अग्नि में उन ब्रह्मा का तर्पण 'ॐ ब्रह्मणे स्वाहा' इस प्रयोग से करे । उसके बाद पुर्यष्टक (= शिष्य के सूक्ष्म शरीर, (जो कि पञ्चतन्मात्र और मन बुद्धि (इन आठ) अहङ्कार से निर्मित है) के अंश) के अर्पण के लिये (अर्पण होता है) ॥ १३६ ॥

वह कहते हैं—

(उनमें से) शब्द और स्पर्श का उसमें (= अग्नि में) होम के द्वारा त्याग करना चाहिये ॥ -१३७- ॥

कैसे ?—

उनके (= शब्द-स्पर्श के) नाम के पहले ध्रुव (= ॐकार) जोड़ कर बाद में 'स्वाहा' का प्रयोग कर उन दोनो (= शब्द स्पर्श) को तीन-तीन आहुति के द्वारा ब्रह्मा के लिये निवेदित करे ॥ -१३७-१३८- ॥

---

१. 'करणाधिपम्' इति पाठान्तरम् ।

'ॐ ब्रह्मणे शब्दमर्पयामि स्वाहा' इति त्रिर्हुत्वा (ॐ ब्रह्मणे) स्पर्शमर्पयामि स्वाहा इति त्रिर्जुहुयात्, इति वीप्सातोऽवसेयम् ॥ १३७ ॥

एवं चेदमस्मै—

................पुर्यष्टांशं निवेदयेत् ॥ १३८ ॥

पुर्याः सूक्ष्मदेहस्यारम्भकमष्टकं तन्मात्रमनोऽहङ्कृद्बुद्धिरूपम्, तदंशार्पण-विभागेऽभिप्रायं पर्यन्ते स्फुटयिष्यामः ॥ १३८ ॥

किं च—

आमन्त्रणविभक्त्या तु श्रावणां तस्य कारयेत् ।

तस्येति ब्रह्मणः, श्रावणा शिवाज्ञा । यथोक्तं श्रीपूर्वे—

'भुवनेश त्वया नास्य साधकस्य शिवाज्ञया ।
प्रतिबन्धः प्रकर्तव्यो यातुः पदमनामयम् ॥' (मा०वि० ९।६५)

इति ॥

कृतश्रावणं च—

'ॐ ब्रह्मणे शब्दमर्पयामि स्वाहा' यह उच्चारण कर तीन आहुतियाँ, फिर, 'ॐ ब्रह्मणे स्पर्शमर्पयामि' यह उच्चारण कर तीन आहुतियाँ देनी चाहिये (इस प्रकार प्रत्येक तन्त्रमात्रा की आहुति) वीप्सा = तीन बार पुनरुक्ति से (निश्चित करनी चाहिये) ॥ १३७ ॥

इस प्रकार इसके (= ब्रह्मा के) लिये—

पुर्यष्टक का अंश निवेदित करे ॥ -१३८ ॥

पुरी = सूक्ष्मशरीर, का आरम्भ करने वाले आठ तत्त्व = पाँच तन्मात्रायें मन, अहङ्कार और बुद्धि । उनके अंश के अर्पण का अभिप्राय अन्त में स्पष्ट करेंगे ॥ १३८ ॥

तथा—

आमन्त्रण विभक्ति (= लिङ् विभक्ति) के द्वारा उनको श्रावणा करानी चाहिये ॥ १३८- ॥

उसको = ब्रह्मा को । श्रावणा = शिवाज्ञा । जैसा कि श्रीपूर्वशास्त्र में कहा गया—

'हे भुवनेश ! शिव की आज्ञा से अनामय पद को जाने वाले इस साधक का तुम्हारे द्वारा निषेध नहीं किया जाना चाहिये ।' (मा०वि०तं० ९।६५)

(ब्रह्मा को) ऐसा सुनाने के बाद—

ब्रह्माणं पूजयित्वा तु होमं कृत्वा विसर्जयेत् ॥ १३९ ॥

किं च—

ध्रुवेणाभ्यर्च्य वागीशीं संतर्प्य च विसर्जयेत् ।

विसर्जनं निजपरावागैकात्म्यविमर्शनम्, ध्रुवेण निष्कलेन ॥

तदित्थमध्वसंधानात् प्रभृति वागीश्या विसर्जनान्तम्—

हुत्वावलोकयेत्तत्र विशुद्धं पाशजालकम् ॥ १४० ॥

हुत्वेति—अध्वसंधानम्, अध्वोपस्थानम्, वागीशीगर्भयोजनम्, तद्गर्भनिष्पत्ति-र्जननमधिकारः, भोगः, लयः, निष्कृतिः, विश्लेषः, पाशच्छेदहोमः, पाशहोमः पूर्णाहोमः, उद्धारहोमः, तत्स्थीकरणम्, ब्रह्मतर्पणम्, पुर्यष्टकांशार्पणहोमः, पुन-र्ब्रह्महोमः, वागीशीहोमः, इत्येकोनविंशतिहोमानुक्तान् कृत्वा, तत्रेति विशुद्धायां निवृत्तिकलायाम्, एवमुत्तरत्रापि संस्कारसङ्कलना होमकलना च स्मर्तव्या ॥ १४० ॥

अत्र च पाशशुद्ध्यवलोकनावसरे—

(आचार्य) ब्रह्मा की पूजा करे फिर होम कर उनका विसर्जन कर देना चाहिए ॥ -१३९ ॥

और—

ध्रुव मन्त्र (= ॐकार) के द्वारा वागीश्वरी का तर्पण कर उनका विसर्जन करे ॥ १४०- ॥

विसर्जन = अपने का परावाक् के साथ तादात्म्य समझना । ध्रुव = निष्कल (= ॐ) ॥

इस प्रकार अध्वसन्धान से लेकर वागीशी के विसर्जन तक—

हवन कर वहाँ पाशजाल का अवलोकन करे ॥ -१४० ॥

हवन कर—१. अध्वसन्धान, २. अध्वा का उपस्थापन, ३. शिष्य पुर्यष्टक को वागीशी (= शुद्धविद्या) के गर्भ से जोड़ना, ४-५-६. उस गर्भ की निष्पत्ति की जनन और अधिकार, ७. भोग, ८. लय, ९. निष्कृति, १०. विश्लेष, ११. पाशच्छेद होम, १२. पाशहोम, १३. पूर्णा होम, १४. उद्धारहोम, १५. तत्स्थीकरण, १६. ब्रह्मतर्पण, १७. पुर्यष्टांशकार्पण होम, १८. ब्रह्महोम, १९. वागीशीहोम, इन उन्नीस उक्त होमों का सम्पादन कर । वहाँ = विशुद्ध निवृत्तिकला में (अवलोकन करना चाहिये) । इसी प्रकार आगे भी संस्कार की कल्पना एवं होम की कल्पना ध्यान में रखनी चाहिये ॥ १४० ॥

इस पाशशुद्धि के अवलोकन के अवसर पर—

प्राक्कर्मभाविकस्याथ अभावं भावयेत्तदा ।
मुमुक्षोर्निरपेक्षत्वात्..........

भाव्येव भाविकमर्थात् कर्म, प्राक्कर्म च भाविकं चेति समाहारः । निरपेक्षत्वात् साधकवत् फलौन्मुख्याभावात् । कैश्चित्तु प्राक्कर्मणा भवतीति प्राक्कर्मभवस्तत्र भवति यत्फलमिति योजनया प्राक्कर्मभविकस्येति व्याख्यातम्, तदसत्, क्लिष्टं चेत्युपेक्ष्यम् ॥

फलदानोन्मुखस्य वर्तमानस्य का गतिरित्याह—

..........प्रारब्धेकं न शोधयेत् ॥ १४१ ॥

तस्य भोगेनैवातिवाहनादित्यर्थः ॥ १४१ ॥

मुमुक्षोः कर्मशुद्धिवृत्तान्तमुक्त्वा साधकस्य तमाह—

साधकस्य तु भूत्यर्थं..............

भूतिप्रयोजनं भाविमन्त्राराधनरूपं यत्तदपि न शोधयेदित्यर्थः ।

केवलम्—

मुमुक्षु के पूर्व एवं भावी कर्म के अभाव की भावना करनी चाहिये । क्योंकि उनकी अपेक्षा नहीं रहती ॥ १४१- ॥

भावी ही भाविक (= भविष्य में होने वाला) कर्म है । यहाँ 'प्राक्कर्मभाविकम्' में समाहारद्वन्द्वसमास है । निरपेक्ष होने के कारण = जिस प्रकार साधक फलोन्मुख होता है उस प्रकार यह मुमुक्षु फलोन्मुख नहीं होता, इस कारण । कुछ लोग प्राक्कर्मभाविकस्य की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—प्राक् कर्मणा भवति (= जो पूर्व कर्म के द्वारा होता है वह) प्राक्कर्मभव, और उसमें जो फल होता है वह प्राक्कर्मभाविक है । यह व्याख्या समीचीन नहीं है और क्लिष्ट भी है । इसलिये इसकी उपेक्षा करनी चाहिये ॥

फलदानोन्मुख कर्म की क्या गति है ?—यह बतलाते हैं—

प्रारब्ध कर्मों का शोधन नहीं करना चाहिये ॥ -१४१ ॥

क्योंकि उसका समापन केवल भोग से होता है ॥ १४१ ॥

मुमुक्षु के कर्मशुद्धिवृत्तान्त को बतला कर साधक के उस वृत्तान्त को कहते हैं—

साधक की भूति (= सुखात्मक भोग) हेतु (शोधन न करे) ॥१४२-॥

भूतिप्रयोजन वाले भावीमन्त्राराधन रूप जो कर्म उनका भी शोधन नहीं करना चाहिये ।

...............प्राक्मैकं तु शोधयेत् ।

भूत्यर्थाद्यत् प्राग्देहारम्भि शुभाशुभं तत एकमशुभमेवास्य शोधयेत्, एवं हि निर्विघ्नं भोगसिद्धिर्भवति ॥ १४१ ॥

यत्तु जन्मान्तरसंचितं शुभाशुभं यच्चास्मिन् जन्मनि करिष्यति, तत्सर्वमुक्तनीत्या मन्त्राराधनवर्जमस्य पुत्रकवच्छोध्यमेवेत्याह—

प्राक्कर्मागामि चैकस्थं भावयित्वा च दीक्षयेत् ॥ १४२ ॥

साधकमिति शेषः । एकस्थमिति एकप्रघट्टकतया भावितम् ॥

इत्थं च—

शिवधर्मिण्यसौ दीक्षा................

साधके इति शेषः ॥

.............लोकधर्मिण्यतोऽन्यथा ।

कीदृगित्याह—

प्राक्तनागामिकस्यापि अधर्मक्षयकारिणी ॥ १४३ ॥

केवल—

उसके एक मात्र प्रारब्ध कर्म का शोधन करना चाहिये ॥ -१४२- ॥

देह का आरम्भ करने वाले जो पूर्वजन्मकृत शुभाशुभ कर्म हैं उनमे से एक अर्थात् अशुभ कर्म का ही शोधन करना चाहिये । ऐसा करने पर भोग की सिद्धि निर्विघ्न होती है ॥ १४१ ॥

जो जन्मान्तर में संचित शुभाशुभ कर्म हैं और जो इस जन्म में किये जायेंगे उन सबका उक्त नीति के अनुसार पुत्रक के समान शोधन करना चाहिये केवल मन्त्राराधन कर्म का शोधन नहीं करना चाहिये—यह कहते हैं—

प्राक्कर्मों और भावी कर्मों को एकत्र स्थित समझ कर साधक की दीक्षा करनी चाहिये ॥ -१४२ ॥

'साधक' एकस्थ = एक प्रघट्ट (= समूह) के रूप में भावित ॥

इस प्रकार—

यह दीक्षा शिवधर्मीसाधक के विषय में है । लोकधर्मी के विषय में इससे भिन्न (दीक्षा होनी है) ॥ १४३- ॥

कैसी होती है ?—यह कहते हैं—

यह प्राक्तन अर्थात् पूर्वजन्मकृत और आगामी (= इस जन्म में भविष्य

लोकधर्मिण्यसौ ज्ञेया मन्त्राराधनवर्जिता ।

'इष्टापूर्तविधौ रतः । कर्मकृत् फलमाकाङ्क्षन्' (४।८५)

इति लोकधर्मी प्रागेव निर्णीतः । अधर्मक्षयकारिणीति सापेक्षः समासः । मन्त्राराधनेन पिण्डसिद्धिहेतुना मन्त्रत्वादिप्राप्तिहेतुना च सर्वेणैव विवर्जिता विशेषाचोदनात् । श्रीमृगेन्द्रायां च वर्तमानसिद्धिहेतोर्मन्त्राराधनस्य शिवधर्मिण्येव प्रतिपादितत्वात् । तथा च तत्रोक्तम्—

'शिवधर्मिण्यणोर्मूलं शिवधर्मफलश्रियः ।
हितेतरा विना भङ्गं तनोराविलयाद्भुवाम् ॥' (क्रि० ८।६) इति ।

अस्यायमर्थः—शिवधर्मिणी या दीक्षा साणोः शिवधर्मफलश्रियो मूलं मन्त्रमन्त्रेशत्वादिप्राप्त्यात्मकपारमेशफलसंपदो हेतुरेका, इतरा तु शिवधर्मिण्येव भुवां भोगभूमीनामाविलयात् प्रलयकालं यावत् तनोः शरीरस्य भङ्गं विना हिता यथाभीष्टखड्गपाताललोचनाञ्जनपादुकादिसिद्धिसंपादिकेति । न चेतरेति लोकधर्मिणी व्याकर्तव्या—

में होने वाले) अधर्म का क्षय करने वाली होती है । लोकधर्मी के विषय में दी गयी इस दीक्षा को मन्त्राराधन से रहित समझे ॥ -१४३-१४४- ॥

'इष्ट और पूर्त विधि में संलग्न यह कर्मकारी फल का इच्छुक होने पर' (४।८५)

इन शब्दों के द्वारा लोकधर्मी का परिचय पहले ही कराया जा चुका है । 'अधर्मक्षयकारिणी' यहाँ सापेक्ष समास है (अर्थात् इसका 'सम्बन्ध प्राक्तनगामिकस्य' से है । यह दीक्षा पिण्ड की सिद्धि के हेतुभूत या मन्त्रत्व आदि की प्राप्ति के हेतुभूत मन्त्राराधना से रहित होती है क्योंकि विशेष का कथन कहीं नहीं किया गया है और श्रीमृगेन्द्रागम में वर्तमानसिद्धि के हेतुभूत मन्त्राराधन का प्रतिपादन शिवधर्मी के ही विषय में किया गया है (लोकधर्मी के विषय में नहीं) । जैसा कि वहाँ कहा गया—

'जो शिवधर्मिणी दीक्षा है वह अणु अर्थात् जीव के शिवधर्म रूपी फलश्री का मूल है । एक दूसरी दीक्षा (लोकधर्मिणी) है जो पृथिवी अर्थात् भोगभूमियों के विलय तक शरीर के नाश के बिना भी हितकारिणी है ।' (मृ०क्रि० ८।६)

इस उपर्युक्त श्लोक का अर्थ यह है—

जो शिवधर्मिणी दीक्षा है वह अणु के शिवधर्मरूपी फलश्री का मूल है अर्थात् मन्त्रत्व मन्त्रेश्वरत्व आदि की प्राप्ति रूप पारमेश्वर फल की सम्पत्ति का कारण है और दूसरी शिवधर्मी में ही पृथिवी अर्थात् भोग भूमियों के विलय = प्रलय पर्यन्त, तनु = शरीर के नाश के बिना हितसाधिका है । यथा—अभीष्ट खड्गपातसिद्धि (= खड्ग से मारने पर फिर खड्ग का वापस आना) पातालसिद्धि (= पाताल में प्रवेश)

'भोगभूमिषु सर्वासु दुष्कृतांशे हते सति ।
देहान्तराणिमाद्यर्थं शिष्टेष्टा लोकधर्मिणी ॥' (क्रि० ८।७)

इति तत्रैव पृथक्त्वस्यानिर्णीतत्वात् । न च मन्त्राराधनं विना साधकत्वं न भवतीति भ्रमितव्यम्, इष्टापूर्तफलसाधनेनापि तस्य लाभादित्यलम् ॥ १४४ ॥

एवं लोकधर्मिदीक्षावसात्—

प्रारब्धदेहभेदे तु भुङ्क्ते स ह्यणिमादिकान् ॥ १४४ ॥

भोगान्—

दीक्षावशादस्य शुभकर्माणिमादिपर्यवसायीत्यर्थः ॥

अथ—

भुक्त्वा व्रजेदूर्ध्वं गुरुणा यत्र योजितः ।
सकले निष्कले वापि.............

'यो यत्राभिलषेद् भोगान् ।'

लोचनाञ्जनसिद्धि (= आँखों में सिद्ध अञ्जन लगाने पर अदृश्य का दर्शन होना) पादुकासिद्धि । (= खड़ाऊं पहन कर नदी पार करना । तैलङ्ग स्वामी खड़ाऊं पहन कर गङ्गा पार शौचादि के लिये जाया करते थे) आदि (= आकाशगमन, अदृश्यकरण, गुटिकासिद्धि अर्थात् गोली मुख में रखने से अदृश्य हो जाना) सम्पादिका है । दूसरी अर्थात् लोकधर्मिणी ऐसी नहीं है—

'लोकधर्मिणी दीक्षा समस्त भोगभूमियों में दुष्कृतांश के नष्ट होने पर देहान्तर एवं अणिमा आदि की प्राप्ति के लिये कही गयी है ।'

इस प्रकार वहीं पृथक्त्व का निर्णय किया गया है । मन्त्राराधन के बिना साधकत्व नहीं होता ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये क्योंकि इष्टापूर्त्त फलसाधन के द्वारा भी उसका (= साधकत्व का) लाभ हो जाता है ॥ १४४ ॥

इस प्रकार लोकधर्मी दीक्षा के कारण—

वर्त्तमान शरीर नष्ट होने पर भी वह (दीक्षित व्यक्ति) अणिमा आदि सिद्धियों का भोग करता है ॥ -१४४ ॥

दीक्षा के कारण इसका शुभ कर्म अणिमा आदि फल देता है ॥

इसके बाद—

(अणिमा आदि का) भोग करने के बाद (शिष्य) गुरु के द्वारा जहाँ नियोजित होता है उस सकल अथवा निष्कल ऊर्ध्व लोक में गमन करता है ॥ १४५- ॥

इत्युक्तनीत्या सकले तत्र तत्र भुवनेश्वरे सायुज्याद्यर्थं शुभकर्मभोगान्ते मुमुक्षुर्वा निष्कले शिवे योजितस्तदेव पदं गच्छेत् । यथोक्तं श्रीमृगेन्द्रायाम्—

'लोकधर्मिणमारोप्य मते भुवनभर्तरि ।
तद्धर्मापादनं कुर्याच्छिवे वा मुक्तिकाङ्क्षिणम् ॥' (क्रि० ८।१४८)

इति ॥

एतच्चोर्ध्वव्रजनं योजनं च यथाक्रमम्—

.........शिष्याचार्यवशाद् भवेत् ॥ १४५ ॥

शिष्यस्य गुरोश्चाभिसंधिवशाज्जायत इत्यर्थः । उक्तं च तत्रागेव—

'फलमाकाङ्क्षसे यादृक् तादृग्यजनमारभे ।' (४।८१) इत्यादि ॥

एवं द्विधा भोगदीक्षां निर्णीय मोक्षदीक्षां सबीजां निर्बीजां सद्योनिर्वाणदां च क्रमेण निर्णेतुमाह—

निर्वाणेऽपि सबीजायां कर्माभावाद्विपद्यते ।

निर्वाणनिमित्तं या सबीजा पूर्वं निर्णीता दीक्षा तस्याः ।

'जो साधक जिस लोक में भोगों की इच्छा करता है ।'

इस उक्त नीति से सकल में = भिन्न-भिन्न भुवनेश्वर में सायुज्य के लिये अथवा शुभ कर्मों के भोग के बाद मुमुक्षु होता हुआ निष्कल शिव में योजित होता है, उस पद को प्राप्त करता है । जैसा कि श्रीमृगेन्द्रागम में कहा गया—

'यथेप्सित भुवनेश्वर के साथ लोकधर्मी (= भोगेच्छु) को संयुक्त कर उसके धर्म का आपादन (= प्राप्ति) करना चाहिये । जो मोक्षेच्छु हैं उनका शिव के साथ संयोजन करना चाहिये ।' (मृ०क्रि० ८।१४८)

यह ऊर्ध्वगमन और योजन क्रमशः—

शिष्य और आचार्य के वश (= परस्पर सहमति के आधार) पर किया जाता है ॥ -१४५ ॥

शिष्य और गुरु की अभिसन्धि (= परस्पर सांमनस्य) के अनुसार होता है । यह पहले ही कहा गया—

(आचार्य शिष्य से कहता है कि) 'तुम जैसा फल चाहते हो वैसा ही याग मैं आरम्भ करूँगा' इत्यादि ॥ १४५ ॥

(शिवधर्मी और लोकधर्मी) इन दो प्रकार की भोगदीक्षा को बतला कर सबीज निर्बीज मोक्षदीक्षा और सद्योनिर्वाणदायिनी दीक्षा को क्रम से बतलाते हैं—

सबीजदीक्षा में निर्वाण होने पर भी कर्म का अभाव होने के कारण साधक विपत्ति में पड़ जाता है ॥ १४६- ॥

विशेषसमयाचारा मन्त्राख्ये ये प्रकीर्तिताः ।
तेऽत्र पाल्याः प्रयत्नेन .... ॥' (४।९०)

इति पूर्वोक्तं यत्कर्म, तस्याभावादननुष्ठानाद्विपद्यते कंचित्कालं शिवमय्याः स्वसत्तातो भ्रंशित्वा क्रव्यादत्वमेतित्यर्थः ॥ १४६ ॥

यत एवमतः—

समयाचारपाशं हि दीक्षितः पालयेत्तु यः ॥ १४६ ॥
तं पाशं नैव शुध्येत.............

दीक्षितः समयाचारपाशं पालयेत् यस्मात्तस्मात्तस्य निर्बीजदीक्षितस्येव न शोधयेत् ॥

दीक्षा चैषा—

..............सा सबीजा प्रकीर्तिता ।
समयाचारपाशं तु निर्बीजायां विशोधयेत् ॥ १४७ ॥

तच्छुद्धिविधिरग्रे तु भविष्यति ॥ १४७ ॥

अस्य च निर्बीजदीक्षादीक्षितस्य—

दीक्षामात्रेण मुक्तिः स्याद्भक्तिमात्राद् गुरोः सदा।

निर्वाण के लिये जो पूर्ववर्णित सबीज दीक्षा है उसका जो कर्म है और जिसका वर्णन 'विशेषसमयाचारा........' (४।९०) में किया गया है, उसका अभाव = अनुष्ठान न करने से साधक विपत्ति में पड़ जाता है अर्थात् कुछ काल के लिये अपनी शिवमयी सत्ता से च्युत होकर क्रव्याद (= मांसभक्षी) हो जाता है ॥ १४६ ॥

चूँकि ऐसा है, इसलिये—

जो दीक्षित मनुष्य समयाचार पाश जो कि पाशस्वरूप हैं, का पालन करता है उस पाश को (आचार्य) शुद्ध न करे ॥ -१४६-१४७- ॥

चूँकि दीक्षित व्यक्ति को समयाचार का पालन करना चाहिये । इसलिये आचार्य को निबीज दीक्षित के समान इसके पाशों का शोधन नहीं करना चाहिये ॥ १४६ ॥

यह दीक्षा—

सबीज दीक्षा कही गयी है । निर्बीज दीक्षा में समयाचार पाश का भी शोधन करना चाहिये ॥ -१४७ ॥

इस पाशशोधन की विधि आगे बतलायी जायेगी ॥ १४७ ॥

निर्बीज दीक्षा में दीक्षित (इस साधक) की—

गुरुभक्तिमात्रमेवास्य समय इत्यर्थः ॥ १४८ ॥

अस्या भेदान्तरमाह—

सद्योनिर्वाणदा दीक्षा निर्बीजा सा द्वितीयिका॥ १४८ ॥
अतीतानागतारब्धपाशत्रयवियोजिका ।
दीक्षावसाने शुद्धिः स्याद् देहत्यागे परं पदम्॥ १४९ ॥

सद्य इति दीप्ततममन्त्रदीक्षावियोजितदेहकलावस्थितिसमनन्तरमेव । अत एवारब्धकार्यस्यापि पाशत्रयस्य वियोजिका, देहत्यागे देहत्यागसमये दीक्षाया यदवसानं निष्पत्तिस्तत्रेत्यर्थः । एवं चारिष्टलक्षणादिभिर्निश्चितासन्नमरणस्यैवेयं कार्येति तात्पर्यम् । यदुक्तं श्रीमद्गुह्वरे—

'दृष्ट्वा शिष्यं जराग्रस्तं व्याधिना परिपीडितम् ।
उत्क्रमय्य ततस्त्वेनं परतत्त्वे नियोजयेत् ॥' इति ॥ १४९ ॥

प्रासङ्गिकं दीक्षाविवेकमुपसंहरति—

एवं भावानुसारेण शिष्याणां गुरुणा सदा ।

गुरु की सदा भक्तिमात्र के कारण केवल दीक्षा से ही मुक्ति हो जाती है ॥ १४८- ॥

इस दीक्षित का समयाचार केवल गुरुभक्ति ही है ॥ १४८ ॥

इस निर्बीज दीक्षा का दूसरा भेद बतलाते हैं—

सद्योनिर्वाणदा दीक्षा दूसरे प्रकार की निर्बीज दीक्षा है । यह अतीत अनागत और प्रारब्ध सभी पाशों (= कर्मों) की शोधन करने वाली होती है । इस दीक्षा के बाद दीक्षित की सर्वविध शुद्धि हो जाती है और देह का अन्त होने पर साधक परमपद को प्राप्त करता है ॥ -१४८-१४९ ॥

सद्यः (= उसी दिन या उसी समय) = दीप्ततम मन्त्र की दी गयी दीक्षा के द्वारा वियोजित देहकला की अवस्थिति के बाद ही । इसीलिये यह दीक्षाप्रारब्ध कार्य वाले पाशत्रय (= आणव मायीय और कार्म) की भी वियोजिका होती है । देहत्याग होने पर = देहत्याग के समय, दीक्षा का जो अवसान = निष्पत्ति (= पूर्ण अनुष्ठान, उस समय शुद्धि हो जाती है) । इस प्रकार अरिष्ट लक्षण आदि के द्वारा जिसकी मृत्यु निश्चित रूप से आसन्न हो गयी हो उसी की यह (= सद्योनिर्वाणदा निर्बीजदीक्षा) करनी चाहिये । जैसा कि श्रीमद्गुह्वर शास्त्र में कहा गया है—

'शिष्य को जराग्रस्त और व्याधि से परिपीड़ित देख कर गुरु (इस दीक्ष्य शिष्य के जीव का) उत्क्रमण करा कर उसे परतत्त्व से संयुक्त कर दे' ॥ १४९ ॥

प्रसङ्गप्राप्त दीक्षाविवेक का उपसंहार करते हैं—

फलं तु विविधाकारं निष्पाद्येत सुदीक्षया ॥ १५० ॥

यस्मात्—

अचिन्त्या मन्त्रशक्तिर्वै परमेशमुखोद्भवा ।

परमेशस्य मुखं पराशक्तिस्तदुद्भवत्वादेवाचिन्त्या । शक्तिशब्देन वीर्यसारतां मन्त्राणामाह ॥ १५१ ॥

सा च—

क्रियाकाले प्रयोक्तव्या गुरुणा भक्तिपूर्विका ॥ १५१ ॥

क्रिया दीक्षादिका, भक्तिर्मन्त्रस्वरूपामर्शनक्रमेण तद्वीर्यानुप्रवेशमयी सैव ॥

अचिन्त्येत्यादिनेदमाह—

विषाणामिव पाशानां मन्त्रैः कवलनं ध्रुवम् ।
करोति मन्त्रतत्त्वज्ञः शिवावेशी गुरुः क्षणात् ॥ १५२ ॥

'पाशाश्च पौरुषाः शोध्या दीक्षायां न तु धीगताः ।
तेन तस्यां दोषवत्यामपि दीक्षा न निष्फला ॥

इस प्रकार गुरु शिष्यों की भावना के अनुसार सम्यक् दीक्षा के द्वारा उनके अनेक प्रकार के फलों का निष्पादन करे ॥ १५० ॥

क्योंकि—

परमेश्वर के मुख से उत्पन्न मन्त्रशक्ति निश्चित रूप से अचिन्त्य (= कल्पनातीत प्रभाव वाली) है ॥ १५१- ॥

परमेश्वर का मुख अर्थात् पराशक्ति, उस शक्ति से उत्पन्न होने के कारण मन्त्र की शक्ति अचिन्त्य है अर्थात् कल्पना से परे है । उक्त श्लोक में प्रयुक्त शक्ति शब्द के द्वारा परमेश्वर मन्त्रों की वीर्य सम्पन्नता को बतलाते हैं ॥ १५१ ॥

और वह—

वह क्रिया उचित समय पर उपस्थित होने से गुरु के द्वारा भक्तिपूर्वक प्रयोग में ले आनी चाहिये ॥ -१५१ ॥

क्रिया = दीक्षा आदि रूपा भक्ति = मन्त्र के स्वरूप का आमर्शन (= ध्यान चिन्तन) करते हुए उस मन्त्र की वीर्यवत्ता में अनुप्रवेश वाली ॥

'अचिन्त्या' इत्यादि के द्वारा यह बतलाते हैं-

मन्त्र के तत्त्व को जानने वाला शिवावेशमय गुरु विष के समान पाशों का एक क्षण में मन्त्रों के द्वारा निश्चित रूप से कवलन (= निगरण) कर लेता है ॥ १५२ ॥

सुतीव्रशक्तिपाताश्च दोषबीजविनाकृताः ।
अपि भान्ति तुलादीक्षाघटशुद्धिवदीक्ष्यते ॥
पापस्य गुरुता नो चेद्धटशुद्धौ ब्रवीषि किम् ।
तन्मन्त्रशक्त्या दीक्षाणां चित्रत्वं नासमञ्जसम् ॥
लिप्यक्षरे कृते यद्वताडनादि नृणां भवेत् ।
मन्त्रशक्त्या तथा सूत्रे पाशानां छेदनं स्फुटम् ॥'

इत्यास्तां तावदेतदग्रे वितत्य निर्णेष्यामः ॥ १५२ ॥

अथ प्रासङ्गिकं प्रमेयं निर्णीय प्रकृतमनुबध्नन्नाह—

कलासंधानकं कुर्याच्छुद्धाशुद्धद्विरूपगम् ।

शुद्धनिवृत्तिकलासंधानकं कुर्याच्छुद्धमशुद्धप्रतिष्ठाकलायोगाच्चाशुद्धमत एव द्विरूपगम् ॥ १५२ ॥

अत्र च—

शुद्धमुच्चारयेद्ध्रस्वमशुद्धं दीर्घमेव च ॥ १५३ ॥

'(पाश = अज्ञान दो प्रकार के होते हैं—बौद्ध और पौरुष । इनमें से) दीक्षा के द्वारा पौरुष पाश का ही शोधन करना चाहिये न कि बौद्ध पाश का । इसलिये इस (= बुद्धि) के दोषयुक्त (= अज्ञानमयी) होने पर भी दीक्षा निष्फल नहीं होती । दोषरूपी बीज के अभाव में भी यदि तीव्र-तीव्र शक्तिपात किये गये तो भी वे प्रकाशित होते हैं । तुला दीक्षा में घट (= शरीर की) शुद्धि के समान मानी जाती है । यदि पाप गम्भीर नहीं है तो फिर घटशुद्धि में शरीर का हलकापन कैसे होता है । इसलिये मन्त्रशक्ति के द्वारा दीक्षाओं की विचित्रता अनुचित नहीं है । जिस प्रकार लिपि के अक्षर बनाने पर मनुष्य का नाम लिपि में लिख कर ताड़न से मन्त्र के द्वारा (उस नाम वाले) मनुष्यों का ताडन आदि हो जाता है । उसी प्रकार मन्त्रशक्ति के द्वारा पाशों का स्पष्ट छेदन हो जाता है ।'

इतना पर्याप्त है । आगे इसका विस्तृत वर्णन करेंगे ॥ १५२ ॥

प्रसङ्गप्राप्त प्रमेय का निर्णय कर अब प्रस्तुत को बतलाते हैं—

इसके बाद शुद्ध अशुद्ध दो रूपों वाला कलासन्धान करे ॥ १५३- ॥

शुद्ध निवृत्तिकला का सन्धान करना चाहिये । शुद्ध (निवृत्तिकला का सन्धान भी) प्रतिष्ठाकला के योग से अशुद्ध हो जाता है । इस प्रकार वह दो रूपों वाला है ॥ १५२ ॥

और यहाँ—

यहाँ शुद्ध का उच्चारण ह्रस्व (= मन्द स्वर से) तथा अशुद्ध का

एकत्वं भावयित्वा तु लीनं शुद्धं विभावयेत् ।

इह भगवान् निष्कलभट्टारको निःशेषपाशशोधकोऽङ्गब्रह्ममन्त्रैकादशिका तु शोध्या, तथापि च शुद्धाशुद्धकलावाचित्वान्निष्कलनाथः शुद्धतयाशुद्धतयापि च व्यवह्रियते, तं च शुद्धनिवृत्तिवाचित्वाच्छुद्धम्, ह्रस्वमिति प्रशान्ताशेषप्रसरं परबिन्दुव्याप्तिसतत्त्वमुच्चारयेत्, अशुद्धप्रतिष्ठावाचकत्वाच्चाशुद्धम् दीर्घमिति प्रसरोन्मुखं नादव्याप्तिसतत्त्वम्, एकत्वं सामरस्यं भावयित्वोच्चारयेत् । अत्र च शुद्धं लीनमिति प्रतिष्ठां बोधयितुं तद्वाचिमूलमन्त्रेण सहैकीभूतं विभावयेत् ॥ १५४ ॥

अथ प्रतिष्ठाकलाशुद्धिः

न चात्र ह्रस्वदीर्घमात्रमुच्चार्यमपि तु—

प्रणवादिनिवृत्तिस्तु प्रतिष्ठा तदनन्तरम् ॥ १५४ ॥
नमस्कारस्तदन्ते तु कलासन्धानकं स्मृतम् ।

उच्चारण दीर्घस्वर से करना चाहिए । दोनों को एक मान कर अशुद्ध को शुद्ध में लीन कर तत्पश्चात् दोनों की शुद्धरूप में भावना करनी चाहिये ॥ -१५३-१५४- ॥

यद्यपि यहाँ भगवान् निष्कल भट्टारक समस्त पाशों के शोधक हैं और उनके षट् अङ्ग मन्त्र[1] और पाँच ब्रह्म मन्त्र[2] इस प्रकार ग्यारह मन्त्रों समूह शोध्य हैं । तथापि शुद्ध-अशुद्ध कला का वाचक होने से निष्कलनाथ शुद्ध और अशुद्ध दोनों रूपों में व्यवहृत होते हैं । शुद्ध निवृत्तिकला का वाचक होने से उनका रूप शुद्ध है । उनका ह्रस्व अर्थात् समस्त प्रसार से रहित परबिन्दु व्याप्ति वाला उच्चारण करना चाहिये । वह भगवान् अशुद्ध प्रतिष्ठाकला का वाचक होने से अशुद्ध हैं । उनका दीर्घ अर्थात् प्रसरोन्मुख नादव्याप्ति वाला उच्चारण करना चाहिये । वे एक = समरस हैं ऐसी भावना कर उच्चारण करना चाहिये । उपर्युक्त श्लोक में 'शुद्ध' 'लीनं' इन पदों से प्रतिष्ठा कला को बतलाने के लिये उनके वाचक मूलमन्त्र के साथ उन्हें एक समझ कर भावना करनी चाहिये ॥ १५४ ॥

(निवृत्ति कला की शुद्धि को बतलाने के बाद) अब प्रतिष्ठा कला की शुद्धि बतलाते हैं—

यहाँ केवल ह्रस्वदीर्घ का उच्चारण नहीं करना चाहिये अपि तु—

पहले प्रणव फिर निवृत्ति पद उसके बाद प्रतिष्ठा पद उसके बाद नमस्कार का उच्चारण करना चाहिये । (यह प्रक्रिया) कलासन्धानक

---

१. हृदयाय नमः शिरसे स्वाहा इत्यादि ।

२. ईशान तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव, अघोर के पाँच मन्त्र—ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि, ...इत्यादि ।

प्रणवं ह्रस्वं निष्कलं निवृत्तिवाचिनं हृन्मन्त्रं चोच्चार्य तदन्ते निवृत्तये इति पदं ततोऽपि प्रणवं दीर्घं निष्कलं प्रतिष्ठावाचिनं च शिरोमन्त्रमुच्चार्य 'प्रतिष्ठायै नम' इत्यत्र प्रयोगः । होमे तु स्वाहान्तः ॥ १५५ ॥

इत्थं च—

आवाह्य स्थाप्य सम्पूज्याहुतीस्तिस्त्रः प्रपातयेत् ॥ १५५ ॥
कलासंधानमेद्धि................

कलानां पृथ्व्यादिधारणाध्यानं कार्यमिति केचिद्वदन्ति ।

अथ—

.........व्याप्तिं तस्या (वि)लोकयेत् ।

तस्याः प्रतिष्ठायाः ॥

तत्र—

गुल्फादारभ्य नाभ्यन्तं शिष्यदेहेऽध्वकल्पनम् ॥ १५६ ॥
प्रतिष्ठाया भवेद् व्याप्तिश्चतुर्विंशतितत्त्विका ।

(= प्रतिष्ठा कला की शुद्धि करने वाली) कही गयी है ॥ -१५४-१५५-॥

पहले प्रणव ह्रस्व निष्कल (= अ) और निवृत्तिवाचक हृन्मन्त्र (= ॐ) का उच्चारण कर उसके अन्त में 'निवृत्तये' पद, इसके बाद प्रणव = दीर्घ निष्कल और प्रतिष्ठावाची शिरोमन्त्र (= नमः) का उच्चारण करे । इस प्रकार यहाँ प्रयोग होगा—अं ॐ निवृत्तये नमः आं ॐ प्रतिष्ठायै नमः । हवन करते समय 'नमः' की जगह 'स्वाहा' का प्रयोग करना चाहिये ॥ १५५ ॥

इस प्रकार—

प्रतिष्ठाकला का आवाहन स्थापन पूजन कर तीन आहुतियाँ देनी चाहिये । यह कलासन्धान कहा गया है ॥ -१५५-१५६- ॥

कुछ लोग 'कलासन्धानम्' का अर्थ-'कलाओं' का पृथिवी आदि के रूप में धारणा ध्यान करना—करते हैं ।

इसके बाद—

उस प्रतिष्ठा कला की व्याप्ति का अवलोकन करे ॥ -१५६- ॥

तस्याः = उस प्रतिष्ठा कला की ॥

इस (अवलोकनक्रिया) में—

शिष्य के शरीर में गुल्फ से लेकर नाभिपर्यन्त अध्वा की कल्पना

षट्पञ्चाशद्भुवनिका त्रयोविंशतिवर्णिका ॥ १५७ ॥
ज्ञेयैकविंशतिपदा त्रिमन्त्रा च विधीयते ।

अबादीनि गुणतत्त्वेन सह प्रधानान्तानि चतुर्विंशतिस्तत्त्वानि यस्याम्, तथा गुह्यातिगुह्यपवित्रस्थाणुस्थूलदेवयोनियोगाख्यानि सप्ताष्टकरूपाणि भुवनाध्वनि वक्ष्यमाणानि षट्पञ्चाशद्भुवनेश्वराधिष्ठितानि, तावन्त्येवान्तर्भूतभुवनान्तराणि प्रधानानि भुवनानि यस्याम्, हकारात् टकारान्तानि त्रयोविंशतिवर्णानि यस्याम् । एकविंशतीति पूर्वं कलातत्त्वास्पदवारुणदिग्गतपदनवकादीशकोणस्थ ऊकारो यावदुपयुक्तः, इति प्रातिलोम्येन तदन्तरस्थाद्यकारादारभ्य लकारान्तमष्टकम्, तथा मायातत्त्वाश्रयनैर्ऋतदिक्स्थकोष्ठनवकगतमूकारादिमकारान्तं नवकम्, विद्यातत्त्वाधिष्ठितदक्षदिग्गतकोष्ठनवकमध्यादूकारादिलकारान्तं चतुष्टयं चेत्येकविंशतिपदानि यस्याम् । त्रय वामदेवः, शिरः, शिखा च मन्त्रा यस्याम्, न तु हृदयं, हृन्मन्त्रस्य निवृत्त्यन्तर्भावात् ॥ १५७ ॥

इत्थं च षडध्वात्मानः—

करनी होती है । प्रतिष्ठा कला की व्याप्ति चौबीस तत्त्वों वाली होती है । उसमें छप्पन भुवनों, तेइस वर्णों, इक्कीस पदों और तीन मन्त्रों का विधान किया जाता है ॥ -१५६-१५८- ॥

('चतुर्विंशतितत्त्विका' पद का समासविग्रह बतलाते हैं—) गुणतत्त्व के साथ जल से लेकर प्रकृतिपर्यन्त २४ तत्त्व होते हैं । (= जल तेज वायु आकाश ४+५ तन्मात्रायें+५ कर्मेन्द्रिय + ५ ज्ञानेन्द्रिय + मन + अहङ्कार + बुद्धि + ३ गुणों के साथ प्रकृति) तथा गुह्याष्टक, अतिगुह्याष्टक, पवित्राष्टक, स्थाण्वष्टक, स्थूलाष्टक, देवयोन्यष्टक, योगाष्टक, ये सात अष्टक भुवनाध्वा में हैं । ये ५६ भुवन ५६ भुवनेश्वरों से अधिष्ठित है । उतने ही भुवन उक्त प्रधान भुवनों के अन्दर हैं । ये ५६ भुवन शोधनीय होते हैं । उसी कला से हकार से लेकर टकार तक २३ वर्ण (= ह स ष श व ल र य म भ ब फ प न द थ त ण ढ ड ठ ट) हैं । इक्कीस पद[1] इस प्रकार हैं— कला तत्त्व में रहने वाला पश्चिम दिशा में वर्त्तमान नव पद से लेकर ईशान कोण में स्थित ऊकार का उपयोग पहले किया गया । फिर विपरीत क्रम से उसके बाद वर्त्तमान 'य'कार से लेकर 'ल'कार तक ८, उसी प्रकार माया तत्त्व में रहने वाले निर्ऋतिदिशा में स्थित नवकोष्ठ में वर्त्तमान ऊकार से लेकर मकार तक ९, फिर विद्या तत्त्व में अधिष्ठित दक्षिण दिशा में वर्त्तमान नव कोष्ठ के मध्य से 'ऊ'कार से 'ल'कार पर्यन्त ४, इस प्रकार २१ पद (= ९+८+४) हैं जिसमें वह । तीन अर्थात् वामदेव, शिव और शिखामन्त्र हैं जिसमें न कि हृदय, क्योंकि हृन्मन्त्र का निवृत्तिकला में अन्तर्भाव हो जाता है ॥ १५७ ॥

---

१. इसके विस्तृत ज्ञान के लिये—ईशानशिवगुरुदेवपद्धति—(त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज से प्रकाशित) का अवलोकन करे ।

मुख्या ह्येते स्मृताः पाशाः..............

मुख्यत्वमेषां सर्वाणुसाधारण्यात्, पदवर्णमन्त्रा अपि—

'शब्दराशिसमुत्थस्य' (स्प० ४।१५)

इति युक्त्या वाचकरूपतामश्नुवानाः पाशा एव अत एव निरुपाधिचिदानन्दघनस्वरूपामर्शपरमार्थमूलमन्त्रातिरिक्तं सर्वमत्र शोध्यमेव । यदुक्तमस्मद्गुरुभिः श्रीतन्त्रालोके—

'यत्किंचित्परमाद्वैतसंवित्स्वातन्त्र्यसुन्दरात् ।
पराच्छिवादुक्तरूपादन्यत्तत्पाश उच्यते ॥' (८।२९२) इति ॥

अत्रैव च—

..............सूक्ष्मानन्तर्विभावयेत् ॥ १५८ ॥

तान् स्फुटयति—

अन्यतन्त्रप्रसिद्धं तु तन्मात्रेन्द्रियशोधनम् ।

अत्रान्तर्भाव्यमित्यर्थः । अन्यत्तन्त्रं लाकुलादि । यद्यपि च 'त्रयोविंशतितात्त्वि-

---

इस प्रकार छः अध्वा वाले—

ये पाश मुख्य माने गये हैं ॥ -१५८- ॥

समस्त अणुओं में रहने के कारण ये पाश मुख्य हैं । मन्त्र वर्ण और पद भी 'शब्द राशि से उत्पन्न (शक्तिवर्ग की योग्यता के कारण.........वही पशु हो जाता है') (स्प०का० ४।१५)

इस युक्ति के द्वारा वाचकरूपता को प्राप्त (पद, वर्ण मन्त्र भी) पाश ही हैं । इसलिये उपाधिरहित चिदानन्दघनस्वरूप आमर्शपरमार्थ वाले मूलमन्त्र को छोड़ कर शेष सब यहाँ (= इस शास्त्र में) शोध्य ही हैं । जैसा कि हमारे गुरु अभिनवगुप्त ने श्रीतन्त्रालोक में कहा है—

'परम अद्वैत, संवित् स्वातन्त्र्यसुन्दर, उक्त स्वरूप वाले परशिव से अतिरिक्त जो कुछ है सब पाश कहा जाता है ।' (तं०आ० ८।२९२) ॥

यहीं पर—

सूक्ष्म उन सबकी अपने अन्दर भावना करनी चाहिये ॥ -१५८ ॥

उनको स्पष्ट करते हैं—

अन्य तन्त्र में प्रसिद्ध पाँच तन्मात्रायें और ग्यारह इन्द्रियों के शोधन की यहाँ भावना करनी चाहिये ॥ १५९- ॥

यहाँ अन्तर्भावना से तात्पर्य है । अन्य तन्त्र = लकुलीश (गाणपत्य............

क' इत्युक्त्वा तन्मात्रादीन्यन्तर्भावितानि, तथापि तानि बाह्यभौवनसंनिवेशव्यापकान्यन्यान्येव, एतानि तु स्थूलसूक्ष्मशरीरसंनिविष्टान्यपराण्येव, इति न भ्रमितव्यम् ॥ १५९ ॥

किं च—

षट्कोशान् विषयान् पञ्च तदन्तर्भावयेत् सदा ॥ १५९ ॥

असृङ्मांसलोममज्जास्थिस्नाय्वाख्याः षट्कोशाः सूक्ष्मदेहोपरि कोशाकारतया स्थिताः । सदेति दीक्षाकाले । एवं च वर्तमानेऽपि देहशोधनं चोदितमेवेति तत्र कर्तव्यं यैरुक्तं ते भ्रान्ता एव ॥

अत एवोक्ताध्वव्याप्तिविमर्शरूपम्—

विशेषस्थापनं कृत्वा पूज्या गन्धादिभिस्ततः ।

तथा—

भैरवेणाहुतीस्तिस्रः...............

दद्यादिति शेषः । भैरवेणेति काकाक्षिवत्, तेन प्रणवनिष्कलप्रतिष्ठाबीजान्युच्चार्य 'प्रतिष्ठायै नमः' इति मन्त्रेण पूजा, स्वाहान्तेन होमः । एवमुत्तरत्रापि ॥

.....) आदि । यद्यपि 'त्रयोविंशति तात्त्विक'— ऐसा कह कर तन्मात्रा आदि का अन्तर्भाव कर दिया गया तथापि बाह्य भुवन सम्बन्धी सन्निवेश के व्यापक वे दूसरे ही हैं । और ये (तन्मात्र आदि) स्थूल सूक्ष्म शरीरों में सन्निविष्ट दूसरे शोध्य हैं । इसलिये किसी प्रकार का भ्रम नहीं करना चाहिये ॥ १५९ ॥

तथा—

उसके (= तेईस तत्त्व के) भीतर छः कोशों और पाँच विषयों की सदा भावना करनी चाहिये ॥ -१५९ ॥

रक्त, मांस, लोम, मज्जा, अस्थि और स्नायु नामक छः कोश हैं । ये सूक्ष्म शरीर के ऊपर कोश (= आवरण) के रूप में स्थित हैं । सदा = दीक्षा के समय । इस प्रकार जिन लोगों ने वर्त्तमान में भी देहशोधन कहा गया इसलिये उसमें करना चाहिये—ऐसा कहा वे भ्रान्त ही है ॥

इसलिये उक्त अध्वव्याप्ति की विमर्शरूपा—

विशिष्ट स्थापना कर गन्ध आदि के द्वारा उनकी पूजा करनी चाहिये ॥ १६०- ॥

तथा—

भैरव मन्त्र से तीन आहुतियाँ देनी चाहिये ॥ -१६०- ॥

'भैरवेण' इस पद को काकाक्षि के समान प्रयोग करना चाहिये । इस कारण पूजा भी भैरव मन्त्र से ही करनी होगी । इसमें प्रणव निष्कल प्रतिष्ठा बीजों का उच्चारण कर 'ॐ अं ह्लीं प्रतिष्ठायै नमः' इस मन्त्र से पूजा तथा स्वाहान्त (= ॐ अं ह्लीं प्रतिष्ठायै स्वाहा) इस मन्त्र से होम करना चाहिये इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये ।

अथ—

............तस्या वागीशिकल्पना ॥ १६० ॥

सा हि विप्रुषि सर्वमन्तःकर्तुं क्षमा । अत्र चादौ शक्तिं न्यसेदित्यादि पूर्वोक्तं स्मर्तव्यम् ॥

किं च—

स्वनामावाहनाद्यस्य अर्घहोमादि पूर्ववत् ।
प्रोक्षणं ताडनं छेद आकर्षग्रहणे तथा ॥ १६१ ॥
धाम्नापूर्य कुम्भयित्वा छित्त्वाथ ग्राहयेत् पुनः ।
योजनं गर्भधारित्वं जननं पूर्ववत् क्रमात् ॥ १६२ ॥

पूर्ववदित्यतिदेशेन निवृत्त्युक्तं सर्वं विधिक्रममनुस्मरेदिति शिक्षयति ॥ १६२ ॥

इसके बाद—

उसकी (= प्रतिष्ठा कला की) वागीशी (= शुद्धविद्या) के रूप में कल्पना करनी चाहिये ॥ -१६० ॥

वह (= वागीशी) अपनी विप्रुष् (= एक बूँद) में सबको भीतर समाहित करने में सक्षम है । यहाँ 'आदौ शक्तिं न्यसेत्' इत्यादि पूर्वोक्त वचन का स्मरण करना चाहिये ॥

तथा—

उसके (= साध्य या दीक्ष्य शिष्य के) नाम से आवाहन आदि (= आसन पाद्य आचमन) अर्घदान, होम, प्रोक्षण, ताडन, छेदन, आकर्षण, ग्रहण पूर्ववत् करना चाहिये । धाम के द्वारा कुम्भक कर उसका छेदन करे फिर ग्रहण कराये । (आचार्य शिष्य का वागीशी के साथ) योजन गर्भधारण और जनन क्रमशः पूर्व की भाँति कराये ॥ १६१-१६२ ॥

'पूर्ववत्' इस अतिदेश[1] के द्वारा निवृत्तिकला के शोधन वाले प्रकरण में कथित समस्त विधिक्रमों का स्मरण करना चाहिये—यह बतलाते हैं ॥ १६२ ॥

१. अतिदेशो नाम इतरधर्मस्य इतरस्मिन् प्रयोगाय आदेशः (मीमांसा वार्तिक)

अथ प्रसङ्गात् सर्वदीक्षासु वक्तव्यशेषं पूरयति—

ऐश्वरीं मूर्तिमास्थाय ताडनादीनि कारयेत् ।

ताडनप्रोक्षणादीनि क्रियाशक्त्यावेशे कार्याणि, इति क्रियाशक्तिप्रधानेश्वराहंभावेनैव युक्तानि ॥

किं च—

अधिकारस्तथा भोगो लयो निष्कृतिरेव च॥ १६३ ॥
शिवरूपेण कर्तव्याः.............

अधिकारादिज्ञानं प्रभुत्वसंपाद्यम् । प्रभुश्च सदाशिवादौ विश्वत्र शिव एवेति शिवाहंभावेनैव तदुचितम्, निवृत्तौ निष्कृतिविश्लेषहोमौ मूलेनैवोक्तौ ॥

इह तयोर्विशेषमाह—

..........निष्कृतिः शिरसा पुनः।
विश्लेषश्च हृदा होम्यः..............

पुनःशब्दो विशेषाय सर्वत्रैव ।

............पाशच्छेदस्तथासिना ॥ १६४ ॥

अब प्रसङ्गवश सभी दीक्षाओं में वक्तव्यशेष को बतलाते हैं—

ईश्वर की मूर्त्ति का ध्यान कर ताडन आदि करना चाहिये ॥ १६३-॥

ताडन प्रोक्षण आदि कृत्य क्रियाशक्ति का आवेश होने पर करना चाहिये । (इससे यह अर्थ निकलता है कि ये सब कृत्य क्रियाशक्तिप्रधान ईश्वराहंभाव के द्वारा करने से ही समीचीन होते हैं) ॥

तथा—

(शिष्य के लिये) अधिकार, भोग, लय और निष्कृति ये सब कार्य शिवरूप से करने चाहिये ॥ -१६३-१६४- ॥

अधिकार आदि का ज्ञान प्रभुत्व के लिये सम्पाद्य होता है और सदाशिव आदि में सर्वत्र शिव ही प्रभु हैं इसलिये शिवाहंभाव से ही सब कुछ करना उचित है । निवृत्तिकलासम्बन्धी निष्कृति होम और विश्लेष होम मूल मन्त्र से ही करने का विधान है ॥

यहाँ दोनों में अन्तर बतलाते हैं—

निष्कृति होम को शिरोमन्त्र से और विश्लेषहोम को हृन्मन्त्र से करना चाहिये ॥ -१६४- ॥

'पुनः' शब्द का प्रयोग सर्वत्र विशेष (= अन्तर) के लिये होता है ॥

तथाशब्दान्मूलेनापि । यथोक्तं प्राक्—

'आहुतित्रितयं धाम्ना पाशच्छेदेऽपि' (४।१२९)

इति पुर्यष्टकच्छेदनताडनादीन्यपि असिनैवेत्यपि 'तथा' शब्दार्थः । आकर्षणग्रहणाद्यास्तु धाम्नैवेत्युक्तम् ॥ १६४ ॥

किं च—

पूर्णाहुतिसमुद्धारं पूर्ववद्भैरवेण तु ।

निष्कलेनेत्यर्थः ॥

ज्ञानशक्तिप्रधानः श्रीसदाशिव इति—

सदाशिवतनौ स्थित्वा विश्लेषादीनि कारयेत्॥ १६५ ॥

विश्लेषादीनां भेदोपशान्तिपरत्वात्तत्प्रधाना सदाशिवस्य व्याप्तिर्ग्राह्या । 'आदि' शब्दादेकचैतन्यभावितोद्धारादयः ॥ १६५ ॥

एवं प्रसङ्गाद्विधिं पूरयित्वा प्रकृतमाह—

और पाशच्छेद होम असिमन्त्र से (करना चाहिये) ॥ -१६४ ॥

'तथा' शब्द के प्रयोग से यह समझना चाहिये कि पाशच्छेद होम मूलमन्त्र से भी करना चाहिये । जैसा कि पहले कहा गया—

'पाशच्छेद में भी तीन आहुतियाँ धाम से (= मूल मन्त्र अर्थात् शिवप्रणव हूँ से करनी चाहिये) ।' (४।१२९)

यहाँ 'तथा' शब्द का यह भी अर्थ है कि पुर्यष्टक का छेदन ताडन आदि भी असिमन्त्र से ही करना चाहिये । आकर्षण और ग्रहण आदि मूलमन्त्र से ही करना चाहिये ॥ १६४ ॥

और भी—

पूर्णाहुति का समुद्धार निष्कलभैरव मन्त्र से करना चाहिये ॥ १६५- ॥

चूँकि सदाशिव ज्ञानशक्तिप्रधान हैं इसलिये—

आचार्य सदाशिव के शरीर में स्थित होकर विश्लेष आदि करना चाहिए ॥ -१६५ ॥

चूँकि विश्लेष आदि भेदोपशान्ति परक है इसलिये सदाशिव की व्याप्ति भेदोपशान्ति को मुख्य लक्ष्य मानकर समझनी चाहिये । 'विश्लेषादीनि' में 'आदि' पद से एकचैतन्यभावित उद्धार आदि का ग्रहण समझना चाहिये ॥ १६५ ॥

प्रसङ्गवश विधि का वर्णन कर अब प्रस्तुत को कहते हैं—

आत्मस्थं पूरकेणैव हृत्स्थं रेचकवृत्तितः ।

सर्वमेतत् पूर्वमेव निर्णीतम् ।

अथ प्रतिष्ठाधिपतिम्—

स्वनाम्नोच्चारयेद्विष्णुं ध्यात्वावाह्य तु स्थापयेत्॥ १६६ ॥
पूजयेत् पुष्पगन्धाद्यैः.............

अस्मै च—

.................तर्पणायाहुतित्रयम् ।

दद्यात् ॥

किं च—

रसं पुर्यष्टकांशं तु -अर्पयेद्विष्णवे सदा ॥ १६७ ॥

दीक्षास्विति शेषः ॥ १६७ ॥

पूर्ववत् कृतश्रावणम्—

विसर्जयेत्ततो विष्णुं वागीशीं च विसर्जयेत् ।

(आचार्य) पहले आत्मस्थ (= अपने आत्मा में स्थित) को पूरक के द्वारा हृदय में स्थित कर तत्पश्चात् (उसी शिष्य चैतन्य) को रेचकवृत्ति के द्वारा (बाहर कर देते हैं) ॥ १६६- ॥

यह सब कुछ पहले ही कहा जा चुका है ।

इसके बाद प्रतिष्ठाकला के अधिपति—

अपने नाम से (= विष्णु के नाम से) उच्चारण करे । विष्णु का ध्यान कर आवाहन करे और उनकी स्थापना कर गन्ध पुष्प आदि से उनकी पूजा करे ॥ -१६६-१६७- ॥

इनके लिए—

तर्पण के लिये इनको तीन आहुतियाँ दे ॥ -१६७- ॥

तथा—

दीक्षाओं में सदा विष्णु के लिये पुर्यष्टक का अंशभूत रस (= रस-तन्मात्रा) अर्पित करे ॥ -१६७ ॥

दीक्षाओं में यह जोड़ना चाहिए ॥ १६७ ॥

पूर्व की भाँति उन विष्णु को उद्देश्य सुना कर—

अथ—

कलासंधिर्यथापूर्वं ह्रस्वदीर्घप्रयोगतः ॥ १६८ ॥
अभावं भावयेत्तस्मिन् पाशजाले त्वनन्तके ।

अथ—

कलाद्वयविनिर्मुक्तः पशुरुर्ध्वगमोत्सुकः ॥ १६९ ॥
तस्येदानीं तृतीयस्यां विद्यायां योज्य शोधयेत्।

चैतन्यमित्यर्थात् ॥ १६९ ॥

तां च विद्याम्—

स्थापयित्वाथ सम्पूज्य जुहुयादाहुतित्रयम् ॥ १७० ॥
एवं तु संमुखीकृत्य प्रागिवाध्वावलोकनम् ।

कार्यमित्यर्थः ॥ १७० ॥

तदेवाह—

पुंस्तत्त्वाद्यावन्मायान्तं विद्याया व्याप्तिरिष्यते ॥ १७१ ॥

तत्पश्चात् विष्णु और वागीश्वरी का विसर्जन करे ॥ १६८- ॥

इसके बाद—

पूर्व की भाँति ह्रस्व दीर्घ के प्रयोग से कलासन्धि करे । और उस अनन्त पाशजाल में अभाव (= शून्य) की भावना करे ॥ -१६८-१६९-॥

इसके बाद—

(निवृत्ति एवं प्रतिष्ठा नामक) दो कलाओं से मुक्त पशु ऊर्ध्वगमन के प्रति उत्सुक हो जाता है । (आचार्य) उसके चैतन्य को तृतीय विद्या कला में जोड़ कर उसका शोधन करे ॥ -१६९-१७०- ॥

और उस विद्याकला की—

स्थापना तत्पश्चात् पूजन कर उसके लिये तीन आहुतियाँ देनी चाहिए । इस प्रकार उस विद्या को अपने सम्मुख कर पूर्व की भाँति अध्वावलोकन करना चाहिए ॥ -१७०-१७१- ॥

अर्थात् करना चाहिए ॥ १७० ॥

उसी को बतलाते हैं—

विद्या की व्याप्ति पुरुष तत्त्व से लेकर माया पर्यन्त मानी जाती है ॥ -१७१ ॥

एवं च—

सप्त तत्त्वानि................

पुरुषनियतिकालरागविद्याकलामायाख्यानि, पुरुषस्यैतत्तत्त्वषट्कमेतत्कञ्चुकरूपमन्तरङ्गवेदनहेतुतया स्थितत्वाद्विद्याख्यया कलया व्याप्तम्, प्रतितिष्ठते भोगहेतुतत्त्वजालं यत्रेति निरुक्त्या प्रतिष्ठा, निवर्तते तत्त्वसृष्टिर्यत इति निवृत्तिः, अशेषभेदोपशमाच्छान्ता, तामप्यतीता तत्संस्कारेणापि शून्या शान्त्यतीतेत्यनुसंधेयम् ॥

तथा—

...........भुवनसप्तविंशतिरेव च ।

यद्यपि पुमान्नियतिरित्यादिस्तत्त्वक्रमस्तथापि पुंसो लोलिकामयस्य सामान्याभिष्वङ्गात्मना रागेणाव्यभिचारः, किंचिद्वेदनात्मनो विद्याया नियमनात्मना नियत्या, कर्तृत्वोद्बलनात्मनश्च कलायाः कालेनेति तत्त्वपददीक्षयोः संपुटयोगस्य वक्ष्यमाणत्वात्तदनुसारेणैव भुवनेशस्थितिस्तत्र पुरुषरागतत्त्वयोर्विद्येशाष्टकं प्रधानमिति तदधिष्ठितान्यष्टौ भुवनानि, नियतिविद्ययोस्तु वामादिमनोन्मनान्तभुवनेशनवकाधिष्ठितानि नव, कालकलयोर्महादेवादित्रयाधिष्ठितं त्रयम् । एवम् विंशतिः । एतत्तत्त्वकारणभूतायां मायायामधोभागे गोपतिरूर्ध्वे विश्वे मध्ये त्रिकालक्षेमेशब्रह्माधिपतिशिवाश्चत्वारः, एतदधिष्ठाता चानन्तः, इति सप्तेति भुवनसप्तविंशतिः ॥

तथा—

पदविंशतिराख्याता.................

दक्षदिग्गतपदनवकाल्लकारान्तं चतुष्टयं पूर्वत्रान्तर्भूतमित्यवशिष्टं प्राग्वन्मादिक्षान्तं पञ्चकम्, तथेशतत्त्वाधिष्ठिताग्नेयकोष्ठनवकादूकारादिरेफान्तं नवकम्, सदाशिवतत्त्वाधिष्ठितपूर्वदिग्गतान्नवकादूकारादिक्षकारान्तं षट्कमिति पदविंशतिः ॥

किं च—

...............वर्णाः सप्त प्रकीर्तिताः ॥ १७२ ॥

ञाद्याः घान्ता ॥ १७२ ॥

तथा—

मन्त्रौ द्वौ...........

इस प्रकार—

सात तत्त्व होते हैं ॥ १७२- ॥

पुरुष, नियति, काल, राग, विद्या, कला और माया नामक जो सात तत्त्व हैं । इनमें से छः तत्त्व पुरुष के कञ्चुक (= आवरण, खोल) हैं । ये अन्तरङ्गतया वेदन के हेतु होने के कारण विद्या नामक कला से व्याप्त हैं । ये सब भोगहेतु तत्त्वसमूह के रूप में जिसमें प्रतिष्ठित रहते हैं वह प्रतिष्ठा कला (कही जाती है) । जहाँ से तत्त्वसृष्टि निवृत्त होती है (अर्थात् तत्त्वसृष्टि की अन्तिम सीमा) निवृत्ति कला है । जहाँ समस्त भेद का उपशम होता है वह शान्ता कला है । उसको भी पार कर उस (= भेद) के संस्कार से भी जो रहित है उसे शान्त्यतीता कला कहते हैं—ऐसा समझना चाहिये ॥

इसी प्रकार—

भुवनों की संख्या सत्ताईस है ॥ -१७२- ॥

यद्यपि तत्त्वों का क्रम पुरुष नियति इत्यादि है तो भी लोलिकायुक्त पुरुष का सामान्य आसक्तिवाले राग के साथ सम्बन्ध है । किञ्चिद्वेदनरूप विद्या का, नियमनरूपा नियति का, कर्तृत्वोद्वलनात्मक कला का काल के साथ सम्बन्ध है जिसका वर्णन आगे किया जायेगा ऐसे तत्त्व दीक्षा और पद दीक्षा के सम्पुटयोग के अनुसार भुवनेशों की स्थिति होती है । उनमें पुरुषतत्त्व और रागतत्त्व के प्रधान (= अधिष्ठाता) विद्येशाष्टक हैं । इस प्रकार उनके द्वारा अधिष्ठित आठ भुवन, नियति और विद्या के अन्दर वर्त्तमान नव भुवन, वाम (= वामा शक्ति) से लेकर उन्मना पर्यन्त वर्त्तमान नव भुवनेशों के द्वारा अधिष्ठित हैं । काल और कला में महादेव आदि तीन के द्वारा तीन भुवन अधिष्ठित हैं । इस प्रकार बीस भुवन अधिष्ठित हुए । इन तत्त्वों की कारणभूत माया के नीचे भाग में गोपति, ऊपरी भाग में विश्वेदेव मध्य में त्रिकाल क्षेमेश ब्रह्मा और शिव ये चार रहते हैं । इनके अधिष्ठाता अनन्त हैं । इस प्रकार (८+९+३+६+१ =) २७ भुवन हैं ॥

तथा—

पद बीस कहे गये हैं ॥ -१७२- ॥

(वे इस प्रकार हैं—) दक्षिण दिशा में वर्त्तमान नव पदों से लेकर 'लकार' तक चार पहले में अन्तर्भूत हुये । इसलिये अवशिष्ट पूर्व की भाँति 'म' से लेकर 'क्ष' तक पाँच हुए । इसी प्रकार ईशान तत्त्व के द्वारा अधिष्ठित आग्नेयी दिशा में वर्त्तमान नव कोष्ठ से 'ऊ'कार से लेकर रेफ तक नव । इसी प्रकार सदाशिव तत्त्व से अधिष्ठित पूर्व दिशा में वर्त्तमान नव पदों से 'ऊ'कार से लेकर 'क्ष'कार पर्यन्त छः पद हुए । (इस प्रकार ५+९+६ = २० पद हुए) ॥

तथा—

वर्ण सात कहे गये हैं ॥ -१७२ ॥

ये हैं—'ञ' से लेकर 'घ' तक (= ञ, झ, ज, छ, च, ङ और घ) ॥ १७२ ॥

तथा—

अघोरः कवचम् ।॥

इत्थमत्र—

..........षड्विधाध्वानं ज्ञात्वा वागीशिकल्पनम् ।

अत्र पूर्वोक्तं स्मारयति—

प्रणवेन समावाह्य व्यापिनीं सर्वयोनिषु ॥ १७३ ॥
समकालमृतुत्वेन ध्यात्वा सम्पूज्य तर्पयेत् ।

किं च—

ततः शिवाम्भसा शिष्यं प्रोक्ष्य चास्त्रेण ताडयेत् ॥ १७४ ॥
तेनैव चास्त्रभूतेन हुंफट्कारयुतेन तु ।
आत्मनो रेचकेनैव............

गत्वेति शेषः ।

..................शिष्यदेहे विशेद्धृदि ॥ १७५ ॥

अथास्य पुर्यष्टकरूपम्—

अस्त्रमन्त्रेण संछिद्य (विश्लेष्या)स्त्रेण[1] कर्षयेत् ।

मन्त्रों की संख्या दो है ॥ १७३- ॥

(अर्थात्) अघोर और कवच ।

इस प्रकार यहाँ—

छः प्रकार के अध्वा को जानकर वागीशी की कल्पना करनी चाहिये ॥ -१७३- ॥

यहाँ पर पूर्वोक्त का स्मरण कराते हैं—

प्रणव के द्वारा व्यापिनी का आवाहन कर समस्त योनियों में एक साथ ऋतु के अनुरूप ध्यान कर उनका पूजन और तर्पण करे ॥ -१७३-१७४- ॥

तथा—

इसके बाद आचार्य शिवोदक के द्वारा शिष्य का प्रोक्षण कर अस्त्र मन्त्र से उसका ताडन करे । हुंफट्कार से युक्त उसी अस्त्रभूत मन्त्र के द्वारा अपना रेचन कर (अर्थात् अपनी आत्मा को अपने शरीर से निकाल कर) शिष्य के देहस्थ हृदय में प्रवेश करे ॥ -१७४-१७५ ॥

तत्पश्चात् इस (शिष्य)' के पुर्यष्टक रूप को—

---

१. विशेषास्त्रेण ।

द्वादशान्तात्तु संगृह्य आत्मस्थं पूर्ववत् कुरु ॥ १७६ ॥
पूरकेणाथ सङ्कुम्भ्य रेचयित्वा तु योजयेत् ।
पूर्ववद् व्यापकं न्यस्य चैतन्यं सर्वयोनिषु ॥ १७७ ॥
योगाद्यं लयपर्यन्तं धाम्ना चैवात्र पूर्ववत् ।

कुर्यादित्यर्थः ॥ १७७ ॥

विशेषस्त्वत्रायम्—

शिखया शतहोमात्तु विद्याया निष्कृतिर्भवेत् ॥ १७८ ॥

अथास्य विश्लेषपाशच्छेदाभ्यामनन्तरं परेणात्मस्थतत्स्थत्वे कुर्यात् ॥ १७८ ॥

अथ पुर्यष्टकांशार्पणाय—

प्रणवादि ततो रुद्रमावाह्य स्थाप्य पूजयेत् ।
ततोऽस्य विन्यसेद् देवि गन्धरूपे ध्रुवाहुती ॥ १७९ ॥

एवम्—

पुर्यष्टकांशं विन्यस्य विसर्ज्य रुद्रदेवताम् ।

अस्त्र मन्त्र से काट कर अलग करे फिर अस्त्र मन्त्र से ही उसको द्वादशान्त से खींच कर पूर्व की भाँति अपने (हृदय के) अन्दर स्थापित करे । पूरक से उसका कुम्भन कर रेचन करने के बाद योजन करे । पूर्व की भाँति उस शिष्यचैतन्य का समस्त योनियों में व्यापक न्यास कर धाम (= मूल मन्त्र) के द्वारा योग से लेकर लयपर्यन्त इसे पूर्ववत् युक्त करे ॥ १७६-१७८- ॥

अर्थात् युक्त करना चाहिए ॥ १७७ ॥

यहाँ पर विशेष यह है—

शिखामन्त्र के द्वारा एक सौ होम करने से विद्या की निष्कृति (= प्रायश्चित्त शुद्धि) हो जाती है ॥ -१७८ ॥

इसके बाद इसके (= शिष्य चैतन्य के) विश्लेष और पाशच्छेद के अनन्तर पर (= परमात्मा) के साथ आत्मस्थ और तत्स्थ करे (अर्थात् गुरु परमात्मतत्त्व को अपने में तथा उस = शिष्य) के अन्दर रखे ॥ १७८ ॥

इसके बाद पुर्यष्टकांश के अर्पण के लिये—

पहले प्रणव फिर रुद्र का आवाहन स्थापन और पूजन करे । तत्पश्चात् गन्ध और रूप (इन दो विषयों) की आहुति निश्चितरूप से या पूर्ण रूप से समर्पित करे ॥ १७९ ॥

इस प्रकार—

वागीशीं च विसर्ज्यैवं कलासंधिश्च पूर्ववत् ॥ १८० ॥

कार्यः ॥

कथम्—

ह्रस्वदीर्घविभागेन विद्यां शान्तौ नियोजयेत् ।
संधानार्थं तु मूलेन जुहुयाद्धाहुतित्रयम् ॥ १८१ ॥

संधेरनन्तरमध्वोपस्थापनाय—

स्वनाम्नावाहनं शान्तेर्विधिपूर्वं निवेदनम् ।
प्रमेयभावनां कृत्वा...............

तां च—

............पूजयेत् कुसुमादिभिः ॥ १८२ ॥
त्रिराहुतिं तु मूलेन...............

दद्यात् ॥ १८२ ॥

अस्या अध्वान्तरव्याप्तिमाह—

..........विद्यातत्त्वात् सदाशिवम् ।
तत्त्वानां त्रितये व्याप्तिर्वर्णानां त्रय एव च ॥ १८३ ॥

पुर्यष्टकांश का न्यास कर रुद्र देवता का विसर्जन करे । फिर वागीश्वरी (= शुद्धविद्या) का विसर्जन कर पूर्व की भाँति कलासन्धि करे ॥ १८० ॥

पूर्ववत् करे ।

(कलासन्धि) कैसे (की जाय—यह बतलाते हैं—)

ह्रस्व और दीर्घ के विभाग के द्वारा विद्या को शान्ता कला में संयुक्त करे । इस सन्धान (= योग) के लिये मूल मन्त्र से तीन आहुतियाँ दे ॥ १८१ ॥

सन्धि के बाद अध्वा के उपस्थापन के लिये—

अपने (= साधक के) नाम से शान्ता कला का आवाहन कर विधिपूर्वक षडध्व शुद्धि के लिये निवेदन और प्रमेय की भावना करने के बाद उस कला की पुष्प आदि से पूजा करे । (तत्पश्चात्) मूलमन्त्र से तीन आहुतियाँ दे ॥ १८२-१८३- ॥

इस शान्ता कला की दूसरे अध्वा में व्याप्ति बतलाते हैं—

विद्यातत्त्व से लेकर सदाशिव पर्यन्त तीन तत्त्वों (= शुद्धविद्या, ईश्वर और सदाशिव तत्त्व) में तथा तीन वर्णों = क ख ग में इस शान्ता कला की व्याप्ति जाननी चाहिये ॥ -१८३ ॥

क-ख-ग इत्यत्र च ॥ १८३ ॥

पदैकादशिका ज्ञेया...........

पूर्वदिग्गतान्नवकात् क्षान्तस्य षट्कस्य विद्यायामन्तर्भावाद्रेफप्रणवहकारात्मकं त्रयं मध्यमाच्च नवकादूकारादिहान्तमष्टकमिति पदैकादशिका ॥

...........पुराणि दश सप्त च ।

तत्र विद्यायां त्रिगुण्यादीनां विद्यराज्ञीनामेकमीश्वरतत्त्वे त्वैश्वरं भुवनमनन्तादिशिखण्ड्यन्तविद्येश्वरभुवनान्यष्टौ, धर्मादीनां भुवनानि चत्वारि, वामादिशक्तित्रयभुवनमेकम्, ज्ञानक्रियाभुवनमेकम् तस्मिन्नेव च भुवने विद्याद्वयादेः प्रभवद्वादशकपर्यन्तस्यैकोनषष्टेर्भुवनानामवान्तरो विभागः । वक्ष्यति च—

'एकोनषष्टिर्भुवनं ज्ञानशक्त्यादितः क्रमात् ।' (१०।११८५)

इत्येवमीश्वरतत्त्वे पञ्चदश भुवनानि । यद्वक्ष्यति—

'दश पञ्च च शोध्यानि भुवनान्यैश्वरे पदे ।' (१०।११७१)

इति । सदाशिवतत्त्वे सादाशिवमेकं भुवनं स्वमिव ब्रह्माङ्गसकलाद्यष्टकशिव-

---

क ख ग—इन तीन को ॥ १८३ ॥

ग्यारह पदों को जानना चाहिये ॥ १८४- ॥

नवात्मचक्र की पूर्व दिशा में वर्तमान नव (= ओ से लेकर ओ तक) में से क्षपर्यन्त छः अक्षरों (= म र ॐ म र क्ष) का विद्या कला में अन्तर्भाव से रेफ प्रणव (= ॐ) और हकार तीन वर्णों को मध्यम नवक से = ऊकार से, लेकर हकार तक आठ (= ऊ य व ऊ य व ॐ ह) यह पदैकादशिका है ॥

पुर दश और सात (= सत्रह) जानने चाहिये ॥ -१८४- ॥

विद्या तत्त्व में त्रिगुणी आदि विद्यारानियों का एक भुवन है । ईश्वर तत्त्व में ईश्वर का भुवन है । अनन्त से लेकर शिखण्डी तक आठ विद्येश्वरों के भुवन हैं । धर्म आदि (= ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य) के चार भुवन हैं । वामा आदि तीन शक्तियों का एक भुवन है । ज्ञान और क्रिया का एक भुवन है । उसी भुवन में विद्या अद्वय आदि से लेकर १२ प्रभवपर्यन्त ५९ अवान्तर भुवन है । आगे कहेंगे भी—

'ज्ञानशक्ति से लेकर क्रमशः ५९ भुवन है ।' (१०।११८५)

इसी प्रकार ईश्वर तत्त्व में १५ भुवन हैं । जैसा कि कहेंगे—

'ऐश्वर पद (= तत्त्व) में दश + पाँच भुवनों का शोधन करना चाहिये ।' (१०।११७१)

सदाशिव तत्त्व में उनका एक भुवन है । (इस प्रकार १+१+८+४+१+१+१ = सत्रह भुवन हैं । अपने (= सदाशिव) की भाँति यह सदाशिव भुवन भी ब्रह्माङ्ग

रुद्रभेदावरणगतानन्तभुवनव्यापकमिति सप्तदश भुवनानि ॥

तथात्र—

मन्त्रौ द्वौ..........

तत्पुरुषास्त्ररूपौ ॥

तदत्र—

.....षड्विधोऽध्वैवं मुख्याः पाशा इमे स्मृताः ॥ १८४ ॥

पूर्ववच्च—

सूक्ष्मपाशाननेकांश्च तदन्तर्भावयेत् सदा ।

अथ—

वागीशीं कल्पयेत्तत्र पूर्वेण विधिनाहुतिः ॥ १८५ ॥
पूजनं मूलमन्त्रेण ततः प्रोक्षणताडनम् ।
छेदाकर्षग्रहं चैव योगधारित्वजन्म च ॥ १८६ ॥
अधिकारस्तथा भोगो लयो वै पूर्ववद्भवेत् ।

सकल आदि आठ शिव[1] रुद्र भेद के आवरण में रहने वाले अनन्त भुवनों का व्यापक है ॥ १८३- ॥

तथा यहाँ पर—

दो मन्त्र हैं ॥ -१८४- ॥

ये मन्त्र तत्पुरुष और अस्त्र रूप हैं ॥

तो यहाँ—

छः प्रकार के अध्वा हैं और ये ही मुख्य पाश माने गये हैं ॥-१८४॥

पूर्व की भाँति—

इन छः अध्वापाशों के अन्दर अनेक सूक्ष्म पाशों की सदा भावना करनी चाहिये ॥ १८५- ॥

इसके बाद—

वहाँ (= मण्डप में) वागीश्वरी की कल्पना (= भावना) करनी चाहिये । पूर्वोक्त विधि से आहुति देनी चाहिये । मूलमन्त्र से पूजन कर तत्पश्चात् प्रोक्षण, ताड़न, छेदन, आकर्षण, ग्रहण, योग गर्भधारण अर्थात्

---

१. 'सकलो निष्कलः शून्यः कलाढ्यः खमलकृतः ।
क्षपणश्च क्षयान्तःस्थः कण्ठचौष्ठश्चाष्टमः स्मृतः ॥' (स्व०तं० १०।११९४)

सर्वे ते मूलमन्त्रेण आहुतित्रितयेन तु ॥ १८७ ॥

योगो गर्भेषु चैतन्यस्य, धारित्वं युगपद्गर्भवर्धनम् । यदुक्तम्—

'सर्वयोनिषु गर्भास्ते युगपद्वृद्धिमागताः ।' (४।११८) इति ।

सर्वे इति गर्भाधानाद्याः संस्काराः ॥ १८७ ॥

किं च—

निष्कृतौ शतहोमं तु कवचेन तु कारयेत् ।

तुशब्दः पूर्वस्माद्विशेषाय ॥

विश्लेषं पाशच्छेदं तु कुर्यादस्त्रेण दैशिकः ॥ १८८ ॥
उद्धारकरणात्मस्थतत्स्थीकारान् भवेन तु ।

अथ—

स्वनाम्ना प्रणवाद्येन ईशमावाह्य पूजयेत् ॥ १८९ ॥
सम्पूज्य हुत्वा सन्तर्प्य बुद्ध्यहङ्कृतिद्व्यंशकम् ।

वृद्धि, जन्म, अधिकार, भोग और लय यह सब पूर्व की भाँति होने चाहिये । उपर्युक्त समस्त भावनात्मक अनुष्ठान मूल मन्त्र से तथा तीन-तीन आहुतियों के साथ किये जाने चाहिये ॥ -१८५-१८७ ॥

योग = गर्भों में दीक्ष्य शिष्य के चैतन्य का योग । धारित्व = गर्भ में शिशुवत् चैतन्य शरीर की वृद्धि । जैसा कि कहा गया—

'वे समस्त गर्भ समस्त योनियों में एक साथ वृद्धि को प्राप्त होते हैं ।' (४।११८)

इसीलिये सब गर्भगत भोगशरीरों का समस्त संस्कार एक साथ होता है ॥ १८७ ॥

इस प्रकार—

निष्कृति में एक सौ होम कवच मन्त्र से कराना चाहिये ॥ १८८- ॥

श्लोक में 'तु' शब्द पूर्व होम से इसकी भिन्नता बतलाने के लिये प्रयुक्त है ॥

आचार्य विश्लेष और पाशच्छेद अस्त्रमन्त्र से करे । उद्धार करण, आत्मस्थीकरण और तत्स्थीकरण भवमन्त्र से (करे) ॥ -१८८-१८९- ॥

इसके बाद—

पहले प्रणव का फिर अपने नाम से ईश्वर का आवाहन कर उनकी पूजा करनी चाहिये (जैसे ॐ अहं देवदत्तशर्मा ईशमावाहयामिपूजयामि.....

अत्र प्रयोगः—

स्वनाम्ना प्रणवाद्यं तु स्वाहान्ते बुद्धिमर्पयेत् ॥ १९० ॥
अहङ्कारं तथाप्येवं हुत्वेदं क्षमयेत्ततः ।
वागीशीं पूजयित्वा तु तर्पयित्वा विसर्जयेत् ॥ १९१ ॥

यदत्रानुक्तं तत्पूर्वतो योज्यम् ॥ १९१ ॥

अथ—

कलासंधानकं पूर्वं शान्त्यतीते तु योजयेत् ।
ह्रस्वदीर्घविभागेन.............

प्राग्वच्छान्ताशान्त्यतीते अनुसंदधीतेत्यर्थः ॥

तदर्थं च—

................जुहुयादाहुतित्रयम् ॥ १९२ ॥

अथ—

समर्पयामि इत्यादि) । पूजन एवं हवन करने के बाद बुद्धि अहङ्कार के अंशद्वय का तर्पण करना चाहिये ॥ -१८९-१९०- ॥

इस विषय में प्रयोग है—

पहले प्रणव का उच्चारण कर दीक्ष्य अपना नाम कहे फिर 'स्वाहा' कह कर बुद्धि को अर्पित करे । (जैसे—ॐ अहं देवदत्तशर्मा आत्मनो बुद्धिं अर्पयामि स्वाहा) इसी प्रकार अहङ्कार का हवन कर बाद में क्षमा मागनी चाहिये । अन्त में वागीश्वरी का पूजन तर्पण कर विसर्जन करना चाहिये ॥ -१९०-१९१ ॥

जो ऊपर श्लोकों में नहीं कहा गया उसे पहले श्लोकों से जोड़ लेना चाहिये ॥ १९१ ॥

इसके बाद—

पूर्ववर्णित कलासन्धान को शान्ता एवं शान्त्यतीता से ह्रस्वदीर्घ विभाग के साथ जोड़ना चाहिये ॥ १९२- ॥

पूर्व की भाँति शान्ता और शान्त्यतीता का अनुसन्धान करना चाहिये ॥

उसके लिये—

तीन आहुतियाँ देनी चाहिये ॥ -१९२ ॥

इसके बाद—

ध्रुवेण तत्त्वसंधानं कर्तव्यं विधिवेदिना ।

पूर्ववत् प्रणवधामशान्त्यतीताबीजोच्चारपूर्वं 'शान्त्यतीतायै नमः' इति प्रयोगः स्मर्तव्यः । तत्त्वमत्र प्रकृता शान्त्यतीता, विधिवेदिना व्याप्तिज्ञेन ॥

किं च—

कलोपस्थापनं पश्चाद् ध्रुवेण जुहुयात् प्रिये ॥ १९३ ॥
त्रिराहुतिप्रयोगेण स्वनामपदमुच्चरन् ।
शान्त्यतीतां समावाह्य स्थापयेत् पूजयेत् पुनः ॥ १९४ ॥
व्याप्तिमालोक्य चाध्वस्थां.............

तामेव स्पष्टयति—

..................शिवतत्त्वगताश्च ये ।

पदार्थास्तेऽनुसंधेया अत्रेत्यर्थः ।

तानाह—

बिन्दुर्नादस्तथा शक्तिः शिवतत्त्वे व्यवस्थिताः ॥ १९५ ॥

विधि को जानने वाले आचार्य को ध्रुव मन्त्र से तत्त्वसन्धान करना चाहिये ॥ १९३- ॥

पूर्व की भाँति प्रणव और धाम (= मूल बीज मन्त्र हूँ) का उच्चारण कर शान्त्यतीता बीज का उच्चारण कर 'शान्त्यतीतायै नमः' यह प्रयोग ध्यान से रखना चाहिये । यहाँ अनुसन्धेय तत्त्व शान्त्यतीता कला है । विधिवेदी = शान्त्यतीता आदि की व्याप्ति को जानने वाला ॥

इस प्रकार—

हे प्रिये ! (आचार्य) पहले कला का उपस्थापन करे । तत्पश्चात् दीक्ष्य शिष्य को अपने नाम के पद का उच्चारण करते हुए ध्रुवमन्त्र से तीन आहुतियों का होम करना चाहिए । उसके बाद शान्त्यतीता का आवाहन, स्थापन और पूजन करना चाहिए । अध्वाओं में शिवतत्त्व की व्याप्ति का अवलोकन भी करना चाहिए ॥ -१९३-१९५- ॥

उस व्याप्ति को स्पष्ट करते हैं—

जो पदार्थ शिवतत्त्व के अन्दर वर्त्तमान हैं ॥ -१९५- ॥

उनका भी अनुसन्धान करना चाहिये ॥

उन पदार्थों को कहते हैं—

बिन्दु, नाद और शक्ति ये तीन (पदार्थ) शिवतत्त्व में स्थित बतलाये

शिवतत्त्वं समनाव्याप्त्यन्तमिहेति तच्छोध्यमेव । बिन्दुनादशक्तयोऽत्र गर्भीकृतवक्ष्यमाणषोडशभुवना मुख्यान्यावरणानि ॥ १९५ ॥

किं च—

पदमेकं मन्त्र एको वर्णाः षोडश कीर्तिताः ।
भुवनानि तु सूक्ष्माणि शान्त्यतीते तु भावयेत् ॥ १९६ ॥

पदं मध्यकोष्ठनवकमध्यगत ॐकारः, मन्त्र ईशानभट्टारको धामत्रयमयनेत्रमन्त्राभिन्नमूर्तिः, वर्णा विसर्गाद्या अकारान्ताः षोडश, भुवनानि भूमिकात्मकप्रमेयमात्ररूपत्वात् सूक्ष्माणि न तु संनिवेशवन्ति, तानि च षोडश । तद्यथा— बिन्द्वावरणे निवृत्त्यादिकलाचतुष्कपरिवृतं शान्त्यतीताभुवनमेकम्, ततोऽर्धचन्द्रनिरोधिकाभुवने द्वे निजनिजकलापञ्चकपरिष्कृते, नादावरणे पुनरिन्धिकादिशक्तीनां स्वशक्तिमदधिष्ठितानां पञ्च भुवनानि, नादान्ते सुषुम्णेशपरब्रह्माधिष्ठितमेकं भुवनम्, शक्त्यावरणे तु सूक्ष्मादिशक्तिचतुष्कपरिष्कृतं पराशक्तिभुवनमेकम्, ततोऽपि व्यापिनीभूमौ व्याप्यव्योमरूपानाथानन्तानाश्रितानां पञ्च भुवनानि, ततोऽपि समनायां महामायारूपायां तच्छक्तिमारूढः पञ्चविधकृत्यकारी शिव इति ।

गये हैं ॥ -१९५ ॥

शिवतत्त्व समना तक व्याप्त है । इसलिये उस शिवतत्त्व का भी शोधन करना चाहिये । जिनके अन्दर वक्ष्यमाण सोलह भुवन निहित हैं ऐसी विन्दु नाद और शक्तियाँ (दीक्ष्य चैतन्य के) मुख्य आवरण हैं ॥ १९५ ॥

तथा—

पद एक, मन्त्र एक और वर्ण सोलह कहे गये हैं । इन सबकी तथा सूक्ष्म भुवनों की शान्त्यतीता कला में भावना करनी चाहिये ॥ १९६ ॥

पद = नव मध्य कोष्ठों के बीच वर्त्तमान ॐकार । मन्त्र = ईशानभट्टारक जो कि तीन धाम वाले नेत्रमन्त्र (= ॐ जूं सः) से अभिन्न है । वर्ण = विसर्ग से लेकर अकार पर्यन्त सोलह । भुवन = भूमिकात्मक प्रमेयमात्र (= प्रमेय में ही भूमि की कल्पना) रूप होने से सूक्ष्म, न कि अवयव वाले । इनकी संख्या सोलह है । वह इस प्रकार—बिन्दु आवरण में निवृत्ति आदि चार कलाओं से परिवृत शान्त्यतीता का भुवन है । वह एक भुवन हुआ । इसके बाद अर्धचन्द्र और रोधिनी स्तर में दो भुवन हैं । ये दोनों भुवन अपनी-अपनी पाँच कलाओं से परिष्कृत (= परिवृत) हैं । नाद आवरण में अपने शक्तिमानों से अधिष्ठित इन्धिका आदि शक्तियों के पाँच भुवन हैं । नादान्त में एक भुवन है जो सुषुम्ना के स्वामी पर ब्रह्म से अधिष्ठित है । शक्ति नामक आवरण में पराशक्ति का एक भुवन है जो सूक्ष्मा आदि चार शक्तियों से परिस्कृत है । इसके बाद व्यापिनी भूमिका में पाँच भुवन हैं जो व्याप्यव्योमरूप अनाथ अनन्त और अनाश्रित शिव के द्वारा अधिष्ठित है ।

नन्विह मन्त्राणां शोधकानामपि कथं शोध्यत्वमुक्तम्, तथात्वे वा कस्य तच्छोधकत्वं मूलमन्त्रस्यापि च मन्त्रत्वाच्छोध्यत्वप्रसङ्गः निवृत्त्यादिवच्च शान्त्यतीतायामप्यङ्गमन्त्रः किं नोक्तः । निवृत्तिशान्त्यतीतयोर्मूलेन निष्कृतिहोमः प्रतिष्ठाविद्याशान्तानां शिरःशिखाकवचैर्निवृत्तौ विश्लेषो मूलेनान्यत्र हृदयेनापरत्रास्त्रेणेति कोऽयं क्रमः ।

अत्रोच्यते—इह मन्त्राः शिवावेशशालिनो वीर्यविदो गुरोर्निजशक्तिसारतया स्फुरन्तः शोधकाः, पशूनां तु गूहितस्ववीर्याः स्वस्वरूपावरणतया तिष्ठन्तः शोध्या एव, ते चाङ्गवक्त्रभेदादेकादश, मूलमन्त्रस्तु—

'स्वयमुच्चरते देवः' (७।५९)

इति वक्ष्यमाणस्थित्या नादामर्शपरमार्थतया सर्वस्य स्फुरतीति नास्य शोध्यत्वम् केवलमकारादिसमनान्तप्रमेयैकादशकमत्र सूक्ष्मरूपतया गर्भीकृतमन्त्रैकादशिकास्फारमित्यारुरुक्ष्वाशयेन विश्लेषणक्रमयुक्त्यांशांशिकाभिप्रायात् ।

इसके ऊपर महामाया रूपा समना में उस (समना) शक्ति पर आरुढ़ पञ्चकृत्यकारी शिव (परमशिव) रहते हैं ।

प्रश्न है कि—मन्त्र तो शोधक होते हैं फिर उनको शोध्य कैसे कहा गया? और यदि वे शोध्य हैं तो उनका शोधक कौन है? यदि यह कहें कि मूलमन्त्र शोधक होगा तो यह भी अनुचित है क्योंकि मन्त्र होने के कारण वह भी शोध्य होगा? और निवृत्ति आदि के समान शान्त्यतीता कला में भी अङ्गमन्त्र के रूप में क्यों नहीं कहा गया? दूसरी बात यह है कि निवृत्ति और शान्त्यतीता कला का मूलमन्त्र से निष्कृति होम कहा गया, प्रतिष्ठा विद्या और शान्ता कलाओं का शिरः शिखा और कवच मन्त्रों से कहा गया । इसी प्रकार निवृत्ति कला में विश्लेष मूलमन्त्र से, अन्यत्र हृदय मन्त्र से और दूसरी जगह अस्त्रमन्त्र से विश्लेष कहा गया यह कौन सा क्रम है?

इस विषय में उत्तर देते हैं—(मन्त्र दो प्रकार के व्यक्तियों में स्थित होते हैं— गुरु और सामान्यजन । इनमें से) शिवावेशशाली, मन्त्रवीर्य के ज्ञाता गुरु के अन्दर वर्त्तमान मन्त्र उनकी अपनी शक्ति के सार के रूप में स्फुरित होते हैं इसलिये वे शोधक होते हैं । पशुओं के अन्दर वर्त्तमान मन्त्र में उनका (= मन्त्रों का) वीर्य छिपा रहता है । वे अपने स्वरूप के आवरण के रूप में रहते हैं इसलिये वे शोध्य होते हैं । अङ्ग और वक्त्र के भेद से उन मन्त्रों की संख्या ग्यारह है । और मूलमन्त्र—'स्वयमुच्चरते देवः' (यह देव = शब्दब्रह्म या नाद, स्वयम् उच्चरित होता है) (७।५९)

इस वक्ष्यमाण स्थिति के अनुसार नादामर्शरूप में सबको स्फुरित होता है । इस कारण यह शोध्य नहीं है । केवल अकार से लेकर समना पर्यन्त ग्यारह प्रमेय, जो कि सूक्ष्म रूप से ग्यारह मन्त्रों के स्फार (= विस्तार) वाले हैं, ही

'अक्षरेषु कुतो मोक्ष आकाशे कुसुमं कुतः ।' (७।२३८)

इति मूलमन्त्रविषयमुक्तम् । तत्तद्वाच्यभागाभिप्रायेण च—

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।' (४।४३२)

इत्युक्तम् वस्तुतस्त्वशेषविश्वाभेदमयो नित्योदितानुच्चार्यमहाविमर्शरूप एवायं निष्कलनाथस्तदभिन्नमूर्त्तिः सकलोऽपि वेति नास्य कदाचिदपि शोध्यत्वं शङ्कितव्यम् । शान्त्यतीतायां च नामानुरूपत्वादेव न पृथगङ्गमन्त्रः संभवति । धामत्रयात्मनेत्रमन्त्रस्तु ईशानमन्त्रभिन्नमूर्तिरवश्यमनुप्रविष्टोऽन्यथा मन्त्रैकादशिका न शोधिता स्यात्,

'मन्त्रा एकादश ज्ञेयाः ।' (४।२००)

इति च भाविवाक्यमसङ्गतं स्यादत एवास्त्रमन्त्रस्ताडनादावेवोपयुङ्क्ते । नेत्रमन्त्रस्तु मूलमन्त्रादभिन्न इति न तौ कलान्तःशोध्यौ, इत्येकीयमतमसत् । यस्तु निष्कृत्यादिहोमेषु मन्त्रनियम उक्तस्तत्रेश्वराज्ञैव नियन्त्रिकेति सर्वमनवद्यम् ॥ १९६ ॥

शोध्य हैं । इसलिये (शिव पद पर) आरूढ़ होने की इच्छा वाले (= मुमुक्षु) साधक के आशय से विश्लेषण क्रम की युक्ति से अंशांशिका के अभिप्राय से ।

'अक्षरों में मोक्ष कहाँ ? आकाश में पुष्प कहाँ ?' (७।२३८)

के अनुसार यह कथन मूलमन्त्रविषयक है और तत्तद् वाच्य भाग के अभिप्राय से—

'हे वरारोहे ! अनन्त पाशजाल समनापद तक सीमित है ।' (४।४३२)

यह कहा गया । वस्तुतः यह निष्कलनाथ समस्तविश्व से अभिन्न, नित्योदित, अनुच्चार्य, महाविमर्श रूप है । और सकल भी उससे अभिन्न ही है । इसलिये इस निष्कलनाथ या सकलनाथ रूपी मन्त्र के शोध्य होने की शङ्का नहीं करनी चाहिये । शान्त्यतीता कला में तो शान्त्यतीता नाम के अनुरूप ही पृथक् अङ्गमन्त्र की सम्भावना नहीं होती । तीन धाम वाला नेत्रमन्त्र जो कि ईशान मन्त्र से भिन्न है, शोध्य की कक्षा में अनुप्रविष्ट है (अर्थात् शोध्य होता है), अन्यथा ग्यारह मन्त्रों का शोधन नहीं हो सकेगा । फलतः

'मन्त्रों की संख्या ग्यारह समझनी चाहिये ।' (४।२००)

यह आगे कहे जाने वाला वाक्य असङ्गत हो जायेगा । इसीलिये अस्त्रमन्त्र का ताडन आदि में ही उपयोग होता है ।नेत्रमन्त्र मूल मन्त्र से अभिन्न है इसलिये वे दोनों (= नेत्रमन्त्र और अस्त्रमन्त्र) कला के अन्दर शोधनीय नहीं होते—ऐसा जो किसी का मत है वह ठीक नहीं है । और जो निष्कृति आदि होमों में मन्त्रों का नियमन कर दिया गया कि इसमें अमुक मन्त्र और इसमें अमुक मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये । उस विषय में ईश्वर की आज्ञा ही नियामिका है । इस प्रकार सब ठीक है ॥ १९६ ॥

त एते सर्व एव पाशाः—

शोधनीया वरारोहे...............

वर उत्कृष्ट ऊर्ध्वद्वादशान्तविश्रान्तिरूप आरोह उल्लासो यस्याः शक्तेः ॥

तावच्चैते शोध्याः—

...............यावत्ते शिवरश्मयः ।

निरवशेषभेदोपशान्त्या शिवस्य रश्मिरूपा अभिन्नप्रभामात्रात्मानः संपद्यन्ते इत्यर्थः ॥

अत एव—

शिवस्योर्ध्वे शिवो ज्ञेयो यत्र युक्तो न जायते ॥ १९७ ॥

उत्तीर्णशिवतत्त्वोपरि विश्वोत्तीर्णविश्वमयचिदानन्दघनस्वच्छन्दभट्टारको यत्र वक्ष्यमाणयोजनिकाक्रमेण युक्तो न जायते, मुच्यते इत्यर्थः ॥ १९७ ॥

अत एवास्य यावान् कलापञ्चकान्तः प्रपञ्चितः, स सर्व एव—

षडध्वा चैकतो ज्ञेयः................

हे वरारोहे ! वे सभी पाश शोधनीय हैं ॥ १९७- ॥

(वरारोह शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं—) वर = उत्कृष्ट = ऊर्ध्व द्वादशान्त में विश्रान्तिरूप, आरोह = उल्लास, है जिसका वह = पारमेश्वरी शक्ति ॥

उनका शोधन तब तक करना चाहिये—

जब तक वे शिवरश्मिस्वरूप नहीं हो जाते ॥ -१९७- ॥

भेद की पूर्णरूपेण शान्ति होने से वे पाश शिव की रश्मिस्वरूप अर्थात् अभिन्नप्रभारूप नहीं हो जाते ॥

इसलिये—

इसलिये ये सभी पाश—

शिव के ऊपर शिव का ज्ञान करना चाहिये जिससे युक्त होने पर जन्म नहीं होता ॥ -१९७ ॥

उत्तीर्ण शिवतत्त्व के ऊपर एक साथ विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय चिदानन्दघन स्वच्छन्दभट्टारक परम शिव का निवास है जिसमें वक्ष्यमाण योजनिका दीक्षा के क्रम से युक्त किया गया जीव पुनः उत्पन्न नहीं होता अर्थात् मुक्त हो जाता है ॥१९७॥

इसलिये इस (विश्व रूप अध्वा) का पाँच कलाओं तक जितना सृष्टिविस्तार है वह सब—

एकस्मिन् परमशिवात्मन्यभेदेनावस्थितस्तत्सामरस्यमापन्नो ज्ञातव्यो गुरुणा साकल्येन सङ्कल्पितः ॥

कियानसावध्वा यो दीक्ष्यस्य शिवैकात्म्यं प्राप्त इति दर्शयितुमाह—

.........तस्य संख्यां पुनः शृणु ।
कलाश्च पञ्च विज्ञेयास्तत्त्वषट्त्रिंशदेव तु ॥ १९८ ॥
सचतुर्विंशति ज्ञेयं भुवनानां शतद्वयम् ।
एकाशीतिपदान्यत्र वर्णार्धशतिका स्मृता ॥ १९९ ॥
मन्त्रा एकादश ज्ञेया इत्येतच्चाध्वमण्डलम् ।
एतस्मिन् शुद्धिमापन्ने मुक्तिमाप्नोति दीक्षितः ॥ २०० ॥

शुद्धिरस्य परमशिवाभिव्यक्तिरित्युक्तम् ॥ २०० ॥

एवं प्रसङ्गिकमध्वशुद्धिग्रन्थमभिधाय प्रकृतमाह—

ध्रुवेणावाह्य वागीशीं विन्यसेत्........

तदर्थम्—

.......पूर्ववद्धुतिः ।

षडध्वा एक रूप जानना चाहिये ॥ १९८- ॥

('एकतः' का अर्थ स्पष्ट करते हैं—) एक = परमशिव में अभिन्न रूप से स्थित = उस शिव से समरस हुआ, जानना चाहिये = गुरु के द्वारा एकरूप में कल्पना करनी चाहिये ॥

यह अध्वा कितनी संख्या वाला है जो दीक्ष्य के लिये शिव के साथ तादात्म्य को प्राप्त हो चुका है—यह बतलाने के लिये कहते हैं—

(हे देवि !) अब उसकी (= षडध्व की) संख्या सुनिये । पाँच कलायें, छत्तीस तत्त्व, दो सौ चौबीस भुवन, इक्यासी पद, पचास वर्ण, ग्यारह मन्त्र यह सब मिलकर अध्वा बनता है । इसके शुद्ध होने पर दीक्षित व्यक्ति मुक्ति को प्राप्त करता है ॥ -१९८-२०० ॥

इस (दीक्षित) की शुद्धि का अर्थ है—इस अध्वा की परम शिव के रूप में अभिव्यक्ति ॥ २०० ॥

प्रसङ्गः प्राप्त अध्वशुद्धि ग्रन्थ का कथन कर अब प्रस्तुत को कहते हैं—

ध्रुव मन्त्र से वागीश्वरी का आवाहन कर उनकी न्यास (= स्थापना) करनी चाहिये ॥ २०१- ॥

उस (= स्थापना) के लिये ।

सम्पूज्य कुसुमाद्यैस्तु तद्योनौ पूर्ववत् पशुम् ॥ २०१ ॥

योजयेदिति शेषः ॥ २०१ ॥

किं च—

ध्रुवेण सर्वं कर्तव्यं जननादिलयान्तकम् ।
निष्कृतौ शतहोमं तु मूलमन्त्रेण कल्पयेत् ॥ २०२ ॥
विश्लेषपाशच्छेदाभ्यां प्राग्वत् कुर्याद् ध्रुवेण तु ।

छेदाभ्यामिति तादर्थ्ये । तेन विश्लेषाद्यर्थं प्राग्वत् कुर्यात्, हुत्यादिकर्मेत्यर्थः ॥ २०२ ॥

किं च—

ग्रहेणात्मस्थतस्थत्वं प्रणवेन पशोः स्मृतम् ॥ २०३ ॥

प्रणवो निष्कलनाथः ॥ २०३ ॥

सदाशिवमथावाह्य मूलमन्त्रं समुच्चरन् ।
नमस्कारेण संस्थाप्य पुष्पैः सम्पूज्य तर्पयेत् ॥ २०४ ॥

पूर्व की भाँति हवन करना चाहिये । गन्ध पुष्प आदि से उस वागीशी की पूजा कर पूर्व की भाँति उस (= शुद्ध विद्या) की योनि में पशु की योजना करनी चाहिये ॥ -२०१ ॥

'योजना करे'—यह अन्वय है ॥ २०१ ॥

तथा—

(शुद्ध विद्या में दीक्ष्य के) जन्म से लेकर लय तक समस्त संस्कार ध्रुव मन्त्र से करना चाहिये । विश्लेष और पाशच्छेद के लिये ध्रुवमन्त्र से हवन आदि करना चाहिये ॥ २०२-२०३- ॥

'छेदाभ्याम्' शब्द में चतुर्थी विभक्ति तादर्थ्य में है । इससे यह अर्थ निकला कि विश्लेष आदि के लिये हवन आदि कर्म पूर्व की भाँति करनी चाहिये ॥ २०२॥

और भी—

पशु का आत्मस्थत्व और तत्स्थत्व प्रणव के द्वारा बतलाया गया है ॥ -२०३ ॥

प्रणव = निष्कलनाथ (= ओङ्कार) ॥ २०३ ॥

इसके बाद मूलमन्त्र का उच्चारण करते हुए सदाशिव का आवाहन कर नमस्कार के द्वारा उनकी स्थापना कर पुष्प आदि से पूजा करने के

मनः पुर्यष्टकांशं तु विन्यसेत् कारणेश्वरे ।

कथमित्याह—

प्रणवादि समुच्चार्य मनः संज्ञां नमस्तथा ॥ २०५ ॥
विन्यस्य पूजयेत् पश्चात् संज्ञास्वाहान्तमेव च ।

प्रणवधामभ्यामनन्तरं 'मनो देवदत्तस्यार्पयामि नमः' इति मन्त्रप्रयोगः, होमे तु स्वाहेत्यन्तः । संज्ञास्वाहान्तमिति क्रियाविशेषणम् ॥ २०५ ॥

अत्र च—

आहुतित्रितयं हुत्वा पुर्यष्टांशाद्विशुद्ध्यति ॥ २०६ ॥
ततो विसर्जयेद् देवं कारणं च सदाशिवम् ।
पुष्पादिभिः समभ्यर्च्य वागीशीं तदनन्तरम् ॥ २०७ ॥
तां तु सम्पूज्य संतर्प्य विज्ञाप्या भक्तिभाविता।
क्षमस्व देवदेवेशि पश्वर्थं खेदिता मया ॥ २०८ ॥
इदानीं नोपरोद्धव्यं गच्छ देवि स्वविष्टपम् ।

बाद तर्पण करे । पुर्यष्टक के अंशभूत मन का कारणेश्वर (= सदाशीव) में न्यास करे ॥ २०४-२०५- ॥

(यह न्यास) कैसे होगा—यह बतलाते हैं—

प्रणव आदि का उच्चारण कर 'मनः' शब्द का फिर दीक्ष्य का नाम फिर 'नमः' का उच्चारण करे । यह सब करके फिर सदाशिव का पूजन करे । बाद में हवन के समय दीक्ष्य की संज्ञा एवं 'स्वाहा' कर उच्चारण करे ॥ -२०५-२०६- ॥

प्रणव और धाम (हूँ) के बाद 'देवदत्तस्य मनोऽर्पयामि नमः' इस मन्त्र के प्रयोग से पूजन आदि करना चाहिये । होम के समय अन्त में 'नमः' की जगह 'स्वाहा' शब्द का प्रयोग होगा । उक्त श्लोक में 'संज्ञास्वाहान्त' शब्द 'पूजयेत्' क्रिया का विशेषण है ॥ २०५ ॥

यहाँ—

तीन आहुतियों को देने के बाद (दीक्ष्य के) पुर्यष्टांश की शुद्धि हो जाती है । इसके बाद कारणभूत सदाशिव देव (अथवा ईश्वर और सदाशिव) का विसर्जन करना चाहिये । इसके बाद पुष्प आदि से वागीश्वरी का पूजन कर उनका तर्पण करना चाहिए । तर्पण के बाद आचार्य भक्तिपूर्वक उनको विज्ञापित करे कि—हे देवदेवेशि ! आप मुझे क्षमा करो । पशु के (कल्याण या उद्धार के) लिये मैने आपको कष्ट दिया । अब

सर्वदीक्षान्त इयं विज्ञप्तिः कार्येति विशेषद्योतनाय तुशब्दः । खेदनं भूयोभूयः परस्वरूपाद् गर्भाधानाद्यर्थमवतारणम्, नोपरोद्धव्यमिति अस्य दीक्षितस्येदानीं त्वया नोपरोधेन स्वरूपावरणं कार्यमिति यावत् । अत एव स्वविष्टपं दीक्षितस्य परमशिवात्मस्वात्मस्वरूपमधिकरणं गच्छ तन्मयतयास्य सदा स्फुरेत्यर्थः । अत एव श्रीस्पन्देऽभिहितम्—

'स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका' (स्प० ३४।१८) इति ।

यदुक्तं ब्रह्मणि शब्दस्पर्शौ, विष्णौ रसः, रुद्रे रूपगन्धौ, ईश्वरे बुद्ध्यहङ्कारौ, सदाशिवे मनः पुर्यष्टकांशमर्पयेत् । तत्रायमभिप्रायः—इह ब्रह्मा परमया व्याप्त्या नादान्तोपरि ब्रह्मबिलाधिष्ठातृब्रह्मरूपः, विष्णुरपि तदुपरि प्रसरद्रूपशक्तिप्रधानशक्त्यात्मा, रुद्रोऽपि व्यापिनीपदावस्थितानाश्रितनाथरूपः, ईश्वरोऽपि समनापदाधिरूढः सृष्ट्यधिकारी शिवः, सदाशिवस्तु स्वच्छस्वच्छन्दचिदानन्दघनः परमशिवः, इत्येकादशपटलोक्तव्यवस्थया परस्य ब्रह्मणो नादान्तशक्त्योर्मध्यवर्तित्वात् सूक्ष्मतमाभ्यां शब्दस्पर्शाभ्यां योगः । एवं मूलभूमौ स्पर्शप्रधानापि प्रसरद्रूपतया रसमयी

(आप इसके कल्याण में) उपरोध (= रुकावट) न करे और अपने स्थान को जायें ॥ -२०६-२०९- ॥

सभी दीक्षाओं के अन्त में यह विज्ञप्ति करनी चाहिये—इस वैशिष्ट्य को बतलाने के लिये श्लोक में 'तु' शब्द का प्रयोग किया गया । वागीशी को कष्ट देने का अर्थ है—गर्भाधान के लिये बारम्बार वागीशी को उनके परस्वरूप से अवतरित करना (= नीचे ले आना) । 'उपरोध नहीं करना चाहिये' का तात्पर्य है—इस दीक्षित के लिये आप अपने स्वरूप को आवृत मत कीजिये । इसीलिये अपने विष्टप = परमशिव वाले आत्मस्वरूपी स्थान, को जाइये अर्थात् तन्मय (= शिवमय) होकर सर्वदा इस (= दीक्षित) के सामने स्फुरण करिये । इसीलिये स्पन्दशास्त्र में कहा गया—

'परमेश्वर की क्रियाशक्ति यदि स्वमार्गस्था के रूप में ज्ञात हो जाती है तो सिद्धि (= मोक्ष) की साधिका हो जाती है ।' (स्प०का० ३।१६)

जो यह कहा गया कि ब्रह्मा में शब्द और स्पर्श, विष्णु में रस, रुद्र में रूप और गन्ध, ईश्वर में बुद्धि तथा अहङ्कार और सदाशिव में पुर्यष्टक के अंशभूत 'मन' को समर्पित करना चाहिये उसका यह अभिप्राय है— ब्रह्मा परम व्याप्ति के द्वारा नादान्त के ऊपर ब्रह्मविल (= सहस्रार) के अधिष्ठाता ब्रह्म रूप हैं । विष्णु भी उस (= ब्रह्मबिल) के ऊपर प्रसरण करने वाली शक्ति प्रधान शक्तितत्त्व रूपी हैं । रुद्र व्यापिनी पद में अवस्थित अनाश्रितनाथ रूपी हैं । ईश्वर समनापद पर अधिरुढ़ सृष्टि के अधिकारी शिवरूप है । सदाशिव स्वच्छस्वच्छन्द चिदानन्दघन परमशिव हैं । ग्यारहवें पटल में उक्त इस व्यवस्था के अनुसार चूँकि परब्रह्म नादान्त और शक्ति के मध्य में वर्त्तमान हैं । इसलिये उनका सूक्ष्मतम शब्द स्पर्श से सम्बन्ध है । इसी

शक्तिरिति तन्मयस्य विष्णोः सूक्ष्मतमरससंबन्धः, ततोऽपि रुद्रस्य व्यापिन्यामनाश्रितपदे विश्वस्यासूत्रणादमात्रात्मनः प्राक्सृष्टोपसंहृतजगद्गतसुसूक्ष्मतमसंस्कारमात्रात्मना तनीयस्तमेन गन्धेन चास्ति संबन्धः । समनाधिष्ठातरि तु शिवे मननमात्रसारे विगलद्बुद्ध्यहङ्कारवासनासङ्गः, परमशिवेऽपि उन्मनाशक्तिसमाश्लिष्टे मननसंस्कारस्यापि गलनमित्यतिसुसूक्ष्मतमस्वप्रशान्तमनःसंस्कारसंबन्धोऽस्ति, इत्याशयेन निरवशेषसंस्कारपर्यन्तपुर्यष्टकप्रशान्त्यर्थमेव पुर्यष्टकांशार्पणम् । अन्ये तु—

'श्रुतित्वग्विप्लुतिर्ब्राह्मी ब्रह्मक्रव्यादयोनिदा ।
रासनी वैष्णवी रौद्री घ्राणलोचनहेतुका ॥
ऐश्वरी गर्वधीरूपा मानसी शिवदेवता ।' (मि.क्रि. ८।१४०-१४१)

इति निर्बीजदीक्षाविषयश्रीमृगेन्द्रवाक्यटीकायामुक्तेन्द्रियविप्लुत्यात्मसमयोल्लङ्घनसंभाव्यमानतत्तत्क्रव्यादत्वप्रशमनाय पाशशोधनपरेऽपि वाक्ये निर्बीजदीक्षायां पुर्यष्टकात् शब्दस्पर्शार्पणं ब्रह्मणि कार्यमित्यादि यद्भट्टनारायणकण्ठेनोक्तं तदेवात्र योजयाञ्चक्रुः । तत्र सबीजनिर्बीजादिसर्वदीक्षासु पुर्यष्टकांशार्पणमाम्नातम्, अतो मृगेन्द्रायां

प्रकार मूलभूमि में स्पर्शप्रधाना होती हुई भी रसमयी शक्ति प्रसरण करती है इसलिये तन्मय विष्णु का सूक्ष्मतम रसतत्त्व से सम्बन्ध है । इसके ऊपर रुद्र का व्यापिनी में अनाश्रित पद पर मात्रारहित विश्व का आसूत्रण (= सूक्ष्म प्रारम्भ) करने से पूर्व सृष्ट एवं उपसंहृत जगत् के सुसूक्ष्मतमसंस्कार के रूप में अत्यन्त सूक्ष्म गन्ध के साथ सम्बन्ध होता है । समना के अधिष्ठाता शिव, जो कि मनन मात्र वाले हैं, मे बुद्धि अहङ्कार की वासना की आसक्ति भी नष्ट हो जाती है। उन्मना शक्ति से समाश्लिष्ट परमशिव में मननसंस्कार का भी क्षय हो जाता है । इसलिये अत्यन्त सूक्ष्म प्रशान्त मन का संस्कारलेश रह जाता है । इस आशय से संस्कार की समाप्ति पर्यन्त पुर्यष्टक की प्रशान्ति के लिये पुर्यष्टकांश का अर्पण होता है । दूसरे लोग—

'श्रोत्रेन्द्रिय और त्वगिन्द्रिय की विप्लुति (= लोप) ब्रह्मा से सम्बद्धि है । यह विप्लुति एक ओर ब्रह्मा से तादात्म्य स्थापित कराती है तो दूसरी और नियम का पालन न करने पर क्रव्याद (= मांसभक्षी = राक्षस) की योनि में भेज देती है । इसी प्रकार रासनी विप्लुति विष्णु से सम्बद्ध है । घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय वाली विप्लुति रुद्र समावेश कराती है । ईश्वर वाली विप्लुति बुद्धि और अहङ्कार रूपा है तथा सदाशिव में मानस विप्लुति है ।' (मृ०त०क्रि०पा० ८।१४०-१४१)

मृगेन्द्रतन्त्र में निर्बीज दीक्षा के विषय में यह वाक्य टीका में कहा गया है, यद्यपि यह वाक्य उक्त इन्द्रियविप्लुतिवाले समयोल्लंघन से संभाव्यमान तत्तत् क्रव्यादत्व की शान्ति के लिये उक्त है तथापि निर्बीज दीक्षा में पुर्यष्टक में से शब्द और स्पर्श का अर्पण ब्रह्मा में करना चाहिये इत्यादि जो भट्टनारायण ने अपने कण्ठ से कहा है उसी की योजना यहाँ की गयी है । वहाँ पर सबीज निर्बीज सभी दीक्षाओं में पुर्यष्टक के अंशों का अर्पण कहा गया है । इसलिये मृगेन्द्रतन्त्र में

समयपाशशोधनपरेऽपि वाक्ये निर्बीजदीक्षाविषयमेव पुर्यष्टकांशार्पणं तदभिप्रायवर्णनं च तेनाकारि, तद्युक्तमयुक्तं वेति सचेतसः प्रमाणमित्यलम् ॥ २०८ ॥

अथ वागीशीम्—

विसर्ज्यैवं कला भाव्या शान्त्यतीता लयं गता ॥ २०९ ॥
स्वशक्त्याधारपर्यन्ते सुसूक्ष्माभावसंस्थिते ।

स्वा स्वातन्त्र्यात्मा शक्तिराधारः समवायिनी यस्य, स एवाशेषस्य समनाप्रतिष्ठास्थानत्वात् पर्यन्तः, अत एव सुष्ठु सूक्ष्मस्याभावस्य समनात्मनो व्यापिन्यादिक्षित्यन्तनिःशेषभावाभावभित्तिभूतस्य महाशून्यस्य संस्थितं संस्थानं यत्र ॥ २०९ ॥

अथ कायवाङ्मनःकर्मान्यथाभावे जाते सति—

आत्मतत्त्वविभागेन धाम्ना वै जुहुयाच्छतम् ॥ २१० ॥

आत्मशब्दो विद्याशिवावुपलक्षयति, तेनात्मविद्याशिवतत्त्वविभागेनेत्यत्रार्थः ॥२१०॥

तथा—

वाक्य के समयपाशशोधनपरक होने पर भी पुर्यष्टकांश का अर्पण निर्बीज दीक्षाविषयक ही है । उसी अभिप्राय से उन्होंने वर्णन भी किया है । अब यह कथन युक्त है या अयुक्त इस विषय में विद्वान् लोग ही प्रमाण हैं ॥ २०८ ॥

इसके बाद वागीश्वरी का—

विसर्जन कर शान्त्यतीता कला की, अपनी शक्तिरूपी आधार, जो कि सूक्ष्म अभावरूपी संस्थान है, में विलय की भावना करे ॥-२०९-२१०-॥

स्व = अपनी स्वातन्त्र्यरूपा शक्ति, आधार = समवायिनी है जिसकी, वही सम्पूर्ण विश्व का समनाप्रतिष्ठास्थान होने से पर्यन्त (= अन्तिम सीमा) है । इसीलिये समनानामक सुष्ठुसूक्ष्म अभाव जो कि व्यापिनी से लेकर पृथिवी पर्यन्त समस्त भावाभाव का आधार है, ऐसे महाशून्य का संस्थित = संस्थान है जहाँ (उस समना में लय की भावना करनी चाहिये) ॥ २०९ ॥

तत्पश्चात् शरीर वाणी मन इन तीनों से विहित कर्म के अन्यथा (= लीन प्रभावहीन) होने के पश्चात्—

आत्मतत्त्व का विभाग कर धाम (= मूल मन्त्रहूम्) से एक-सौ आठ आहुति देनी चाहिये ॥ -२१० ॥

आत्मशब्द शिव आदि का उपलक्षण है । इस प्रकार आत्मा शुद्ध विद्या और शिवतत्त्व के लिये अलग-अलग हवन करना चाहिये ॥ २१० ॥

तथा—

सशब्दोच्चारयोगेन आत्मतत्त्वे तु होमयेत् ।

प्रणवनिष्कलोच्चारपूर्वं दीक्ष्यस्यात्मतत्त्वव्याप्तमायान्ताध्वशुद्धौ विधिन्यूनातिरिक्तदोषशुद्धिरस्तु स्वाहा—इत्यत्र प्रयोगः ॥

एतच्चात्मतत्त्वम्—

मायातत्त्वावधि ज्ञेयं दैशिकेन महाध्वरे ॥ २११ ॥

मायान्तं वेद्यं सर्वमिति तद्व्याप्त्यात्मतत्त्वं । महाध्वरे दीक्षाप्रयोजनशिवयागे ॥ २११ ॥

किमर्थमयं होमः, इत्याह—

विधिवैकल्यकर्मार्थं प्रायश्चित्तविशुद्धये ।

विधिः पूजाहोमादिः शास्त्रचोदितस्तस्य वैकल्यकर्म न्यूनातिरेकानुष्ठितिस्तदर्थमिति तन्निवृत्त्यर्थं या प्रायश्चित्तशुद्धिस्तस्यै ॥

अथ—

विद्यातत्त्वे तु होतव्यं शतमष्टोत्तरं प्रिये ॥ २१२ ॥

शब्दोच्चारण के साथ आत्मतत्त्वविषयक होम करना चाहिये ॥२११-॥

प्रणव निष्कल का उच्चारण कर 'दीक्ष्य की आत्मतत्त्वव्याप्त मायान्तशुद्धि के लिये विधि में न्यूनातिरिक्त दोष की शुद्धि हो जाय'—यह पढ़कर हवन करना चाहिये (मन्त्र का स्वरूप होगा—ॐ अं दीक्ष्यस्यात्मतत्त्व व्याप्त मायाध्व शुद्धौ विधिन्यूनातिरिक्त दोषशुद्धिरस्तु स्वाहा) ॥

और यह आत्मतत्त्व—

महायज्ञ में आचार्य के द्वारा मायातत्त्व पर्यन्त समझे ॥ -२११ ॥

'मायापर्यन्त सब वेद्य है ।' इसलिये उस (= माया) की व्याप्ति से युक्त आत्मतत्त्व को समझना चाहिये । महा अध्वर में = दीक्षा प्रयोजन वाले शिवयाग में ॥ २११ ॥

यह होम किसलिये है—यह कहते हैं—

विधि का वैकल्य कर्म के लिये जो प्रायश्चित्त शुद्धि की जाती है उसके लिये (यह होम है) ॥ २१२- ॥

विधि = शास्त्र निर्दिष्ट पूजा होम आदि । उसका वैकल्पकर्म = न्यूनाधिक अनुष्ठान, उसकी निवृत्ति के लिये जो प्रायश्चित्तशुद्धि, उसके लिये (यह होम करना चाहिये) ॥

इसके बाद—

तच्च

उपांशूच्चारयोगेन विद्यातत्त्वे तु होमयेत् ।

पूर्वोक्ताया विद्याया इयमन्यैव ।

मायान्ते विद्या करणरूपा भगवतः, इति वक्तुमाह—

सदाशिवान्तमध्वानं विद्यातत्त्वं विनिर्दिशेत् ॥ २१३ ॥

ज्ञानक्रियात्मा शक्तिः शिवस्य कारणं तद्रूपश्च सदाशिवः, इति तदन्ता विद्यातत्त्वस्य व्याप्तिः ॥ २१३ ॥

अत्र च—

मन्त्रोच्चारविलोमेन प्रायश्चित्तं तु यद्भवेत् ।
तद्विशुद्ध्यै स होमः स्याद्विद्यातत्वे तु यः कृतः ॥ २१४ ॥

विलोमताऽन्यथाकरणम् । अत्र च प्रणवनिष्कलावुच्चार्य दीक्ष्यस्य विद्यातत्त्वव्याप्तसदाशिवान्ताध्वशुद्धौ मन्त्रोच्चारवैलोम्यशुद्धिरस्तु स्वाहेति प्रयोगः ॥ २१४ ॥

अनन्तरम्—

हे प्रिये ! विद्यातत्त्व में (के लिये) १०८ बार होम करे ॥ -२१२ ॥

और वह—

उपांशु उच्चार के योग से विद्यातत्त्व में हवन करना चाहिये ॥ २१३- ॥

यह विद्या पूर्वोक्त विद्या से भिन्न है ।

मायान्त में विद्या भगवान् की करणरूपा है—यह कहते हैं—

यहाँ सदाशिव पर्यन्त अध्वा को विद्या तत्त्व जानना चाहिये ॥ -२१३ ॥

शिव की ज्ञान क्रिया रूपा शक्ति कारण है और वही सदाशिव है । इस प्रकार विद्या तत्त्व की व्याप्ति तदन्त (= सदाशिवपर्यन्त है) ॥ २१३ ॥

यहाँ—

मन्त्रोच्चार में उल्टापुल्टा होने से जो प्रायश्चित्त होता है उसकी शुद्धि के लिये वह होम होता है जो कि विद्यातत्त्व में किया जाता है ॥ २१४ ॥

विलोमता = दूसरी प्रकार से (उच्चारण) करना । यहाँ प्रणव और निष्कल (= ॐ हूं) का उच्चारण कर—'दीक्ष्य की विद्यातत्त्व में व्याप्त सदाशिवपर्यन्त अध्वशुद्धि में मन्त्रोच्चारवैलोम्य की शुद्धि हो स्वाहा' यह वाक्य उच्चारण करना चाहिये ॥ २१४ ॥

मनोविज्ञानवैकल्यात् प्रायश्चित्तं तु यद्भवेत् ।
तच्छुद्ध्यर्थं शिवे तत्त्वे मूलमन्त्रेण होमयेत् ॥ २१५ ॥
मानसेन प्रयोगेन.............

मनोविज्ञानं भावना, शिवतत्त्वमुक्ततत्त्वापेक्षयात्र प्रमातृरूपम् ॥ २१५ ॥

एतच्च—

........शक्त्यन्तेऽध्वनि संस्थितम् ।

शक्त्यन्तं समनान्तमुत्तीर्य शिवभट्टारकस्य तावद्व्याप्तिकत्वात् ॥

अथाशेषबन्धभित्तेर्मुण्डान्तोर्ध्ववाहिन्याः प्राणशक्तेरधोवाहात्मकबन्धकत्वोपशमाय तदनुकारिण्याः स्थूलदेहगतायाः शिखायाश्छेदमादिशति—

तत्त्वत्रयविशुद्ध्यन्ते शिखाच्छेदं तु कल्पयेत् ॥ २१६ ॥

कथं च—

अध्वान्तस्थां परां शान्तामनौपम्यामनामयाम् ।
व्यापिनीं सर्वतत्त्वानां सर्वकारणकारणम् ॥ २१७ ॥

तत्पश्चात्—

मनोविज्ञान के विकल होने से जो प्रायश्चित्त होगा उसकी शुद्धि के लिये मूलमन्त्र से शिव तत्त्व में मानस प्रयोग के द्वारा ही होम करना चाहिये ॥ २१५-२१६- ॥

मनोविज्ञान = भावना । यहाँ शिवतत्त्व उक्त तत्त्व की अपेक्षा प्रमातृ रूप कहा गया है ॥ २१५ ॥

और यह (= शिवतत्त्व)—

शक्त्यन्त अध्वा में स्थित है ॥ -२१६- ॥

शक्त्यन्त अर्थात् समनापर्यन्त पार करने के बाद उन्मना पर्यन्त शिवभट्टारक की स्थिति होने के कारण (समनापर्यन्त शुद्धि हो जाती है) ॥

अब समस्त बन्धनों की आधारभूता, शिर के अन्त में ऊर्ध्ववाहिनी प्राण शक्ति को नीचे बहने से रोकने के लिये उस (= प्राण शक्ति) की अनुकृति स्वरूपा स्थूल देह में वर्त्तमान शिखा का छेद बतलाते हैं—

तीन तत्त्वों की विशुद्धि के बाद शिखाच्छेदन करना चाहिये ॥ -२१६ ॥

और यह कैसे होगा ?—(यह बतलाते हैं—)

शिशु के शिखा के अग्रभाग में, जैसे कि पुष्प के अग्रभाग में

ध्यात्वा शिशोः शिखाग्रे तु पुष्पाग्रे जलबिन्दुवत् ।

अध्वनोऽन्तेऽत एवाविद्यमानाध्वान्ते पदे च स्थितां परां शान्तामिति शान्त्यतीतां सर्वोपाधिक्षैण्यादनामयामकलङ्कां षण्णामपि कारणानां कारणं शिशोः शिखाग्रे ध्यात्वेति सङ्गतिः ॥ २१७ ॥

किं च—

कर्तरीं शिखयामन्त्र्य शिखया च्छेदयेच्छिखाम् ॥ २१८ ॥

शिखयेति नैष्कलेन शिखामन्त्रेण । इह विशेषानभिधानान्निर्बीजसबीजदीक्षाद्वयविषयशिखाच्छेदनं न तु निर्बीजायामेव ॥ २१८ ॥

अथ—

शिखां समर्प्य चान्यस्य निर्गच्छेत् स सशिष्यकः ।

तत्र च—

स्नानं समाचरेच्छिष्यः................

छिन्नशिखत्वात् ॥

जलबिन्दु का, उसी प्रकार अध्वान्तस्था, अनौपम्या, अनामया, सबतत्त्वों में व्याप्त, सब कारणों की कारणभूता पराशान्ता का ध्यान कर (शिखाच्छेदन करना चाहिये) ॥ २१७-२१८- ॥

अध्वा के अन्त में = अविद्यमान अध्वा के अन्त में और पद में स्थित पराशान्ता को = शान्त्यतीता को, समस्त उपाधि के क्षीण होने से अनामया = कलङ्करहित, छहों कारणों की कारणभूता (शान्त्यतीता का) शिशु के शिखा के अग्रभाग में ध्यान कर शिखा का छेदन करे ॥ २१७ ॥

तथा—

शिखामन्त्र के द्वारा कैंची का अभिमन्त्रण कर शिखा मन्त्र से ही शिखा का छेदन करना चाहिये ॥ -२१८ ॥

शिखा के द्वारा = निष्कल शिखामन्त्र (ॐ ह्रीं शिखायै नमः) के द्वारा । यहाँ विशेष का कथन न होने से निर्बीज सबीज दोनों प्रकार की दीक्षाओं से सम्बद्ध शिखाछेदन का विधान विहित है न कि केवल निर्बीजदीक्षाविषयक ॥ २१८ ॥

इसके बाद वह (= आचार्य) किसी दूसरे आदमी को शिखा देकर शिष्य के साथ वहाँ (= यागस्थल) से चला जाय ॥ २१९- ॥

शिखाछेदन के कारण

शिष्य स्नान करे ॥ -२१९- ॥

तत्स्पर्शात्तु—

................गुरोराचमनं भवेत् ॥ २१९ ॥

स शिष्यसंपर्कत्वात् पराशयग्रहणाय वा—

स्नानमुद्धूलनं वाथ आचरेत् स्वेच्छया गुरुः ।

ततः—

प्रविश्य सकलीकृत्य..............

आत्मानम् ।

............पूर्णया जुहुयाच्छिखाम् ॥ २२० ॥

उक्तव्याप्तिप्राणशक्त्यनुकारिणीम् । अत्र च पूर्वसंवादितः पाशहोममन्त्रः प्रयोक्तव्यः ॥ २२० ॥

इत्थं च—

हुत्वा निर्गम्य चाचम्याक्षाल्य स्रुक्स्रुवकर्तरीः ।
प्रविश्य सकलीकृत्य शिवहस्तानुपूजनम् ॥ २२१ ॥

और उस (= छिन्न शिख) शिष्य का स्पर्श करने के कारण ॥

गुरु आचमन करे ॥ -२१९ ॥

शिष्य के सम्पर्क के कारण अथवा पराशय के ग्रहण (= दूसरे को सन्तुष्ट करने) के लिये—

गुरु को अपनी इच्छानुसार जलस्नान या उद्धूलन (= भस्म स्नान) करना चाहिए ॥ २२०- ॥

इसके बाद—

(यज्ञ स्थल में) प्रवेश कर और अपना सकलीकरण[1] (= पञ्च ब्रह्म के मन्त्रों का अड़तीस विभाग करते हैं । ये ही अड़तीस कलायें है इनका न्यास) करना चाहिये । पूर्णाहुति के साथ उस छिन्न शिखा का हवन कर देना चाहिए ॥ -२२० ॥

यह शिखा पूर्वोक्त व्यापिनी प्राणशक्ति की अनुकारिणी होती है । यहाँ (= शिखा की आहुति में) पूर्व वर्णित पाशहोममन्त्र का प्रयोग करना चाहिये ॥ २२० ॥

इस प्रकार—

(शिखा का) हवन कर आचार्य यज्ञशाला से बाहर निकल जाय । फिर

१. द्रष्टव्य—सिद्धान्तसारावली—क्रियापाद (श्लो० सं० १६)

कुर्वीतेत्यर्थः ॥

ततस्तु मण्डले पश्चात् पूजयेत् परमेश्वरम् ।
पुष्पादिभिरशेषैस्तु ततो विज्ञापयेच्छिवम् ॥ २२२ ॥
भगवंस्त्वत्प्रसादेन अध्वषट्कव्यवस्थितम् ।
पशुं संगृह्य संशोध्य शिखाच्छेदावसानकम् ॥ २२३ ॥
त्वन्मुखोक्तविधानं तु लेशतो वर्तितं मया ।

ग्रहणं पाशसूत्रात् स्वदेहाच्च । संशोधनं मलेभ्यः । वर्तितं संपादितम् ॥२२३॥

किं च, शिष्यमिष्टं धाम लम्भयितं मया—

त्वच्छक्त्यैव तु गन्तव्यमाशु ध्रुवपदं शिवम् ॥ २२४ ॥

एवकारो निरपेक्षः शक्तिपात एवात्र प्रभवतीति ध्वनति । एतच्च पञ्चमपटलान्ते निर्णेष्यामः । ध्रुवपदं सप्तमं परमशिवस्थानम् ॥ २२४ ॥

तदर्थमेव—

इदानीं योजये कर्म................

आचमन कर और स्रुक् स्रुवा तथा कैंची को धोकर यज्ञमण्डप में प्रवेश करे । तत्पश्चात् सकलीकरण कर शिवहस्त का पूजन करे ॥ २२१ ॥

अर्थात् (पूजन) करना चाहिए ॥

इसके बाद मण्डल में पुष्प आदि समस्त द्रव्यों से परमेश्वर की पूजा करे । तत्पश्चात् परमेश्वर से निवेदन करे कि हे भगवन्! छः अध्वाओं में स्थित इस पशु का आपकी कृपा से ग्रहण कर संशोधन कर आपके मुख से कथित शास्त्र के अनुसार शिखाछेद पर्यन्त मैंने लेशमात्र अनुष्ठान कर दिया ॥ २२२-२२४- ॥

ग्रहण—पाशसूत्र से और अपनी (= शिष्य की) देह से । संशोधन = मलों का । वर्त्तन किया = सम्पादन किया ॥ २२३ ॥

तथा मैने शिष्य को वाञ्छित पद पर पहुँचा दिया—

अब आपकी शक्ति से ही यह शीघ्र ध्रुवपद अर्थात् शिवधाम को जाय ॥ -२२४ ॥

एवकार से यह ध्वनित होता है कि इस विषय में ईश्वर का निरपेक्ष शक्तिपात ही समर्थ होता है इसका वर्णन हम पञ्चमपटल के अन्त में करेगे । ध्रुवपद = छः अध्वाओं से ऊपर सातवाँ परशिव का स्थान ॥ २२४ ॥

उसके लिये ही—

मयारभ्यते ।

ततोऽत्र—

................तवाज्ञानुविधायिनः ।

आज्ञा मे दीयतां नाथ शिष्यं संयोजयाम्यहम् ॥ २२५ ॥

तवाज्ञेति

'दीक्षणीयास्त्वया शिष्याः ।'

इत्यधिकारावसरे प्राप्ता ।

अथ—

लब्धानुज्ञातमात्मानं.................

आज्ञालाभयुक्त्यैव रुद्रशक्तिसमावेशात्—

.............प्रहृष्टो निर्गतः पुरात् ।

अर्घहस्तो व्रजेदग्निम्................

पुरादिति मण्डलक्षेत्रात् ।

अथात्र—

..............शिष्यमाहूय प्रोक्षयेत् ॥ २२६ ॥

अब हम कर्म की योजना करते हैं

इसलिये इस विषय में—

हे नाथ ! अपनी आज्ञा के पालक मुझको आज्ञा दीजिये ताकि मैं शिष्य का संयोजन करूँ ॥ -२२५ ॥

आपकी आज्ञा—

'तुम शिष्यों की दीक्षा दो'

इस वचन के अनुसार अधिकारावसर पर प्राप्त (आज्ञा) ।

इसके बाद—

अपने को अनुज्ञा प्राप्त समझ कर ॥ २२६- ॥

आज्ञालाभ की युक्ति से ही रुद्रशक्तिसमावेश होने के कारण—

आचार्य प्रसन्न होकर यज्ञमण्डप से बाहर चला जाय और हाथ में अर्घ लेकर अग्नि के पास जाये ॥ -२२६- ॥

पुर से = मण्डल क्षेत्र से ॥

इसके बाद यहाँ पर—

प्रोक्षितस्य—

पूर्ववच्चासनस्थस्य सकलीकरणादिकम् ।

अन्तःकरणविन्यासं नाडीसन्धानपूर्वकम् ॥ २२७ ॥

पूजं तर्पणं चाग्नौ मन्त्राणां च शिवस्य च ।

कुर्यात् । तर्पणं मूलापेक्षया वक्त्राङ्गानाम् ॥

दशभागविभागेन................

नचात्र द्रव्येयत्तानियम इत्याह—

.............यथा द्रव्यानुसारतः ॥ २२८ ॥

यद्वक्ष्यति—

'तिस्रः पञ्च दशैका वा तिलैर्वाथ घृतेन वा ।' (४।४४८)

इति ॥ २२८ ॥

अथ ये निष्कलस्वरूपनिमज्जनेन सकलतामुन्मज्ज्य भगवतोऽन्तरङ्गशक्तिरूपा वक्त्राङ्गमन्त्रा भेदप्रथोत्थापनेन चिदात्मना संशुद्धत्वापादनेऽधिकृतास्तान्—

शिष्य को बुला कर (अर्घजल से उसका) प्रोक्ष करे ॥ -२२६ ॥

प्रोक्षणयुक्त—

और पूर्व की भाँति आसन पर विराजमान (शिष्य) का सकलीकरण आदि, नाडीसन्धानपूर्वक अन्तःकरण विन्यास मन्त्रों (= पञ्चब्रह्म के मन्त्र और षडङ्ग इस प्रकार ११ मन्त्रों) एवं शिव का पूजन तथा अग्नि में तर्पण करे ॥ २२७-२२८- ॥

यह तर्पण मूल की अपेक्षा वक्त्राङ्गों (= ईशान आदि) का होना चाहिये ॥

(यह तर्पण आहवनीय द्रव्य को) दश भागों में विभक्त कर होना चाहिये ।

यहाँ द्रव्य का परिमाण निश्चित नहीं है—यह कहते हैं—

(होम) यथाशक्ति उपलब्ध द्रव्य के अनुसार होना चाहिये ॥ -२२८ ॥

जैसा कि कहेंगे—

'यह आहुति तीन पाँच अथवा ग्यारह हो सकती है । आहुति तिल अथवा घृत से देनी चाहिये' ॥ २२८ ॥

जो वक्त्राङ्गमन्त्र निष्कलस्वरूप में निमज्जन के कारण सकलता को छोड़ कर भगवान की शक्ति रूप हो गये हैं, फलतः भेदप्रथा के हटा दिये जाने से चिदात्मा के द्वारा शुद्धि के लिये अधिकृत हो चुके हैं—

मन्त्रान् संशोधयेत् पश्चात् सकलीकरणे स्थितान् ।
सकृदाहुतियोगेन..................

मूलमन्त्रेणैवेतरमन्त्रशुद्धिरिति निर्णीतम्, अतः प्रणवनिष्कलोच्चारपूर्वं हृदाद्येकैकं जात्यन्तमुच्चार्य 'भगवन् दीक्ष्यस्य निष्कलशुद्धधामप्रथापरो भव स्वहा' इति प्रयोगेण निष्कलधामविश्रान्तिभावनयाहुतिं दद्यात् ॥

तत एतानिदं श्रावयेत्—

...............अधिकारो विवर्ज्यताम् ॥ २२९ ॥
सकलीकरणत्वेन न कदाचित् पशोः पुनः ।

सकलीकारो भवद्भिः कार्य इति शेषः ॥ २२९ ॥

एवं दीक्ष्यस्य मन्त्रैकादशिकाशुद्धिमितिकर्तव्यत्वेनोक्त्वा देवीमाह भगवान्—

योजनीयं प्रयोगं तु अधुना कथयामि ते ॥ २३० ॥

योजनायै हितं योजनीयम्, प्रकृष्टं योगमितिकर्तव्यतारूपं प्रयोगं चाधुना

सकलीकरण में स्थित उन मन्त्रों को बाद में एक आहुति के द्वारा शुद्ध करना चाहिये ॥ २२९- ॥

मूलमन्त्र के द्वारा ही अन्य मन्त्रों की शुद्धि होती है यह पहले बताया जा चुका है । अतः प्रणव और निष्कल (= हूँ) का उच्चारण कर हृदय आदि एक-एक की जाति (= मूल मन्त्र) का उच्चारण कर[1] हृदय आदि एक-एक का जाति (= नमः स्वाहा आदि) पर्यन्त उच्चारण कर 'भगवन् इस दीक्ष्य को निष्कल शुद्ध धाम से युक्त करो—स्वाहा'—इस प्रयोग के द्वारा दीक्ष्य निष्कल धाम में विश्रान्ति लाभ कर रहा है—इस भावना से एक आहुति देनी चाहिये ॥

इसके बाद इनको (= मन्त्रों को) यह सुनाना चाहिये—

आप लोग सकलीकरण का अधिकार छोड़ दें । इस पशु (= दीक्ष्य शिष्य) का पुनः सकलीकरण न करे ॥ -२२९-२३०- ॥

दीक्ष्य की ग्यारह मन्त्रों वाली शुद्धि को करणीय बतलाकर भगवान् शिव ने देवी से कहा—

अब (मैं) तुमको योजनीय प्रयोग बतलाऊँगा ॥ -२३० ॥

(योजनीय शब्द की व्याख्या करते हैं—) जो योजना के लिये हितकर हो उसे योजनीय कहा जाता है । यह प्रकृष्टयोग इतिकर्त्तव्यतारूप है तथा पाश का पूर्ण

---

१. जैसे ॐ हां हृदयाय नमः स्वाहा, ॐ ही शिरसे स्वाहा स्वाहा, ॐ हूं शिखायै वषद् स्वाहा इत्यादि ।

निःशेषपाशक्षपणे जाते सति, ते इत्यनुग्रहैकप्रवणतया भगवत्या एवैकस्याः परस्याः शक्तेर्योजनायां शक्तायाः कथयामि विमर्शपदं लम्भयामीत्यर्थः ॥ २३० ॥

अस्य चाभ्यस्तज्ञानयोगदुष्प्रापदैशिकप्रवरसाध्यत्वमिति दर्शयितुं महता पीठिकाबन्धग्रहणेन योजनोपयोगि प्रमेयत्रयोदशकं सद्गुरूणां हृदयङ्गमीकार्यं निर्णेतुमुदाक्षिपति परमेश्वरः—

ज्ञात्वा चारप्रमाणं तु प्राणसञ्चारमेव च ।
षड्विधाध्वविभागं तु प्राणैकत्र यथास्थितम् ॥ २३१ ॥
हंसोच्चारं तु वर्णैश्च कारणत्यागमेव च ।
शून्यं समरसं ज्ञेयं त्यागं संयोगमुद्भवम् ॥ २३२ ॥
भेदनं च पदार्थानां भावप्राप्तिवशात् पुनः ।
आत्मविद्याशिवव्याप्तिमेवं ज्ञात्वा तु योजयेत् ॥ २३३ ॥

इह—

'तस्मिन् युक्तः परे तत्त्वे सर्वज्ञादिगुणान्वितः ।
शिव एको भवेद् देवि अविभागेन सर्वतः ॥' (४।४०२)

इति भाविनीत्या परभैरवैक्यापत्त्यात्मा योजना पुर्यष्टकाहन्ताप्रशान्त्यैव गुरोः

रूपेण नाश होने पर किया जाता है । तुमको = केवल अनुग्रह में संसक्त अर्थात् लगी हुई होने से एकमात्र भगवती पराशक्ति के साथ शिष्य को संयुक्त करने में समर्थ तुमको बतलाऊँगा = विमर्शपद को प्राप्त कराऊँगा ॥ २३० ॥

यह योजनीय प्रयोग ज्ञानयोग के अभ्यास से दुष्प्राप्य उत्कृष्ट आचार्य के द्वारा साध्य है इसे दिखलाने के लिये विशाल भूमिका के द्वारा योजना के लिये उपयोगी तेरह प्रमेयों को सद्गुरुओं को सुष्ठु अवगत कराने के लिये भगवान् कहते हैं—

१. चार (= प्राणवाहन) का प्रमाण और प्राण का सञ्चारजहाँ कि प्राण की स्थिति है, २. छः प्रकार का अध्वाविभाग, ३. वर्णों के द्वारा हंसोच्चार, ४. कारणों का त्याग, ५. शून्य, ६. सामरस्य, ७. त्याग, ८. संयोग, ९. उद्भव, १०. भाव की प्राप्ति के वश पदार्थों का भेदन, ११. आत्मव्याप्ति, १२. विद्याव्याप्ति और १३. शिवव्याप्ति का ज्ञान कर योजना करनी चाहिये ॥ २३१-२३३ ॥

'हे देवि ! उस पर तत्त्व के साथ युक्त होने पर (आचार्य अथवा दीक्ष्य) सर्वज्ञता आदि गुणों से युक्त, सर्वतः अविभाग (= ऐक्य) के द्वारा एक मात्र शिव हो जाता है ।' (४।४०२)

इस भावी नीति के अनुसार परभैरव के साथ ऐक्यप्राप्तिरूप योजना तभी सम्भव है जब गुरु पुर्यष्टक, (बुद्धि, अहङ्कार, मन और पाँच तन्मात्राओं) के प्रति

कर्तव्या । पुर्यष्टके च प्राणाश्रये शून्याश्रयं च स्वप्नसौषुपत्योस्तथा निश्चयादिति प्राणशून्यपदयोः प्रशमनीयत्वे चारस्य प्राणवाहस्य देशकालाभ्यां प्रमाणमवश्यं ज्ञातव्यम्, तत्रापि चारोहावरोहरूपसञ्चरणं ज्ञातसञ्चारस्य तत्रस्थोल्लङ्घनीय-समस्ताध्वपरिज्ञानमुपयोगि, अध्वोल्लङ्घनमपि ऊर्ध्वनदनात्महसोच्चारपरिज्ञानात्, तदुच्चारो द्विधा स्वाभाविकः प्रायत्निकश्चेति, प्रायत्निके तस्मिन् नैष्कलैरका-रोकारादिभिर्वर्णैः कारणानां ब्रह्मादीनां त्यागोऽपि ज्ञेयः, चकारात्तदूचितकालत्याग इहानुद्दिष्टोऽपि वक्ष्यमाणो ज्ञातव्य एव, प्राणवच्च शून्यमपि प्रशमनीयत्वा-ज्ज्ञेयमेव, परभैरवैक्यात्मयोजनं च मन्त्रात्मनाड्यादिसामरस्यज्ञप्तिपूर्वकम्, सामरस्य-ज्ञानं साम्यज्ञप्तिपूर्वकमिति साम्यात्मविषुवत्स्वरूपमपि भविष्यति, अकाराद्युन्मनान्तं द्वादशविधं ज्ञेयमपि मन्त्रोच्चाराङ्गतया ज्ञेयमेव, त्यागाय चैतज्ज्ञेयमिति त्याग उक्तः, स च तत्तद्दशासंयोगपूर्वकः तत्तद्दशात्यागे चोर्ध्वोर्ध्वारोहात्मोद्भवोऽपि ज्ञातव्यः, यावच्चैषां ग्रन्थीनां भेदनं न वृत्तं न तावत्तत्त्यागेनोर्ध्वोद्भवो घटते, भेदनं च ज्ञानयोगाभ्याम् । यद्वक्ष्यति—

अपनी और शिष्य की अहन्ता को शान्त कर दे । पुर्यष्टक प्राणाश्रय, शून्याश्रय स्वप्न एवं सुषुप्ति में उस प्रकार का निश्चय होने प्राणपद और शून्यपद के प्रशमन के लिये चार अर्थात् प्राणवाह (= श्वास प्रश्वास के चलने) का देश काल के अनुसार प्रमाण अवश्य जानना चाहिये । उसमें भी आरोह-अवरोह रूप सञ्चरण का ज्ञान और इस ज्ञात सञ्चार के, उस (= सञ्चरण) में स्थित उल्लङ्घनीय समस्त अध्वा का परिज्ञान उपयोगी है (इसलिये अध्वा को भी जानना चाहिये) । अध्वा का उल्लङ्घन भी ऊर्ध्वनदनात्मक हंस के उच्चार के परिज्ञान से होता है । वह उच्चार दो प्रकार का है—स्वाभाविक और प्रयत्नसाध्य । उस प्रयत्नसाध्य उच्चार में निष्कल अकार उकार आदि वर्णों के द्वारा कारण = पञ्च कारण ब्रह्मा आदि, का त्याग भी जानना चाहिये । ('कारणत्यागमेव च' यहाँ पर) 'च'कार से उसके लिये उचित काल जो कि उक्त श्लोकों में नहीं कहा गया है, का त्याग भी जानना चाहिये । काल त्याग का वर्णन आगे किया जायेगा । प्राण की भाँति शून्य भी प्रशमनीय होने के कारण ज्ञेय है । परभैरव के साथ एकता की योजना भी मन्त्र आत्मा नाडी आदि के सामरस्य को जानने के बाद ही होती है और सामरस्य ज्ञान तब सम्भव है जब सब में समता का ज्ञान हो यह साम्यात्मविषुवत् स्वरूप भी होगा ।

अकार से लेकर उन्मनापर्यन्त बारह प्रकार का ज्ञेय भी मन्त्रोच्चार का अङ्ग होने के कारण ज्ञेय ही है । त्याग के लिये इसे जानना आवश्यक है इसलिये त्याग को कहा गया । वह त्याग तत्तत् दशा (= जागृत स्वप्न आदि) के संयोग के बाद होगा अतः तत्तद् दशा के त्याग में ऊर्ध्व ऊर्ध्व आरोह रूप उद्भव भी ज्ञातव्य है । क्योंकि जब तक इन ग्रन्थियों का भेद सम्पन्न नहीं हो जाता तब तक उनके त्याग से ऊर्ध्व उद्भव नहीं हो सकता । यह भेदन ज्ञान और योग से सम्भव होता है । जैसा कि कहेंगे—

'भेदयेज्ज्ञानशूलेन' (४।३३५) इति ।

तथा

'भेदयेन्मन्त्रशूलेन मुद्राभावयुतेन तु ।' (४।३५७) इत्यादि ।

तच्च भावस्य दृढारूढप्रतिपत्त्यात्मनस्तत्तच्छब्दाद्यनुभवात्मनश्च वक्ष्यमाणस्य प्राप्तिवशाद्भवति । एवमियज्ज्ञानपूर्वं प्राणे शून्ये च प्रशमितेऽपि, आत्मतत्त्व-स्यैतावदुत्तीर्णा शुद्धात्मदशानुभवरूपा, विद्यातत्त्वस्य चोन्मनाविश्रान्त्यात्मा, शिव-तत्त्वस्यापि च परतत्त्वसमावेशरूपा व्याप्तिरवश्यं ज्ञेयेति, इयत्प्रमेयपरिज्ञानमा-गमतोऽनुभवतश्च योजनायामुपयोगीत्याशयेनात्र वाक्ये ज्ञात्वेति द्विरुपात्तम् ॥२३३॥

यथोद्दिष्टं निर्णेतुमाह—

तद्विभागं प्रवक्ष्यामि यथा ज्ञायेत तत्त्वतः ।

विभागो विभजनमसाधारणेन रूपेण विवेचनलक्षणम् । प्रकारभेदकथनमपि यथासम्भवम् ।

तं क्रमेणाह—

षट्त्रिंशदङ्गुलश्चारो हृत्पद्माद्यावशक्तितः ॥ २३४ ॥

'ज्ञानरूपी शूल से भेदन करना चाहिये ।' (४।३३५)

तथा—

'मुद्राभाव से युक्त मन्त्रशूल से भेदन करना चाहिये ।' (४।३५७)

और वह भेदन दृढ आरूढ निश्चय स्वरूप और तत्तत् शब्द आदि (= रूप रस गन्ध स्पर्श) के अनुभवरूप वक्ष्यमाण भाव की प्राप्ति के कारण होता है । इतना ज्ञान होने के बाद प्राण और शून्य के शान्त कर दिये जाने पर भी आत्मतत्त्व विद्यातत्त्व तथा शिवतत्त्व की व्याप्ति अवश्य जाननी चाहिये ये व्याप्तियाँ क्रमशः शुद्ध आत्मदशा के अनुभवरूपा, उनमनाविश्रान्तिरूपा और परतत्त्वसमावेशरूपा होती हैं । इतने (तेरह) प्रमेयों का ज्ञान आगम और अनुभव के द्वारा प्राप्त किये जाने पर योजना में उपयोगी होता है इस आशय से वाक्य में 'ज्ञात्वा' पद का प्रयोग दो बार किया गया ॥ २३३ ॥

उद्दिष्ट को बतलाने के लिये कहते हैं—

(अब मैं) उस विभाग को बतलाऊँगा ताकि वह तत्त्वतः ज्ञात हो सके ॥ २३४- ॥

विभाग = विभजन = असाधारण रूप से विवेचन एवं यथासम्भव प्रकारभेद का कथन भी ।

उस तेरह (= भेद विभाग) को क्रम से कहते हैं—

तुटिषोडशमानेन कालेन कलितः प्रिये ।

यावच्छब्दे तलोप ऐश्वरः । आद्येनार्धेन देशतो द्वितीयेन कालतश्चारप्रमाणमुक्तम् । शक्तिरिह भाविनीत्या समनान्ताभिप्रेता । तुटिश्चषकषड्भागरूपस्य प्राणापानवाहस्य द्वात्रिंशत्तमोऽशः ।

अथ प्राणसञ्चारमाह—

सञ्चरन्तं विभागेन यथावत्तं शृणुष्व मे ॥ २३५ ॥

तमिति प्राणं ताल्वादिस्थानानुसारिणा विभागेन यथावत् स्वानुभवसाक्षिकं सम्यक् चरन्तं शृणु कथितमन्तर्निभालय ॥ २३५ ॥

हृत्पद्माद्यावदयनं भागमेकं त्यजेत्तु सः ।
नासिकाग्रे द्वितीयं तु शक्त्यन्ते तु तृतीयकम् ॥ २३६ ॥
तत्रस्थो विनिवर्तेत यावत्तत्त्वं न विन्दति ।
विदिते तु परे तत्त्वे तत्रस्थोऽपि न बाध्यते ॥ २३७ ॥

हे प्रिये ! चार प्रमाण छत्तीस अङ्गुल का बतलाया गया है । वह हृदय कमल से लेकर शक्ति पर्यन्त रहता है । उसका कालपरिमाण सोलह तुटि कहा गया है ॥ -२३४-२३५- ॥

(यावशक्तितः) में 'यावत्' शब्द का त् लुप्त है । यह (लोप) ईश्वरकृत है । पूर्व श्लोक के पूर्वार्द्ध से देशतः परिमाण और उत्तरार्ध से कालतः प्राणचार का परिमाण बतलाया गया है । भावीनीति के अनुसार 'शक्ति' का तात्पर्य यहाँ 'समना' तक है । 'तुटि' का अर्थ है—चषक का छठाँ भाग । यह प्राण और अपान का एक वाह होता है । तुटि एक प्राणापानवाह का बत्तीसवाँ अंश होता है ।

अब प्राणसञ्चार को कहते हैं—

विभाग के साथ सञ्चरण करने वाले उस (= प्राण) को मुझसे यथावत् सुनो ॥ -२३५ ॥

उसको = प्राण को । तालु आदि स्थान के अनुसार विभाग से । यथावत् = इसमें मेरा (या साधक का) अनुभव साक्षी है । सम्यक् चरण करने वाले उसको, सुनो = कहे गये के विषय में अपने अन्दर विचार करो ॥ २३५ ॥

वह (= दीक्ष्य) हृदयकमल से लेकर अयन पर्यन्त एक भाग का त्याग करे । दूसरे भाग का नासिका के अग्रभाग में और तीसरे का शक्ति के अन्त में त्याग करे । वहीं पर स्थित होकर तब तक पड़ा रहे जब तक परतत्त्व का ज्ञान न हो जाय । परतत्त्व का ज्ञान होने पर वहाँ रहता हुआ भी शिष्य बन्धन में नहीं पड़ता ॥ २३६-२३७ ॥

एतच्छास्त्रप्रक्रियया मन्त्रोदयस्थानाद्धृत्पद्मात् प्रभृति । अयनमिति कालाधिकारवक्ष्यमाणया 'प्राणे दिनोदय' इति स्थित्या प्राणादित्यस्य मध्याह्नगताश्रयं तालुस्थानमष्टादशाङ्गुलान्तमिह विवक्षितम् । तच्च मायाग्रन्थ्यात्मकं रुद्रस्थानं दुर्भेदमित्यशिक्षिततदनुप्रवेशस्य तु मध्यनाड्या नासिकाग्रं भ्रूमध्यमैश्वरं स्थानं प्राप्नोति, एवमप्यभिन्नभ्रूग्रन्थेस्तस्मिन् नासिकाग्रे । द्वितीयमिति षडङ्गुलं भागं त्यजेत्, तत्रवेशमनासाद्य पार्श्वनाडीद्वयेन यावच्छिक्षिततदनुप्रवेशस्य तु शक्त्यन्तं ब्रह्मबिलपर्यन्तमाश्रयति, तथाप्यस्वीकृतशाक्तबलस्य शक्त्यन्ते तस्मिंस्तृतीयं भागं द्वादशाङ्गुलं त्यजेत्, तत्रान्तरज्ञस्य ब्रह्मरन्ध्रेणाधः प्रसरेत्, एतदेव तत्रस्थेत्यादिना श्लोकार्धेनोक्तमत एवासादितशाक्तबलः समग्रग्रन्थिसञ्चाराभिज्ञः परस्मिंस्तत्त्वे विदिते । तत्रेत्युक्तेषु ग्रन्थिस्थानेष्वपि स्थितो न बाध्यते, न देहादिप्रमातृतावैवश्यमेतीति यावत् । अतश्च परतत्त्वज्ञप्तिपर्यन्तः प्राणसञ्चारः शिक्षणीय इति पिण्डार्थः ॥ २३७ ॥

अत्रैव सञ्चारे पारिभाषिकीः संज्ञा उद्घाटयति—

शक्त्या चाधो यदा गच्छेदबुधस्तु तदा भवेत् ।

इस शास्त्र की प्रक्रिया के अनुसार मन्त्रोदय की उत्पत्ति के स्थलभूत हृदयकमल से लेकर अयन पर्यन्त । यहाँ अयन अट्ठारह अङ्गुल परिमाण वाला माना गया है । इसका वर्णन कालाधिकार में 'प्राणे दिनोदय' श्लोक में किया जायेगा । यह प्राणादित्य का मध्याह्न काल होता है । यह मायाग्रन्थिरूप रुद्रस्थान है जो कि दुर्भेद्य है । जो इसमें प्रवेश की शिक्षा प्राप्त नहीं किया है वह मध्यनाडी (= सुषुम्ना) के द्वारा नासिका के अग्रभाग में अथवा भ्रूमध्य, जो कि ईश्वर का स्थान है, स्थितिलाभ करता है । यह नासिकाग्र ऐसा है जिसमें भ्रूग्रन्थि भिन्न नहीं हुयी है । दूसरा भाग जिसका त्याग करना चाहिये छः अङ्गुल का है । उसमें प्रवेश न प्राप्त करने पर बगल की दो नाड़ियों (= इडा, पिङ्गला) के द्वारा शक्त्यन्त = ब्रह्मबिल पर्यन्त (= सहस्रार) में स्थान प्राप्त करता है । इसमें प्रवेश करने के लिये उसे शिक्षा प्राप्त रहती है । ऐसा होने पर भी शाक्त बल (= शाक्तोपाय) को अस्वीकृत करने (= छोड़ने) वाले के लिये उस शक्त्यन्त में बारह अङ्गुल वाला तीसरा भाग त्याज्य है । उसमें वर्त्तमान अन्तर को जानने वाले को चाहिये कि वह ब्रह्मरन्ध्र से नीचे की ओर फैले । यही बात 'तत्रस्थ' इत्यादि आधे श्लोक के द्वारा कही गयी । इसलिये जिसने शाक्त बल को प्राप्त कर लिया है और सम्पूर्ण ग्रन्थि के अन्दर सञ्चरणक्रिया को जानता है वही परतत्त्व को जान सकता है । ('तत्रस्थ' शब्द की व्याख्या करते हैं—) तत्र (= वहाँ) = उक्त ग्रन्थिस्थलों में, रहते हुए भी बन्धन में नहीं पड़ता = देह प्रमाता इन्द्रियप्रमाता आदि विवशता को नहीं प्राप्त होता । निष्कर्ष यह है कि प्राणसञ्चार की शिक्षा परतत्त्व के ज्ञान पर्यन्त दी जानी चाहिये ॥ २३७ ॥

इस सञ्चार में पारिभाषिक संज्ञाओं को स्पष्ट करते हैं—

शक्तिपर्यन्तेऽपि पदे लब्धे तत्त्वेऽनारोहात् ।

यदा तु तदारोहाय—

हृद्गतः पुनरुत्तिष्ठेद् बुध्यमानः स उच्यते ॥ २३८ ॥

ततश्च—

शक्तिं प्राप्य बुधो ज्ञेयः...............

ततोऽपि शाक्तबललाभात् तत्त्वारोहयुक्तिज्ञस्य—

..............व्यापिन्यंशे प्रबुद्धता ।

यदा तु ततोऽप्यूर्ध्वमारोहति, तदा समनापर्यन्तमेषमध्वानम्—

अतीतः सुप्रबुद्धस्तु..................

परतत्त्वानुलाभात् अबुद्धरूपतैवेति केचित्, तदसत्, तस्येह प्राकरणिकत्वेऽपि सुप्रबुद्धैकरूपत्वात्, अन्यथा गुरुत्वायोगात् ।

अस्य च—

शक्ति के द्वारा जब साधक नीचे जाता है तब वह अबुध हो जाता है ॥ २३८- ॥

शक्तिपर्यन्त पद को प्राप्त कर भी तत्त्व ज्ञान न होने से ।

और जब उस तत्त्व पद पर आरोहण के लिये—

हृदयकमल में स्थित वह पुनः उठ जाता है तब उसे बुध्यमान कहा जाता है ॥ -२३८ ॥

इसके बाद—

शक्ति को प्राप्त कर लेने वाला बुध कहा जाता है ॥ २३९- ॥

इसके भी बाद शाक्त बल के लाभ से तत्त्वारोहण की युक्ति को जानने वाला—

व्यापिनी तक पहुँचने पर प्रबुद्ध कहा जाता है ॥ -२३९- ॥

जब साधक उसके भी ऊपर आरोहण करता है तब समनापर्यन्त अशेष (= समस्त) अध्वा को ।

पार कर सुप्रबुद्ध कहा जाता है ॥ -२३९- ॥

कुछ लोगों का विचार है कि परतत्त्व का लाभ न होने से यह अबुद्ध ही है । (= यह विचार अयुक्त है । क्योंकि यद्यपि वह यहाँ अबुद्ध) प्राकरणिक है तो भी वह सुप्रबुद्ध ही है । अन्यथा वह गुरु नहीं होगा ।

...............उन्मनस्त्वं तदा भवेत् ॥ २३९ ॥

मनःसंस्कारस्यापि क्षयात् ॥ २३९ ॥

किं च—

न कालो न कला चारो न तत्त्वं न च कारणम् ।
सुनिर्वाणं परं शुद्धं गुरुपारम्परागतम् ॥ २४० ॥
तद्विदित्वा विमुच्येत गत्वा भूयो न जायते ।

कालस्तुट्यादिः परार्धान्तः, कला निवृत्त्यादिका, चारः प्राणवाहः, तत्त्वं पृथिव्यादि, कारणं ब्रह्मादि, सुनिर्वाणमिति पराद्वयमयत्वात्, अत एव परं शुद्धं शुद्धाशुद्धसदाशिवादिपदादपि प्रकर्षात्, गुरूणां परम्परैव पारम्परं परभैरवतच्छक्तिसदाशिवेशानन्तश्रीकण्ठादिरूपं तत आगतम् । विदित्वेति अनुभूय, विमुच्यते इति जीवन्नेव विमुक्तः स्यात्, गत्वेति देहान्ते तदैकात्म्यमेति ॥

अथाध्वषट्कविभागमाह—

अध्वषट्कं यथा प्राणे संस्थितं कथयामि ते ॥ २४१ ॥
आपादान्मूर्धपर्यन्तं चितेः संवेदनं हि यत् ।
भुवनाध्वा स विज्ञेयस्तत्त्वाध्वा च तथैव हि ॥ २४२ ॥

इसके बाद यह उन्मनस्त्व को प्राप्त हो जाता है ॥ -२३९ ॥

क्योंकि उस समय मन के संस्कार का भी क्षय हो जाता है ॥ २३९ ॥

और भी—

वहाँ न काल है न कला न चार न तत्त्व न कारण है । वह सुनिर्वाण परम शुद्ध और गुरुपरम्परा से प्राप्तव्य है । उसको जानकर विद्वान् मुक्त हो जाता है । वहाँ पहुँच कर पुनर्जन्म नहीं होता ॥ २४०-२४१- ॥

काल = तुटि से लेकर परार्ध तक । कला = निवृत्ति आदि (प्रतिष्ठा, विद्या शान्ता, शान्त्यतीता) । चार = प्राण वायु का आवागमन । तत्त्व = पृथिवी आदि । कारण = ब्रह्मा आदि । सुनिर्वाण—पर अद्वयमय होने के कारण वह सुनिर्वाण है । इसलिये परम शुद्ध = शुद्धाशुद्ध सदाशिव आदि से उत्कृष्ट होने से । गुरु की परम्परा ही पारम्पर है । (पारम्पर शब्द में स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय है) = पर भैरव उसकी शक्ति सदाशिव, ईश्वर अनन्त श्रीकण्ठ आदि उनसे आया है (= प्राप्त हुआ है) जानकर = अनुभव कर । विमुक्त हो जाता है—जीवित रहते हुए मुक्त हो जाता है । जाकर = देहान्त होने पर उस पर भैरव के साथ एक हो जाता है ॥

अब छः अध्वा के विभाग को बतलाते हैं—

(हे प्रिये !) जिस प्रकार छः अध्वा प्राण में स्थित है वह मैं तुमको

इह तस्य भावस्तननात्तत्त्वमिति व्युत्पत्त्या निरुक्त्या च विशेषनिष्ठः सामान्याभासः शरीरभुवनभावविरचनाहेतुतत्त्वम् । तदाभोगः शरीरभुवनादिर्यथा देहमृद्दारुपाषाणादौ काठिन्याभासः पृथिवीतत्त्वम्, एवमन्यत् । सामान्याभासश्च चिद्भित्तौ भाति परचिद्भूमौ च सर्वं चिदेकरसमिति न कोऽपि विभागस्ततः, 'प्राक् संवित्प्राणे परिणता' इति न्यायात्, प्राणसङ्कोचिन्यास्तस्याः प्राणत्वारोहेण देहमप्यश्नुवानाया यस्तत्त्वप्रतिभासरूपं स एव तत्त्वाध्वा घटते इत्यभिप्रेत्यापादान्मूर्धान्तं यच्चितेः संवेदनं तत्तत्काठिन्यादिप्रतिभासरूपं स एव तत्त्वाध्वा भुवनाध्वा चेत्युक्तम् । तत्त्वसत्तयैव च भुवनसत्तापि सौक्ष्म्येणानुमीयते । प्राणचारो हृदयाच्छक्त्यन्तं षट्त्रिंशदङ्गुल उक्तः । अध्वषट्कविभागस्तु प्राणैकत्रेति समस्तदेहव्यापिसूक्ष्मप्राणमात्र एवोद्दिष्टो न तु प्राणचार इत्यापादादित्यादिका युक्तैवोक्तिः । तत्त्वानां चोद्देशान्ते श्रीमतङ्गेऽप्युक्तम्—

'तत्त्वं वस्तुपदं व्यक्तं स्फुटमाम्नायदर्शनात् ।
ततमेतेन वा यस्मात्तत्तत्त्वं तत्त्वसंततौ ॥' (१।५।४) इति ।

बतला रहा हूँ । पैर से लेकर मूर्धापर्यन्त जो चित् का संवेदन है उसे भुवनाध्वा तथैव तत्त्वाध्वा जानना चाहिये ॥ -२४१-२४२ ॥

'तत्' शब्द से भाव अर्थ में 'त्व' प्रत्यय जोड़ने से 'तत्त्व' शब्द बनता है । तत्त्व शब्द का अर्थ है—तनन = विस्तार । यह तत्त्व विशेष में रहने वाला सामान्य का आभास है तथा शरीर भुवन आदि भावों (= पदार्थों) (अथवा शरीर भुवन और भाव = पदार्थ) की रचना का कारण है । उस तत्त्व का विस्तार ही शरीर भुवन आदि है जैसे कि देह, मिट्टी, लकड़ी, पत्थर आदि में काठिन्य की प्रतीति पृथिवी तत्त्व है । इसी प्रकार अन्य (जल आदि तत्त्वों) के विषय में भी समझना चाहिये । सामान्याभास आधारस्वरूप चैतन्य के ऊपर भासित होता है । परचैतन्यभूमि में तो सब चिदेकरस है इसलिये उसमें से कोई भी विभाग प्रतिभात नहीं होता । इस विषय में 'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' यह न्याय प्रसिद्ध है । प्राण के रूप में सङ्कुचित होने वाली वह चित् प्राणतत्त्व को प्राप्त करने के कारण देहरूपता को भी प्राप्त करती है । उसका यह जो तत्त्वप्रतिभासरूप है वही तत्त्वाध्वा होता है । इसी अभिप्राय से यह कहा गया कि पैर से लेकर शिर तक जो चिति (= चैतन्य) का तत्तत् काठिन्यादि प्रतिभासरूप संवेदन वही तत्त्वाध्वा और भुवनाध्वा है । तत्त्व की सत्ता से ही सूक्ष्मरूप से भुवन की सत्ता अनुमित होती है । प्राणचार हृदय से लेकर शक्तिपर्यन्त ३६ अङ्गुल का होता है—यह कहा जा चुका है । किन्तु छः अध्वा का विभाग केवल प्राण में अर्थात् समस्त देह में व्याप्त सूक्ष्म प्राण मात्र में ही कहा गया है न कि प्राणचार (= शक्ति पर्यन्त विस्तृत प्राणचार) में । इसलिये पैर से लेकर मूर्धापर्यन्त इत्यादि कथन ठीक ही है । तत्त्वों के उद्देश (= नामग्रहण) के बाद श्रीमतङ्गशास्त्र में भी कहा गया है—

'आम्नाय (= शास्त्र) को देखने से जो स्वरूप आता है वही तत्त्व है । अथवा

तथा

'शिवाद्यवनिपर्यन्तो योऽयमध्वातिविस्तृतः ।
स समस्तश्चितो ज्ञेयो नाशिवत्वाद्विमुच्यते ॥' (१।१०।२३)

इति ॥ २४२ ॥

प्राणे कलाध्वस्थितिमाह—

कलाकलितसंतानः प्राणः सञ्चरते सदा ।

कलाभिः कलितो व्याप्तः संतानः प्राणवाहो यस्य ॥

अस्य हि—

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च अधोभागे प्रवर्तिके ॥ २४३ ॥
विद्या शान्तिस्तथा चोर्ध्वे शान्त्यतीता त्वधिष्ठिका ।

'आ पादान्मूर्धपर्यन्तम्' इत्युक्त्वा समस्तदेहव्यापी सामान्यप्राणनारूपः प्राण उद्दिष्टो यस्य प्राणापानाद्यात्मिका विशिष्टा वृत्तयः । ततोऽधोभागप्रवर्तिके

जो किसी दूसरे के द्वारा तत् (= विस्तृत) किया गया हो वह तत्त्व परम्परा में तत्त्व है ।' 'अथवा चूँकि इसके द्वारा (समस्त विश्व का) विस्तार किया गया इसलिये तत्त्व के सन्तान में इसे तत्त्व कहा जाता है ।' (१।५।४)

तथा—

'शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त अत्यन्त विस्तृत जो यह अध्वा है वह सब (विस्तृत अध्वा) चैतन्य का विस्तार समझना चाहिये यह आ = पूर्णरूप से शिवत्व से मुक्त (= रहित अर्थात् शिव से भिन्न) नहीं है' ॥ २४१-२४२ ॥

प्राण में कलाध्वा की स्थिति को बतलाते हैं—

कलाओं के द्वारा कलना = व्याप्ति को प्राप्त प्राण सदा सञ्चरण करता है ॥ २४३- ॥

('कलाकलितसन्तानः' का विग्रह बतलाते हैं—) कलाओं के द्वारा कलित = व्याप्त है, सन्तान = प्राणवाह जिसका वह प्राण ॥

इस (= प्राण) को—

निवृत्ति कला और प्रतिष्ठा कलायें (शिष्य पुर्यष्टक को) अधो भाग की ओर ले जाती हैं जब कि विद्या और शान्ता कलायें इसे ऊर्ध्व भाग में प्रवृत्त करती है । शान्त्यतीता कला इस प्राण की अधिष्ठात्री है (इसी से प्रेरित होकर प्राण ऊर्ध्वाधः दौड़ता रहता है) ॥ -२४३-२४४- ॥

'आपादात् मूर्धपर्यन्तम्' कहकर प्राण को समस्त देहव्यापी सामान्यप्राणना रूप

इत्यादिकं सङ्गतमेव । ये तूर्ध्ववाहिप्राणाश्रयमेतत्, इत्यभिप्रायेण अधोभागप्रवर्तिके इति पठित्वा अधोभागे प्रवृत्तिरवस्थितिर्विद्यते ययोरित्यादि शिलष्टं व्याचक्षते, तेषां 'शक्त्या चाधो यदा गच्छेदिति (४।२३८) पूर्वोक्तं विस्मृतम्, जडस्य च शक्त्यात्मककलाव्यापकत्वमुक्तम् न तु विपर्यय इत्यास्तामेतत् । एवंप्रायं व्याख्यानं बहु असमञ्जसं टीकाकृतामस्ति, तत् स्वयमेवान्वेष्टव्यम् । ग्रन्थगौरवभयात् प्रतिपदं नोन्मीलितं कियन्मात्रं तु दर्शितम् ॥

हेयहान्या शिष्याणामुपादेये धीः प्ररोहत्विति कलातीतं पदं निरूपयितुमाह—

तदतीतः परो भावः.................

शान्त्यतीतामप्यतिक्रान्तः शुद्धात्मदशारूपः स्वभाव इत्यर्थः ।

अत एवोन्मनापरतत्त्वात्मकशक्तिशक्तिमत्सामरस्यात्मकम्—

.............तदूर्ध्वं पदमव्ययम् ॥ २४४ ॥

यत्प्राप्त्यर्थमियान् शास्त्रसंरम्भः ॥ २४४ ॥

कहा गया । इस सामान्य प्राण की प्राण अपान आदि (= समान उदान और व्यान) विशिष्ट वृत्तियाँ (= कार्य) हैं इसलिये 'अधोभाग प्रवर्तिके' इत्यादि कथन ठीक ही है। जो लोग यह शिलष्ट (= समास युक्त) कथन करते हैं कि यह कथन ऊर्ध्ववाही प्राण के विषय में है और इसीलिये 'अधोभागप्रवर्तिके' की व्याख्या करते हैं— अधोभागे प्रवृत्तिः = अवस्थिति है जिन दोनों की; वे लोग पूर्वोक्त 'शक्त्या चाधो यदा गच्छेद् (= जब शक्ति के द्वारा वह शिष्य प्राण नीचे की ओर जाता है) यह पूर्वोक्त कथन भूल गये और जड़ (प्राण) को शक्त्यात्मक कला का व्यापक बतला दिया न कि उल्टा कहा । इसलिये यहीं तक रहने दीजिये । इसी प्रकार टीकाकारों ने बहुत स्थानों परं असङ्गत कहा है । उसे स्वयं खोज लेना चाहिये । ग्रन्थविस्तार के भय से पग-पग पर मैंने यह असङ्गति उन्मीलित नहीं की है । थोड़ा सा दिखला दिया है ॥

त्याज्य का त्याग करने से शिष्यों की बुद्धि उपादेय की ओर उन्मुख हो जाये इसलिये कलातीत पद का निरूपण करते हैं—

उससे परे परभाव है ॥ -२४४- ॥

(उससे परे =) शान्त्यतीता को भी पार कर, (पर भाव =) शुद्ध आत्मदशा रूप स्वभाव है ।

इसलिये उन्मना नामक परतत्त्व है जो कि शक्ति और शक्तिमान् के सामरस्य वाला है—(यह कहते हैं—)

उसके ऊपर अव्ययपद है ॥ -२४४ ॥

उसी को प्राप्त करने के लिये इतना बड़ा शास्त्र रचित है ॥ २४४ ॥

प्राणे निवृत्त्यादिकलास्थितिमुक्त्वा मन्त्रकलास्थितिमप्याह—

एवं बिन्दुकला ज्ञेया नादशक्त्यात्मिकाश्च याः ।
व्यापिन्याद्यात्मिका याश्च व्याप्यव्यापकभेदतः ॥ २४५ ॥
प्राणैकसंस्थिताः सर्वाः...............

अकारोकारमकारात्मानः कलाः प्राणैः सर्वैरुच्चरन्त्य उपलभ्यन्ते । यास्तु बिन्द्वाद्याः समनान्ताः क्रमेण व्याप्यव्यापकभावेन स्थिताः, ताः सर्वाः प्राणे स्थिता ज्ञेयाः प्रयत्नेनानुभवितव्याः । बिन्दुनादव्यापिनीनां तिसृणां प्रधानतया इह उद्देशोऽर्धचन्द्रादिशक्तीनां यथायोगमेतदन्तर्भूतत्वेन प्राधान्यात् ।

अत एव—

.............षट्त्यागात् सप्तमे लयः ।

सर्वोपलभ्या अकारोकारमकारकलाः, योगगम्यास्तु बिन्दुनादव्यापिन्य इत्यासां षण्णामपि त्यागात् परमयोगिनां सप्तमे परशक्तिमति परतत्त्व एव लयो विश्रान्तिः कार्या ॥

एतदुपसंहृत्यान्यदवतारयति—

प्राण में निवृत्ति आदि कला की स्थिति का निर्वचन कर मन्त्रकला की स्थिति को बतलाते हैं-

इसी प्रकार बिन्दु आदि कलाओं को भी जानना चाहिये । ये सब नाद शक्ति रूपा व्यापिनी आदि हैं । ये सब व्याप्यव्यापक भेद से केवल प्राण में स्थित हैं (इनमें पूर्व-पूर्व व्याप्य है उत्तरोत्तर व्यापक) ॥ २४५-२४६- ॥

अकार उकार मकार वाली कलाओं को सब लोग प्राणों के द्वारा उच्चरित होते हुए अनुभव करते हैं । किन्तु जो बिन्दु से लेकर समनापर्यन्त (= विन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना) क्रमशः व्याप्यव्यापक भाव से स्थित हैं उन सबको प्राण में स्थित, समझना चाहिये = प्रयत्नपूर्वक अनुभव करना चाहिये । जो बिन्दु नाद और व्यापिनी इन तीन का प्रधानतया यहाँ नाम लिया गया वह इसलिये कि ये प्रधान हैं और अर्धचन्द्र आदि का इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है ।

इसीलिये—

छः का त्याग कर सप्तम में लय करना चाहिये ॥ -२४६- ॥

अकार उकार मकार का सब लोग अनुभव करते हैं । बिन्दु नाद और व्यापिनी ये योगी लोगों के ज्ञान की विषय हैं । इस प्रकार उपर्युक्त इन छः (= अ, उ, म्, विन्दु, नाद, व्यापिनी अर्थात् क्रमशः ब्रह्मा विष्णु शिव, ईश्वर, सदाशिव और शिव) का त्याग कर सातवें = परशक्तिमान् परतत्त्व में ही, लय = विश्राम, करना चाहिये ॥

कलाध्वैवं समाख्यातो वर्णाध्वानं निबोध मे ॥ २४६ ॥

तमाह—

वर्णाः शब्दात्मकाः सर्वे जगत्यस्मिंश्चराचरे ।
स्थिताः पञ्चाशता भेदैः शास्त्रेष्वानन्त्यकोटिषु ॥ २४७ ॥
शब्दात् प्राणः समाख्यातस्तस्माद्वर्णास्तु प्राणतः ।
उत्पद्यन्ते लयं यान्ति यत्र शब्दो लयं गतः ॥ २४८ ॥

आनन्त्येन कोटिसंख्येषु शास्त्रेषु पञ्चाशता भेदैर्मातृकारूपैः चरे जङ्गमे वाग्वति, अचरे चान्तःसंज्ञे स्थावरे तत्तदव्यक्तवाच्याक्षराद्यभिव्यञ्जके वर्णाः स्थिताः । ते च शब्दात्मकाः शब्दनरूपाः, शब्दोऽपि प्राणनात्मा ध्वनिसतत्त्वश्च प्राणोऽत एवास्माद् ध्वनिरूपाद्वर्णा जायन्ते, यत्र च शब्दात्मा प्राणो लयं याति तत्रैव वर्णा लीयन्ते, इति प्राणनात्मनि प्राण एव वर्णाध्वा स्थितः ॥ २४८ ॥

यतश्च वर्णानां प्राणस्य चैकत्र लयस्ततः—

शब्दातीतो वरारोहे तत्त्वेन सह युज्यते ।
युक्तः सर्वगतो देवि धर्माधर्मविवर्जितः ॥ २४९ ॥

इसका उपसंहार कर अन्य विषय का प्रारम्भ करते हैं—

इस प्रकार कलाध्वा बतलाया गया । अब मुझसे आप वर्णाध्वा को सुनिए ॥ -२४६ ॥

उसको बतलाते हैं—

इस चराचर जगत् में शब्दात्मक वर्ण अनन्त कोटि शास्त्रों में पचास के भेद से स्थित हैं अर्थात् वर्ण पचास हैं । शब्द (= नदन = नाद) से प्राण उत्पन्न हुआ उस प्राण से वर्ण उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन होते हैं जहाँ कि शब्द लीन होता है ॥ २४७-२४८ ॥

अनन्त अर्थात् करोड़ों शास्त्रों में पचास भेदों (= 'अ' से लेकर 'क्ष' तक) मातृका रूप से ये वर्ण चर = जङ्गम = वाणीवालों में, अचर = अन्तःसंज्ञा वाले स्थानों में स्थित है । ये स्थावर जीव अव्यक्त वाच्य अक्षर आदि के अभिव्यञ्जक हैं । ये वर्ण शब्दात्मक अर्थात् शब्दन रूप हैं । शब्द भी प्राणन रूप है । प्राण ध्वनिरूपी है । इस प्रकार इस ध्वनिरूप प्राण से वर्ण उत्पन्न होते हैं । जिसमें शब्दात्मक प्राण लीन होता है उसी में वर्ण भी लीन होते हैं । इस प्रकार प्राणन रूप प्राण में वर्णाध्वा स्थित है ॥ २४८ ॥

चूँकि वर्णों का और प्राण का एक जगह लय होता है इसलिये—

हे वरारोहे ! शब्द को पार करने वाला साधक तत्त्व के साथ युक्त हो

नाधो निरीक्षते भूयः शिवतत्त्वं गतो यदा ।

तत्त्वेन परमशिवेन सह युज्यते ऐक्यमेति, अत एव सर्वगतो धर्माधर्माभ्यां प्राणापानाभ्यां शुभाशुभाभ्यां च रहितः । अध इति इदन्तारूपो भेदः । यदेति यतः ॥

एतदुपपादयति—

अधो वै यात्यधर्मेण धर्मेणोर्ध्वं व्रजेत् पुनः ॥ २५० ॥
विज्ञानेन द्वयं त्यक्त्वा सर्वगस्तु भवेदिह ।

अधर्मेणाशुभेनाधः स्थावरान्तमपानात्मदेहभूमिं, धर्मेण शुभेन देवयोन्यादिताम्, प्राणात्मना तु शक्त्यन्तं व्रजति । एतद्द्वयं तु विशिष्टेन शिवैक्यात्मविमर्शात्मना ज्ञानेन त्यक्त्वा, इहेति देहावस्थितोऽपि सर्वगः शिवो भवति ॥

उपसंहरति—

वर्णाध्वैवं समाख्यातः..........

अथ—

जाता है । हे देवि ! (परमतत्त्व से) युक्त होने के कारण वह सर्वमय तथा धर्माधर्म से रहित हो जाता है । जब वह शिवतत्त्व को प्राप्त हो जाता है तो फिर उसका अधोगमन नहीं होता ॥ २४९-२५०- ॥

तत्त्व = परमात्मा, के साथ, युक्त = एक, हो जाता है । इसलिये सर्वगत होता हुआ धर्म अधर्म = प्राण अपान, से और शुभ अशुभ से रहित हो जाता है । अधः = इदन्तारूप भेद । यदा = क्योंकि ॥

इसको स्पष्ट करते हैं—

साधक अधर्म से नीचे जाता है और धर्म से ऊपर पहुँचता है । विज्ञान के द्वारा दोनों को जान कर इस (सशरीर) स्थिति में भी वह सर्वगत हो जाता है ॥ -२५०-२५१- ॥

अधर्म = अशुभ के द्वारा अधः = स्थावर पर्यन्त अपान रूप देहभूमि को, धर्म = शुभ कर्मों के द्वारा देवयोनि आदि को = प्राण रूप से शक्तिपर्यन्त स्तर को प्राप्त होता है । (विज्ञान अर्थात्) विशिष्ट = शिवैक्यात्मविमर्शरूप ज्ञान के द्वारा इन दोनों (धर्माधर्म) को छोड़ कर इह = देह धारण किये हुए भी, सर्वग = शिव हो जाता है ॥

(इस विषय का) उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार वर्णाध्वा की व्याख्या की गयी ॥ -२५१- ॥

अब—

……………पदाध्वा प्रोच्यतेऽधुना ॥ २५१ ।
एकाशीतिपदान्येव विद्याराजस्थितान्यपि ।
वर्णात्मकानि तान्यत्र वर्णाः प्राणात्मकाः स्थिताः ॥ २५२ ॥
तस्मादेवं पदान्यत्र तानि प्राणक्रमेण तु ।

एकस्मिन्नपि विद्याराजे नवात्मन्येकाशीतिपदानि प्राग्विभक्तनीत्या यानि स्थितानि, तान्यपीदानीमेव निर्णीतनीत्या वर्णात्मकानि, वर्णाश्च प्राणरूपास्तदात्मकत्वात् पदानाम् ॥ २५२ ॥

पदाध्वैवं समाख्यातः………………

अथात्र—

……………मन्त्राध्वानं निबोध मे ॥ २५३ ॥

तमाह—

मन्त्रैकादशिका या तु सा च हंसे व्यवस्थिता ।
पदैकादशिका सा च प्राणे चरति नित्यशः ॥ २५४ ॥

हंसे मध्यमे प्राणे, नैष्कलवक्त्राङ्गरूपा मन्त्रैकादशिका स्थिता यस्मात्, सा पदैकादशिका नित्योच्चरन्निष्कलकलारूपविश्रान्तिहेतुर्ब्रह्मादिवाचकाकारादिसमनान्तपदरूपा । निर्णीतं चैतत् पूर्वमेव ॥ २५४ ॥

पदाध्वा का कथन किया जाता है । विद्याराज में स्थित इक्यासी पद भी वर्णात्मक ही हैं । वर्ण प्राणरूप में स्थित हैं इसलिये पद भी प्राणक्रम से ही स्थित हैं ॥ -२५१-२५३- ॥

एक विद्याराज के नव होने पर भी पूर्वोक्त नीति से जो ८१ पद स्थित हैं वे भी अभी-अभी बतलायी गयी रीति से वर्णात्मक ही हैं और वर्ण प्राणरूप हैं इसलिये पद भी प्राणरूप हैं ॥ २५२ ॥

इस प्रकार पदाध्वा का निर्वचन हुआ ॥ -२५३- ॥

अब—

मुझसे मन्त्राध्वा जानो ॥ -२५३ ॥

उसको बतलाते हैं—

जो ग्यारह मन्त्रों का समूह है वह हंस में स्थित है । वे ग्यारह पद नित्य प्राणों में सञ्चरण करते रहते हैं ॥ २५४ ॥

मन्त्रैकादशिका चूँकि निष्कलवक्त्राङ्गरूपा है इसलिये वह हंस = मध्यम प्राण में स्थित है । वह पदैकादशिका जो कि नित्य उच्चारित होने वाली निष्कल कलारूप विश्रान्ति का कारण है, ब्रह्मा आदि के वाचक अकार से लेकर समनान्त पद रूपा

एतानि पदान्याह—

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ।
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च ॥ २५५ ॥
शक्तिश्च व्यापिनी चैव समनैकादशी स्मृता ।

निष्कलनाथेऽकारकला यादृश्यस्ति, यादृशं चैतत्कलानां रूपं तददूर एव निर्णेष्यते ॥ २५५ ॥

एकादशिकाया अस्या अध्वरूपतां दर्शयितुमाह—

उन्मना च ततोऽतीता तदतीतं निरामयम् ॥ २५६ ॥

तत इति तां समनामतीता । तदतीतमिति तामुन्मनामतिशयेनेतं गतं तदभिन्नम् । उन्मनापरतत्त्वप्राप्तिहेतुत्वात् पदवर्णादीनामिव मन्त्राणामप्यध्वतेति यावत् ॥ २५६ ॥

उपसंहरति—

मन्त्रा एवं स्थिताः प्राणे………

बहिःस्थूलरूपस्याप्यध्वप्रपञ्चस्य मान्त्रकलोच्चारणे सूक्ष्मरूपतया मन्त्रोच्चि-

---

है । यह पहले ही बतला दिया गया ॥ २५४ ॥

उन पदों को बतलाते हैं—

अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना ये ग्यारह पद हैं ॥ २५५-२५६- ॥

निष्कलनाथ में अकार कला जैसी है और जैसा कलाओं का यह रूप है, वह निकट ही आगे बतलाया जायेगा ॥ २५५ ॥

इन ग्यारह पदों की अध्वरूपता को बतलाते हैं—

उस (व्यापिनी) से परे उन्मना है और उस (उन्मना) से परे निरामय पद है ॥ -२५६ ॥

ततः = उस समना से, परे । तदतीत = उस उन्मना को (= अति) अतिशयेन, इत = प्राप्त = उससे अभिन्न । जिस प्रकार पद वर्ण आदि उन्मना अर्थात् परतत्त्व की प्राप्ति के कारण हैं और इसलिये वे अध्वा कहे गये हैं । उसी प्रकार (परतत्त्व की प्राप्ति का साधन होने से) मन्त्र भी अध्वा है ॥ २५६ ॥

उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार मन्त्र प्राण में स्थित हैं ॥ २५७- ॥

चारयिषा मन्त्रविश्रान्तिदशायोगे पररूपतया मन्त्रौपयिक एवोपलम्भो भवतीत्याशयेन पर्यन्ते मन्त्राध्वा निर्णीतः ॥

क्रमप्राप्तः—

...............हंसोच्चारस्तथोच्यते।

तमाह—

हकारस्तु स्मृतः प्राणः स्वप्रवृत्तो हलाकृतिः ॥ २५७ ॥

योऽयं हलाकृतिरनच्को हकारोऽनाहतध्वन्यात्मा

'स्वयमुच्चरते देवि' (७।५९)

इति भाविनीत्या स्वप्रवृत्तः

'नादाख्यं यत्परं बीजं' (कालो० १।५)

इति तन्त्रान्तरोक्तदृशा सर्वस्य स्वतः स्फुरन् स एष प्राणः प्राणनापरपर्यायो जीवः, स्मृतो गुरुपारम्पर्येणाविच्छेदेनाधीतः । अथ च धूलिभेदानुसारेण हलाकृति-

---

बाह्य स्थूल रूपी भी अध्वप्रपञ्च का मान्त्र कला के उच्चारण में सूक्ष्म रूप से मन्त्र के उच्चारण की इच्छा होती है । मन्त्र की विश्रान्ति की दशा में पररूप का उपलम्भन भी मन्त्र के द्वारा ही होता है (अर्थात् यदि मन्त्र न हों तो सूक्ष्म उच्चारण किसका होगा? और उच्चारण न होने पर पररूपता की प्राप्ति कैसे होगी? अतः मन्त्र ही परतत्त्व की प्राप्ति का कारण है) इसलिये अन्त में मन्त्राध्वा का वर्णन किया गया ॥

अब क्रम से प्राप्त—

हंसोच्चार का वर्णन करते हैं ॥ -२५७- ॥

उसको बतलाते हैं—

हकार को प्राण कहा गया है । यह स्वयं प्रवृत्त होता है और इसकी आकृति हल की आकृति जैसी है ॥ -२५७ ॥

जो यह हल की आकृति वाला स्वररहित हकार है वह अनाहत ध्वनि रूप है । यह—

'हे देवि ! यह स्वयं उच्चरित होता है ।' (७।५९)

इस भावी नीति से स्वप्रवृत्त (= अपने आप उच्चरण में लगा हुआ) है ।

'नाद नामक जो पर बीज है ।' (कालो० १।५)

दूसरे तन्त्र में कथित इस रीति से सबके अन्दर स्वतः स्फुरित होने वाला यह प्राण = प्राणन अपर पर्याय वाला जीव कहा गया है । स्मृतः = गुरुपरम्परा से

रशेषं विश्वं गर्भीकृत्य कुण्डलिन्याकारः प्रसुप्तभुजगरूपः । स्वप्रवृतः इति स्वयमेव नादामर्शरूपतां निमज्ज्य प्राणात्मकं रूपमाविश्य स्थितः । यतः पारमेशी बोधाख्या शक्तिर्विश्वं गर्भीकृत्य परा कुण्डलिका सती विमर्शरूपतया नादात्म-वर्णकुण्डलिकात्मना स्फुरित्वान्तर्निमज्जितैतत्स्वरूपा प्राणकुण्डलिकात्मतया भातीत्याम्नायः । एवं च व्याख्यातरूपः प्राण एव हंस ऊर्ध्वमधश्च स्वरसेन वहन् हानसमादानधर्मकहकारसकारविमर्शरूपतया स्फुरणात् ॥ २५७ ॥

अथात्रैव वर्णैः कारणत्यागं निर्णेष्यन् वर्णोच्चारं तावन्निरूपयति—

अकारेण यदा युक्त उकारचरणेन तु ।
मकारमात्रया युक्तो वर्णोच्चारो भवेत् स्फुटः ॥ २५८ ॥

योऽयं नादात्मनो हंसस्य नित्यप्रवृत्त उच्चारः स एव स्फुटो वर्णोच्चारो भवति, कथमकारेणानच्कहकारस्याभिव्यक्तिहेतुना शिरोरूपेण यदा युक्तस्तदा उकार एवोर्ध्वाधःसञ्चारकत्वाच्चरणरूपस्तेन तथा बिन्द्वादिप्रमेयासूत्रकानुसाररूपमकारमात्रया

अविच्छिन्नतया पठन-पाठन में है । तथा धूलिभेद (= योग की एक विशिष्ट प्रक्रिया) के अनुसार यह हल् की आकृति (= खेत जोतने वाले हल की आकृति) वाला, समस्त विश्व को अपने गर्भ में रख कर साँप की कुण्डली के आकार वाला तथा सोये हुए साँप के स्वरूप का है । स्वप्रवृत्त = स्वयं ही नादामर्शरूपता को निमज्जित (अपने अन्दर अस्फुट रूपी) कर प्राणात्मक रूप को प्राप्त कर स्थित है । इसी हकार से बोध नामक पारमेश्वरी शक्ति विश्व को अपने अन्दर समाहित कर पराकुण्डलिनी बन कर विमर्शरूप से नादात्मक वर्णकुण्डली के रूप में स्फुरण करती है । तत्पश्चात् यह अपने नादस्वरूप को अपने अन्दर विलीन कर प्राण कुण्डलिनी के रूप में दीप्त होती है–यह शास्त्र का मत है । ऊपर जिसकी व्याख्या की गयी वह प्राण ही हंस है । यह ऊपर और नीचे स्वभावतः प्रवाहित होता है क्योंकि यह श्वास के हान (= त्याग) और समादान (= ग्रहण) धर्म वाले हकार और सकार के विमर्श के रूप में स्फुरित होता है ॥ २५७ ॥

अब यहीं पर वर्णों के द्वारा कारण (= ब्रह्मा आदि) का त्याग का निर्णय करते हुए वर्णोच्चार का निरूपण करते हैं—

(जब यह नाद) अकार (रूपी शिर), उकार रूपी चरण तथा मकार की मात्रा से युक्त होता है तब स्पष्ट वर्णोच्चार होता है ॥ २५८ ॥

यह नादस्वरूप हंस जो कि नित्य चलने वाला, उच्चार है वही स्फुट वर्णोच्चार होता है । कैसे ? (उत्तर देते हैं—) अकार जो कि स्वररहित हकार की अभिव्यक्ति का कारण शिररूप है जब उससे नादात्मक हंस युक्त होता है तब उकार ही अकार का ऊपर-नीचे सञ्चारक होने के कारण चरण रूप होता है । (अर्थात् जैसे शिर का इधर-उधर सञ्चारण चरण करता है उसी प्रकार उकार भी अकार का ऊपर नीचे

यदा युक्तः, ईदृशो हि उच्चरन्नसौ सर्वैरुपलभ्यते ॥ २५८ ॥

अथ च—

बिन्दुः शिरःसमायोगात् सुस्वरत्वं प्रपद्यते ।

उक्तरूपो वर्णोच्चार एव योगिनां भ्रूमध्येऽकारादिमात्रात्रयस्वीकृतनिःशेषभेदसंपिण्डिताविभागवेदनात्मकबिन्दुरूपतामाश्रित्य शिरः समायोगादिति शिरसि ललाटस्थे प्रशाम्यद्वेद्यप्राधान्येऽर्धचन्द्रे प्रशान्तवेद्यप्रधानतया ऊर्ध्वोन्मुखत्वेन स्पष्टरेखात्मनि, अयोगिनो नादपथप्रवेशरोधकत्वान्निरोधिकासमाख्ये, सम्यगासमन्तात् योगात्तत्तत्पदारोहात् सुस्वरत्वं गुणीकृतवेद्यभेदप्रधानेश्वरपदं समस्तवाचकाविभेदविमर्शप्रधानान्नादनादान्तभूमिं गृह्णातीत्यर्थः ॥

अतश्चेयत्पदमारूढस्य—

नादोऽस्य वदनं प्रोक्तः..........

यतः प्रोक्तनीत्यानाहतध्वनिपरमार्थोऽयं हंसस्ततो वर्णोच्चारात्मतादशायामपि

सञ्चारण करता है ।) यह 'अ' और 'उ' जब बिन्दु आदि प्रमेय की आसूत्रणा के अनुसारी मकार मात्रा से युक्त होता है तब इस प्रकार उच्चारित होता हुआ यह (ओऽम् के रूप में) सब लोगों को अनुभूत होता है ॥ २५८ ॥

तब—

बिन्दु शिर के समायोग से सुस्वर बन जाता है ॥ २५९- ॥

उक्त रूप वाला वर्णोच्चार ही योगियों के भ्रूमध्य में बिन्दुरूप बनता है । यह बिन्दु अकार उकार मकार इन तीन मात्राओं में समस्त भेदमय संसार को समाहित कर विभागरहित वेदनस्वरूप हो जाता है । यह बिन्दु जब शिर के समायोग को प्राप्त करता है अर्थात् शिर = ललाट, में स्थित अर्धचन्द्र जो कि वेद्य के प्रशान्त हो जाने से ऊर्ध्वोन्मुख होने के कारण स्पष्ट रेखा रूप (⌣) हो जाता है—तब योगरहित व्यक्ति को नाद पथ में प्रविष्ट होने से रोकने के कारण यह रोधिका कहलाता है । यही रोधिका नामक अर्ध चन्द्र, सम्यक् = (पूर्ण रूपेण) आ = चारो ओर से, योग = तत्तत् पद के आरोहण के कारण, सुस्वर = जिसमें वेद्य गौड़ रहता है और अभेद प्रधान रहता है ऐसे ईश्वर पद को प्राप्त करता है । अर्थात् यह ईश्वर पद समस्त वाचक से अभिन्न विमर्शप्रधान नाद एवं नादान्त भूमि को प्राप्त करता है ॥

इसलिये इस पद पर आरूढ़—

इस (हंस) का नाद मुख कहा गया है ॥ -२५९- ॥

चूँकि उक्त नीति के अनुसार अनाहत ध्वनि ही हंस है इसलिये वर्णोच्चारात्मक

ललाटमध्ये नाद एवास्यवदनमिव वदनं मुख्यमङ्गम् ॥

युक्तं चैतद्यतः—

............वदनं शब्दमीरयेत् ॥ २५९ ॥

नादरूपं वदनं कर्तृ शब्दं नादान्तात्मानमीरयेद् ब्रह्मरन्ध्रतले प्रेरयेत्तद्रूपतया स्फुरेत् ॥

न केवलमेवमयं नादात्मा प्राणः शिरोवदनचरणयुक्तो नदन् हंस इत्युक्तो यावत्—

अनेनैव च योगेन हंसः पुरुष उच्यते ।
ब्रह्मविष्ण्वीशमार्गेण चरन् वै सर्वजन्तुषु ॥ २६० ॥

पुरुषः क्षेत्रज्ञोऽनेनैव मध्योर्ध्वमार्गारोहणात्मना योगेन सर्वजन्तुषु हृत्कण्ठभ्रूमध्यललाटमार्गेण प्रसरन्नधरभूमिहानोर्ध्वपदसमादानरूपो हंस उच्यते । वक्ष्यति चाग्रे—

'शिवो धर्मेण हंसस्तु सूर्यो हंसः प्रभान्वितः ।' (७।३९)

इत्युपक्रम्य—

दशा में ललाट के मध्य में नाद ही इस (= हंस) का मुख है अर्थात् शरीर के अङ्गों में मुख की भाँति वह प्रधान है ॥

यह ठीक भी है क्योंकि—

मुख ही शब्द को प्रेरित करता है ॥ -२५९ ॥

नादरूप वदन ही कर्त्ता है और वह शब्द जो कि नादान्त के रूप में अपना ही रूप है, को ब्रह्मरन्ध्र तल में प्रेरित करता है अर्थात् उस रूप में स्फुरित होता है ॥

यह नादात्मक प्राण केवल शिरवदन चरण से युक्त होकर नदन करता हुआ हंस कहा जाता है इतना ही नहीं है बल्कि—

इसी योग से यह पुरुष ब्रह्मा विष्णु ईश्वर मार्ग से सभी प्राणियों में सञ्चरण करता हुआ हंस कहा जाता है ॥ २६० ॥

पुरुष = क्षेत्रज्ञ, इसी मध्य ऊर्ध्व मार्ग पर चढ़ने वाले योग से समस्त जन्तुओं में हृदय, कण्ठ, भ्रूमध्य, ललाट के मार्ग से प्रसरण करता हुआ निम्न भूमियों को छोड़ते हुए उच्च भूमियों को प्राप्त करने वाला हंस कहा जाता है । आगे कहेंगे भी—

'शिव अपने धर्म के कारण हंस कहा जाता है और सूर्य प्रभा से युक्त होने से हंस कहलाता है ।' (७।३९)

'आत्मा वै हंस इत्युक्तः प्राणो हंससमन्वितः ॥' (७।३०)

इति एतच्च तत्रैव व्याख्यास्यामः ॥ २६० ॥

एवं नादान्तरूपतां गृहीत्वा—

शक्तितत्त्वे लयं याति................

नादान्तरूपतां प्रशमय्यानन्दस्पर्शात्मतां ब्रह्मबिले श्रयति ॥

ततोऽपि शिवपदसमाविविक्षावष्टम्भात्मना—

................विज्ञानेनोर्ध्वतां व्रजेत् ।

कथम्—

व्यापिनीं समनां त्यक्त्वा व्रजेदुन्मनया शिवम् ॥ २६१ ॥

शक्तौ स्पर्शमनुभूयोर्ध्वप्रवेशयुक्त्या व्यापिन्यां त्वक्केशपदे व्याप्तिं लब्ध्वा तदूर्ध्वे शिखाकेशस्थाने सामनसेपदे मन्तव्याभावान्मननमात्ररूपतया स्थित्वा ततोऽप्यूर्ध्वं हंसः शुद्धात्मरूपो मननोल्लङ्घनस्वभावो युगपदशेषविश्वाभेदप्रकाशात्म-

---

यहाँ से प्रारम्भ कर—

'आत्मा हंस कहा गया है, प्राण हंस से युक्त है ।' (७।३०)

इसकी व्याख्या वहीं करेगे ॥ २६० ॥

इस प्रकार (साधक) नादान्तरूपता को प्राप्त कर—

शक्ति तत्त्व में लीन हो जाता है ॥ २६१- ॥

(अपनी) नादान्त रूपता को शान्त कर आनन्द स्पर्श वाली ब्रह्मबिल में प्रवेश कर जाता है ॥

इसके बाद शिवपद में समावेश की इच्छा वाले—

विज्ञान के द्वारा ऊर्ध्वता को प्राप्त करता है ॥ -२६१- ॥

यह कैसे ? (उत्तर देते हैं—)

व्यापिनी और समना का त्याग कर उन्मना के द्वारा शिव तत्त्व को प्राप्त करता है ॥ -२६१ ॥

योगी साधक शक्ति तत्त्व में स्पर्श का अनुभव कर ऊर्ध्वप्रवेश की युक्ति से त्वचा और केश पद वाली व्यापिनी में अपनी व्याप्ति को प्राप्त करता है । उसके बाद शिखा- केश वाले समना पद में मनन त्राण रूप (= मन्त्र रूप) से स्थित होता है क्योंकि उस स्तर पर कुछ भी मन्तव्य (= मनन का विषय अर्थात् ज्ञेय) नहीं रहता है । उसके ऊपर चल कर यह हंस शुद्धात्मरूप, मनन का उल्लङ्घन

कोन्मनाशक्त्याश्रयेण शिवं व्रजेच्चिदानन्दघनपरभैरवसमापत्तिं श्रयेत् ॥ २६१ ॥

एवं च—

शिवतत्त्वगतो हंसो न चरेत्........

शिवाख्यं तत्त्वं परमशिवो न चरेत्र सङ्कोचेन प्रसरेत् ॥

अपि तु—

..................व्यापको भवेत् ।

शिवादिक्षित्यन्ताशेषविश्वात्मना तदुत्तीर्णेन च रूपेण स्फुरेदित्यर्थः ॥

उपसंहरति—

हंसोच्चारः समाख्यातः कारणैश्च समन्वितः ॥ २६२ ॥

कारणैर्ब्रह्मादिभिः, चकारादकारादिवर्णैर्वस्तुगत्या सम्भवद्भिः सम्यगन्वितो मिश्रितः ॥

इदानीं वर्णैः कारणत्यागं निरूपयति, तत्र—

करने वाला हो जाता है (अर्थात् ज्ञान की सत्ता समाप्त हो जाती है और) । उस समय एक साथ समस्त विश्व के साथ अभेद का ज्ञान कराने वाली उन्मना शक्ति के आश्रय से शिवरूपता को प्राप्त करता है अर्थात् (ज्ञेय और ज्ञान के निवृत्त हो जाने पर ज्ञातृत्व भी निवृत्त हो जाता है और) वह चिदानन्द पर भैरवरूप हो जाता है ॥ २६१ ॥

इस प्रकार-

यह हंस शिवतत्त्व को प्राप्त कर सञ्चरण नहीं करता ॥ २६२- ॥

योगी शिवनामक तत्त्व को प्राप्त कर परमशिव बन जाता है और सञ्चरण नहीं करता = अपने को सङ्कुचित कर जीव आदि रूप में प्रसरण नहीं करता ॥

बल्कि—

व्यापक हो जाता है ॥ -२६२- ॥

अर्थात् शिवतत्त्व से लेकर पृथिवीतत्त्व पर्यन्त विश्वमय होकर तथा विश्वोत्तीर्ण रूप में स्फुरण करता है ॥

(इस प्रकरण का) उपसंहार करते हैं—

(पञ्च) कारणों से युक्त हंसोच्चार का वर्णन किया गया ॥ -२६२ ॥

कारण = ब्रह्मा आदि । श्लोकस्थ 'च'कार का तात्पर्य है—अकारादि वर्ण, वस्तुगति के अनुसार सम्भावित इनके द्वारा समन्वित = संमिश्रित ॥ २६२ ॥

हकारः प्राणशक्त्यात्मा..............

प्राणशक्तेरात्मोक्तस्थित्या जीवितरूपः ।

एतस्य शिरोरेखात्मा—

...............अकारो ब्रह्मवाचकः ।

हृदि त्यागो भवेत्तस्य...............

वाचकोच्चारणान्त इति यावत् ॥

एवमुत्तरत्र—

...............उकारो विष्णुवाचकः ॥ २६३ ॥

कण्ठे त्यागो भवेत्तस्य मकारो रुद्रवाचकः ।

तालुमध्ये त्यजेत्तं तु...................

त्यजेदिति कर्तृप्रत्ययस्तुशब्दश्च रौद्रग्रन्थ्युल्लङ्घनेऽवधातव्यमिति सूचयति ।

...............बिन्दुश्चैवेश्वरः स्वयम् ॥ २६४ ॥

अभेदोक्त्याकारादिवदितः प्रभृति न पृथग् वाच्यवाचकतेति दर्शयति ।

अब वर्णों के द्वारा कारणों के त्याग का निरूपण करते हैं—

हकार प्राणशक्ति का आत्मा है ॥ २६३- ॥

प्राण शक्ति का आत्मा = उक्त स्थिति के अनुसार जीवरूप ।

इस (= हकार) का शिर की रेखा रूप—

(ॐकारगत) अकार ब्रह्मा का वाचक है । उस (= ब्रह्मा) का त्याग हृदय में होता है ॥ -२६३- ॥

(हृदय का तात्पर्य है—) वाचक के उच्चारण के अन्त में ।

इसी प्रकार आगे—

(ॐकारगत) उकार विष्णु का वाचक है । उस (= विष्णु) का त्याग कण्ठ में होता है । मकार रुद्र का वाचक है उसका तालु के मध्य में त्याग करना चाहिये ॥ -२६३-२६४- ॥

'त्यजेत्' पद में तिप् प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में है । 'तु' शब्द यह सूचित करता है कि योगी को रुद्रग्रन्थि के उल्लङ्घन पर ध्यान देना चाहिये ।

बिन्दु स्वयं ईश्वर है ॥ -२६४ ॥

अउम् की अभेद उक्ति के कारण यहाँ से आगे अ उ म् की पृथक् वाच्यवाचकता नहीं है (अर्थात् बिन्दु इन तीनों का संश्लिष्टरूप है जिसका वाचक

त्यागस्तस्य भ्रुवोर्मध्ये.................

विधीयत इत्युत्तरस्थं संबध्यते । अर्धचन्द्रनिरोधिकान्तास्यैव व्याप्तिः ।

..............नादे वाच्यः सदाशिवः ।

तदभेदेन विमृश्येत्यर्थः ।

ललाटान्मूर्धपर्यन्तं त्यागस्तस्य विधीयते ॥ २६५ ॥

नादस्यैव नादान्तान्ता व्याप्तिर्विधीयते योगिभिर्यत्नेन क्रियते ॥ २६५ ॥

अथ याः सूक्ष्मानुभावगम्याः—

शक्तिव्यापिनीसमनास्तासां वाच्यः शिवोऽव्ययः ।

सदाशिवापेक्षयायमव्ययः परमशिवापेक्षया तु सव्यय एव ॥

तत्र—

मूर्धमध्ये त्यजेच्छक्तिं तदूर्ध्वे व्यापिनीं त्यजेत् ॥ २६६ ॥

ईश्वर है) ।

उसका भ्रुवों के मध्य में त्याग किया जाता है ॥ २६५- ॥

उक्त श्लोकांश में क्रिया पद की पूर्त्ति के लिये २६५ श्लोक के उत्तरार्द्ध में वर्त्तमान 'विधीयते' पद को जोड़ना चाहिये । अर्धचन्द्र और रोधिनी तक इसी (= बिन्दु) की व्याप्ति रहती है ॥

नाद में सदाशिव को कहना चाहिये ॥ -२६५- ॥

यह कथन सदाशिव को नाद से अभिन्न समझ कर करना चाहिये ।

उनका त्याग ललाट से लेकर मूर्धापर्यन्त किया जाता है ॥ -२६५ ॥

नाद की नादान्त तक व्याप्ति विहित होती है अर्थात् योगियों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक की जाती है ॥ २६५ ॥

इसके बाद जो सूक्ष्मअनुभवगम्य—

शक्ति व्यापिनी और समना हैं उनका वाच्य अव्यय शिव हैं ॥२६६-॥

यह (= शिव) सदाशिव की अपेक्षा अव्यय है और परमशिव की अपेक्षा सव्यय ॥

उस स्थिति में—

मूर्धा के मध्य में शक्ति का और उस (= मूर्धा) के ऊपर व्यापिनी का त्याग करना चाहिये ॥ -२६६ ॥

व्याख्यातस्पर्शानुभूत्यन्ते इत्यर्थमेवं व्याख्यातम् ॥ २६६ ॥

मननमात्ररूपानुभवान्ते—

समनाम्.............

तदूर्ध्वे त्यजेदित्येवम् ॥

एवमियदध्वातिक्रान्त्या प्राप्तशुद्धात्मस्वरूपस्य योगिनः—

......उन्मनां त्यक्त्वा षट्त्यागात् सप्तमे लयः ।

भवतीति शेषः । व्याख्यातरूपोन्मनाशक्त्यनुप्रवेशेन परमशिवीभाव एवोन्मना-त्यागः । एवं च षण्णां ब्रह्मविष्णुरुद्रेश्वरसदाशिवशिवाख्यानां कारणानां त्यागाद्विश्रान्तिपूर्वमुल्लङ्घनात् सप्तमे परमशिवे लयः समापत्तिर्भवति ॥

एतदधिकावापेनोपसंहरति—

सूक्ष्मसूक्ष्मतरैर्भावैरेवमेवं त्यजेत् प्रिये ॥ २६७ ॥
स्थूलस्थूलतरैर्भावैर्नानासिद्धिफलप्रदैः ।

जिस स्पर्श की पहले व्याख्या की जा चुकी है उसका अनुभव होने के बाद त्याग करना चाहिये ॥ २६६ ॥

मननमात्ररूप अनुभव के बाद—

समना का ॥ २६७- ॥

त्याग करना चाहिये ॥

इस प्रकार इतने अध्वा के त्याग से योगी शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है फिर वह—

छः का त्याग करने के बाद उन्मना का त्याग कर सप्तम तत्त्व में लीन हो जाता है ॥ -२६७- ॥

जिसके स्वरूप की व्याख्या हो चुकी है ऐसी उन्मना शक्ति में अनुप्रवेश के द्वारा योगी का परमशिवस्वरूप होना ही उन्मना का त्याग है । इस प्रकार ब्रह्मा विष्णु रुद्र ईश्वर सदाशिव और शिव नामक छः तत्त्वों कारणों का त्याग = उनमें विश्रान्ति, कर उनका उल्लङ्घन करने से सप्तम अर्थात् परमशिव में लय = समापत्ति हो जाती है ॥

इसी बात को अधिक स्पष्टता के साथ कहते हुए उपसंहार करते हैं—

हे प्रिये ! अनेक सिद्धियों को देने वाले स्थूल स्थूलतर पदार्थों के द्वारा तथा सूक्ष्म सूक्ष्मतर तत्त्वों के द्वारा इन समस्त अध्वाओं का पूर्ववर्णित विधि से त्याग करना चाहिये ॥ -२६७-२६८- ॥

अवरोहक्रमेण यथोक्तवाच्यवाचकात्मानो भावाः पदार्था ये वक्ष्यमाणयुक्त्या स्थूलस्थूलतरास्तत्तत्सिद्धिप्रदाः स्थितास्तैरेवारोहक्रमेण यथोत्तरं सूक्ष्मसूक्ष्मतरैरुपलक्षितम् । एवमिति सर्वमध्वानम्, एवमित्युक्तयुक्त्यैव त्यजेत्, तैस्त्यज्यमानैरुपलक्षिता ये सूक्ष्मसूक्ष्मतरा आरोहक्रमेण यथोत्तरं त एव, तैः कारणभूतैरेवमिति प्रदर्शितनीत्या एवमिति यथोक्तं त्यजेत् । स्थूलानां सिद्धौ सूक्ष्माणां मुक्तौ हेतुत्वमित्यधिकमत्रोपक्षिप्तम् ॥ २६७ ॥

तत्र—

सूक्ष्मोऽत्यन्तं परो भावस्त्वभावः स विधीयते ॥ २६८ ॥

परो भावः परा सत्ता परमशिवोऽत्यन्तं सूक्ष्मो विज्ञेयं सर्वकारणं चेत्यर्थः । स चाशेषभावप्रक्षयात्मकत्वादभावः ॥ २६८ ॥

न च स एवेदृग् यावत्—

उन्मना त्वपरो भावः...............

परभावापेक्षया स्वात्मविमर्शरूपतया किञ्चिदौन्मुख्यादुन्मना अपरो भावो महासत्तात्मा सूक्ष्मो भावोऽभावश्चेति समन्वयः ॥

ऊपर से नीचे उतरना अवरोह और नीचे से ऊपर चढ़ना आरोह क्रम होता है । वाच्य वाचक रूपी जो पदार्थ आगे कही जाने वाली युक्ति से स्थूल स्थूलतर होते हुए अनेक सिद्धियाँ प्रदान करते हैं वे ही आरोह क्रम से स्थूल से सूक्ष्म सूक्ष्म से सूक्ष्मतर हो जाते हैं । इनके द्वारा उपलक्षित समस्त अध्वाओं का इस प्रकार = उक्तयुक्ति के अनुसार, त्याग करना चाहिये । त्यज्यमान उन-उन से उपलक्षित आरोहक्रम से यथोत्तर सूक्ष्मसूक्ष्मतर पदार्थ हैं वे स्थूल स्थूलतर के कारणभूत हैं । उनका भी यथोक्त रीति से त्याग करना चाहिये । स्थूल पदार्थ सिद्धिप्राप्ति के लिये कारण होते हैं और सूक्ष्म मुक्ति के लिये कारण होते हैं ॥ २६७ ॥

उन (= स्थूल सूक्ष्मों) में—

पर भाव अत्यन्त सूक्ष्म है । वह अभाव (के रूप में) जाना जाता है ॥ २६८ ॥

परभाव = परा सत्ता = परम शिव । यह अत्यन्त सूक्ष्म और सबका कारण है— ऐसा समझना चाहिये । वह (पर भाव) समस्त भावों का प्रक्षय (= विलय स्थान) है । इसलिये अभाव स्वरूप है ॥ २६८ ॥

वही ऐसा नहीं है बल्कि—

उन्मना नामक एक दूसरा भाव है ॥ २६९- ॥

पर भाव (= परमेश्वर या परम सत्ता) की अपेक्षा स्वात्मविमर्श रूप में कुछ

................स्थूलस्तस्यापरो मतः ।

तस्योन्मनाख्यस्य स्वभावस्य यः संबन्धितया व्याप्यव्यापकरूपतया, न तु ततः पृथक्त्वेनापरः समनाख्यस्तदपेक्षया स्थूलोऽकाराद्यपेक्षया तु सोऽपि सूक्ष्म एवान्यथा सूक्ष्मसूक्ष्मतरैरिति बहुवचनं न युज्यते ॥

तस्यापरं पुनः शून्यं.................

तस्येति समनात्मनो भावस्यापरं व्यापिनीरूपं शून्यमशेषभावासूत्रणरूपं महाशून्यमित्यर्थः । 'पुनः'शब्देन समनात्मकं तावन्निःशेषभावाभावासूत्रणरूपमेकं शून्यम्, इदं तु सर्वभावाभावाभासनभित्तिकल्पं द्वितीयमित्युक्तम् ॥

अत एव च—

..............संस्पर्शं च ततोऽपरम् ॥ २६९ ॥

शक्तिपदमित्यर्थात् ॥ २६९ ॥

ततोऽपि—

शब्दो.......

उन्मुख होने से उन्मना नामक अपर भाव = महासत्ता वाला सूक्ष्म भाव है जो कि अभाव ही है ॥

उसका जो दूसरा भाव है वह उस (= उन्मना) की अपेक्षा थोड़ा स्थूल माना गया है ॥ -२६९- ॥

उस उन्मना नामक स्वभाव का जो व्याप्यव्यापकरूप से सम्बन्धी, न कि उससे पृथक् जो अपर = समना नामक भाव, वह उस उन्मना की अपेक्षा स्थूल है किन्तु अकार आदि की अपेक्षा वह सूक्ष्म ही है । ऐसा न मानने पर श्लोक सं० २६७ में उक्त 'सूक्ष्मसूक्ष्मतरैः' इस बहुवचन से सङ्गति नहीं बैठेगी ॥

उसकी अपेक्षा एक और शून्य है ॥ -२६९- ॥

उसकी = समना नामक भाव की अपेक्षा व्यापिनी रूप एक दूसरा शून्य है । यह समस्त भावों का आसूत्रण (= प्रारम्भ) रूप महाशून्य है । 'पुनः' शब्द से यह सङ्केतित होता है कि समना समस्त भावाभाव का एक आसूत्रक है जो निराकार है और यह सब भावाभाव के आभास का आधारकल्प दूसरा शून्य है ॥

इसीलिये—

उसके बाद अपर संस्पर्श ॥ -२६९ ॥

अर्थात् शक्तिपद है ॥ २६९ ॥

उसके बाद—

नादान्तात्मा नादरूपश्च ।

ततोऽपि—

.........ज्योतिः.........

व्याप्तनिरोधिकार्धचन्द्रपदो बिन्दुः ।

.........ततो मन्त्राः कारणा भुवनानि च ।

मन्त्रा मकारोकाराकारवर्णपरामर्शात्मानो वाचकाः, तद्वाच्या रुद्रोपेन्द्रब्रह्माणः कारणानि तदाश्रयभूतानि च तत्त्वानि भुवनानि च क्रमेणात्यन्तं स्थूलतमानीत्यर्थः ।

तदाह—

पञ्चभूतात्मभुवनं कारणैः समधिष्ठितम् ॥ २७० ॥

पञ्च भूम्यादीनि स्थूलसूक्ष्मादिरूपतयात्मा कारणं यस्य भुवनस्य । मायाविद्यादिपदेऽपि हि भुवनानि सन्ति, न च तत्र स्थूलभूतारब्धानि, तेषां च सूक्ष्मभूतारब्ध्यानामपि स्वाधिष्ठातृकारणापेक्षया स्थूलत्वमेव, वस्तुतस्तु एषां भुवनादीनां शिवरूपत्वमेव ।

शब्द है ॥ २७०- ॥

यह नाद एवं नादान्तरूप है ।

उसके बाद—

ज्योति है ॥ -२७०- ॥

व्याप्त को रोकने वाली रोधिनी अर्धचन्द्र और बिन्दु है ।

इसके बाद मन्त्र कारणत्रय तथा भुवन हैं ॥ -२७०- ॥

मन्त्र = मकार उकार अकार वर्णों के परामर्श रूप वाचक हैं । उनके वाच्य रुद्र विष्णु और ब्रह्मा है जो कि तत्तत् पदों के कारण भूत हैं । फिर उन रुद्र आदि के कारणभूत तत्त्व और भुवन हैं । ये उत्तरोत्तर स्थूल हैं ।

वही कहते हैं—

पञ्च महाभूतों से बने भुवन ब्रह्मा आदि कारणों से अधिष्ठित बतलाये गये हैं ॥ -२७० ॥

पाँच पृथिवी आदि स्थूल सूक्ष्म रूप से इन भुवनों के आत्मा = कारण है । माया शुद्ध विद्या ईश्वर और सदाशिव पदों में भी भुवन हैं । किन्तु वे पञ्चमहाभूतों से निर्मित नहीं है । सूक्ष्मभूतों से आरब्ध भी वे अपने अधिष्ठातृ कारणों की अपेक्षा स्थूल ही हैं । वस्तुतः ये भुवन आदि शिवरूप ही हैं ।

यथोक्तमन्यत्र—

'भुवनं विग्रहो ज्योतिः खं शब्दो मन्त्र एव च ।
बिन्दुनादादिसंभिन्नः षड्विधः शिव उच्यते ॥' इति ।

आरुरुक्षून् प्रति तु स्थूलस्थूलतरैरित्याद्युक्तम् ॥ २७० ॥

यदुक्तं 'स्थूला भावाः सिद्धिदाः' इति, तत्रोक्तक्रमप्रातिलोम्येन सिद्धिभेदं विभज्य दर्शयति—

भुवनं चिन्तयेद्यस्तु वक्ष्यमाणैकरूपकम् ।
भुवनेशत्वमाप्नोति...............

वक्ष्यमाणमिति भुवनाध्वनि भुवनेशत्वं कालाग्न्यादिरूपत्वम् ।

यस्तु परो योगित्वादेतद्भुवनं वक्ष्यमाणं विग्रहाद्यपि शिवरूपतयैव पश्यति सः—

...........शिवं ध्यात्वा तु तन्मयः ॥ २७१ ॥

शिवस्य च चिदानन्दघनतयैव ध्यानं नत्वाकारेण । अन्येषां तु—

ब्रह्मादिकारणानां च साधने विग्रहं स्मरन् ।

जैसा कि अन्यत्र कहा गया—

'भुवन, शरीर, ज्योति, आकाश, शब्द और मन्त्र बिन्दु नाद आदि से युक्त शिव के ये छः प्रकार कहे गये हैं ॥'

परमतत्त्व पर आरूढ़ होने वालों के लिये 'स्थूलस्थूलतरैः' इत्यादि कहा गया है ॥ २७० ॥

जो कहा गया कि 'स्थूल भाव सिद्धिप्रद होते हैं ।' उसके सन्दर्भ में उक्त क्रम को उल्टा कर सिद्धियों के भेदों को अलग-अलग कर दिखलाते हैं—

जो साधक भुवनों को वक्ष्यमाण स्वरूप वाले रूप में देखता है वह भुवनेश्वर हो जाता है ॥ २७१- ॥

वक्ष्यमाण—भुवनाध्वाप्रकरण में कहे जाने वाले । भुवनेशत्व = कालाग्निरुद्र आदि की रूपता को, प्राप्त करते हैं ।

एक दूसरा योगी होने के कारण इस वक्ष्यमाण भुवन विग्रह आदि को भी शिवरूप में देखता है वह—

शिव का ध्यान कर तन्मय हो जाता है ॥ -२७१ ॥

यहाँ शिव का ध्यान चिदानन्दघन रूप में होता है न कि किसी आकारधारी के रूप में । अन्य जो—

पूर्वोक्तलक्षणं यश्च तन्मयत्वमवाप्नुयात् ॥ २७२ ॥

पूर्वमित्यासननिर्णयावसर उक्तम्, यश्चेत्यत्र स इत्यध्याहार्यः ॥

मन्त्रैश्च मन्त्रसिद्धिस्तु जपहोमार्चनाद् भवेत् ।

आराधितैरिति शेषः ॥

अतश्च जपादिना पूर्वमेव ये साधिता मन्त्रा अङ्गब्रह्माद्याः—

पूर्वोक्तरूपकध्यानात् सिद्ध्यन्त्यत्र न संशयः ॥ २७३ ॥

एषां पूर्वमेव ध्यानम्, साधनफलं चाग्रे भविष्यति ॥ २७३ ॥

ज्योतिर्ध्यानात्तु योगीन्द्रो योगसिद्धिमवाप्नुयात् ।

ज्योतिर्बिन्दु । योगसिद्धिरतीतादिज्ञानम् ॥

योगप्रकर्षात्तु—

ब्रह्मा आदि कारण हैं उनकी साधना में जो भी योगी साधक उनके पूर्वोक्त लक्षण वाले स्वरूप का स्मरण करता है, वह तन्मय हो जाता है ॥ -२७२ ॥

पूर्वोक्त = आसन के निर्णय के अवसर पर उक्त । 'यश्च' के साथ 'सः' को भी जोड़ लेना चाहिये ॥

उन मन्त्रों के द्वारा मन्त्र की सिद्धि जप, होम और पूजन के द्वारा होती है ॥ २७३- ॥

जिन मन्त्रों की आराधना की जा चुकी है ॥

इसलिये जिन षडङ्गमन्त्र एवं पञ्चब्रह्ममन्त्र (अर्थात् ग्यारह मन्त्र । इन्हीं को मन्त्रैकादशिका कहते हैं) आदि की सिद्धि पहले की जा चुकी है—

वे पूर्वोक्त रूप का ध्यान करने मात्र से सिद्ध हो जाते हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥ -२७३ ॥

इनका ध्यान पहले ही होता है साधना का फल बाद में होगा ॥ २७३ ॥

ज्योति का ध्यान कर लेने से योगीन्द्र योगसिद्धि को प्राप्त करता है ॥ २७४- ॥

ज्योति = बिन्दु । योगसिद्धि = अतीत आदि का ज्ञान । (यह अतीत आदि का ज्ञान पातञ्जलयोगसूत्र के अनुसार विषयों के धर्म लक्षण और अवस्था रूप तीन परिणामों के विषय में धारणा ध्यान समाधि के द्वारा होता है । द्रष्टव्य— पा०यो०सू० ३।१६) ॥

योगप्रकर्ष के कारण—

तन्मयत्वं यदाप्नोति योगिनामधिपो भवेत् ॥ २७४ ॥

अधिप इति भगवदीश्वररूपः ॥ २७४ ॥

शब्दध्यानाच्च शब्दात्मा वाङ्मयापूरको भवेत् ।

शब्दो नादः ॥

स्पर्शध्यानाच्च स्पर्शात्मा जगतः कारणं भवेत् ॥ २७५ ॥

स्पर्श आनन्दात्मा शक्तिगतस्तस्याधस्तनजगत्कारणत्वाज्जगतः कारणमित्युक्तम् ॥ २७५ ॥

व्यापिनीपदे तु—

शून्यध्यानाच्च शून्यात्मा व्यापी सर्वगतो भवेत् ।
समनाध्यानयोगेन योगी सर्वज्ञतां व्रजेत् ॥ २७६ ॥

एवं स्थूलस्थूलतरादिभावापेक्षया सिद्धीः प्रतिपाद्य

'सूक्ष्मोऽत्यन्तं परो भावः' (४।२६८)

इत्यादिप्रतिपादितदृशात्यन्तसूक्ष्मोन्मनापरतत्त्वध्यानं मुक्तिप्रदमित्यादिशति—

योगी जब तन्मय (= ज्योतिर्मय) हो जाता है तब वह योगियों का अधिपति हो जाता है ॥ -२७४ ॥

अधिप = भगवान् ईश्वर रूप ॥ २७४ ॥

शब्द अर्थात् नाद के ध्यान से योगी शब्दात्मा (= शब्दस्वरूप) अर्थात् वाङ्मय का आपूरक (= उत्कृष्ट साहित्यस्रष्टा अथवा सत्यवक्ता अथवा समस्त शब्दार्थ का ज्ञाता) हो जाता है । स्पर्श के ध्यान से वह स्पर्शस्वरूप होकर जगत् का कारण बन जाता है ॥ २७५ ॥

स्पर्श = आनन्द जो कि शक्ति स्त्री जाति में स्थित रहता है वह अधस्तन जगत् = सन्तानपरम्परा, का कारण है इसलिये जगत् का कारण कहा गया ॥ २७५ ॥

व्यापिनी स्तर में—

शून्य के ध्यान से शून्यस्वरूप हुआ योगी व्यापक एवं सर्वगामी हो जाता है । समना के ध्यानयोग के द्वारा योगी सर्वज्ञ हो जाता है ॥ २७६ ॥

इस प्रकार स्थूल स्थूलतर आदि भावों की अपेक्षा से सिद्धियों को प्रतिपादित कर

'परभाव अत्यन्त सूक्ष्म है ।' (४।२६८)

उन्मन्या तु परं सूक्ष्ममभावं भावयेत् सदा ।

उन्मन्या समवायिन्या शक्त्या सह परं पूर्वोक्तशिवतत्त्वरूपमभावं भावयेत् ।

अभावं व्याचष्टे—

सर्वेन्द्रियमनोतीतस्त्वलक्ष्योऽभाव उच्यते ॥ २७७ ॥

सर्वाणीन्द्रियाणि मनश्चातीतोऽतिनिष्क्रान्तः, समनापदादूर्ध्वस्य वेदित्रेकरूपत्वात्, अत एवालक्ष्यः, अतश्च न विद्यन्ते वेद्यादिरूपा भावा यत्रेति व्युत्पत्त्याभाव उच्यते, वस्तुतस्त्वसौ चिदानन्दघन एव ॥ २७७ ॥

ननु यद्ययमीदृशस्तत्कथमुक्तम्—'अभावं भावयेत् सदा' ?—इत्याशङ्क्याह—

अभावं भाव्यं भावेन भावं कृत्वा निराश्रयम् ।

न विद्यन्ते भावा यस्मिंस्तदभावरूपं पदम्, भावेन परसत्तात्मना चिन्मयेन रूपेण भाव्यं भावनीयम् । ननु चितत्त्वं भावकं तत्कथं भाव्यमुच्यते—

इत्यादि प्रतिपादित रीति से अत्यन्त सूक्ष्म उन्मनारूपी पर तत्त्व का ध्यान मुक्तिदायक है—यह आदेश करते हैं—

उन्मना के द्वारा सदा अत्यन्त सूक्ष्म अभाव की भावना करनी चाहिये ॥ २७७- ॥

उन्मना, जो कि परमेश्वर की समवायिनी शक्ति है, के साथ पर अर्थात् पूर्वोक्त शिवतत्त्वरूप अभाव की भावना करनी चाहिये ॥

अभाव की व्याख्या करते हैं—

जो समस्त इन्द्रियों एवं मन की पहुँच से परे तथा अलक्ष्य है वह अभाव कहा जाता है ॥ -२७७ ॥

यह समस्त इन्द्रियों और मन के परे अर्थात् अतिनिष्क्रान्त है क्योंकि समनापद के ऊपर केवल वेदितृ भाव रह जाता है (वेद्य, वेदन भावलीन हो जाता है) । इसी लिये वह अलक्ष्य है । और इसीलिये जिसमें वेद्य आदि रूप भाव नहीं हैं वह अभाव कहलाता है । वस्तुतः यह चिदानन्दघन (परमेश्वर) है ॥ २७७ ॥

प्रश्न—यदि यह इस प्रकार का (= अलक्ष्य) है तो कैसे कहा गया कि 'सदा अभाव की भावना करनी चाहिये ?—यह शङ्का कर कहते हैं-

भाव को आश्रयहीन बना कर अभाव की भाव के रूप में भावना करनी चाहिये ॥ २७८- ॥

जिसमें भाव नहीं रहते वह अभाव रूप पद है । उसकी भाव = पर सत्तात्मक चिन्मय रूप से भावना करनी चाहिये । प्रश्न—चित् तत्त्व तो भावक है उसे भाव्य

भावं कृत्वा निराश्रयमिति । भवतीति भावः सदाशिवादिः क्षित्यन्तः, तं निराश्रयं निरालम्बनं प्रशान्तरूपतया शक्तिधामानुप्रवेशेन तन्मयीकृत्य ॥

इत्थं च—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तमभावं लभते पदम् ॥ २७८ ॥

उपसंहरति—

एष ते कारणत्यागः...............

कारणत्यागेऽर्थाक्षिप्तं कलात्यागमाह—

...............कालत्यागं निबोध मे ।

स च—

तुटिषोडशसंयुक्तः प्राणस्तु समुदाहृतः ॥ २७९ ॥

तस्य च—

तुटिद्वयं समाश्रित्य एकैको भैरवः स्थितः ।

द्वितीयावरणनिष्ठः कपालीशभैरवादिः ॥

कैसे कहा जाता है ? उत्तर देते हैं—

भाव को निराश्रय करना चाहिये । इसका स्पष्टार्थ है—जिसका भवन = उत्पत्ति, होती है वह भाव होता है अर्थात् सदाशिव से लेकर पृथ्वी तक के तत्त्व । उसको निराश्रित = निरालम्बन, बनाकर अर्थात् प्रशान्त रूप से शक्ति धाम में अनुप्रवेश के द्वारा तन्मय कर (भावना करे) ॥

इस प्रकार (भावना करने पर साधक)—

समस्त उपाधियों से रहित अभाव रूप पद को प्राप्त करता है ॥ -२७८ ॥

इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

(हे देवि !) यह तुमको कारणत्याग बतलाया गया ॥ २७९- ॥

कारण त्याग में अर्थाक्षिप्त कालत्याग को कहते हैं—

अब मुझसे कालत्याग को जानो ॥ -२७९- ॥

और वह—

सोलह तुटियों वाला वह काल प्राण कहा गया है ॥ -२७९ ॥

इस प्राण की दो तुटियों को आधार बनाकर एक-एक भैरव स्थित है ॥ २८०- ॥

अस्मिंश्च—

अहोरात्रविभागेन कुर्वन्त्युदयमेव ते ॥ २८० ॥

यथाहि प्राणेऽष्टावुद्यन्त्येवं रात्रौ अपानेऽपि ॥ २८० ॥

एषां व्यापकः—

नवमस्तु परो देवः...............

पर इत्यष्टानां पूरको व्यापकः प्रकृष्टश्च श्रीस्वच्छन्दनाथः ॥

एतदीयान्महाप्रकाशात्मनो व्यापकात्—

...............तेजसस्तूदयन्ति ते ।

तद्भित्तावेव स्फुरन्तीत्यर्थः । अतश्च प्राणोदये तदविनाभाविनि बाह्यान्तर-नीलसुखादिज्ञाने तद्विकल्पनेऽपि वा परभैरवविकासमया एव महायोगिनो न तु कदाचित् क्वचिदपि खण्ड्यन्ते, प्रत्युत स्वात्मविकासेन सततं मण्ड्यन्ते, इति सरहस्यार्थोऽत्र कटाक्षितः ॥

ये कपालीश भैरव आदि द्वितीय आवरण में रहते हैं ॥

इस (= आवरण) में—

वे (= कपालीश भैरव आदि) दिन रात के विभाग से उदय का सम्पादन करते रहते हैं ॥ -२८० ॥

जिस प्रकार आठ भैरव दिन रूपी में प्राण में उदित होते हैं उसी प्रकार रात रूपी अपान में भी (उनका उदय होता है) ॥ २८० ॥

इन (= आठों भैरवों) का व्यापक—

नवम भैरव है और वह देव पर हैं ॥ २८१- ॥

'पर' का तात्पर्य है—पूर्वोक्त आठ भैरवों का पूरक । यही व्यापक और प्रकृष्ट हैं । इनका दूसरा नाम स्वच्छन्दनाथ है ।

इसके महाप्रकाशरूप व्यापक ।

तेज से उन आठ भैरवों का उदय (= उत्पत्ति) होता है ॥ -२८१- ॥

(उदय होता है =) उस पर देव के ऊपर ये स्फुरित होते हैं । इसलिये प्राण का उदय होने पर उसके साथ अवश्यंभावी बाह्य घट आदि एवं आभ्यन्तर सुख आदि का ज्ञान या उनकी कल्पना होने पर महायोगीगण परभैरवविकासमय हो जाते हैं न कि वे कहीं कभी खण्डित होते हैं अर्थात् वे किसी भी समय कहीं भी उस परभैरवविकास से रहित नहीं होते । वे निरन्तर स्वात्मविकास से अलङ्कृत रहते हैं—यह रहस्यपूर्ण अर्थ उक्त श्लोक में सङ्केतित है ॥

एवं स्थिते सति—

सर्वं कालं त्यजेत् प्राणे यथावत् कथयामि ते ॥ २८१ ॥

तत्र—

तुटयः षोडशैवोक्ताः कालस्य करणं तु ताः ।
तदादिः संस्थितः कालः सर्वं चरति वाङ्मयम्॥ २८२ ॥

'करणं तु ताः' इति प्राणारम्भद्वारेण ताभिः सर्वस्य कालस्योत्थापनात् । तदादिरिति

'क्षणद्वयं तुटिः प्रोक्ता' (११।२०१)

इति भाविनीत्या यद्यपि क्षणादिः कालस्तथापि

'मानुषाक्षिनिमेषस्याष्टमोंऽशः क्षणः ।' (११।२०१)

इति भाविवाक्येनैव लक्ष्यस्यानुमेयत्वमुक्तमिति न तस्य सावधानैरपि तुटिवत् स्फुटसंवेद्यत्वमित्येवमुक्तम् सर्वं चरति वाङ्मयमिति । प्राणोच्चारोच्चरन्मातृकाव्याप्तिद्वारेण समस्तवाचकराशिं तद्द्वारेण च वा(च्यान्य[1])पि व्याप्नोति ॥ २८२ ॥

ऐसा होने पर—

सम्पूर्ण काल का प्राण में त्याग कर देना चाहिये । इसको मैं तुमको यथाविधि बतला रहा हूँ ॥ -२८१ ॥

वहाँ पर—

(प्राण में) तुटियों की संख्या सोलह कही गयी हैं । वे कालरूपी कार्य की करण हैं । उन्हीं से प्रवर्त्तित काल समस्त वाङ्मय को व्याप्त करता है ॥ २८२ ॥

वे करण हैं = प्राणारम्भ के द्वारा उन्हीं से समस्त काल की उत्थापना (= उत्पत्ति) होती है । श्लोकोक्त 'तदादि' (शब्द की व्याख्या करते हैं—)

'दो क्षणों की एक तुटि कही गयी है ।' (११।२०१)

आगे कही जाने वाली इस नीति के अनुसार यद्यपि क्षण आदि काल कहा जाता है तथापि—

'मनुष्य के एक अक्षिनिमेष का आठवाँ भाग क्षण माना गया है ।' (११।२०१)

इस आगे कहे जाने वाले वाक्य से ही लक्ष्य की अनुमेयता का कथन कर दिया गया । इसलिये सावधान लोगों के भी द्वारा उस लक्ष्य का स्फुट ज्ञान नहीं हो सकता तुटि का ज्ञान भले हो जाय । इसलिये कहा गया कि '(काल) समस्त

१. च्यनियमम ।

तदादिरित्युक्तं विभजति—

तुटिर्लवो निमेषश्च काष्ठा चैव कला तथा ।
मुहूर्तश्चाप्यहोरात्रः पक्षो मास ऋतुस्तथा ॥ २८३ ॥
अयनं वत्सरश्चैव युगं मन्वन्तरं तथा ।
कल्पश्चैव महाकल्पः............

तुट्यादयः षोडश इति, वक्ष्यमाणौ च द्वौ एकादशपटले निर्णेष्यन्ते ।

'महाकल्पस्य पर्यन्ते ब्रह्मा याति परं लयम् ।' (११।२६४)

इति । एषोऽत्र महाकल्पो न ग्राह्योऽसङ्गतेः, अपि तु सदाशिवजीवितावध्यात्मा परममहाकल्पः ॥

यदाह—

........शक्त्यन्ते तं परित्यजेत् ॥ २८४ ॥

शक्त्यन्तर्भावानुप्रवेशान्ते सूक्ष्मदृशा सदाशिवान्तकारणपञ्चकोपसंहारी कालः प्रशाम्यतीत्यर्थः ॥ २८४ ॥

वाङ्मय में सञ्चरण करता है ।' प्राण के उच्चार के साथ उच्चारित होने वाला वह काल मातृका को व्याप्त करते हुए समस्त वाचकराशि को व्याप्त करता है और उस (= वाचकराशि की व्याप्ति) के द्वारा वाच्यों (के नियम) को भी व्याप्त करता है ॥ २८२ ॥

तदादि (= तत् = तुटि, आदि में है जिसके वह) का विभाग करते हैं—

तुटि, लव, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु अयन, वत्सर, युग, मन्वन्तर, कल्प और महाकल्प (यह काल का विभाग है) ॥ २८३-२८४- ॥

तुटि से लेकर महाकल्प तक १६ कालविभाग तथा वक्ष्यमाण दो (= व्यापिनी और साम्य अर्थात् समना) इनका वर्णन ग्यारहवें पटल में किया जायेगा ।

'महाकल्प के अन्त में ब्रह्मा प्रलय को प्राप्त हो जाते हैं ।' (११।२६४)

यहाँ (श्लोक सं० २८४ में) यह महाकल्प नहीं समझना चाहिये क्योंकि ऐसा मानने पर आगे के ग्रन्थ से सङ्गति नहीं बैठती । यहाँ महाकल्प का तात्पर्य है— सदाशिव के जीवनपर्यन्त का काल ॥

जैसा कि कहते हैं—

शक्ति के अन्त में उसको छोड़ देना चाहिये ॥ -२८४ ॥

सूक्ष्म दृष्टि के द्वारा शक्ति के अन्दर प्रवेश करने के बाद, सदाशिव पर्यन्त जो

अथ—

व्यापिन्यन्ते परः कालः स तदङ्गी.......

स परममहाकल्पोऽङ्गमवयवः तेनाङ्गी पर इति साम्याख्यः । यद्वक्ष्यति—

'स कालः साम्यसंज्ञो वै' (११।२०९) इति ॥

...........त्यजेत्तु तम् ।

तं च समनानुभवदशायां परित्यजेत् ॥

पूर्वप्रकारापेक्षया च—

स च सप्तदशो ज्ञेयः...........

ततोऽपि—

..............परार्धः परतः स्थितिः ॥ २८५ ॥
सोऽपि चाष्टादशो देवि समनान्ते तु तं त्यजेत् ।

समनानुभवपर्यन्ते उन्मनान्तर्भावे त्यजेत् प्रशमयेत् ॥ २८५ ॥

पाँच कारण (= ब्रह्मा विष्णु रुद्र आदि) हैं उनका भी उपसंहार करने वाला काल शान्त हो जाता है ॥ २८४ ॥

इसके बाद—

व्यापिनी के अन्त में पर काल है और वह (= पर काल) उसका (= महाकल्प का) अङ्गी है ॥ २८५- ॥

वह = परममहाकल्प, अङ्ग = अवयव है। उससे पर = साम्य (= समना) नामक काल अङ्गी है । जैसा कि कहेंगे—

'वह काल साम्य नाम वाला है ।' (११।२०९)

उसका परित्याग करना चाहिये ॥ -२८५- ॥

समना स्तर के अनुभव की दशा में उसका त्याग करना चाहिये ॥

पूर्वोक्त १६ प्रकार के सन्दर्भ में—

इसे सत्रहवाँ समझना चाहिये ॥

इसके बाद भी—

परार्ध नामक काल भेद है जो कि पर रूप से स्थित है । वह अट्ठारहवाँ कालभेद है । हे देवि ! समना के त्याग के बाद उसे छोड़ देना चाहिये ॥ २८५-२८५- ॥

एवमेकप्राणोच्चारेणैव बहिर्विततमपि परार्धान्तं कालं गुरुप्रवरः प्रशमय्य अकालकलिते पदे स्थितिं बध्नीयात् । तदाह—

सर्वकालं तु कालस्य व्यापकः परमोऽव्ययः ॥ २८६ ॥
उन्मन्यन्ते परे योज्यो न कालस्तत्र विद्यते ।

कालस्येति परार्धान्तस्य, सर्वकालं नित्योदितत्वेन व्यापकः, अत एव परमोऽव्ययश्च, उन्मन्यन्ते परे शक्तिशक्तिमदनुभवावेशे योज्यः सामरस्येन प्रत्यभिज्ञेयः । तत्र च कलनात्मा कालो नास्ति, तस्यैव विश्वकलनाकारित्वान्न तं कश्चित् कलयतीत्यर्थः ॥ २८६ ॥

अत एवासौ—

नित्यो नित्योदितो व्यापी..............

नित्योदित इति न केनचिदाच्छादितः इत्यर्थः ॥

तं च सर्वोपरिवर्तित्वात्—

(योगी को चाहिये कि वह) समना के अनुभव के बाद उन्मना में अन्तर्भूत होने पर उसका (= समना का) भी त्याग करे = उसको भी प्रशान्त कर दे ॥ २८५ ॥

इस प्रकार प्रकृष्ट गुरु एक प्राणोच्चार के द्वारा ही बाहर फैले हुए परार्धपर्यन्त काल को शान्त कर काल की पहुँच के परे परम पद में अपनी स्थिति बनाये । वही कहते हैं—

वह काल का सर्वकाल है । व्यापक परम एवं अव्यय उसकी योजना उन्मना के अन्त में पर में करनी चाहिये । वहाँ काल की सत्ता नहीं है (वह स्वयं कालातीत या महाकाल है) ॥ -२८६-२८७- ॥

काल का अर्थ है—परार्धपर्यन्त काल । वह सब समय नित्योदित होने से व्यापक है अत एव परम और अव्यय है । उसे उन्मना के अन्त में पर मे = शक्ति और शक्तिमान् के अनुभवावेश में, जोड़ना चाहिये = सामरस्येन उसकी प्रत्यभिज्ञा करनी चाहिये । वहाँ पर कलनात्मा (= रचना करने वाला) काल नहीं है । क्योंकि वह (= परमेश्वर) ही विश्व का रचनाकार है । उसकी रचना कोई नहीं करता ॥ २८६ ॥

इसलिये यह—

नित्य है, नित्योदित है और व्यापक है ॥ -२८७- ॥

नित्योदित = किसी के भी द्वारा कभी भी आच्छादित नहीं है ॥

सर्वोपरि वर्त्तमान रहने के कारण उस—

............आदिरूपं न संत्यजेत् ॥ २८७ ॥

तमेव दृढावष्टम्भयुक्त्या श्रयेत् ॥

एवं च सति—

तं च नित्योदितं प्राप्य तन्मयो जायते सदा ।

योगीन्द्र इति शेषः ।

एवं च कारणत्यागानन्तरीयकः कालत्यागो निर्णीत इत्याह—

कालत्यागो भवेदेवं............

उद्देशक्रमायातः—

...............शून्यभावस्त्वथेच्यते ॥ २८८ ॥

शून्यो रूपो भावः पदार्थः, परशून्यपदप्राप्त्युपायभूत इत्यर्थः ॥ २८८ ॥

तमाह—

ऊर्ध्वशून्यमधःशून्यं मध्यशून्यं तृतीयकम् ।

आदिरूप का त्याग नहीं करना चाहिये ॥ -२८७ ॥

दृढ़ विश्वास के साथ उसका आश्रयण करना चाहिये ॥

ऐसा होने पर—

नित्योदित उसकी प्राप्ति कर (योगीन्द्र) सदा के लिये तन्मय हो जाता है ॥ २८८- ॥

योगीन्द्र—यह जोड़ना चाहिए ।

इस प्रकार कारणत्याग के बाद होने वाला कालत्याग बतलाया गया—यह कहते हैं—

इस प्रकार काल का त्याग होता है ॥ -२८८- ॥

नामकथन के क्रम से प्राप्त

शून्य भाव का अब कथन करते हैं ॥ -२८८ ॥

(शून्य भाव का अर्थ है—) शून्यरूप पदार्थ । यह पर शून्यपद की प्राप्ति का उपाय है ॥ २८८ ॥

उसको बतलाते हैं—

(शून्य सात प्रकार का है । उनमें प्रथम तीन प्रकार ये हैं) ऊर्ध्व शून्य, अधः शून्य और तीसरा मध्य शून्य ॥ २८९- ॥

'चतुर्थं व्यापिनीशून्यं' (४।२९०)

इति वक्ष्यमाणत्वाद् ऊर्ध्वशून्यमत्र नादान्तान्तनिःशेषपाशप्रशमभूः शक्तिपदम्, अधःशून्यमनुल्लसितप्रपञ्चं हृत्क्षेत्रम्, मध्यशून्यं तु क्रमेणाधस्तनप्रमेयप्रशमात्मकं कण्ठतालुभ्रूमध्यललाटमूर्धरन्ध्रात्मकम् ।

इत्थं च—

शून्यत्रयं चलं ह्येतत्तदधो मध्य ऊर्ध्वतः ॥ २८९ ॥

तदेतत् क्रमेणाधो मध्य ऊर्ध्वतः स्थितं शून्यत्रयमापेक्षिकत्वाद्धेयमित्यर्थः ॥ २८९ ॥

किं च—

चतुर्थं व्यापिनीशून्यं समनायां च पञ्चमम् ।
उन्मनायां तथा षष्ठं.........

अत्राप्यापेक्षिकत्वाच्चलं ह्येतदिति योज्यम् ।

अतश्च—

..........षडेते सामयाः स्थिताः ॥ २९० ॥

चौथा शून्य व्यापिनी है । (४।२९०)

ऐसा आगे कहेंगे । यहाँ 'ऊर्ध्व शून्य' पद से शक्ति पद को समझना चाहिये जो कि नादान्तपर्यन्त समस्त पाशों के नाश का स्थल है । अधः शून्य हृदय है । यहाँ समस्त प्रपञ्च उल्लासरहित है । मध्य शून्य उपर्युक्त दोनों के बीच स्थित कण्ठ तालु भ्रूमध्य ललाट मूर्धा और ब्रह्मरन्ध्र तक है । यहाँ समस्त अधोवर्त्ती प्रमेय का प्रशमन हो जाता है ॥

इस प्रकार—

नीचे मध्य और ऊपर स्थित तीनों शून्य चल हैं ॥ -२८९ ॥

ये तीनों शून्य जो कि अधः मध्य और ऊर्ध्व में हैं आपेक्षिक होने के कारण हेय हैं ॥ २८९ ॥

इसके अतिरिक्त—

व्यापिनी चौथा शून्य है । समना पाँचवा और उन्मना छठाँ शून्य है ॥ २९०- ॥

ये भी आपेक्षिक होने के कारण हेय है—इतना जोड़ लेना चाहिये ।

इसलिये—

आमयपदेनात्र हेयत्वमुपलक्ष्यते, तेन चलत्वाद् एते हेया इत्यर्थः । उन्मनाया अपि परतत्त्वापेक्षया किंचिच्चलत्वमस्ति । परतत्त्वस्यैव तु अविचलत्वादुपादेयत्वम् ॥ २९० ॥

अत एवैते—

तत्त्वेनाधिष्ठिताः सर्वे सामया अपि सिद्धिदाः।

तत्त्वं परमशिवः अधिष्ठितिर्व्याप्तिः । सिद्धिरत्र परयोगिनः पूर्णानन्दघनात्मैव, इतरस्य तु तत्तत्स्वप्नपदोचिता ॥

अत एव—

षट् शून्यानि परित्यज्य सप्तमे तु लयं कुरु ॥ २९१ ॥

यतः—

तच्छून्यं तु परं सूक्ष्मं सर्वावस्थाविवर्जितम् ।

परं सूक्ष्ममिति निर्णीतं प्राक् । उन्मनाया अपि—

'शैवी मुखमिहोच्यते ।' (वि०भै० २०)

ये छहों शून्य सामय हैं ॥ -२९० ॥

यहाँ 'आमय' पद का अर्थ है-हेय । इससे चल होने के कारण ये हेय हैं । उन्मना नामक शून्य भी पर तत्त्व की अपेक्षा कुछ चल है । केवल पर तत्त्व ही अविचाली होने के कारण उपादेय है (शेष सब हेय है) ॥ २९० ॥

इसलिये-

सामय होते हुए भी सभी शून्य चूँकि परम तत्त्व से व्याप्त हैं इसलिये सिद्धिप्रद हैं ॥ २९१- ॥

तत्त्व = परम शिव । अधिष्ठित = व्याप्त । सिद्धि = योगी का पूर्ण आनन्दघन होना । अन्य लोग जो योगी नहीं है उनके लिये तत्तत् स्वप्न वाली सिद्धि मिलती है ॥

इसलिये—

(हे देवि !) उपर्युक्त छः शून्यों का त्याग करते हुए सप्तम शून्य में लीन हो जाओ ॥ -२९१ ॥

क्योंकि—

वह शून्य पर सूक्ष्म है । वह सब अवस्था से रहित है ॥ २९२- ॥

पर सूक्ष्म का वर्णन पहले किया जा चुका है ।

इति न्यायात् परमपदप्रविविक्षु (योंग्या ? क्षुयोग्याशयेन—) परमत्त्वानुप्रवेशोपायत्वाद् अवस्थात्वमस्तीति कृत्वा सर्वावस्थाविवर्जितमवस्थात्रयैकरूपं परमेवतत्त्वम् ॥

एवं चेत् कथं शून्यम् ?—इत्याह—

अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते ॥ २९२ ॥
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः ।

यदेतच्छून्यमित्युक्तम्, तद्वस्तुतोऽशून्यं चिदानन्दघनपरमशिवतत्त्वम् । अत्र हेतुः शून्यमिति । चो ह्यर्थे । यस्मात् शून्यमभाव उच्यते, अभावश्च न विद्यते भावः सर्वः प्रमेयादिप्रपञ्चो यत्रेति व्युत्पत्त्या इह चित्तत्त्वमेवो(प)दिष्टम्, तस्मादशून्यमेव शून्यमिति युक्तमुक्तम् ॥

अत एव तत्—

सत्तामात्रं............

महासत्तारूपम्, प्रकाशात्मैव हि सर्वेषां भावाभावानां सत्ता ॥

निःशेषभेदप्रशमातु—

'शैवीमुख कही जाती है ।' (वि०भै० २०)

इस कथन के अनुसार परमपद में प्रवेश की इच्छा वालों की योग्यता वालों के लिये उन्मना परमतत्त्वानुप्रवेश का उपाय है इसलिये यह उन्मना भी एक अवस्था है इस कारण एक मात्र परतत्त्व ही ऐसा है जो समस्त अवस्था से रहित तथा तीनों अवस्थाओं का एकरूप है ॥

यदि पर तत्त्व ऐसा है तो उसे शून्य क्यों कहा गया ?—यह कहते हैं—

अशून्य को शून्य कहा गया है । शून्य अभाव को कहते हैं । अभाव वह होता है जिससे समस्त भाव लीन हो जाते हैं ॥ -२९२-२९३- ॥

जिसे शून्य कहा गया है वह वस्तुतः अशून्य चिदानन्दघन परमशिव तत्त्व है । इस विषय में कारण है—शून्य । 'च' का प्रयोग— हि (= निश्चित रूप से) अर्थ में है । चूँकि शून्य का अर्थ है—अभाव और अभाव उसे कहते हैं जिसमें भाव अर्थात् समस्त प्रमेय आदि प्रपञ्च न हों । इस व्युत्पत्ति से यहाँ चित् तत्त्व ही उपदिष्ट है । इस कारण 'अशूमेव शून्यम्' यह कथन ठीक ही है ॥

इसलिये वह—

सत्तामात्र है ॥ -२९३- ॥

(सत्तामात्र का अर्थ है—) महासत्ता । प्रकाशरूपता ही समस्त भावों एवं अभावों की सत्ता है ॥

............परं शान्तं तत्पदं किमपि स्थितम् ॥ २९३ ॥

लोकोत्तरमित्यर्थः ॥ २९३ ॥

न च विश्वोत्तीर्णरूपमेव एतद्यावद्विश्वमयमपीत्याह—

यत्र यत्र च नादादिस्थूला अन्येऽपि संस्थिताः ।
तत्र तत्र परं शून्यं सर्वं व्याप्य व्यवस्थितम् ॥ २९४ ॥

नाद आदिर्येषां बिन्द्वादीनाम्, नादस्य चादयः शक्तिव्यापिन्याद्या यत्र यत्र ललाटादिक्षेत्रे, अन्येऽपि स्थूलाः नादादिवाच्याः सदाशिवाद्यास्तदधिष्ठिताश्च तत्तत्तत्त्वभुवनादयो यत्रान्तर्बहिर्वा संस्थिताः, तत्र सर्वत्र परं सत्तामात्ररूपं शून्यं सर्वमिदं शर्करारसवत् तिलशोंऽशमंशं व्याप्य विचित्रेण रूपेणावस्थितम् ॥ २९४ ॥

व्यापकमेव च व्याप्यात्मतया स्फुरति, न तु व्याप्यं नामान्यदित्याह—

तदेव भवति स्थूलं स्थूलोपाधिवशात् प्रिये ।

महाप्रकाशात्मा श्रीस्वतन्त्रनाथः स्वस्वातन्त्र्येणैव यतः स्थूलाभासतया स्फुरति, ततस्तदुपाधिवशात् स्थूलमुच्यत इत्यर्थः ॥

समस्त भेदों का प्रशमन होने के कारण—

वह पद पर शान्त और किमपि (= अद्भुत = लोकोत्तर) है ॥-२९३॥

अर्थात् लोकोत्तर है ॥ २९३ ॥

यह तत्त्व केवल विश्वोत्तीर्ण ही नहीं वरन् विश्वमय भी है—यह कहते हैं—

जिस-जिस क्षेत्र में अन्य भी नाद आदि क्रमिक स्थूल तत्त्व स्थित है उस-उस समस्त क्षेत्र को व्याप्त कर यह पर शून्य स्थित है ॥ २९४ ॥

('नादादि' पद की व्याख्या करते हैं—) नाद है आदि जिनकी वे बिन्दु आदि, अथवा नाद की आदिभूता शक्ति व्यापिनी आदि । जहाँ-जहाँ = ललाट आदि क्षेत्र में स्थित हैं । तथा स्थूल = नाद आदि शब्द से वाच्य सदाशिव आदि और उनके के द्वारा अधिष्ठित तत्तद् भुवन आदि जहाँ अन्दर या बाहर स्थित हैं सभी जगह पर सत्तामात्र स्वरूप शून्य, उक्त सब में शक्कर के रस में मिठास की तरह तिल-तिल अंश-अंश में व्याप्त होकर विचित्र रूप से स्थित है ॥ २९४ ॥

व्यापक ही व्याप्य की आत्मा के रूप में स्फुरित होता है न कि व्याप्य कोई अतिरिक्त वस्तु है—यह कहते हैं—

हे प्रिये ! स्थूल उपाधि धारण करने के कारण वही (तत्त्व) स्थूल हो जाता है ॥ २९४- ॥

चूँकि महाप्रकाशस्वरूप परम स्वच्छन्दभैरव अपने स्वातन्त्र्यवश स्थूल आभास

इत्थं च—

स्थूलसूक्ष्मप्रभेदेन तदेकं संव्यवस्थितम् ॥ २९५ ॥

अत एव यस्येयतीं धारामारूढा संविन्महायोगिनः स—

तत्प्राप्य तन्मयत्वं च लभते नात्र संशयः ।

प्राप्येति दृढप्रतिपत्त्यावलम्ब्य । न संशयः इति तत्त्वमेवैतन्मन्तव्यं न तु जडजनसुलभः संशयोऽत्र कार्यः । यस्त्वियति रहस्येऽर्थे न समाश्वस्तस्तदपेक्षया कारणत्यागाद्युक्तम् ॥

शून्यमुपसंहृत्यैतदुचितानुक्रमं समरसमवतारयति—

शून्यभावः समाख्यातः सामरस्यं निबोध मे ॥ २९६ ॥

समो रसो यस्मिन् स समरसो लोलीभावः ॥ २९६ ॥

के रूप में स्फुरित होते हैं इस कारण उस उपाधि के चलते वे स्थूल कहे जाते हैं ॥

इस प्रकार—

एक ही वह स्थूल सूक्ष्म आदि भेद से स्थित है ॥ -२९५ ॥

इसलिये जिस महायोगी की संवित् इतनी सीमा तक धारा पर आरूढ़ है वह योगी—

उसको प्राप्त कर तन्मयता को प्राप्त करता है इस विषय में संशय नहीं है ॥ २९६- ॥

प्राप्त कर = दृढ विश्वास के साथ अवलम्बन कर । संशय नहीं है = इसे यथार्थ ही समझना चाहिये न कि मूर्ख लोगों के समान इस विषय में संशय करना चाहिये । जिसका इस रहस्य अर्थ में विश्वास नहीं है उसको दृष्टि में रख कर 'कारणत्याग' आदि कहा गया है । (जो पूर्ण विश्वस्त है तथा सर्वथा समर्पित है उसे 'कारणत्याग' आदि की प्रक्रिया से नहीं गुजरना पड़ता) ॥

शून्य का वर्णन समाप्त कर उसके औचित्य के अनुसार क्रमप्राप्त सामरस्य को बतलाते हैं—

शून्यभाव का वर्णन किया जा चुका । अब मुझसे सामरस्य को जानो ॥ -२९६ ॥

(सामरस्य की व्युत्पत्ति बतलाते हैं—) समान रस है जिसमें वह समरस = लोलीभाव (= अस्थिर एवं सर्वांश मिश्रण युक्त । समरस का भाव सामरस्य कहलाता है) ॥ २९६ ॥

तद्भेदानुद्दिशति—

आत्मन्येकः समरसो मन्त्रे ज्ञेयो द्वितीयकः ।
तृतीयं नाडिगं कुर्याच्छक्तौ कुर्याच्चतुर्थकम् ॥ २९७ ॥
व्यापिन्यां पञ्चमं प्रोक्तं समनायां तु षष्ठकम् ।
तात्त्वः समरसो देवि सप्तमस्तु विधीयते ॥ २९८ ॥

एतान्यथोद्देशं लक्ष्यति—

शिष्यात्मानं तु संगृह्य पूर्वोक्तविधिना क्रमात् ।
पश्चादात्मनि संयोज्य लोलीभूतं विचिन्तयेत् ॥ २९९ ॥

आत्मानं पुर्यष्टकसंविदं, पूर्वोक्तविधिनेति ताडनच्छेदनादिपूर्वम्, आत्मनि चैतन्यमात्रे संयोज्याविकल्पं विमृश्य तद्विश्रान्त्यैव समरसीकुर्यात् ॥ २९९ ॥

अत्रैवेतिकर्तव्यतांशं पूरयन्नाडिमन्त्रसामरस्ये निर्दिशति, तत्र शिष्यात्मनो ग्रहणार्थम्—

पूरकं कुम्भकं कृत्वा समानेन निरोधयेत् ।

कुम्भकप्रकर्षाल्लब्धबलेन समानेन निरोधयेदित्याक्रामेदर्थात् सर्वनाडीः ॥

इस समरस के भेदों को बतलाते हैं—

आत्मा में एक समरस होता है, मन्त्र में दूसरा समरस समझना चाहिये । तीसरा नाड़ियों में करना चाहिये । शक्ति में चौथा सामरस्य करना चाहिये । व्यापिनी में पाँचवाँ और समना में छठाँ जानना चाहिये । हे देवि! सातवाँ सामरस्य तात्त्विक (= चरम तत्त्व में) होता है ॥ २९७-२९८ ॥

नाम के अनुसार इनका लक्षण बतलाते हैं—

गुरु शिष्य की आत्मा को उसके शरीर से निकाल कर पूर्वोक्त विधि से क्रम से (= अन्य संस्कार करने के बाद) अपनी आत्मा से संयुक्त कर उसे लोलीभूत हुआ ध्यान करे ॥ २९९ ॥

आत्मा = पुर्यष्टक चैतन्य । पूर्वोक्त विधि के अनुसार = पहले ताडन छेदन आदि करना चाहिये । फिर आत्मा में = चैतन्य मात्र में, उसका संयोजन कर = निर्विकल्पक रूप में उसका ध्यान कर, उसी (= अपनी आत्मा) में शिष्यचैतन्य को विश्रान्त कराते हुए समरस करना चाहिये ॥ २९९ ॥

यहीं पर इतिकर्तव्यतांश का पूरण करते हुए नाडीसामरस्य एवं मन्त्रसामरस्य को बतलाते हैं । इस प्रसङ्ग में शिष्य की आत्मा का सङ्ग्रह करने के लिये—

पूरक और कुम्भक करने के पश्चात् समानवायु के द्वारा (समस्त नाड़ियों का) निरोध करना चाहिये ॥ ३००- ॥

यदाह—

यावत्यो नाड्यो देवि तिर्यगूर्ध्वमधःस्थिताः ॥ ३०० ॥
समानेन समाकृष्टा एकीभूता भवन्ति ताः ।

तदित्थं कुम्भकप्रकर्षेऽवस्थितस्य—

तासु ये वायवस्तेऽपि प्राणे समरसीगताः ॥ ३०१ ॥
नाड्यस्तु सुषुम्नायामेकीभूता व्यवस्थिताः ।

भवन्तीति शेषः ॥ ३०१ ॥

इत्थं नाडिसामरस्यपूर्वं मन्त्रसामरस्यं भवति । तदाह—

ततो वै उच्चरेन्मन्त्रः..........

उदित्यूर्ध्वमवहितस्य, चरेत् स्वयमेव प्रसरेत् ॥

उच्चरन्तं च तं सादाख्ये पदेऽव्यक्तध्वन्यात्मनि—

कुम्भक प्राणायाम के उत्कर्ष से सबल हुए समान वायु के द्वारा समस्त नाड़ियों का निरोध करना चाहिये अर्थात् उनको समानवायु से आक्रान्त (= व्याप्त) करना चाहिये ॥

जैसा कि कहते हैं—

हे देवि ! (शरीर में) जितनी भी नाड़ियाँ ऊपर नीचे तिरछे स्थित हैं, समान वायु के द्वारा आकृष्ट होने पर वे एक हो जाती हैं ॥ -३००-३०१- ॥

तो इस प्रकार कुम्भक के प्रकर्ष में स्थित (शिष्य) की—

उन नाडियों में जो वायु स्थित रहते हैं वे प्राण वायु से समरस हो जाते हैं । इसी प्रकार समस्त नाड़ियाँ भी सुषुम्ना में एकत्रित होकर उससे अभिन्न रूप में स्थित हो जाती है ॥ -३०१-३०२- ॥

'होते हैं'—यह जोड़ना चाहिए ॥ ३०१ ॥

इस प्रकार पहले नाड़ीसामरस्य होता है उसके बाद मन्त्रसामरस्य—यह कहते हैं-

इसके बाद मन्त्र उच्चरित होता है ॥ -३०२- ॥

(उच्चरेत् की व्याख्या करते हैं—) उत् = ऊर्ध्व (= ऊपर की ओर ध्यान करने वाले साधक के शरीर में मन्त्र) सञ्चरण करता है = स्वयं फैलने लगता है ॥

गुरु उच्चरित हो रहे उस (मन्त्रस्वरूप शिष्यचैतन्य) को सदाशिव पद में अर्थात् अव्यक्त ध्वनि वाले ।

............नादे लीनं विचिन्तयेत् ॥ ३०२ ॥

उपसंहरति—

मन्त्र आत्मा तथा नाडी एवं समरसीभवेत् ।
वामदक्षिणमध्ये तु.............

युगपदेवेत्थं मन्त्रादिसामरस्ये वृत्ते—

..............ततो नादं प्रमोचयेत् ॥ ३०३ ॥
सेतुबन्धं च तं मार्गं यत्र गत्वा न जायते ।

शक्तिव्यापिनीसमनोन्मनारूपसेतुबन्धात्मकं मार्गं सर्वाध्वपारवर्तिशिवपदप्रापकं पन्थानं नादं मोचयेद् गमयेत् । तद्गतौ च सत्यां न संसरति । मुचेर्गत्यर्थविवक्षया द्विकर्मता ॥

अत्र च कारणसामरस्यमर्थसिद्धमित्याह—

ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरः शिव एव च ॥ ३०४ ॥
एतेऽत्र समतां यान्ति............

यदा त्वकारोकाराद्युच्चारैर्हृत्कण्ठादौ विश्रान्तिस्तदा—

नाद में लीन हुआ ध्यान करे ॥ -३०२ ॥

इस सामरस्य का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार वाम और दक्षिण के मध्य में (= इडा पिङ्गला के मध्य अर्थात् सुषुम्ना में) मन्त्र आत्मा और नाड़ी समरस हो जाते हैं ॥ ३०३- ॥

इस प्रकार मन्त्र आदि का एक साथ सामरस्य होने के बाद—

फिर (शिष्य चैतन्य को) सेतुबन्ध नामक उस नादरूपी मार्ग में पहुँचा देना चाहिये जहाँ जाने के बाद कोई जन्म नहीं लेता ॥ -३०३-३०४- ॥

शक्ति व्यापिनी समना और उन्मना ये सेतुबन्ध रूप मार्ग हैं अर्थात् समस्त अध्वाओं का पारगामी, शिवपद को प्राप्त कराने वाला पथ है । (गुरु नादरूपी शिष्यचैतन्य को उस पथ पर) मुक्त करे = पहुँचा दे । वहाँ पहुँचने पर संसरण (= पुनर्जन्म), नहीं होता । ('प्रमोचयेत्' में) 'मुच्' धातु है । उसका अर्थ—गमन करना विवक्षित है । चूँकि गमन क्रिया दो कर्म वाली होती है (जैसे कि यज्ञ दत्तः देवदत्तं ग्रामं गमयति) इसलिये मुच् धातु भी द्विकर्मक है (—नादं सेतुबन्धं प्रमोचयेत्) ॥

यहाँ पञ्च कारणों की समरसता अर्थात् सिद्ध हो जाती है—यह कहते हैं—

यहाँ पर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव ये सभी समरस हो जाते हैं ॥ -३०४-३०५- ॥

...........अन्यथा तु पृथक् पृथक् ।

समनन्तरोक्तसेतुगतौ सामरस्यान्तराणि स्थितानि लक्षयति—

तस्मिन् समुच्चरेन्नादं यावच्छक्तौ लयं गतः ॥ ३०५ ॥
शक्तिमध्यगतो नादः शक्त्यात्मा तु विधीयते ।
सर्वं शक्तिमयं तत्र सर्वं समरसीभवेत् ॥ ३०६ ॥

तस्मिन्निति पूर्वोक्ते सेतुबन्धे, सर्वमिति नादे समरसीभूतमात्ममन्त्रनाडिकारणरूपम् ॥

तदेतच्छक्त्यैक्यमाप्य—

तदूर्ध्वं व्यापिनीं प्राप्य सर्वं तन्मयतां व्रजेत् ।

सर्वं प्राप्तव्यापिन्यभेदम् ॥

समन्ताद् व्याप्नुयाद्यस्माद् व्यापिनीत्यभिधीयते ॥ ३०७ ॥

ततश्च—

यह सामरस्य तभी होता है जब अकार उकार आदि के उच्चारणों के द्वारा नाद की हृदय कण्ठ आदि में विश्रान्ति होती है ।

अन्यथा ये पञ्च कारण पृथक्-पृथक् रहते हैं अर्थात् इनका सामरस्य नहीं होता ॥ -३०५- ॥

समनन्तर कहे गये सेतु में दूसरे सामरस्यों की स्थिति बतलाते हैं—

उस (= पूर्वोक्त सेतुबन्ध) में नाद का तब तक उच्चारण करना चाहिये जब तक कि नाद शक्ति में लीन न हो जाय । शक्ति के मध्य में गया हुआ नाद शक्तिरूप हो जाता है । उसमें सब कुछ शक्तिमय होकर समरस हो जाता है ॥ -३०५-३०६ ॥

उसमें = पूर्वोक्त सेतुबन्ध में । सब = आत्मा मन्त्र नाड़ी और पञ्च कारण सबके सब नाद में समरस हो जाते हैं ॥

इस शक्तिसामरस्य को प्राप्त कर—

उसके ऊपर व्यापिनी को प्राप्त कर सब कुछ तन्मय (= समरस) हो जाता है ॥ ३०७- ॥

सब कुछ = व्यापिनी के साथ अभिन्न होकर (तन्मय होता है) ॥

चूँकि सब तरफ से सबको व्याप्त करती है इसलिये वह व्यापिनी कही जाती है ॥ -३०७ ॥

इसके बाद—

तदूर्ध्वं समनां व्याप्य तन्मयत्वं व्रजेत् पुनः ।

तत्र च—

सा च सर्वगता ज्ञेया सामरस्येन संस्थिता ॥ ३०८ ॥

चशब्द एवार्थे, सैव तत्र सर्वगता, 'सर्वावबोद्धव्या' इत्यर्थः । गमिरत्र ज्ञानार्थः ॥ ३०८ ॥

तदित्थम्—

षष्ठं समरसं त्यक्त्वा सप्तमं तु ततो व्रजेत् ।

उन्मनाशक्त्यनुप्रवेशेन प्राप्नुयात् ॥

तं प्राप्य तन्मयत्वं हि नात्र कार्या विचारणा ॥ ३०९ ॥

यश्चेत्थं प्राप्तपरसामरस्यः—

स च सर्वेषु भूतेषु भावतत्त्वेन्द्रियेषु च ।
स्थावरं जङ्गमं चैव चेतनाचेतनस्थितम् ॥ ३१० ॥

इसके ऊपर समना को व्याप्त कर साधक पुनः तन्मयता को प्राप्त होता है ॥ ३०८- ॥

और वहाँ—

वही सामरस्यपूर्वक स्थित हुई सर्वगता समझी जानी चाहिये ॥-३०८ ॥

श्लोक में 'च' शब्द का प्रयोग 'एव' (= ही) अर्थ में किया गया है । वही वहाँ 'सर्वगता' अर्थात् सर्वावबोद्धव्या हैं (उसके अतिरिक्त वहाँ कुछ भी ज्ञेय नहीं रहता) 'सर्वगता' में गम धातु ज्ञानार्थक है न कि प्रापणार्थक ॥ ३०८ ॥

तो इस प्रकार—

इसके बाद छठें सामरस्य को छोड़ कर सप्तम सामरस्य को प्राप्त करना चाहिये ॥ ३०९- ॥

योगी यह सामरस्य उन्मना शक्ति में अनुप्रवेश के द्वारा प्राप्त करे ॥

उस (सप्तम) को प्राप्त कर तन्मय हो जाना चाहिये । इसमें किसी प्रकार का विचार नहीं करना चाहिये ॥ -३०९ ॥

जो इस प्रकार का सामरस्य प्राप्त कर लेता है—

वह समस्त भूतों, भावों, तत्त्वों इन्द्रियों में तथा स्थावर जङ्गम चेतन अचेतन में सर्वत्र स्थित समस्त अध्वा को व्याप्त कर समरसता के साथ स्थित रहता है ॥ ३१०-३११- ॥

अध्वानं व्याप्य सर्वं तु सामरस्येन संस्थितः ।

स चेति स एव स्थावरमचेतनं जङ्गमं सचेतनं चेति संक्षेपेण द्विधा स्थितं षडविधमध्वानं व्याप्य तदन्तर्वर्तिषु सर्वेष्विति देवयोन्यादिषु चतुर्दशसु भूतेषु भावेषु धर्मादिषु घटादिषु च तत्त्वेषु पृथिव्यादिषु भोगसाधनेषु चेन्द्रियेषु सामरस्येन स्थितः सर्वास्ववस्थासु अविलुप्तपरभैरवसमापत्तिः । एषैव च निर्व्युत्थानसमाध्यात्मा महारहस्यभूता ॥

अध्यासितसमाधिषु तु—

प्रसह्य चञ्चलीत्येव योगिनामपि यन्मनः ॥ ३११ ॥

कुटिलं चलति भोगाभिलाषेण व्युत्थानमेव धावति, नाभीष्टं पदमवष्ट(भ्ना)ति, यदिति यस्मादेवम् ॥ ३११ ॥

ततः—

यस्य ज्ञेयमयो भावः स्थिरः पूर्णः समन्ततः ।
मनो न चलते तस्य सर्वावस्थागतस्य तु ॥ ३१२ ॥

और वह—वही (योगी) स्थावर = अचेतन, जङ्गम = सचेतन इस प्रकार संक्षेपतः दो प्रकार से स्थित छः प्रकार के अध्वा को व्याप्त कर उसके अन्दर वर्तमान समस्त देव योनि आदि चौदह प्रकार के प्राणियों में, धर्म आदि और घट आदि भावों में, पृथिवी आदि तत्त्वों में और भोग के साधनभूत इन्द्रियों में समरसता के साथ स्थित रहता है अर्थात् सब अवस्थाओं में उसकी परभैरव समापत्ति एक क्षण के लिये भी लुप्त नहीं होती । यही समापत्ति महारहस्यभूत निर्व्युत्थान समाधि है ॥

समाधि युक्त होने वाले—

योगियों का जो मन रहता है वह भी हठात् ही चञ्चल हो जाता है ॥ -३११ ॥

ऐसे योगियों का मन कुटिल चाल चलता है अर्थात् ऐन्द्रिय सुखों को भोगने की इच्छा से व्युत्थानदशा को प्राप्त होता रहता है फलतः अभीष्ट (परभैरव समापत्ति वाले) पद को दृढ़ता के साथ प्राप्त नहीं करता चूँकि ऐसा है ॥ ३११ ॥

इसलिये—

जिसका भाव ज्ञेयमय है तथा सब तरफ से स्थिर और पूर्ण है, वह चाहे किसी भी अवस्था में पहुँचा हो (अर्थात् सांसारिक सुखों में लिप्त हो या क्रोध आदि के कारणों से सङ्कीर्ण हो) उसका मन विचलित नहीं होता ॥ ३१२ ॥

ज्ञेयं च यथा व्याख्यातं परतत्त्वम्, भाव आशयः, स्थिरो निश्चलः, पूर्णो निराकाङ्क्षः, समन्ततः सर्वसर्विकया, 'तुः' अप्यर्थे ॥ ३१२ ॥

ईदृशस्य महायोगिनः—

यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत् ।
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ॥ ३१३ ॥

मन एव परतत्त्वैक्यभावनावासितं कर्तृ यथोक्तं ज्ञेयं सर्वत्र चिन्तयत्येव । तदुक्तं महागुरुभिः—

'शिवभावनयौषध्या बद्धे मनसि संसृतेः ।
काष्ठकुड्यादिषु क्षिप्ते रसवच्छिवहेमता ॥' (शि०दृ० ७।४८)

इति ॥ ३१३ ॥

एतदेव द्रढयति—

विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितः ।
यत्र यत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित् ॥ ३१४ ॥

इन्द्रियाणि चार्थश्चैन्द्रियकं प्रयोजनं विषयोपभोगस्तेषु स्थितो योगिवरो यो

ज्ञेय = पर तत्त्व जिसकी व्याख्या की जा चुकी है । भाव = आशय । स्थिर = निश्चल । पूर्ण = निराकाङ्क्ष । समन्ततः = सब प्रकार से = पूर्ण रूपेण श्लोक में 'तु' शब्द 'भी' के अर्थ में प्रयुक्त है ॥ ३१२ ॥

ऐसे महायोगी का—

मन जहाँ-जहाँ जाता है वहाँ-वहाँ वह ज्ञेय का ही चिन्तन करता है । मन चल कर (शिव के अतिरिक्त) किसको प्राप्त करेगा क्योंकि सब कुछ तो शिवमय ही है ॥ ३१३ ॥

परतत्त्व की एकता की भावना से वासित मन ही उपर्युक्त ज्ञेय का सर्वत्र चिन्तन करता है । यही बात महागुरु सोमानन्दनाथ ने कही है—

'शिवभावनारूपी औषधि के द्वारा मन के बद्ध होने पर सृष्टि में वर्त्तमान काष्ठ कुड्य (= दीवार) में भी यदि मन को लगा दिया जाय तो वह काष्ठ आदि भी शिव हो जाता है जैसे कि पारद को विशिष्ट प्रक्रिया के द्वारा ताम्रखण्ड से बद्ध करने पर ताम्रखण्ड सोना बन जाता है' ॥ ३१३ ॥ (शि०दृ० ७।४८)

इसी (तथ्य) को दृढ़ करते हैं—

समस्त विषयों में और इन्द्रियों के भोगों में स्थित भी महायोगी जहाँ-जहाँ देखता है उसे शिव से भिन्न कुछ भी नहीं दिखता ॥ ३१४ ॥

निरूप्येत विचार्येत, तत्र कुत्रापि नास्त्याशिवमस्ति, सर्वस्यास्य प्रकाशमानतया प्रकाशघनशिवैकात्म्यात् ॥ ३१४ ॥

एवं समरसं ज्ञात्वा नासौ मुह्येत् कदाचन ।

मितयोगिनो व्युत्थाने मुह्यन्त्येवेति 'कदाचन' पदस्याशयः ॥

अतश्च—

यस्यैवं सर्वतो भावः सोऽपि सर्वगतो भवेत् ॥ ३१५ ॥

शिवस्तावत् सर्वगत इति नास्त्यत्र विमतिः, यस्य त्वेवं शिवैक्येन भाव आशयः सर्वगतः, सोऽपि सर्वगतो भवेद् महाव्याप्तिमनुभवत्येव ॥

एतदुपसंहृत्य एतत्पूर्वकक्ष्याभावि अनुद्दिष्टमपि विषुवत्स्वरूपं निरूपयति—

एवं समरसः प्रोक्तो विषुवत्तु निबोध मे ।

तद्विभजति—

इन्द्रियाँ, (उनके) और अर्थ = विषय तथा इन्द्रियों का प्रयोजन = विषयोपभोग, उन सब में स्थित महायोगी जो निरूपण करता है = विचार करता है, कहीं भी उसके लिये शिव से भिन्न कुछ नहीं रहता क्योंकि उसके लिये सब कुछ उस शिव से प्रकाशमान होने के कारण प्रकाशघन शिव ही है ॥ ३१४ ॥

इस प्रकार समरस को जान कर यह योगी कभी भी मोह में नहीं पड़ता ॥ ३१५- ॥

'कदाचन' पद का यह आशय है कि मितयोगी को व्युत्थान दशा में मोह हो सकता है किन्तु यह महायोगी किसी भी दशा में हो इसे मोह नहीं होता ॥

इसलिये—

जिसका ऐसा सर्वगत भाव होता है वह भी सर्वगत हो जाता है ॥ ३१५ ॥

शिव सर्वव्यापी हैं इसमें किसी का भी वैमत्य नहीं है । जिस योगी के मन में यह शिवैक्य भाव अर्थात् शिव सर्वगामी है यह आशय है, वह भी सर्वगत हो जाता है अर्थात् वह महाव्याप्ति का अनुभव करता ही है ॥

इसका उपसंहार कर इसकी पूर्वकक्ष्या में होने वाले अनुद्दिष्ट भी विषुवत् के स्वरूप का निरूपण करते हैं—

इस प्रकार समरसता का वर्णन किया गया । अब मुझसे विषुवत् को जानो ॥ ३१६- ॥

उसका विभाग करते हैं—

प्रथमं प्राणविषुवन्मान्त्रं ज्ञेयं द्वितीयकम् ॥ ३१६ ॥
तृतीयं नाडिविषुवत् प्रशान्तं च चतुर्थकम् ।
पञ्चमं शक्तिविषुवत् षष्ठं वै काल उच्यते ॥ ३१७ ॥
सप्तमं तत्त्वविषुवत्............

विषं साम्यरूपां व्याप्तिमर्हतीति विषुवत् ॥

एवं विभक्तस्यास्य—

..............प्रविभागस्त्वथोच्यते ।

प्रकर्षेण विभज्यतेऽन्यपरिहारेण व्यवस्थाप्यते वस्तु येन स प्रविभागो लक्षणम् ।

तत्र—

आत्मानं च मनः प्राणे संयोज्य विषुवद् भवेत् ॥ ३१८ ॥

शिष्यसत्कमात्मानमात्मीयं च मनः प्राणे मध्यवाहिनि सम्यगित्युक्तवक्ष्यमाणकरणयुक्त्या योजयित्वा प्राणविषुवद् भवति ॥ ३१८ ॥

पहला प्राण विषुवत् है और दूसरा मान्त्र विषुवत् समझना चाहिये । तीसरा नाडी विषुवत् है और चौथा विषुवत् प्रशान्त है । पाँचवा शक्ति विषुवत् और छठाँ काल विषुवत् कहा जाता है । सातवें को तत्त्व विषुवत् कहते हैं ॥ -३१६-३१८- ॥

(अब 'विषुवत्' शब्द की व्याख्या करते हैं—) विष का अर्थ है—साम्यरूपा व्याप्ति । जो उसके योग्य होता है उसे विषुवत् कहते हैं ॥

इस प्रकार विभक्त इस (विषुवत्) का—

अब प्रविभाग कहा जाता है ॥ -३१८- ॥

'प्रविभाग' शब्द का अर्थ है—लक्षण । प्रविभाग शब्द की व्युत्पत्ति है—जिसके द्वारा किसी वस्तु को प्रकृष्ट रूप से विभक्त किया जाता है अर्थात् दूसरे को छोड़ कर या हटा कर व्यवस्थापित किया जाता है वह प्रविभाग कहलाता है ॥

वहाँ—

आत्मा और मन को प्राण से युक्त करने पर विषुवत् होता है ॥ -३१८ ॥

शिष्य की आत्मा और अपने मन को सुषुम्ना में प्रवाहित होने वाले प्राण में भलीभाँति = उक्त और वक्ष्यमाण करण की युक्ति से, जोड़ने पर प्राण विषुवत् होता है ॥ ३१८ ॥

एवम्—

प्राणे विषुवदाख्यातं..............

अथ—

................मान्त्रं विषुवदुच्यते ।
मन्त्रमुच्चारयेत्तावद्यावन्नान्यमना भवेत् ॥ ३१९ ॥
परापरविभागेन मन्त्रात्मा तु तदुच्यते ।

मन्त्रं श्रीनिष्कलं, परापरेति नादान्तमपरम् उन्मनान्तं तु परम् ॥

मान्त्रं विषुवदित्युक्तं............

मन्त्रोच्चाराश्रयो नाडिरतः

............नाडिस्थं तन्निबोध मे ॥ ३२० ॥
सर्वासामेव नाडीनां मध्ये या संव्यवस्थिता ।
सुषुम्ना नाम सा ज्ञेयाभेः शक्त्या शिवं गता॥ ३२१ ॥

आ नाभेः नाभेरारभ्य, शक्त्या शक्त्यनुभवानुप्रवेशेन, शिवं गता परं तत्त्वं प्राप्ता ॥

इस प्रकार—

प्राण में विषुवत् को कहा गया ॥ ३१९- ॥

अब—

मान्त्र विषुवत् का वर्णन करते हैं । मन्त्र का उच्चारण तब तक करना चाहिये जब तक अन्यमना (= अन्यमनस्क) न हो जाय । वह मन्त्र पर और अपर विभाग से दो प्रकार का होता है ॥ -३१९-३२०- ॥

मन्त्र का. अर्थ है—श्री निष्कल । पर और अपर—नादान्त मन्त्र अपर है । और उन्मना पर्यन्त मन्त्र पर है ॥

इस प्रकार मान्त्र विषुवत् कहा गया ॥ -३२०- ॥

मन्त्र का अर्थ है—मन्त्रोच्चार के अधीन अर्थात् नाड़ी में लीन हो जाना

अब मुझसे अब विषुवत् को जानो । जो सब नाड़ियों के बीच सम्यक् तया स्थित है उसे सुषुम्ना नाड़ी जानना चाहिये । शक्ति के प्रभाव से वह नाड़ी नाभि से लेकर शिव (= सहस्रार) तक गयी हुई है ॥-३२०-३२१॥

आ नाभेः = नाभि से आरम्भ कर । शक्ति के द्वारा = शक्ति के अनुभव के अनुप्रवेश के द्वारा । शिव को प्राप्त हुई है = पर तत्त्व (= सहस्रार में स्थित परमशिव) को प्राप्त हुई है ॥

एवं स्थिते—

तत्र प्रवाहयेन्नादम्...............

नादमव्यक्तध्वनिरूपम्, प्रकर्षेण वाहयेदकारादिसंयोगेन उर्ध्वं प्रापयेत् ॥

तदेतत् सर्वनाडीसाम्यात्मकम्—

...............नाडीविषुवदुच्यते ।

उच्यते, उक्तमित्यर्थः ॥

क्रमप्राप्तं तु

प्रशान्तं विषुवच्चैवमधुना कथयामि ते ॥ ३२२ ॥

तदाह—

अयने षडङ्गुलश्चारः कारणान्यङ्गुलेऽङ्गुले ।
तान्यधस्तात् परित्यज्य कारणानि षडेव तु ॥ ३२३ ॥
सप्तमे तु प्रशान्तं वै प्रशान्तेन्द्रियगोचरम् ।

विषुवदिति शेषः । षट्त्रिंशदङ्गुले चारे कालाधिकारस्थित्या हृदयात् प्रभृति

ऐसा होने पर—

उस (सुषुम्ना) में नाद को प्रवाहित करना चाहिये ॥ ३२२- ॥

नाद = अव्यक्त ध्वनि । प्रवाहित करना चाहिये (प्र =) प्रकर्ष के साथ, वाहित करना चाहिये = अकार आदि के संयोग से ऊपर ले जाना चाहिये ॥

समस्त नाड़ियों का साम्यरूप यह—

नाड़ी विषुवत् कहा जाता है ॥ -३२२- ॥

कहा जाता है अर्थात् कहा गया है ॥

अब तुमको क्रमप्राप्त प्रशान्त विषुवत् को बतला रहा हूँ ॥ -३२२ ॥

उसे कहते हैं—

एक अयन में छः अङ्गुल का प्राणचार होता है । एक-एक अङ्गुल में एक-एक कारण होता है । उन (ब्रह्मा आदि) छः कारणों को नीचे छोड़ कर सप्तम कारण में प्रशान्त विषुवत् होता है उसमें समस्त इन्द्रियों के समस्त विषय शान्त हो जाते हैं ॥ ३२३-३२४- ॥

'विषुवत्' एक प्राणचार छत्तीस अङ्गुल का होता है (= श्वास लेते समय बारह अङ्गुल, फिर श्वास को अन्दर रखते समय बारह अङ्गुल और छोड़ते समय बारह अङ्गुल, इस प्रकार तीनों को मिलाकर छत्तीस अङ्गुल मान का एक प्राणप्रवाह होता

मकरादिराशिसञ्चाररूपेषु अयनेषु प्रत्येकं षडङ्गुलश्चारः, तत्र च प्रतिषट्कं षट्-कारणान्यङ्गुलेऽङ्गुले इति षष्ठे षष्ठे इति यावत् । एवं यानि प्रपञ्चव्याप्त्या षट्कारणानि अधस्तात् स्थितानि, तानि त्यक्त्वा सप्तमे परमकारणे कारणानां साम्यावस्थितिरूपात् प्रशमात् प्रशान्तविषुवद् भवतीति विशेषः ॥

प्रशान्तं व्याचष्टे—

प्रशान्तः स्तिमितो ज्ञेयः स्तिमितो निश्चलः स्मृतः ॥ ३२४ ॥
निश्चलो निस्तरङ्गश्च स्थिरः पूर्णः समन्ततः ।

भेदतरङ्गशान्त्या चिद्घनतैव प्रशान्त इति निस्तरङ्गपूर्णपदाशयः ॥

एवं भावं समास्थाय दीक्षा कार्या तु दैशिकैः ॥ ३२५ ॥

प्रशान्तविषुवति विश्रम्येत्यर्थः ।

एतत्प्रशान्तविषुवत्...............

है) । उसमें काल के अधिकार की स्थित (= छत्तीस अङ्गुल प्राणचार में काल की स्थिति) के अनुसार यह प्राणचार हृदय से लेकर जब चलता है तो छः छः अङ्गुल वाले एक-एक भाग में २-२ राशियाँ मानी जाती हैं । (मकर, कुम्भ, मीन, मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक और धन ये बारह राशियाँ हैं)। दो-दो राशियों पर एक-एक षडङ्गुल प्राणचार होता है । और षडङ्गुल के एक-एक अङ्गुल पर एक-एक कारण (= ब्रह्मा आदि) होते हैं । (इस प्रकार प्रत्येक षडङ्गुल में छहों कारण व्यवस्थित रहते हैं) । इस प्रकार पूरे प्रपञ्च को व्याप्त कर जो छः कारण अध स्तात् स्थित (= पहले वर्णित अथवा सहस्रार के नीचे स्थित) हैं उनका त्याग कर सप्तम = परमकारण में, अन्य छः कारणों की साम्यावस्थिति के कारण प्रशमन हो जाता है । इसलिये यह प्रशान्त विषुवत् कहलाता है यह विशेष है ॥

प्रशान्त की व्याख्या करते हैं—

प्रशान्त का अर्थ स्तिमित समझना चाहिये । जो निश्चल है उसे ही स्तिमित माना गया है । निश्चल का अर्थ है—निस्तरङ्ग = स्थिर = सब प्रकार से पूर्ण ॥ -३२४-३२५- ॥

निस्तरङ्ग और पूर्ण पद का आशय है—भेदरूपी तरङ्गों के शान्त होने से चिद्घन होना । यही प्रशान्त है ॥

इस प्रकार के भाव में सम्यक्तया स्थित होकर विद्वान् गुरु को दीक्षा देनी चाहिए ॥ -३२५ ॥

('समास्थाय' का अर्थ है—) प्रशान्त विषुवत् में विश्राम कर ।

अथ—

.............शक्त्युपाधिं निबोध मे ।
शक्तिमध्यगतो नादो नादोर्ध्वं च चरेद्यदा ॥ ३२६ ॥
तावत्तु शक्तिविषुवत्................

शक्तिमध्यगतो मध्यधामारूढः । नादोऽव्यक्तध्वनिः, नादात् सदाशिवपदादूर्ध्वं शक्तिस्थानं यदा चरेत्, यदा मध्यस्थस्तदा शक्तिविषुवत् ॥

............कालाख्यं तु निबोध मे ।

तदर्थमाह—

तुटिः षोडाशिका या तु प्राणान्ते संव्यवस्थिता ॥ ३२७ ॥
कालो भ्रूक्षेपमात्रस्तु तत्रान्ते कीर्तितो मया ।
तं परापरभागेन पुनरेव त्रिधा कुरु ॥ ३२८ ॥

प्राणस्यान्ते या षोडशी तुटिः, तत्र तस्यामन्तेऽर्धतुटिरूपे, भ्रूक्षेपमात्रोऽत्यन्तसूक्ष्मसाष्टभागाङ्गुलचारसञ्चारात्मा यः कालः, तमेकं त्रिधा अपरेण परेण परापरेण च भागेन कुरु, तुटेरर्धीकृतायाः त्रिधा विभजनमिति 'पुनः' शब्दार्थः ॥ ३२८ ॥

यह प्रशान्त विषुवत् कहलाता है ॥ ३२६- ॥

अब—

मुझसे शक्ति उपाधि (= शक्ति विषुवत्) को जानो । नाद जब शक्ति के मध्य में पहुँचने के बाद नाद के ऊपर चलने लगता है तब शक्ति विषुवत् होता है ॥ -३२६-३२७- ॥

शक्ति के मध्य में गया हुआ = मध्यधाम (= सुषुम्ना) में आरूढ हुआ । नाद = अव्यक्त ध्वनि, नादोर्ध्व अर्थात सदाशिव पद से ऊपर शक्ति स्थान में चलता है अर्थात् जब मध्यस्थ (= सुषुम्ना में स्थित) हो जाता है तब शक्ति विषुवत् होता है ॥

अब मुझसे कालविषुवत् को जानो ॥ -३२७- ॥

उसके स्पष्टार्थ को बतलाते हैं—

प्राण के अन्त में जो सोलहवीं तुटि स्थित है उसके अन्त में जिस भ्रूक्षेप मात्र काल को मैने बतलाया है उसको पर परापर और अपर करके तीन भाग करो ॥ -३२७-३२८ ॥

प्राण के अन्त में जो सोलहवीं तुटि है उसके अन्त में अर्थात् अन्तिम आधी तुटि में भ्रूक्षेपमात्र (= भौह को हिलाने के) कालपरिमाण वाला अर्थात् एक अङ्गुलचार का आठवाँ हिस्सा जो सूक्ष्म काल होता है उस एक हिस्से को अपर पर और परापर करके तीन भाग करो । अर्थात् एक तुटि को दो भागों में बाँटने पर

तत्र—

अपरः षोडशो यावत्.............

षोडशः पूर्वोक्तो महाकल्पाख्यो यावदपरः स्थूलः ॥

..............कालः सप्तदशः परः ।

पराख्ययैव पूर्वं निर्दिष्टः ॥

परापरस्तु यः कालः स प्रियेऽष्टादशः प्रभुः ॥ ३२९ ॥

परापर इति परादपि परः, अष्टादशः परार्धाख्यः प्रभुः सर्वकालावयवव्यापी ॥ ३२९ ॥

तदित्थम्—

प्राण एवं त्रिधा कालं कृत्वा चैव त्यजेत् पुनः ।

प्रा(णे) प्राणीयोर्ध्वतुट्यर्धे पूर्वं वर्णैः कारणत्यागावसरेऽनुनिष्पादितयाष्टादशावयवकलात्यागो मन्त्रोच्चारयुक्त्योक्तः । इदानीं तु योगक्रमेण प्राणचारस्थित्या सप्तदशावयवं कालं यत्नेन त्यक्त्वाष्टादशे कालविषुवति विश्रमितव्यमिति 'पुनः'

एक भाग में तीन प्रकार का भाग करो) (अर्थात् एक तुटि का छठाँ हिस्सा होना चाहिये) ॥ ३२८ ॥

उन तीन भागों में—

सोलहवाँ भाग अपर है ॥ ३२९- ॥

सोलहवाँ—पूर्वोक्त महाकल्प नामक भाग अपर अर्थात् स्थूल है ॥

सत्रहवाँ काल पर है ॥ -३२९- ॥

अर्थात् पर नाम से पहले कहा गया है ॥

हे प्रिये ! जो परापर काल है वह अट्ठारहवाँ है और प्रभु है ॥ -३२९ ॥

परापर = पर से भी पर । यह अट्ठारहवाँ है । इसका नाम परार्द्ध है । यह प्रभु = सर्वकालावयवव्यापी है ॥ ३२९ ॥

तो इस प्रकार—

प्राण में ही काल को तीन भागों में बाँट कर फिर उसका त्याग कर देना चाहिये ॥ ३३०- ॥

प्राण में = प्राणीय ऊर्ध्व तुटि के आधे भाग में कारणत्याग के अवसर पर वर्णों के द्वारा अनुनिष्पादित मन्त्रोच्चारयुक्ति के द्वारा अट्ठारह अवयव वाली कला का त्याग कहा पहले जा चुका है । अब योग के क्रम से प्राणचार स्थिति के द्वारा

शब्दार्थः ॥

त्रिधा विभक्तस्य कालस्य पूर्वोक्तं स्थानविभागं स्मारयति—

अपरः शक्तिमूर्धस्थो व्यापिन्यां च द्वितीयकः ॥ ३३० ॥
तृतीयः समनास्थाने तत्कालविषुवत् स्मृतम् ।

यस्तृतीयस्तत्कालविषुवदिति संबन्धः ।

तदूर्ध्वं हि—

'न कालस्तत्र विद्यते' (४।२८७) इत्युक्तम् ॥ ३३० ॥

तदित्थम्—

एतत्षष्ठं समाख्यातं..............

अथ—

................सप्तमं तात्त्वमुच्यते ॥ ३३१ ॥

तदाह—

उन्मना परतो देवि तत्रात्मानं नियोजयेत् ।

सत्रह अवयवों वाले काल का यत्नपूर्वक त्याग कर अट्ठारहवें कालविषुवत् में विश्राम करना चाहिये-यह 'पुनः' शब्द का तात्पर्य है ॥

त्रिधा विभक्त काल के पूर्वोक्त स्थानविभाग का स्मरण कराते हैं—

अपर विभाग शक्तिमूर्धा में (= शक्ति के ऊपर) स्थित है । दूसरा विभाग व्यापिनी में है एवं तृतीय भाग समना स्थान में है और यही कालविषुवत् कहा गया है ॥ -३३०-३३१- ॥

जो तृतीय भाग है वही कालविषुवत् है—ऐसा अन्वय है ॥

उसके ऊपर—

'वहाँ काल नहीं है' (४।२८७) ऐसा कहा गया है ॥ ३३० ॥

तो इस प्रकार—

यह छठाँ विषुवत् कहा गया ॥ -३३१- ॥

अब—

सातवाँ तात्त्व विषुवत् कहा जा रहा है ॥ -३३१ ॥

उसको बतलाते हैं—

हे देवि ! (समना के) बाद उन्मना स्तर है । उसमें आत्मा (= चैतन्य)

तस्मिन् युक्तस्ततो ह्यात्मा तन्मयश्च प्रजायते ॥ ३३२ ॥

परत इति समनायाः, य एवात्मन उन्मनायोगः ॥ ३३२ ॥

तदेव—

तत्त्वाख्यं विषुवद् देवि सर्वेषां परतः स्थितम् ।

उपसंहरति—

विषुवदेवंविधं ज्ञात्वा को न मुच्येत बन्धनात् ॥ ३३३ ॥
विषुवत्ते समाख्यातं..............

इदानीं परम्पराविनाभूतान् पञ्चपदार्थांल्लङ्घयितुमुद्दिशति—

................पदार्थभेदनं शृणु ।
त्यागं चानुभवं चैव योजनं च परे पदे ॥ ३३४ ॥

पदानि वक्ष्यमाणप्रमाणकानि हृदादिस्थानानि, तत्र तत्तत्कारणानुभवकारित्वे-नार्थ्यन्त इति पदार्था अकारादिसमनान्ता एकादश तेषामेव भेदनमनुभवयुक्त्या

को नियुक्त करना चाहिये । उसमें युक्त हुआ आत्मा उस उन्मना के योग से तन्मय हो जाता है ॥ ३३२ ॥

परतः = अर्थात् समना के बाद, जो आत्मा का उन्मना से योग है ॥३३२॥

वही—

हे देवि ! तत्त्व नामक विषुवत् है जो समस्त (विषुवतों) के परे स्थित है ॥ ३३३- ॥

(अब विषुवत् के वर्णन का) उपसंहार करते हैं-

इस प्रकार के विषुवत् को जानने वाला कौन ऐसा है जो बन्धन से मुक्त नहीं होता । इस प्रकार तुमको विषुवत् का ज्ञान कराया गया ॥ -३३३-३३४- ॥

अब परम्परा के अविनाभूत (= साथ-साथ रहने वाले) पाँच पदार्थों का लङ्घन करने के लिये कहते हैं—

(हे देवि ! अब) पदार्थों का भेदन, उनका त्याग, अनुभव और पर पद में योजन को सुनो ॥ -३३४ ॥

पद का अर्थ है—हृदय आदि स्थान जिनका प्रमाण आगे बतलाया जायेगा । जो तत्तत् कारण के अनुभावयिता के रूप में वाञ्छित होते हैं वे पदार्थ कहे जाते हैं । वे 'अ'कार से लेकर समना तक ग्यारह (= अ, उ, म्, बिन्दु अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना) हैं । उन्हीं का भेदन होता है

स्ववशीकरणम्, यथा 'भेदिता माण्डलिका भूभुजः' इति । अत्र चावश्यमधराधरत्यागे सति उत्तरोत्तरपदार्थानामनुभवोऽस्ति, स एव च पूर्वं सम्यग्योगरूपः संयोग इत्युद्दिष्टः, भेदनपर्यन्ते च परे पदे योजनमवश्यंभावि, तच्च पूर्वं सर्वोर्ध्वभावनात्मत्वात् पदेनोद्दिष्टम् ॥

तत्र—

पदार्थैकादशी ज्ञेया............

या च पूर्वं निर्णीता ।

तत ऊर्ध्वं तु—

.............उन्मनान्तः परो भवेत् ।

पदार्थ इत्यर्थः ॥

अतस्तत्रावस्थितये तां पदार्थैकादशीम्—

भेदयेज्ज्ञानशूलेन.............

समनन्तरनिर्णेष्यमाणपरशक्तिस्फारप्रकाशरूपं यज्ज्ञानं तदेव समरसीभूतेच्छादिशक्तित्रयसंवृता(रा) रूपतोन्मीलितातितैक्ष्ण्येन भेदकत्वात् शूलम् ॥

न केवलमेतद्भेदकं यावत्—

..............ज्ञानं ज्ञेयस्य ज्ञापकम् ॥ ३३५ ॥

ज्ञेयमिह परं तत्त्वम् ॥

अत एवास्य—

ज्ञापकं बोधमतुलं..............

परशक्तिप्रथात्मकं न तु विषयानुभवरूपं बोधमिति (स्थिति? द्वितीया—) निर्देशश्छान्दसः ॥

अत्र हेतुः—

.................दीपवद्द्योतनं यतः ।

एतत् स्फुटयन् ज्ञानौपयिकं ज्ञेये विश्राम्येदित्याह—

दीपहस्तो यथा कश्चिद् द्रव्यमालोक्य चाहरेत् ॥ ३३६ ॥

अर्थात् अनुभवयुक्ति के द्वारा उन्हें वश में किया जाता है । जैसे—भेदिता माण्डलिका भूभुजः (= सम्राट् के माण्डलिकों अर्थात् छोटे-छोटे राजाओं, को वश में कर लिया गया) यहाँ निम्नवर्त्ती पदार्थों का त्याग होने पर उत्तरोत्तर पदार्थों का अनुभव होता है । वही 'संयोग' नाम से कहा गया जिसका अर्थ होता है—सम्यक् योग । भेदन के अन्त में पर 'पद' में योजना अवश्य होती है । समस्त ऊर्ध्व भावना स्वरूप होने के कारण उसे पहले पद शब्द से कहा गया ॥

वहाँ—

पदार्थैकादशिका को जानना चाहिये (अर्थात् ग्यारह पदार्थों के समूह का ज्ञान करना चाहिये) ॥ ३३५- ॥

जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है ।

उसके ऊपर—

उन्मना पर्यन्त पदार्थ होता है ॥ -३३५- ॥

वह (पर = अन्तिम) पदार्थ है ॥

इस कारण उसमें अवस्थान के लिये उन ग्यारह पदार्थों का—

ज्ञानशूल के द्वारा भेदन करना चाहिये ॥ ३३५- ॥

परशक्ति के स्फार का प्रकाश रूप ज्ञान, जिसका वर्णन आगे किया जायेगा, ही त्रिशूल है क्योंकि वह परमेश्वर की समरसीभूत इच्छा, ज्ञान क्रिया रूप तीन शक्तियों के द्वारा संवृत तीन अरा रूप हैं ये तीन अरायें अत्यन्त तीक्ष्ण होने के कारण पदार्थों का भेदन सरलता से कर देती हैं अतः शूल है ॥

यह (ज्ञानरूपी शूल) केवल भेदक ही नहीं है बल्कि—

यह ज्ञान अर्थात् पर तत्त्व का ज्ञापक भी है ॥ -३३५ ॥

ज्ञेयम् अर्थात् परतत्त्व ॥

इसलिये इस (= पर तत्त्व) का—

ज्ञापक जो ज्ञान है वह भी अतुल है ॥ ३३६- ॥

यह बोध पराशक्ति का प्रकाश है न कि विषयानुभव । 'बोधम्' में द्वितीया विभक्ति का निर्देश छान्दस है । (लौकिक व्याकरण की दृष्टि से यहाँ प्रथमा विभक्ति होनी चाहिये) ॥

इसमें कारण बतलाते हैं—

क्योंकि यह दीपक की भाँति द्योतन (प्रकाशन) है ॥ -३३६- ॥

ज्ञानोपाय के द्वारा ज्ञेय इस (परतत्त्व को) स्पष्ट करते हुए, ज्ञेय में विश्राम करना चाहिये—यह कहते हैं—

जिस प्रकार दीपक हाथ में लेकर चलने वाला कोई व्यक्ति द्रव्य को

एवं ज्ञानेन च ज्ञेयं तस्मिन् कुर्यात्तु संस्थितिम् ।

दीपज्ञानयोरंशमात्रेण दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावः ॥

न तु दीपवद् ज्ञानं ज्ञेयाद्भिन्नमित्याह—

ज्ञानं वै लक्षणं प्रोक्तं ज्ञेयतत्त्वस्य सुव्रते ॥ ३३७ ॥

न च कमण्डलुनेव छात्रो ज्ञानेन परं तत्त्वं लक्ष्यते इत्याह—

लक्षणं गुण आख्यातः..........

असाधारणस्तत्त्वव्यवस्थापको हि धर्मो लक्षणम् ॥

अत एव तत्—

...............कला तत्त्वस्य सर्वदा ।

तत्त्वस्य प्रत्यभिज्ञेयस्य परमशिवस्य सर्वं ददाति द्यति चेति व्युत्पत्त्या विश्वसर्गसंहारकारिणी स्वातन्त्र्याख्या सर्वदा च नित्यावियुक्ता कला शक्तिरेव

देख कर उसको ले लेता है उसी प्रकार ज्ञान के द्वारा ज्ञेय का ग्रहण कर उसमें अपनी स्थिति बनानी चाहिये ॥ -३३६-३३७- ॥

उपर्युक्त श्लोक में दीप और ज्ञान का दृष्टान्तदार्ष्टान्तिक सम्बन्ध केवल एक अंश में है । सम्पूर्णतया नहीं (दीपक जड़ है ज्ञान चेतन है । दोनों पूर्णतः समान नहीं है) ॥

जैसे दीप प्रकाश्य से भिन्न है उस प्रकार ज्ञेय ज्ञान से भिन्न नहीं है—यह कहते हैं—

हे सुव्रते ! ज्ञान ज्ञेयतत्त्व का लक्षण कहा गया है ॥ -३३७ ॥

जैसे (युवाओं की भीड़ में) छात्र को कमण्डलु के द्वारा पहचाना जाता है (अर्थात् समस्त युवकों के मध्य जिसके हाथ में कमण्डलु है वही छात्र है शेष कमण्डलुरहित हैं और छात्र भी नहीं हैं) उस प्रकार ज्ञान के द्वारा पर तत्त्व जाना जाता है—ऐसी बात नहीं है—यह कहते हैं—

(गुणी के अन्दर वर्त्तमान) गुण को (ही उस गुणी का) लक्षण कहा जाता है ॥ ३३८- ॥

तत्त्व की व्यवस्था करने वाला असाधारण धर्म ही लक्षण होता है ॥

इसलिये वह—

सर्वदा कला उस परम तत्त्व का लक्षण है ॥ -३३८- ॥

सब कुछ देती है ('डुदाञ्' दाने) और सब कुछ का नाश करती है ('दो'

लक्षणम् । उक्तं च श्रीविज्ञानभैरवे—

'यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य वा ।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिवः श्रितः(प्रिये) ॥'
(वि०भै० २१) इति ॥

एतादृक्छक्त्यात्मना—

न गुणेन विना तत्त्वं न तत्त्वेन विना गुणः ॥ ३३८ ॥

शिवशक्त्योर्नित्यलोलीभाव इत्यर्थः ॥

एवमपि—

गुणं गृह्णन्ति सर्वत्र न तत्त्वं गृह्यते क्वचित् ।

धर्ममुखेनैव शिवो धर्मी प्रथते विशेषतः परमशिवात्मा, तस्मिन् विश्वनिर्भरे शक्त्युपायं विना स्वतोऽनुप्रवेशायोगात् ॥

अवखण्डने) इस व्युत्पत्ति से विश्व की सृष्टि और संहृति करने वाली स्वातन्त्र्य नामवाली शक्ति उस परमेश्वर की है जो प्रत्यभिज्ञेय तत्त्व है और परमशिव के नाम से जाना जाता है । परमेश्वर से नित्य अवियुक्त वह कला नामक शक्ति ही उसका लक्षण है । विज्ञानभैरव में कहा भी गया है—

'जिस प्रकार दीपक के प्रकाश अथवा सूर्य की किरणों के द्वारा (पूर्व पश्चिम आदि) दिशाविभाग आदि को जाना जाता है उसी प्रकार हे प्रिये[1] शिव भी (उसकी अपनी कला) शक्ति के द्वारा जाना जाता है' ॥ (वि०भै० २१)

शक्तिस्वरूप इस प्रकार के—

गुण के बिना तत्त्व (= शिव) की स्थिति नहीं है और तत्त्व के बिना गुण (= शक्ति) की सत्ता नहीं है ॥ -३३८ ॥

शिव और शक्ति का (नीरक्षीरन्याय अथवा शर्कराजलन्याय से) नित्य लोलीभाव है ॥

ऐसा होने पर भी—

सर्वत्र (साधक लोग) गुण का ही ग्रहण (= साक्षात्कार या अनुभव) करते हैं तत्त्व का ग्रहण कहीं भी सम्भव नहीं है ॥ ३३९- ॥

शिवरूप धर्मी विशेषतः परमशिव धर्म (= शक्ति) के माध्यम से ही अपना विस्तार करते हैं । विश्वमय उस शिव में शक्ति नामक उपाय के बिना स्वतः प्रवेश सम्भव नहीं है ।

---

१. 'प्रिये' के स्थान पर 'श्रितः' पाठ मानने पर यह 'शिव' का विधेय होगा और अन्वय होगा—शिवः श्रितः सन् शक्त्या ज्ञायते । सेवां विना तस्य ज्ञानमसञ्जवि—इत्यर्थः ।

युक्तं चैतदित्याह—

गृह्यते ह्यनुमानेन प्रत्यक्षानुभवेन च ॥ ३३९ ॥
अर्थिप्रत्यर्थिभावेन आगमेन तु लभ्यते ।

तत्त्वादेर्विश्वस्य संनिवेशविशेषवत्त्वात् तत्तत्कर्तुरनुमानं तावद्विश्वज्ञत्वकर्तृत्वमुखेनैव, प्रत्यक्षानुभवोऽपि योगिनां प्रोक्तशक्तिद्वारक एव । यथोक्तम्—

'तदास्याकृत्रिमो धर्मो ज्ञत्वकर्तृत्वलक्षणः' (स्प० १०) इति ।

अर्थी प्रष्टा, प्रत्यर्थी संशयच्छेदको वक्ता, तयोर्भावोऽनुग्राह्यानुग्राहकत्वात्मा, तेन यः प्रवृत्त आगमस्तेनापि शब्दनरूपेण नियतशक्तिद्वारकमेव तत्तत्त्वं लभ्यते ॥

उक्तयोगिप्रत्यक्षैकयोगक्षेमतामागमस्य कथयति—

आगमो ज्ञानमित्युक्तमनन्ताः शास्त्रकोटयः ॥ ३४० ॥

यह ठीक भी है—यह कहते हैं—

(उस तत्त्व का) ज्ञान अनुमान से होता है । उसका प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है । अर्थी-प्रत्यर्थी के सम्बन्ध के द्वारा प्रवृत्त आगम से भी वह जाना जाता है ॥ -३३९-३४०- ॥

तत्त्व है आदि (= मूल) में जिसके ऐसा विश्व विशिष्ट सन्निवेश वाला (= सूर्य चन्द्रमा पर्वत पृथ्वी आदि नाना प्रकार के कार्यों एवं उनकी निश्चित क्रियात्मक व्यवस्था वाला है) । ऐसे विश्व के कर्त्ता का अनुमान विश्व के ज्ञाता और कर्त्ता के माध्यम से होता है । योगियों की उपर्युक्त शक्ति के द्वारा (उनको उस तत्त्व का) प्रत्यक्ष अनुभव भी होता है । जैसा कि कहा गया—

'(जब शिष्य का सांसारिक सङ्कुचित ज्ञत्व कर्तृत्व नष्ट हो जाता है) तब इसके अन्दर अकृत्रिम (= स्वाभाविक नित्य) ज्ञत्व कर्तृत्व लक्षण धर्म उदित होता है ।' (स्प०का० १०)

अर्थी = प्रश्नकर्त्ता (पार्वती कार्त्तिकेय आदि), प्रत्यर्थी = संशय को दूर करने वाले शिव । उन दोनों का भाव = अनुग्राह्य अनुग्राहक सम्बन्ध, उससे प्रवृत्त जो आगम, शब्द रूपी उस आगम के द्वारा भी नियत शक्ति के माध्यम से वह परमेश्वर तत्त्व उपलब्ध (ज्ञात) होता है ॥

आगम उक्त योगी के प्रत्यक्ष की योगक्षेमता[1] वाला है—यह बतलाते हैं—

आगम का अर्थ है ज्ञान । उसके उपायभूत शास्त्र अनन्त हैं ॥-३४०॥

---

१. अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति 'योग' और प्राप्त की रक्षा 'क्षेम' कहा जाता है । आगमशास्त्र प्रमाणान्तर से अज्ञात योगिप्रत्यक्ष को बतलाते हैं और इस प्रत्यक्ष को प्राप्त कर सुरक्षा कैसे की जाय (अपात्र को न देना इत्यादि) यह भी बतलाते हैं ।

अनन्ताः शास्त्रकोटयो यः पारमेश्वर आगमस्तज्ज्ञानं परशक्तिस्फाररूपमित्युक्तम् । आ समन्ताद् गमयति अभेदेन विमृशति पारमेशं स्वरूपमिति कृत्वा परशक्तिरेवागमस्तत्प्रतिपादकस्तु शब्दसंदर्भस्तदुपायत्वात् शास्त्रस्य ॥ ३४० ॥

कथं परशक्त्यात्मत्वमित्याह—

शास्त्रं शब्दात्मकं सर्वं शब्दो हंसः प्रकीर्तितः ।

यत् किंचित् क्वचिच्छासनाच्छास्त्रं तच्छब्दात्मकं पञ्चाशद्वर्णशब्दराशिसतत्त्वं, शब्दराशिश्च हंसोच्चारात्मा, हंसोच्चारश्च परशक्त्यनुभवस्फारसार इति ॥

निर्णीतमेतदित्याह—

हंसयोगः पुराख्यातः..............

तेन सर्वप्रमाणानां शक्तिविषयत्वात् शक्तिमद्रूपमप्रमेयमेवेति युक्तमुक्तं 'गुणं गृह्णन्ति सर्वत्र' इति सङ्गतिः ।

शास्त्र अनन्त प्रकार के हैं । यही पारमेश्वर (= परमेश्वर के स्वरूप का निर्वचन करने वाला) आगम कहा जाता है । इस आगम शास्त्र के अन्दर निहित ज्ञान पराशक्ति का स्फार (= विस्तार) है। (आगम शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हैं—) आ = समन्तात् = सब प्रकार से = पूर्णरूपेण, गमयति = पारमेश्वर रूप का अपने से अभिन्न रूप से विमर्श कराता है, इसलिये उसको आगम कहा जाता है । इस प्रकार आगम का तात्पर्य है—पराशक्ति; इस शक्ति का प्रतिपादक होने के कारण शास्त्र भी आगम के नाम से व्यवहृत होता है क्योंकि वह शब्दसन्दर्भ रूप शास्त्र उस शक्तिस्वरूप के ज्ञान का उपाय है ॥ ३४० ॥

आगम परशक्तिस्वरूप कैसे है ?—यह कहते हैं—

समस्त शास्त्र शब्दों वाला है और शब्द हंस कहा गया है ॥ ३४१- ॥

जो शासन करता है (= श्रेयःप्राप्ति के लिये नियमों को बतलाता है) वह शास्त्र है । कोई भी शास्त्र कहीं भी रहेगा शब्दात्मक (= शब्दस्वरूप) ही होता है। अर्थात् वह अकारादि क्षकारान्त पचास शब्दों (= वर्णों) का समूह होता है । और यह शब्दराशि हंसोच्चार रूप है—(हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः । हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।—ध्या०वि०उ० ६१।६२) और हंसोच्चार पराशक्ति के अनुभव का विस्तार मात्र है ॥

इसका वर्णन कर दिया गया—यह कहते हैं—

हंसयोग का वर्णन पहले किया जा चुका है ॥ -३४१- ॥

इससे समस्त प्रमाण शक्तिविषयक होने के कारण शक्तिमद् रूप हैं (और चूँकि शक्ति अप्रमेय है इसलिये वे प्रमाण भी) अप्रमेय हैं । इसलिये ठीक कहा गया कि

'भेदयेत् ज्ञानशूलेन (४।३३५)' इत्युपक्रम्य 'भेदयेन्मन्त्रशूलेन (४।३५७)' इति—प्रतिपादयिष्यति । अतो ज्ञानसतत्त्वं वर्णमन्त्रोच्चारकालम्, तेन च वाच्य-वाचकयोर्वर्णदेवतयोः संबन्धम् तद्वाच्यदेवताश्रयहृदयादिस्थानपरिमाणं च वक्तुमा-सूत्रयति—

..........मात्रासंख्या त्वथोच्यते ॥ ३४१ ॥
मात्रायोगो यथा चास्य प्रमाणं हृदयादिषु ।

मात्रा अकारादिवर्णोच्चारकालः । अस्येति भेदकस्य । मन्त्रोच्चारात्मनो हंसो-च्चारस्य यथा मात्राभिर्योगो यथा चोच्चारणास्पदानां हृदानीनां प्रमाणं तत्सर्वमुच्यत इत्यर्थः ।

तत्र प्रमाणं तावदाह—

नाभेरूर्ध्वं वितस्त्यन्ते कण्ठाधस्तात् षडङ्गुले॥ ३४२ ॥
हृदयं मध्यदेशे तु चतुरङ्गुलसंमितम् ।

वितस्तिः द्वादशाङ्गुलानि तदन्ते, कण्ठाधस्तात् षडङ्गुले अवधिभूते क्षेत्रद्वये

लोग सर्वत्र गुण का ग्रहण करते हैं ।

'भेदयेत् ज्ञानशूलेन' (४।३३५) इससे प्रारम्भ किया और 'भेदयेन्मन्त्र शूलेन (४।३५७) से इसका प्रतिपादन (= उपसंहार) करेगे । इसलिये ज्ञान वर्णमन्त्र के उच्चारण के काल वाला है । इससे वाच्य (= ब्रह्मा आदि व्यक्ति) और वाचक (= 'ब्रह्मा' आदि वर्णसमूह) के सम्बन्ध जो कि उस वर्ण के वाच्य देवता का आश्रय भूत हृदय आदि स्थान के परिमाण वाला है, को बतलाने के लिये उपक्रम करते हैं—

अब मात्रा की संख्या साथ ही जिस प्रकार उस (= हंसोच्चार) का मात्रा से योग होता है और जिस प्रकार हृदय आदि का प्रमाण (= परिमाण) है, बतलाया जा रहा है ॥ -३४१-३४२- ॥

मात्रा का अर्थ है—'अ'कार आदि वर्णों का उच्चारणकाल । इसका = भेदक का = मन्त्रोच्चारात्मक हंसोच्चार का, जिस प्रकार मात्राओं के साथ योग होता है और जैसा हृदय आदि उच्चारणस्थानों का प्रमाण (= परिमाण) है वह सब कहा जायेगा ॥

उनमें से प्रमाण को बतलाते हैं—

नाभि के ऊपर एक वितस्ति (= बालिस्त) के अन्त में तथा कण्ठ के नीचे छः अङ्गुल, इन दोनों के बीच में चार अङ्गुल परिमाण वाला हृदय वर्त्तमान है ॥ -३४२-३४३- ॥

वितस्ति = बारह अङ्गुल, उसके अन्त में (ऊपर) तथा कण्ठ से छः अङ्गुल

यो मध्यदेशस्तत्र चतुरङ्गुलो हृद्ग्रन्थिः इति संबन्धः ॥

अत्राधिष्ठातारमाह—

चतुर्विंशतितत्त्वैस्तु ब्रह्मा तत्र व्यवस्थितः ॥ ३४३ ॥

सहार्थे तृतीया, प्रकृत्यन्तमधिष्ठाय ब्रह्मात्र स्थित इत्यर्थः ॥

तदूर्ध्वम्—

कण्ठमष्टाङ्गुलं विद्धि विष्णुस्तत्र व्यवस्थितः।
तत्त्वषट्केन संयुक्तः...............

पुमादिकलान्ते ॥

..............तदूर्ध्वं चतुरङ्गुलम् ॥ ३४४ ॥

तत्र च—

मायातत्त्वं समाश्रित्य रुद्रस्तालुतले स्थितः ।

तदूर्ध्वम्—

अङ्गुलद्वयमानं तु भ्रुवोर्मध्यं प्रकीर्तितम् ॥ ३४५ ॥

नीचे दोनों क्षेत्रों के मध्य में जो स्थान चार अङ्गुल परिमाण वाला है वही हृदयग्रन्थि है ॥

यहाँ के अधिष्ठाता को बतलाते हैं—

वहाँ (= हृदय में) चौबीस तत्त्वों के साथ ब्रह्मा रहते हैं ॥ -३४३ ॥

'चतुर्विशतितत्त्वैः' यह (सहयुक्तेऽप्रधाने पा०सू०) से 'सह' (= साथ) अर्थ में तृतीया है । पृथिवी से लेकर प्रकृति पर्यन्त तत्त्वों को अपने अधीन कर ब्रह्मा यहाँ विराजमान हैं ॥

उसके ऊपर—

उसके (= हृदय के) आठ अङ्गुल ऊपर कण्ठ समझना चाहिये । वहाँ छः तत्त्वों (पुरुष, नियति, काल, राग, अशुद्धविद्या और कला) के साथ विष्णु स्थित हैं ॥ ३४४- ॥

अर्थात् पुरुष से लेकर कला तक छः तत्त्व ॥

उसके चार अङ्गुल ऊपर तालु तल है ॥ -३४४ ॥

और वहाँ—

इसमें माया तत्त्व को आक्रान्त कर रुद्र स्थित हैं ॥ ३४५- ॥

उसके ऊपर—

तत्रेश्वरः स्थितो देवि तत्त्वद्वयसमन्वितः ।

तत्त्वद्वयं शुद्धविद्येश्वराख्यम् ।

ततोऽपि—

एकादशाङ्गुले चैवमूर्ध्वं देवः सदाशिवः ॥ ३४६ ॥
तत्त्वद्वयसमायुक्तो यावद् ब्रह्मबिलं गतः ।

सदाशिवतत्त्वशक्तितत्त्वाभ्यां युक्तः । एवं च वदन् अर्धचन्द्रादिनादान्ते श्रीसदाशिवोऽधिष्ठाता इति शिक्षयति, तत्त्वव्यवस्थया तु निरोध्यन्तमीश्वरतत्त्वस्य नादान्तान्तं सदाशिवतत्त्वस्येति वक्ष्यमाणनीत्या तत्त्वव्याप्तेरन्यैवेयमीश्वरसदाशिवाख्य-देवताव्याप्तिः ॥

तदूर्ध्वैकाङ्गुलाशक्तिः............

शक्तिर्ग्रन्थिस्थानमित्यर्थः ।

...........शिवस्तत्र व्यवस्थितः ॥ ३४७ ॥

अनाश्रिताख्यः ॥ ३४७ ॥

अत्रैव चाङ्गुले—

उसके दो अङ्गुल ऊपर भ्रूमध्य कहा गया है । उसमें शुद्धविद्या और ईश्वर इन दो तत्त्वों को अधीन कर ईश्वर स्थित है ॥ -३४५-३४६- ॥

'तत्त्वद्वयम्' अर्थात् शुद्ध विद्या और ईश्वर नामक ।

उससे भी—

ग्यारह अङ्गुल ऊपर सदाशिव हैं । वे दो तत्त्वों से युक्त हैं । उनका अधिकारक्षेत्र ब्रह्मबिल (= सहस्रार के ऊपर बिन्दु अर्धचन्द्र रोधिनी, नाद और नादान्त तक) है ॥ -३४६-३४७- ॥

दो तत्त्व = सदाशिवतत्त्व एवं शक्तितत्त्व से युक्त है । ऐसा कहते हुए ग्रन्थकार यह बतलाते हैं कि श्री सदाशिव अर्धचन्द्र से लेकर नादान्त तक के अधिष्ठाता हैं। तत्त्वव्यवस्था की दृष्टि से ईश्वरतत्त्व रोधिनी तक और सदाशिव नादान्त तक के अधिष्ठाता हैं । किन्तु यहाँ उक्त व्यवस्था से भिन्न व्याप्ति है जिसका निरूपण आगे किया जायेगा ॥

उसके एक अङ्गुल ऊपर शक्ति ग्रन्थि का स्थान है और वहाँ अनाश्रित शिव विराजमान हैं ॥ -३४७ ॥

अनाश्रित नामक शिव हैं ॥ ३४७ ॥

इसी अङ्गुल में—

त्वक्शेषे व्यापिनी प्रोक्ता समना च.....

सापि भूः शिवेनैवाधिष्ठितेत्यर्थः । शक्तिव्यापिनीसमनाख्याः शिवतत्त्वभूमयः, शिवाख्यकारणाधिष्ठिता इत्यर्थः । एवं च वदन्नापादाद् बाह्यमानेन यत्षण्णवत्य-ङ्गुले मुण्डान्तस्थानम् तदेवेह द्वादशान्तमान्तरव्याप्त्या हावधेस्तावतः षट्त्रिंशदङ्गुल-त्वेन विभजनादिति ध्वनति । अन्यत्र दृश्यमानोर्ध्ववाहिधूमलेखान्तं बाह्यमानेना-ष्टोत्तरशताङ्गुलान्तं तदुच्यते मुण्डान्तात् प्रभृति च निरावरणता, इत्युभयथा प्रतिपादनेऽपि न किंचित्प्रमेयवैषम्यम्, बिन्द्वादिसमनान्तप्रमेयसोपानमालिकायाः सर्वत्र स्थानसाम्येनाभिधानात् ॥

एवं कारणषट्कास्पदस्थानषट्कप्रमाणमुक्त्वा निष्प्रमाणकं सप्तमं पदं परमशिवाधिष्ठितमित्याह—

......................उन्मना ततः ।
तत्परं तु परं तत्त्वं प्रमाणपरिवर्जितम् ॥ ३४८ ॥

पदार्थभेदनाङ्गतया—

मात्रासंख्या च योगश्चाधुना हंसस्य कथ्यते ।

त्वक्शेष (= जहाँ शिर की त्वचा का अन्त होता है) में व्यापिनी और समना की स्थिति कही गयी है ॥ ३४८- ॥

वह भूमि भी शिव के ही द्वारा अधिष्ठित है अर्थात् शक्ति व्यापिनी और समना भूमियाँ शिव नामक कारण के द्वारा अधिष्ठित हैं । इस प्रकार कहते हुए ग्रन्थकार यह सङ्केत करते हैं कि पैर से लेकर बाहर-बाहर शिर तक जो छियानवे अङ्गुल वाला स्थान है वही यहाँ द्वादशान्त (= शिखान्त) है ।

(हलाकृति हकार अर्थात् प्राण हृदयस्थान से छत्तीस अङ्गुल ऊपर द्वादशान्त अर्थात् शिखा के अन्त भाग तक जाता है यह आन्तर व्याप्ति है—यह सङ्केत करते हैं) । अन्यत्र दिखलाई पड़ने वाली ऊर्ध्वगामी धूमलेखा (= मस्तक के ऊपर बारह अङ्गुल) तक मुण्ड तक आवरण है । उसके ऊपर बारह अङ्गुल तक या और ऊपर आवरण नहीं है । इसलिये दोनों तरह (= आन्तर और बाह्य रूप से) से प्रतिपादन करने पर प्रमेय का कुछ भी वैषम्य नहीं है । क्योंकि बिन्दु से लेकर समना पर्यन्त प्रमेयसोपानमाला का सर्वत्र स्थानसाम्य के साथ कथन है ॥

इस प्रकार छः कारणों के छः स्थानों का परिमाण बतला कर परिमाणरहित सप्तम पद परमशिव के द्वारा अधिष्ठित है—यह कहते हैं—

उसके बाद उन्मना भूमि है । परिमाण से रहित वह पर तत्त्व अन्तिम भूमि है ॥ -३४८ ॥

पदार्थ के भेदन का अङ्ग होने के कारण—

हंसस्येति तदभिन्नस्य निष्कलस्य । यद्यपि—

'मात्रासंख्या त्वथोच्यते । मात्रायोगो यथा चास्य' (४।३४२)

इति पूर्वमेवोद्दिष्टम्, तथापि ब्रह्मादिकारणाधिष्ठितहृदादिप्रमाणमुक्त्वा यदिदानीं निर्णीयते तद्युक्तमेव, स्थानाश्रयणक्रमेणैव हि वाचकवर्णकलाकालविश्रान्त्या वाच्य-देवताव्याप्त्यनुभवरूपं पदार्थभेदनं भवति ।

तत्र—

अकारश्च हकारश्च द्वावेतावेकतः स्थितौ ॥ ३४९ ॥
विभक्तिर्नानयोरस्ति मारुताम्बरयोरिव ।

अकारोऽनुत्तरशक्तिविमर्शात्मा, हकारश्च शांभवविमर्शनस्वरूपः, शिवशक्त्योश्चाभेदाद् एतौ खवायुवदेकत्र ऐक्येन स्थितौ विश्वामर्शिनः स्वयमुच्चरतोऽनच्क-हकारस्य शिरोरेखारूपाकारकलानुप्रवेशात् ॥

एकमात्रः स विज्ञेयो हृदयात् सम्प्रवर्तते ॥ ३५० ॥

अब हंस की मात्रासंख्या और योग का वर्णन किया जाता है ॥ ३४९- ॥

हंस का = उससे अभिन्न निष्कल का । यद्यपि—

'अब मात्रासंख्या कही जा रही है । जिस प्रकार इसका मात्रायोग होता है ।' (४।३४१-३४२)

ऐसा पहले ही कह दिया गया तथापि ब्रह्मा आदि कारणों से अधिष्ठित हृदय आदि परिमाण का कथन कर जो अब मात्रा आदि का कथन किया जा रहा है वह समीचीन ही है । क्योंकि वाच्यदेवता की व्याप्ति का अनुभवरूप पदार्थभेदन स्थान के आश्रय के क्रम से ही वाचक वर्ण की कला एवं काल की विश्रान्ति के द्वारा होता है अर्थात् व्याप्ति के समाप्त होने से वर्ण समाप्त हो जाता है केवल देवता का अनुभव रह जाता है ।

उनमें—

अकार और हकार ये दोनों एक ही भूमि में स्थित हैं । वायु और आकाश की भाँति इनमें विभाग नहीं है ॥ -३४९-३५०- ॥

अकार = अनुत्तर शक्ति का विमर्श है । हकार शाम्भव विमर्श है । शिव और शक्ति चूँकि अभिन्न हैं इसलिये आकाश और वायु की भाँति एक स्थान में एक रूप से स्थित हैं । क्योंकि विश्व का आमर्शन करने वाला एव स्वयं उच्चरित होने वाला स्वररहित हकार शिरोरेखारूप (= ब्राह्मी लिपि के हकार के रूपवाले) अकार की कला में प्रवेश करता है ॥

वह एक मात्रा वाला समझना चाहिये । वह हृदय से उठता है ॥-३५० ॥

स इत्यकारयुक्तो हकारः केवलस्त्वनुच्चार्यत्वादकालकलित एव ॥ ३५० ॥

ऊकारस्तु द्विमात्रो वै कण्ठस्थाने समुच्चरेत् ।
त्रिमात्रस्तु मकारो वै तालुमध्यगतश्चरेत् ॥ ३५१ ॥

त्रिमात्रत्वं गीतिकाक्षरस्वरमध्येऽक्षरशून्यपदोच्चारवत् ॥ ३५१ ॥

प्लुतोच्चारयुक्त्या मात्राभेदं स्थूलस्थित्योक्त्वा, सूक्ष्मस्थित्याप्याह—

बिन्दुश्चैवार्धमात्रस्तु............

अनुस्वारोच्चाररूपः ॥

कुत इत्याह—

............मात्रार्धं हि स उच्यते ।

वक्ष्यमाणयुक्त्या भेदितग्रन्थेर्योगिनो मात्रार्धमेव तदुच्चारो भवतीति ॥

अस्य स्थानमाह—

भ्रुवोर्मध्ये स उच्चारस्तस्य देवि विधीयते ॥ ३५२ ॥

वह = अकारयुक्त हकार । अनुच्चार्य होने के कारण वह केवल है और काल की पकड़ से रहित है ॥ ३५० ॥

ऊकार दो मात्राओं वाला है । उसका उच्चारण कण्ठ में होता है । मकार तीन मात्राओं वाला है । वह तालु के मध्य में सञ्चरण करता है ॥ ३५१ ॥

तीन मात्रा (का स्वरूप है कि) गीत के अक्षर एवं स्वर के मध्य में अक्षर से शून्य पद के उच्चारण के समान होती है (जैसे—क । ब । से । तु । म । ठा ॥ ढ़े ॥ हो ॥ व । हीं ॥—यहाँ । ह्रस्व ॥ दीर्घ औ ॥। प्लुत है) ॥ ३५१ ॥

प्लुत के उच्चारण की युक्ति से मात्राभेद का स्थूल स्थिति से कथन कर सूक्ष्म स्थिति से कथन करते हैं—

अनुस्वार का उच्चाररूप बिन्दु आधी मात्रा का होता है ॥ ३५२- ॥

क्यों ?—यह बतलाते हैं—

वह बिन्दु आधी मात्रा के काल में उच्चारित होता है ॥ -३५२- ॥

आगे कही जाने वाली युक्ति के अनुसार ग्रन्थिभेदसम्पन्न योगी आधीमात्रा वाले अनुस्वार का उच्चारण करता है ॥

इसका स्थान बतलाते हैं—

हे देवि ! उस योगी के दोनों भौहों के मध्य में उसका उच्चारण किया जाता है ॥ -३५२ ॥

भेदितग्रन्थिभिर्योगिभिः ॥ ३५२ ॥

अथास्यैव विगलद्विभागध्वन्यात्मनोऽनुनिर्ह्रादरूपः—

तच्छेषाच्चार्धचन्द्रस्तु पादमात्रस्त्वसौ भवेत् ।

मात्राया इत्यर्थात् ।

निरोधी चार्धपादस्तु..............

सोऽयमर्धचन्द्रो निरोधीयमन्त्रैकदेशः ।

..............ललाटान्ते समुच्चरेत् ॥ ३५३ ॥

ललाटाग्रतदग्रभागात्मन्यन्तद्वये द्वावुच्चरत इत्यर्थः ॥ ३५३ ॥

अत ऊर्ध्वम्—

नादः षोडशकांशस्तु मूर्धान्तं यावदुच्चरेत् ।

नादस्य नादान्तः पल्लवप्राय इति पृथङ् नोक्तः ॥

अर्थात् भेदित ग्रन्थि वाले योगियों के द्वारा ॥ ३५२ ॥

इसी ॐकारगत 'म' के उच्चार का विभाग जब नष्ट हो जाता है और केवल अनुस्वन रह जाता है—

तो वह उस (= ध्वनि या अनुस्वन) का शेष होने से यह अर्धचन्द्र होता है । यह एक मात्रा का चौथाई भाग होता है ॥ ३५३- ॥

अर्थात् एक मात्रा का चौथाई ।

रोधिनी एक मात्रा के पाद (= चौथाई) का आधा (= एक मात्रा का १/८) होता है ॥ -३५३- ॥

यह अर्धचन्द्र निरोधीय मन्त्र (= जिस बीजमन्त्र का आगे निरोध होना है उस) का एक देश होता है ।

इसका उच्चारण ललाटान्त में करना चाहिये ॥ -३५३ ॥

उन दोनों (= अर्धचन्द्र और रोधिनी) का उच्चारण ललाट के अग्रभाग और उस अग्रभाग के अग्रभाग में किया जाता है या होता है ॥ ३५३ ॥

इसके ऊपर—

नाद (मात्रा का) सोलहवाँ अंश होता है । उसका मूर्धान्त में उच्चारण करना चाहिये ॥ ३५४- ॥

नादान्त नाद के पल्लव जैसा होता है इसलिये उसको पृथक् नहीं कहा गया ॥

अत ऊर्ध्वम्—

द्वात्रिंशदंशा शक्तिस्तु षट्त्रिंशान्ते समुच्चरेत् ॥ ३५४ ॥

प्राणचारस्य यत्षट्त्रिंशदङ्गुलं तल्लक्षणान्ते सम्यक् शान्तभेदस्पर्शमात्रानुभवात्मतया उच्चरेत् । इह एकत्रैव षट्त्रिंशदङ्गुलरन्ध्रान्ते शक्तिः, त्वक्शेषे व्यापिनी, केशदेशे समनेति स्थितिः ॥ ३५४ ॥

तत्र शक्तेर्मानमुक्तम् । व्यापिनीसमनयोराह—

व्यापिनी चतुःषष्ट्यंशा शक्तेस्तु परतः स्थिता ।
समना च..............

चतुष्षष्ट्यंशैव, एवं चेमौ चतुष्षष्ट्यंशावेकीकृतौ द्वात्रिंशांशः, सोऽपि शक्त्यात्मद्वात्रिंशांशेन सह मिलितः षोडशांशो जायते, सोऽपि नादीयश्च षोडशांशोऽष्टांशो जातः, सोऽपि निरोध्यष्टांशेन सह चतुर्थांशः स्थितोऽर्धचन्द्रः, अपरश्चतुर्थांशो बिन्दुरर्धमात्रेत्येष मात्रा मकारान्ताश्च षण्मात्रा इति समनान्तमात्रासप्तकक्रोडीकृताशेषाक्षेपिभाविदेवीसप्तकोऽयममात्रोन्मनापरतत्त्वसतत्त्वः श्रीनिष्कलनाथः । यत्तु—

इसके ऊपर—

शक्ति (एक मात्रा का) बत्तीसवाँ अंश होती है । इसे ३६ अङ्गुल के अन्त में उच्चरित करना चाहिये ॥ -३५४ ॥

प्राणचार का जो ३६ अङ्गुल मान है उसके अन्त में समुच्चार करना चाहिये (= भेद के स्पर्श की मात्रा के सम्यक् शान्त होने के अनुभव के रूप में उच्चारण करना चाहिये । यहाँ एक ही जगह ३६ अङ्गुल रन्ध्र के अन्त में शक्ति, त्वक्शेष में व्यापिनी और केशदेश में समना की स्थिति रहती है ॥ ३५४ ॥

इनमें से शक्ति का मान कह दिया गया । व्यापिनी और समना के मानों को कहते हैं—

शक्ति के ऊपर व्यापिनी एक मात्रा के चौसठवें भाग मान वाली है । समना भी (उतने ही मान वाली है) ॥ ३५५- ॥

(उतने ही मान =) १/६४ अंश वाली ही है । इस प्रकार ये दोनों १/६४ अंश मिला देने पर १/३२ हो जाते हैं । उस १/३२ को शक्ति रूप १/३२ अंश के साथ मिलाने पर १/१६ हो जाता है । वह भी नाद के १/१६ अंश से जोड़ने पर १/८ हो जाता है । वह भी रोधिनी के १/८ से मिलाने पर १/४ हो जाता है। यह अर्धचन्द्र दूसरा चतुर्थांश है । दोनों को मिला देने पर १/२ हो जाता है । दूसरा चतुर्थांश बिन्दु है । यह आधी मात्रा वाला है । इस प्रकार की अर्धचन्द्र की १/२ और बिन्दु की १/२ मात्रायें मिलकर १ मात्रा हुई । (अ ऊ को लेकर) म् तक छः मात्रायें हुईं । इस प्रकार समना तक सात मात्रायें हुईं । इन

'........................परार्धः परतः स्थितः ।
सोऽष्टादशस्तु तं देवि समनान्ते परित्यजेत् ॥' (४।२८५)

इत्युक्तम्, तद्वाच्यदेवतावधिभूतबाह्यस्थूलकालप्रशमनपरम्, इदं तु मन्त्रावयवगतातिसूक्ष्मोच्चारकालप्रतिमादनपरमिति न काचिद्धानिः । अतश्च सूक्ष्ममन्त्रकलोच्चारकालेनैव बाह्यतत्त्वगतसंभाव्यमानविततविततमपि कलाध्वानं वटधानिकादलनेन वटदलनवद्योगीन्द्रः प्रशमयेदिति निरूपितं भवति । अत्र च मन्त्रावयवविमर्शकाले तत्तद्वाच्यदेवतानुभवोऽधराधरानुभावस्य चोर्ध्वोर्ध्वपदानुभावात्मसाद्भावो भवतीति मन्तव्यम् ॥

समनाया अपि—

............उन्मना चोर्ध्वममात्रः परमोऽव्ययः ॥ ३५५ ॥

उन्मनया सह परमशक्तिमान् व्ययहीनत्वादमात्रो मात्रार्धमात्रादिकालस्पर्शरहित इत्यर्थः ॥ ३५५ ॥

एतदुपसंहरति—

सातों मात्राओं को अपने अन्दर समाहित कर भावी (= आगे वर्णन की जाने वाली) सात देवियों (= सूक्ष्मा सुसूक्ष्मा अमृता मृता इत्यादि) वाला यह निष्कलनाथ मात्रारहित उन्मना पर तत्त्व वाला भी है । और जो—

'परार्ध है । वह पर रूप से स्थित है । वह अट्ठारहवाँ (कालभेद) है । हे देवि ! समना के बाद उसको छोड़ देना चाहिये ।' (४।२८५)

यह कहा गया, वह वाच्य देवता के अवधिभूत बाह्य स्थूलकाल के प्रशमन को बतलाने वाला है । और यह उपर्युक्त वर्णन मन्त्र के अवयव में स्थित अत्यन्त सूक्ष्म उच्चारकाल का प्रतिपादक है । इसलिये कोई हानि नहीं है । इसलिये महायोगी सूक्ष्म मन्त्रकला के उच्चारणकाल के द्वारा ही बाह्य तत्त्व में वर्त्तमान-सम्भाव्यमान बड़े से बड़े भी कलाध्वा को उसी प्रकार शान्त कर देता है जैसे कि बरगद के फल के सूक्ष्म दाने को नष्ट करने पर विशाल वटवृक्ष नष्ट हो जाता है—यह बात बतलायी गयी । इस स्थिति में मन्त्रावयव के विमर्शकाल में तत्तद् वाच्य देवता का अनुभव होता है। नीचे-नीचे वाला अनुभव ऊपर-ऊपर वाले अनुभव में मिलकर तद्रूप होता जाता है—ऐसा समझना चाहिये ॥

समना के भी—

ऊपर उन्मना है । यह स्तर मात्रारहित परम और अव्यय है ॥ -३५५॥

उन्मना के साथ परमशक्तिमान् है । वह व्यय रहित होने से अमात्र अर्थात् मात्रा अर्धमात्रा आदि काल के स्पर्श से शून्य है ॥ ३५५ ॥

इसका उपसंहार करते हैं—

मात्रासंख्या च योगश्च प्रमाणं परिकीर्तितम् ।

तदेतत्सर्वम्—

एवं ज्ञात्वा वरारोहे पदार्थान् भेदयेत्ततः ॥ ३५६ ॥

वरारोहे इति प्राग्वत् ॥ ३५६ ॥

कथम्—

भेदयेन्मन्त्रशूलेन मुद्राभावयुतेन च ।

प्राङ्निर्णीतज्ञानशूलसतत्त्वेन मन्त्रशूलेन, मुद्रया वक्ष्यमाणकरणरूपया, भावेन जिज्ञासाजिज्ञासितानुभवात्मना युक्तेन ।

त्रयमेतद् ज्ञानक्रियेच्छाशक्तिस्फारसारमत एतच्छक्तिमयमहेश्वरैकात्मा गुरुर्भेदनं कुर्यादिति प्रकाशयति—

मन्त्रो वै ज्ञानशक्तिश्च मुद्रा चैव क्रियात्मिका ॥ ३५७ ॥
भावश्च मन इत्युक्तं तन्मनो बुद्धिपूर्वकम् ।

मनः सततं मननमनुभवो बुद्धिपूर्वकमिति निश्चित्य प्रवृत्तस्य तत्तदनुभवला-

---

इस प्रकार मात्रा की संख्या, योग और परिमाण कहे गये ॥ ३५६- ॥

इस प्रकार यह सब कुछ—

तो यह सब जान कर ही हे वरारोहे ! फिर पदार्थों का भेदन करना चाहिए ॥ -३५६ ॥

हे वरारोहे ? अर्थात् पहले के समान ॥ ३५६ ॥

कैसे (भेदन करे)—

मुद्रा एवं भाव से युक्त मन्त्रशूल से भेदन करना चाहिये ॥ ३५७- ॥

पहले बतलाये गये वक्ष्यमाण करणरूपा मुद्रा से तथा जिज्ञासाजिज्ञासित अनुभव रूप भाव से युक्त ज्ञानशूलतत्त्व वाले मन्त्रशूल से भेदन करना चाहिये ।

(मन्त्र मुद्रा और भावना) ये तीन (परमेश्वर की) ज्ञान, क्रिया एवं इच्छा शक्तियों के विस्तार हैं । गुरु, जो कि इन शक्तियों से युक्त महेश्वरस्वरूप है, पदार्थों का भेदन करे—यह कहते हैं—

मन्त्र (परमेश्वर की) ज्ञान शक्ति है । मुद्रा (उसकी) क्रिया शक्ति है । भाव मन कहा गया है और वह मन बुद्धिपूर्वक (कार्य करता) है ॥ -३५७-३५८-॥

मन का अर्थ है—निरन्तर मनन अर्थात् अनुभव । यह बुद्धिपूर्वक होता है । बुद्धि के द्वारा निश्चय कर प्रवृत्त होने वाले को तत्तद अनुभव का लाभ होता है ।

भात् । भेदनं चैतत्परतत्त्वव्याप्त्यर्थम् ॥

परतत्त्वव्याप्तिश्च जिज्ञासाप्रमुखकरणबन्धे मन्त्रोच्चारोन्मिषत्पूर्णस्वसंवेदनतः— इत्याह—

परश्च मनसा गम्य इच्छाशक्त्या त्वधिष्ठितः ॥ ३५८ ॥

मनसा स्वसंवेदनेनेच्छाशक्त्या तत्परमार्थतया जिज्ञासयाधिष्ठितः प्रथमं विषयीकृत इत्यर्थः ॥ ३५८ ॥

युक्तं चैतत्, यतः—

यत्र यत्र भवेदिच्छा ज्ञानं तत्र प्रवर्तते ।
क्रियाकरणसंबन्धात्..............

योगात् क्रियाया व्यापारस्य करणस्य च तद्व्यापारोचितशरीरसंनिवेशस्य सम्यग् बन्धाद् जिज्ञासितेऽर्थे ज्ञानं भवतीत्यर्थः ॥

तदित्थं शक्तित्रयात्मशिवावेशज्ञस्य गुरोः—

..........तत्त्वस्योच्चारणं भवेत् ॥ ३५९ ॥

तत्त्वं वीर्यसारो मन्त्रः ॥ ३५९ ॥

भेदन का अर्थ है—परतत्त्व के साथ अपनी व्याप्ति ॥

और पर तत्त्व की व्याप्ति जिज्ञासाप्रमुख करणबन्ध (= जिज्ञासा के कारण सात भेद वाले करण तथा उड्डीयान इत्यादि बन्ध) के होने पर मन्त्रोच्चार से उन्मिषित होने वाले पूर्णस्वात्मसंवेदन से होती है—यह कहते हैं—

परतत्त्व मन से जाना जाता है किन्तु इसके पहले उसके बारे में तीव्र इच्छा होनी चाहिये ॥ -३५८ ॥

मन से = अपने संवेदन से, इच्छाशक्ति के द्वारा = तत्परमार्थभूता जिज्ञासा के द्वारा, अधिष्ठित = विषय बनाया गया (परतत्त्व ज्ञात होता है) ॥

यह ठीक भी है क्योंकि—

जहाँ-जहाँ इच्छा होती है क्रियाकरणसम्बन्ध के कारण वहाँ ज्ञान होता है ॥ ३५९- ॥

योग के कारण क्रिया = व्यापार के और करण = तत्तद् व्यापार के लिये सक्षम शरीरसन्निवेश के सम्यक् बन्ध से जिज्ञासित विषय का ज्ञान होता है ॥

तो इस प्रकार तीनों शक्तियों वाले शिवावेश के ज्ञाता गुरु को—

तत्त्व का उच्चारण हो जाता है ॥ -३५९ ॥

अत्रैव भरं दर्शयितुमप्यर्थलब्धं व्यतिरेकमाह—

क्रियाकरणहीनस्य न चैवोच्चारणं भवेत् ।

करणभेदेन क्रियाभेदं सम्यग् मन्त्रोच्चारसिध्यदर्थं दर्शयितुमुपक्रमते—

क्रिया करणभेदेन सा चैव त्रिविधा स्मृता ॥ ३६० ॥

तत्र—

एकेनोच्चारयेत्तत्त्वं करणेन विचक्षणः ।

ऊर्ध्वरेचकेन

नाडीश्चाथ द्वितीयेन द्वाराणि च निरोधयेत् ॥ ३६१ ॥

कुम्भकेन

तृतीयं करणं दिव्यं कृत्वा वै तत्त्वमुच्चरेत् ।

तत्त्वं निष्कलं तेन कुम्भकेन द्वाराणि निरोध्य दिव्यं करणं बद्ध्वा ऊर्ध्वरेचकेन मन्त्रमुच्चारयेत्, इत्ययमत्र क्रमः ॥

तमेव स्फुटयितुमुपक्रमते—

तत्त्व = वीर्यसम्पन्न मन्त्र ॥ ३५९ ॥

इसी कथन पर जोर देने के लिये अर्थात् लब्धव्यतिरेक (= विपरीत स्थिति) को कहते हैं—

क्रिया और करण से रहित गुरु को मन्त्र का उच्चारण नहीं होता ॥ ३६०- ॥

मन्त्रोच्चार की सम्यक् सिद्धि के लिये करणभेद के द्वारा क्रियाभेद को दिखलाने का उपक्रम करते हैं-

क्रिया करणभेद से होती है और वह तीन प्रकार की कही गयी है ॥ -३६० ॥

उन प्रकारों में—

विद्वान् गुरु एक करण (= ऊर्ध्व रेचक) के द्वारा तत्त्व का उच्चारण करे । दूसरे करण (= कुम्भक), के द्वारा नाड़ियों और नव द्वारों का अवरोध करना चाहिए । तृतीय दिव्यकरण का बन्धन कर तत्त्व का उच्चारण करे ॥ ३६१-३६२- ॥

तत्त्व = निष्कल । तात्पर्य यह है कि कुम्भक के द्वारा नव द्वारों का अवरोध कर दिव्यकरण का बन्धन कर ऊर्ध्व रेचक के द्वारा मन्त्र का उच्चारण करे—यह क्रम है ॥

पूरकं कुम्भकं कृत्वा सर्वद्वाराणि रोधयेत्॥ ३६२ ॥

कुम्भकावसर एव ॥ ३६२ ॥

तानि—

गुदद्वारेण रुद्धेन रुद्धान्यत्र भवन्ति हि ।

रोधश्चास्य सङ्कोचविकासाभ्यामावेशवशेन कार्यः ।

एवं कृत्वा—

द्वारमेकं ततश्चोर्ध्वे प्रवहत्तद्विचिन्तयेत् ॥ ३६३ ॥

मध्यनाडिरूपं विचिन्तयेत् न तु संप्रत्येव वाहयेत् ॥ ३६३ ॥

तथा सति हि—

नाडयो ग्रन्थिपद्माश्च येऽधोमुखगताः प्रिये ।
ते कुम्भकेन संरुद्धा विकसन्ति समन्ततः॥ ३६४ ॥

उसी को स्पष्ट करते हैं—

पूरक और कुम्भक प्राणायाम कर (कुम्भक के अवसर पर) ही समस्त द्वारों को रुद्ध कर देना चाहिये ॥ -३६२ ॥

अर्थात् कुम्भक प्राणायाम के अवसर पर ॥ ३६२ ॥

वे समस्त द्वार

गुदामार्ग के रुद्ध होने पर अपने आप रुद्ध हो जाते हैं ॥ ३६३- ॥

यह गुदामार्ग का अवरोध उसके सङ्कोच विकास के द्वारा आवेशित कर किया जाता है । (इस विषय में श्रीतन्त्रालोक में एक सटीक उदाहरण दिया गया है—जैसे गर्दभी या बडवा मूत्रत्याग के समय योनिप्रदेश का सङ्कोच-प्रसार करती है उसी प्रकार योगी को गुदा मार्ग का सङ्कोच विकास करना चाहिये)।

ऐसा करने के बाद—

एक द्वार (= सुषुम्ना) को ऊर्ध्व प्रवाहित होता हुआ ही सोचना चाहिये ॥ -३६३ ॥

मध्यनाड़ी (= सुषुम्ना) को ऊर्ध्व प्रवाहित होती हुई सोचना चाहिये न कि ऊपर प्रवाहित कर देना चाहिये ॥ ३६३ ॥

ऐसा होने पर—

हे प्रिये ! जो नाड़ियाँ और ग्रन्थिकमल अधोमुख पड़े हुए हैं वे कुम्भक के द्वारा सम्यक् निरुद्ध होकर अपने चारो ओर विकसित हो

प्राणशक्तिकौटिल्यधामानि हृदयादीनि ग्रन्थयः । सङ्कोचविकासधर्मत्वात् पद्मानि । तानि चापानशक्तिप्रवाहवशादधोमुखानि विकसन्तीत्यूर्ध्ववाहोन्मुखीभवन्ति ॥ ३६४ ॥

इत्थं कुम्भकादनन्तरम्—

करणं तु ततः कृत्वा.............

अत्र च 'तत्त्वस्योच्चारणं कुरु' (४।३६७) इति दूरेण सङ्गतिः । मध्ये तु करणलक्षणम् ॥

तदाह—

...............लक्षणं तस्य वै शृणु ।
जिह्वा तु तालुके योज्या किंचिदूर्ध्वं न संस्पृशेत् ॥ ३६५ ॥
ईषत्प्रसार्य वक्त्रं तु किंचिदोष्ठौ न संस्पृशेत् ।
दन्तपङ्क्ती तथैवेह दृष्टिश्चाधोर्ध्ववर्जिता ॥ ३६६ ॥
कायं समुन्नतं कृत्वा करणं दिव्यमुच्यते ।

अत्र जिह्वायास्तालुयोजने कुञ्चितत्वमर्थलब्धं किंचिदोष्ठौ नेति न किंचिदपि

जाते हैं ॥ ३६४ ॥

ग्रन्थि का अर्थ है हृदय आदि वे स्थान जहाँ प्राणशक्ति की गति वक्र हो जाती है । ये ग्रन्थियाँ ही सङ्कोचविकास धर्म वाले होने के कारण पद्म कहलाते हैं । वे अपान शक्ति के प्रवाहवश अधोमुख रहते हैं (जब अपान वायु का अवरोध हो जाता है तब ये अधोमुखी पद्म) विकसित होते हैं अर्थात् ऊर्ध्ववाही हो जाते हैं ॥ ३६४ ॥

इस प्रकार कुम्भक के बाद—

करण करना चाहिये ॥ ३६५- ॥

यहाँ इस वाक्य का अन्वय 'तत्त्वस्योच्चारणं कुरु' (४.३६७) इस बाद के श्लोकांश से है । ('करणं तु ततः कृत्वा' और 'तत्त्वस्योच्चारणं कुरु' के) मध्य में करण का लक्षण बतलाया गया है ।

उसे कहते हैं—

उस (= करण) का लक्षण सुनो जिह्वा को तालु में लगाये । किन्तु ऊर्ध्व का थोड़ा सा स्पर्श न करे । मुख को थोड़ा खुला रखे, इतना कि दोनों ओठ सटे न हों । ऊपर नीचे दाँतों की दोनों पङ्क्तियाँ भी एक दूसरे को न छूयें । दृष्टि नीचे रहे न कि ऊपर । शरीर सीधा रहे । यह दिव्य करण कहा जाता है ॥ -३६५-३६७- ॥

यहाँ जिह्वा का तालु से संयोग करने से जिह्वा का थोड़ा सिकोड़ना अर्थतः समझना चाहिये । दोनों ओठ एक दूसरे का थोड़ा भी स्पर्श न करे । उसी प्रकार

स्पृशेदिति योज्यम् । तथैवेति प्रसार्य न संस्पृशेदित्यर्थः । दृष्टेरध ऊर्ध्वं वर्जनं निश्चलतारकत्वेन विकल्पहानये । समुन्नतमिति सम्यगविकृततयोन्नतम् । दिवि परसंविल्लाभे उपायतया भवं दिव्यम् ॥

तदित्थम्—

दिव्यं च करणं कृत्वा तत्त्वस्योच्चारणं कुरु॥ ३६७ ॥

चकारात् कुम्भकमूर्ध्वरेचकं च, तत्त्वं मूलमन्त्रः ॥ ३६७ ॥

अत्र दिव्यकरणावसरे ऊर्ध्वरेचकमपि कुर्वीतेत्याह—

कुम्भितश्चैव यः प्राणो रेचयेत्तं शनैः शनैः ।

ऊर्ध्वमित्यर्थात् ॥

तथा सति हि—

नाड्यो ग्रन्थिपद्माश्च देहे याः संव्यवस्थिताः ॥ ३६८ ॥
रेचकेन समाक्षिप्ता ऊर्ध्वस्रोतो भवन्ति ते ।

मध्यवाहरूपतां यान्तीत्यर्थः । अत्र च रोमाञ्चोद्गमोऽभिज्ञानम् ।

मुख को फैलाने का मतलब है कि न छुये । दृष्टि का ऊपर नीचे न होने का मतलब है उसका स्थिर होना । यह विकल्पों के त्याग के लिये विहित है । समुन्नत का तात्पर्य है—सम्यक् = विना विकृत हुए उन्नत । दिव्य का अर्थ है—द्यौ = परसंवित् के लाभ के विषय में, उपाय स्वरूप ॥

तो इस प्रकार—

दिव्यकरण का बन्ध कर तत्त्व का उच्चारण करना चाहिये ॥ -३६७ ॥

श्लोक में 'च' का तात्पर्य है—कुम्भक और ऊर्ध्व रेचक (को करने के बाद)। तत्त्व = मूल मन्त्र (का उच्चारण करे) ॥ ३६७ ॥

यहाँ दिव्यकरण के अवसर पर ऊर्ध्व रेचक भी करना चाहिये—यह कहते हैं—

जिस प्राण का कुम्भक किया गया है उसको धीरे-धीरे ऊपर की ओर छोड़ना चाहिये ॥ ३६८- ॥

अर्थात् ऊपर की ओर ॥

वैसा होने पर—

जो नाड़ियाँ और जो ग्रन्थिकमल शरीर में स्थित हैं वे रेचक के द्वारा समाक्षिप्त होकर ऊर्ध्वस्रोत हो जाते हैं ॥ -३६८-३६९- ॥

(ऊर्ध्व स्रोत हो जाते हैं =) मध्यवाह रूप (= सुषुम्ना में प्रवाहित) हो जाते हैं

एवं करणत्रयबन्धावहितः—

ततो वै ज्ञानशूलेन ग्रन्थीन् भिन्दन् समुच्चरेत्॥ ३६९ ॥

ज्ञानशूलं पूर्वं निर्णीतम्, ग्रन्थीनां भेदो हृदयादिपदेषु प्राणशक्तेः स्पष्टीभावेन तत्तदनुभवलाभः, सम्यगविकल्पमुच्चरेत् स्वयमेवमूर्ध्वं प्रसरेत् । मन्त्र इति अर्थात् ॥ ३६९ ॥

अत्र भेदेन घटमानस्य योगिनो भावप्राप्तिवशादिति यः पूर्वं हेतुरुक्तः तन्निर्णयानुभवभेदान्निरूपयति—

भित्वा हृत्पद्मग्रन्थिं तु ततः शब्दः प्रजायते ।
यदाकाशसमायोगात्.............

सम्यगासमन्ताद्योगाद् मन्त्राद्यकलोच्चारैकाग्रतारूपात् । शब्द इति उपांशुरूपतयान्तरकारादिकलात्मा स्फुटं श्रूयमाणः ॥

स च—

जब ऐसा करने पर रोमाञ्च हो जाय तो समझना चाहिये कि क्रिया ठीक तरह से हो रही है ॥ ३६८-३६८- ॥

इस प्रकार तीनों करण बन्धों में अवधानयुक्त हुआ (गुरु)—

ज्ञानशूल के द्वारा ग्रन्थियों का भेदन करता हुआ मन्त्र का उच्चारण करे ॥ -३६९ ॥

ज्ञानशूल को पहले बतलाया जा चुका है । ग्रन्थियों के भेदन का तात्पर्य है—हृदय आदि स्थानों में प्राणशक्ति का स्पष्ट रूप से अनुभव करना । (समुच्चरेत् का मतलब है—) सम्यक् = विकल्परहित, उच्चरेत् = मन्त्र स्वयं ऊपर की ओर प्रसरित होने लगता है ॥ ३६९ ॥

(परमेश्वर से) भिन्न रूप में योगी जब (पर तत्त्व के साक्षात्कार की) चेष्टा करता है तब भाव की प्राप्ति के वश (जो उपलब्धियाँ होती हैं) उसके निश्चय रूप अनुभवों के भेदों का वर्णन करते हैं—

(जब योगी) हृदयकमल की ग्रन्थि का भेदन कर लेता है तो आकाश के समायोग से योगी के अन्दर शब्द उत्पन्न होता है ॥ ३७०- ॥

('समायोग' शब्द की व्याख्या करते हैं—) सम्यक् (= भली भाँति) आ = सब ओर से, योग = मन्त्र आदि निष्कल उच्चार की एकाग्रता, से जो 'अ'कार आदि कला रूप शब्द उत्पन्न होता है वह योगी के हृदय के अन्दर ही अन्दर उपांशुरूप में स्पष्ट सुनायी देता है ॥

और वह शब्द—

..............घोषशब्दोपमो भवेत् ॥ ३७० ॥

'श्रवणाङ्गुलिसंयोगाद्यः शब्दः संप्रवर्तते ।
दीप्तवह्निस्वनाभोगः स नादो घोष उच्यते ॥'

इति लक्षितो घोषो दीप्ताग्नेर्यो धकधकाकृतिशब्दतुल्याकारश्रुतिरुच्चरतीत्यर्थः ॥ ३७० ॥

कण्ठस्थो विरमेच्छब्दः कण्ठं प्राप्य वरानने ।

मन्त्रो विमर्शः कण्ठं प्राप्य यदा तत्स्थो भवति तदा घोषः शाम्येदित्यर्थः ॥

तत्र तु—

भिन्दतः कण्ठदेशं तु शब्दो धुगधुगायते ॥ ३७१ ॥

तद्रूपाकार उच्चरतीत्यर्थः ॥ ३७१ ॥

अतः ऊर्ध्वम्—

तालुमध्यगतः प्राणो यदा भवति सुव्रते ।

घोष शब्द के समान होता है ॥ -३७० ॥

(घोष का लक्षण बतलाते हैं—)

'कानों में ऊँगली डालने पर जलती हुई आग के शब्द के समान जो धक्-धक् शब्द उत्पन्न होता है वह नाद घोष कहा जाता है ।'

अर्थात् जलती हुई आग का धक् धक् करने वाला शब्द कान में सुनाई देता है ॥ ३७० ॥

हे वरानने ! (मन्त्र जब) कण्ठ को प्राप्त होकर कण्ठस्थ हो जाता है तब शब्द शान्त हो जाता है ॥ ३७१- ॥

मन्त्र = विमर्श कण्ठ को प्राप्त कर जब उस (= कण्ठ) में स्थित हो जाता है तब घोष शान्त हो जाता है ॥

वहाँ—

कण्ठ प्रदेश का भेदन करने वाले के अन्दर धुक् धुक् शब्द होता है ॥ -३७१ ॥

अर्थात् उस (= धुक् धुक्) के रूप का आकार ग्रहण कर उच्चरित होता है ॥ ३७१ ॥

इसके ऊपर—.

हे सुव्रते ! जब प्राण तालु के मध्य में पहुँचता है तब तालुग्रन्थि का

भिन्दतस्तालुग्रन्थिं तु शब्दो घुमघुमायते ॥ ३७२ ॥

शोभनं व्रतं मध्यधामनिभालननियमरूपं यस्या सा सुव्रता, तत्सम्बोधनम् । (सुव्रते) । 'घुमघुमायते' इति तदनुकृतिर्मकारक(ल्पमु)च्चरतीत्यर्थः ॥ ३७२ ॥

तदत्र ग्रन्थित्रयभेदेन—

एवं तेऽनुभवाः प्रोक्ताः प्राणे चरति सुव्रते ।

प्रोक्तशब्दविषयाः

त्रयस्तेऽष्टकलाः प्रोक्ता उपर्युपरितः क्रमात् ॥ ३७३ ॥

इह एकादशे पटले—

अष्टधा तु स देवेशि व्यक्तः शब्दः प्रकीतितः ।
घोषो रावः स्वनः शब्दः स्फोटाख्यो ध्वनिरेव च ।
झाङ्कारो ध्वङ्कृतश्चैव अष्टौ शब्दाः प्रकीर्तिताः ॥' (११।६७)

इत्युक्त्या व्यक्तस्य शब्दस्याष्टविधत्वं वक्ष्यति । अकारोकारमकाराश्च त्रयो व्यक्ता इति तदुच्चारस्थानेषु ग्रन्थिभेदानुभवविषयाणां शब्दानां घोषाद्यष्टकलत्वम्, यत्तु घोषोपम इत्युक्तम्, त(त्र), घोषैकरूपत्वम्, अपितु घोषसमानत्वमिति, तत्रापि

भेदन करने वाले के अन्दर घुम् घुम् शब्द होता है ॥ ३७२ ॥

('सुव्रते' शब्द की व्याख्या करते हैं—) शोभन है व्रत = मध्य धाम के निरीक्षण का नियम, जिसका वह सुव्रता, उसके सम्बोधन में सुव्रते रूप होता है । घुमघुमायते (= घुं घुं के जैसा शब्द करता है) अर्थात् उस (घुमघुम) का अनुकरण (जो कि मकार जैसा होता है) का उच्चरण होता है ॥ ३७२ ॥

तो यहाँ तीन ग्रन्थियों के भेदन से—

हे सुव्रते ! प्राणसञ्चार के विषय में मैने (प्रोक्त शब्दविषयक) ये अनुभव तुमको बतलाये । ऊपर-ऊपर के क्रम से वे तीनों आठ कलाओं वाले कहे गये ॥ ३७३ ॥

इस ग्रन्थ के ग्यारहवें पटल में—

'हे देवेशि ! व्यक्त शब्द आठ प्रकार का कहा गया है—घोष, राव, स्वन, शब्द, स्फोट, ध्वनि, झाङ्कार और ध्वङ्कृत । ये आठ प्रकार के शब्द बतलाये गये हैं ।' (११।६७)

इस उक्ति के अनुसार अब व्यक्त शब्द के आठ प्रकार को ग्रन्थकार कहेंगे । (ॐकारगत) अकार, उकार और मकार—ये तीन व्यक्त शब्द हैं । इसलिये उनके उच्चारण स्थानों में ग्रन्थिभेद का अनुभव कराने वाले शब्द घोष आदि आठ कला वाले हैं । और जो (श्लोक सं० ३७० में) 'घोषशब्दोपमः' कहा गया । वह घोष

.रावादिशब्दाः सन्त्येव ॥ ३७३ ॥

तदित्थम्—

तिष्ठेत् स यत्र वै प्राण आत्मा तद्गतिमाप्नुयात्।

प्राणाश्रया संवित् तद्द्वारेणैव तत्तत्स्थानमाप्नोति ॥

तत्र—

तत्तद्रूपं भवेत्तस्य स्थानभावानुरूपतः ॥ ३७४ ॥

स्थाने हृदादौ भावस्तत्तत्कारणान्तर्भावः ।

एवं हृत्कण्ठतालुषु ब्रह्मविष्णुरुद्राधिष्ठितेषु सृष्टिस्थितिसंहाररूपतां प्राणावस्थितिक्रमेणात्मा भजते ।

भ्रुवोर्मध्यं यदा गच्छेत् स्फोटशब्दस्तु जायते ।

अनभिव्यक्तवर्णरूपस्फुटत्वादशब्दकल्पः स्फोटः ।

रूप नहीं है बल्कि घोष के समान है । यह अर्थ है । वहाँ भी 'राव' आदि शब्द रहते ही हैं ॥ ३७३ ॥

तो इस प्रकार—

वह प्राण जहाँ स्थित होता है (= ठहरता है) आत्मा उसी की गति को प्राप्त करता है ॥ ३७४- ॥

प्राण के आश्रय वाली संवित् (= आत्मा) उस (= प्राण) के द्वारा ही तत्तत् स्थान (= जहाँ जहाँ प्राण जाता है उस-उस स्थान) को प्राप्त करती है ॥

वहाँ पर—

स्थान के भाव के अनुरूप वह (= आत्मा) तत्तद् रूप वाला हो जाता है ॥ -३७४ ॥

स्थान में = हृदय आदि में, भाव = तत्तत् कारणों (= ब्रह्मा आदि) का अन्तर्भाव ।

इस प्रकार आत्मा ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र के द्वारा अधिष्ठित हृदय, कण्ठ और तालु में सृष्टि, स्थिति और संहाररूपता का, प्राण की स्थिति के क्रम से, अनुभव करता है ।

जब प्राण साधक के भौहों के मध्य में पहुँचता है तब 'स्फोट' शब्द होता है ॥ ३७५- ॥

स्फोट एक प्रकार का शब्द ही है जिससे वर्ण ('क' 'ख' आदि) का स्वरूप

एष च—

बिन्दुं भेदयतो देवि शब्दो धुमधुमायते ॥ ३७५ ॥

बिन्दुमिति बिन्दुग्रन्थिं भिन्दतो बिन्दुकलाख्य एव मन्त्रावयवबोधी धुमधुमानुकृतिरुच्चरति । बिन्दुग्रन्थिभेदश्चायमपवर्गपदाधिरोहे प्रथमसोपानकल्प इत्यत्र भरः कर्तव्यो योगिभिः, तद्भेदे हि उल्लङ्घित एवं भेदमयः संसारः ॥ ३७५ ॥

अन्यथा तु—

कपिर्वै नारिकेलेन आचार्यः सह बिन्दुना ।
अभिन्नेन कुतो मोक्षं सबाह्याभ्यन्तरं प्रिये ॥ ३७६ ॥

भजते इति वाक्यशेषः । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावोऽत्रार्थलभ्यः, तेन यथा कपिर्नारिकेलेनाभिन्नेन कुतो मोक्षं भजते न भजते नारिकेलं रसास्वादायाभङ्क्त्वा न मुञ्चति, तथैवाचार्यो बिन्दुग्रन्थिना अभिन्नेन सहेति साकं दीक्ष्येण शिष्येणेत्यर्थात् । कुतः सबाह्याभ्यन्तरं कृत्वा मोक्षं भजते, बाह्यात् स्थूलाद् भावभूतशरीरा-

---

स्पष्ट प्रतीत नहीं होता ।

और यह—

हे देवि ! बिन्दु का भेदन करने वाले (योगी) के अन्दर धुम् धुम् शब्द होता है ॥ -३७५ ॥

बिन्दु = बिन्दुग्रन्थि का भेदन करने वाले (योगी) के अन्दर बिन्दुकला नामक मन्त्रावयवबोध धुम् धुम् की आवाज वाला उच्चरित होता है । यह बिन्दुग्रन्थि का भेद अपवर्गपद की सीढ़ियों पर चलने के क्रम में पहली सीढ़ी (= पहला कदम) है इसलिये योगियों को चाहिये कि इस पर अधिक ध्यान दें । क्योंकि इस ग्रन्थि का भेदन हो जाने पर भेदमय संसार उल्लङ्घित हो जाता है ॥ ३७५ ॥

अन्यथा—

जिस प्रकार बन्दर नारियल के फल को तोड़े बिना उसका रसास्वाद नहीं कर पाता, फलतः (क्षुधा से) उसका मोक्ष नहीं होता । उसी प्रकार हे प्रिये ! बिन्दु का भेदन न करने वाला आचार्य बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार का मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता ॥ ३७६ ॥

प्राप्त करता है । यहाँ दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक सम्बन्ध अथलभ्य है—ऐसा समझना चाहिये । जिस प्रकार बन्दर बिना टूटे नारियल के फल से मोक्ष नहीं प्राप्त करता अर्थात् रसास्वाद (एवं भूख से मुक्ति) के लिये उसे नारियल तोड़ना ही पड़ता है उसी प्रकार आचार्य बिन्दुग्रन्थि का दीक्ष्य अर्थात् शिष्य के साथ बिना भेदन किये बाह्य और आभ्यन्तर मोक्ष कैसे प्राप्त कर सकता है । बाह्य = स्थूल

दाभ्यन्तराच्च सूक्ष्मात् पुर्यष्टकशून्यशरीरान्न मुच्यते, बिन्दुभेदात्तु मुच्यते एवेत्यर्थः। 'कपेर्वै नारिकेलेन तथाचार्यस्य बिन्दुना' इति स्पष्टः पाठः ॥ ३७६ ॥

अतश्च—

भित्वा बिन्दुं ततो देवि अर्धचन्द्रं विभेदयेत् ।
भिद्यतश्चार्धचन्द्रस्य ललाटे झिमिझिमायते ॥ ३७७ ॥

अर्धचन्द्रग्रन्थिं भिन्दतस्तत्स्थान एवार्धचन्द्राख्यो मन्त्रावयवो झिमिझिमानुकारो जायते इत्यर्थः । इत्युमुत्तरत्रापि योजना कार्या ॥ ३७७ ॥

अथ—

अर्धचन्द्रं तु भित्त्वा वै भेदयेत्तु निरोधिनीम् ।
तस्यास्तु भिद्यमानायाः शब्दः सिमिसिमायते ॥ ३७८ ॥

बिन्द्वादौ प्राग्वत् कलाव्याप्तिमाह—

स्थानत्रयमिदं देवि पञ्चपञ्चकलान्वितम् ।

तत्र बिन्दोः

शरीर जो कि भावभूत है, एवं आभ्यन्तर = सूक्ष्म पुर्यष्टक शून्यशरीर, से मुक्त नहीं होता । अर्थात् बिन्दुग्रन्थि का भेदन करने पर मुक्त ही हो जाता है । उक्त श्लोक में—'कपिर्वै नारिकेलेन आचार्य' की जगह ''कपेर्वै नारिकेलेन तथा—'आचार्यः' के बदले आचार्यस्य'' पाठ अधिक स्पष्ट है ॥ ३७६ ॥

इसके बाद—

हे देवि ! बिन्दु का भेदन कर अर्धचन्द्र का भेदन करना चाहिये । अर्धचन्द का भेदन करने वाले (योगी) के ललाट में झिम् झिम् शब्द होता है ॥ ३७७ ॥

अर्धचन्द्र ग्रन्थि का भेदन करने वाले को उस स्थान में अर्धचन्द्र नामक मन्त्रावयव 'झिम' 'झिम' जैसा शब्द होता है ॥ इस प्रकार आगे भी योजना कर लेनी चाहिये ॥ ३७७ ॥

इसके बाद—

अर्धचन्द्र का भेदन कर रोधिनी का भेदन करना चाहिये । उसका भेदन करने पर 'सिम्' 'सिम्' शब्द का अनुभव होता है ॥ ३७८ ॥

बिन्दु आदि में पूर्व की भाँति कलाव्याप्ति को बतलाते हैं—

हे देवि ! ये तीनों स्थान (= बिन्दु अर्धचन्द्र और रोधिनी) पाँच-पाँच कलाओं से युक्त हैं ॥ ३७९- ॥

'निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।' (१०।१२१७)

इत्युपक्रम्य

'एतस्य वामदिग्भागे शान्त्यतीता ।' (१०।१२१८)

इति कलापञ्चकं वक्ष्यति । एवमर्धचन्द्रस्य

'ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती कान्तिः सुप्रभा विमला शिवा ॥' (१०।१२२०)

इति, निरोधिन्या अपि—

'रुन्धनी रोधिनी रौद्री ज्ञानबोधा तमोपहा ।' (१०।१२२१)

इति कलापञ्चकम् । स्थानत्रयमिति वर्गीकरणमाद्यग्रन्थिभेदादेवापरग्रन्थिभेद इत्याशयात् । एवमुत्तरत्र ॥

तदित्थम्—

प्राणस्य चरतस्तत्र यस्मिन् स्थाने स तिष्ठति ॥ ३७९ ॥
तत्तद्रूपो भवेदात्मा तां तां गतिमवाप्नुयात् ।

तत्रेति तेषु त्रिषु ईश्वरतत्त्वाधिष्ठितेषु स्थानेषु चरतः, प्राणस्येति चरन्तं

उनमें बिन्दु की—

'निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ता ।' (१०।१२१७)

ऐसा प्रारम्भ कर—

'इसके वाम दिग्भाग में शान्त्यतीता' (कला है) । (१०।१२१८)

इस प्रकार पाँच कलाओं को बतलायेंगे । इसी प्रकार अर्धचन्द्र की—

ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावती, कान्ति, सुप्रभा और शिवप्रद विमला (कलायें हैं) । (१०।१२२०)

रोधिनी की भी—

'रुन्धनी, रोधिनी, रौद्री, ज्ञानबोधा और तमोऽपहा (कलायें हैं) ।'

इस प्रकार ये पाँच कलायें वाले हैं । तीन स्थान इस वर्गीकरण का आशय यह है कि आद्य ग्रन्थि के भेद से ही अपर ग्रन्थि का भेद हो जाता है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये ॥

तो इस प्रकार—

वहाँ (= तीनों स्थानों में) सञ्चरण करने वाला प्राण जिस स्थान में स्थित होता है आत्मा भी उसी स्थान के रूप वाला होकर उस-उस गति को प्राप्त करता है ॥ -३७९-३८०- ॥

प्राणमनादृत्य संवित्प्रधानतया प्राणभूमिकां गुणीकृत्य यस्मिन् यस्मिन् स्थाने स योग्यात्मा तिष्ठति, तत्तद्रूपतामनुभूय तत्तन्मयत्वमाप्नोतीत्यर्थः ॥

अथ—

निरोधिनीं भेदयित्वा ततो नादं व्रजेद् बुधः॥ ३८० ॥
वंशशब्दसमः शब्दस्तत्र सूक्ष्मः प्रजायते ।

सूक्ष्मत्वं पूर्वापेक्षमीश्वरतत्त्वम् ॥

ततोऽपि—

भेदयेन्नादसंस्थानं ब्रह्मरन्ध्रं सुदुर्भिदम् ॥ ३८१ ॥
भिद्यतो ब्रह्मरन्ध्रस्य शब्दः शुमशुमायते ।

नादस्य सम्यक् स्थानं विश्रान्तिर्यत्र तन्नादसंस्थानं ब्रह्मरन्ध्रं सुदुर्भिदं नादान्तपदं तदेव च ब्रह्मरन्ध्रमूर्ध्वकवाटछिद्रं सुदुर्भिदं सातिशयावधानैरेव भेत्तुं शक्यम् ॥

एवं नादनादान्तस्थानं सदाशिवाधिष्ठितं भित्त्वा—

वहाँ = ईश्वरतत्त्व से अधिष्ठित उन तीनों (= बिन्दु अर्धचन्द्र और रोधिनी) स्थानों में सञ्चरण करने वाले प्राण का । उस योगी की आत्मा सञ्चरण करने वाले प्राण को गौण बना कर संवित् को प्रधान रूप में स्वीकार करती हुई जिस-जिस स्थान में ठहरती है, उस उस स्थान के रूप में अपने को अनुभव करती हुई उसी-उसी रूप वाली हो जाती है ॥

इसके बाद—

रोधिनी का भेदन कर विद्वान् नाद भूमि में पहुँचता है । वहाँ बांसुरी के शब्द के समान सूक्ष्म शब्द उत्पन्न होता है ॥ -३८०-३८१- ॥

सूक्ष्मता का अर्थ है—पहले की अपेक्षा सूक्ष्म ईश्वर तत्त्व ॥

इसके बाद (योगी)—

कठिनाई से भेदन करने योग्य, नाद के विश्रान्तिस्थान ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करता है । ब्रह्मरन्ध्र का भेदन करने वाले को 'शुम' 'शुम' जैसा शब्द सुनायी देता है ॥ -३८१-३८२- ॥

जहाँ नाद का पूर्णरूपेण स्थान = विश्रान्ति हो वह नादसंस्थान कहलाता है अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र । यह दुर्भेद्य है । इसे नादान्त भी कहते हैं । यह ब्रह्मरन्ध्र ऊर्ध्व-कवाटछिद्र (= इसके ऊपर कपाट में छिद्र) है । यह सुदुर्भिद है = अत्यन्त सावधान लोगों के ही द्वारा इसका भेदन किया जा सकता है ॥

शक्तिमध्यगतः प्राणो वंशनादान्तसंनिभः ॥ ३८२ ॥

शक्तिभेदस्पर्शाद्वंशनादान्ततुल्यो भवति, न तु शक्तिस्थानभेदाद्, वंशनादस्य मधुरध्वनिरूपस्यान्तोऽनुरणनरूपः सूक्ष्मस्तत्तुल्यो भवति ॥ ३८२ ॥

अथ—

तां वै तु भेदयेच्छक्तिं दुर्भेद्यां सर्वयोगिनाम् ।
भिद्यते च यदा शक्तिः शान्तः शुमशुमस्ततः॥ ३८३ ॥

दुर्भेदत्वं चास्याः, तदनुभवाह्लादस्य स्पृहणीयतमत्वेन त्यक्तुमशक्यत्वात् । 'शान्त' इति प्रवृत्तिस्थानकरणाभिघातादेव शब्दवृत्तिः शाम्यति, इह तु शमित्वा आनन्दस्पर्शात्मतामेतीत्यर्थः ॥ ३८३ ॥

किं च—

शक्तिं भित्वा ततो देवि यच्छेषं व्यापिनी भवेत् ।
अनुभावो भवेत्तत्र स्पर्शो यद्वत् पिपीलिका ॥ ३८४ ॥

शक्तिभेदानन्तरं यन्मन्त्रावयवरूपं वस्तु शेषमिति शिष्यमाणं तद् व्यापिनी

इस प्रकार शिव के द्वारा अधिष्ठित नादनादान्त स्थान का भेदन कर—

जब प्राण शक्ति के मध्य चला जाता है तब वंशी के नादान्त के समान ध्वनि का अनुभव होता है ॥ -३८२ ॥

शक्तिभेद के स्पर्श से न कि शक्तिस्थान के भेद से यह प्राण वंशी के नादान्त के तुल्य हो जाता है । यह नहीं समझना चाहिये कि यह नादान्त वंशी के नाद के अन्त में होने वाले अनुरणन जैसा होता है ॥ ३८२ ॥

इसके बाद—

समस्त योगियों के लिये दुर्भेद्य उस शक्ति का भेदन करे । जब शक्ति का भेदन होता है तब शान्त 'शुम' 'शुम' शब्द होता है ॥ ३८३ ॥

इसको दुर्भेद्य इसलिये कहा गया क्योंकि उसके अनुभव का आनन्द सर्वाधिक स्पृहणीय होने के कारण सरलतया त्याज्य नहीं होता । 'शान्त' कहने का तात्पर्य है कि प्रवृत्ति स्थान करण के अभिघात से शब्द की वृत्ति शान्त हो जाती है । किन्तु यहाँ शान्त होने के बाद आनन्द का स्पर्श होता है ॥ ३८३ ॥

तथा—

हे देवि ! शक्ति का भेदन करने के बाद जो शेष बचता है वह व्यापिनी है । वहाँ पर (शरीर पर) चींटी के सञ्चरण जैसा स्पर्श का अनुभव होता है ॥ ३८४ ॥

भवेत्, शक्त्यन्तसर्वाध्वव्यापनाद् व्यापिन्याख्यो मन्त्रावयवः सः । 'तच्छेषे व्यापिनी भवेत्' इति तु स्पष्टः पाठः । तत्र चानुभवः प्रशान्तशब्दव्याप्तिकत्वात् स्पर्शप्रथारूपः । यद्वत् पिपीलिकेति सञ्चरन्तीनां पिपीलिकानामिवेत्यर्थः । पिपीलिका इत्यत्र नांशब्दस्य लोप ऐश्वरः ॥ ३८४ ॥

अत्रापि कलाविभागमाह—

स्थानत्रयमिदं देवि पञ्चपञ्चकलान्वितम् ।

तत्र नादस्थाने श्रीसदाशिवाधिष्ठिते

'इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिका तथा ।
ऊर्ध्वगा' (१०।१२२६)

इति वक्ष्यमाणाः पञ्च कलाः, शक्तितत्त्वे व्यापिनीपदे च श्रीशिवनाथाधिष्ठिते क्रमेण—

'सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च तथा चैवामृतामिता ।
व्यापिनी' (१०।२१४२)

इति पञ्च कलाः,

'व्यापिनी व्योमरूपा चानन्तानाथा त्वनाश्रिता ।' (१०।१२५२)

शक्तिभेद के बाद मन्त्रावयव रूप जो वस्तु शेष रहती है वह व्यापिनी होती है । समस्त अध्वा शक्तिपर्यन्त व्याप्त रहता है इसलिये मन्त्र का वह अवयव व्यापिनी कहलाता है । ('यच्छेषं व्यापिनी भवेत्' की जगह) 'तच्छेषे व्यापिनी भवेत्' पाठ अधिक स्पष्ट है । वहाँ पर शब्द की व्याप्ति प्रशान्त होने से स्पर्श के विस्तार का अनुभव होता है । यह स्पर्श रेंगने वाली चींटी के समान होता है । उक्त श्लोक में 'पिपीलिकानां' की जगह जो 'पिपीलिका' पाठ है वहाँ 'नां' का लोप ऐश्वर है ॥ ३८४ ॥

यहाँ भी कलाओं का विभाग कहते हैं—

हे देवि ! ये तीन स्थान पाँच-पाँच कलाओं से युक्त हैं ॥ ३८४- ॥

श्री सदाशिव के द्वारा अधिष्ठित उस नाद स्थान में—

'इन्धिका, दीपिका, रोचिका, मोचिका और ऊर्ध्वगा ।' (१०।१२२६)

ये पाँच कलायें हैं । इनका वर्णन आगे किया जायेगा । श्री शिवनाथ (= सदाशिव) के द्वारा अधिष्ठित शक्तितत्त्व और व्यापिनी पद में क्रमशः—

'सूक्ष्मा, सुसूक्ष्मा, अमृता, अमिता और व्यापिनी ।' (१०।२१४२)

ये पाँच तथा—

'व्यापिनी, व्योमरूपा, अनन्ता, अनाथा और अनाश्रिता ।' (१०।१२५२)

इति पञ्चैताश्च सर्वाः स्वावसरे निर्वक्ष्यामः ।

यत एवं ततः—

यत्र यत्र चरेत् प्राणस्तत्तद्रूपमवाप्नुयात् ॥ ३८५ ॥

प्राणो जीवस्तत्तदनुभवं प्राप्नोतीत्यर्थः ।

तदनुभवाभ्यासप्रकर्षात् तु—

यत्र यत्रावतिष्ठेत तां तां गतिमवाप्नुयात् ।

तत्तदात्मैव भवतीत्यर्थः ।

एवं च—

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।' (४।४३२)

इति वक्ष्यमाणमेतत्सर्वम्—

तस्माद्वै सुप्रयत्नेन भित्वा याति परां गतिम् ॥ ३८६ ॥

शोभनः प्रयत्नो दिव्यकरणधाराधिरोहरूपः ॥ ३८६ ॥

ये पाँच कलायें हैं । इन सब का वर्णन इनके अवसर पर करेंगे ॥

चूँकि ऐसा है इसलिये—

जिस-जिस स्थान में प्राण सञ्चरण करता है उस-उस रूप का हो जाता है ॥ -३८५ ॥

प्राण = जीव । यह (उस रूप का हो जाता है—) तत्तत् अनुभव को प्राप्त करता है ॥

उस अनुभव के प्रबल अभ्यास से—

जहाँ-जहाँ (प्राण या योगी) ठहरता है उस-उस गति को प्राप्त करता है ॥ ३८६- ॥

अर्थात् उसी-उसी रूप का हो जाता है ॥

इस प्रकार—

'हे वरारोहे ! यह अनन्त पाशजाल समना तक ही है ।' (४।४३२)

इसके द्वारा वक्ष्यमाण इस सब (पाशजाल) का—

प्रयत्नपूर्वक भेदन कर योगी परमगति को प्राप्त करता है ॥ -३८६ ॥

सुप्रयत्न का अर्थ है—शोभन प्रयत्न और वह दिव्यकरण धारा पर चढ़ने की बात है ॥ ३८६ ॥

अत्र क्रममाह—

भित्वा वै व्यापिनीं देवि समनायां मनस्त्यजेत् ।
मनसा तु मनस्त्यक्त्वा जीवः केवलतां व्रजेत् ॥ ३८७ ॥

मन इत्यविकल्पं चेतः । मनसेति स्पर्शपर्यन्तस्य मन्तव्यस्य क्षीणत्वात्, अविकल्पमननमात्ररूपेण चित्तेनैव तादृशमेव च मन एकाग्रताप्रकर्षात् त्यक्त्वा वेद्याभासजिघृक्षासङ्कोचरूपं स्वं वेदनं प्रशमय्य जीव आत्मा केवलत्वमेति शुद्धो वेदितृमात्ररूपो भवतीत्यर्थः ॥ ३८७ ॥

एवं 'भेदनं च पदार्थानां भावप्राप्तिवशात्' इत्युपक्रान्तं निर्वाह्य क्रमप्राप्तामात्मव्याप्तिमाह—

जीवो वै केवलस्तत्र आत्मज्ञानक्रियान्वितः ।
बन्धनाशेषनिर्मुक्तः सत्तामात्रस्वरूपकः ॥ ३८८ ॥
समस्ताध्वपदातीतः शुद्धविज्ञानकेवलः ।
गृह्णाति नापरं भावं न परं च शिवात्मकम् ॥ ३८९ ॥
परापरविनिर्मुक्तः स्वात्मन्यात्मा व्यवस्थितः ।

यो जीवः प्राणनात्मा, स तत्र समनोर्ध्वे यतः समस्तमध्वपदमतीतोऽत

यहाँ पर क्रम को बतलाते हैं—

हे देवि ! व्यापिनी का भेदन कर समना में पहुँचने के बाद मन का परित्याग कर देना चाहिये । मन के द्वारा मन को त्याग कर योगी कैवल्य को प्राप्त हो जाता है ॥ ३८७ ॥

मन का अर्थ है—निर्विकल्पक चित्त । मन के द्वारा—मन्तव्य की सीमा स्पर्शपर्यन्त है । (उसके बाद मन्तव्य नहीं है) फलतः निर्विकल्पक मनन करने वाला चित्त उसी प्रकार के मन को प्रकृष्ट एकाग्रता के कारण छोड़ देता है अर्थात् वेद्याभास का ग्रहण करने की इच्छा के सङ्कोच रूपी अपने वेदन को शान्त कर देता है । इसके बाद जीव = आत्मा केवल = शुद्ध ज्ञातामात्र रह जाता है । (ज्ञेय और ज्ञान का तिरोभाव हो जाता है) ॥ ३८७ ॥

इस प्रकार 'पदार्थों का भेदन भावप्राप्ति के कारण होता है' इस उपक्रमप्राप्त का निर्वाह कर अब क्रमप्राप्त आत्मव्याप्ति को बतलाते हैं—

ऐसी स्थिति में जीव केवली हो कर आत्मज्ञान और क्रिया से युक्त रहता है । वह समस्त बन्धनों से मुक्त, केवल सत्ता मात्र, समस्त अध्वा से परे, शुद्ध विज्ञानकेवली होता है वह न तो अपर भाव का ग्रहण करता है और न शिवात्मक पर भाव को । पर एवं अपर भाव से रहित वह आत्मा अपने स्वरूप में स्थित रहता है ॥ ३८८-३९०- ॥

एवाशेषेण मलत्रयरूपेण बन्धेन निःशेषेण वासनापर्यन्तेन मुक्तस्ततश्च सत्तामात्रस्वरूपो भावाप्रतियोगिप्रकाशमात्रतत्त्वो य आत्मा आत्मीयाभ्यां स्वोचिताभ्यां ज्ञानक्रियाभ्याम्, न तु परमशिवसंबन्धिनीभ्यां सामरस्यावस्थितिसतत्त्वाभ्यामन्वितो व्याप्तो न तु सांख्यादिमुक्तरूपः । एष च मायोर्ध्ववर्त्याणवमलयुक्तविज्ञानकेवलवैलक्षण्यात् शुद्धो विशिष्टेन चाशेषाध्ववेद्यीकरणात्मना, न तु मायापुंविषयकरूपेण ज्ञानेन, तेनैव च केवलो न तु मन्त्रमन्त्रेश्वरवद्विज्ञेयेनापि संपृक्तः अत एवापरं शिवं सदाशिवरूपं स्वभावं न गृह्णाति, न च परं परमशिवरूपं स्वच्छस्वच्छन्दचिदानन्दघनम्, अतश्च अयं व्याख्यातपरापररूपाद् विनिर्मुक्तस्त्यक्तापररूपोऽप्यप्राप्तपरस्वभावः स्वात्मन्येव बोद्धृतामात्ररूपे व्यवस्थितः ॥

न चैवात्र संतोषः कार्य इत्युपसंहारदिशा दिशन्नन्यदवतितारयिषुराह—

आत्मव्याप्तिर्भवेदेषा शिवव्याप्तिरतः परम् ॥ ३९० ॥
बन्धनाशेषभावेन सर्वाध्वोपाधिवर्जिता ।

एषेति समनान्तस्थिता, न तु सांख्यपातञ्जलाद्युक्ता, अस्यैव त्वात्मन उन्मना-

---

जो प्राणस्वरूप जीव है वह समना के ऊर्ध्वस्तर पर समस्त अध्वा का पारगामी होकर आणव मायीय कार्म रूप तीन मलों रूपी बन्धन से पूर्णतया अर्थात् वासना पर्यन्त मुक्त हो जाता है । इस कारण वह सत्ता मात्र शेष रह जाता है । भाव का अप्रतियोगी प्रकाशमात्र वह आत्मा आत्मीय = अपने लिये उचित ज्ञान क्रिया से भी रहित होता है । उस समय वह परमशिवसम्बन्धिनी सामरस्य की स्थिति वाली ज्ञान क्रिया से भी युक्त नहीं रहता और न सांख्य के मुक्त पुरुष की भाँति केवली रहता है । यह माया के ऊर्ध्ववर्त्ती आणवमलयुक्त विज्ञानकेवली से विलक्षण होने के कारण शुद्ध होता है । वह मायापुरुषविषयक ज्ञान से विशिष्ट नहीं रहता बल्कि समस्त अध्वा के ज्ञान से विशिष्ट रहता है । इसीलिये वह केवल होता है न कि मन्त्र, मन्त्रेश्वर की भाँति विज्ञेय से संपृक्त होता है । इस कारण वह न तो अपर शिव = सदाशिव के रूप को ग्रहण करता और न पर = परमशिव रूप स्वच्छ स्वच्छन्द चिदानन्दघन रूप का ही ग्रहण करता है। इस प्रकार व्याख्यात परापररूप से विनिर्मुक्त अपर रूप का त्याग करने पर भी परस्वभाव को न प्राप्त हो कर अपने में ही बोद्धामात्र रूप में स्थित रहता है ॥

(योगी को) यहीं पर सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये, इसलिये इसका उपसंहार करते हुए अन्य प्रकरण की अवतरणा करने की इच्छा से कहते हैं—

(समना भूमि तक) यह आत्मव्याप्ति होती है । इसके बाद परव्याप्ति होती है । यह समस्त बन्धनों का शेष एवं समस्त उपाधि से रहित होती है ॥ -३९०-३९१- ॥

यह = समना भूमि तक स्थित, न कि सांख्य पातञ्जल आदि शास्त्रों में कही

पदारोहेण चिदानन्दघनपरतत्त्वव्याप्तिरूपा शिवव्याप्तिर्यतः सा बन्धनानामाणवादीनां मलानामशेषभावेन ।

'समनावधिपर्यन्तः कलङ्काधार उच्यते' (७।२२९)

इति भाविनीत्या समनान्तेन प्रसरेण ये पूर्वोक्ता सर्वेऽध्वरूपा उपाधयोऽवच्छेदकास्तैर्विशेषेण समस्तबन्धनप्रशमसंस्कारात्मनापि वर्जिता, शुद्धविज्ञानकेवलतायां समनान्तसमस्तबन्धनप्रशमेऽपि तन्निवृत्तिसंस्कारभावेनावच्छेदकत्वात् सोपाधित्वम्, परमशिवता तु विश्वोत्तीर्णविश्वमयस्वतन्त्रचिदानन्दघनानवच्छिदैव ॥

यत ईदृशी शिवव्याप्तिस्ततः—

अविदित्वा परं तत्त्वं शिवत्वं कल्पितं तु यैः ॥ ३९१ ॥
त आत्मोपासकाः शैवे न गच्छन्ति परं शिवम् ।

यैरिति शैवपाशुपतलाकुलादिभिर्नानात्मवादिभिः शिवत्वं कल्पितमात्मनां व्यापकत्वनित्यत्वामूर्तत्वचित्त्वस्रष्टृत्वाद्यनन्तधर्मसाम्येन शिवैकरूपाणामपि केनचित्कल्पनामात्रेण निर्युक्तिकेन भिन्नशिवरूपत्वमुच्यते, ते सर्वे व्याख्यातव्याप्ति-

गयी भूमि तक । इसी आत्मा के उन्मना पद पर आरोहण के द्वारा चिदानन्दघन पर तत्त्व की व्याप्तिरूपा शिवव्याप्ति होती है । क्योंकि वह बन्धनों = आणव आदि मलों, के अशेष भाव (= पूर्ण रूप) से वर्जित होती है ।

'कलङ्क (= मल) का आधार समनापर्यन्त रहता है ।' (७।२२९)

आगे वर्णन किये जाने वाले उक्त नियम के अनुसार समनापर्यन्त प्रसरण के द्वारा पूर्वोक्त जो अध्वा रूप उपाधियाँ अर्थात् अवच्छेदक (= सङ्कोचक) उनसे, विशिष्टरूप से = समस्तबन्धनप्रशमसंस्कार से भी रहित होती है । शुद्ध विज्ञानकेवली अवस्था में यद्यपि समना पर्यन्त समस्तबन्धन तो नहीं रहते किन्तु उनकी निवृत्ति का संस्कार अवच्छेदक के रूप में (शेष) रहता है । इसलिये वह अवस्था सोपाधिक होती है । किन्तु परमशिवता विश्वोत्तीर्ण विश्वमय स्वतन्त्र चिदानन्दघन और अनवच्छिन्न है ॥

चूँकि शिवव्याप्ति इस प्रकार की है इसलिये—

जिन साधकों ने पर तत्त्व को न जान कर किसी अन्य कारण से शिवत्व की कल्पना करली । आत्मोपासक वे इस शैवशास्त्र के अनुसार परम शिव को नहीं प्राप्त करते ॥ -३९१-३९२- ॥

जिन = शैवसिद्धान्त, पाशुपत लाकुल आदि अनेकात्मवादी लोगों के द्वारा शिवत्व की कल्पना की गयी = व्यापकतत्व नित्यत्व अमूर्तत्व चेतनत्व स्रष्टृत्व आदि अनन्त धर्मों के समान होने के कारण शिवरूप होते हुए भी युक्तिरहित किसी कल्पनामात्र से आत्माओं को भिन्न शिवरूप कहा गया, पहले व्याख्यातव्याप्ति वाली

कात्मोपासकाः शैवेऽस्मिन्नद्वयनये परं शिवं व्याख्यातस्वरूपं न गच्छन्ति न तन्मयीभवन्ति । सांख्ययोगवेदान्तवाद्यादयस्तु अपरपदस्था एवेति केन तेषामियत्पदप्राप्तिसंभावनापि । अथ च सर्व एवात्मोपासकाः शैवेन पारमेश्वराद्वयदर्शनोक्तेन ज्ञानेन परं शिवं गच्छन्तीति तन्त्रेण सप्तमी तृतीये योज्ये । उक्तं च श्रीमृत्युजिति—

'ये वदन्ति न चैवान्यं विन्दन्ति परमं शिवम् ।
त आत्मोपासकाः शैवे न गच्छन्ति परं पदम् ॥'
(ने०तं० ८।३०) इति ।

अत्र हि परमशिवमन्यं वदन्ति, केवलं न चैव विन्दन्ति, न पुनः केनापि प्रमाणेन लभन्ते, साधयितुं शक्नुवन्तीत्यर्थः ॥

ते तु सर्वे—

आत्मतत्त्वगतिं यान्ति आत्मतत्त्वानुरञ्जिताः ॥ ३९२ ॥

आत्मतत्त्वरूपतायां तत्त्वं परमशिवाभेदाख्यात्यात्मा सङ्कोचः, तेन येऽनुरञ्जिता-

आत्मा के उपासक वे सब शैवशास्त्र = इस शिवाद्वयशास्त्र में पर शिव—जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है, उस शिवस्वरूप को प्राप्त नहीं होते = शिवस्वरूप या शिवमय नहीं होते । जहाँ तक सांख्य योग वेदान्त मतावलम्बियों की बात है तो वे तो बहुत नीचे हैं इसलिये उनमें से किसी के भी द्वारा परपद की प्राप्ति की सम्भावना नहीं है । 'शैवे न' की व्याख्या तन्त्र[1] के द्वारा ऐसी की जाय कि सभी आत्मोपासक 'शैवेन' = पारमेश्वर अद्वय दर्शन में उक्त ज्ञान के द्वारा, पर शिव को प्राप्त होते हैं- ऐसी भी व्याख्या सप्तमी तृतीया विभक्ति की योजना कर की जा सकती है । मृत्युजित् तन्त्र (मृत्युञ्जयभट्टारक) में कहा भी गया है—

'जो लोग अन्य किसी तत्त्व को परम शिव बतलाते हैं वे परमशिव को कभी भी प्राप्त नहीं करते । आत्मोपासक वे शैवशास्त्र की दृष्टि से परमपद को नहीं प्राप्त करते ।' (ने०तं० ८।३०)

(इसका स्पष्टार्थ है कि—) जो लोग अन्य किसी तत्त्व को परमशिव कहते हैं वे न केवल उसको जानते ही नहीं बल्कि किसी प्रमाण से उसको प्राप्त भी नहीं करते अर्थात् उस परमेश्वर की सिद्धि नहीं कर सकते ॥

वे सब—

आत्मतत्त्व से अनुरञ्जित होकर आत्मतत्त्व की गति को प्राप्त करते हैं ॥ -३९२ ॥

आत्मतत्त्वरूपता तब होती है जब परशिवाभेद का अज्ञानरूप सङ्कोच जीव के

१. सकृदुच्चरितत्वे सति बह्वर्थबोधकत्वं तन्त्रत्वम् ।

स्तदाश्वस्ताः पाशुपताद्याः, त आत्मनो यत्तत्त्वं शुद्धविज्ञानकेवलतारूपं तद्गतिं लभन्ते, न तु तात्त्विकीं मुक्तिं भेदस्यापरित्यागादिति ॥ ३९२ ॥

मुक्तशिवसंसारं परिजिहीर्षुणा—

तस्मादात्मा परित्याज्यो यदीच्छेच्छिवमात्मनः ।

आत्मेति मुक्ताणुरूपता । शिवमिति मुक्तविकसितपरमशिवैकताम् ॥

तदित्थम्—

आत्मतत्त्वं ततस्त्याज्यं विद्यातत्त्वे नियोजयेत् ॥ ३९३ ॥

आत्मानमिति शेषः ॥ ३९३ ॥

कात्र विद्या ?—इत्याह—

उन्मना सा तु विज्ञेया..........

तां व्याचष्टे—

अन्दर होता है । इस सङ्कोच से जो अनुरञ्जित होते हैं । अर्थात् पाशुपत आदि मतों के अनुयायी उस सङ्कुचित आत्मा को ही परमशिव मानकर आश्वस्त हो जाते हैं, वे आत्मा का जो तत्त्व = शुद्धविज्ञानकेवलता, उस गति को प्राप्त करते हैं । वे वास्तविक यथार्थ मुक्ति को नहीं प्राप्त करते क्योंकि वे भेद का त्याग नहीं किये रहते ॥ ३९२ ॥

इस कारण मुक्त शिव के संसार (= संसरण = जन्म आदि का बन्धन) का त्याग करने वाले को चाहिये कि—

वह यदि अपना शिव (= शिवसमावेशरूप कल्याण) चाहता है तो आत्मा का परित्याग कर दे ॥ ३९३- ॥

आत्मा = मुक्तअणुरूपता । शिव = मुक्त विकसित परमशिव के साथ एकता, को चाहता है तो मुक्तअणुरूपता का त्याग करे ॥

तो इस प्रकार—

आत्मतत्त्व का त्याग करने के बाद (आत्मा को) विद्यातत्त्व में नियुक्त कर देना चाहिये ॥ -३९३ ॥

आत्मानम् = आत्मा को—यह जोड़ना चाहिए ॥ ३९३ ॥

'विद्या' शब्द का क्या अर्थ है—यह बतलाते हैं—

उन्मना को वह (= विद्या) समझना चाहिये ॥ ३९४- ॥

उस (= उन्मना) की व्याख्या करते हैं—

..............मनः सङ्कल्प उच्यते ।

सङ्कल्पः क्रमतो ज्ञानमुन्मनं युगपत् स्थितम् ॥ ३९४ ॥

सङ्कल्प इच्छा, सा चेशितव्यविश्वक्रमासूत्रणात्मत्वात् क्रमतो ज्ञानमित्युक्तम् । उन्मनमुत्क्रान्तमुत्कर्षं च मनः प्राप्तं यत्र तदुन्मनम् । युगपदिति विश्वस्यासूत्रणावभासननिर्माणाद्यन्तानन्तशाखाशतभिन्नस्याप्यत्र नित्योदितानन्दघनस्वातन्त्र्यशक्त्याभासात्मत्वेनावस्थानात् ॥ ३९४ ॥

यत ईदृगुन्मनं ज्ञानमेवोन्मनाशक्तिः—

तस्मात् सा तु परा विद्या..........

मायान्तावधिकात्मतत्त्वोर्ध्वस्थशुद्धविद्यादिशक्त्यन्ताध्वव्यापकाद् विद्यातत्त्वादियमन्यैव विद्या ॥

..............यस्मादन्या न विद्यते ।

ईदृशीत्यर्थाद् एतयैव अशेषविश्वक्रोडीकारात् ॥

तदाह—

मन, सङ्कल्प को कहा जाता है । सङ्कल्प क्रमतः (= क्रमिक) ज्ञान होता है । और उन्मना (क्रमरहित) एक साथ ज्ञान है ॥ -३९४ ॥

सङ्कल्प = इच्छा है । और वह इच्छा ईशितव्य विश्व का क्रमिक आसूत्रण (= प्रारम्भिक विकास) रूप होने के कारण क्रमिक ज्ञान कही गयी है । उन्मना का अर्थ है—जहाँ मन उत् = उत्क्रान्त हो जाय अर्थात् उत्कर्ष को प्राप्त हो जाय वह स्थिति । 'युगपत्' का अर्थ है—विश्व की कल्पना अवभासन[1] निर्माण से लेकर अनन्त शाखाओं से भिन्न अर्थात् अनन्त प्रकार वाले भी विश्व का इस उन्मना दशा में नित्योदित आनन्दघन स्वातन्त्र्य शक्ति के आभास के रूप में स्थित होना ॥ ३९४ ॥

चूँकि इस प्रकार का उन्मन ज्ञान ही उन्मना शक्ति है—

इस कारण वह परा विद्या है ॥ ३९५- ॥

मायापर्यन्त वर्त्तमान आत्मतत्त्व (= पुरुष) के ऊपर वर्त्तमान माया के ऊपर स्थित शुद्धविद्या से लेकर शक्ति पर्यन्त वर्त्तमान अध्वा की व्यापक विद्या तत्त्व से यह विद्या भिन्न है ॥

इस विद्या से अन्य (कुछ भी) भी नहीं है ॥ -३९५- ॥

क्योंकि इसी (उन्मना) ने समस्त विश्व को अपनी गोद में रखा है अर्थात् अपने अन्दर समाहित किये रहती है ॥

---

१. अवभासन, रक्ति, विमर्शन, बीजावस्थापन तथा विलापन ये शाक्त पञ्चकृत्य हैं । (द्रष्टव्य—प्र०ह०सू० ११)

विन्दते ह्यत्र युगपत् सार्वज्ञ्यादिगुणान् परान्॥ ३९५ ॥

परानित्यभेदरूपान् सर्वज्ञत्वादीन् यतो युगपदत्रोन्मनायां योगिवरो लभते, तत इयं परा विद्या 'विद्लृ लाभे' इति धात्वर्थानुगमात् ॥ ३९५ ॥

किं च—

वेदनानादिधर्मस्य परमात्मत्वबोधना ।
वर्जनाऽपरमात्मत्वे तस्माद्विद्येति सोच्यते ॥ ३९६ ॥

अनादिधर्मः स्वातन्त्र्यशक्त्यात्मा स्वभावः, तस्य वेदना विचारणा, आत्मनश्च यत्परमात्मत्वं शिवरूपत्वमस्ति, तस्य । बोधना अवगमहेतुः, अत एवापरमात्मत्वेऽतद्विषये इयं वर्जना संपद्यते । तस्मात् 'विद विचारणे', 'विद ज्ञाने' इति धात्वर्थानुगमादियं विद्योच्यते ॥ ३९६ ॥

एवं च

तत्रस्थो व्यञ्जयेत्तेजः परं परमकारणम् ।

वही कहते हैं—

योगी इस स्थिति में सर्वज्ञत्व आदि समस्त परम गुणों का एक साथ लाभ करता है ॥ -३९५ ॥

पर = अभेद रूप सर्वज्ञता आदि । चूँकि महायोगी इस उन्मना दशा में सर्वज्ञत्व आदि गुणों का एक साथ लाभ करता है इसलिये यह परा विद्या कही गयी है । यहाँ 'विद्या' शब्द 'विद्लृ' लाभे धातु से निष्पन्न है (विद्यते लभ्यतेऽनया इति विद्या) ॥ ३९५ ॥

तथा—

चूँकि इस उन्मना में अनादि धर्म का ज्ञान, परमात्मता का बोध और अपरमात्मतत्त्व का वर्जन होता है इसलिये यह विद्या कही जाती है ॥ ३९६ ॥

अनादिधर्म का अर्थ है—परमेश्वर का स्वातन्त्र्यशक्तिरूप स्वभाव, उसकी वेदना = विचार ('विद्' विचारणे) । और आत्मा का जो परमात्मत्व = शिवरूपता है उसकी बोधना = अवगम का कारण है (विद् ज्ञाने) । इसलिये जो परमात्म तत्त्व नहीं है अर्थात् तद्विषय नहीं है उसके विषय में यह वर्जना सम्पन्न होती है । इसलिये 'विद्' विचारणे और 'विद्' ज्ञाने इन धातुओं के अर्थ को ध्यान में रखते हुए यह (= उन्मना) विद्या कही जाती है ॥ ३९६ ॥

इस प्रकार—

उसमें स्थित हुआ योगी साधक परमकारण पर तेज को व्यक्त कर

परस्मिंस्तेजसि व्यक्ते तत्रस्थः शिवतां व्रजेत् ॥ ३९७ ॥

तत्रेति उन्मनाख्यायां विद्यायाम्, व्यञ्जयेदात्मीयमेवोन्मीलयेत् प्रत्यभिजानीयात् । तेजः चिज्ज्योतिः परमसङ्कुचितं परमकारणं परमशिवरूपम् अतश्च शिवतां व्रजेत् तदैकात्म्यमियात् ॥ ३९७ ॥

एतद् दृष्टान्तेनोपपादयति—

सुप्रदीप्ते यथा वह्नौ शिखा दृश्येत चाम्बरे ।
देहप्राणस्थितो ह्यात्मा तद्वल्लीयेत तत्पदे ॥ ३९८ ॥

देहमन्त्रप्राणात्मशिवपदानामौचित्यात् काष्ठारणिवह्नितच्छिखाम्बराणि दृष्टान्तः । तेनारणिमन्थनयुक्त्या सुप्रदीप्ते प्रज्वलिते वह्नौ सति यथा शिखा ज्वाला दाह्यं दग्ध्वाम्बरे दृश्यते, तत्र लयात् तदात्मभावं प्राप्तावलोक्यते, तद्वद्दिव्यकरणमन्त्रारणिसमुत्तेजनेन देहे यः, प्राणस्तस्मिन् सुप्रदीप्ते मध्योर्ध्वबाह्यदावाग्नितामायाति, देहे स्थितो य आत्मा प्रोक्तशुद्धविज्ञानकेवलरूपो वह्निशिखातुल्यः समनान्तं समस्तं देहदारुं दग्ध्वा तस्मिन् पदे लीयते निरुपाधिपरमशिवैकात्म्यमेत्येवेत्यर्थः ॥ ३९८ ॥

लेता है और पर तेज के व्यक्त होने पर उसमें स्थित होकर शिवस्वरूप हो जाता है ॥ ३९७ ॥

उसमें = उन्मना नामक विद्या में, व्यक्त करता है = अपने ही तेज का उन्मीलन करता है अर्थात् प्रत्यभिज्ञान करता है । तेज का अर्थ है—चिद् ज्योति । पर = असङ्कुचित । परमकारण = परम शिव । इसके फलस्वरूप शिव हो जाता है = शिव के साथ एकात्म हो जाता है ॥ ३९७ ॥

इसको दृष्टान्त के द्वारा समझते हैं—

जिस प्रकार अग्नि जब अच्छी तरह दीप्त हो जाती है तब उसकी शिखा आकाश में दिखायी पड़ती है उसी प्रकार देह एवं प्राण में स्थित आत्मा उस पद में लीन हो जाता है ॥ ३९८ ॥

औचित्य के कारण देह मन्त्र प्राण आत्मा और शिव पदों की तुलना क्रमशः काष्ठ, अरणि, अग्नि, उसकी शिखा और आकाश से की गयी है । इस प्रकार अरणिमन्थन के द्वारा अग्नि जब प्रज्वलित हो जाती है तो जैसे शिखा = ज्वाला दाह्य को जला कर आकाश में दिखलायी देती है अर्थात् उस आकाश में लीन होने से आकाशरूपता को प्राप्त दिखलायी पड़ती है उसी प्रकार दिव्यकरण और मन्त्र रूपी अरणि के समुत्तेजन से देहस्थ प्राण के सुप्रदीप्त होने पर वह शरीर में मध्य नाडी में ऊर्ध्ववाही होता हुआ बाह्य दावाग्निरूपता को प्राप्त हो जाता है (अर्थात् अन्दर के विषयों का दाह करने के साथ यह प्राण बाह्य जगत् का भी संहार कर देता है) । देह में स्थित जो आत्मा है जिसका स्वरूप उपर्युक्त शुद्ध विज्ञानकेवली है, वह्निशिखा

इत्थमुक्तयुक्त्या परतत्त्वलीने—

तद्वदेवाभिमानस्तु कर्तव्यो दैशिकोत्तमैः ।

तद्वत् परमपदवदभिमानः पूर्णाहंविमर्शः कर्तव्यः स्वीकार्यः न तु पाशवे शरीराद्यहंभावे वर्तितव्यमेतदर्थमेवोत्तमपदम् ॥

तमभिमानं स्फुटयति—

अहमेव परो हंसः शिवः परमकारणम् ॥ ३९९ ॥

एतत् पूर्वव्याख्याभिर्गतार्थम् ॥ ३९९ ॥

अतश्च—

मत्प्राणे स तु पश्वात्मा लीनः समरसीगतः ।

एवंविधस्य मम प्राणे प्रोक्तषडध्वव्याप्तिमये ॥

तं पूर्वोक्तयुक्त्या समरसीकृतम्—

मन्त्रकरणक्रियायोगाद्योजयामि परे शिवे ॥ ४०० ॥

तुल्य वह समनापर्यन्त समस्त देह रूपी काष्ठ को जला कर उस पद में लीन हो ज़ाता है अर्थात् निरुपाधि परमेश्वर के साथ एकात्म हो जाता है ॥ ३९८ ॥

इस प्रकार उक्त युक्ति से परतत्त्व में लीन होने पर—

आचार्यप्रवर को चाहिये कि वह उसी तरह का अभिमान करे ॥ ३९९- ॥

उसी तरह का = परमपद के समान, अभिमान = पूर्ण अहं विमर्श, करे = स्वीकार करे, न कि पाशव शरीर आदि को 'अहम्' अर्थात् आत्मा माने । इसी दृष्टि से उक्त श्लोक में 'उत्तम' पद कहा गया है ॥

उस अभिमान को स्पष्ट करते हैं—

'मैं ही परम हंस शिव और परम कारण हूँ' (ऐसा अभिमान करना चाहिये) ॥ -३९९ ॥

यह सब पूर्व व्याख्या से समझा जा सकता है ॥ ३९९ ॥

इसलिये—

वह पश्वात्मा (= शिष्य) मेरे प्राण में लीन होकर समरस हो गया ॥ ४००- ॥

इस प्रकार के मेरे प्राण में = उक्त षडध्वव्याप्ति वाले प्राण में ॥

पूर्वोक्त युक्ति के द्वारा समरस किये गये उस—

मन्त्रो निष्कलः, करणं दिव्यम्, क्रियायोगो द्वाररोधोर्ध्ववाहाधरपदत्यागग्रन्थि-भेदनाद्यात्मा ॥ ४०० ॥

न चैतद्वचनमात्रेण घटते, अपि तु—

एवं यो वेत्ति तत्त्वेन अग्निवद् देहमध्यतः ।
यद्वद्वह्निशिखातीता तद्वद्योजयते परे ॥ ४०१ ॥

तत्त्वेनानुभवरूढ्या य एवमिति शिवाभेदं वेत्ति, स इन्धनकल्पस्य देहस्य मध्येऽग्निवत् पाशानुत्प्लोषयति, दीप्तभा(स्स्व)ज्योतिर्मात्ररूपतया स्थितः शिष्यात्मानं परे शिवे योजयते, तदैकात्म्यमासादयति । कथम् ? वह्निशिखा अतिशयेन इता व्योम्नि लीना तदैक्यमाप्ता यद्वत् (तद्वत्) ॥ ४०१ ॥

अतश्च—

तस्मिन् युक्तः परे तत्त्वे सार्वज्ञ्यादिगुणान्वितः ।
शिव एको भवेद् देवि अविभागेन सर्वतः॥ ४०२ ॥

(शिष्यात्मा) को मन्त्र करण क्रियायोग के द्वारा परम शिव से युक्त करता हूँ' (आचार्य ऐसी भावना करे) ॥ -४०० ॥

मन्त्र = निष्कल । करण = दिव्य । क्रियायोग = द्वाररोध प्राण का ऊर्ध्ववाह, अधरपद का त्याग, ग्रन्थिभेदन आदि ॥ ४०० ॥

यह केवल कथनमात्र से नहीं होता किन्तु—

जो इस प्रकार तत्त्वतः जानता है वह देह के मध्यस्थ अग्नि के समान होता है जिस प्रकार अग्नि की शिखा अतीत (= अत्यन्त लीन) होती है उसी प्रकार (यह आचार्य शिष्यात्मा को) परतत्त्व से जोड़ देता है ॥४०१॥

जो इस प्रकार तत्त्व से = अनुभवात्मक रूढि के द्वारा, शिवाभेद को जानता है वह ईंधन के सदृश देह के मध्य में अग्नि के समान पाशों को जला देता है । दीप्त तेजोमयी अपनी ज्योति के रूप में स्थित वह आचार्य शिष्य की आत्मा को परमशिव के साथ जोड़ देता है अर्थात् उसके साथ एकात्म बना देता है । किस प्रकार?—(उत्तर देते हैं—) जैसे कि अग्नि शिखा अतीत = अतिशय रूप से, इत = आकाश में लीन अर्थात् आकाश के साथ एकता को प्राप्त होती है (उस प्रकार) ॥ ४०१ ॥

इसलिये—

हे देवि ! उस पर तत्त्व में युक्त शिष्यात्मा सर्वज्ञता[1] आदि छः गुणों

---

१. 'सर्वज्ञता तृप्तिरनादिबोधः स्वतन्त्रता नित्यमलुप्तशक्तिः ।
अनन्तशक्तिश्च विभोर्विधिज्ञा आहुः षडङ्गानि महेश्वरस्य ॥'

युक्त इति योग ऐक्यम् । यथोक्तम्—

'योगमेकत्वमिच्छन्ति' (मा०वि० ४।४) इति ।

एक इत्यविभागेन, सर्वत इत्यनेन चाभिन्नशिववादस्य वास्तवत्वं ध्वनति। सर्वज्ञत्वादिकमिहाभेदसारं मन्तव्यम्, न तु मन्त्रादिवद्भेदविषयम् ॥ ४०२ ॥

भावित्रितत्त्वदीक्षायां

'ज्ञात्वा तत्त्वे नियोजयेत् ।' (४।४०४)

इति यद्वक्ष्यति, तत्राप्येतदेव मन्तव्यमित्याह—

तत्त्वत्रयं परं ख्यातमपरं चाध्वमध्यगम् ।
भेदनं तु पदार्थानां त्यागानुभवयोजनम् ॥ ४०३ ॥
पूर्वोक्तं च इदं सर्वं ज्ञात्वा तत्त्वे नियोजयेत् ।

परं शुद्धात्मोन्मनापरशिवरूपं यत्तत्त्वत्रयं प्रकाशितम्, यच्चापरं स्थूलम् अध्वमध्यगमिति पञ्चमपटलभावितत्त्वभुवनाध्वदीक्षामध्ये मायासदाशिवशिवान्तव्याप्त्या आत्मविद्याशिवाख्यं तत्त्वत्रयं पूर्वं प्रायश्चित्तशुद्धावपि निर्णीतमेतत् त्रितत्त्वदीक्षायां

से युक्त होकर सब प्रकार से अविभक्त होता हुआ एक मात्र शिव हो जाता है ॥ ४०२ ॥

युक्त = योग = एकता । जैसा कि कहा गया—

(आचार्य लोग) 'योग' का अर्थ एकता मानते हैं ।' (मा०वि०तं० ४।४)

एक = विभागहीन । 'सर्वतः' इस कथन से (परमेश्वर) अभिन्न शिववाद की वास्तविकता को ध्वनित करते हैं । यहाँ सर्वज्ञता आदि अभेद को बतलाती है न कि मन्त्र आदि की भाँति भेद को ॥ ४०२ ॥

आगे वर्णन की जाने वाली त्रितत्त्वदीक्षा में जो कहेंगे कि—

'जान कर परतत्त्व में नियोजित करे ।' (४।४०४)

वहाँ भी यही समझना चाहिये—यह कहते हैं—

तीन तत्त्व 'पर' कहे गये हैं, अध्वा के मध्य वर्त्तमान तत्त्व 'अपर' हैं आचार्य पदार्थों का पूर्वोक्त भेदन त्याग अनुभव योजन यह सब जान कर (शिष्यात्मा को) पर तत्त्व में नियोजित करे ॥ ४०३-४०४- ॥

पर = शुद्ध आत्मा, उन्मना और पर शिव रूप जो तीन तत्त्व बतलाये गये, और जो अपर = स्थूल, अर्थात् अध्वाओं का मध्यवर्त्ती है, पञ्चम पटल में वर्णयिष्यमाण तत्त्वाध्वा भुवनाध्वा की दीक्षा के मध्य में माया सदाशिव शिव तक व्याप्ति के द्वारा आत्मा विद्या और शिव नामक तीन तत्त्व हैं इनका वर्णन पहले

प्रधानरूपम्, तथा पूर्वोक्तं भेदनादि चकाराच्चारं प्रमाणादिकं च ज्ञात्वा एतज्ज्ञान-प्राधान्येनैव तत्त्वे परस्मिन् योजयेत् शिष्यमित्यर्थः । एतच्च दीक्षान्तरविषय-मपीति मन्तव्यम् ॥ ४०३ ॥

अथेह परतत्त्वस्वरूपं निश्चिन्वन् भाविचतुर्भेदतत्त्वदीक्षामध्येऽसंगृहीतामप्येक-कतत्त्वदीक्षां प्रसङ्गेन सूचयितुमाह—

संक्षेपेण तु तत्त्वस्य व्याप्तिं शृणु सुरेश्वरि ॥ ४०४ ॥

सुराणां ब्रह्मादिशिवान्तानां कारणानामीश्वरि परस्वातन्त्र्यशक्तिरूपे ॥ ४०४ ॥

विद्यातत्त्वास्पदं बद्ध्वा विन्दुतत्त्वासने स्थितः ।
नादशक्तितनुश्चैव व्यापिनीकरणान्वितः ॥ ४०५ ॥

विद्यातत्त्वे शुद्धविद्यायां प्रोक्तकरणावष्टम्भलध्यमध्यविकासेनास्पदमवस्थितिं बद्ध्वा, अथ च विद्याया मातृकायास्तत्त्वे मूलमन्त्रे वा स्थितिं बद्ध्वा, तदुच्चारा-वहितो भूत्वा मान्त्रे बिन्दुतत्त्वेऽभिन्नवेद्यज्योतीरूपेऽशेषविश्वविश्रान्तिस्थानत्वादासने स्थितोऽधिरूढः, नादो विमर्शमात्ररूपो ह्लादानुभवात्मकः शक्त्यन्तस्तनुः शरीरं

प्रायश्चित्तशुद्धि के प्रकरण में किया जा चुका है, ये त्रितत्त्वदीक्षा में प्रधान हैं । वे सब तथा पूर्वोक्त भेदन आदि, तथा श्लोक में कथित 'च' से गृहीत प्राणचार और उसके प्रमाण आदि—इन सबको जान कर आचार्य इस ज्ञान की प्रधानता के द्वारा शिष्य को परतत्त्व से संयुक्त करे । यह वर्णन दीक्षान्तरविषयक भी है—ऐसा समझना चाहिये ॥ ४०३ ॥

अब परतत्त्व के स्वरूप का निश्चय करते हुए भावी चतुर्भेद तत्त्व दीक्षा के बीच असंगृहीत भी एकतत्त्वदीक्षा को प्रसङ्गात् बतलाते हैं—

हे सुरेश्वरि ! अब संक्षेप में तत्त्व की व्याप्ति सुनो ॥ -४०४ ॥

(सुरेश्वरी का अर्थ है—) ब्रह्मा से लेकर शिव पर्यन्त कारण देवताओं की ईश्वरी = पर स्वातन्त्र्यशक्तिरूपा ॥ ४०४ ॥

(आचार्य) विद्यातत्त्व में अपनी स्थिति बना कर, बिन्दु तत्त्व के आसन पर बैठ जाय । नादशक्तिशरीर वाला तथा व्यापिनी रूपी करण से युक्त हो कर (शिष्य को परतत्त्व में नियोजित करे) ॥ ४०५ ॥

(आचार्य में विद्यातत्त्व) = शुद्धविद्या में, पूर्वोक्त करण की सहायता से प्राप्त मध्यविकास के द्वारा अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने के पश्चात् विद्या = मातृका के तत्त्व अथवा मूलमन्त्र में स्थित होकर अर्थात् उस मन्त्र के उच्चार में सावधान होकर मन्त्र वाले बिन्दुतत्त्व, जो कि समस्त विश्व की विश्रान्ति का स्थान होने के कारण अभिन्नवेद्य ज्योति रूप है, के आसन पर स्थित हो जाय । उस आचार्य का शरीर नाद = विमर्शमात्रस्वरूप, आह्लाद का अनुभव स्वरूप और शक्तिरूप होता

यस्य, व्यापिनी शक्त्यन्ताध्वव्यापिका करणमान्तरमुपलब्धिसाधनं यस्य गुरोः, स सर्वं ज्ञात्वा तत्त्वे नियोजयेदिति पूर्वोक्तेन संबंधः ॥ ४०५ ॥

अस्य करणरूपा या व्यापिनी—

सर्वज्ञत्वावबोधेन समना...........

सैवेत्यर्थः ॥

..................अन्तश्चरा तु सा ।

सैवास्यान्तःकरणमित्यर्थः ॥

एवमीदृशे तत्त्वासने शरीरान्तर्बहिष्करणस्यास्य—

त्रितत्त्वं यत्परं प्रोक्तं तेन चापूरिता तनुः ॥ ४०६ ॥

परादिशक्तित्रयमयेन आत्मकल्पेनेत्यर्थः ॥ ४०६ ॥

एतच्च त्रितत्त्वं यस्मादध्वातीतं समनान्तमतिक्रम्य स्थितं तस्मात्परं तत्त्वम्, यत्तु मायासदाशिवशिवव्याप्त्या तदपरं यस्मादध्वमध्यगम्, अत एवापरेणात्मादि-

---

है। शक्तिपर्यन्त अध्वा को व्याप्त करने वाली व्यापिनी उसका आन्तर करण = उपलब्धि का साधन, होती है । वह गुरु सब का ज्ञान कर शिष्यात्मा को परतत्त्व से युक्त करे ॥ ४०५ ॥

जो व्यापिनी इस (= आचार्य) की करणरूपा है—

वही सर्वज्ञत्वावबोध के कारण समना है ॥ ४०६- ॥

अर्थात् वही वह अन्तश्चरा अर्थात् इस (शिष्य) का अन्तःकरण है ॥ -४०६- ॥

अर्थात् वही अन्तःकरण ॥

इस प्रकार के तत्त्वासन पर बैठने वाले, शरीर के भीतर और बाहर करण वाले इस आचार्य का—

शरीर उस त्रितत्त्व से आपूरित होता है जो कि पर कहा गया है ॥ -४०६ ॥

वह त्रितत्त्व परा आदि (= परापरा, अपरा) तीन शक्ति से युक्त आत्मकल्प होता है ॥ ४०६ ॥

चूँकि यह त्रितत्त्व अध्वातीत अर्थात् समनान्त का अतिक्रमण कर स्थित है इसलिये पर तत्त्व है । और जो माया सदाशिव शिव की व्याप्ति से युक्त है वह अपर तत्त्व है क्योंकि वह षडध्वा का मध्यगामी है । इसलिये अपर अर्थात् आत्मा

तत्त्वत्रयेण धरादेः शिवान्तस्यान्तःकृतत्वात् तदारब्धा—

अपरा सा तनुः स्थूला षट्त्रिंशत्तत्त्वकल्पिता ।

इयं पुनः—

तत्त्वत्रयं परं यच्च सर्वतत्त्वाध्ववर्जितम् ॥ ४०७ ॥
तेन चापूरिताशेषं सा तत्त्वाध्वपरा तनुः ।

समस्ताध्वातिक्रान्तं यत् शुद्धात्मादितत्त्वत्रयं तेनोक्तसतत्त्वेनाशेषं कृत्वा आपूरिता सर्वात्मताभासनेन व्याप्ता या प्रक्रान्ता नादशक्त्यात्मा तनुः सा तत्त्वाध्वनः सकाशात् परा प्रकृष्टा ॥ ४०७ ॥

एवमीदृक्शिवाभेदविमर्शमय एव यथार्थ आचार्यो भवतीत्याह—

एवमाचरते यस्तु आचारं तु शिवात्मकम् ॥ ४०८ ॥
शिवेन सहचारित्वादाचार्यस्तेन चोच्यते ।

आचारः प्रोक्तस्फारानुप्रवेशः सहचारित्वं तदभेदविमर्शपरमार्थम् ॥ ४०८ ॥

अस्य माहात्म्यमाह—

तस्य दर्शनसम्भाषास्पर्शनात् स्मरणादपि ॥ ४०९ ॥

आदि तीन तत्त्वों से धरा से लेकर शिव पर्यन्त को अपने अन्दर समेटने के कारण उससे आरब्ध—

वह शरीर अपर है जो कि छत्तीस तत्त्वों से बना है ॥ ४०७- ॥

(आचार्य का) यह शरीर—

तत्त्वाध्वा की अपेक्षा उत्कृष्ट है क्योंकि यह उस त्रितत्त्व से पूर्णतया आपूरित है जो कि समस्त तत्त्वाध्वा से रहित है ॥ -४०७-४०८- ॥

समस्त अध्वा का अतिक्रमण करने वाला जो शुद्ध आत्मा आदि तीन तत्त्व, उससे पूर्णरूपेण आपूरित = सर्वात्मता के आभासन से व्याप्त, जो प्रस्तुत नादशक्तिरूप शरीर वह तत्त्वाध्वा की अपेक्षा पर = प्रकृष्ट है ॥ ४०७ ॥

इस प्रकार के शिवाभेदविमर्श से युक्त व्यक्ति ही यथार्थ रूप में आचार्य होता है—यह कहते हैं—

जो व्यक्ति इस प्रकार के शिवात्मक आचार का पालन करता है शिव का सहचारी होने से वह आचार्य कहा जाता है ॥ -४०८-४०९- ॥

आचार का अर्थ है—पूर्वोक्त स्फार में अनुप्रवेश । उसका सहचारी होना अर्थात् अपने को उस परतत्त्व से अभिन्न समझना ॥ ४०८ ॥

इसके महत्त्व को बतलाते हैं—

भवत्येवैश्वरी व्याप्तिर्न भवेत्तदधोगतिः ।

यतोऽस्य करणानि प्रोक्तव्यापिनीसमनाव्याप्तिमयानि, ततस्तत्सङ्गादीश्वरस्य शिवतत्त्वस्य व्याप्तिर्भवत्येव देहान्ते, न तु शिवादधः प्रवृत्तिः कदाचिदपि । योऽपि तं यथारूपं भक्त्या पश्यति सोऽप्येवम्, तेन तस्येति कर्तरि कर्मणि च षष्ठी ॥ ४०९ ॥

यस्तु अनुत्तरशक्तिपातवशात्—

तेन संयोजितो जन्तुः............

........ब्रह्महापि शिवो भवेत् ॥ ४१० ॥

परमशिव एव ॥ ४१० ॥

तदेवं भवति—

ततस्तेन समो नास्ति जगत्यस्मिंश्चराचरे ।

तेन शिवैकात्मनाचार्येण कः समः, तस्यैकत्वात् ॥

अतश्च—

ऐसे महापुरुष के दर्शन, उनके साथ सम्भाषण, उनके स्पर्श अथवा स्मरण से मनुष्य की ऐश्वरी व्याप्ति हो जाती है । फलस्वरूप उसकी अधोगति नहीं होती ॥ -४०९-४१०- ॥

चूँकि ऐसे व्यक्ति के करण (= इन्द्रियाँ) व्यापिनी और समना से व्याप्त होते हैं इसलिये उस व्यक्ति के संसर्ग से देहान्त में शिवतत्त्व की व्याप्ति हठात् होती है । उसकी प्रवृत्ति कभी भी शिव से नीचे नहीं होती । और जो व्यक्ति उस आचार्य को भक्तिपूर्वक शिवस्वरूप देखता है वह भी वैसा हो जाता है । श्लोकस्थ 'तस्य' पद में (कर्तृकर्मणोः कृति पा०सू० २।३।६५ से) कर्त्ता और कर्म में षष्ठी है ॥ ४०९ ॥

अनुत्तरशक्तिपातवशात् जो—

जीव उनसे संयोजित होता है, ब्रह्महत्या जैसे महापाप से युक्त भी वह परम शिव हो जाता है ॥ -४१० ॥

परम शिव हो जाता है ॥ ४१० ॥

ऐसा होने पर—

इस चराचर संसार में उसके समान कोई नहीं होता ॥ ४११- ॥

शिवैकात्म्य वाले उस आचार्य के समान कौन हो सकता है क्योंकि वह तो एक अकेला है ॥

शिव आचार्यरूपेण लोकानुग्रहकारकः ॥ ४११ ॥

अनुजिघृक्षापरो हि परमशिव आचार्यदेहमास्थाय पशूनां पाशान्निकृन्तति ॥ ४११ ॥

यत एवम्—

तस्मान्न मानवीं बुद्धिं कारयेद् देशकं प्रति ।

दिशत्युपदेशमिति देशकः उपदेष्टा, तस्मिन् दौरात्म्यान्मानवीं बुद्धिं कुर्वन्तं निवर्तयेदित्यर्थः ॥

यतो येऽप्येते मायोर्ध्ववर्तिनोऽनन्तभट्टारकाद्यास्तेऽपि—

आचार्यस्य च मन्त्रस्य शिवज्ञाने शिवस्य च ॥ ४१२ ॥

नानात्वं नैव कुर्वन्ति विद्येशाश्चक्रनायकाः ।

चक्रस्य विद्याग्रामस्य नायकाः प्रभवः स्वस्वरूपज्ञापकाश्च, शिवज्ञाने पारमेशे शास्त्रे आचार्यस्योपदेष्टुर्मन्त्रस्य शिववाचिनो निष्कलादेस्तद्वाच्यस्य च शिवस्य भेदं न कुर्वन्ति, नैतद्भिन्नं पश्यन्तीत्यर्थः आचार्यादेव शिवशास्त्रमन्त्रशिवानामवगमात् । यत्र च विद्येश्वरा अप्येवमभेदं मन्यन्ते, तत्र तदनुगृहीतैः कथं भेदधीः कार्या ।

इसलिये—

शिव ही आचार्य के रूप में लोक पर अनुग्रह करते हैं ॥ -४११ ॥

अनुग्रह करने की इच्छा से युक्त परमशिव आचार्य के देह में स्थित होकर पशुओं के पाशों को काटते हैं ॥ ४११ ॥

चूँकि ऐसा है—

इसलिये देशक (= आचार्य) के विषय में—यह साधारण मनुष्य है—ऐसी धारणा नहीं करनी चाहिये ॥ ४१२- ॥

जो उपदेश देता है वह देशक अर्थात् उपदेष्टा होता है । उसके विषय में कुत्सित विचार के कारण मानवी बुद्धि करने वाले को रोकना चाहिये ॥

क्योंकि मायातत्त्व के ऊपर जो भी अनन्त भट्टारक आदि वर्त्तमान हैं वे—

चक्रनायक विद्येश्वर भी पारमेश्वरशास्त्र में आचार्य मन्त्र और शिव की अनेकता को स्वीकार नहीं करते ॥ -४१२-४१३- ॥

चक्र = विद्या के ग्राम (= समूह), के नायक = स्वामी, और अपने स्वरूप के ज्ञापक भी (विद्येश्वर आदि) शिव ज्ञान में = पारमेश्वर शास्त्र में आचार्य = उपदेशक, मन्त्र = शिव के वाचक निष्कल आदि, और उस मन्त्र के वाच्य शिव में भेद नहीं करते अर्थात् इन तीनों को भिन्न नहीं समझते क्योंकि आचार्य से ही

एवं च ये आचार्यशिवमन्त्रानैक्येन जानन्ति, ते विद्येश्वरा इति मन्त्रेश्वरस्फारमेव विशन्ति ॥ ४१२ ॥

युक्तं चैतत्, यतः—

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा वै वीरवन्दिते॥ ४१३ ॥
आचार्यत्वे नियुक्ता ये ते सर्वे तु शिवाः स्मृताः।

शिवाचार्य एव हि आचार्यो युक्तः ॥ ४१३ ॥

ये तु आचार्यमित्थं न मन्यन्ते, ते प्रत्यवायिनः—इत्याह—

अन्यथा प्राक्स्वरूपेण ये पश्यन्ति नराधमाः ॥ ४१४ ॥
नरके ते प्रपच्यन्ते सादाख्यं वत्सरत्रयम् ।

अधमत्वं गृहीतदीक्षाणामपि गुरुद्वेषेण विलयशक्त्याघ्रातत्वात् । सादाख्यवत्सरमानमेकादशे पटले भविष्यति ॥ ४१५ ॥

पातकिसङ्गतिरपि पापाय—इत्याह—

न तेन सह संभाषा कर्तव्या तु शिवार्थिना ॥ ४१५ ॥

शिवशास्त्र मन्त्र और परमशिव का ज्ञान प्राप्त होता है । जहाँ विद्येश्वर भी इस प्रकार अभेद मानते हैं वहाँ उनकी कृपा के पात्र लोगों के द्वारा भेदबुद्धि कैसे की जानी चाहिये । इस प्रकार जो आचार्य मन्त्र और शिव को एक समझते हैं वे विद्येश्वर हैं और मन्त्रेश्वरस्फार में ही प्रवेश करते हैं ॥ ४१२ ॥

यह ठीक भी है क्योंकि—

हे वीरवन्दिते! जो भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र आचार्यपद पर नियुक्त होते हैं वे सब शिव माने गये हैं ॥ -४१३-४१४- ॥

शिवाचार्य ही समीचीन आचार्य होता है ॥ ४१३ ॥

जो लोग आचार्य को ऐसा नहीं मानते वे पापी हैं—यह कहते हैं—

जो नराधम लोग आचार्य को अन्यथा उनके पूर्वरूप में (= शिवसमावेश प्राप्ति के पूर्व की अवस्था वाला) समझते हैं वे सदाशिव के काल परिमाण के हिसाब से तीन वर्ष तक नरक में कष्ट झेलते हैं ॥ -४१४-४१५- ॥

जो लोग दीक्षा प्राप्त कर चुके हैं वे भी गुरु के प्रति द्वेषभावना के कारण विलय शक्ति से आक्रान्त (= गुरु के द्वेष के कारण परमेश्वर की तिरोधान शक्ति से आक्रान्त) होने के कारण अधम है । सदाशिव के वर्ष का परिमाण ग्यारहवें पटल में स्पष्ट होगा ॥ ४१५ ॥

ऐसे पापियों का साथ भी पाप के लिये ही होता है—यह कहते हैं—

कृत्वा संभाषणं तेन नरकं सोऽपि गच्छति ।

यत एवम्—

तस्माच्छिवसमाः सर्वे द्रष्टव्या मुक्तिमिच्छता ॥ ४१६ ॥

यस्मात्—

भुक्तिमुक्तिफलावाप्तिर्भवत्येव तदाज्ञया ।

अस्य चेयान् प्रभावो यदयम्—

आचार्यः स्वजनानां च कुलको (टि?टीः)सहस्रशः ॥ ४१७ ॥
ज्ञानज्ञेयपरिज्ञानात् समस्तास्तारयिष्यति ।

स्वे आत्मीया विद्यासंबन्धिनो जनाः शिष्याः, तेषां 'च'कारादात्मनश्च सहस्रशः कुलको (टीः) ज्ञानस्य तावदनुग्राह्यानुग्रहाभिसंधिपूर्वं परशाक्तस्फारानुप्रवेशस्योपायरूपस्य, ज्ञेयस्य चोपादेयस्य परतत्त्वस्य, परितः समन्तादविकल्पसविकल्पसमापत्तिभ्यां परतत्वविश्रान्त्यात्मकात् शिष्यप्रशिष्यादिक्रमेणानन्तकालव्यापि-

---

शिवभाव को प्राप्त करने की इच्छा वाले को चाहिये कि वह ऐसे लोगों के साथ सम्भाषण भी न करे । उसके साथ बातचीत कर वह भी नरक में जाता है ॥ -४१५-४१६- ॥

चूँकि ऐसा है—

इसलिये मुक्ति को चाहने वाला सबको शिव के समान ही देखे ॥ -४१६ ॥

क्योंकि—

(साधक को) भोग और मोक्षरूपी फल की प्राप्ति शिव की आज्ञा से ही होती है ॥ ४१७- ॥

इसका इतना प्रभाव होता है कि यह—

आचार्य ज्ञान और ज्ञेय के परिज्ञान से अपने आदमियों की सहस्रों कुलपरम्परा को संसार के पार लगा देता है ॥ -४१७-४१८- ॥

(स्वजन शब्द की व्याख्या करते हैं—) स्व = अपने विद्यासम्बन्धी, जन = शिष्य उनके और (श्लोकस्थ) 'च' से अपने करोड़ों कुल को संसार के पार ले जाता है इसमें कारण है—ज्ञान और ज्ञेय का परिज्ञान । ज्ञान का अर्थ है—अनुग्राह्य की अनुग्रहाभिसन्धि के साथ परशाक्तस्फार में अनुप्रवेश का उपाय । ज्ञेय का तात्पर्य है—उपादेय पर तत्त्व । इन दोनों का परिज्ञान अर्थात्—परितः = चारों ओर से, निर्विकल्पक सविकल्पक समापत्तियों के द्वारा परतत्त्वविश्रान्ति वाला, शिष्य प्रशिष्य आदि के क्रम से अनन्तकाल व्यापी ज्ञान । ज्ञान और ज्ञेय का परिज्ञान ही

नश्च ज्ञनात्तारयिष्यति संसाराब्धेरुद्धरिष्यति । ज्ञानज्ञेयपरिज्ञानमेव गुरोर्मुख्यं रूपम् । यथोक्तं प्राक्—

'ज्ञानज्ञेयविशारदम्' (१।१३) इति ॥ ४१७ ॥

एतदुपसंहरन् प्रकृतमाह—

एवमुक्तविधानज्ञो भावज्ञश्चापि दैशिकः ॥ ४१८ ॥
पूर्णाहुत्यैकयैवासौ पशून् योजयते परे ।

उक्तं प्राणचारादिविधानम्, भावः परतत्त्वभावनात्मा ॥

पूर्णाहुतौ प्रयोगं जिज्ञासुं देवीं प्रत्याह—

पूर्णाहुतिप्रयोगं तु कथयाम्यधुना तव ॥ ४१९ ॥

पूर्णत्वार्थमाहुतिप्रयोगमाह—

ऊर्ध्वकाय ऋजुग्रीवः समपादो व्यवस्थितः ।
नाभिस्थाने स्रुचो मूलमुत्तानाग्रमुखं समम् ॥ ४२० ॥
स्रुच्युपरि स्रुवं देवि कृत्वा चैवमधोमुखम् ।
पुष्पं दत्त्वा स्रुगग्रे तु दर्भेण सहितौ करौ ॥ ४२१ ॥
मुष्टिना चैव हस्ताभ्यां गृहीत्वा यत्नतोऽपि च ।

गुरु का मुख्य स्वरूप है । जैसा कि पहले कहा गया—

'ज्ञान और ज्ञेय के विषय में विशारद' ॥ ४१७ ॥ (१।१३)

इसका उपसंहार करते हुए प्रस्तुत को कहते हैं—

इस प्रकार उक्त विधान को तथा भाव को जानने वाला यह आचार्य एक ही पूर्णाहुति से पशुओं को परतत्त्व में जोड़ देता है ॥-४१८-४१९-॥

उक्त विधान = प्राणचार आदि का विधान । भाव = पर तत्त्व की भावना ॥

पूर्णाहुति के प्रयोग की जिज्ञासु देवी से भगवान् ने कहा—

(हे देवि !) अब मैं तुमको पूर्णाहुति प्रयोग बतलाऊँगा ॥ -४१९ ॥

पूर्णता के लिये आहुति के प्रयोग को कहते हैं—

आचार्य ऊर्ध्वकाय सीधी गर्दन, पैर को अगल-बगल रख कर खड़ा हो जाया । स्रुक् का मूल नाभि स्थान में लगा हो और उसे उत्तान कर उसका मुख आगे की ओर सीधा रखा हो । हे देवि ! स्रुक् के ऊपर स्रुवा को अधोमुख रखना चाहिये । फिर स्रुक् के अग्र भाग में फूल रख कर दोनों हाथों में कुश लेकर मुट्ठी बाँध दाहिना हाथ आगे और बायें हाथ को

अग्रतो दक्षिणं हस्तं वामं वै पृष्ठतः प्रिये ॥ ४२२ ॥
मुष्टिभ्यां संगृहीत्वा वै उत्तानकरयोगतः ।
ततो घृतेन संप्लाव्य अभिमानं तु कारयेत् ॥ ४२३ ॥
अहमेव परं तत्त्वं परापरविभागतः ।

ऊर्ध्वकाय उत्थितः, उत्तानमग्रस्थितवेदिकापुष्करादिरूपं मुखं यत्र, सममृजुतया स्थितम्, स्रुच्युपरि स्रुवमिति शिवशक्तिव्यापकौ स्रुक्स्रुवौ परस्परोन्मुखौ कृत्वा, अत एव च पुष्पदानम्, अतश्च शिष्यस्य शक्तिस्त्यक्ताधःप्रसरा शिवोन्मुखा शिवेन संमुखेन प्लुष्टेति भावनीयम् । करावित्यत्र कृत्वेति शेषः । हस्ताभ्यामूर्ध्वाधः-स्थिताभ्यां दक्षवामाभ्यां कृतो यः प्रत्येकं मुष्टिस्तेन, अत एव मुष्टिभ्यामित्युक्तिः । यत्नत इत्यनवलिप्ततया । अग्रत इति स्रुङ्मूलगतवामापेक्षया । दक्षिणमिति स्रुव-वदधोमुखं शिवव्याप्त्या, वाममिति स्रुग्वदुत्तानं च शक्तिव्याप्त्या । यदाह उत्तानेन करेण यो योग इत्यर्थादधोमुखस्य दक्षिणस्य वामेन । संप्लाव्येति संपूरितां स्रुचं कारयित्वा । अहमेव परं तत्त्वं परापरेति प्राग्वत् परसूक्ष्मस्थूलरूपतया स्थित-मित्यभिमानं निश्चितां प्रतिपत्तिं कारयेत् कुर्यात् ॥ ४२३ ॥

न चैतदभिमानमात्रं, यतः—

पीछे रखे । दोनों मुट्ठियों से पकड़ कर फिर हाथ को उत्तान करे । इसके बाद (स्रुक् को) घी से आपूरित कर यह अभिमान करे कि मैं ही अपर और परापर रूप से स्थित पर तत्त्व हूँ ॥ ४२०-४२४- ॥

ऊर्ध्वकाय = उठकर खड़े होकर । ('उत्तानाग्रमुखम्' का विग्रह करते हैं—) आगे स्थित वेदिका पुष्कर आदि रूपी मुख है जहाँ वह । सम = सीधा खड़ा होना चाहिये न कि झुक कर । स्रुवा शिव रूप है और स्रुक् शक्तिरूप । स्रुवा के ऊपर स्रुक् को रखने से ये दोनों परस्पर उन्मुख होते हैं । इसीलिये पुष्पदान होता है (पुष्प शब्द का दो अर्थ है—फूल और स्त्री का रजस्) । इसके परिणामस्वरूप शिष्य की शक्ति अधः प्रसर को छोड़ कर शिवोन्मुख अर्थात् शिव के सम्मुख होने से जल गयी—ऐसी भावना करनी चाहिये । 'मुष्टिभ्याम्' का तात्पर्य है कि दाँयाँ बाँयाँ हाथ ऊपर नीचे हो और दोनों की मुट्ठियाँ बँधी हों । यत्नतः = अभिमान-रहित होकर दक्षिण हाथ स्रुवा की भाँति अधोमुख है क्योंकि उसमें शिव की व्याप्ति है । बाँयाँ हाथ स्रुक् की भाँति उत्तान है क्योंकि उसमें शक्ति की व्याप्ति है । इसी प्रकार बायाँ हाथ उत्तान और दाँयाँ हाथ अधोमुख है क्योंकि वे दोनों शिव और शक्ति या स्रुवा और स्रुक् के प्रतीक हैं । संप्लाव्य का अर्थ है—स्रुक् को घी से भर कर परापर (= पर परापर और अपर) अर्थात् पर सूक्ष्म और स्थूल रूप से स्थित हूँ ऐसा अभिमान = निश्चित प्रतिपत्ति करे ॥ ४२३ ॥

यह केवल अभिमान ही नहीं है क्योंकि—

तत्त्वमेकं हि सर्वत्र.............

सर्वं हि चेत्यमानत्वात् चिन्मात्रपरमार्थमेव ॥

अतश्च—

.............नान्यं भावं तु कारयेत् ॥ ४२४ ॥

कारयेदिति प्राग्वत् । मायाप्रमातृतासुलभं भेदाभिमानं त्यजेदित्यर्थः ॥ ४२४ ॥

किं च—

यत्कुम्भेऽध्वात्र विन्यस्तः षट्प्रकारो वरानने ।
मण्डलेऽग्नौ शिशोरन्तः साधारणविकल्पितः ॥ ४२५ ॥
स्रुच्यध्वानं तमारोप्य प्राणस्थं नाडिमध्यगम् ।
प्राणधारे समीकृत्य स्रुचा धारां विनिक्षिपेत् ॥ ४२६ ॥

कुम्भमण्डलाग्निशिशुगतं षड्विधमध्वानमाज्यरूपतया स्रुचि मध्यनाडि-प्रतिच्छन्दकरूपायामारोप्य, पूर्वोक्तयुक्त्या प्राणस्थितं च तं मध्यनाडिगतं कृत्वा, अत एव मध्यमं प्राणं धारां चाज्यसंबन्धिनीं स्रुग्गतां समीकृत्येति मान्त्रवह्नि-द्रावितषडध्वरसमयतया भावयित्वा तां धारां क्षिपेत् ॥ ४२६ ॥

एक ही तत्त्व सर्वत्र है ॥ -४२४- ॥

अर्थात् सब कुछ चेत्यमान होने के कारण परमार्थतः चिन्मात्र ही है ॥

इसलिये—

(इनके विषय में) अन्य प्रकार की भावना नहीं करनी चाहिये ॥-४२४॥

तात्पर्य यह है कि मायाप्रमातृता सुलभ भेदाभिमान को छोड़ देना चाहिये ॥ ४२४ ॥

और भी—

हे वरानने ! इस कुम्भ मण्डल अग्नि एवं शिष्य में जो छः प्रकार का अध्वा निहित किया गया तथा सामान्यतया कल्पित है, उस अध्वा को स्रुक् में आरोपित कर प्राणस्थित उसको मध्य नाड़ी में ले जाकर प्राण रूपी घृतधारा में समान कर (= भावना द्वारा मिला कर) स्रुक् के द्वारा धारा को गिराये ॥ ४२५-४२६ ॥

कुम्भ मण्डल अग्नि और शिशु के अन्दर वर्त्तमान छः प्रकार के अध्वा को घी के रूप में (= समझते हुए) स्रुक् में रखे । यह स्रुक् सुषुम्ना नाड़ी की प्रतीक मानी जाती है । पूर्वोक्त युक्ति से प्राण में स्थित उस अध्वा को मध्यनाड़ी में ले जाय। इसलिये मध्यमप्राण और स्रुक् में वर्त्तमान घृतधारा को एक कर यह भावना

कथं क्व चेत्याह—

वसुधाराप्रयोगेण प्रक्षिपेज्जातवेदसि ।

अविच्छिन्नसंतत्या शिवाग्नौ द्वादशान्तस्थे बाह्ये च प्राणमाज्यधारां चाविभाग-भावनया जुहुयादित्यर्थः । वसवेऽभीष्टफलायात्युच्चैर्धाराप्रयोगेन ॥

अत्रेतिकर्तव्यतामाह—

नाभिस्थाने स्रुचो मूलं नयेन्नासान्तगोचरम् ॥ ४२७ ॥
यथा यथा त्यजेद्धारां तथा प्राणं समुच्चरेत् ।

नाभिस्थाने यत् स्रुङ्मूलं स्थितं तन्नासाग्रं प्रापयेद् धारापातानुसाराय मध्यप्राणं सम्यगभ्यस्तवाहचारेण ऊर्ध्वं चरेत्, द्वादशान्तविश्रान्तं कुर्यात् ॥ ४२७ ॥

एवं सति न केवलं द्रुतषडध्वरसमयी धारा यावत्—

प्राणोऽपि वर्णतां याति षड्विधाध्वमयस्तु सः ॥ ४२८ ॥

करे कि मन्त्ररूपी अग्नि से षडध्वारस द्रावित हो गया । ऐसी भावना करते हुए उस धारा को गिराये ॥ ४२६ ॥

किस प्रकार और कहाँ गिराये—यह कहते हैं—

वसुधारा के प्रयोग से (= 'ॐ वसोः पवित्रमसि शतधारं........' मन्त्र का उच्चारण करते हुए) हवनकुण्ड की अग्नि में धारा गिराये ॥ ४२७- ॥

अविच्छिन्न प्रवाह से शिवाग्नि और बाह्य द्वादशान्तस्थ अग्नि में प्राण और घृतधारा को एक समझते हुए हवन करे । ('वसुधारा प्रयोगेण' शब्द का अर्थ बतलाते हैं—) वसु = अभीष्टफल, के लिये अत्यन्त ऊँचाई से धारा के प्रयोग के द्वारा हवन करे ॥

इस विषय में इतिकर्त्तव्यता को कहते हैं—

स्रुक् का जो मूल नाभिस्थान में है आचार्य उसे धीरे-धीरे अपनी नासिका के अन्तिम भाग तक ऊपर उठाये । जैसे-जैसे धारा गिरायी जाय वैसे-वैसे प्राण को भी ऊपर खींचता जाय ॥ -४२७-४२८- ॥

स्रुक् का जो मूल नाभिस्थान में स्थित है उसको धीरे-धीरे नाक के अग्रभाग तक ले जाना चाहिये । धारापात के अनुसार के लिये मध्यप्राण को भली-भाँति अभ्यस्त प्रवाह के द्वारा ऊपर ले जाये अर्थात् उसे द्वादशान्त में ले जाकर स्थिर कर दे ॥ ४२७ ॥

ऐसा होने पर न केवल द्रुतषडध्वरसमयी धारा बल्कि—

प्राण भी वर्ण बन जाता है । क्योंकि वह प्राण भी छः प्रकार के अध्वा

यः षडध्वमयः प्राणः, सोऽपि वर्णतां मान्त्रपरामर्शतां याति ॥ ४२८ ॥

एवं च सति—

षड्विधेऽध्वनि नातोऽन्यः प्रमेयो विद्यते क्वचित् ।

षड्विधेऽध्वनि यः कश्चित् प्रमेयः सोऽस्मिन्नवसरे । अत इति मान्त्रात् परामर्शात् । नान्यः क्वचिदपि, जागरादौ विश्वत्र सर्वस्य मान्त्रपरामर्शशेषीकृतत्वात् ॥

यत एवम्—

तस्मान्मान्त्रे परामर्शे हेयोपादेयतः स्थिताः ॥ ४२९ ॥

ये हेयतया स्थिताः समनान्ताः पदार्थाः ये चोपादेयतया शुद्धात्मोन्मनापरमशिवाः स्थितास्ते मन्त्र एव वाचकेऽन्तरभिन्नवाच्यात्मतया स्थिताः ॥ ४२९ ॥

यस्मान्मन्त्रैरकारादिध्वनिरूपैः—

वर्णैः कारणषट्कं तु.............

का रूप ही है ॥ ४२८ ॥

जो षडध्वमय प्राण है वह भी वर्णता = मान्त्र परामर्शता, को प्राप्त हो जाता है ॥ ४२८ ॥

और ऐसा होने पर—

षड्विध अध्वा में इससे भिन्न कोई भी प्रमेय कहीं भी नहीं रहता है ॥ ४२९- ॥

छः प्रकार के अध्वा में जो कोई प्रमेय रहता है वह इस अवसर पर नहीं रह जाता । इससे = मान्त्र परामर्श से, अन्य = भिन्न, कहीं भी = जाग्रत आदि अवस्था में, नहीं रहता क्योंकि सम्पूर्ण विश्व में वर्त्तमान सब कुछ मान्त्र परामर्श के रूप में शेष कर दिया गया है ॥

चूँकि ऐसा है—

इसलिये जो हेय अथवा उपादेय के रूप में वर्त्तमान तत्त्व हैं वे मान्त्र परामर्श में स्थित हो जाते हैं ॥ -४२९ ॥

जो हेयरूप से स्थित समनान्त पदार्थ हैं और जो उपादेय रूप से शुद्धात्म उन्मना परम शिवरूप से स्थित हैं वे मन्त्र ही वाचकान्तर भिन्न वाच्यात्म रूप से स्थित हैं ॥ ४२९ ॥

चूँकि अकारादि ध्वनिरूप मन्त्रों के द्वारा तथा—

वर्णों के द्वारा पूर्वोक्त छह कारण ॥ ४३०- ॥

पूर्वोक्तं तत्तत्तत्त्वाधिष्ठातृरूपं व्याप्तम्, अतस्तद्व्याप्त्यैव विश्वं स्वीकृतमेभिः ॥

अतश्च—

.............षट्त्यागात् सप्तमे लयः ।

कार्य इति शेषः ॥

यदवधिकं कारणषट्कं यावद्भिर्मान्त्रैर्ध्वनिभिर्व्याप्तं तद्धेयत्वेन दर्शयति—

अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ॥ ४३० ॥
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादश्चैवोर्ध्वगामिनी ।
शक्तिश्च व्यापिनी ह्येताः समना च ततः परम् ॥ ४३१ ॥
समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम् ।
कारणैः षड्भिराक्रान्तं मन्त्रस्थं हेयलक्षणम् ॥ ४३२ ॥

पूर्वमेव व्याख्यातमेतत् । ऊर्ध्वगामिनी नादान्तदशा । अस्य मान्त्रस्य प्रमेयैकादशकस्य भेदकल्पनामयत्वेन हेयत्वम्, अभेदविमर्शात्मत्वे तु उपादेयतेति प्राग्विभक्तमेव ॥ ४३२ ॥

मन्त्रस्थं हेयमुक्त्वा उपादेयं प्रस्तौति—

जो कि तत्तत् तत्त्व के अधिष्ठाता हैं, व्याप्त हैं इसलिये उनकी (= मन्त्रादि की) व्याप्ति से ही यह विश्व इनके (= कारणों के) द्वारा स्वीकृत (= अधिष्ठित) है ॥

इसलिये—

छः कारणों के त्याग से सप्तम में लय करना चाहिये ॥ -४३०- ॥

'करना चाहिए'—यह जोड़े ।

ये छः कारण जहाँ तक जितने मान्त्र ध्वनियों के द्वारा व्याप्त हैं उनको हेय के रूप में दिखलाते हैं—

अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, ऊर्ध्वगामिनी (= नादान्त), शक्ति, व्यापिनी और सबके अन्त में समना (ये ग्यारह स्तर हैं) । हे वरारोहे ! यह अनन्त पाशजाल समना तक है । (यह सब ग्यारह स्तरों वाला पाशजाल) मन्त्र में स्थित (ब्रह्मा आदि) छः कारणों से आक्रान्त और हेय है ॥ -४३०-४३२ ॥

इसकी व्याख्या पहले ही की जा चुकी है । ऊर्ध्वगामिनी = नादान्त दशा । चूँकि ये ग्यारह प्रमेय भेदकल्पनामय हैं इसलिये हेय हैं । अभेदरूप में विमर्शयुक्त होने पर ये उपादेय हैं—यह पहले ही कह दिया गया ॥ ४३२ ॥

अत्र पाशोपरि ह्यात्मा व्योमव (द्विन्दु?च्चित्सु) निर्मलः।
शिवतत्त्वगुणामोदाच्छिवधर्मावलोककः ॥ ४३३ ॥

समनान्तपाशातिक्रमादेव चिता सुष्ठु निर्मलः शिवतत्त्वस्य सदाशिवस्य संबन्धिभिरभेदसर्वज्ञत्वादिभिर्गुणैरभिलष्यमाणैर्जनितादामोदात् प्रहर्षादेव शिवस्य धर्मं पूर्णपञ्चविधकृत्यस्वातन्त्र्यं प्राप्यत्वेनावलोकयति, न त्वद्यापि प्राप्ततद्रूपः ॥४३३॥

यतः—

पाशावलोकनं त्यक्त्वा स्वरूपालोकनं हि यत्।
आत्मव्याप्तिर्भवेदेषा.............

पाशानां समनान्तानामवलोकनमात्मत्वेनाभिमननम् । स्वरूपं पाशोत्तीर्णचिन्मात्रत्वं यदेतावत्पर्यन्तात्मव्याप्तिः ॥

.............शिवव्याप्तिस्ततोऽन्यथा॥ ४३४ ॥

तां प्रतिपादयति—

सार्वज्ञ्यादिगुणा येऽर्था व्यापकान् भावयेद्यदा ।
शिवव्याप्तिर्भवेदेषा चैतन्ये हेतुरूपिणी ॥ ४३५ ॥

मन्त्रस्थ हेय का कथन कर उपादेय की प्रस्तावना करते हैं—

इस पाश के ऊपर आत्मा स्थित है जो कि आकाश की भाँति निर्मल, चेतन तथा शिवतत्त्व के गुण रूपी आमोद युक्त होने से शिवधर्म का द्रष्टा है ॥ ४३३ ॥

(यह आत्मा) समना पर्यन्त पाश का अतिक्रमण करने से केवल चित्स्वरूप होने के कारण भली प्रकार निर्मल हो जाता है । शिवतत्त्व = सदाशिव के अन्दर वर्तमान अभेद सर्वज्ञत्व आदि अभिलष्यमाण गुणों से उत्पन्न आमोद = प्रसन्नता के कारण शिव के धर्म = पूर्ण पञ्चकृत्य के स्वातन्त्र्य को प्राप्त करने की इच्छा रखता है अर्थात् अभी भी वह शिवरूप नहीं हुआ रहता ॥ ४३३ ॥

क्योंकि—

पाश का अवलोकन छोड़ कर जो स्वरूप का अवलोकन होता है वह आत्मव्याप्ति होती है ॥ ४३३- ॥

समना पर्यन्त पाशों का अवलोकन = उनको आत्मा समझने की स्थिति, को छोड़ देना और स्वरूप = पाशोत्तीर्ण चिन्मात्र, हो जाना ही आत्मव्याप्ति है ॥

शिवव्याप्ति इससे भिन्न है ॥ -४३४ ॥

उस (= शिव व्याप्ति) को बतलाते हैं—

ये वक्ष्यमाणाः सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिगुणा धर्माः परमोपादेयत्वेनार्थ्यमानत्वादर्थाः तान्, व्यापकानिति अशेषमन्तरभेदेन क्रोडीकुर्वतो यदा स्वात्मनि भावयेत् तदा तद्भावनापरिनिष्पत्तिरात्मनः शिवव्याप्तिः । सा च भावके चैतन्ये हेतुरूपिणी प्रयोजिका, तत्प्रसादादेव शुद्धात्मनस्तद्भावनाप्ररूढेः ॥ ४३५ ॥

यतोऽयमेवं सर्वज्ञत्वादिगुणयुक्तः—

अतो धर्मिस्वभावो हि शिवः शान्तश्च पठ्यते ।

विश्वस्य भित्तिलग्नत्वेनैव स्फुरणाद्धर्मकल्पस्यासौ धर्मिकल्पः निःशेषभेदोपशमात् शान्तः, अभेदसार्वज्ञ्यादियोगेन श्रेयोरूपतया शिवः, पठ्यते इत्यागमेषु ॥

एवं पठ्यमानोऽप्यसौ वस्तुतो न शब्दगोचर इत्याह—

उन्मनाश्च मनोग्राह्यः...............

उन्मनाः शक्त्यभेदात्मनो विषयत्वाभावाद् वस्तुतो न शब्दवाच्य इत्यर्थः ।

जो सर्वज्ञत्व आदि छः गुण अर्थ (= इच्छा के विषय) हैं आचार्य जब उनकी व्यापक के रूप में भावना करता है तब यह शिवव्याप्ति होती है । यह चैतन्य की कारण है ॥ ४३५ ॥

जो आगे कहे जाने वाले सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्व आदि गुण = धर्म, परम उपादेय के रूप में अर्थ्यमान होने के कारण 'अर्थ' हैं, उन व्यापक धर्मों को पूर्णरूपेण अपने अन्दर अभेदरूपेण आत्मसात् करने वाला आचार्य जब अपने अन्दर उनकी भावना करता है तब उस भावना की परिपक्वता आत्मा की शिवव्याप्ति कही जाती है । और वह शिवव्याप्ति भावक चैतन्य की हेतुरूपिणी = प्रयोजिका है । क्योंकि उसकी कृपा से ही शुद्ध आत्मा में वह भावना प्ररुढ़ होती है ॥ ४३५ ॥

चूँकि यह (= आत्मा) इस प्रकार के सर्वज्ञत्व आदि गुणों से युक्त होता है—

इसलिये इसे धर्मी के स्वभाव वाला, शिव और शान्त कहा जाता है ॥ ४३६- ॥

धर्मकल्प सम्पूर्ण विश्व इस शिवरूपी भित्ति से मानों संलग्न होकर स्फुरित होता है । इसलिये यह (शिव) धर्मीकल्प है । सम्पूर्ण भेद के शान्त हो जाने से यह शान्त हो जाता है । अभेद सर्वज्ञता आदि के आ जाने से श्रेयःरूप होने के कारण यह आगमों में शिव के रूप में अभिहित होता है ॥

इस प्रकार पठ्यमान होता हुआ भी यह वस्तुतः शब्द से नहीं जाना जा सकता—यह कहते हैं—

यह उन्मना है इस कारण मन से ग्राह्य (शब्द वाच्य नहीं) है ॥-४३६-॥

उन्मना शक्ति से अभिन्न होने के कारण विषय न होने से वस्तुतः शब्द के

न केवलमीदृक् शिवो यावत्—

.............आत्मबोधे स्थितोन्मनाः ॥ ४३६ ॥

शिववदात्मापि मन उत्क्रम्य मनोभूमिमुज्झित्वा बोधे संविन्मात्रे पूर्णत्वसर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृत्वाद्यात्मनि स्थितः । स्थितश्चासौ उन्मनाश्चेति समासः ॥ ४३६ ॥

यतश्चात्मा शिवश्च न मनोगोचरस्ततः—

व्यापारं मानसं त्यक्त्वा बोधरूपेण योजयेत् ।
तदा शिवत्वमायाति पशुर्मुक्तो भवार्णवात् ॥ ४३७ ॥

'तत्संवेदनरूपेण तादात्म्यप्रतिपत्तितः ।' (स्प० २।३)

इति स्पन्ददृशा आदौ शिष्यात्मानं स्वात्मनि समरसीकृत्य समनान्तमतिक्रम्य शुद्धात्मनि स्थितिं बद्ध्वा बोधरूपेणेति अविकल्पसंवित्स्पर्शेनैव प्रउन्मनाशक्त्य-नुवेशप्रमुखं शिवे योजयेत् ॥ ४३७ ॥

अत्र चावसरे—

परे चैव नियुक्तस्य स्रुवमापूरयेत् पुनः ।

द्वारा वर्णनीय नहीं है ।

शिव केवल इसी प्रकार का नहीं है बल्कि—

आत्मबोध में स्थित और उन्मना स्वरूप है ॥ -४३६ ॥

आत्मा भी शिव के समान मन का उत्क्रमण कर = मनोभूमि का त्याग कर, बोध में = पूर्णत्व सर्वज्ञत्व सर्वकर्तृत्व आदि वाले संविन्मात्र में, स्थितः होता हुआ उन्मना हो जाता है ॥ ४३६ ॥

चूँकि आत्मा और शिव मन के विषय नहीं हैं इसलिये—

(आचार्य को चाहिये कि वह) मानस व्यापार को छोड़कर (शिष्यात्मा को) बोध से युक्त करे । वैसा होने पर पशु संसारसागर से मुक्त होकर शिवत्व को प्राप्त कर लेता है ॥ ४३७ ॥

उस विश्व के संवेदनरूप होने तथा तादात्म्य ज्ञान होने के कारण (यह सिद्ध होता है कि परमेश्वर विश्वमय है)। (स्प०का० २।३)

स्पन्द शास्त्र की इस दृष्टि से गुरु पहले शिष्य की आत्मा को अपनी आत्मा के साथ समरस करे । उसके बाद समना पर्यन्त भूमि का अतिक्रमण कर शुद्ध आत्मा में स्थिति को बाँधकर बोधरूप = निर्विकल्पक संवित् स्पर्श, के द्वारा उन्मना शक्ति में अनुप्रवेश वाले शिष्य को शिव से जोड़ दें ॥ ४३७ ॥

इस अवसर पर—

स्रुचो रन्ध्रेण तद्द्रव्यं यावद्वह्नौ प्रयुज्यते ॥ ४३८ ॥
बहिःस्थं कुम्भकं तावत् परे तत्त्वे तु भावयेत् ।

बहिरिति ऊर्ध्वरेचकान्ते द्वादशान्ते ॥

एवं च यत्—

बहिर्निरोधभावेन सामरस्यं शिवेन च ॥ ४३९ ॥

शब्दाच्च तच्छक्त्यापि ॥ ४३९ ॥

तत्—

अन्यथा न भवेद् देवि............

न कदाचिदेतस्याशिवीभावहेतुरित्यर्थः ॥

अत्र दृष्टान्तः—

.................नदीवेग इवार्णवे ।

एतत्स्फुटयति—

आचार्य पर तत्त्व में नियुक्त शिष्य के लिये पुनः स्रुवा को घी से पूरित करे । ततः स्रुक् के छिद्र से उस द्रव्य (= घी) को जब तक अग्नि में डालता रहे तब तक बहिःस्थ (= ऊर्ध्वरेचक का जहाँ अन्त हो जाता है— ऐसे द्वादशान्त में) कुम्भक करते हुए ('शिष्य की आत्मा को) पर तत्त्व से युक्त कर रहा हूँ' ऐसी भावना करे ॥ -४३८-४३९- ॥

बहिः = ऊर्ध्वरेचक का जहाँ अन्त हो जाता है ऐसे द्वादशान्त में ॥

इस प्रकार—

बाह्य निरोधभावना के द्वारा शिव के साथ तथा शक्ति के साथ जो सामरस्य होता है ॥ -४३९ ॥

उक्त श्लोक में च शब्द से यह अर्थ निकलता है कि उस अर्थात् शिव की शक्ति के साथ भी सामरस्य होना चाहिए ॥ ४३९ ॥

हे देवि ! कभी भी अन्यथा ॥ ४४०- ॥

अर्थात् कभी भी शिष्य के अशिवीभाव का कारण नहीं बनता ॥

इसमें दृष्टान्त देते हैं—

जैसे कि नदी का वेग (चल पड़ने के बाद) समुद्र में जाता है ॥ ४३९- ॥

उसको स्पष्ट करते हैं—

स्थितः स सागरेऽद्भिस्तु सिन्धुः समरसीभवेत् ॥ ४४० ॥
पुनर्विभागं नाप्नोति तथात्मा तु शिवार्णवे ।

अद्भिरिति सागरसङ्गताभिः । सिन्धुर्नदी ॥

बहिःस्थकुम्भकभावनाया अवधिमाह—

स्रुचस्तु पूरणं यावत्तावत्कालं समादिशेत् ॥ ४४१ ॥

स्रुचः सकाशादाज्येन यावत्पूरणमिति वह्नौ पूर्णाहुतिर्यावद्भवति तावद् बहिः कुम्भक् सम्यआ समन्तात् दिशेत् प्रापयेत् ॥ ४४१ ॥

तदित्थं पूर्णाहुतौ—

अनेनैव तु कालेन बहिः कुम्भकवृत्तिना ।
आत्मा समरसत्वेन शिवीभवति सर्वगः ॥ ४४२ ॥

एवं शिष्यशिवीकरणानन्तरम्—

गुणानापादयेत् पश्चात् षट्............

वक्ष्यमाणान् सर्वज्ञत्वादीन् गुणान् ॥

जैसे अलग बहती हुई नदी सागर में पहुँचने पर सागर के जल के साथ जब समरस होती (= पूर्ण रूपेण मिल जाती) है तो फिर उससे अलग नहीं होती, उसी प्रकार यह आत्मा शिवरूपी समुद्र में मिल जाने के बाद अलग नहीं होता ॥ -४४०-४४१- ॥

अद्भिः = सागर के जल के साथ । सिन्धुः = नदी ॥

बाह्य कुम्भक की भावना की समय सीमा बतलाते हैं—

जब तक स्रुक् से अग्नि में आपूरण होता रहता है तब तक बाह्य कुम्भक करना चाहिये ॥ -४४१ ॥

स्रुक् के पास से जब तक घृत का आपूरण होता है = अग्नि में पूर्णाहुति दी जाती है तब तक बाहर कुम्भक प्राणायाम को कराना चाहिये ॥ ४४१ ॥

तो इस प्रकार पूर्णाहुति होने पर—

इतने ही समय में बाह्य कुम्भक के द्वारा आत्मा समरस होकर सर्वगामी होते हुए शिव हो जाता है ॥ ४४२ ॥

इस प्रकार शिष्य के शिवीकरण के बाद—

(आचार्य) (शिंष्य के अन्दर) सर्वज्ञता आदि छः गुणों जिनका वर्णन आगे किया जायेगा, को स्थापित करे ॥ ४४३- ॥

कीदृशान्—

..................अङ्गपरिमाहुतीन् ।

अङ्गैर्नैष्कलैरङ्गमन्त्रैरेव अङ्गपरिमा अङ्गसंख्याकाः षडेवाहुतयो येषां तान् ॥

शिवत्वे प्राप्ते यद्यपि तदभिन्ना गुणा अपि प्राप्ताः, तथापि तेऽस्य स्पष्टमान्त्रप्रत्यवमर्शपूर्वकस्वनादोदीरणेनापि स्पष्टीकार्या एवेति दृष्टान्तपूर्वं निर्दिशति—

यथा नृपत्वे सम्प्राप्ते कलशैश्चाभिषिच्यते ॥ ४४३ ॥
वन्दिभिश्च गुणास्तेऽपि ख्याप्यन्ते वसुधातले ।
तथा शिवत्वे सम्प्राप्ते गुणानापादयेद् बुधः ॥ ४४४ ॥

दार्ष्टान्तिके कलशाभिषेकम्—

'दद्यात् ततोऽभिषेकं तु' (४।४४८)

इत्यत्र वक्ष्यति । वन्दितुल्या अङ्गमन्त्राः ॥

गुणापादने प्रयोगमाह—

किस प्रकार के गुण?—

(उत्तर देते हैं—) अङ्ग के परिमाण के अनुसार आहुति वाले ।।-४४३-।।

(अङ्ग परिमाहुतीन् का विग्रह करते हैं—) अङ्गों = निष्कल अङ्गमन्त्रों, के द्वारा अङ्गपरिमा = अङ्गसंख्या, वाली अर्थात् छः ही आहुतियाँ हैं जिनकी ऐसी (आहुतियों को दे कर गुणों का आधान करना चाहिये) ॥

यद्यपि शिष्य के शिव हो जाने पर शिव से अभिन्न गुण भी शिष्य में स्वयं आ जाते हैं । तथापि उन गुणों को इसके अन्दर स्पष्ट मान्त्र प्रत्यवमर्श पूर्वक अपने (= आचार्य के) नाद का उच्चारण कर भी स्पष्ट करना ही चाहिये । इस बात को दृष्टान्त देकर बतलाते हैं—

जैसे पृथिवी पर किसी के राजा बनने के बाद उस राजा का कलशों के द्वारा (राजत्वज्ञापक) अभिषेक किया जाता है तथा वन्दी जनों के द्वारा उसका गुणगान किया जाता है (जब कि अभिषेक और गुणगान की कोई आवश्यकता नहीं होती इनके बिना भी वह राजा है ही) उसी प्रकार शिष्य के शिव बन जाने के बाद आचार्य को स्वयं मन्त्रोच्चार कर उसके अन्दर गुणों का आधान करना चाहिये ॥ -४४३-४४४ ॥

दार्ष्टान्तिक में कलशाभिषेक की चर्चा—

'इसके बाद अभिषेक करना चाहिये ।' (४।४४८)

में करेगे । यहाँ अङ्गमन्त्र ही वन्दी के समान हैं ॥

सर्वज्ञो वै भव स्वाहा परितृप्तस्तथैव च ।
अनादिबोधो भव च ततः स्वातन्त्र्यशक्तिकः ॥ ४४५ ॥
तथा त्वलुप्तशक्तिश्चानन्तशक्तिस्ततः पुनः ।

अत्र च प्रणवपूर्वा हृदादिमन्त्राः षट् क्रमेण पूर्वं योज्याः । सर्वज्ञा अपि कपिलादयो निर्विमर्शचिन्मात्रत्वेनानन्दशक्तिरूपतृप्तिरहिताः । केचित्तु आनन्दशक्तियुक्तत्वेऽपि भावनया तद्रूपतां प्राप्ताः, नत्वनादिबोधाः । दीक्ष्यस्य त्वनादिबोधत्वं स्थितमेव सदभिर्व्यज्यते, न त्वपूर्वं जन्यते । केचित्तु सदा सर्वज्ञतयाऽनादिबोधा अपि निर्माणशक्तिविकलत्वात् स्वातन्त्र्यहीनाः सृष्ट्यादिकर्मणि स्वतन्त्रा अपि ब्रह्मादयो न नित्यमलुप्तशक्तिकाः, निजासु रात्रिषु व्यामूढत्वात् । मन्त्रमन्त्रेश्वरादयस्त्वव्यामूढत्वेऽपि नानन्तशक्तिकाः, तदपेक्षया विश्वस्य भिन्नत्वेन शक्तिरूपत्वाभावादित्येकस्यापि शिवनाथस्येत्थं व्यावृत्तिभेदेन सर्वज्ञत्वादयः षड् गुणा व्याख्येयाः ॥

गुणानां गु(णि)[1] विश्रान्तिसारतां स्फुटयितुं मूलविश्रान्तिपूर्वं मूलेनैव षडाहुतीर्दद्यादित्याह—

गुणानापाद्य सर्वांस्तान् मूलमन्त्रमनुस्मरेत् ॥ ४४६ ॥
ॐहूमात्मपदोपेतं सर्वज्ञायेत्यपश्चिमम् ।
स्वाहाकारप्रयोगेण आहुतीः प्रतिपादयेत् ॥ ४४७ ॥

आत्मपदं दीक्ष्यनामपूर्वं चतुर्थ्यन्तं यतः—

'अनिर्दिष्टसमाख्यं च यत्कृतं तत्तथा भवेत् ।
तदुद्दिश्य कृतं कर्म (फलत्येव न) संशयः ॥'

सर्वज्ञायेत्युपलक्षणम्, तेन तृप्तायेत्याद्यपि । तच्चापश्चिममित्येतावदन्तं पूर्वमुच्चार्य स्वाहाकारेणाहुतीर्दद्यात् ॥ ४४७ ॥

ताश्च सम्भवव्यवसायानुसारम्—

तिस्रः पञ्च दशैका वा............

अत्यन्तमसम्भवे चैकाहुतावपि न क्षतिः ॥

(शिष्य के अन्दर) गुणों की स्थापना करने का प्रयोग बतलाते हैं—

'सर्वज्ञ हो जाओ स्वाहा' उसी प्रकार 'तृप्त हो जाओ स्वाहा' 'अनादिबोध वाला हो जाओ स्वाहा' । 'स्वातन्त्र्यशक्ति वाला हो जाओ स्वाहा' । उसी प्रकार 'नित्य अलुप्त शक्ति वाला हो जाओ स्वाहा' तथा 'अनन्त शक्ति वाला हो जाओ स्वाहा' ॥ ४४५-४४६- ॥

इस प्रयोग में छः हृदादि मन्त्रों को पहले प्रणव लगाकर जोड़ना चाहिये । इस प्रकार मन्त्रों का निम्नलिखित रूप होगा—'ॐ ह्रां सर्वज्ञो भव स्वाहा ।' 'ॐ ह्रीं तृप्तो भव स्वाहा'... इत्यादि कपिल आदि यद्यपि सर्वज्ञ तो थे लेकिन विमर्शरहित चिन्मात्र होने के कारण वे आनन्दशक्तिरूप तृप्ति से रहित थे । कुछ ऐसे भी ऋषि थे जिनके पास आनन्द शक्ति तो थी किन्तु वे भावना के द्वारा आनन्दशक्तिमान् हुए थे न कि अनादि बोध वाले थे । और दीक्ष्य शिष्य के अन्दर अनादि बोध पहले से रहता है, आचार्य उसको केवल प्रकट करता है न कि नये सिरे से उत्पन्न करता है । कुछ ब्रह्मा आदि सदा सर्वज्ञ होने के कारण अनादि बोध वाले तो है फिर भी निर्माणशक्ति से रहित होने के कारण स्वातन्त्र्यहीन हैं । सृष्टिरचना में स्वतन्त्र होते हुए भी नित्य अलुप्तशक्तिवाले नहीं हैं । क्योंकि वे अपनी-अपनी रात्रियों में मोहग्रस्त हो जाते हैं । जहाँ तक मन्त्र मन्त्रेश्वर मन्त्रमहेश्वर का प्रश्न है वे भी यद्यपि व्यामूढ नहीं होते तथापि उनमें अनन्त शक्ति नहीं रहती । क्योंकि उनकी अपेक्षा विश्व के भिन्न होने से वे शक्तिरूप नहीं होते (और विश्वाभेद की स्थिति शक्तिमय होने पर ही होती है ।) इसलिये केवल एक शिव ही इस प्रकार व्यावृत्ति भेद से सर्वज्ञता आदि छः गुणों से युक्त हैं—ऐसा समझना चाहिये ॥

गुण गुणी में विश्राम करते हैं इसको स्पष्ट करने के लिये मूल विश्रान्ति (= मूल मन्त्र में विश्रान्ति) के पश्चात् मूल (मन्त्र) से ही छः आहुतियाँ देनी चाहिये—यह कहते हैं—

(आचार्य) उन सब गुणों को शिष्य के अन्दर स्थापित कर मूल मन्त्र का स्मरण करे । तत्पश्चात् ॐ हूँ आत्मपद (= देवदत्ताय) कह कर अन्त में 'सर्वज्ञाय' कहने के पश्चात् 'स्वाहा' कहकर आहुतियाँ दे ॥ -४४६-४४७ ॥

आत्मपद का अर्थ है—दीक्ष्य शिष्य का नाम जिसके अन्त में चतुर्थी विभक्ति जुड़ी रहती है । क्योंकि—

'विना समाख्या (= नामप्रयोग) के जो कुछ किया जाता है वह वैसा हो जाता है उसके उद्देश्य से जो कर्म किया जाता है (समाख्या युक्त होने पर वह उसके लिये अवश्य फलदायी होता है इसमें) सन्देह नहीं है ।'

ऐसा अन्यत्र कहा गया । 'सर्वज्ञाय' यह उपलक्षण[1] है । इसलिये तृप्ताय (अनादिबोधाय) यह सब भी समझना चाहिये । 'अपश्चिमम्' का तात्पर्य है—पहले 'सर्वज्ञाय' तक मन्त्र का उच्चारण करे फिर 'स्वाहा' बोलते हुए आहुतियाँ दे ॥ ४४७ ॥

वे आहुतियाँ यथाशक्ति—

तीन पाँच दश अथवा एक देनी चाहिये ॥ ४४८- ॥

---

१. ण ।

१. स्वबोधकत्वे सति स्वेतरबोधकत्वमुपलक्षणत्वम् ।

द्रव्यविषयेऽप्यत्र विकल्प एवेत्याह—

...............तिलैर्वाथ घृतेन वा ।

दीक्षान्ते शिष्यस्यावभृथस्नानमाह—

दद्यात् ततोऽभिषेकं तु मूलमन्त्रेण सुव्रते ॥ ४४८ ॥

मूलमन्त्रमन्त्रितेन शिवकुम्भेन मूलमन्त्रोच्चारेण वा इत्यर्थः ॥ ४४८ ॥

कथम्—

परं शक्त्यमृतं क्षोभ्य शिष्यमूर्ध्नि निपातयेत् ।
तुर्यद्वारं विशेत् तद्धि सबाह्याभ्यन्तरं स्मरेत् ॥ ४४९ ॥

द्वादशान्ते विश्रम्य तत्स्थानमानन्दस्पर्शात्मकं परं शक्त्यमृतं क्षोभयित्वा विमृश्य शिष्यस्य द्वादशान्तान्मूर्ध्नि पतितं भावयन् कलशाद्धारां पातयेदित्यर्थः । तुर्यद्वारं तुर्यानुभवप्रधानं ब्रह्मरन्ध्रम् ॥ ४४९ ॥

अत्यन्त शक्ति न होने पर एक आहुति देने पर भी क्षति नहीं है । (यहाँ यह समझना आवश्यक है कि तीन पाँच दश आहुतियाँ ६-६ बार देनी पड़ेगीं क्योंकि १-१ गुण के लिये ३,५,१० बार आहुति देना उत्तम है । यदि शक्ति न हो तो एक-एक गुण के लिये १-१ ही आहुति दे) ।

द्रव्य के विषय में भी यहाँ विकल्प खुला है—यह कहते हैं—

(उक्त आहुतियाँ) तिलों से या घृत से दी जा सकती हैं ॥ -४४८- ॥

दीक्षा के अन्त में शिष्य के अवभृथस्नान को कहते हैं—

हे सुव्रते ! इसके बाद मूल मन्त्र से अभिषेक करना चाहिये ॥-४४८॥

मूलमन्त्र से अभिमन्त्रित शिवकुम्भ के जल से अथवा मूलमन्त्र का उच्चारण करते हुए शिवकुम्भ के जल से अभिमन्त्रण करना चाहिये ॥ ४४८ ॥

कैसे—

आचार्य शक्तिरूपी पर अमृत को क्षुब्ध कर शिष्य के शिर पर (जलधारा) गिराये । वह जल शिष्य के तुर्य द्वार में बाहर भीतर सर्वत्र प्रवेश कर रहा है—ऐसी भावना करनी चाहिये ॥ ४४९ ॥

आचार्य शिष्य की आत्मा को द्वादशान्त में विश्रान्त करा कर उस स्थान को जो कि आनन्दस्पर्शस्वरूप, पर, शक्तिरूपी अमृत वाला है, क्षुब्ध कर = उसका विमर्श कर, (यह अमृतजल) धारा शिष्य के द्वादशान्त से उसके शिर पर गिर रही है—ऐसी भावना करता हुआ (जल—) धारा गिराये । तुर्यद्वार का अर्थ है— जहाँ तुरीय अवस्था का अनुभव होता है वह = ब्रह्मरन्ध्र ॥ ४४९ ॥

अभिषेकप्रयोजनमाह—

मन्त्रशक्तिभिरुग्राभिः शोषनिर्दहनादिभिः ।
शरीरं शोष्यते ताभिस्तदर्थमभिषेचनम् ॥ ४५० ॥

ताभिः पूर्वोक्ताभिर्मन्त्रशक्तिभिः । शोषनिर्दहनादिभिरिति करणे तृतीया । तदर्थमिति शोषनिवृत्तये ॥ ४५० ॥

अथ—

दीक्षानिर्वर्तनात् पूर्वं पुष्पं पाणौ प्रदापयेत् ।
दर्भं विमोचयित्वा च...........

पूर्वं (परतत्त्वस्य) कल्पनाय दत्तं दर्भं विमुञ्चेति शिष्यं प्रयुज्य पारितोषिकं पुष्पमस्य हस्ते दद्यात् । यद्वा णिच् विवक्षितस्तेन गुरुरात्मनः पाणौ प्रदापयेद् देहीति शिष्यं प्रयुञ्जीत, विधिर्दक्षिणाहीनो मा भूदित्यभिप्रायात् । एवं च वदन् गुरोर्निःस्पृहत्वं सूचयति । शिष्यस्तत्कालं वित्तशाठ्यहीनो यद्दाति ददातु तत्,

---

अभिषेक का उद्देश्य बतलाते हैं—

शोषण (= सुखाना) निर्दहन आदि करने वाली उन उग्र मन्त्र शक्तियों के द्वारा (शिष्य का) शरीर सुखा दिया जाता है । इसलिये शिष्य का अभिषेक किया जाता है ॥ ४५० ॥

उन = पूर्वोक्त मन्त्र शक्तियों, के द्वारा । 'शोषनिर्दहनादिभिः' यहाँ करण अर्थ में तृतीया है (जबकि ताभिः उग्राभिः मन्त्र शक्तिभिः यहाँ कर्मवाच्य के कारण कर्त्ता अर्थ में तृतीया है) । तदर्थ = शोषण को दूर करने के लिये ॥ ४५० ॥

इसके बाद—

दीक्षा को सम्पन्न करने से पहले (आचार्य) दर्भ का विमोचन करा कर (शिष्य के) हाथ में पुष्प दे (यहाँ 'प्रदापयेत्' में स्वार्थे णिच् मानाना पड़ेगा) ॥ ४५१- ॥

पहले (परतत्त्व की[1]) कल्पना के लिये (शिष्य के हाथ में) दिये गये कुश को छोड़ने के लिये आचार्य उससे कहे कि 'कुश का त्याग करो' । फिर उस शिष्य के हाथ में परितोषिक के रूप में पुष्प दे । (यदि 'प्रदापयेत्' में 'हेतुमति च' पा०सू० ३।१।२६ से प्रेरणा अर्थ में) 'णिच्' प्रत्यय मानते हैं तो इस प्रकार अर्थ होगा— गुरु शिष्य के द्वारा अपने हाथ में पुष्प रखवाये अर्थात् 'मेरे हाथ में पुष्प दो' ऐसा शिष्य से कहे । इसके पीछे अभिप्राय यह है कि विधि दक्षिणाहीन न हो । केवल पुष्प देने की बात कहने से आचार्य की निःस्पृहता झलकती है । शिष्य तत्काल

---

१. द्रष्टव्य—स्व०तं० ४।४२१

गुरुणा तु निःस्पृहेणैव भाव्यमित्यर्थः ॥

अथ शिष्यः—

............शिवाग्नौ कलशे गुरौ ॥ ४५१ ॥

प्रत्येकम्—

प्रदक्षिणत्रयं कृत्वा दण्डवन्निपतेद् भुवि ।

चतुरधिकरणः शिवो मम प्रकर्षेण दक्षिणोऽनुकूलः सर्वदशास्वादिमध्यान्तपदेष्वस्तु इत्याशयेन त्रिःप्रदक्षिणीकरणम्, दण्डवन्निपतनं शरीरादिगुणीकरणेन शिवसमावेशाय ॥

अत एव—

कृतकृत्यः प्रहृष्टात्मा भवोत्तीर्णः सुनिर्मलः ॥ ४५२ ॥
प्रोत्फुल्लनयनः शान्तस्तृप्तात्मानं तु भावयेत् ।

कृतं पाशक्षपणशिवत्वव्यक्तिरूपं कृत्यं यस्य, अत एव प्रहृष्टात्मा पूर्णचिदा-

---

वित्तशाठ्य (= पास में धन के रहते हुए कृपणता) को छोड़ कर जो देता है वह दे किन्तु गुरु को तो निःस्पृह ही रहना चाहिये ॥

इसके बाद शिष्य—

शिवाग्नि (= होमसम्पन्नकुण्डस्थ अग्नि) कलश एवं गुरु प्रत्येक की तीन-तीन प्रदक्षिणा कर भूमि पर दण्डवत् (= साष्टाङ्ग) प्रणाम करना चाहिए ॥ -४५१-४५२- ॥

(प्रदक्षिणा शब्द का अर्थ है—प्र = प्रकर्षेण, दक्षिण = अनुकूल) । तीन बार प्रदक्षिणा का तात्पर्य—चतुराधिकरण (= शिव, अग्नि, कलश और गुरु) शिव मेरे प्रति अत्यन्त अनुकूल हों । तीन बार प्रदक्षिणा करने का तात्पर्य है आदि मध्य अन्त सब दशाओं में अनुकूल हों । दण्ड के समान धरती पर लेटने का अभिप्राय है—शरीर आदि को गौण करते हुए शिवसमावेश के लिये पतन हो रहा है ॥

इसलिये—

प्रसन्न मन, उत्फुल्ल नेत्र वाला शिष्य अपने विषय में इस प्रकार भावना करे कि मैं कृतकृत्य, संसार से पार, निर्मल, शान्त और तृप्त हो गया हूँ ॥ -४५२-४५३- ॥

('कृतकृत्य' का अर्थ है—) जिसके द्वारा पाश का नाश और शिवत्व की अभिव्यक्ति रूपी कृत्य कर लिया गया है वह । इसलिये वह प्रहृष्टात्मा = पूर्ण चिदानन्द के अनुभव वाला हो गया है । फलस्वरूप संसार से उत्तीर्ण और

नन्दानुभवोऽतश्च भवादुत्तीर्णः, परमशिवत्वव्यक्त्या सुष्ठु निर्मलः, तथाभूतः सन्नपि व्युत्थानाद्यवसरेषु तृप्तात्मानमिति गुरूपदेशादिसमये पूर्णानन्दघनमात्मानमनुभूतचरं भावयेत्, येन सदैव तन्मयीभवति । अत्रोपायप्रकटनाय विशेषण (द्वा)रकं हेतुमाह—प्रोत्फुल्लनयनः शान्त इति ।

'कैवल्यं जायते सद्यो नेत्रयोः स्तब्धमात्रयोः ।' (वि०भै० ११३)

इति रहस्यदृष्ट्यनुसारेण निर्लक्ष्यस्तब्धदृष्टिबन्धः शान्तो विगलिताभिलाषप्रक्षीणसकलविकल्पजालश्च ॥

उपसंहरति—

इयं नैर्वाणिकी दीक्षा निर्बीजा वा सबीजिका ॥ ४५३ ॥

'अथ दीक्षाध्वशुद्ध्यर्थं' (४।७९)

इत्युपक्रम्य

'पाशसूत्रं समादाय शिष्यदेहेऽवलम्बयेत्' (४।९१)

इत्यतः प्रभृति

'दण्डवन्निपतेद्भुवि' (४।४५२)

परशिवत्व की व्याप्ति से सुनिर्मल है । वैसा होने पर भी व्युत्थान (= सांसारिक व्यवहार) के समय अपने को तृप्त गुरूपदेश आदि के समय अपने को पूर्ण नन्दघन के अनुभव से युक्त समझे । इससे वह शिष्य सदैव तन्मय (= आनन्दमय) रहता है । इस विषय में उपाय को प्रकट करने के लिये विशेषण के द्वारा कारण बतलाते हैं—शिष्य प्रोत्फुल्ल नेत्रों एवं शान्त मन वाला होता है ।

दोनों नेत्रों के स्तब्ध होने से तत्काल कैवल्य हो जाता है । (वि०भै० ११३)

इस रहस्यदृष्टि के अनुसार शिष्य लक्ष्यविहीन, स्तब्ध नेत्र वाला, शान्त, इच्छारहित और विकल्प समूह से पृथक् हो जाता है ॥

उपसंहार करते हैं—

सबीज या निर्बीज यह दीक्षा निर्वाण दीक्षा कही जाती है ॥ -४५३ ॥

अब दीक्षा में अध्वा की शुद्धि के लिये (४।७९)

से प्रारम्भ कर—

'पाशसूत्र को लेकर शिष्य के देह पर लटका देना चाहिये ।' (४।९१)

वर्णन करते हुए

'(शिष्य) दण्ड की भाँति पृथिवी पर गिर कर प्रणाम करे ।' (४।४५२)

इत्यन्तं या निर्बीजा वा सबीजा वा दीक्षोक्ता, सा उभय्यपि निर्वाणप्रयोजना। 'वा'ग्रहणेनेदमाह—

द्वयोरपि दीक्षयोः प्रोक्तो यः पाशक्षपणशिवयोजनात्मा विधिः स तुल्यः, केवलं निर्बीजायां मायीयपाशशुद्धिभावनावसरे समयपाशमप्यन्तःशुद्धं भावयेत्, न तु तेषां शुद्धौ विध्यन्तरमस्ति । पूर्वं हि—

'समयाचारपाशं तु निर्बीजायां विशोधयेत्' (४।१४७)

इत्येतावन्मात्रमुक्त्वा

'एवं भावानुसारेण शिष्याणां गुरुणा सदा।
फलं तु विविधाकारं निष्पाद्येत सुदीक्षया ॥' (४।१५०)

इत्युक्तम् । तथा

'.................मुख्याः पाशा इमे स्मृताः ।
सूक्ष्मपाशाननेकांश्च तदन्तर्भावयेत्.......... ॥' (४।१५८)

इत्यप्युक्तम् । अतो निर्बीजायां समयपाशा मायीयपाशान्तर्भूता एव शोध्यत्वेन भाव्याः, तेषां क्रव्यादभोगप्रदत्वश्रुतेर्मायीयपाशान्तर्भावस्यैवोदितत्वात् । अत एव

यहाँ तक जो निर्बीज या सबीज दीक्षा कही गयी उन दोनों दीक्षाओं का प्रयोजन निर्वाण प्राप्त करना है । श्लोक में 'वा' के कथन का यह तात्पर्य है—

दोनों दीक्षाओं में पाशक्षपण और शिवयोजना रूप विधियाँ एक समान है । अन्तर केवल इतना है कि निर्बीज दीक्षा में मायीय पाशशुद्धि की भावना करते समय समयपाश की शुद्धि की भी भावना अन्दर करनी पड़ती है (सबीज दीक्षा में यह भावना नहीं करनी पड़ती) । अन्य पाशों की शुद्धि के लिये दोनों दीक्षाओं में विधि समान है । पहले—

'निर्बीज दीक्षा में समयाचार पाश का शोधन करना चाहिये ।' (४।१४७)

इतना ही कह कर—

'इस प्रकार गुरु शिष्यों की भावना के अनुसार अनेक प्रकार के फलों को दीक्षा के द्वारा निष्पन्न कराये ।' (४।१५०)

यह कहा गया । तथा—

'ये पाश मुख्य कहे गये । अनेक सूक्ष्म पाशों को इन्हीं के अन्दर समझना चाहिये ।' (४।१५८)

यह भी कहा गया । इसलिये निर्बीज दीक्षा में समय पाशों के शोधन की भावना मायीय पाश की भावना के अन्दर ही करनी चाहिये क्योंकि उन (= समय पाशों) की क्रव्यादभोगप्रदत्व श्रुति ('क्रव्यादत्वं शतं समाः') इति श्रुति के कारण

श्रीपूर्वशास्त्रे कण्ठगतमायीयपाशशुद्ध्यन्ते समयपाशशुद्धिरुक्तेत्येतावतैव तन्त्रभेदः । एवं दीक्षाद्वयवि(ध)[1]रेकरूपत्वेनोपसंहृतत्वाद् यत् पूर्वं पुर्यष्टकांशार्पणं निर्बीजैकविषयमुक्तम्, तदयुक्तमेव मन्तव्यम् ॥ ४५३ ॥

एवं समयपुत्रकयोर्दीक्षामुक्त्वा आचार्यसाधकयो प्रक्रमते ताम्—

तेषां सबीजिका दीक्षा कुर्यात्तेष्वभिषेचनम् ।

'विद्वद्द्वन्द्वसहानां तु सबीज' (४।८८) इत्युक्तत्वात् तानेवाचार्यत्वे साधकत्वे वाभिषिञ्चेदित्यर्थः ॥

तत्र—

श्रुतशीलसमाचारान् देशकत्वे नियोजयेत् ॥ ४५४ ॥

श्रुतं पारमेश्वरसंहितायां गुरुतस्तात्त्विकार्थपरिज्ञानम्, शीलं वाङ्मनःकायविषया यमनियमाः, सम्यगाचारः शास्त्रानुष्ठानात्मा, एते विद्यन्ते येषां तान् दिशतीति देशक उपदेष्टा आचार्यः, तद्रूपत्वे नियुञ्जीतेत्यर्थः ।

मायीय पाश में ही उनका अन्तर्भाव कहा गया है । इसीलिये मालिनीविजयतन्त्र में कण्ठ में वर्तमान मायीय पाश की शुद्धि के अन्त में समयपाश की शुद्धि कही गयी है ।[2] बस इतना ही अन्तर है । चूँकि दोनों दीक्षाविधियों का उपसंहार एक रूप में हुआ है इसलिये जो पहले यह कहा गया कि पुर्यष्टकांश का अर्पण केवल निर्बीजविषयक है, इसे असमीचीन मानना चाहिये ॥ ४५३ ॥

इस प्रकार समयी और पुत्रक के विषय में दीक्षा का कथन कर आचार्य और साधक के विषय में उस दीक्षा को बतलाते हैं—

जिनकी सबीज दीक्षा हो चुकी है उनका अभिषेक करना चाहिये ॥४५४-॥

'शास्त्र के विद्वानों एवं शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों को सहने वालों के लिये सबीज दीक्षा है' (४।८८)—ऐसा कथन होने से उन्हीं लोगों का आचार्य और साधक के रूप में अभिषेक करना चाहिये ।

उनमें से—

श्रुत शील और समाचार से युक्त व्यक्ति को आचार्य पद पर अभिषिक्त करना चाहिये ॥ -४५४ ॥

श्रुत = पारमेश्वर संहिता के विषय में गुरु से प्राप्त तात्त्विक अर्थ का ज्ञान । शील = शरीर वाणी एवं मन विषयक यम और नियम । (समाचार =) सम्यक् आचार = शास्त्रों का अनुष्ठान । ये सब गुण जिनके पास हैं उन (गुणों) का उपदेश देने वाला देशक अर्थात् आचार्य होता है । उसे उपदेशक के रूप में

---

१. धि ।

२. द्रष्टव्य—मा.वि.तं. ९।७१

अथाभिषेक आचार्ये शिवयोगादनन्तरम् ।

शिवयोगो योजनान्तो दीक्षाविधिस्तस्य पश्चात् ॥

केन कार्यः ?—इत्याह—

पञ्चभिः कलशैर्भद्रे सितचन्दनलेपितैः ॥ ४५५ ॥
शिवकुम्भवदभ्यर्च्य रत्नगर्भाम्बुपूरितैः ।
ऋद्धिवृद्ध्यादिभिः पूतैरोषध्यक्षतपूरितैः ॥ ४५६ ॥
सितपद्ममुखोद्गारैश्चूतपल्लवसंयुतैः ।

ऋद्धिवृद्धी आयुर्वेदप्रसिद्धे ओषध्यौ । पृथगोषधीशब्दः सहदेव्यादौ । सितपद्मान्येव मुखानि तैरुद्गार उल्लासो भोगमोक्षलक्ष्मीपरामर्शश्च विद्यते येषाम् । चूतपल्लवादीनि सच्छायपत्रान्तराद्युपलक्षणाय ॥

अथैतेषु—

पृथिव्यादीनि तत्त्वानि पञ्च पञ्चसु विन्यसेत्॥ ४५७ ॥
कलशेषु महादेवि पुनश्चैव कलां न्यसेत् ।

नियुक्त करना चाहिये ॥

शिवयोग के बाद आचार्य का अभिषेक करना चाहिये ॥ ४५५- ॥

शिवयोग = योजनापर्यन्त होने वाली दीक्षाविधि । उसके बाद अभिषेक करना चाहिये ॥

किन वस्तुओं के द्वारा अभिषेक करना चाहिये ? यह बतलाते हैं—

हे भद्रे ! पाँच कलशों को सफेद चन्दन से उपलिप्त करे । उसे रत्न और जल से पूरित करे । ऋद्धि वृद्धि आदि (= सिद्धि) से पवित्र उस कलश में औषधि एवं अक्षत डाल दे । उस कलश के मुख पर आम्रपल्लव और श्वेत कमल रखे ॥ -४५५-४५७- ॥

ऋद्धि और वृद्धि आयुर्वेद में प्रसिद्ध औषधियाँ हैं । श्लोक में अलग से 'ओषधि' शक का प्रयोग सहदेवी (= सहदेवा, सह देइया) आदि के विषय में विहित है । सितपद्म ही मुख हैं, उनके द्वारा उद्गार = उल्लास और भोगेमोक्षलक्ष्मी का परामर्श जिनके पास है उनके द्वारा । चूतपल्लव आदि—छायादार दूसरे पत्रों का उपलक्षण के लिये है ॥

इसके बाद इन—

पाँचों कलशों में हे महादेवि ! पृथिवी आदि पाँच महाभूतों का न्यास

---

१. द्धि । २. ला

ताश्च—

निवृत्त्याद्याः कलाः पञ्च तेषु चैवात्र विन्यसेत् ॥ ४५८ ॥

तेष्विति पृथिव्यादिषु व्यापकत्वेन, चकारः सहक्रमं सूचयति ॥ ४५८ ॥

तेष्वेवासनपक्षे—

एकैककलशे व्याप्यो ह्यनन्तादिशिवान्तकः ।

भुवनेशपुञ्जः ॥

तत्र च—

पूजयेद् भैरवं देवं सर्वसम्भारकैः क्रमात् ॥ ४५९ ॥
षडङ्गावरणोपेतं मन्त्रसन्धानसंयुतम् ।

क्रमो निवृत्तिकलशः पूर्वमित्यादिरूपः, आवरणानि श्मशानवर्जानि, इति केचित् ॥

एवं सम्पूज्य—

करे । तत्पश्चात् उसमें कला का आवाहन करे । उन निवृत्ति आदि (= प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ता और शान्त्यतीता) पाँच कलाओं का उनके साथ इन (= कलशों) में न्यास करे ॥ -४५७-४५८ ॥

उनमें = पृथिवी आदि में व्यापक रूप से (स्थित) । श्लोकस्थ 'च'कार साथ-साथ न्यास की बात सङ्केतित करता है ॥ ४५८ ॥

इन्हीं (= कलशों) में आसन की दृष्टि से—

एक-एक कलश में अनन्त (= ब्रह्मा) से लेकर शिव पर्यन्त (विष्णु, रुद्र ईश्वर और सदाशिव) (भुवनेशपुञ्ज) का न्यास करना चाहिये ॥४५९-॥

भुवनेशपुञ्ज का न्यास करे ॥

उन (= कलशों) में—

अङ्गावरण से (= सर्वज्ञता आदि छः गुण ही छः अङ्गरूपी आवरण हैं उनसे) युक्त तथा मन्त्रसन्धान से संश्लिष्ट भैरव देव की सभी पूजा सामग्रियों के द्वारा क्रम से पूजा करनी चाहिये ॥ -४५९-४६०- ॥

क्रम = पहले निवृत्ति कलश का (उसके बाद प्रतिष्ठा आदि कलशों का) । कुछ लोगों के अनुसार 'आवरण' का अर्थ है श्मशानरहित (अर्थात् यहाँ पर श्मशानेश भैरव रूप आवरण देवता को छोड़ कर शेष की पूजा होगी) ॥

इस प्रकार पूजन कर—

भैरवेणाभिमन्त्रेत एकैकं कलशं प्रिये ॥ ४६० ॥
अष्टोत्तरशतेनैव परतत्त्वमनुस्मरन् ।

एषां कलानुसारां दिक्स्थितिमाह—

वारुण्यां सौम्ययाम्यायामेन्द्र्यामैश्यां तथैव च॥ ४६१ ॥
सम्पूज्यैवं विधानेन अभिषेकं समाचेरत्।

तत्र—

यागहर्म्यस्य ऐशान्यां पीठं सङ्कल्पयेद् बुधः ॥ ४६२ ॥

पीठमासनम् ॥ ४६२ ॥

कथम्—

तत्र मण्डलकं कृत्वा स्वस्तिकादिविभूषितम् ।
वितानोपरिसंच्छन्नं ध्वजैश्च परिशोभितम् ॥ ४६३ ॥
तत्रासनं न्यसेद् देवि श्रीपर्णीचन्दनोद्भवम् ।

श्रीपर्णीचन्दने प्रशस्तपदत्वोपलक्षणे ॥

हे प्रिये ! पर तत्त्व का स्मरण करते हुए एक-एक कलश का भैरव मन्त्र से १०८ बार अभिमन्त्रण करे ॥ -४६०-४६१- ॥

इन (= कलशों) की कला के अनुसार दिक् स्थिति को बतलाते हैं—

(आचार्य को इन कलशों की) पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, पूर्व और ईशान दिशाओं में स्थापना कर विधिपूर्वक पूजन करना चाहिए फिर अभिषेक करना चाहिए ॥ -४६१-४६२- ॥

उसमें—

यागगृह की ईशान दिशा में विद्वान् आचार्य पीठ (= आसन) की संरचना करे ॥ -४६२ ॥

पीठ रूप आसन की रचना करे ॥ ४६२ ॥

यह संरचना किस प्रकार होगी—(यह बतलाते हैं—)

वहाँ (= यागगृह के ईशान कोण में) स्वस्तिक आदि से अलङ्कृत एक मण्डल बनाये । उसके ऊपर वितान खड़ा करे और चारो ओर ध्वजाओं को गाड़ दे । हे देवि ! उस मण्डल के ऊपर श्रीपर्णी (= खम्भारी, गम्भारी, काश्मरी) एवं चन्दन अर्थात् सुगन्धित द्रव्यों का आसन बनाये ॥ ४६३-४६४- ॥

श्रीपर्णी और चन्दन प्रशस्तपद (= उत्तमस्थिति) के उपलक्षण हैं ॥

तत्रानन्तासनं न्यस्य मूर्तिभूतं शिशुं न्यसेत् ॥ ४६४ ॥
पूर्ववत् सकलीकृत्य ऐशान्यभिमुखं स्थितम् ।

तत्रेति श्रीपर्ण्याद्यासने, शिशुमाचार्यीचिकीर्षितम् ॥

अथ—

गन्धपुष्पादिनाभ्यर्च्य निर्भर्त्स्यः काञ्चिकौदनैः॥ ४६५ ॥
मृद्भस्मगोमयैः पिण्डैर्दूर्वाङ्कुरसमाश्रितैः ।
सिद्धार्थदधितोयैश्च नीराजनसमन्वितैः ॥ ४६६ ॥

काञ्चिकादिद्रव्यपूर्णेन कुम्भेनोपरि निःशेषराजनात्मतया नीराजनादिदीपयुक्तेन निर्भर्त्स्यः प्रशान्तविघ्नः शिशुः कार्य इत्यर्थः ॥

अथ—

निर्भर्त्स्यैवं विधानेन अभिषेकं प्रदापयेत् ।
पृथिव्यादिघटास्यैर्वा धामानुस्मृत्य सेचयेत् ॥ ४६७ ॥

उस (= आसन) पर अनन्त के आसन को रख कर पूर्व की भाँति सकलीकरण करने के बाद ईशान दिशा की ओर मुख किये हुए मूर्त्तिभूत शिशु को स्थापित करे ॥ -४६४-४६५- ॥

वहाँ = श्रीपर्णी आदि वाले आसन पर । शिशु को = जिसको आचार्य बनाने की इच्छा है उस शिशु को ॥

इसके बाद—

(उस शिशु की) गन्ध पुष्प आदि के द्वारा पूजा करके नीराजन (= दीपक) से युक्त काञ्चिक (= हल्दी) चावल, मिट्टी, भस्म, गोबर दूर्वाङ्कुर से बने पिण्ड (= मुट्ठी), सिद्धार्थ (= पीली या सफेद सरसो) दधि और पानी से युक्त कुम्भ से उसे शिशु का निर्भर्त्सन (= विघ्न शान्ति) करे ॥ -४६५-४६६ ॥

शिशु के ऊपर, नीराजन (पूर्णरूपेण राजन = दीप्त होने से नीराजन) आदि दीप से युक्त काञ्चिक आदि द्रव्यों से परिपूर्ण घट से निर्भर्त्सन के हेतु जल छिड़कना चाहिये अर्थात् शिशु के समस्त विघ्नों को शान्त करना चाहिये ॥

तत्पश्चात्—

इस प्रकार विधिपूर्वक निर्भर्त्सन कर अभिषेक करना चाहिये । पृथिवी आदि के प्रतीकस्वरूप घटों के मुखों से धाम (= परतत्त्व) का स्मरण करते हुए सिञ्चन ॥ ४६७ ॥

ईशानान्तैः पृथिव्यादिकलशानामास्यैर्वक्त्रैः सिञ्चेत् । णिजविवक्षितोऽत्र एवमन्यत्र। घटाद्यैरिति त्वपपाठः ॥ ४६७ ॥

किं च—

क्रमाद् ध्यात्वा कलशेषु.........

निवृत्त्यादिव्याप्तिक्रमेण चिन्तयित्वा, इत्यर्थः ॥

कः?—

.............आचार्यः सुसमाहितः ।

शिवावेशशालीत्यर्थः ॥

अथायं यथायथम्—

अभिषिक्तोऽन्यवासस्तु परिधाप्याचमेत् ततः ॥ ४६८ ॥

मायीकञ्चुकप्रक्षेपव्याप्त्या पूर्ववस्त्रत्यागः । परमशिवप्रकाशपरीतताव्याप्त्या अन्यद्वासः परिदधीत ॥ ४६८ ॥

आचान्तजलं शिष्यम्—

प्रविश्य दक्षिणां मूर्तिं..........

तत्रास्य व्याख्यातव्याप्त्यानन्तासनरूपम्—

पूर्वोक्त ईशान पर्यन्त रखे गये पृथिवी आदि के प्रतीकभूत कलशों के मुखों से सिञ्चन करना चाहिये । 'सेचयेत्' में णिच् प्रत्यय का प्रयोग अविवक्षित है (उसे केवल छन्दों भङ्ग न हो इसलिये प्रयोग में लाया गया है) । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिये । 'घटास्यैः' की जगह 'घटाद्यैः' अपपाठ है ॥ ४६७ ॥

तथा—

आचार्य (कलशों में निवृत्ति आदि की व्याप्ति के क्रम से पृथिव्यादि का ध्यान कर) सुसमाहित (अर्थात् शिवावेशमय) हो जाय । (इसके बाद क्रमशः) अभिषिक्त हुआ आचार्य दूसरे वस्त्र को पहन कर आचमन करे ॥ ४६८ ॥

मायीय ५ कञ्चुक (= कला विद्या राग काल नियति) के प्रतीक स्वरूप पूर्ववस्त्र का त्याग करना चाहिये । परमशिव के प्रकाश से युक्त समझ कर दूसरा नवीन वस्त्र का धारण करना चाहिये ॥ ४६८ ॥

शिष्य भी उसी प्रकार जल का आचमन करे । (फिर आचार्य उस) —

दक्षिणामूर्त्ति (= शिव की ही एक मूर्त्ति) में प्रवेश कर (उसके लिये

................योगपीठं प्रकल्पयेत् ।

तत्रैवम्—

संस्थाप्य सकलीकृत्य..............

अस्मै—

...............अधिकारं प्रकल्पयेत् ॥ ४६९ ॥

कथमित्याह—

उष्णीषं मुकुटाद्यांश्च छत्रं पादुकमासनम् ।
हस्त्यश्वशिविकाद्यांश्च राजाङ्गानि ह्यशेषतः ॥ ४७० ॥
करणीं कर्तरीं खटिकां स्रुक्स्रुवौ दर्भपुस्तकम् ।
अक्षसूत्रादिकं दत्त्वा................

उष्णीषश्च शिरसि बन्धनाय पटः । मुकुटादिकमाभरणजातं भूषणार्थम् । शिविका युग्यम् । राजाङ्गानि तूर्यभेर्यादीनि । करण्याद्याचार्यतोपयोगि । 'आदि' ग्रहणाद् दूत्यर्घपात्रादिकम् ॥

अधिकारं व्याचष्टे—

..................चतुराश्रमसंस्थिताः ॥ ४७१ ॥
दीक्ष्यानुग्रहमार्गेण दीक्षा व्याख्या त्वया सदा ।

मूर्त्ति के अन्दर पूर्व व्याख्यात व्याप्ति के द्वारा अनन्त के आसन रूप) योगपीठ की कल्पना करे । वहाँ पर इस प्रकार शिष्य को बैठा कर और उसका सकलीकरण कर उसे अधिकार से युक्त करे ॥ ४६९ ॥

किस प्रकार उसे अधिकार युक्त करे—यह कहते हैं—

उष्णीष, मुकुट, छत्र, चरणपादुका, आसन, हाथी, घोड़ा, पालकी आदि समस्त राजोचित साधन तथा करणी, कर्त्तरी, खटिका, स्रुक्, स्रुवा, दर्भ का पुस्तक (= मुट्ठी) अक्षमाला आदि देकर (आचार्य शिष्य को अधिकारयुक्त करे) ॥ ४७०-४७१- ॥

उष्णीष = शिर पर बाँधने की पगड़ी । मुकुट आदि आभूषण, इसे शिष्य को अलङ्कृत करने के लिये दिया जाता है । शिविका = रथ जिसको घोड़े आदि खींचते हैं । राजाङ्ग = तूर्य भेरी पटह आदि विविध वाद्य । करणी आदि का दान शिष्य को आचार्य बनने के लिये उपयोगी है । 'अक्षसूत्रादिकम्' में आदि पद से दूती अर्घपात्र आदि सभी आचार्योपयोगयोग्य सामग्री को समझना चाहिये ॥

(अब शिष्य के) अधिकार की व्याख्या करते हैं—

अद्यप्रभृति कर्तव्येत्यधिकारः शिवाज्ञया ॥ ४७२ ॥

चतुर्ष्वपि आश्रमेषु ये स्थिताः, तेषां त्वया दीक्षा व्याख्या च कार्या, कथं दीक्ष्याणामायातशक्तिपातत्वाद् दीक्षार्हाणामनुग्रहमार्गेणानुजिघृक्षया, न तु स्नेहलोभादिना, सदेति न कदाचिदपि परानुग्राहितां विना स्थेयमित्यर्थ इत्ययमसौ तवाधिकार आयातः न त्वत्रान्यस्य कस्यापि शक्तिरित्याज्ञा देयेत्यर्थः ॥ ४७२ ॥

अथ तम्-

उत्थाप्य हस्तौ संगृह्य मण्डले तु प्रवेशयेत्।

किं च—

जानुभ्यां धरणीं गत्वा सम्पूज्य भैरवं ततः ॥ ४७३ ॥
विज्ञाप्य............

किम्

.............भगवन्नेवमभिषिक्तस्त्वदाज्ञया।

(हे शिष्य ! तुम) आज से चारो आश्रमों में रहने वाले दीक्षायोग्य व्यक्तियों की दीक्षा और (शास्त्रों एवं शिवतत्त्व की) व्याख्या अनुग्रहमार्ग के द्वारा करोगे । यह अधिकार तुमको भगवान् शिव की आज्ञा से दिया जा रहा है ॥ -४७१-४७२ ॥

चार आश्रमों (= ब्रह्मचर्य गृहस्थ आदि) में जो लोग स्थित हैं उनकी तुम दीक्षा करोगे और शास्त्र में इस दीक्षा आदि का क्या महत्त्व बतलाया गया है तथा शिवतत्त्व क्या है—इत्यादि की व्याख्या भी करोगे । क्यों करोगे? उत्तर देते हैं—क्योंकि दीक्ष्यों के ऊपर शक्तिपात किया जा चुका है इसलिये वे दीक्षा के योग्य हो गये हैं । अनुग्रह मार्ग से = उनके ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से न कि उनके प्रति (अयोग्य होने पर भी) स्नेह होने या उनसे कुछ द्रव्य आदि प्राप्त करने के लोभ से (या भय काम आदि के कारण) । सदा = कभी भी दूसरे को अनुगृहीत किये बिना समय नहीं गँवाना चाहिये । तुम्हें यह अधिकार शिव की आज्ञा से ही प्राप्त हुआ है । इस अधिकारप्रदान में किसी अन्य की शक्ति नहीं है ऐसी आज्ञा देनी चाहिये ॥ ४७२ ॥

इसके बाद आचार्य उसे—

आसन से उठा कर उसके दोनों हाथों को पकड़ कर मण्डल में उसका प्रवेश कराये तथा आचार्य घुटनों के बल उस स्थान पर जाकर भैरव की पूजा कर उनसे निवेदन करे ॥ ४७३ ॥

हे भगवन् ! आपकी आज्ञा से यह दीक्ष्य अभिषिक्त कर दिया गया ।

आचार्यपदसंस्थेन तवानुज्ञाविधायिना ॥ ४७४ ॥

त्वदाज्ञयैवमाचार्यपथे स्थितः ॥ ४७४ ॥

तवाज्ञयैव चायमभिषिक्त इति विज्ञाप्य—

कर्तव्यं यत्तदायातमधिकारं तु देशके ।
शिवतत्त्वार्थकथनं शिवस्य पुरतः स्थितः ॥ ४७५ ॥

यद् गुरुपारम्पर्येणायातं शिवतत्त्वार्थकथनमवश्यकर्तव्यं तदहं तवैव शिवस्य पुरतः स्थितोऽस्य करोमीति विशेषकथनम्, कीदृगधिक्रियतेऽनुगृहीतस्त्वद्रूपः संपद्यते येन तादृक् ॥ ४७५ ॥

अथ—

निर्गत्य भवनादग्नौ कलाध्वानं तु होमयेत् ।

तत्रादौ मूलमन्त्रक्रमेण—

मन्त्रतर्पणकं कृत्वा............

प्रत्येकम्—

...........कलानां पञ्च चाहुतीः ॥ ४७६ ॥

आपकी आज्ञा का पालन करने वाले आचार्य पद पर स्थित मेरे द्वारा यह ॥ ४७४ ॥

आपकी आज्ञा से यह आचार्य पथ में स्थित हुआ है ॥ ४७४ ॥

'आपकी आज्ञा से ही यह अभिषिक्त है'—ऐसा विज्ञापित कर—

आचार्य का जो शिवतत्त्वार्थकथन रूपी कर्त्तव्य और अधिकार परम्परा से मुझे प्राप्त था वह आप शिव के समक्ष स्थित मैं (इसे दे रहा हूँ) ॥ ४७५ ॥

गुरु की परम्परा से प्राप्त जो शिवतत्त्वार्थकथन रूप अवश्यकर्त्तव्य उसे मैं आप शिव के सामने स्थित हुआ इस शिष्य के अधिकार में दे रहा हूँ । कैसा यह अधिकृत किया जा रहा है ?—उत्तर देते हैं—जिस कारण यह आपके द्वारा अनुगृहीत होकर आप जैसा हो गया है वैसा ॥ ४७५ ॥

इसके बाद—

यागगृह से निकल कर कलाध्वा का होम करना चाहिये ॥ ४७६- ॥

इस (अनुष्ठान) में पहले मूलमन्त्र के क्रम से—

मन्त्र का तर्पण कर फिर (प्रत्येक) कला के लिये पाँच-पाँच आहुतियाँ देनी चाहिये ॥ -४७६ ॥

दद्यात् ॥ ४७६ ॥

तदित्थम्—

पञ्च पञ्चसु सर्वासु हुत्वा पूर्णाहुतिं गुरुः ।

अर्थान्मूलेन दद्यात् ॥

अथ—

अर्घपूजादिकं कृत्वा प्रणम्य ख्यापयेत् प्रभोः ॥ ४७७ ॥

किम्—

अभिषिक्तो मयाचार्यस्तदर्थं मन्त्रतर्पणम् ।

वह्नौ कृतमित्येतद्वस्तु ख्याप्यमित्यर्थः ॥

अथास्य—

हृदाद्यैः पञ्चभिश्चाङ्गैर्दक्षिणं लाञ्छयेत् करम् ॥ ४७८ ॥

नेत्रस्य मूलाभिन्नव्याप्तिकत्वात्तद्वर्जितैः ॥

आहुति देनी चाहिए ॥ ४७६ ॥

इस प्रकार—

गुरु को सभी पाँच कलाओं के लिये पाँच-पाँच पूर्णाहुतियाँ मूल मन्त्र से देना चाहिए ॥ ४७७- ॥

अर्थात् मूलमन्त्र से पूर्णाहुति करे ॥

इसके बाद—

गुरु अर्घ पूजा आदि कर शिव को प्रणाम करे और उनसे निवेदन करे ॥ -४७७ ॥

क्या (निवेदन करे—यह बतलाते हैं—)

मैंने आचार्य का अभिषेक कर दिया । उसके लिये मन्त्र का तर्पण अग्नि में किया गया ॥ ४७८- ॥

वह्नि में मन्त्र तर्पण किया गया यह वस्तु बतलानी चाहिये ॥ ४७७ ॥

इसके बाद इस (शिष्य) के—

दाँयें हाथ को हृदय आदि पाँच अङ्गों से लाञ्छित करे ॥ -४७८ ॥

चूँकि नेत्र मूलमन्त्र से अभिन्न व्याप्ति वाला है इसलिये उसको छोड़कर अन्य हृदय आदि से लाञ्छन करे ॥

कथम्—

दर्भोल्मुकं शिवाग्नौ तु..........

कृत्वा ॥

तेनैव—

..........कनीयस्यादि लाच्छयेत् ।

कनीयस्याद्यङ्गुलीर्हृदादिमन्त्रैः क्रमेण दर्भोल्मुकेन स्पृशेत्; येनास्य मन्त्रा दीप्ताः करणरूपा झटिति तत्तत्कार्यशक्ता भवन्ति, एतत्करस्पर्शात् पाशा दग्धबीजकल्पा यान्तीत्यर्थः ॥

इत्थं समुत्पन्नाभिषेकस्य विधिरयं फलत्विति धिया पारितोषिकम्—

पुष्पं पाणौ प्रदद्यात्तु...............

तं च—

..............मण्डलाग्नौ प्रपायेत् ॥ ४७९ ॥

शिष्यं दण्डवत् प्रणामार्थम् ।

स च—

भैरवं कलशं चाग्निं नमस्कृस्य तु दण्डवत् ।

कैसे (लाञ्छन करे—यह बतलाते हैं—)

शिवाग्नि (= हवन कुण्ड की अग्नि) में दर्भ का उल्मुक (= जिसका एक सिरा जलता हुआ हो वैसा) बनाकर (उसी के द्वारा) कनीयसी (= कनिष्ठा) आदि अङ्गुलियों को लाञ्छित करना चाहिए (= दाग दे, स्पर्श कराये) ॥ ४७९- ॥

कनीयसी (= कनिष्ठा) आदि अङ्गुलियों का हृदादि मन्त्र का उच्चारण करते हुए दर्भोल्मुक से स्पर्श कराये । इससे हृदादि मन्त्र दीप्त हो जाते हैं । और करण (= साधन) रूप में तत्तत् कार्य को करने में समर्थ हो जाते हैं । इस हाथ के स्पर्श से पाश दग्धबीजकल्प हो जाते हैं ॥

इस प्रकार अभिषेक सम्पन्न इस शिष्य के लिये यह विधि फलीभूत हो इस विचार से—

(आचार्य—शिष्य के) हाथ में पारितोषिक पुष्प दे और (शिष्य को) मण्डल की अग्नि के समक्ष (दण्डवत् साष्टाङ्ग) प्रणाम करवाये ॥-४७९॥

वह (= शिष्य)—

भैरव कलश और अग्नि को दण्डवत् प्रणाम कर अधिकार प्राप्त कर

लब्धाधिकारो हृष्टात्मा दृष्टादृष्टफलान्वितः ॥ ४८० ॥
स गुरुः शिवतुल्यस्तु शिवधामफलप्रदः ।

दण्डवदित्यादावभिप्राय उक्त एव, दृष्टं फलं जीवन्मुक्तिः, अदृष्टं तु परमशिवत्वम् ॥

एवं पुत्रकाचार्यविषयं विधिं निर्वाह्य साधकविषयं तमुपक्रमते—

शान्त्यन्ते भूतिदीक्षा च सदाशिवपदात्मिका ॥ ४८१ ॥

भूतिदीक्षा सदाशिवान्ताणिमादिभोगदीक्षा शान्त्यन्ते शान्त्यन्तपदे योजनान्ते इत्यर्थः । 'च'कारात् शिवयोजनिकारूपापि, यतः—

'येषां सबीजिका दीक्षा कुर्यात्तेष्वभिषेचनम् ।' (४।४५४)

इत्युपक्रान्तम् । सबीजिका च शिवयोजनिकात्मैवोक्ता । अत एवोक्तमन्यत्र—

'अप्रसादाद्भवेत् सिद्धिः प्रसादाच्छाङ्करं पदम् ।' इति ।

यदि सिद्धिविषयेषु माद्यति तदस्य शाङ्करे पदे विघ्नो मा भूदित्येवमर्थं

लेता है । प्रसन्नात्मा वह दृष्ट और अदृष्ट फल से युक्त होकर गुरु बन जाता है और शिवतुल्य होकर अन्य शिष्यों को शिवधाम ले जाने में समर्थ हो जाता है ॥ ४८०-४८१- ॥

दण्डवत् प्रणाम करने में अभिप्राय बतला दिया गया । दृष्टफल = जीवन्मुक्ति । अदृष्टफल = परमशिवत्व (की प्राप्ति) ॥

पुत्रकआचार्यविषयक विधि का वर्णन कर अब साधकविषयकदीक्षा को बतलाने का उपक्रम करते हैं—

शान्ति के अन्त में भूतिदीक्षा और (शिवयोजनिका दीक्षा) सदाशिवपद देने वाली होती है ॥ -४८१ ॥

भूतिदीक्षा का अर्थ है—सदाशिवपर्यन्त अणिमा आदि (= महिमा आदि अष्टसिद्धि नवनिधि इत्यादि) के भोग की दीक्षा । शान्ति के अन्त में = शान्तान्तपद में = शिवयोजना के अन्त में । श्लोकस्थ 'च' का तात्पर्य है—शिवयोजनिका रूप दीक्षा भी वही फल देती है । क्योंकि—

'जिनकी सबीज दीक्षा होती है उनका अभिषेक करना चाहिये ।' (४।४५०)

ऐसा कहा गया । सबीज दीक्षा शिवयोजनिका रूप ही कही गयी है । इसीलिये अन्यत्र कहा गया—

(शिव की) अप्रसन्नता (= असन्तुष्टि) से सिद्धि (= अष्टसिद्धियाँ) मिलती है और उनकी प्रसन्नता होने पर शिवपद का लाभ होता है ।

साधकस्य शिवयोजनिकां कृत्वा सदाशिवे योजना कार्या ॥ ४८१ ॥

तदित्थम्—

शिवधर्मिण्यसौ ज्ञेया...........

साधकदीक्षेति शेषः यत्र सदाशिवतत्त्वे योजनमस्ति ॥

सा च—

..............लोकधर्मिण्यतोऽन्यथा ।

अशुभैकक्षपणात् तत्तद्भुवनेशादिपदयोजनात्मिका ॥

अतश्च—

शिवधर्मिण्यसौ येषां साधकानां प्रकीर्तिता ॥ ४८२ ॥
तेषां कृत्वाभिषेकं तु...............

वक्ष्यमाणरूपम् ।

तानेव—

...............साधकत्वे नियोजयेत् ।

साधक यदि सिद्धि के विषयों में अवलिप्त (= दत्तचित्त) होता है तो साङ्कर पद में विघ्न न हो इसके लिये साधक की शिवयोजनिका दीक्षा कर उसे सदाशिव पद से युक्त कर देना चाहिये (क्योंकि दीक्षा का चरम उद्देश्य शिवत्वलाभ है न कि सिद्धिलाभ) ॥ ४८१ ॥

तो इस प्रकार—

(योगी साधक की यह दीक्षा) शिवधर्मिणी दीक्षा के नाम से जानी जाती है ॥ ४८२- ॥

इसमें साधक को सदाशिव तत्त्व से जोड़ दिया जाता है ॥

और वह—

इससे भिन्न लोकधर्मिणी दीक्षा होती है ॥ -४८२- ॥

इससे साधक के अशुभ का नाश कर उसे तत्तद् भुवनेश आदि पदों से जोड़ा जाता है ॥

इसलिये—

जिन साधकों हेतु यह शिवधर्मिणी दीक्षा कही गयी है उनका वक्ष्यमाण रूप वाला अभिषेक कर (उनको) साधक बनाना चाहिये । साधक का यह

तत्र—

साधकस्याभिषेकोऽयं विद्यादीक्षात उत्तरः ॥ ४८३ ॥

विद्या सकलमन्त्रस्तत्कृता विद्यात्मकसदाशिवपदयोजनात्मा शिवपदयोजनादनन्तरभाविनी या दीक्षा, तत उत्तरः साधकस्यायमितीदानीमेव कथ्यमानप्रकारोऽभिषेकः कार्यः ॥ ४८३ ॥

यद्यपि सकलमन्त्रस्यापि परपदप्राप्तिहेतुत्वमस्ति, तथापि—

विद्यादीक्षा भवेत् सा तु वासनाभेदतः स्थिता ।

उक्तं हि 'मन्त्रमुद्राध्वद्रव्याणां होमः साधारणः' (४।८२) इत्यादि ॥

अत एव—

कर्मभेदो न विद्येत सर्वत्राध्वनि संस्थितः ॥ ४८४ ॥

कर्म पाशक्षपणम् ॥ ४८४ ॥

अतश्च—

कृतानि यानि कर्माणि सर्वाण्यध्वगतानि तु ।
तानि संशोध्य विधिवत् कलापञ्चस्थितानि तु ॥ ४८५ ॥

अभिषेक विद्यादीक्षा के बाद किया जाता है ॥ -४८२-४८३ ॥

विद्या का अर्थ है—सकल मन्त्र । उसके द्वारा सम्पन्न की गयी जो दीक्षा वह विद्यात्मक सदाशिवपदयोजना स्वरूप होती है तथा शिवपद योजना के बाद होती है । साधक का यह अभी कथ्यमान प्रकार वाला अभिषेक उस दीक्षा के बाद करना चाहिये ॥ ४८३ ॥

यद्यपि सकलमन्त्र भी परपदप्राप्ति का हेतु है तथापि—

विद्यादीक्षा ही श्रेष्ठ साधन बतलाया गया है क्योंकि उससे वासना का क्षय होता है ॥ ४८४- ॥

कहा भी गया है—'मन्त्र मुद्रा अध्वा और द्रव्यों का होम साधारण कहा गया है' ॥ (४।८२)

इसलिये—

समस्त अध्वा में स्थित कर्मभेद (= पाशनाश में भेद) नहीं होता ॥-४८४॥

कर्म = पाश का नाश ॥ ४८४ ॥

इसलिये—

अध्वा में वर्त्तमान जितने कर्म किये गये हैं उन सभी का तथा पाँच

योजन्यवसरे भेदो विमर्शः साधकस्य तु ।

पूर्वं च कलात्रये कार्ममलस्थितिः स्थूलतयोक्ता, इह तु सूक्ष्मतया कलापञ्चकेऽपि, इति न कश्चिद् व्याघातः । प्रथमः 'तु' शब्दश्चार्थे भावीन्यपि कर्माणि समुच्चिनोति ॥

अत्र पूर्वोक्तं विधिं स्मारयति—

प्रारब्धं कर्म पाश्चात्त्यं न चैकस्थं तु भावयेत् ॥ ४८६ ॥

वर्तमानदेहे मन्त्राराधनादि यत् प्रारब्धं कर्म पाश्चात्त्यं च यत्तदेकत्र क्षपणीयत्वे स्थितं न भावयेत्, नास्य मन्त्राराधनादि कर्मापि क्षपयेदित्यर्थः ॥ ४८६ ॥

निर्णीतं चैतत्—

साधकस्य तु भूत्यर्थं प्राक् कर्मैकं तु शोधयेत् ।

प्राक् कर्म आगामि चैकस्थं भावयित्वेत्यर्थः ॥

अतश्च—

कलाओं में स्थित कर्मों का विधिवत् संशोधन कर शिवयोजना (= शिवव्याप्ति) के अवसर पर साधक का विमर्शव्यापार ही भेद (= कारण) है ॥ ४८५-४८६- ॥

पहले तीन कलाओं में कार्म मल की स्थिति स्थूल रूप में कही गयी और यहाँ कलापञ्चक में भी सूक्ष्म रूप से कही गयी । इस प्रकार कोई व्याघात नहीं है । श्लोक में पहला 'तु' शब्द 'च' के अर्थ में प्रयुक्त है । इस प्रकार यह 'तु' शब्द भावी कर्मों का भी सङ्ग्रह सङ्केतित करता है ॥

यहाँ पूर्वोक्त विधि का स्मरण कराते हैं—

प्रारब्ध एवं पाश्चात्त्य कर्मों की एक साथ क्षपणभावना नहीं करनी चाहिये ॥ -४८६ ॥

वर्त्तमान देह में मन्त्र की आराधना आदि जो प्रारब्ध कर्म है और जो आगामी (= बाद में किये जाने वाले) है उन दोनों को एक जगह नष्ट करने के लिये स्थित नहीं समझना चाहिये । अर्थात् शिष्य के मन्त्राराधन आदि कर्मों का नाश आचार्य के द्वारा नहीं किया जाना चाहिये ॥ ४८६ ॥

और यह बतला दिया गया कि—

साधक की भूति के लिये प्राक् कर्म और आगामी कर्म की एकत्र स्थित भावना कर शोधन करे ॥ ४८७- ॥

अर्थात् प्राक् कर्म एवं आगामी कर्म की एकत्र स्थित भावना कर ॥

धाम प्रोच्चार्य सकलं सदाशिवतनौ न्यसेत् ॥ ४८७ ॥

सकलं द्वात्रिंशदक्षरम् ॥

कथम्—

विद्यादेहस्वरूपेण ध्यात्वा देवं सदाशिवम् ।
पूर्णाहुतिप्रयोगेन अणिमादिगुणैर्युतम् ॥ ४८८ ॥

विद्यादेहोऽष्टादशभुजः सकलभट्टारकः ॥

अथ—

अणिमादिगुणावाप्तौ मूलमन्त्रस्वसंज्ञया ।
अष्टावेवाहुतीर्दत्त्वा अभिषिञ्चेत्तु साधकम् ॥ ४८९ ॥

यथा निष्कलयोजनानन्तरं तद्गुणापादनं कृतमेवं सकलयोजनानन्तरमस्याणिमादिगुणात्मतापत्तिः कार्या । अत्र सकलमन्त्रपूर्वं साधकानामणिमा भवेत्युच्चार्य पुनः सकलोच्चारपूर्वमणिमादिगुणाय दीक्षात्मने स्वाहेत्यादिप्रयोगः । अणिमादिगुणावाप्ताविति तन्निमित्तम् ॥ ४८९ ॥

इसलिये—

सकल (= बत्तीस अक्षर वाले), धाम (= मन्त्र) का उच्चारण कर सदाशिव तनु में उसका न्यास कर देना चाहिये ॥ -४८७ ॥

यह न्यास कैसे (करना चाहिये—यह कहते हैं)—

विद्यादेह = अट्ठारह भुजा युक्त शरीर के रूप वाले, अणिमा आदि गुणों से युक्त देव सदाशिव सकलभट्टारक का पूर्णाहुति के प्रयोग से ध्यान कर न्यास करे ॥ ४८८ ॥

विद्यादेहः = अट्ठारह भुजा वाले सकल भट्टारक ॥

इसके बाद—

अणिमा आदि गुणों की प्राप्ति के लिये मूलमन्त्र के साथ साधक का नाम लेकर केवल आठ आहुतियाँ देने के बाद (आचार्य) साधक का अभिषेक करे ॥ ४८९ ॥

जैसे निष्कलयोजना के बाद उन (= सर्वज्ञता आदि) गुणों की प्राप्ति करायी गयी उसी प्रकार सकल योजना के बाद इस साधक को अणिमा आदि गुणों की प्राप्ति करानी चाहिये । यहाँ सकल मन्त्र का उच्चारण कर साधक का नाम लेकर 'अणिमा भव' इतना अन्त में उच्चारण कर पुनः सकल मन्त्र का उच्चारण कर 'अणिमादिगुणाय दीक्षात्मने स्वाहा' इतना कहना चाहिये । अणिमा आदि गुण की

तदभिषेकं प्राग्वत्—

कलशैः पञ्चभिः कुर्यात्.........

कथमित्याह—

निवृत्त्याद्यास्त्रिषु न्यसेत् ।
शान्त्यतीतां पञ्चमे च शान्तिं पश्चाच्चतुर्थके ॥ ४९० ॥

त्रिष्विति दक्षिणोत्तरवारुणदिग्गतेषु प्राग्वक्त्रादिपूर्णेषु पञ्चसु । पञ्चम इति देशाने । पश्चादिति शान्त्यतीतान्यासादनन्तरम् । चतुर्थक इति प्राच्यकलशे । अत्र चाभिप्रायो यत् साधकस्य शिवदशाविश्रान्तिपूर्वमविघ्नं सादाशिवी सिद्धिरस्त्वित्येवमुक्त्वा भोगानयं शिवो भवत्विति ॥ ४९० ॥

तदित्थम्—

शान्त्या तु सम्पुटीकृत्य...........

शान्त्यतीताकलशानन्तरं शान्ताकलशन्यासात् शान्त्या संपुटीकारो भवती, शान्त्यतीतायाः कलात्रयेण शान्त्या च गर्भीकृतत्वात् ॥

प्राप्ति के विषय में = उनकी प्राप्ति के निमित्त ॥ ४८९ ॥

उस अभिषेक को पूर्व की भाँति—

पाँच कलशों के द्वारा करना चाहिये ॥ ४९०- ॥

कैसे ? यह बतलाते हैं—

तीन कलशों में निवृत्ति आदि (= प्रतिष्ठा, विद्या) कलाओं का न्यास करे । शान्त्यतीता को पञ्चम में और उसके बाद शान्ता को चतुर्थ कलश में न्यस्त करे ॥ -४९० ॥

तीन कलशों में = दक्षिण उत्तर और पश्चिम दिशाओं में स्थित पूर्व दिशा में स्थित मुख वाले तथा जल आदि से पूर्ण पाँच कलशों में । पञ्चम = ईशान दिशा में स्थित कलश । पश्चात्—शान्त्यतीता के न्यास के बाद । चतुर्थ में = पूर्व दिशा वाले कलश में । यहाँ यह अभिप्राय है कि साधक को शिवदशाविश्रान्तिपूर्वक निर्विघ्न सदाशिवत्व प्राप्त हो जाय अर्थात् यह साधक भोगों को छोड़ कर शिव हो जाय ॥ ४९० ॥

तो इस प्रकार—

शान्ता के द्वारा सम्पुटित कर ॥ ४९१- ॥

शान्त्यतीता कलश के बाद शान्ता कलश के न्यास से शान्ताद्वय (= शान्ता और शान्त्यतीता) से वह कलश सम्पुटित हो जाता है क्योंकि शान्त्यतीता कला (प्रतिष्ठा आदि) तीन कलाओं और शान्ता कला को अन्दर अपने अन्दर समाहित

किं च—

.............पृथिव्याद्यैश्च पञ्चभिः ।

कलाक्रमेणैव कलशेषु न्यासं कुर्यादिति शेषः । पृथिव्यादयोऽत्र क्रोडीकृताशेषतत्त्वतत्त्वेश्वरस्फारा ब्रह्मपञ्चकपरमार्थाः, न तु स्थूलभूतमात्रात्मकाः ॥

अथ—

एकैककलशे पश्चात् साध्यमन्त्रं तु विन्यसेत् ॥ ४९१ ॥
विद्याङ्गैः सकलीकृत्य.............

साध्यमन्त्रः सकलभट्टारक इह मुख्यः, अन्योऽपि वा पुष्पपातानुसारम्, विद्याङ्गैरिति सकलाङ्गैः सर्वज्ञत्वादिरूपैस्तत्तत्साध्यमन्त्राङ्गैर्वा ॥

पश्चात्तत्र—

.............विद्याङ्गावरणं न्यसेत् ।

विद्याङ्गानां सर्वज्ञत्वादिरूपाणामेव सिद्धिसाधनानुगुण्यान्नावरणान्तरन्यास उक्तः ॥

अथ साध्यमन्त्रेणैव—

रखती है ॥

तथा—

पृथिवी आदि पाँच के द्वारा ॥ -४९१- ॥

कला के क्रम से ही कलशों में न्यास करना चाहिये । यहाँ पृथिवी आदि अपने अन्दर समस्त तत्त्वों तत्त्वेश्वरों तथा ब्रह्मपञ्चक (= कारणपञ्चक) को समाहित करने वाली है न कि स्थूलभूतमात्र को यह समझना चाहिये ॥

इसके अनन्तर—

(आचार्य) विद्याङ्गों के द्वारा सकलीकरण करने के बाद साध्य मन्त्र को एक-एक कलश में स्थापित करे ॥ -४९१-४९२- ॥

यहाँ सकलभट्टारक ही मुख्य साध्य मन्त्र है । अथवा पुष्पपात के अनुसार दूसरा भी साध्य मन्त्र हो सकता है । विद्याङ्ग का दो अर्थ है—१. सर्वज्ञता आदि सकलाङ्ग अथवा २. तत्तत् साध्य मन्त्राङ्ग ॥

बाद में वहाँ—

विद्याङ्ग रूपी आवरण का न्यास करे ॥ -४९२- ॥

सर्वज्ञता तृप्ति आदि ही विद्याङ्ग है । ये ही सिद्धि के साधन हैं । इसलिये दूसरे आवरण का न्यास नहीं कहा गया ॥

संमन्त्र्याष्टशतेनैव एकैकं कलशं ततः ॥ ४९२ ॥
बहिर्मण्डलके न्यस्य आसनं प्रणवेन तु ।
साधकं तत्र संस्थाप्य सकलीकरणं ततः ॥ ४९३ ॥
निर्भर्त्स्य पूर्ववत् सर्वैः साध्यमन्त्रेण सेचयेत् ।

निवृत्याद्येकैककलशस्य साध्यमन्त्रेण मन्त्रणं सर्वभूमयोऽस्य मन्त्रप्रसादात् सिद्धिप्रदा भवन्त्विति । बहिरिति यागाद् । मण्डले स्वस्तिकादिरूपे । आसनं श्रीपर्ण्यादिरूपम् । सकलीकरणमिति, तस्य कुर्यादिति शेषः । सर्वैरिति पूर्वोक्तैः काञ्चिकादिद्रव्यैः ॥

तत्र—

निवृत्यादित्रिभिः कुम्भैः स्नापयेत् पूर्वदिङ्मुखम् ॥ ४९४ ॥
शान्त्यतीतं घटं पश्चाद् गृहीत्वा सेचयेच्छिशुम् ।
शान्तिं पश्चात्तु गृह्णीयात्...........

शान्तिमिति शान्तिघटम् ॥

तदित्थम्—

इसके बाद साध्य मन्त्र के द्वारा ही—

एक-एक कलश को १०८ बार अभिमन्त्रित कर यागगृह के बाहर मण्डल में उनको रखे । फिर प्रणव के द्वारा आसन बना कर उस पर साधक को बिठाये । फिर उसका सकलीकरण करे । पूर्वोक्त नियम से उसका निर्भर्त्सन कर सभी द्रव्यों से (युक्त कलशस्थ जल से साधक का) अभिषेक करे ॥ -४९२-४९४- ॥

निवृत्ति आदि एक-एक कलश का साध्यमन्त्र से अभिमन्त्रण करना चाहिये । 'मन्त्र की कृपा से समस्त भूमियाँ इसको सिद्धि दें'—ऐसा अभिमन्त्रण होना चाहिये । बाहर—याग गृह से । मण्डल में—स्वस्तिक आदि रूप (मण्डल) में । आसन = श्रीपर्णी आदि से बना हुआ । सकलीकरण—उस साधक का होना चाहिये । सबके द्वारा = हल्दी चन्दन आदि वस्तुओं के द्वारा ॥

उसमें—

पूर्व दिशा की ओर मुख कर बैठे हुए साधक को निवृत्ति आदि तीन कलशों के द्वारा स्नान कराना चाहिये । बाद में शान्त्यतीत घट को लेकर शिशु को स्नान कराये । सबके अन्त में शान्ति घट को (लेकर शिशु का अभिषेक करे) ॥ -४९४-४९५- ॥

शान्तिं = शान्तिघट को ।

...............सम्पुटेनाभिषेचयेत् ॥ ४९५ ॥

संपुटार्थस्तदभिप्रायश्च व्याकृत एव ॥

तदेवम्—

साधकस्याभिषेकोऽयमनुलोमविलोमतः ।

आनुलोम्यं निवृत्त्यादित्रये, शान्तिशान्त्यतीतयोस्तु प्रातिलोम्यम् ॥

किं च—

अभिषिच्य प्रवेश्यैनं दक्षिणां मूर्तिमास्थितम् ॥ ४९६ ॥

परिवर्तितवस्त्र इत्यर्थात्, दक्षिणमूर्त्याश्रयणं विघ्नप्रशमाय ॥ ४९६ ॥

तत्रास्य च—

प्रणवेनासनं दत्त्वा सकलीकरणं भवेत् ।

अथास्य सिद्ध्युपकरणम्—

तो इस प्रकार—

उसका सम्पुटित अभिषेक करे ॥ -४९५ ॥

सम्पुट का अर्थ और उसका अभिप्राय पहले स्पष्ट किया जा चुका है ॥

तो इस प्रकार—

योगी साधक का अनुलोम-विलोम दोनों ही प्रकार से अभिषेक हो जाता है ॥ ४९६- ॥

निवृत्ति आदि तीन अभिषेक के होने पर आनुलोम्य और शान्ता तथा शान्त्यतीता में प्रतिलोम (अभिषेक होता) है ॥

तथा—

इसका अभिषेक कर दक्षिणामूर्त्ति (= शिव की अन्यतम मूर्त्ति) के साथ इस (= शिष्य) का यागगृह में प्रवेश कराये ॥ -४९६ ॥

अभिषेक के बाद वस्त्रपरिवर्त्तन भी होना चाहिये (अर्थात् शिष्य नया वस्त्र पहन ले)। दक्षिणामूर्त्ति का आश्रयण (= शरणागति, दर्शन आदि) विघ्ननाश के लिये है ॥ ४९६ ॥

वहाँ इसके लिये—

प्रणव के द्वारा आसन देकर सकलीकरण करे ॥ ४९७- ॥

अब इस साधक की सिद्धिसामग्री—

साधकस्याधिकारार्थमक्षमालादि कल्पयेत् ॥ ४९७ ॥

समुचितं ढौकयेत् ॥ ४९७ ॥

कल्पयित्वैतत्—

मन्त्रकल्पाक्षसूत्रं च खटिकां छत्रपादुके ।
उष्णीषरहितं दत्त्वा............

कल्पः साध्यमन्त्रपुस्तिका, उष्णीष आचार्यायैव देयः ।

अथ—

..............प्रविश्य शिवसंनिधौ ॥ ४९८ ॥
विज्ञाप्य परमेशानं साधकोऽयं मया कृतः ।
भूयात् सिद्धिस्त्वदाज्ञातस्त्रिप्रकारास्य भक्तितः ॥ ४९९ ॥
साध्यमन्त्रं ददेत् पश्चात् पुष्पोदकसमन्वितम् ।

शिवसंनिधाननिमित्तं प्रविश्यान्तर्मुखीभूय तदवष्टम्भेनैव देवं विज्ञाप्य साध्यमन्त्रं दद्यात्, साधकोऽयमित्यादि विज्ञप्तेः स्वरूपम्, विज्ञप्तेः पश्चात् पूर्ववल्लब्धानुज्ञत्वं

अक्षमाला आदि का सङ्ग्रह साधक के अधिकार के लिये उचित ढङ्ग से करे ॥ -४९७ ॥

उचित ढंग से करे ॥ ४९७ ॥

इसका सङ्ग्रह कर—

साधक को मन्त्रकल्प, अक्षमाला, खटिका, छाता, खड़ाऊँ दे किन्तु उष्णीष नहीं देना चाहिये ॥ ४९८- ॥

मन्त्रकल्प = साध्य मन्त्र की पुस्तक । उष्णीष केवल आचार्य को दी जाती है ॥

इसके बाद—

(आचार्य शिष्य के साथ) यागगृह में प्रवेश कर शिवाग्नि के समीप जाकर परमेश्वर से कहे–'हे परमेश्वर! मैंने इसे साधक बनाया है । आपकी आज्ञा से भक्ति के साथ इसे तीन प्रकार की (= स्थूल, सूक्ष्म और परा) सिद्धि प्राप्त हो ।' इतना कहने के बाद पुष्प और जल अपने हाथ में लेकर आचार्य उसे साध्यमन्त्र दे ॥ -४९८-५००- ॥

शिवसन्निधान के लिये आचार्य प्रवेश कर = अन्तर्मुख होकर, उसी के आधार पर परमेश्वर से निवेदन कर साध्यमन्त्र को दे । 'साधकोऽयम्...' यह विज्ञापन का स्वरूप है । विज्ञापन के बाद पूर्व की भाँति आज्ञा की भावना करे ।

भव्यम्, शिवसंनिधावेव च पुष्पं फलोत्पादनधिया, उदकं सिद्ध्याप्यायनाय ॥

तदाह—

तस्य हस्ते समर्प्येत सिद्ध्यर्थं साधकस्य तु ॥ ५०० ॥

परशक्तित उद्भूतं तच्छक्तिसंमुखीभूतमेतदित्यभिप्रायाद् हस्तेन हस्ते समर्पणम् ॥

साधकस्तु—

प्रणम्योभौ गृहीत्वा तु मन्त्रं हृदि निवेशयेत् ।

उभौ गुरुमन्त्रौ, हृदीति स्वात्मानं तत्तद्विमर्शमयं कुर्वीतेत्यर्थः ॥

तदेवमुभयोर्योग्यसंबन्धलाभात्—

प्रहृष्टवदनः शिष्यो गुरुश्चापि प्रहर्षवान् ॥ ५०१ ॥

उभौ निर्गत्य च—

अग्न्यागारे सावधानौ...............

शिव के पास ही फलोत्पत्ति की दृष्टि से पुष्प और तृप्ति सिद्धि की दृष्टि से जल हाथ में लेना पड़ता है ॥

वह कहते हैं—

सिद्धि के लिये आचार्य को (उस पुष्पोदक को) उस शिष्य के हाथ में दे देना चाहिए ॥ -५०० ॥

एक हाथ से दूसरे हाथ में देने का अभिप्राय यह है कि परशक्ति से उत्पन्न यह सम्प्रदान (= भली भाँति विधिपूर्वक दान) उस (शिष्य) की शक्ति के सम्मुख हो गया ॥

और साधक—

दोनों (= गुरु एवं मन्त्र) को प्रणाम कर दोनों (= जल और पुष्प) को लेकर मन्त्र को हृदय में धारण करे अर्थात् अपने को तत्तद् विमर्शमय बनाये ॥ ५०१- ॥

उभौ = गुरु एवं मन्त्र को, हृदि अर्थात् अपने को तत्तद् विमर्शमय बनाए ॥

इस प्रकार दोनों का योग्य सम्बन्ध होने से—

शिष्य और गुरु दोनों प्रसन्नचित्त हो जाते हैं ॥ -५०१ ॥

दोनों (उस मण्डल से) निकल कर—

अग्न्यागार में सावधान हो जाय ॥ ५०२- ॥

स्यातामिति शेषः ॥

ततो गुरुरग्नौ तु—

...............तर्पयेन्मन्त्रसंहिताम् ।

ततोऽपि यथासंभवम्—

सहस्रं वा शतं वापि साध्यमन्त्रस्य तर्पणम् ॥ ५०२ ॥

कुर्यात् ॥

एवं संतर्पयित्वा तु पुष्पं पाणौ प्रदापयेत् ।

प्राग्वद् गुरुः साधकाय, तेन वात्मन इत्यर्थः ॥

ततः साधकः—

त्रिस्थं सम्पूज्य देवं तु...............

स्थण्डिलवह्निगुरुमूर्तिषु दण्डवन्निपतेत् ॥

...........ततोऽपि त्रिःप्रदक्षिणम् ॥ ५०३ ॥

कृत्वा ॥

प्रणम्य भक्तियुक्तात्मा अणिमादिफलं लभेत् ।

इसके बाद गुरु अग्नि में—

मन्त्रसंहिता का तर्पण करे ॥ -५०२- ॥

वहाँ यथासम्भव—

एक हजार आठ अथवा एक सौ आठ बार साध्य मन्त्र का तर्पण करना चाहिये । इस प्रकार तर्पण कर आचार्य को शिष्य के हाथ में पुष्प दे देना चाहिए ॥ -५०२-५०३- ॥

पूर्व की भाँति गुरु साधक को दे या साधक गुरु को ॥

इसके बाद साधक—

स्थण्डिल वह्नि और गुरु इन तीन के अन्दर स्थित देव (= शिव) की पूजा कर साष्टाङ्ग प्रणाम करे ॥

इसके बाद—

तीनों की तीन बार प्रदक्षिणा करे ॥ -५०३ ॥

बाद में—

भक्तियुक्त होकर तीनों को प्रणाम कर शिष्य अणिमा आदि सिद्धियों

तद्योग्यतामेति ॥

गुरुस्तु—

उत्थाप्य साधकं ब्रूयात् समयान् पाहि यत्नतः ॥ ५०४ ॥

तेऽग्रे भविष्यन्ति ॥

किं च निर्बीजदीक्षादीक्षितवर्जं सर्वे शिष्याः समयान् श्राव्या इत्यादिशति—

दीक्षावसाने ते देवि श्रावणीया विपश्चिता ।

समयज्ञेन ॥

उपसंहरन्नन्यदवतारयति—

दीक्षां एवं तु निर्वर्त्य सर्वदैव वरानने ॥ ५०५ ॥
आत्मयागः प्रकर्तव्यो यथा भवति तच्छृणु ।

दीक्षां समय्यादीनाम् । आत्मनो यागः परतत्त्वयोजनात्मा समुच्छेद्यपाश-संस्पर्शविधिन्यूनतादिसंभावनाशङ्काशान्तये कर्तव्यः ॥

को प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त करता है ॥ ५०३- ॥

उसकी योग्यता प्राप्त करता है ।

और गुरु—

शिष्य को उठाकर बोले कि यत्नपूर्वक समयों (= नियमों) का पालन करो ॥ -५०४ ॥

वे आगे बतलाये जायेंगे ॥

निर्बीज दीक्षादीक्षित शिष्य को छोड़कर सभी शिष्यों के लिये नियमों को बतलाना चाहिये—यह कहते हैं—

हे देवि ! दीक्षा के अन्त में समयज्ञ विद्वान् के द्वारा उन शिष्यों को नियमों का ज्ञापन किया जाना चाहिये ॥ ५०५- ॥

इस प्रकरण का उपसंहार करते हुए अन्य की प्रस्तावना करते हैं—

हे वरानने ! इस प्रकार दीक्षा का सम्पादन कर सर्वदा आत्मयाग करना चाहिए । यह आत्मयाग जिस प्रकार से सम्पन्न किया जाता है वह सुनो ॥ -५०५-५०६- ॥

सम्पन्न दीक्षा समयी आदि की होती है । आत्मा का याग = (आत्मा का) परतत्त्वयोजन, यह याग समुच्छेद्य पाश के संस्पर्श से विधि में न्यूनता आदि की सम्भावना की आशङ्का की शान्ति के लिये किया जाना चाहिये ॥

तदित्थम्—

वैज्ञानिकी प्राकृती वा आचार्यस्य यदृच्छया ॥ ५०६ ॥

दीक्षा भवति । विज्ञानहेतुका वैज्ञानिकी । तिलाज्याहुतिहेतुका प्राकृती ॥५०६॥

तत्र—

वैज्ञानिकीं सुसूक्ष्मां तु विधिनानेन कारयेत् ।

सुसूक्ष्मां पूर्णज्ञानसंपाद्याम् । अनेन वक्ष्यमाणेन ॥

तत्र प्राकृती तावत् पूर्वोक्तप्रकारात् किंचिद्वैलक्षण्येनाह—

तिलाज्यादिसमायुक्ता अध्ववागीशिकल्पना ॥ ५०७ ॥

प्राकृत्यां कार्येति शेषः ॥ ५०७ ॥

तत्र च—

कलाभिः पञ्चभिर्व्याप्तमध्वानं युगपन्न्यसेत् ।

तो इस प्रकार—

आचार्य की इच्छा के अनुसार दीक्षा दो प्रकार की होती है—वैज्ञानिकी और प्राकृती ॥ -५०६ ॥

उनमें से विज्ञान जिसका कारण होता है वह वैज्ञानिकी तथा तिल घृत की आहुति के द्वारा निष्पाद्य दीक्षा प्राकृती होती है ॥ ५०६ ॥

उन दोनों में से—

सुसूक्ष्म (अर्थात् पूर्ण ज्ञान के द्वारा सम्पाद्य) वैज्ञानिकी दीक्षा को इस (वक्ष्यमाण) विधि के अनुसार करना चाहिये ॥ ५०७- ॥

सुसूक्ष्म = पूर्णज्ञान से सम्पाद्य । इससे अर्थात् आगे बतलायी जाने वाली विधि से ॥

प्राकृति दीक्षा पूर्वोक्त प्रकार (की दीक्षा) से कुछ विलक्षण होती है—यह कहते हैं—

यह दीक्षा तिल घृत आदि की आहुति से युक्त होती है । इसमें अध्वा और वागीशी (= शुद्धविद्या) की कल्पना करनी चाहिये ॥ -५०७ ॥

प्रकृति में करे—यह जोड़ना चाहिए ॥ ५०७ ॥

उसमें—

पाँच कलाओं से व्याप्त अध्वा का एक साथ न्यास करना चाहिये न कि पूर्व की भाँति (अलग-अलग) ॥ ५०८- ॥

न तु प्राग्वत् ॥

क्रमेण च तद्व्यनक्ति—

पूजाहोमोपचाराद्यान् कृत्वात्मानं नियोजयेत् ॥ ५०८ ॥
शिष्यचैतन्यवत्...............

वागीश्यां युगपदशेषकलाव्याप्तिकायामाह्वानार्चादिपूर्वं पुर्यष्टकरूपमात्मानंयोजयेत् ।

ततोऽपि—

..........योगादध्वानं युगपन्न्यसेत् ।

गर्भयोजनादनन्तरं दीक्ष्यमध्वानं युगपन्न्यसेत् ॥

न्यस्तं च—

पुष्पाद्यैः पूजयित्वा तं...........

तत्रैव—

...............योगार्थमाहुतित्रयम् ॥ ५०९ ॥

प्रणवमूलहंसबीजपूर्वमात्मानं सर्वाध्वव्यापकं वागीशीगर्भे युगपद्योजयामि स्वाहा इत्यत्र प्रयोगः ॥ ५०९ ॥

पूर्व की भाँति नहीं ॥

उसको क्रम से बतलाते हैं—

पूजा होम उपचार आदि करने के बाद गुरु वागीशी के प्रति अपने को उसी प्रकार समर्पित करे जैसे शिष्य के चैतन्य के साथ अपने चैतन्य को नियोजित किया था ॥ -५०८-५०९- ॥

युगपत् समस्त कलाओं की व्याप्ति वाली वागीशी में, आवाहन पूजन करने के बाद पुर्यष्टकरूप (= गुरु का चैतन्य) आत्मा को जोड़ दे ।

इसके बाद—

(आचार्य) अध्वा का एक साथ न्यास करे ॥ -५०९- ॥

गर्भ से शिष्य की आत्मा को जोड़ने के बाद दीक्ष्य अध्वा का भी उसी समय न्यास करना चाहिये ॥

(न्यस्त अध्वा की) पुष्प आदि से पूजा कर (वहीं पर) वागीशी गर्भ के साथ संयोग के लिये तीन आहुतियाँ देनी चाहिये ॥ -५०९ ॥

यहाँ प्रणव + मूल मन्त्र + हंसबीज (= हं) का उच्चारण करने के बाद यह उच्चारण करना पड़ेगा—'आत्मानं सर्वाध्वव्यापकं वागीशीगर्भे युगपत् योजयामि

अथ—

गर्भधारित्वजनने अर्जने भोगतल्लये ।
युगपद्धोमयेद् देवि मूलमन्त्रेण सुव्रतः ॥ ५१० ॥

प्रत्येकं युगपदिति सर्वाध्वव्याप्तिभावनया त्रिर्होमः ॥ ५१० ॥

तदाह—

आहुतीनां त्रयं होम्यं प्रतिकर्म वरानने ।

निष्कृतेः प्राधान्यात् पृथग्घोममाह—

होतव्या निष्कृतिर्भिन्ना पञ्चस्थानकलात्मसु ॥ ५११ ॥
शतमेकं तदर्धं वा.............

पञ्च पृथिव्यादीनि स्थानानि यासां कलानां तदात्मसु तद्विषये । तेन निवृत्तौ मच्चैतन्यस्य गर्भाधानादिकर्मपञ्चके निष्कृतिरस्तु स्वाहा इति प्रयोगः । एवमन्यत्र ॥

एषा च—

स्वाहा' ॥ ५०९ ॥

इसके बाद—

हे देवि ! गर्भधारण, (शिष्य की आत्मा का) जन्म, अर्जन (= कर्म-सञ्चय) भोग (= प्रारब्ध का भोग) और उसका लय (संचित का नाश) इन सब के लिये सुव्रत आचार्य मूलमन्त्र से एक साथ होम करे ॥ ५१० ॥

प्रत्येक कार्य के लिये एक साथ सर्वाध्वव्याप्ति की भावना से तीन-तीन बार होम होगा ॥ ५१० ॥

उसी को कहते हैं—

हे वरानने ! प्रत्येक कर्म के लिये क्रमशः तीन-तीन आहुतियाँ देनी चाहिये ॥ ५११- ॥

चूँकि निष्कृतिहोम प्रधान होता है इसलिये उसका अनुष्ठान पृथक् करना चाहिये—यह कहते हैं—

पाँच स्थानों वाली कलाओं के विषय में एक सौ आठ अथवा चौवन आहुतियों के द्वारा निष्कृति होम अलग करना चाहिये ॥ -५११-५१२- ॥

'पञ्चस्थानकलात्मसु' की व्याख्या करते हैं—(पाँच) पृथिवी आदि, स्थान हैं जिन कलाओं के उनके विषय में । इस प्रकार हवनीय वाक्य होगा—'निवृत्तौ मच्चैतन्यस्य गर्भाधानादिकर्मपञ्चके निष्कृतिरस्तु स्वाहा ।' इसी प्रकार ('प्रतिष्ठायां मच्चैतन्यस्य... स्वाहा ।' विद्यायां मच्चैतन्यस्य...स्वाहा' । इत्यादि प्रयोग समझना चाहिये) ॥

..........निष्कृतिः परिकीर्तिता ।

पूर्वमेव निर्णीता ।

अथ—

विश्लेषपाशच्छेदाद्ये धाम्नैव युगपद्धुतिः ॥ ५१२ ॥
उद्धारे चात्मतत्त्वस्थे................

आदिपदाद्विधिपूरणे पाशदाहे च युगपदेव पूर्णाहोमः । अत्र च ताडनच्छेदन-ग्रहणैकचैतन्यभावनकारणाह्वानपुर्यष्टकांशार्पणं पूर्वत उपजीव्यम्, पुर्यष्टकांशार्पणं सबीजायामपि भवतीति निर्णीतत्वात् ॥

अथ—

............पूर्णाहुतिं तु पातयेत् ।

तयैव च—

आत्मानं योजयेत्तत्त्वे शिवे परमकारणे ॥ ५१३ ॥

ततोऽपि—

यह निष्कृति कहीं गयी है ॥ -५१२- ॥

अर्थात् पहले बतलायी जा चुकी है ।

इसके बाद—

विश्लेष पाशच्छेद आत्मतत्त्व के उद्धार आदि के विषय में धाम (= ॐ + मूलमन्त्र) के द्वारा एक साथ आहुति दी जानी चाहिये ॥ -५१२-५१३- ॥

उक्त श्लोकस्थ 'आदि' पद से यह समझना चाहिये कि विधिपूरण और पाशदाह के विषय में भी एक ही साथ पूर्णाहुति दी जायेगी । यहाँ पर ताडन, छेदन, ग्रहण, एक चैतन्य की भावना, कारण, आह्वान, पुर्यष्टकांशार्पण ये सब कृत्य पहले कहे गये प्रकरण से समझ लेना चाहिये । क्योंकि पुर्यष्टकांशार्पण सबीजदीक्षा में भी होता है, यह पहले बतलाया जा चुका है ॥

इसके बाद—

पूर्णाहुति देनी चाहिये ॥ -५१३- ॥

उस पूर्णाहुति के ही द्वारा—

(शिष्य की) आत्मा को परम कारण शिव तत्त्व में जोड़ देना चाहिये ॥ -५१३ ॥

इसके बाद—

गुणान् पूर्ववदापाद्य...........

अवभृथस्नानेन ॥

तानेव—

.............अमृतान् पूर्ववत् कुरु ।

अमृतान् अविनश्वरान् ।

सेयं प्राकृती—

आत्मदीक्षा....................

पुत्रकादिदीक्ष्याणाम्—

.......समाप्तौ तु प्रायश्चित्तनिवृत्तये ॥ ५१४ ॥

पशुसंसर्गन्यूनातिरिक्तविधिसंभावनाशङ्काशान्त्यर्थमित्यर्थः ॥ ५१४ ॥

नन्वात्मनोऽशुद्धस्य यो दीक्षया शुद्धिमादत्ते, सोऽपि यद्यशुद्धस्तदन्धेनान्धस्य हस्तग्रहणम् । अथ प्राणादिविलक्षणतया प्रत्यभिज्ञातोऽसौ शुद्धः, तर्हि तत्परामर्शादेव सर्वं संपन्नमिति किं प्राकृत्या दीक्षया ? सत्यमेतत्, यदि शक्तिपात-वशादेव रूढिः स्यात्, तदा प्राकृती नैव कार्या । तदा तु कुशलैकसम्पाद्यां विज्ञानदीक्षामाह—

(अवभृथस्नान के द्वारा) शिष्य के अन्दर पूर्व की भाँति ही गुणों की स्थापना करके उनको पूर्व की भाँति अमृत (अर्थात् अविनश्वर) करना चाहिये ॥ ५१४- ॥

यह प्राकृती—

आत्म दीक्षा पुत्रक आदि दीक्षा के योग्य व्यक्तियों की (दीक्षा की) समाप्ति होने पर प्रायश्चित्त को दूर करने के लिये होती है ॥ -५१४ ॥

पशुसंसर्ग के कारण विधि में न्यूनाधिक्य की सम्भावना की आशङ्का की निवृत्ति के लिये यह प्राकृती दीक्षा होती है ॥ ५१४ ॥

प्रश्न—जो आचार्य दीक्षा के द्वारा अशुद्ध आत्मा की शुद्धि करता है यदि वह आचार्य ही अशुद्ध है तब तो अन्धे ने अन्धे का हाथ पकड़ा अर्थात् जो स्वयं अक्षम है वह दूसरे का उद्धार कैसे करेगा । यदि यह कहा जाय कि आचार्य का प्राण आदि विलक्षण है इसलिये वह शुद्ध समझा जाता है तो फिर उस विलक्षण प्राण आदि के परामर्श से ही सब ठीक हो जायेगा प्राकृत दीक्षा करने से क्या लाभ? उत्तर—आपका यह प्रश्न ठीक है । यदि शक्तिपात के कारण ही (परतत्त्व में) रूढ़ि हो जाय तो प्राकृती दीक्षा नहीं करनी चाहिये । तब कुशल आचार्य के

अथ विज्ञानरूपेण सकृदुच्चारलक्षणा ।

दीक्षा भवति । मध्यधामसमनुप्रवेशेन यः स्वपूर्णाहंपरामर्शमयस्य मूलमन्त्रस्य सकृदुच्चारः, स एव लक्षणं यस्याः (सा विज्ञानदीक्षा) ॥

यतः—

हेयोपादेयपाशानां युगपद् भैरवेण तु ॥ ५१५ ॥

भैरवेण निष्कलेन सकृदुच्चारितेन मायान्तानां भेदैकरसत्वेन हेयानाम्, समनान्तानां भेदाभेदरूपतयोपादेयानाम्, तथापि भेदांशसंबन्धात् पाशव्यपदेश्यानां युगपत् शुद्धिर्भवतीति शेषः । उक्तं च प्राक्—

'सकृदुच्चारितो देवि नाशयेत् सर्वकिल्विषम्' (१।४४)

इति ॥ ५१५ ॥

न केवलं युगपत् पाशक्षपणं मन्त्रेण क्रियते, यावत्परमशिवपदे—

शाश्वती संस्थितिः पश्चात्..........

एषा च—

..........सूक्ष्मदीक्षा प्रकीर्तिता ।

द्वारा सम्पाद्य विज्ञान दीक्षा को बतलाते हैं—

(विज्ञानदीक्षा) विज्ञानरूपेण एक बार उच्चारण वाली होती है ॥ ५१५- ॥

मध्य धाम (= सुषुम्ना) में अनुप्रवेश के द्वारा जो अपने पूर्ण अहंपरामर्शमय मूलमन्त्र का एक बार उच्चारण होता है वही विज्ञान दीक्षा का लक्षण है ॥

क्योंकि—

हेयोपादेय पाशों की भैरवमन्त्र के द्वारा एक ही साथ शुद्धि हो जाती है ॥ -५१५ ॥

एक बार उच्चरित भैरव = निष्कल मन्त्र से मायापर्यन्त भेदमय होने से हेय पदार्थों की, समनापर्यन्त भेदाभेद रूप होने से उपादेय तत्त्वों की, एक साथ शुद्धि होती है । शुद्ध विद्या से लेकर समना पर्यन्त तत्त्व भी पाश ही हैं क्योंकि वहाँ भी भेदांश रहता है । पहले कहा भी गया है—

'हे देवि ! (यह भैरव मन्त्र) एक बार भी उच्चारित होने पर समस्त किल्विष (= पाप = पाश) का नाश कर देता है' ॥ ५१५ ॥ (१।१४)

निष्कलभैरव मन्त्र एक साथ केवल पाश का नाश ही नहीं करता बल्कि पाश का नाश होने के पश्चात् परम शिवपद में—

साधक की शाश्वती स्थिति कर देता है और यह सूक्ष्म दीक्षा कही

इत्यमात्मदीक्षान्ते—

विशेषपूजनं होमं यथाशक्ति प्रकल्पयेत् ॥ ५१६ ॥
वाद्यगीतसुनृत्याद्यैः स्तुतिभिः पूजयेद्धरम् ।
त्रिः प्रदक्षिणमावर्त्य कलशाग्निसमण्डलम् ॥ ५१७ ॥
अष्टाङ्गपतनं कृत्वा विज्ञपेत् परमेश्वरम् ।

त्र्यधिकरणं देवं प्रदक्षिणीकृत्य ॥

किं विज्ञापयेत् ?—इत्याह—

भगवन् पशुहेत्वर्थं यन्मयावाहितो भवान् ॥ ५१८ ॥
तत्क्षन्तव्यं सदा देव विधिस्थस्य मम प्रभो ।

विधिर्दीक्षाकर्म । ममेति त्वयैव दत्ताधिकारस्य ॥

यदपि—

विधिन्यूनमकामस्य..........

प्रामादिकं विधिन्यूनत्वमपि क्षन्तव्यमित्यर्थ ॥

यस्मात्—

गयी है ॥ ५१६- ॥

इस प्रकार आत्मदीक्षा के अन्त में—

विशेष पूजा और होम यथाशक्ति करना चाहिये । वाद्य गीत नृत्य स्तुति आदि के द्वारा भगवान् शिव की पूजा करनी चाहिये । तत्पश्चात् कलश अग्नि और मण्डल तीन अधिकरणों में स्थित देव की तीन बार प्रदक्षिणा कर साष्टाङ्ग प्रणाम कर उनसे निवेदन करे ॥ -५१६-५१८- ॥

तीन अधिकरणों में स्थित देव की प्रदक्षिणा कर ॥

क्या निवेदन करे ?—यह कहते हैं—

हे भगवन् इस पशु के लये मैने आपका जो आवाहन किया उसके लिये हे देव ! विधि में स्थित मुझको सदा के लिये क्षमा करे ॥ -५१८-५१९- ॥

विधि = दीक्षा कर्म । मुझको = आपके द्वारा दिये गये अधिकार वाले मुझको ॥

यद्यपि—

अर्थात् विधि में प्रमादवश न्यूनता क्षमा करे ॥ -५१९- ॥

न चाहते हुए भी जो विधि में प्रमादवश न्यूनता हुई उसे भी क्षमा करे ॥

............पूजा शास्त्रोदिता यथा ॥ ५१९ ॥
न भवेदतिभूयिष्ठा प्राकृतैर्द्रव्यसञ्चयैः ।

यथा शास्त्रे पूजा भूयिष्ठा विततपरिपाटीकोदिता, तथा प्रकृतिपरिणामरूपैर्मितैर्द्रव्यैर्न भवेदिति विनयपरा उक्तिः, अन्यथार्घपात्रविप्रुट्संस्कृतानां द्रव्याणां शिवीकृतत्वात् कथं प्राकृतत्वम् वित्तशाठ्यविवर्जनाच्च मितत्वमस्य प्रयोजकम् ॥

यत एवं ततः—

अवलम्ब्य भक्तिमात्रं विधानं यत्कृतं मया ॥ ५२० ॥
तत्सर्वं सफलं मेऽस्तु सुप्रसन्ने विभो त्वयि ।

सुष्ठु प्रसादो मायाकालुष्यप्रशमनेन पूर्णचिद्रसमयत्वेन स्फुरणम् ॥

एवं विज्ञप्तिसमनन्तरम्—

प्रसन्नवदनो हृष्टो वरं दत्तं विभावयेत् ॥ ५२१ ॥

अथ—

क्योंकि—

शास्त्रों में जिस प्रकार विस्तृत पूजा कही गयी है प्राकृत द्रव्यसञ्चय से वह अत्यधिक श्रेष्ठ नहीं हो सकती ॥ -५१९-५२०- ॥

शास्त्र में जिस प्रकार भूयिष्ठ = विस्तृत परम्परा वाली, पूजा कही गयी है उस प्रकार की पूजा प्रकृति के परिणामरूप द्रव्यसञ्चयों के द्वारा = सीमित द्रव्यों के द्वारा नहीं हो सकती—यह विनयपूर्ण उक्ति है । अन्यथा अर्घपात्र की बूँदों से संस्कृत द्रव्यों के शिव बना दिये जाने से वे प्राकृत कैसे रह जायेंगे । वित्तशाठ्य (= कृपणता) से रहित होने पर भी इस (= द्रव्य) का सीमित होना ही (इस विनयोक्ति का) कारण है ॥

चूँकि ऐसा है—इसलिये—

केवल भक्ति का अवलम्बन कर जो विधान मैंने किया, हे प्रभो ! आपके प्रसन्न होने पर वह सब मेरे लिये सफल हो ॥ -५२०-५२१- ॥

(सुप्रसन्न का अर्थ है—) मायारूपी मलिनता के हट जाने से पूर्ण चिद्रसमय होकर स्फुरित होना ॥

इस प्रकार की विज्ञप्ति के बाद—

प्रसन्नमुख एवं प्रसन्नचित्त हुआ साधक यह भावना करे कि (परमेश्वर के द्वारा मुझे) वर दे दिया गया ॥ -५२१ ॥

इसके बाद—

उपविश्य ततो यागं संहरेत क्रमात् प्रिये ।

तत्रादौ—

अग्रं संप्रार्थ्य गृहणीयात् स्थापयेच्चास्त्ररक्षितम् ॥ ५२२ ॥

अग्रवर्ति चर्वादि अग्रम्,

'देवदेवस्य नैवेद्यं चान्द्रायणशतादिकम् ।'

इत्यन्यत्रोक्तत्वात् परं पवित्रमेतन्मा कश्चिद्भूतादिरदीक्षित आहार्षीदित्यस्त्रेणास्य रक्षणम् ॥

एवं कृत्वा—

विशेषपूजनं चार्घं प्रणिपातं ततः पुनः ।
निरोधार्घं ततो गृह्य अर्घं सव्यापसव्यतः ॥ ५२३ ॥
दत्त्वा विसर्जयेद् देवं धाममन्त्रमनुस्मरन् ।

अर्घमिति—

'पश्चादर्घः प्रदातव्यः सुरया ।' (२।१३६)

इत्युक्तपूर्वं दत्त्वा प्रणिपातं कृत्वा निरोधप्रयोजनोऽर्घः प्रसृतस्तं परिसमाप्ते

हे प्रिये ! इसके बाद बैठ कर याग का समापन करे ॥ ५२२- ॥

इसमें पहले—

प्रार्थना कर अग्र को हाथ में रखना चाहिये । इसके बाद अस्त्र मन्त्र से उसे रक्षित कर उसकी स्थापना करनी चाहिये ॥ -५२२ ॥

अग्र का अर्थ है—साधक के आगे रखा हुआ चरु आदि ।

'देवाधिदेव का नैवेद्य चान्द्रायण आदि सैकड़ों व्रतों अथवा सैकड़ों चान्द्रायण से भी (= श्रेष्ठ) होता है ।'

ऐसा अन्यत्र कहा गया है इस कारण दीक्षारहित कोई भूत आदि इस पवित्र (अग्र) का आहरण न कर ले इसलिये इसकी अस्त्र के द्वारा रक्षा की जाती है ॥

ऐसा कर—

(देवाधिदेव का) विशेष पूजन, अर्घदान उसके बाद साष्टाङ्ग प्रणाम, तत्पश्चात् निरोधार्घ देना चाहिये । तदनन्तर अर्घपात्र को ले कर दायें बायें हाथ से अर्घ दे कर धाममन्त्र का स्मरण करते हुए परमेश्वर का विसर्जन करना चाहिये ॥ ५२३-५२४- ॥

'बाद में सुरा के द्वारा (देवाधिदेव के लिये) अर्घ देना चाहिये ।' (२।१३६)

विधौ स्वरूपविश्रान्त्यर्थं सव्यापसव्यत इति ज्ञानक्रियाशक्तिव्याप्तिभ्यां दक्षवामकराभ्यां दत्वा विसर्जयेत् ॥

विसर्जनविधिमेव प्रदर्शयति—

आत्मनो रेचकं कृत्वा पुष्पं देवाय निक्षिपेत् ॥ ५२४ ॥

निष्कलेनेत्यर्थात् ॥ ५२४ ॥

संहारिण्या च संगृह्य मन्त्रान् पार्श्वव्यवस्थितान् ।
विद्युद्वच्चलितान् ध्यात्वा धामदेहे तु विन्यसेत् ॥ ५२५ ॥

कनिष्ठादिक्रमेण दक्षकरशाखासंवर्तनात्मा संहारिणी मुद्रा । धामदेहे सकलभट्टारके । विन्यसेत्तदेकलीनान् भावयेत् ॥ ५२५ ॥

तमपि—

विद्यादेहं भैरवस्य..............

निष्कलस्य उपलीनं चिन्तयेत् ॥

.................तल्लीनं बिन्दुविग्रहे ।

— कथन के अनुसार पहले अर्घ देकर साष्टाङ्ग प्रणाम करे । तत्पश्चात् निरोध के लिये अर्घ दे । अनुष्ठान के समाप्त होने पर स्वरूपविश्रान्ति के लिये सव्य अपसव्य अर्थात् ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति की व्याप्ति वाले दायें बायें हाथ से अर्घदान कर परमेश्वर का विसर्जन कर दे ॥

विसर्जन की विधि बतलाते हैं—

निष्कल मन्त्र से आत्मा का रेचक करके देवाधिदेव के लिये पुष्प फेंक देना चाहिए ॥ -५२४ ॥

अर्थात् निष्कल मन्त्र से ॥ ५२४ ॥

कलश के पार्श्व में (= अगल बगल) स्थित मन्त्रों का संहारिणी मुद्रा के द्वारा सङ्ग्रहण कर उनका विद्युत् के समान चलायमान रूप से ध्यान कर धामदेह में न्यास करना चाहिये ॥ ५२५ ॥

दायें हाथ की उँगलियों की कनिष्ठा आदि के क्रम से मुट्ठी बाँधना संहार- मुद्रा कही जाती है । धामदेह = सकलभट्टारक । विन्यास करे = समस्त मन्त्र उसमें लीन हो गये—ऐसा ध्यान करना चाहिये ॥ ५२५ ॥

उसको भी—

निष्कल भैरव की वह विद्यादेह ॥ ५२६- ॥

लीन हो गयी—ऐसी भावना करनी चाहिये ।

तन्निष्कलरूपमकारादिप्रशमयुक्त्या ज्योतिर्मात्रात्मनि बिन्दौ लीनम् ॥

तमपि—

बिन्दुं तु नादशक्तिस्थं शक्तिरूपं तु ग्राहयेत् ॥ ५२६ ॥

अर्धचन्द्रनिरोधिकाप्रशमयुक्त्या विमर्शप्रधाननादनादान्तरूपतां गमितमानन्दस्पर्शप्रधानशक्तिरूपं संपादयेत् ॥ ५२६ ॥

तदपि—

शक्तिरूपं व्यापकेन प्रणवोभयसम्पुटम् ।

स्वरूपेण स्थितं सत् ॥

प्रकर्षेण नूयते स्तूयते सर्वैरिति प्रणवः परं तत्त्वम्, तेन उभयतः सम्पुटितमित्यन्तःकृतं सर्वतो व्याप्तमित्यर्थः ॥

तथा भावितम्—

वह (निष्कल रूप) बिन्दु विग्रह में लीन हो गया—ऐसा चिन्तन करना चाहिये ॥ -५२६- ॥

वह निष्कल रूप अकार आदि के लय की युक्ति से ज्योतिस्वरूप बिन्दु में लीन हो गया (ऐसी भावना करे) ॥

उस (= बिन्दु) को भी—

नादशक्ति में स्थित शक्तिरूप बनाना चाहिये ॥ -५२६ ॥

अर्धचन्द्र और रोधिनी के प्रशमन की युक्ति से (बिन्दु को) विमर्शप्रधान (क्रमशः) नाद रूपता और नादान्तरूपता को प्राप्त कराया गया समझ कर आनन्दस्पर्शप्रधान शक्तिरूप बनाना चाहिये ॥ ५२६ ॥

वह भी—

शक्तिरूप उसका भी अपने व्यापक रूप से स्थित समझ कर दो प्रणवों से सम्पुटित रूप में चिन्तन करना चाहिये ॥ ५२७- ॥

अपने व्यापक रूप में स्थित होकर ।

(प्रणव शब्द की व्याख्या करते हैं—) जो सबके द्वारा प्रकृष्ट रूप से स्तुत होता हो वह प्रणव है । उस प्रणव के द्वारा दोनों ओर से सम्पुटित है अर्थात् प्रणवों के भीतर स्थित कर दिया गया है अर्थात् प्रणव के द्वारा सब ओर से व्याप्त है—यह समझना चाहिये ॥

इस प्रकार से भावित उस मान्त्र रूप को—

संहारिण्या तु संगृह्य द्वादशान्ते तु योजयेत् ॥ ५२७ ॥

ततोऽपि—

पूरकेण हृदि न्यस्य स्वस्थानस्थं तु भावयेत् ।

स्वस्थानं निरुपाधिप्रकाशानन्दघनमेव तत् ॥

सकलं निष्कलं रूपं तथा सकलनिष्कलम् ॥ ५२८ ॥
भिन्नावस्थं तु मन्त्रेषु हृत्स्थं तत्संस्मरेत् प्रिये ।

सकलं द्वात्रिंशदर्णम्, निष्कलं च मन्त्रविरामे प्रकाशविमर्शमात्रतत्त्वम्, सकलनिष्कलं तु चतुष्कलनाथात्मकं यदेकमप्यनुजिघृक्षया त्रिधैव भूत्वा पुनर्वक्त्राङ्गादिभूमिषु भिन्नावस्थं तदेवंव्याप्तिकमेतदेकमेव मान्त्रं रूपं हृत्स्थं स्मरेत् ॥

उपसंहरति—

विसर्जनविधिर्ह्येवं............

यथा मण्डले तथान्यत्राप्याह—

.......अग्नावेवं........

तत्रादावग्निम्—

संहारिणी मुद्रा के द्वारा पकड़ कर द्वादशान्त में जोड़ दे ॥ -५२७ ॥

इसके बाद—

पूरक मन्त्र के द्वारा हृदय में उसका न्यास कर—वह अपने उचित स्थान में स्थित हो गया है—ऐसी भावना करनी चाहिये ॥ ५२८- ॥

स्वस्थान = उपधिरहितप्रकाशानन्दघन स्थान ॥

हे प्रिये ! मन्त्रों में सकल, निष्कल, सकल निष्कल इस प्रकार मन्त्रों में भिन्न अवस्थाओं में वर्त्तमान उसका ध्यान करे ॥ -५२८-५२९- ॥

सकल =३२ वर्णों वाला मन्त्र । निष्कल = मन्त्र का विराम हो जाने पर प्रकाशविमर्शमात्रतत्त्व । सकल निष्कल = चतुष्कलनाथ स्वरूप । एक ही तत्त्व प्राणियों पर अनुग्रह करने की इच्छा से तीन प्रकार का रूप धारण कर पुनः वक्त्राङ्ग आदि भूमियों में भिन्न अवस्था वाला हो जाता है । तो इस प्रकार की व्याप्ति वाला एक ही मान्त्ररूप हृदय में स्थित है—ऐसा स्मरण करना चाहिये ॥

अब इसका उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार यह विसर्जन विधि बतलायी गयी ॥ -५२९- ॥

जिस प्रकार मण्डल में उसी प्रकार अन्यत्र भी (यही विधि है)—यह कहते हैं—

अग्नि के विषय में भी इसी प्रकार की (विधि) है—

.........प्रपूजयेत् ॥ ५२९ ॥

ततोऽपि मूलेन—

अष्टोत्तरशतं हुत्वा पूर्णाहुतिं प्रपातयेत् ।

तं च—

अर्घमाचमनं दत्त्वा प्रणिपत्य क्षमापयेत् ॥ ५३० ॥

क्षमयेदित्यत्रार्थेऽयमैशः पाठः ॥ ५३० ॥

कथं क्षमयेत् ?—इत्याह—

मण्डलस्थप्रयोगेन रेचकापूरकेण तु ।
संगृह्य मन्त्रसंघातं यथास्थानं प्रकल्पयेत् ॥ ५३१ ॥

स्वात्मनो मन्त्रोच्चारानन्तरं नासिक्यरेचकेन निर्गत्य लोकपालादिक्रमेण धामान्तमापूर्य रेचयित्वा स्वात्मानमेव पूरयेत् । तत्र लोकपालमन्त्राणां भैरवाः, तेषामङ्गवक्त्राणि, तेषां सकलः, तस्यापि सकलनिष्कलः, तस्यापि व्याख्यातरूपनिष्कलनाथः स्थानमित्ययमेवात्र क्रमः ॥ ५३१ ॥

उस विधि के अनुष्ठान के समय पहले—

अग्नि की पूजा करनी चाहिये ॥ -५२९ ॥

इसके बाद मूल मन्त्र से—

१०८ बार हवन कर पूर्णाहुति करनी चाहिये ॥ ५३०- ॥

अर्घ और आचमन देकर (उन देवाधिदेव से) क्षमा माँगे ॥ -५३० ॥

'क्षमयेत्' इस अर्थ में 'क्षमापयेत्' यह पाठ ईश्वरकृत है (लौकिक संस्कृत के अनुसार 'क्षमयेत्' होना चाहिये) ॥ ५३० ॥

कैसे क्षमा माँगे ?—यह बतलाते हैं—

मण्डलस्थ प्रयोग (= अनुष्ठान) तथा रेचक एवं पूरक के द्वारा मन्त्रसमूह का सङ्ग्रह कर—वे तत्तत् उचित स्थान में स्थित हो गये हैं—ऐसी कल्पना करनी चाहिये ॥ ५३१ ॥

मन्त्रोच्चार के बाद नासिका से रेचक के द्वारा अपने अन्दर से निकल कर लोकपाल आदि के क्रम से धामपर्यन्त आपूरण कर फिर रेचक करे और अपने को आपूरित करे । (अब 'यथास्थान' पद की व्याख्या करते हैं—) लोकपाल मन्त्रों का स्थान भैरव हैं । उनके स्थान अङ्गवक्त्र हैं । उन अङ्गवक्त्रों का स्थान सकल है । उस सकल का स्थान सकलनिष्कला है । उसका भी स्थान निष्कलनाथ हैं जिसके स्वरूप की व्याख्या की जा चुकी है । यहाँ यही क्रम है ॥ ५३१ ॥

इत्थमग्निस्थं देवं विसृज्य—

जागरयेत्तदाग्निं तु नित्यकर्मनिमित्ततः ।

मा भूत् प्रतिदिनं संस्करणमित्याशयः ॥

अथ—

निर्माल्यनयनं कुर्याद्रजांस्यपहरेत् प्रिये ॥ ५३२ ॥

ततः प्रविश्य वसुधां प्रोक्षयेत्तां शिवाम्भसा ।

निर्गतं माल्यं निर्माल्यम्, न तु चण्डेशकल्पनया, तस्या इह विशेषनयेष्वचोदितत्वात् ॥

अथ—

बहिर्निर्गत्य भूतानां बलिकर्म तु पूर्ववत् ॥ ५३३ ॥

प्रागुक्तेनैव मन्त्रेण कार्यम् ॥ ५३३ ॥

अथ—

आचम्य सकलीकृत्य लिङ्गिनस्तर्पयेत्ततः ।

इस प्रकार अग्नि में स्थित देवता का विसर्जन कर—

नित्यकर्म के निमित्त अग्नि का जागरण कराना चाहिये ॥ ५३२- ॥

इसका तात्पर्य यह है कि अग्नि का प्रतिदिन संस्कार नहीं होगा ॥

इसके बाद—

हे प्रिये ! निर्माल्यनयन (= देवता को अर्पित करने के बाद उस मुरझाये पुष्प समूह को बाहर) करना चाहिये । और धूली को हटाना चाहिये । तत्पश्चात् यागमण्डप में प्रवेश कर शिवोदक से उस मण्डपभूमि का प्रोक्षण करे ॥ -५३२-५३३- ॥

'निर्माल्य' शब्द का अर्थ है जिस पुष्पसमूह से मालात्व निकल गया हो । (अर्थात् देवता आदि पर चढ़ाने के बाद मुरझाये या अपवित्र फूल) न कि चण्डेश की कल्पना से (= यज्ञ मण्डप के बाहर स्थित चण्डेश के लिये होने से निर्माल्य है) क्योंकि उस कल्पना का इन विशेष शास्त्रों में वर्णन नहीं है ॥

इसके बाद—

बाहर निकल कर पूर्वोक्त मन्त्र से बलिकर्म करना चाहिये ॥ -५३३ ॥

पूर्वोक्त मन्त्र से कर्म करे ॥ ५३३ ॥

तत्पश्चात्—

आचमन कर सकलीकरण करे तदनन्तर लिङ्गियों का तर्पण करे ॥५३४- ॥

लिङ्गिनो जटाभस्मादियुक्तान् । उक्तं च—

'शिवस्य परिपूर्णस्य किं नाम क्रियते नरैः ।

यत्कृतं शिवभक्तेषु तत्कृतं तु शिवे भवेत् ॥' इति ।

(शिवभक्तेषु =) शिवधर्मेषु ॥

अनन्तरम्—

गुरुं सम्पूजयेच्छिष्यो यथाविभवविस्तरैः ॥ ५३४ ॥

अथास्मै स्वात्मानमनृणीकर्तुम्—

देशाध्यक्षो ग्रामशतं मण्डलेशस्तदर्धकम् ।

शतभुक् पञ्च वै दद्याद् ग्रामं विंशतिभुक् तथा ॥ ५३५ ॥

दद्यात्तु ग्रामभुक् क्षेत्रं क्षेत्रभोक्ता तु विंशतिम् ।

विंशतितमं भागमित्यर्थः । एतच्चोपलक्षणम् ॥

वस्तुतस्तु—

लिङ्गी = जटा भस्म आदि से युक्त । कहा भी गया है—

'शिव तो परिपूर्ण है उसके लिये आदमियों के द्वारा क्या किया जाता है (अर्थात् शिव के लिये किया गया अर्चन पूजन का कोई स्वारस्य नहीं है ।) जो (अर्चन पूजन आदि) शिवभक्तों के लिये किया जाता है वही शिव के लिये किया गया हो जाता है' ॥

(शिव भक्त का अर्थ है—) शिव धर्म का पालन करने वाले ॥

इसके बाद—

शिष्य अपने सामर्थ्य के अनुसार धन सम्पत्ति के द्वारा गुरु की पूजा करे ॥ -५३४ ॥

गुरु के ऋण से अपने को मुक्त करने के लिये —

देश का राजा गुरु को सौ गाँव दान में दे दे । मण्डलेश उसका आधा (अर्थात् पचास ग्राम) दे । शतभुक् (= सौ ग्रामों पर शासन करने वाला) पाँच ग्राम दे । बीस ग्रामों पर शासन करने वाला एक ग्राम दे । एक गाँव पर शासन करने वाला थोड़ी भूमि दे और क्षेत्रभोक्ता को (= थोड़ी भूमि का स्वामी) बीस (= विश्वा भूमि या बीस स्वर्ण मुद्रा आदि) दान करना चाहिए ॥ ५३५-५३६- ॥

अर्थात् बीसवाँ भाग । यह कथन उपलक्षण है ॥

सच बात यह है कि—

येन येन गुरुस्तुष्येत् तत्सर्वं विनिवेदयेत् ॥ ५३६ ॥
ततस्त्वनृणतां याति वित्तशाठ्यविवर्जितः ।

वित्तशाठ्ये सति लोभादियुक्तस्य शरीरादिप्रमातृत्वानुग (त्वं न) मना ? (ग)[1] पि (मि?)[2] लितमिति दीक्षासंस्कारोऽस्य न सम्यग्वृत्त इत्यनुमीयते । यत्र च शिष्यस्येदृग् वृत्तं तत्र गुरुर्दण्डापूपिकयैव **निर्लोभः सिद्धः** । अत एव प्राक्—

'पुष्पं पाणौ प्रदापयेत्' (४।५०३)

इत्युक्तम् ॥

एवं विदितयोग्यभावः शिष्यः—

ततस्तु समयान् श्राव्यस्तन्त्रे भैरवनिर्गते ॥ ५३७ ॥

ते चाग्रे भविष्यन्ति ॥

अथ च—

चरुकं प्राशयेत् पश्चाच्चुम्बकः साधकैः सह ।
वाङ्निरुद्धः प्रसन्नात्मा पृथक् पात्रव्यवस्थितः ॥ ५३८ ॥

जिस-जिस वस्तु से गुरु सन्तुष्ट हों वह सब गुरु हेतु निवेदित करे । इससे वित्तशाठ्य से रहित शिष्य गुरु से अनृण हो जाता है ।।-५३६-५३७-॥

वित्तशाठ्य होने पर यह अनुमान किया जाता है कि यह शिष्य लोभ आदि से युक्त है । शरीर आदि को ही प्रमाता समझता है (न कि आत्मा को) अर्थात् इसका दीक्षा संस्कार ठीक से नहीं हुआ है । जहाँ शिष्य का आचरण ऐसा है वहाँ गुरु दण्डापूपिका न्याय से लोभरहित सिद्ध हो जाता है इसीलिये पहले—

'हाथों में पुष्प देना चाहिये ।' (४।५०३)

यह कहा गया है ॥

इस प्रकार जिसकी योग्यता विदित हो गयी है ऐसे शिष्य को—

भैरव से निकले हुए तन्त्र शास्त्र में वर्णित समयों (= नियमों) को सुनाना चाहिये ॥ -५३७ ॥

उन नियमों को आगे बताया जायेगा ॥

तत्पश्चात्—

चुम्बक (= गुरु) प्रसन्नचित्त, मौन होकर पृथक् पात्र में व्यवस्थित हुआ, साधकों (= अपने साधक मित्रों) के साथ चरु को खाये ॥ ५३८ ॥

---

१. (द) २. (ग)

चरुकमिति प्रार्थितनैवेद्यम् । साधकैरित्युपलक्षणम् । चुम्बति परम्परायातेन गुरुवक्त्रेण संयोज्यते संयोजयति च शिष्यमिति निरुक्त्या चुम्बको गुरुः । परमपवित्रचरुभोजने वाङ्निरुद्धत्वं चित्तैकाग्र्याय, अत एव प्रसन्नात्मा ॥

स च चरुः साधकादीनां ज्येष्ठादिक्रमेण देय इत्याह—

अनुक्रमेण दातव्यः..............

एवं हि सति स स चरुभोजी—

................ततः सिद्धिमवाप्नुयात् ।

एष च दीक्षाविधिरसामान्यरूप इत्याह—

अनेनैव विधानेन दीक्षिता ये वरानने ॥ ५३९ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चान्येऽथवा प्रिये ।
सर्वे ते समधर्माणः शिवधर्मे नियोजिताः ॥ ५४० ॥
सर्वे जटाधराः प्रोक्ता भस्मोद्धूलितविग्रहाः ।

नात्र अन्यतन्त्र इव दीक्षितानां प्राग्जातिसंस्कारः कोऽपि, केवलं समयादिभेदादेव भेदः ॥

चरुक = वह नैवेद्य जो हवन आदि करने के पश्चात् बचा है । 'साधकैः' पद उपलक्षण है (इससे अन्य व्यक्ति भी भक्षण करे)— यह अर्थ समझना चाहिये, चुम्बन करता है अर्थात् परम्परा से प्राप्त गुरुमुख से युक्त किया जाता है या शिष्य को युक्त करता है—इस व्याख्या से 'चुम्बक' का अर्थ होता है—गुरु । परमपवित्र चरुभोजन के समय मौन रखना चित्त की एकाग्रता के लिये होता है चित्त के एकाग्र होने से ही गुरु प्रसन्न आत्मा वाला होता है ॥

और वह चरु साधक आदि को ज्येष्ठता के क्रम से देना चाहिये—यह कहते हैं—

(चरु को) क्रम से देना चाहिये ॥ ५३९- ॥

ऐसा होने पर वह वह चरुभोजी—

उसके (= चरु भक्षण के) बाद सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ -५३९-॥

यह दीक्षाविधि असाधारण रूप है—यह कहते हैं—

हे सुन्दर मुखवाली! हे प्रिये! जो भी ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र या अन्य लोग इस विधान के अनुसार दीक्षित होते हैं वे सभी समानधर्म वाले होते हैं । शिवधर्म में नियोजित होने के कारण भस्मोद्धूलित शरीर वाले वे सब जटाधर कहे गये ॥ -५३९-५४१- ॥

जिस प्रकार अन्य तन्त्रों में दीक्षित जनों का पूर्व जाति का संस्कार रह जाता

अत एव—

एकपङ्क्तिभुजः सर्वे समयिनस्तु वरानने ॥ ५४१ ॥

सर्व इति ब्राह्मणाद्याः सङ्कीर्णाश्च ॥ ५४१ ॥

किं च—

पुत्रकाणां भवेदेका साधकानां तथा भवेत् ।
चुम्बकानां भवेदेका न प्राग्जातिविभेदतः ॥ ५४२ ॥

पङ्क्तिरित्यर्थात् ॥

यतः—

एकैव सा स्मृता जातिर्भैरवीया शिवाव्यया ।

उक्तं हि प्राक्—

'तस्मिन् युक्तः परे तत्त्वे सार्वज्ञादिगुणान्वितः ।
शिव एको भवेद् देवि अविभागेन सर्वतः ॥' (४।४०२)

इति । यत एषा भैरवसम्बन्धिनी जातिस्तत एव श्रेयोरूपा च नित्या च ॥

है वैसा यहाँ इस तन्त्र में नहीं है केवल समय (= नियम) आदि के भेद से ही इसका अन्य तन्त्रों से भेद है ॥

इसीलिये—

हे वरानने ! समस्त समयी दीक्षा वाले एक पङ्क्ति में बैठ कर भोजन करते हैं ॥ -५४१ ॥

समस्त = ब्राह्मण आदि तथा सङ्कीर्ण (= अस्पृश्य आदि) ॥ ५४१ ॥

और भी—

पुत्रकदीक्षादीक्षितों की एक पङ्क्ति होती है । उसी प्रकार चुम्बकों की भी एक पङ्क्ति होती है न कि (दीक्षा के) पूर्व वर्त्तमान जाति के भेद से भिन्न पङ्क्ति होती है ॥ ५४२ ॥

क्योंकि—

(भैरवीय परम्परागत) समस्त दीक्षितों की एक ही जाति होती है और वह है—भैरवीय शिवाव्यया जाति ॥ ५४३- ॥

पहले कहा भी गया है—

'हे देवि ! उस पर तत्त्व में युक्त साधक सर्वज्ञता आदि छः गुणों से युक्त होकर सर्वतः अविभाग (= ऐक्य) के द्वारा एकमात्र शिव हो जाता है ।' (४।४०२)

अत्रायमेवागमः प्रमाणमित्याह—

तन्त्रमेतत् समाश्रित्य प्राग्जातिं नह्युदीरयेत् ॥ ५४३ ॥
पुत्रकाणां साधकानां तथा समयिनामपि ।

किं पुनराचार्याणामेतत्तन्त्राश्रितानामेव । अयं नियमो न लौकिकानाम्, तन्त्रमेतत्समाश्रित्येत्येतदावृत्त्या योज्यम् ।

अतश्च एतत्तन्त्रदीक्षितः—

प्राग्जात्युदीरणाद् देवि प्रायश्चित्ती भवेन्नरः ॥ ५४४ ॥

नर इत्यात्तदेहादिग्रहः ॥

अतश्च—

दिनत्रयं तु रुद्रस्य पञ्चाहं केशवस्य च ।
पितामहस्य पक्षैकं नरके पच्यते तु सः ॥ ५४५ ॥

यत एवम्—

चूँकि यह जाति भैरवसम्बन्धिनी है इसलिये यह श्रेयोरूपा और नित्य है ॥

इस विषय में यही आगम प्रमाण है—यह कहते हैं—

इस तन्त्र को आधार (= प्रमाण) मान कर पुत्रक और समयी साधकी की पूर्व जाति का वर्णन नहीं करना चाहिये ॥ -५४३-५४४- ॥

(यदि साधकों के विषय में ऐसा है तो फिर) इस तन्त्र के अनुसार आचरण करने वाले आचार्यों के विषय में क्या कहना । यह नियम लौकिक जनों के लिये नहीं है । 'इस तन्त्र का समाश्रयण कर' इतने अंश को दो बार पढ़ना चाहिये । एक 'पुत्रकाणां' के साथ दूसरा 'प्राग्जाति' के साथ । (इस प्रकार अर्थ होगा—इस तन्त्र के अनुसार पुत्रक और समयी दीक्षा प्राप्त साधकों के विषय में इस तन्त्र को प्रमाण मानकर उनकी पूर्व जाति का नाम नहीं लेना चाहिये) ॥

इसलिये इस तन्त्र के अनुसार दीक्षा प्राप्त—

मनुष्य यदि अपनी पूर्व जाति का कथन करता है तो वह प्रायश्चित्त का भागी होता है ॥ -५४४ ॥

नर का अर्थ है—जिसने दीक्षा के द्वारा नया शरीर ग्रहण किया वह ॥

इसलिये—

वह व्यक्ति रुद्र के तीन दिन, विष्णु के पाँच दिन और ब्रह्मा के एक पक्ष के परिमाण से नरक का भोग करता है ॥ ५४५ ॥

चूँकि ऐसा है इसलिये—

अविवेकी भवेत्तस्माद्यदीच्छेदुत्तमां गतिम् ।

अविवेकी स्वात्मानमिव दीक्षितान् शिवैक्येन पश्यन् ॥

यतः—

अविवेकेन देवेशि सिद्धिर्मुक्तिर्ध्रुवं भवेत् ॥ ५४६ ॥

शिवैक्यदार्ढ्यमेव सर्वश्रेयःसाधनमिति शिवम् ॥

तन्त्रार्थप्रतिजागरात् प्रतिपदं सद्व्याप्तिसंदर्शनात्
सम्यक्सङ्कलनाक्रमात् प्रकटितो दीक्षाविधिर्यो मया ।
उद्द्योतेऽत्र तमामृशन्तु गुरवः श्रीशङ्कराज्ञाधरा
दीक्षां दीक्ष्यजनस्य कर्तुमभितो भोगापवर्गप्रदाम् ॥

॥ इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्य-व्याख्योपेते दीक्षाभिषेकप्रकाशनं नाम चतुर्थः पटलः ॥ ४ ॥

यदि (साधक या आचार्य) उत्तम गति को प्राप्त करना चाहते हैं । तो वे अविवेकी बने ॥ ५४६- ॥

अविवेकी का अर्थ है—अपने की भाँति अन्य दीक्षितों को शिव से अभिन्न समझने वाला ॥

क्योंकि—

हे देवेशि ! अविवेक (= विवेक = भेद के अभाव) से सिद्धि और मुक्ति दोनों निश्चित रूप से मिलती है ॥ -५४६ ॥

शिव के साथ तादात्म्य की दृढ़ता ही समस्त कल्याण का साधन है ॥

तन्त्र के विषय के प्रति जागरण (= सावधानता) इस ग्रन्थ के प्रत्येक पद की सद्व्याप्ति के दर्शन (अथवा पग-पग पर परमेश्वर की व्याप्ति का सन्दर्शन = अनुभव), सम्यक् सङ्कलना के आक्रमण (= पालान), के द्वारा जो दीक्षाविधि मैंने इस उद्योत में प्रकट की, श्रीशङ्कर की आज्ञा के अनुसार आचरण करने वाले गुरु दीक्ष्य जनों की भोगापवर्गप्रददीक्षा करने के लिये इस दीक्षाविधि का आमर्शन करे अर्थात् इसका सम्यक् मनन कर इसके अनुसार अनुष्ठान करे ॥

॥ इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र के चतुर्थ पटल 'दीक्षाभिषेकप्रकाशन' की श्रीक्षेमराज-विरचित स्वच्छन्दोद्योत नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी टीका सम्पूर्ण हुई ॥ ४ ॥

पञ्चमः पटलः

*** स्वच्छन्दोद्योतः ***

दीक्षादीक्षणनिर्माणनानोपायप्रदर्शनः ।
जयत्यनुग्रहैकान्तविश्रान्तः परमेश्वरः ॥

अथ पटलसङ्गतिं कुर्वती उक्तकलादीक्षानुवादपूर्वं तत्त्वदीक्षां प्रस्तावयितुं श्रीदेव्युवाच—

कलादीक्षा सुरेशान कथिता परमेश्वर ।
तत्त्वदीक्षां समासेन कथयस्व प्रसादतः ॥ १ ॥

सुरेशानो ब्रह्मादीनां स्वामी । परमेश्वरस्तु परभैरवसत्तानुप्रवेशात् । समासेनेति संक्षेपेण विधिविस्तारस्य कलादीक्षायामुक्तत्वात् ॥ १ ॥

एवमभ्यर्थितः श्रीभैरव उवाच—

*** ज्ञानवती ***

दीक्षा (का स्वरूप) दीक्षण (= दीक्षा की विधि) (विश्व की) रचना (एवं शिवसमावेश के) उपाय का प्रदर्शन करने वाले (और सबके बाद अपने ऊपर स्वयं) अनुग्रह कर एकान्त में विश्राम करने वाले परमेश्वर जयशील हैं ॥

अब पिछले पटल की सङ्गति को बैठाती हुई उक्त कलादीक्षा का अनुवाद करती हुई तत्त्व दीक्षा का प्रस्ताव करने के लिये श्रीदेवी ने कहा—

हे सुरेशान ! हे परमेश्वर ! कलादीक्षा का वर्णन आपने किया । अब प्रसन्न होकर तत्त्वदीक्षा को संक्षेप में कहिये ॥ १ ॥

सुरेशान = ब्रह्मा विष्णु आदि के स्वामी । परभैरव सत्ता का अनुप्रवेश होने के कारण यही परमेश्वर हो जाते हैं । समासपूर्वक = संक्षेप से क्योंकि दीक्षाविधि का विस्तार (चतुर्थ पटल में) कलादीक्षा के वर्णन के अवसर पर पहले ही कह दिया गया है ॥ १ ॥

इस प्रकार प्रार्थित श्री भैरव ने कहा—

समासात् कथयिष्यामि त्वत्प्रियार्थं वरानने ।

पूर्वं प्रश्नेन प्रकृतां तत्त्वदीक्षां नानाभेदभिन्नाम् ॥

तत्र—

षट्त्रिंशत्तत्त्वमुख्यानि यथा शोध्यानि पार्वति ॥ २ ॥
पृथिव्यादिशिवान्तानि स्वव्याप्त्यानुगुणैः सह ।
यथा शुद्ध्यन्ति देवेशि तथा ते कथयाम्यहम् ॥ ३ ॥

तत्त्वदीक्षायां तत्त्वानामन्तर्भाविताध्वान्तरापेक्षं प्राधान्यमेव व्याप्तिरध्वान्तराणां तु गुणीभावः । एवमन्यत्र । येन प्रकारेण शोध्यानि शोधनीयानि, यथा च शुद्ध्यन्ति तथा शोधकशोध्यगतं प्रकारं तव अनुग्रहैकपरायाः कथयामीति प्रतिज्ञा ॥ ३ ॥

तत्र—

विद्याराजस्य ये वर्णा नवसंख्योपलक्षिताः ।
वाचकास्ते च तत्त्वानां............

शोध्यत्वेनोपस्थाप्यानाम् ॥

हे वरानने ! तुम्हारी प्रसन्नता के लिये मैं संक्षेप में कहूँगा ॥ २- ॥

(किसको कहूँगा ?—ऐसी जिज्ञासा होने पर उत्तर देते हैं—) पहले श्लोक में प्रस्तुत अनेक भेदों वाली तत्त्वदीक्षा को कहूँगा ॥

उस उपक्रम में—

हे पार्वति ! पृथिवी से लेकर अनाश्रित शिवपर्यन्त छत्तीस तत्त्व मुख्यरूप से शोध्य होते हैं । वे अपनी अपनी व्याप्ति के अनुसार जिस प्रकार शुद्ध होते हैं उस प्रकार मैं तुमको बतला रहा हूँ ॥ -२-३ ॥

तत्त्वदीक्षा में तत्त्वों की प्रधानता रहती है और यही व्याप्ति है । यह प्रधानता उन अध्वाओं की अपेक्षा रहती है जो कि उन तत्त्वों में अन्तर्भावित रहते हैं । इस प्रकार अध्वसमूह गौण रहता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी (प्रधान गौण भावों को) समझना चाहिये । जिस रीति से वे शोध्य = शोधनीय हैं और जिस नियम से शुद्ध होते हैं उस प्रकार का शोध्यशोधकनिष्ठ प्रकार तुमको जो कि अनुग्रह में लगी रहती हो, बतलाऊँगा—यह (परमेश्वर की) प्रतिज्ञा है ॥ ३ ॥

(उस शोधन विधि के वर्णन का उपक्रम करते हैं)—

विद्याराज के वे वर्ण, जिनकी संख्या नव हैं (स्व०तं० १।८५-८६), (छत्तीस) तत्त्वों के वाचक हैं ॥ ४- ॥

वे तत्त्व जिस प्रकार शोध्य के रूप में उपस्थाप्य होते हैं वह प्रकार ॥

यथा भवन्ति तथा—

................कथयाम्यनुपूर्वशः ॥ ४ ॥

तत्र—

धरित्र्यादिप्रधानान्तमूकारो वाचकः स्मृतः ।
पुरुषस्य यकारो वै रागतत्त्वान्वितस्य च ॥ ५ ॥

स्मृत इति श्रीश्रीकण्ठेन । अतश्च तेनैव वर्णेन प्रणवनवात्मोच्चारपूर्वं तत्तत्तत्त्वं कलोपस्थापनवदुपस्थाप्य अध्वसंधानादिशुद्धाशुद्धतत्त्वानुसंध्यन्तं सर्वं पूर्ववत् कर्तव्यम् । एवं सर्वत्र । पुरुषस्य स्पृहामयत्वाद् रागतत्त्वान्वितस्येत्युक्तम् ॥ ५ ॥

नियामिकां वकारेण विद्यातत्त्वसमन्विताम् ।
कालं कलां लकारेण कल्पयेत्तु वरानने ॥ ६ ॥

किञ्चिद्वेदनात्मनोऽशुद्धविद्यायाः किञ्चिदंशे नियमानुप्रवेशान्नियत्या सह निर्देशः । कलायास्तु किञ्चित्कर्तृत्वात्मनः क्रियाविशिष्टायाः कालानुवेधस्यावश्यंभावात् कालेन सह निर्देशः । सहनिर्देशश्चायं वाच्यवाचकभावप्रदर्शनाय । शोधनं तु पृथगेव ॥ ६ ॥

मैं क्रमशः तुमको बतलाऊँगा ॥ -४ ॥

उनमें—

पृथिवी से लेकर प्रकृति तत्त्व तक का वाचक 'ऊ'कार कहा गया है । राग तत्त्व से युक्त पुरुष तत्त्व का वाचक 'य'कार है ॥ ५ ॥

कहा गया है—श्री श्रीकण्ठनाथ के द्वारा । इसलिये पहले नवात्म प्रणव (= ॐकार) का उच्चारण कर कला की उपस्थापना के समान उसी वर्ण से तत्तत् तत्त्वों को उपस्थापित कर अध्वसन्धान से लेकर शुद्धाशुद्ध तत्त्व के अनुसन्धान पर्यन्त सब कुछ पहले (= चतुर्थपटल में वर्णित नियम) की भाँति करना चाहिये । इसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये । चूँकि पुरुष लालसायुक्त होता है इसलिये राग तत्त्व के साथ पुरुष तत्त्व का शोधन कहा गया ॥ ५ ॥

विद्यातत्त्व से युक्त नियतितत्त्व का शोधन 'व'कार से तथा हे वरानने ! काल और कला तत्त्व का शोधन 'ल'कार से करना चाहिये ॥ ६ ॥

किञ्चिद्वेदनरूप अशुद्ध विद्या के किञ्चिद् अंश में नियम का अनुप्रवेश होता है इस कारण विद्या तत्त्व का शोधन नियति तत्त्व के साथ कहा गया । कला किञ्चित् कर्तृत्वरूप होती है । क्रिया विशिष्ट किञ्चित्कर्तृत्व रूपाकला के साथ काल का अनुवेध अवश्य रहता है इसलिये कला का शोधन काल के साथ कहा गया है । साथ का निर्देश वाच्यवाचक सम्बन्ध को बतलाने के लिये है । (अर्थात् 'ल'कार वाचक है तथा कला और काल वाच्य हैं, (इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना

किं च—

मायातत्त्वं मकारेण विद्यातत्त्वं क्षकारतः ।
रेफेण चैश्वरं तत्त्वं हकारेण सदाशिवः ॥ ७ ॥
प्रणवेन तथा शक्तिर्न्यसितव्या वरानने ।

प्रणवेन बिन्दुना । शक्तिरिति शक्तितत्त्वं परमशिवरूपमेव ॥ ७ ॥

अत एव—

व्यापिनीं समनां चोर्ध्वे तत्रैव तु विशोधयेत् ॥ ८ ॥

तत्रैवेति शिवतत्त्वे प्रणवेनैव ॥ ८ ॥

एतच्च सर्वं पूर्वोक्तेन सर्वेण विधिना—

शोधयित्वा क्रमेणैव मूलमन्त्रेण सुव्रते ।
योज्य आत्मा परे तत्त्वे उन्मनातीतसर्वगे ॥ ९ ॥
निराभासे परे शान्ते ईशाने चाव्यये त्वजे ।

शिष्यदेहे पादान्ताद् गुल्फान्तं पृथ्वी, गुल्फान्नाभ्यन्तं जलादिप्रधानान्तानि त्रयोविंशतिः, ततस्ताल्वन्तं पुमादिमायान्तानि सप्त, ततो ब्रह्मबिलोपान्तं विद्यादि-

---

चाहिये) । तत्त्वों का शोधन तो अलग-अलग ही होगा ॥ ६ ॥

तथा—

हे वरानने ! माया तत्त्व का मकार, विद्यातत्त्व का क्षकार, ईश्वर तत्त्व का रेफ एवं सदाशिव तत्त्व का हकार से शोधन करना चाहिये । इसी प्रकार शक्ति का न्यास प्रणव से करना चाहिये ॥ ७-८- ॥

प्रणव = बिन्दु । शक्ति = शक्तितत्त्व जो कि परमशिवरूप होता है ॥ ७ ॥

इसीलिये—

व्यापिनी और समना को ऊर्ध्व स्थल में वहीं शुद्ध करना चाहिये ॥ -८ ॥

वहीं = शिवतत्त्व में ही । यह शोधन प्रणव के ही द्वारा होगा ॥ ८ ॥

पूर्वोक्त समस्त विधि के द्वारा इस सबका—

हे सुव्रते ! मूलमन्त्र के द्वारा क्रम से शोधन कर जीवात्मा को अज अव्यय ईशान परम शान्त निराभास सर्वगामी उन्मनातीत परतत्त्व में जोड़ देना चाहिये ॥ ९-१०- ॥

शिष्य के देह में पैर से लेकर गुल्फ तक पृथ्वी तत्त्व, गुल्फ से नाभि तक

सदाशिवान्तं त्रयम्, तदुपरि समनान्तं शक्तितत्त्वसहितं शिवतत्त्वम्, इति तत्त्वानि विन्यस्य, दीक्ष्यस्य तानि सर्वाणि क्रमेण पूर्वोक्तविधिना प्रोक्तनवात्मावयवैः शोधयित्वा, आत्मा परे तत्त्वे परमशिवे, मूलमन्त्रेणेत्यवयवापेक्षया समग्रेण नवात्मना योज्यः । कीदृशे ? उन्मनामतीते तदनुप्रवेशानन्तरलभ्ये शक्तिमदात्मनि सर्वगे व्यापके । ईषद्भासनाद् निष्क्रान्ते सर्वाभासोत्थापके च, निःशेषभेदोपशमात् परे शान्ते, ईशाने विश्वेश्वरे, अव्यये अजे चेति नित्ये ॥ ९ ॥

तदित्थमेकैकं शोधनीयत्वेन—

षट्त्रिंशत्तत्त्वमाख्यातं...............

पात्रादित्वात् समाहारे स्त्रीप्रत्ययाभावः ॥

अथ—

...............नवतत्त्वं प्रचक्ष्महे ॥ १० ॥

तत्र—

जलतत्त्व से लेकर प्रधान पर्यन्त तेईस तत्त्व, वहाँ (= नाभि) से लेकर तालुपर्यन्त पुरुष से लेकर मायापर्यन्त सात तत्त्व, वहाँ (= तालु) से लेकर ब्रह्मबिल (= ब्रह्मरन्ध्र) तक विद्या ईश्वर और सदाशिव ये तीन तत्त्व, उसके ऊपर समना पर्यन्त शक्ति तत्त्व के सहित शिवतत्त्व का न्यास कर दीक्ष्य के उन सभी तत्त्वों का क्रम से = पूर्वोक्त विधि से, प्रोक्त नव अवयवों के द्वारा शोधन कर (उसकी) आत्मा को पर तत्त्व = परम शिव के साथ, मूल मन्त्र से — अवयव की अपेक्षा नवात्मक समग्र मन्त्र के साथ जोड़ देना चाहिये । (वह परतत्त्व) कैसा है? (यह बतलाते हैं—) वह तत्त्व उन्मना का अतिक्रमण कर वर्त्तमान उस (= उन्मना) में अनुप्रवेश के बाद प्राप्य, शक्तिमान् स्वरूप, सर्वग = व्यापक है । (साथ ही वह तत्त्व) किञ्चिदाभास से उत्तीर्ण (= परे) समस्त आभासों का उत्थापक (= आभासक) है, सम्पूर्ण भेदों के उपशान्त हो जाने से परम शान्त ईश्वर, विश्व का स्वामी, अव्यय, अज और नित्य है ॥ ९ ॥

इस प्रकार एक-एक शोधनीय तत्त्व का वर्णन करते हुए—

छत्तीस तत्त्वों का वर्णन कर दिया गया ॥ -१०- ॥

(षट्त्रिंशत्तत्त्वम्—यहाँ पर) पात्रादिगण (यह आकृतिगण है) में पाठ होने से समाहार द्वन्द्व हो गया । फलतः (समाहारे नपुंसकम्, नियम के अनुसार नपुंसकलिङ्ग हुआ स्त्रीप्रत्यय (= ङीप्, ङीष्, का प्रयोग) नहीं हुआ ॥

इसके बाद—

अब नव तत्त्वों का वर्णन कर रहा हूँ ॥ -१० ॥

उनमें से—

प्रकृतिः पुरुषश्चैव नियतिः काल एव च ।
माया विद्या तथेशश्च सदाशिवशिवौ तथा ॥ ११ ॥

एतानि मुख्यानि नवतत्त्वानि नवभिर्नवात्मकैः प्रातिलोम्येन पूर्वोक्तविधिना—

शोधयित्वा तु विधिवद् व्याप्त्यात्मानं नियोजयेत् ।

शिष्यस्य ।

प्राधान्येन तु—

पञ्चतत्त्वी यदा शोध्या..............

तदा—

..............वक्त्रमन्त्रास्तु वाचकाः ॥ १२ ॥

तैश्च सद्योजातादिक्रमेण—

धरित्र्यादि खपर्यन्तं शोधयेत् तत्क्रमेण तु ।

तत्त्वपञ्चकस्याशेषाध्वशुद्ध्यनुगुणां निवृत्त्यादिकलाव्याप्तिमाह—

कलानां यावती व्याप्तिस्तत्त्वानां तावदेव हि ॥ १३ ॥

प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, माया, विद्या, ईश्वर, सदाशिव और (अनाश्रित) शिव ॥ ११ ॥

ये मुख्य नव तत्त्व हैं । इनको नव अवयवों वाले नव मन्त्रों के द्वारा विपरीत क्रम से पूर्वोक्त विधि के अनुसार—

विधिवत् शुद्ध कर व्याप्ति के द्वारा (शिष्य की) आत्मा को (परतत्त्व से) जोड़ देना चाहिये ॥ १२- ॥

मुख्य रूप से—

जब (प्रधान रूप से) पाँच तत्त्वों का शोधन करना होता है तब वक्त्र मन्त्र वाचक होते हैं ॥ -१२ ॥

उन (= वक्त्र मन्त्रों) के द्वारा सद्योजात आदि के क्रम से—

पृथ्वी से लेकर आकाश पर्यन्त शोधन करना चाहिये और वह (= शोधन) भी उस क्रम से होना चाहिये ॥ १३- ॥

उपर्युक्त पाँच तत्त्व समस्त अध्वशुद्धि की अनुकूलता वाली निवृत्ति आदि पाँच कलाओं से व्याप्त हैं—यह बतलाते हैं—

कलाओं की जितनी व्याप्ति है तत्त्वों की भी उतनी ही व्याप्ति है ॥ -१३ ॥

एवं च वदन् कलादीक्षोक्तोऽत्र सर्वो विधिः, केवलं कलोपस्थापनाद्यवसरे सद्योजातादिमन्त्रैर्धरादितत्त्वोपस्थापनादि कार्यम् । अतश्च तत्त्वपञ्चकमेतद् भगवद्वक्त्रमन्त्रस्फारसारतया परभैरवमयमेवेति तदभेदव्याप्तिरेव परं शुद्धिसाधनमिति शिक्षयति ॥ १३ ॥

अथ—

त्रितत्त्वमधुना वक्ष्ये यथा शोध्यं वरानने ।

आत्मविद्याशिवाख्यं मेयमानमातृरूपम् ॥

अस्य वाचकव्याप्तिमाह—

अकार आत्मतत्त्वस्य वाचकः परिकीर्तितः ॥ १४ ॥
मायान्तं तद्विजानीयात्..............

अकार इति प्रणवसत्कः (= प्रणवगतः) । मायान्तमेकत्रिंशता तत्त्वैरपरिवर्जित आत्मा शिवशक्तेर्मेय इति तावत्येवास्य व्याप्तिः ॥

इस प्रकार का कथन करते हुए यहाँ समस्त विधि कलादीक्षा के लिये कही गयी है । केवल कला के उपस्थापन के अवसर पर सद्योजात आदि मन्त्रों के द्वारा धरा आदि तत्त्व की उपस्थापना ही करनी चाहिये (शोधन नहीं) । इस वर्णन से ग्रन्थकार यह बतलाना चाहते हैं कि ये पाँच तत्त्व परमेश्वर के वक्त्रमन्त्र का विस्तार मात्र होने के कारण पर भैरवमय ही हैं । इसलिये उनके साथ अभेद व्याप्ति ही पर (= सर्वोत्कृष्ट) शुद्धि का साधन है ॥ १३ ॥

अब—

हे वरानने ! अब तीन तत्त्वों का जिस प्रकार शोधन होता है वह कह रहा हूँ ॥ १४- ॥

(ये तीन तत्त्व) आत्मा, विद्या और शिव हैं जो कि प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता रूप हैं ॥

इन तीनों तत्त्वों के वाचक (वर्णों) की व्याप्ति बतलाते हैं—

अकार आत्मतत्त्व का वाचक बतलाया गया है । उस (= अकार अथवा आत्मतत्त्व) को (पृथ्वी से लेकर) माया तत्त्व तक समझना चाहिये ॥ -१४-१५- ॥

अकार का तात्पर्य है—प्रणव (= ॐकार) में वर्त्तमान अ । मायापर्यन्त अर्थात् इकतीस तत्त्व (= पृथ्वी से लेकर पुरुष तक पच्चीस + माया और उसके पाँच कञ्चुक = इकत्तीस) से अपरिवर्जित (= युक्त) आत्मा शिव शक्ति का प्रमेय है—इसलिये उतनी (= इकत्तीस तत्त्व तक) ही इसकी (= अकार की) व्याप्ति है ॥

............विद्याख्यस्याप्युकारकः ।

सकलावधि तज्ज्ञेयं.................

विद्या ज्ञानक्रियात्मा शक्तिः शुद्धविद्येश्वरसदाशिवव्याप्तिका । सकलः सदाशिवः ॥

तदुपरि शक्तिव्यापिनीसमनाशक्तिव्यापकस्य—

..............शिवस्य तु मकारकः ॥ १५ ॥

यस्तु तदूर्ध्वगो बिन्दुरुन्मनाव्याप्तिसतत्त्वः—

खस्वरः.............

खं पराकाशं स्वरयति शब्दयति सः पराकाशात्मा ॥

अत एव—

...........खस्वरूपस्य शिवतत्त्वस्य वाचकः ।

तदित्थमेतदनुसंधाय प्राग्वदध्वोपस्थापनपूर्वम्—

शोधयित्वा क्रमेणैव.............

विद्या तत्त्व का (वाचक प्रणवगत) उकार है । इसकी व्याप्ति सकल पर्यन्त जाननी चाहिये ॥ -१५- ॥

विद्या का अर्थ है—(परमेश्वर की) ज्ञानक्रिया रूपा शक्ति जिसकी व्याप्ति शुद्ध विद्या ईश्वर और सदाशिव तक रहती है । सकल = सदाशिव ॥

उसके ऊपर शक्ति व्यापिनी और समना शक्तियों के व्यापक—

शिव का (वाचक) 'म'कार है ॥ -१५ ॥

और जो उसके ऊपर वर्त्तमान बिन्दु है जिसको कि उन्मना शक्ति व्याप्त किये रहती है वह—

(ख स्वर का अर्थ है—) ख स्वर है ॥ १६- ॥

जो ख = पराकाश को स्वरयुक्त करता है = उसमें शब्द उत्पन्न करता है वह अर्थात् पराकाश ॥

इसीलिये—

(वह मकार) 'ख'स्वरूप शिवतत्त्व का वाचक है ॥ -१६- ॥

तो इस प्रकार इसका अनुसन्धान कर पूर्व की भाँति अध्वा का उपस्थान कर—

क्रम से शोधन करने के बाद ॥ -१६- ॥

शिष्यात्मानम्—

.............परे तत्त्वे नियोजयेत् ॥ १६ ॥

खस्वरोक्तव्याप्तिसारेण प्रणवेन ॥ १६ ॥

तदित्थमत्र—

तत्त्वदीक्षा समाख्याता चतुर्भेदव्यवस्थिता ।

पूर्वं तु योजनिकाग्रन्थान्ते एकतत्त्वदीक्षाप्युक्तेति दर्शितमेव ॥

एवं प्रश्नितां तत्त्वदीक्षामुक्त्वा, अनुजिघृक्षोर्भगवत्या आशयपरितोषाया-प्रश्नितामपि पदादिदीक्षां निरूपयिष्यन् भगवानाह—

पददीक्षां प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ॥ १७ ॥

वर्णमन्त्रदीक्षाभ्यां तुल्येतिकर्तव्यतां भुवनदीक्षां तदवसर एव संक्षेपेण प्रतिपादयिष्यति, विस्तरेण तु दशमपटले । ततः पददीक्षामेव तावदाह ॥ १७ ॥

तत्र—

विद्याराजे तु ये वर्णा नवसंख्योपलक्षिताः ।

शिष्य की आत्मा को—

परतत्त्व से जोड़ देना चाहिये ॥ -१६ ॥

यह नियोजन भी खस्वरोक्त व्याप्ति वाले प्रणव के द्वारा होगा ॥ १६ ॥

तो इस प्रकार यहाँ—

चार भेदों वाली तत्त्व दीक्षा कही गयी । (ये चार भेद निम्नलिखित प्रकार से हैं—१. पृथ्वी से प्रकृति तक, २. पुरुष से माया तक, ३. विद्या ईश्वर सदाशिव, ४. ख स्वर) ॥ १७- ॥

पहले योजनिका दीक्षा के वर्णन के अन्त में एक तत्त्व दीक्षा भी कही गयीं—यह भी बतला दिया गया ॥

इस प्रकार जिसके बारे में प्रश्न किया गया था उस तत्त्वदीक्षा का वर्णन करने के बाद अनुग्रहेच्छु भगवती पार्वती के आशय को सन्तुष्ट करने के लिये न पूछी गयी भी पद आदि दीक्षा का निरूपण करते हुए भगवान् ने कहा—

(अब मैं) विधिवत् और क्रम से पददीक्षा को बतलाऊँगा ॥ -१७ ॥

वर्ण दीक्षा और मन्त्र दीक्षा के लिये तुल्य इतिकर्तव्यता वाली भुवनदीक्षा को उसके (वर्णन के) अवसर पर संक्षेप में बतलायेंगे । उसका विस्तृत वर्णन दशम पटल में किया जायेगा । इस कारण तब तक पद दीक्षा को बतला रहे हैं ॥१७॥

उसमें—

पृथग्भेदेन तेषां तु विन्यासं कथयामि ते ॥ १८ ॥

तत्र—

नवनाभं पुरं कृत्वा नवपद्मोपलक्षितम् ।

कथम्—

नवहस्तं लिखेद्वेश्म अष्टपर्वाधिकं बुधः ॥ १९ ॥

वेश्म मण्डलक्षेत्रम् । अष्टभिः पर्वभिरङ्गुलैराधिक्ये सर्वमेतत् क्षेत्रमङ्गुलशतद्वयं चतुर्विंशत्यधिकं २२४ भुवनाध्वप्रतिबिम्बरूपं भवति । तस्मिन् सर्वतः सप्तभागकल्पनयैकैकस्य भागस्य द्वात्रिंशदङ्गुलत्वं जायते, इति तदर्थमङ्गुलाष्टकाधिक्यदानम् ॥ १९ ॥

अथ—

सप्तभागीकृतं तत्तु............

कुर्यात् ॥

किं कृत्वा—

..............दक्षिणोत्तरभाजितम् ।

विद्याराज में नव संख्या वाले जो वर्ण हैं उनका अलग-अलग भेद से न्यास तुमको बतला रहा हूँ ॥ -१८ ॥

उसमें—

(आचार्य) नव पद्मों से उपलक्षित नव नाम पुर को बनाये ॥ १९- ॥

किस प्रकार ?—(यह बतलाते हैं—)

विद्वान् आचार्य नव हाथ और आठ अंगुल का वेश्म बनाये ॥ -१९ ॥

वेश्म = मण्डल क्षेत्र । यह सम्पूर्ण क्षेत्र (९ हाथ = ९×२४ अंगुल = २१६ अंगुल) और ८ अंगुल जोड़ देने से २२४ अंगुल का हो जाता है । इस प्रकार यह भुवनाध्वा का प्रतिबिम्ब रूप हो जाता है (क्योंकि भुवनाध्वा भी २२४ संख्या वाला है) । इस (२२४ अंगुल वाले क्षेत्र का) सब ओर से ७ भाग करने पर एक-एक भाग का विस्तार ३२ अंगुल का होता है । इसी रचना को बनाने के लिये आठ अंगुल अधिक जोड़ दिया जाता है ॥ १९ ॥

इसके बाद—

(यह भाग पूरब पश्चिम विस्तार का हुआ) अब उसका फिर सात भाग करे ॥ २०- ॥

कैसे ?—

चतुरश्रं विभज्यादौ मत्स्यैश्चैवात्र चिह्नितम् ॥ २० ॥

भाविनीत्या ब्रह्मस्थानात् पूर्वापरदिशौ अङ्कयित्वा, किञ्चिदूनेन चतुर्भागेन क्षेत्रमानेन सूत्रेण पूर्वापराङ्कयोर्वामहस्तप्रतिबद्धेन दक्षकरगताग्रभागेन पार्श्वयोर्मत्स्यबन्धाकारं रेखाद्वयमुत्पाद्य, तन्मध्ये सूत्रमास्फाल्य दक्षिणोत्तरभाजितं क्षेत्रं कृत्वा, क्षेत्रार्धमानेन सूत्रेण पार्श्वगतमध्याङ्कप्रतिबद्धेन कोणेषु मत्स्यबन्धचतुष्कमुत्पाद्य, तत्र सूत्रास्फालनेन चतुरश्रं विभज्येत्यत्र पिण्डार्थः ॥ २० ॥

एवं चतुरश्रे क्षेत्रे पूर्वापरायतैः सूत्रैः सप्तधा विभक्ते—

कोष्ठकैकोनपञ्चाशत् सूत्रेण तु समालिखेत् ।

दक्षिणोत्तरायतैर्मध्यगतैः षड्भिः सूत्रैरेकोनपञ्चाशतं कोष्ठकानुत्थापयेत् ॥

एवं कृत्वा—

मध्यमे कोष्ठके सूत्रं द्वात्रिंशाङ्गुलसंमितम् ॥ २१ ॥
समालिख्य महादेवि चतुर्भागविभाजिते ।

ब्रह्मस्थानाच्चतुर्भिः समभागैर्भ्रमैः पर्यन्तभाविव्योमरेखावकाशं परिकल्प्य विभक्ते

उसका दक्षिण उत्तर भाग बना कर । पहले चौकोर इसको सात भाग में विभक्त कर फिर मत्स्य से चिह्नित करे ॥ -२० ॥

भावी नीति के अनुसार ब्रह्मस्थान (= मण्डल में ब्रह्मा का स्थान) से पूर्व और पश्चिम दिशा को चिह्नित कर, थोड़े कम चार भाग वाले क्षेत्रमान वाले सूत्र से पूर्व पश्चिम में बायें हाथ में बंधे और दायें हाथ में वर्त्तमान सूत्र के अग्रभाग से दोनों पार्श्वों में मत्स्य बन्ध के आकार वाली दो रेखायें बनायी जाय । ऊन दोनों रेखाओं के मध्य भाग में सूत्र को फटकार कर क्षेत्र को दक्षिण-उत्तर विभाजित करे । क्षेत्र की आधी नाप वाले सूत्र, जो कि पार्श्वगत मध्य चिह्न से प्रतिबँधा है, के द्वारा चारो कोनो में चार मत्स्यबन्ध (= मछली का आकार) बनाना चाहिये । वहाँ सूत्र को फटकने से चारो कोण बँट जायेगा ॥ २० ॥

इस प्रकार जब चौकोर क्षेत्र पूर्व पश्चिम फैले सूत्रों के द्वारा सात भागों में विभक्त हो जाता है तब—

सूत्र से ४९ कोष्ठ बनाये ॥ २१- ॥

तात्पर्य यह है कि दक्षिण से उत्तर की ओर फैले हुए तथा क्षेत्र के मध्यवर्त्ती छः सूत्रों के द्वारा ४९ कोष्ठकों को उस क्षेत्र के ऊपर बनाये ॥

इतना करने के बाद—

हे महादेवि ! चार भागों में विभाजित मध्यम कोष्ठक में ३२ अंगुल वाले सूत्र को रखें ॥ -२१-२२- ॥

इत्यर्थः ॥

तत्र भागचतुष्टयमध्यात्—

प्रथमे कर्णिकां कुर्यात् केसराणि द्वितीयके ॥ २२ ॥
तृतीये दलसंधींश्च दलाग्राणि चतुर्थके ।

यत्र दलानि तदग्रैः संधीयन्ते ते दलसंधयः ॥

पूर्वोक्तेषु चतुर्षु भागेषु वृत्तवर्तनविधिमाह—

दिक्षु रेखाष्टकं दत्त्वा प्रतिदिक्षु तथैव च ॥ २३ ॥
भ्रामयेच्चतुरो वृत्तांश्चतुरङ्गुलसंमितान् ।

दिक्षु अष्टस्वष्टौ, तन्मध्ये चाष्टौ सूत्राणि दत्त्वा, ब्रह्मस्थानात् पूर्वविभागाङ्केषु चतुरो भ्रमान् कुर्यात् ॥ २३ ॥

अथ—

द्वाभ्यां प्रतिदिग्रेखाभ्यां मध्ये सूत्रं निधाप्य तत् ॥ २४ ॥
सूत्राग्रं तु ततो भ्राम्यमर्धचन्द्रविधानतः ।

ब्रह्मस्थान से चार सम भाग वाले भ्रम (= चाप) के द्वारा पर्यन्तगामी व्योमरेखा के अवकाश की कल्पना कर विभाजित (कोष्ठक में सूत्र को रखें) ॥

उनमें से चार भागों में से—

प्रथम भाग में (कमल की) कर्णिका बनाये । दूसरे भाग में केसर । तृतीय भाग में पंखुड़ियों की सन्धि और चतुर्थ भाग में पंखुड़ियों का अग्र भाग बनाये ॥ -२२-२३- ॥

जहाँ पंखुड़ियाँ उनके अग्रभाग से मिलती हैं वे भाग दलसन्धि कहे जाते हैं ॥

पूर्वोक्त चारों भागों में वृत्त बनाने की विधि कहते हैं—

क्षेत्र की चारो दिशाओं में आठ रेखायें खींचे । उसी प्रकार विदिशाओं (= चारों कोण में आठ-आठ रेखायें खींचे । फिर चार अंगुल के परिमाण वाले चार वृत्त बनाये ॥ -२३-२४- ॥

तात्पर्य यह है कि आठ दिशाओं में आठ वृत्त बनाये । उनके मध्य में आठ सूत्र रख कर ब्रह्मस्थान से पूर्व विभाग वाले चिह्न में चार चाप लगाये ॥ २३ ॥

तत्पश्चात्—

दो कोणगत रेखाओं के द्वारा उपलक्षित मध्य में दो सूत्र रख कर अर्धचन्द्र के विधान के अनुसार सूत्राग्र को घुमाना चाहिये ॥ -२४-२५- ॥

प्रतिदलसंधि अर्धचन्द्रद्वयविधानाय पूर्वदिग्रेखायाः पार्श्वरेखाभ्यामुपलक्षिते मध्ये मध्यद्वये वामेन करेण सूत्रं रुद्ध्वा, दक्षिणेन सूत्राग्रं पार्श्वरेखाभ्यां मध्यरेखान्तं भ्रामयेत् । अत्र चैकैकपार्श्वरेखा आयामतो मध्यात् विभक्तव्यायामेन संसक्तदला भवति ॥ २४ ॥

अर्धचन्द्रयोरुत्पत्तिहेतुप्रतिदिग्रेखयोर्मध्यद्वये मध्यग्रहणाय केसरसिद्ध्यर्थम्—

मध्यसूत्रं च दातव्यं किञ्जल्कस्थं विपश्चिता ॥ २५ ॥

किञ्जल्के केसरे तन्निमित्तं तिष्ठन्ति । तेनैकैकार्धचन्द्रमध्यानुसारदलमध्यसूत्रोत्पन्नकिञ्जल्कस्य पार्श्वयोः किञ्जल्कद्वयोत्पादनाय अर्धचन्द्रद्वयोत्पत्त्यर्थं मध्यलाभे चादावेव सूत्रद्वयं देयम् । एवं साकल्येन द्वात्रिंशत् सूत्राण्येतानि भवन्ति ॥ २५ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यत्राप्यतिदिशति—

पूर्वपत्रं प्रसाध्यैवमितराण्येवमेव हि ।

प्रसाधयेत् ॥

तत्र च—

केसराणि च संलिख्य चतुर्विंशतिसंख्यया ॥ २६ ॥

प्रत्येक दलसन्धि में दो अर्धचन्द्र बनाने के लिये पूर्व दिग्रेखा के पार्श्वरेखा से उपलक्षित मध्य में = दो मध्यों में, बाँये हाथ से सूत्र को रोक कर दाँये हाथ से सूत्र को पार्श्ववर्त्ती दो रेखाओं से मध्य रेखा तक, घुमाना चाहिये । यहाँ एक-एक पार्श्वरेखा लम्बाई में मध्य से विभक्त होने के कारण दलों को जोड़ देती है ॥ २४ ॥

दो अर्धचन्द्रों की उत्पत्ति की कारणभूत जो दो कोणगत रेखायें उनके दो मध्य के मध्य को निश्चित करने के लिये केसर की रचना की सिद्धि हेतु—

विद्वान् आचार्य केसरस्थ मध्य सूत्र को लगाये ॥ -२५ ॥

(सूत्र) किञ्जल्क अर्थात् केसर में उसके (= मध्य को) निश्चित करने के लिये रहते हैं इसलिये एक-एक अर्धचन्द्र के मध्य के अनुसारी दल के मध्य में स्थित सूत्र से उत्पन्न किञ्जल्क के बगलों में दो किञ्जल्क बनाने के लिये दो अर्धचन्द्र की उत्पत्ति के हेतु मध्य का लाभ होने पर पहले ही दो सूत्र रख देना चाहिये । इस प्रकार कुल मिलाकर ३२ सूत्र होते हैं ॥ २५ ॥

इसका उपसंहार करते हुए अन्यत्र भी इसका अतिदेश करते हैं—

इस रीति से पूर्व पत्र की रचना कर अन्य भी पत्रों की उसी तरह रचना करनी चाहिये ॥ २६- ॥

प्रसाधयेत् = रचना करे ।

उसमें—

पत्राग्रतो न्यसेल्लेखां वर्तुलां तु सुशोभनाम्।

प्रतिदलं त्रीणि केसराणि । पत्राग्रत इति दलान्युत्पाद्य तद्बहिः, सुशोभनां सम्पूर्णाम् ॥ २६ ॥

किं च—

तस्यान्तं चतुरश्रं तु कर्तव्यं तत्प्रमाणतः ॥ २७ ॥

तस्येति वृत्तरेखान्तस्य पद्मस्य । तत्प्रमाणत इति वर्तुलरेखाप्रमाणरेखम् ॥ २७॥

सर्वस्यास्य विधेर्भित्तिभूतमाद्यं विधिं वक्तुमाह—

पूर्वं ब्रह्म प्रसाध्यं तु विषुवत्स्थेन हेलिना ।

ब्रह्म मध्यस्थानम् । हेलिः सूर्यः ॥

तत्रादौ—

पूर्वपश्चात्ततं सूत्रं शङ्कुना साधयेत् प्रिये ॥ २८ ॥
द्वादशाङ्गुलमानेन............

शङ्कुः कीलकम् ॥ २८ ॥

चौबीस की संख्या में केसरों को लिख कर पत्र के अग्रभाग में सुन्दर गोल रेखा बनाये ॥ -२६-२७- ॥

(चौबीस केसर का अर्थ है कि आठ दलों में से) एक-एक दल पर तीन-तीन केसर बनाये । पत्र के आगे = पंखुड़ियों की रचना कर उसके बाद । सुशोभन = सम्पूर्ण रेखा, बनाये ॥ २६ ॥

तथा—

उसके अन्त को उसी प्रमाण के अनुसार ही चौकोर बनाना चाहिये ॥ -२७ ॥

उसके = वृत्तरेखान्त कमल के । उसके प्रमाण के अनुसार = गोल रेखा के बराबर रेखा वाला ॥ २७ ॥

इस समस्त विधि की आधारभूत विधि को बतलाते हैं—

विषुवत् स्थान में स्थित हेलि के द्वारा ब्रह्म का निश्चय करे ॥ २८- ॥

ब्रह्म = मध्य स्थान । हेलि = सूर्य ॥

उस निश्चय के लिये पहले—

हे प्रिये ! पूर्व से पश्चिम तक सूत्र को शङ्कु के द्वारा फैलाना चाहिये । यह फैलाव बारह अंगुल का होना चाहिये ॥ -२८-२९- ॥

कथम्—

.......मध्ये शङ्कुं प्ररोप्य तम् ।
पार्श्वे भ्रामयेद्रेखां षोडशाङ्गुलसंमिताम् ॥ २९ ॥

शङ्कुक्षेत्रात् षोडशाङ्गुलं भ्रमं द्वाशिंदङ्गुलपद्मार्थं दद्यात् । एतच्च जिघृक्षित-क्षेत्रोपलक्षणपरम् ॥ २९ ॥

तत्र च—

पूर्वाह्णे ग्राहयेच्छायामपरस्थां सुचिह्निताम्।
अपरस्थेन सूर्येण प्राक्छायां लाञ्छयेत् प्रिये ॥ ३० ॥

एवं भ्रमरेखाच्छायापृष्ठे पूर्वापरदिगङ्कनां कृत्वा—

ध्रुवेणोत्तरदक्षस्थां लाञ्छयेत्तु वरानने ।

ध्रुवेण शङ्कुना हेतुभूतेन पूर्वनिर्णीतदिशोः स्थापितमत्स्यद्वयमध्यसूत्रेण उत्तरदक्षस्थां भ्रमरेखां लाञ्छयेत् । यद्वा क्वचिद्रात्रावेव विधातव्ये यागे ध्रुवेणेति चतुर्दशतारकारब्धशरीरेण ध्रुवनाम्ना निश्चलेन तारकेणादौ उत्तरदक्षिणदिक्सिद्धिं

शङ्कु = खूँटी ॥ २८ ॥

कैसे (निश्चित करे ?—यह बतलाते हैं)—

मध्य में खूँटी गाड़ दे । फिर सोलह अंगुल की रेखा उसके चारो ओर बनाये ॥ -२९ ॥

शङ्कु के क्षेत्र से सोलह अंगुल का चाप बत्तीस अंगुल कमल की रचना के लिये खींचना पड़ता है । यह वर्णन ईप्सित क्षेत्र का उपलक्षण है (अर्थात् यदि अड़तालीस अंगुल का कमल बनाना है तो चौबीस अंगुल का चाप खींचना पड़ेगा । इसी प्रकार और भी समझ लेना चाहिये) ॥ २९ ॥

इसके लिये—

हे प्रिये ! (गड़े हुए शङ्कु की) छाया पूर्वाह्ण तथा अपराह्ण में देख कर उसे चिह्नित करे ॥ ३० ॥

इस प्रकार चाप की रेखा की छाया के पीछे पूर्व और पश्चिम की शंकुछाया को चिह्नित कर—

हे वरानने ! उस ध्रुव से उत्तर और दक्षिण को भी चिह्नित करें ॥ ३१-॥

ध्रुव अर्थात् खूँटी, जो कि चिह्न का कारण है, को पूर्व निर्णीत दोनों दिशाओं में स्थापित दो मत्स्यों के मध्य सूत्र से उत्तर और दक्षिण में स्थित चाप को चिह्नित करे अथवा यदि कभी रात्रि में यज्ञ करना हो तो वहाँ ध्रुव का तात्पर्य चौदह

कुर्यात् । तत्र चैवमामनन्ति—सुषिरनाडिकामुखेन ध्रौवीं मुखतारामुत्तरदिक्संस्थां लक्ष्यीकृत्य तन्नाडिकानुसारेणोत्तरां दिशमङ्कयित्वा ध्रुवनाडितारानुसारेण मध्यम्, तत्पुच्छतारानुसारेण च दक्षिणामङ्कयेत् । ततो मध्यरन्ध्रानुसारं पूर्वापरेऽप्यङ्कयेत् । अत एवान्यत्र—

'ध्रुववेधेन वोदीचीम्'

इत्युक्तम् । यत्तु तत्र—

'प्राचीं वा ध्रुवतारया'

इत्युक्तम्, तत्र ध्रुवतारासाम्येन मध्यं कल्पयित्वा तदनुसारं प्राचीं गृहीत्वा तदनुसारमितरां व्यवस्थापयेदिति योज्यम् । ध्रुवं ध्रुवस्थानग्रहणचतुरश्रीकरणपूर्वमेकोनपञ्चाशद्भागानां मध्यभागे पूर्वोक्तक्रमेण पद्मं कुर्यादिति ।

उपसंहरति—

ततः समालिखेत् पद्माष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥ ३१ ॥

अथ—

ताराओं से आरब्ध शरीर वाले ध्रुव नामक निश्चल तारा से है । ऐसी स्थिति में (ध्रुव तारा के द्वारा पहले उत्तर दिशा का निश्चय करना चाहिये । इस विषय में विद्वान् लोग ऐसा कहते हैं—सुषिर नाडी (= मण्डल के मध्य में गाड़ी गयी कील) के द्वारा उत्तर दिशा में स्थित ध्रुवतारा को लक्ष्य कर उस नाडी के अनुसार उत्तर दिशा का निश्चय कर ध्रुव नाडी और ध्रुव तारा के अनुसार मध्य को (चिह्नित कर) उसकी पुच्छ तारा के अनुसार दक्षिण दिशा को अङ्कित करना चाहिये । उसके बाद मध्य छिद्र के अनुसार पूर्व और पश्चिम दिशा का निश्चय करना चाहिये । इसीलिये अन्यत्र—

'अथवा ध्रुव के वेध से उत्तर दिशा का (निश्चय करना चाहिये) ।'

ऐसा कहा गया और जो कि वहाँ—

'अथवा ध्रुवतारा के द्वारा पूर्व दिशा का (निश्चय करना चाहिये) ।'

यह कहा गया वहाँ ध्रुवतारा के साम्य के अनुसार मध्य की कल्पना कर उसके अनुसार प्राची का निश्चय करे फिर दूसरी अर्थात् पश्चिम दिशा की व्यवस्था करे—ऐसी योजना करनी चाहिये । ध्रुव अर्थात् ध्रुवस्थान के निश्चय के द्वारा चौकोर क्षेत्र का निश्चय करने के बाद उन्चास भागों में से मध्य भाग मे पूर्वोक्त क्रम से कमल की रचना करे ।

उपसंहार करते हैं—

इसके बाद (क्षेत्र के मध्य में) कर्णिका के सहित अष्टदल कमल बनाये ॥ -३१ ॥

दिक्कोष्ठकांश्च सङ्गृह्य अष्टसंख्योपलक्षितान् ।
शेषा लोप्या वरारोहे एकान्तरितयोगतः ॥ ३२ ॥

चतुर्दिक्द्वारार्थं बहिःकोष्ठकपङ्क्तिं त्यक्त्वा मध्यपद्मानुसारं दिक्षु प्रतिदिक्षु चैकैककोष्ठकलोपान्तरितकोष्ठकाष्टकं पद्माष्टकार्थं गृह्णीयात् । एवं च मध्यवीथ्या(:) पद्माष्टकक्षेत्रस्य द्वारवीथ्याश्चैकेनैव ग्रन्थेन स्वीकार उक्तः ॥ ३२ ॥

एवं चाष्टसु कोष्ठेषु—

पद्माष्टकं ततो दिक्षु.............

कुर्यात् ॥

अथ—

.........बाह्ये द्वाराणि चालिखेत् ।

कथम्—

वीथ्यर्धसंमितां देवि शोभां चैव प्रकल्पयेत् ॥ ३३ ॥
उपशोभां च तन्मानां कपोलान्तं समालिखेत् ।
तथा कण्ठं च तन्मानं द्वारमेतत् प्रकीर्तितम् ॥ ३४ ॥

इसके बाद—

हे वरारोहे । आठ संख्या वाले दिक्कोष्ठों को छोड़ कर शेष कोष्ठकों का बीच-बीच में एक-एक को छोड़ कर लोप कर दे ॥ ३२ ॥

चारो दिशाओं में द्वार के लिये बाह्य कोष्ठक की पंक्ति को छोड़ कर मध्य पद्म के अनुसार चारो दिशाओं और चारो कोनो में एक-एक कोष्ठ का लोप करते हुए आठ कमलों के लिये आठ कोष्ठकों का ग्रहण करे । इस प्रकार मध्य वीथी, आठ कमलों का क्षेत्र एवं द्वार वीथी का एक ही ग्रन्थ (= वर्णन) से स्वीकार कह दिया गया ॥ ३२ ॥

इस प्रकार आठ कोष्ठों में—

आठ दिशाओं में आठ कमल बनाये ॥ ३३- ॥

तदनन्तर—

बाहर चार दरवाजों को बनाये ॥ -३३- ॥

(यह द्वाररचना) कैसे होगी ?—(यह बतलाते हैं—)

हे देवि ! बीथी के परिमाण के आधे परिमाण वाली शोभा बनानी चाहिये । उसी परिमाण की उपशोभा भी कपोल पर्यन्त बनानी चाहिये । इसी को द्वार कहा कण्ठ को भी उसी परिमाण का ही बनाना चाहिये ।

बाह्यवीथ्या मध्ये दैर्घ्ये सूत्रं दत्त्वा, आद्येऽर्धे वीथीं कृत्वा, परार्धं कल्पितवीथिक्षेत्रादूर्ध्वतोऽर्धमानां शोभां द्वारीयकण्ठपार्श्वोत्पद्यमानं विपुलमवयवमुपशोभां च तदधोगतं सूक्ष्मं भागं कल्पयेत् । कपोलो द्वारस्याग्रे विपुलो भागः । कण्ठस्तु कपोलपुरःसरो भागः, तं च तन्मानमिति निरुपितवीथ्यर्धमानं दैर्ध्याच्चैव वैपुल्याच्च कल्पयेत् । कपोलस्यात्र मानं यद्यप्यर्थसिद्धत्वान्नोक्तम्, तथापि तद्दैर्घ्यात् वीथिमानं वैपुल्यात्तदर्धमानमिति संहितान्तरादवसितम्, इत्येतद्भागनिष्पत्त्या द्वारं निष्पद्यत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

तदित्थम्—

द्वाराष्टकविभागेन नवनाभं पुरं स्मृतम् ।

विदिशि द्वारस्याम्नातत्वात् प्रतिदिशं पद्मत्रयान्तरालद्वारद्वयं कुर्यात् । एवं च द्वाराष्टकविभक्तं नवनाभं नवनाभिस्थानस्थनवपद्ममेतत् पुरमण्डलम् । अत्र च देवसंमुखं द्वारद्वयमपिहितं कार्यम् । यथोक्तं लक्ष्मीकौलार्णवे—

'द्वारत्रयं पिधातव्यं पश्चिमं न पिधापयेत् ।
तच्च पूर्वं विजानीयाद् देव्या देवस्य संमुखम् ॥

गया है ॥ -३३-३४ ॥

बाह्य वीथी के मध्य की लम्बाई के बराबर सूत्र फैला कर प्रथम अर्ध में वीथी बना कर दूसरे आधे भाग की शोभा बनाये । यह शोभा कल्पित वीथीक्षेत्र से ऊपर बनेगी । द्वारीय कण्ठ के पार्श्वों में उत्पद्यमान विपुल अवयव वाली उपशोभा की कल्पना उस (= शोभा) के नीचे वाले भाग में करनी चाहिये । कपोल का तात्पर्य है—द्वार के आगे विपुल (= चौड़ा) भाग । कपोल के आगे वाला भाग कण्ठ कहलाता है । वह भी उसी परिमाण वाला अर्थात् लम्बाई और चौड़ाई में वीथी के आधे परिमाण के बराबर होगा । यहाँ (= मूल ग्रन्थ में) कपोल का परिमाण यद्यपि अर्थात् सिद्ध होने के कारण नहीं कहा गया तथापि इसकी लम्बाई वीथी की लम्बाई के बराबर और चौड़ाई उसकी आधी होगी—यह दूसरी संहिताओं से निश्चित होता है । इस प्रकार भाग की सिद्धि के द्वारा द्वार की संरचना होती है ॥ ३४ ॥

इस प्रकार—

आठ दरवाजों के विभाग के द्वारा नव नाभि वाला पुर कहा गया ॥ ३५- ॥

चूँकि विदिशाओं (= कोणों) में द्वार का कथन किया गया है इसलिये प्रत्येक दिशा में तीन कमलों के बीच दो द्वार बनाने चाहिये । इस प्रकार यह पुरमण्डल आठ द्वारों के द्वारा विभक्त, नव नाभि वाला तथा नव नाभि के स्थान में स्थित नव कमलों बन जाता वाला है इस पुरमण्डल में देव सम्मुख दो द्वारों को खुला रखना चाहिये । जैसा कि लक्ष्मीकौलार्णव में कहा गया—

'तीन द्वारों को बन्द रखना चाहिये किन्तु चौथे पश्चिम द्वार को बन्द नहीं

पूर्वं तु पश्चिमं ज्ञेयं पश्चिमं पूर्वसंज्ञितम् ।
उत्तरं दक्षिणं ज्ञेयं दक्षिणं चोत्तरं तथा ॥
सामान्यः सर्वमन्त्राणां क्रमोऽयं शिवभाषितः ।
गोपनीयः प्रयत्नेन शिष्याणां दुष्टचेतसाम् ॥' इति ।

एतत्तु गुरुपारम्पर्येणायातम् । तद्यथा—

'मूलाद्यक्षिपरप्रतीततनुगद्वाराष्टकोर्ध्वोन्म(नौ[1])
घोरादित्रितयत्रयात्मविकचज्योतिर्नवाब्जद्युतिम् ।
मूलादिग्रहतत्त्वपर्वभुवनाभेदप्रथं भैरवं
स्वं वन्दे नवनाभमण्डलरहः सारं नवात्मेश्वरम् ॥' इति ।

अस्यायमर्थन्यासोऽत्र—

'धाम्ना तु रजसां पातः सिताद्यश्चागमोदितः ।' (४।३५)

इति पूर्वमुक्तत्वादागमान्तरोक्तविभागोऽनुसर्तव्यः । स च—

करना चाहिये । उसे देव के सम्मुख देवी का पूर्व द्वार समझना चाहिये । पूर्व द्वार को पश्चिम और पश्चिम द्वार को पूर्व नाम से जानना चाहिये । इसी प्रकार उत्तर द्वार को दक्षिण और दक्षिण को उत्तर द्वार समझना चाहिये । यही सभी मन्त्रों का सामान्य क्रम है । इसको दुष्ट बुद्धि शिष्यों से प्रयत्नपूर्वक बचा कर (= छिपाकर) रखना चाहिये ।'

यह गुरुपरम्परा से प्राप्त हुआ है । जैसे कि—

'मैं नवनाभिमण्डल वाले, गोपनीय तत्त्व वाले, नवात्म ईश्वर रूप अपने भैरव की वन्दना करता हूँ । ये भैरव मूलाधार से लेकर ग्रह, तत्त्व, पर्व और भुवन के भेद विस्तार वाले हैं, अघोर घोर और घोरतर तथा तीन आत्म[2] तत्त्व (= १. क्षित्यादि माया पर्यन्त २. शुद्धविद्यासदाशिवपर्यन्त ३. शक्तिशिव) इन तीन के द्वारा विस्तृत प्रकाश वाले नव कमल (नवीन कमल और नवसंख्यक कमल) की कान्ति वाले हैं मूलाधार से लेकर चक्षु (= आज्ञाचक्र) से आगे सूक्ष्म तक = सूक्ष्म रूप पर्यन्त में रहने वाले आठ द्वारों (बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना) के ऊपर उन्मना के ऊपर रहते हैं ।

यहाँ इसका यह अर्थ न्यास है—

'धाम मन्त्र के द्वारा अभिमन्त्रित चूर्ण को गिराना चाहिये । यह चूर्ण श्वेत आदि (= रक्त पीत हरित) होता है—ऐसा आगम में कहा गया है ।' (४।३५)

---

१. सा ।
२. मायान्तमात्मतत्त्वं विद्यातत्त्वं सदाशिवान्तं स्यात् ।
शक्तिशिवौ शिवतत्त्वं................................ ॥ (सौ० सुधोदय १।४९)

'लेख्या चात्र सिता रेखा शालिपिष्टकृता पुरः ।
हरिद्रावर्णसंमिश्रा कर्णिका पीतपिञ्जरा ॥
सितपीतारुणानां स्यात् केसराणां त्रयं दले ।'
'तानि शुक्लानि वा कुर्याद्धरितान्यन्तराणि वा ।
कोणा रक्ताः सितं पीठं प्रतिरेखा सिताङ्गुलात् ॥' इति ।

तथा—

'अङ्गुष्ठः शक्तिमान् विन्दुश्चतस्रोऽङ्गुलयः कलाः ।
तदाधारं रजः कृत्वा शक्तिस्पर्शा (च्च)[1] बिन्दुना ॥
पातयेच्छक्तिगर्भं तत्तेन तच्छक्तिमण्डलम् ।'

इति श्रीपरायामस्ति । अथवा—

'सितं पद्मं विजानीयात् केसरांस्तु विचिन्तयेत् ।
सितान् पीतांस्तथा रक्तान् मूलमध्याग्रतः क्रमात् ॥
कर्णिका हेमसङ्काशा पुष्करा हरिताः स्मृताः ।' इति ।

ऐसा पहले कहा गया । इसलिये दूसरे आगमों में कथित विभाग का अनुसरण करना चाहिये और वह विभाग इस प्रकार है—

यहाँ शालि के चूर्ण से सफेद रेखा खींचनी चाहिये । हल्दी के रंग के चूर्ण से मिश्रित पीत कर्णिका बनानी चाहिये । उसकी पंखुड़ी पर श्वेत पीत एवं रक्त रंग के तीन केसर बनाने चाहिये ।

अथवा उन केसरों को श्वेत और बीच में हरे रंग का बनाना चाहिये । कोणों को रक्त, पीठ को श्वेत और एक-एक अंगुल के अन्तर से प्रति रेखा बनाना चाहिये ।

तथा—

'अंगूठा शक्तिमान् बिन्दु होता है । चारो अंगुलियाँ बिन्दु की कलायें हैं । रज (= चूर्ण) को उस (= अंगुठा और अंगुलियों) को आधार बनाकर अर्थात् अंगुली सहित अंगूठे से पकड़ कर शक्ति के स्पर्श से अर्थात् अंगुलियों से स्पृष्ट बिन्दु (= अंगूठे) के द्वारा उसे (= चूर्ण को) गिराना चाहिये । चूँकि यह शक्ति गर्भित है इसलिये इसे शक्तिमण्डल कहा जाता है ॥'

ऐसा श्री परातन्त्र में कहा गया है । अथवा—

'कमल को श्वेत समझना चाहिये । केसरों की रचना मूल मध्य एवं अग्र भाग में क्रमशः श्वेत पीत और रक्त वर्ण की करनी चाहिये । कर्णिका स्वर्ण के रंग की हो और पुष्कर (= सरोवर) हरे रंग के बनाने चाहिये ।'

---

१. च ।

इहान्तर्यागोक्तध्यानानुसारं रजःपातः कार्यः ॥

अथ—

स्नात्वा तु विधिवद् देवि............

द्वारार्चां कृत्वा—

.............प्रविशेद्भवनं गुरुः ॥ ३५ ॥

ततः—

पूर्वोक्तेन विधानेन सकलीकरणादिकम् ।

कुर्यात् ॥

ततः सम्पूजयेद् देवं भैरवं परमेश्वरम् ॥ ३६ ॥

केन—

प्रणवेन...............

नवात्मसत्कबिन्दूपलक्षितसमग्रोर्ध्वव्याप्तिसतत्त्वेनेत्यर्थः ॥

किं कृत्वा ? इत्याह—

..........आसनं दत्त्वा शिवान्तं वरवर्णिनि ।

यहाँ अन्तर्यागोक्त ध्यान के अनुसार चूर्ण गिराना चाहिये ॥

इसके बाद—

गुरु विधिवत् स्नान कर द्वारों की पूजा करे । तत्पश्चात् मण्डलपुर में प्रवेश करे ॥ -३५- ॥

इसके बाद—

पूर्वोक्त विधि के अनुसार सकलीकरण आदि करना चाहिये ॥ -३५ ॥

करना चाहिये—

इसके बाद गुरु देदीप्यमान परमेश्वर भैरव की पूजा करे ॥ ३६- ॥

किस (मन्त्र) से ? (उत्तर देते हैं—)

प्रणव मन्त्र से ॥ ३७- ॥

यह प्रणव नवात्म बिन्दु से उपलक्षित समग्र ऊर्ध्व व्याप्ति वाला होता है ॥

क्या करने के बाद पूजा करे ?—यह बतलाते हैं—

हे वरवर्णिनि ! (प्रणव के द्वारा) शिवपर्यन्त आसन देने के बाद (पूजा करे) ॥ -३७- ॥

प्रणवेनेति काकाक्षिवदिहापि योज्यम्, तेन पूर्वोक्तानन्ताद्यनन्तमध्यानन्तान्तव्याप्तिना प्रणवेनासनं तेनैवोन्मनान्तव्याप्तिना तून्मनाभिन्नपरमशिववादिना भैरवं पूजयेदित्यत्रार्थः । वरमुत्कृष्टं परं तत्त्वं वर्णयति परामृशति तच्छीला (इति) वरवर्णिनी ॥

क्व किं कथं पूजयेत् ?—इत्याह—

मध्ये सम्पूजयेद् देवं स्वच्छन्दं परमेश्वरम् ॥ ३७ ॥
पूर्वोक्तेन विधानेन अङ्गषट्कसमन्वितम् ।

मध्य इति पद्मकर्णिकायाम् । विधानमावाहनादिसुरार्घपर्यन्तं सर्वम् । अङ्गान्यप्यत्र प्रणवेनैव स्वनामजात्यन्तेन नवात्मनावयवभेदेन, मन्त्रान्तरावका(शा)[1] योगात् । एवं पद्मान्तरेष्वपि वक्ष्यमाणकपालीशादिभैरवतदङ्गपूजा मन्तव्या ॥ ३७ ॥

तदेवं मध्यपद्मे कर्णिकायां वर्णतद्वाच्यदेवतान्यासावुक्तौ, तत्पत्रेष्वप्याह—

पत्राष्टके न्यसेद्वर्णान् पूर्वादीशांस्ततः क्रमात् ॥ ३८ ॥

'प्रणवेन' इस पद को काकाक्षिगोलक न्यायेन यहाँ भी जोड़ना चाहिये । इससे पूर्वोक्त अनन्त आदि अनन्त मध्य और अनन्तान्त व्याप्ति वाले प्रणव के द्वारा आसन देना चाहिये । उन्मना से अभिन्न परमशिव के वाचक तथा उन्मनान्त व्याप्ति वाले उसी (= प्रणव) के द्वारा भैरव की पूजा करनी चाहिये—यह अर्थ यहाँ ग्राह्य है । (वरवर्णिनी शब्द की व्याख्या बतलाते हैं—) वर = उत्कृष्ट = परतत्त्व का, वर्णन = परामर्श करने के स्वभाव वाली स्त्री वरवर्णिनी कही जाती है ॥

कहाँ ? किसकी ? और किस प्रकार पूजा करनी चाहिये—यह बतलाते हैं—

मध्य में छः अङ्गों से युक्त स्वच्छन्द भैरव देव की पूजा पूर्वोक्त विधान के अनुसार करनी चाहिये ॥ -३७-३८- ॥

मध्य में = पद्म की कर्णिका में । विधान = आवाहन से लेकर मद्य का अर्घ देने तक सम्पूर्ण विधान । अङ्गों की भी पूजा अपने (= उनके) नाम और जाति को अन्त में जोड़ कर प्रणव के द्वारा ही की जायेगी । क्योंकि नव (अङ्ग भैरव के ही) अवयव है इसलिये यहाँ पूजा में दूसरे मन्त्रों के लिये अवसर नहीं है । अन्य कमलों में वक्ष्यमाण कपालीश आदि भैरवों तथा उनके अङ्गों की पूजा इसी प्रकार समझी जानी चाहिये ॥ ३७ ॥

इस प्रकार कमल के मध्य में अर्थात् कर्णिका में वर्ण और उसके वाच्य देवता के न्यास कहे गये । उस कमल की पंखुड़ियों पर भी उस (= न्यास) को कहते हैं—

इसके बाद कमल की आठ पंखुड़ियों पर पूर्व से लेकर ईशान पर्यन्त आठ वर्णों का क्रम से न्यास करे ॥ -३८ ॥

---

१. श ।

तत्र—

सदाशिवं हकारेणेत्येवमादि वरानने ।
प्रकृत्यन्तं विजानीयान्मध्ये पीठेशकल्पना ॥ ३९ ॥

पीठेशं स्वच्छन्दनाथं मध्यकर्णिकायां शिवतत्त्वाधिष्ठायकं विन्यस्य, सृष्टिक्रमेण नवात्मसम्बन्धिहरक्षमलवयऊकारैः पूर्वादीशान्तदलाष्टके कपालीश-शिखिवाहन-क्रोधराज-विकराल-मन्मथ-मेघनाद-सोमराज-विद्याराजान् सदाशिवेश्वरविद्यामायाकला-नियतिपुरुषप्रकृतितत्त्वाधिष्ठायिनो विन्यस्यार्चयेदित्यर्थः ॥ ३९ ॥

मध्यपद्मे विधिमुक्त्वा पूर्वादिपद्मेषु संक्षेपेण निरूपयति—

दिक्पद्मकर्णिकासंस्थानष्टौ देवान् प्रपूजयेत् ।

मध्यपद्मे पूर्वादिदलेषु यैरेव हकारादिभिर्वर्णैर्ये कपालीशादयो भैरवास्तानेव तैरेव वर्णैः पूर्वादिदिक्पद्मकर्णिकासु पूजयेत् ॥ ४० ॥

पूर्वादिपद्मेषु स्वच्छन्दनाथस्य स्थानमाह—

इस क्रम में—

हे वरानने ! सदाशिव का न्यास हकार से करना चाहिये । इसी प्रकार प्रकृतिपर्यन्त न्यासक्रम को समझना चाहिये । मध्य में पीठाधीश्वर के (न्यास की) कल्पना करे ॥ ३९ ॥

पीठेश अर्थात् स्वच्छन्दनाथ, जो कि शिवतत्त्व के अधिष्ठाता है, का न्यास मध्य कर्णिका में करना चाहिये । इसके बाद सृष्टि के क्रम से नवात्म सम्बन्धी ह र क्ष म ल व य ऊ वर्णों के द्वारा पूर्व दिशा से लेकर ईशान कोण पर्यन्त आठ दलों पर क्रमशः कपालीश, शिखि वाहन, क्रोधराज, विकराल, मन्मथ, मेघनाद, सोमराज, विद्याराज जो कि क्रमशः सदाशिव, ईश्वर, शुद्धविद्या, माया, कला, नियति, पुरुष, प्रकृति तत्त्वों के अधिष्ठातृ देव हैं, का न्यास कर उनकी पूजा करनी चाहिये ॥ ३९ ॥

मध्य पद्म में (न्यास एवं पूजन की) विधि का कथन कर पूर्व आदि पद्मों में उसी विधि का संक्षेप में निर्देश करते हैं—

आठों दिशाओं के पद्मों की कर्णिकाओं में स्थित आठ देवताओं की पूजा करनी चाहिये ॥ ४०- ॥

मध्य पद्म में पूर्व आदि दलों के ऊपर जिन हकार आदि वर्णों से जिन कपालीश आदि भैरवों की पूजा की गयी उन्हीं वर्णों से पूर्व आदि दिशाओं में स्थित कमलों की कर्णिकाओं में भी उन्हीं कपालीश आदि की पूजा करनी चाहिये ॥ ४० ॥

पूर्व आदि कमलों में स्वच्छन्दनाथ का स्थान बतलाते हैं—

तत्स्थाने भैरवः पूज्यः...........

प्रणवेनैव पूर्वोक्तेन । पूर्वपद्मस्य मध्ये हकारेण कपालीशः, प्रणवेन तु पूर्वदले स्वच्छन्दः । आग्नेयपद्मस्य मध्ये रेफेण शिखिवाहनः, शिखिवाहनस्थाने आग्नेयपत्रे प्रणवेन स्वच्छन्दनाथः । एवमन्यत् । एवं चैकैकभैरवस्थाने पर्यायेण स्वच्छन्दनाथस्य विन्यस्तत्वात् त(द)[१]भेदव्याप्तिसारता सर्वभैरवाणां तदधिष्ठियानां च सर्वतत्त्वानां शिवतत्त्वव्याप्तिमयतैव दर्शिता, इति परमाद्वयमयतया महारहस्यसारताऽस्यानुष्ठानस्य प्रकटिता, अतश्च 'सर्वतः सर्वेभ्यः' इति रूपविशेषेण मन्त्रपदार्थः स्फुटीभूतो जात इत्यलम् ॥

पूर्वादिदलानां कपालीशादिस्वपीठेश्वरदलव्यतिरिक्तेषु दलेषु मध्यपद्मदलोक्त एव न्यासादिविधिरित्याह—

............शेषा वर्णैर्यथाक्रमम् ॥ ४० ॥

एष च वर्णन्यासः पूर्वमेवास्माभिः प्रस्तारेण दर्शितः । अत्र च पृथक्-पृथक् पद्मस्थित्या नव, सामस्त्येन चैक इति दश देवगृहा जाताः । भगवतो विद्या-

---

उस स्थान में भैरव की पूजा करनी चाहिये ॥ -४०- ॥

(यह पूजा) पूर्वोक्त प्रणव के ही द्वारा होगी । पूर्व दिशा में रचित पद्म के मध्य में हकार के द्वारा कपालीश का, उसी पद्म के पूर्व दल में प्रणव के द्वारा स्वच्छन्द का, आग्नेयी दिशा में निर्मित पद्म के मध्य में रेफ के द्वारा शिखिवाहन का, शिखिवाहन के स्थान में आग्नेय पत्र पर प्रणव के द्वारा स्वच्छन्दनाथ का पूजन करना चाहिये । इसी प्रकार अन्य (की भी पूजा करनी चाहिये) । इस प्रकार एक-एक भैरव के स्थान पर क्रम से स्वच्छन्द नाथ के प्रतिष्ठित होने के कारण (उन भैरवों की) उन (= स्वच्छन्द नाथ) से अभेद व्याप्ति बतलायी गयी तथा समस्त भैरवों एवं उनके द्वारा अधिष्ठेय समस्त तत्त्वों की शिवतत्त्वव्याप्तिमयता भी सङ्केतित की गयी । इस प्रकार इस अनुष्ठान के परमाद्वयमय होने के कारण उसकी महारहस्यसारता प्रकट की गयी । इसलिये 'सब प्रकार से सबके लिये' विशेष रूप से मन्त्र पदार्थ स्पष्ट किया गया ॥

कपालीश आदि स्वपीठेश्वर दल से भिन्न दलों में पूर्वादि दलों की न्यास आदि विधि मध्यपद्म दल के न्यास विधि के समान की जायेगी । यह कहते हैं—

शेष (भैरवों का पूजन) यथाक्रम (तत्तद्) वर्णों के द्वारा किया जायेगा ॥ -४० ॥

इस वर्णन्यास को हमने पहले ही विस्तारपूर्वक बतला दिया है । यहाँ (आठ दिशाओं में आठ एवं मध्य में एक इस प्रकार) पृथक् पृथक् पद्म की स्थिति से

---

१. द् ।

राजस्य बिन्दुसतत्त्वत्वात् तदवयवानामपि पूजाकाले बिन्दुयोगोऽवश्यंभावी । एकैकोऽपि च वर्णः प्रदर्शितक्रमव्याप्त्या सम्पूर्णविद्याराजस्फार एव । यद्वक्ष्यति—

'यतः सर्वगतो देवः सर्वेष्वन्तर्गतः स्मृतः ।
तत्सिद्धिमुक्तिदातासौ न वर्णाः परमार्थतः ॥' (८।२५) इति ॥

एवं सृष्टिक्रमेण न्यासमुक्त्वा संहारक्रमेण दीक्षामाह—

शोधयेच्च प्रकृत्यादिशिवान्तं सुरसुन्दरि ।

प्रकृतिर्वाच्यरूपा आदिः शिवश्चान्ते यस्य पदजातस्य तच्छोधयेत् ॥

कथम्—

ईशानदिश आरभ्य मध्यपीठं विशोधयेत् ॥ ४१ ॥

ईशानदिक्पद्मगतेशानदिक्पत्रात् पूर्वोत्तरादिक्रमेण प्रणवाद्यूकारान्तं पदनवकं प्रणवविद्याराजोच्चारपूर्वकमुच्चार्य, प्रकृतितत्त्वस्य अन्तर्णीतक्षित्यादिगुणतत्त्वान्ततत्त्वजातस्य पूर्ववदन्तर्भूतेतराध्वप्रपञ्चस्य चात्रैवान्तर्भावं भावयित्वा, 'पदनवकाय नमः'

नव तथा एक सबका समष्टिगत, इस प्रकार दश देवगृह बन गये । भगवान् विद्याराज बिन्दु रूप हैं इस कारण उनके अवयवों का भी पूजा के समय बिन्दुयोग अवश्य होता है । यहाँ एक-एक वर्ण पूर्वप्रदर्शितक्रम की व्याप्ति के अनुसार सम्पूर्ण विद्याराज का स्फार ही है ।

जैसा कि कहेंगे—

'चूँकि यह स्वच्छन्ददेव सर्वत्र विद्यमान हैं और सबके अन्तर्गत माने गये हैं इसलिये परमार्थतः सिद्धि एवं मुक्ति के दाता यही है न कि वर्ण ।' (८।२५)

इस प्रकार सृष्टिक्रम से न्यास का कथन कर संहारक्रम से दीक्षा को बतलाते हैं—

हे सुरसुन्दरि ! प्रकृतितत्त्व से लेकर शिवतत्त्व पर्यन्त शोधन करना चाहिये ॥ ४१- ॥

वाच्य रूपा प्रकृति आदि है जिसकी और शिव अन्त में हैं—जिसके, ऐसे पदसमूह का शोधन करना चाहिये ॥

(यह शोधन) किस प्रकार (होगा यह कहते हैं—)

ईशान दिशा से आरम्भ कर (क्रमशः) मध्यपीठ तक शोधन करना चाहिये ॥ -४१ ॥

ईशान दिशा में स्थित कमल के ईशानदिक्स्थ पत्र से प्रारम्भ कर पूर्व उत्तर आदि के क्रम से, प्रणव से लेकर ऊकार पर्यन्त नव पदों का उच्चारण करना चाहिये । इस उच्चारण के पहले प्रणव विद्याराज का उच्चारण होगा ऐसा करने के बाद प्रकृति तत्त्व

इत्यन्तेन मन्त्रेणोपस्थानादि पूर्वोक्तं सर्वं विधिं कुर्यात् । एवमनेन क्रमेण पदानि तावद्विशोधयेत् यावच्छिवतत्त्वव्यापकं मध्यपद्मगतमूकारादिप्रणवान्तं पदनवकम् । यस्तु 'प्रकृतितत्त्वरूपादिपदनवकाय नमः' इति केनचित् क्रमो दर्शितः, स न युक्तः, कलादीक्षोक्तपदक्रमस्य नवात्मवर्णगतप्रातिलोम्यक्रमोच्चारस्य च प्रसिद्धस्या- वृत्त्या[1]पत्तेः, पूर्वस्य संहारक्रमस्य चोपेक्षणात् । अत्र पददीक्षायां नवतत्त्वदीक्षा- वन्नाभ्यन्ताद्यनाश्रितान्ते स्थाननवके पद्मनवकगतवर्णैकाशीतेर्न्यासः कार्यः ॥ ४१ ॥

एवं पदाध्वानं शोधयित्वा—

योजयेत्तु परे तत्त्वे शिवे परमकारणे ।

वर्णादिदीक्षामप्यतिदेशेनातिदिशति—

एवं वर्णांस्तथा मन्त्रान् भुवनानि विशोधयेत् ॥ ४२ ॥

किमवधि ?—इत्याह—

कालाग्न्यादि शिवान्तं तु..........

के अन्दर ले जाये गये पृथिवी से लेकर गुणतत्त्व तक के समस्त तत्त्वों जिसमें अध्वविस्तार अन्तर्भूत है, का इसी (= नव पद) में अन्तर्भाव की भावना कर 'पदनवकाय नमः' इसको मन्त्र के अन्त में जोड़ कर उस मन्त्र से पूर्वोक्त उपस्थान आदि समस्त विधि को करना चाहिये । इस क्रम से पदों का तब तक शोधन करना चाहिये जब तक शिवतत्त्व का व्यापक तथा मध्य पद्म में वर्त्तमान ऊकारादि प्रणवान्त नव पदों का शोधन न हो जाय । जो कि किसी ने 'प्रकृतितत्त्वरूपादिपदनवकाय नमः' ऐसा क्रम बतलाया, वह ठीक नहीं है । क्योंकि ऐसा मानने पर कलादीक्षा में उक्त पदक्रम का तथा नव वर्णों के प्रातिलोम्य क्रमोच्चार, जो कि अत्यन्त प्रसिद्ध है, की आवृत्ति हो जायेगी और पूर्व संहारक्रम उपेक्षित हो जायेगा । यहाँ पद दीक्षा में नवतत्त्व दीक्षा के समान नाभि के अन्त से लेकर अनाश्रितान्त नव स्थानों में नव कमल में वर्त्तमान इक्यासी वर्णों का न्यास करना चाहिये (एक-एक कमल में आठ दल एवं मध्य कर्णिका को मिलाकर नौ वर्णों का न्यास होता है । इस प्रकार नौ कमलों में ९ × ९ = इक्यासी वर्णों का न्यास कहा गया) ॥ ४१ ॥

इस प्रकार पद अध्वा का शोधन कर—

इन पदों को परमकारण परतत्त्व शिव में जोड़ देना चाहिये ॥ ४२- ॥

वर्ण आदि दीक्षा का भी अतिदेश के द्वारा निर्देश करते हैं—

इसी प्रकार वर्णों मन्त्रों एवं भुवनों का शोधन करना चाहिये ॥ -४२ ॥

कहाँ तक (शोधन करना चाहिये) ? यह बतलाते हैं—

---

१. त्यामाप ।

कथं वर्णमन्त्रभुवनदीक्षाः कुर्यात् ?—इत्याह—

............कलाविधिसमाश्रयात् ।

कलादीक्षोक्तप्रघट्टकपञ्चकानुसारेण वर्णादीन् प्रत्येकं विभज्येत्यर्थः । अत्र कलादीक्षावन्मन्त्रा अधिक्रियन्ते । इह च वर्णानाम्—

'शब्दराशिसमुत्थस्य' (स्पन्द ३।१५)

इति नीत्या बन्धकत्वम्, पदमन्त्राणां तु तत्तद्भिन्नाभिन्नतत्त्ववाचकत्वेन । यथा च मन्त्राणां शोध्यत्वेऽपि शोधकत्वम्, तन्निर्णीतमेवेति तदेवेह स्मर्तव्यम् । तदेवमिह त्रिपञ्चनवषट्त्रिंशद्भेदेन चतुष्प्रकारा तत्त्वदीक्षा पदमन्त्रवर्णभुवनदीक्षाश्चोक्ताः । तत्र पञ्चदीक्षायां 'कलानां यावती व्याप्तिः' (५।१३) इत्यतिदेशात्, वर्णमन्त्रभुवन- दीक्षासु च 'कलाविधिसमाश्रयात्' (५।४३) इत्युक्तत्वात् कलावदध्वपञ्च- कान्तर्भावश्चिन्त्यः ।

पददीक्षायां तु नवधा विभक्तायाः प्रथमे प्राकृते प्रणवाद्यूकारान्ते पदानां नवके

कालाग्नि भुवन से लेकर शिवपर्यन्त ॥ ४३- ॥

वर्ण मन्त्र भुवन की दीक्षा कैसे करनी चाहिये—यह कहते हैं—

कलाविधि का आश्रयण कर (दीक्षा) करनी चाहिये ॥ -४३- ॥

कला दीक्षा में वर्णित पाँच प्रघट्टक के अनुसार वर्ण आदि प्रत्येक का विभाग कर (दीक्षा करनी चाहिये) । कला दीक्षा की भाँति यहाँ मन्त्रोचार को अधिकृत किया जाता है । यहाँ वर्णसमूह—

'शब्द राशि से उत्पन्न (शक्तिवर्ग का भोग्य होकर जीव पशु बन जाता है)।' (स्प०का० ३।१५)

के अनुसार बन्धन का कारण है । पद एवं मन्त्र तत्तद् भिन्न अभिन्न तत्त्वों के वाचक होने के कारण बन्धक है । मन्त्र शोध होते हुए शोधक भी होते हैं यह पहले ही बतलाया जा चुका है उसी वर्णन का यहाँ स्मरण कर लेना चाहिये । तो इस प्रकार यहाँ तीन, पाँच, नव और छत्तीस के भेद से तत्त्व दीक्षा चार प्रकार की कही गयी । इसी प्रकार पद मन्त्र वर्ण और भुवन की दीक्षा भी (चार प्रकार की कही गयी) । जहाँ तक पाँच प्रकार की दीक्षा की बात है, 'कलानां यावती व्याप्तिः' कलाओं की जितनी व्याप्ति है तत्त्वों की भी व्याप्ति उतनी ही है । (स्व०तं० ५।१३)—ऐसा अतिदेश होने से और वर्ण मन्त्र भुवन दीक्षाओं के विषय में 'कलाविधिसमाश्रयात्' (स्व०तं० ५।४३) इस वचन से कला के समान पाँच अध्वा का अन्तर्भाव विचार का विषय है (अर्थात् जिस प्रकार कला में पाँच अध्वा का अन्तर्भाव करते हैं उसी प्रकार अन्य पद वर्ण मन्त्र आदि का भी निवृत्त्यादि पाँचों कलाओं में अन्तर्भाव हो जायेगा)

निवृत्तिप्रतिष्ठे कले, पृथिव्यादीनि प्रधानान्तानि पञ्चविंशीततत्त्वानि, भुवनानां कालाग्न्यादियोगाष्टकान्तं शतं चतुषष्ट्यधिकम्, क्षादिटान्ताश्चतुर्विंशतिर्वर्णाः, सद्योजातवामदेवहृदयशिरःशिखाः पञ्च मन्त्राश्चान्तर्भूताः ॥ १ ॥

पौरुषे ऊकारादियकारान्ते नवके विद्या कला, पुरुषरागौ तत्त्वे, तुष्टिसिद्धी भुवने, अणिमादिगुरुशिष्यपङ्क्तित्रयनाडीविग्रहाष्टकदेहपाशागन्तुगणेशविघ्नेशपाशभुवनानि दश सुहृष्टादिरुद्रदशकस्य कल्याण्यादेर्गुरुशिष्यदशकस्य भुवनमिति चतुर्दश भुवनानि, ञझौ वर्णौ, मन्त्रावघोरकवचौ ॥ २ ॥

ऊकारादिवकारान्ते नैयते नवके कलामन्त्रौ प्राग्वत् । एवमुत्तरत्रापि नियतिविद्ये तत्त्वे, वामदेवाद्यष्टकभुवनं वामादिनवकभुवनं च, जछौ वर्णौ ॥ ३ ॥

ऊकारादिलकारान्ते कालीये नवके कालकले तत्त्वे, शुद्धादिदशकभुवनं महादेवादिभुवनत्रयं च, चङौ वर्णौ ॥ ४ ॥

ऊकारादिमकारान्ते मायीये नवके माया तत्त्वम्, गोपत्याद्यनन्तान्तानि सप्त भुवनानि, घ-वर्णः ॥ ५ ॥

ऊकारादिक्षकारान्ते विद्यापदनवके विद्यातत्त्वम्, त्रिगुणादिविद्याराज्ञीभुवनमेकं, शान्ता कला, तत्पुरुषास्त्रे मन्त्रौ, ग-वर्णः ॥ ६ ॥

ऊकारादिरेफान्ते ऐश्वरे नवके कलामन्त्रौ प्राग्वत्, ऐश्वरं तत्त्वम्, ईश्वरभुवनादिज्ञानक्रियाभुवनान्तं भुवनपञ्चदशकम्, ख-वर्णः ॥ ७ ॥

ऊकारादिहकारान्ते सादाशिवे नवके सादाशिवं तत्त्वम्, सादाशिवमेव सुशिवाद्यनन्तभुवनव्यापकमेकं भुवनम्, क-वर्णः ॥ ८ ॥

ऊकारादिप्रणवान्ते शैवे नवके शान्त्यतीता कला, 'शक्तितत्त्वाभिन्न' शिवतत्त्वम्, शान्त्यतीताभुवनादिकानि शिवभुवनान्तानि षोडश भुवनानि, नेत्राभिन्नमूर्तिः ईशानमन्त्रः, विसर्गाद्या हकारान्ताः षोडश वर्णाः ॥ ९ ॥

पददीक्षावत् नवतत्त्वदीक्षा । तत्र पदस्थाने प्रकृत्यादितत्त्वान्युपस्थाप्यानि, तत्त्वस्थाने तु पदान्यन्तर्भाव्यानीति विशेषः ।

त्रितत्त्वदीक्षायां त्वात्मतत्त्वे क्षित्यादिमायान्तान्येकत्रिंशत्तत्त्वानि, निवृत्तिः प्रतिष्ठा

पद दीक्षा को नव भागों में बाँटा गया है । प्रथम भाग प्रकृति तत्त्व है । इसमें निवृत्ति और प्रतिष्ठा दो कलायें रहती हैं । इनका स्थान प्रणव से लेकर ऊकार पर्यन्त नव पद हैं । इसमें तत्त्वों की संख्या पच्चीस है जो कि पृथिवी से लेकर प्रकृति तक हैं । सबसे नीचे वर्त्तमान कालाग्नि भुवन से लेकर योगाष्टक पर्यन्त एक सौ चौसठ भुवन हैं 'क्ष' से लेकर 'ट' पर्यन्त चौबीस वर्ण हैं । सद्योजात वामदेव हृदय शिर एवं शिखा ये पाँच मन्त्र इसके अन्तर्गत हैं ॥ १ ॥

दूसरा विभाग पुरुष तत्त्व है । ऊकार से लेकर यकार तक नौ वर्ण वाले इस तत्त्व में विद्या कला है, पुरुष और राग दो तत्त्व हैं, तुष्टि और सिद्धि दो भुवन हैं, अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ, (दिव्यौघ, सिद्धौघ एवं मानवौघ ये तीन गुरु पङ्क्तियाँ, नाडी, विग्रहाष्टक, देहपाश, आगन्तुक, गणेश, विघ्नेश, पाश और भुवन ये दश हैं।) सुहृष्ट आदि दश रुद्रों का एक भुवन कल्याणी आदि दश गुरु शिष्यों का एक भुवन इस प्रकार चौदह भुवन हैं । ञ, झ दो वर्ण हैं, अघोर और कवच दो मन्त्र हैं ॥ २ ॥

तीसरा विभाग नियति का है इसमें ऊकारसे लेकर वकार तक नव पद हैं । कला और मन्त्र की स्थिति पहले की भाँति है । इसी प्रकार आगे भी नियति और विद्या तत्त्व हैं । वाम देव आदि आठ का भुवन तथा वामा आदि नव का भुवन है ज और छ दो वर्ण हैं ॥ ३ ॥

चतुर्थ विभाग में काल तत्त्व की स्थिति है । उसमें ऊकार से लेकर 'क्ष'कार तक के नव पद है । काल और कला तत्त्व हैं । शुद्ध आदि दश तथा महादेव आदि तीन-इस प्रकार तेरह भुवन हैं । च और ङ वर्ण हैं ॥ ४ ॥

पञ्चम विभाग माया का है । इसमें ऊकार से लेकर मकार तक नव पद हैं । माया तत्त्व है । गोपति से लेकर अनन्त तक सात भुवन हैं घ वर्ण है ॥ ५ ॥

षष्ठ विभाग विद्या तत्त्व का है । इसमें ऊकार से लेकर क्षकार तक नव पद हैं। विद्या तत्त्व है । त्रिगुण आदि विद्याराज्ञी का एक भुवन है । शान्ता कला है । तत्पुरुष और अस्त्र दो मन्त्र हैं । ग वर्ण है ॥ ६ ॥

सप्तम विभाग ईश्वर का है इसमें ऊकार से लेकर रेफ तक नव पद हैं । कला और मन्त्र पूर्व की भाँति समझना चाहिये । ईश्वर तत्त्व है । ईश्वर भुवन से लेकर ज्ञान क्रिया भुवन तक स्थित भुवनों की संख्या पन्द्रह है । वर्ण ख है ॥ ७ ॥

अष्टम भाग सदाशिव का है । इसमें ऊकार से लेकर हकार पर्यन्त नौ पद हैं। सदाशिव तत्त्व है । सदाशिव से लेकर अनन्त भुवन तक व्यापक एक ही भुवन है । वर्ण क है ॥ ८ ॥

नवम भाग शिव का है । इसमें ऊकार से लेकर प्रणव तक ९ पद हैं । शान्त्यतीता कला है । शक्ति से अभिन्न शिव तत्त्व है । शान्त्यतीता भुवन से लेकर शिवभुवन पर्यन्त १६ भुवन हैं । नेत्रमन्त्र से अभिन्न रूप वाला ईशान मन्त्र है । विसर्ग से लेकर हकार पर्यन्त सोलह वर्ण हैं ॥ ९ ॥

पद दीक्षा के समान नव तत्त्व की दीक्षा होती है । उसमें पद के स्थान में प्रकृति आदि तत्त्वों को उपस्थापित करना चाहिये । और तत्त्व के स्थान में पदों का अन्तर्भाव करना चाहिये—यह अन्तर है ।

विद्या कला:, कालाग्न्याद्यनन्तान्तं भुवनानां शतमेकनवत्यधिकम्, प्रकृतिकोष्ठ-केशदिग्गतप्रणवात् प्रभृति पूर्वपद्मगतयाम्यक्षकारान्तं पदान्येकोनसप्ततिः, सद्योजात-वामदेवाघोरहृदयशिर:शिखाकवचा: सप्त मन्त्रा:, क्षादिघान्ता एकत्रिंशद्वर्णा: ॥ १ ॥

विद्यातत्त्वे शान्ता कला, विद्येश्वरसदाशिवास्तत्त्वानि, विद्याराज्ञ्यादिसदाशिव-भुवनान्तानि सप्तदश भुवनानि, पदानि, पूर्वपद्मात् र-ॐ-ह इति त्रीणि, मध्यपद्मादूकाराद्या हकारान्ता अष्टौ इत्येकादश, तत्पुरुषास्त्रे मन्त्रौ, ग-ख-क-वर्णा: ॥ २ ॥

शिवतत्त्वे शक्तिशिवौ तत्त्वे, पदं प्रणव:, भुवनादि प्राग्वत् ॥ ३ ॥

१. षट्त्रिंशत्तत्त्वदीक्षायां तु पृथिव्यां निवृत्तिः कला, अष्टोत्तरशतं भुवनानाम्, प्रकृतिपद्मात्नवपद्मानि प्रकृत्यन्तं तेषामेव नियुक्तत्वात्, सद्योहृदये मन्त्रौ, क्ष-वर्ण: ।

२. जले प्रतिष्ठा कला, वामदेवशिर:शिखास्त्रयो मन्त्रा:, पदानि पूर्वोक्तानि नव । एतानि मन्त्रकलापदानि प्रकृत्यन्तं यावत् । एवमेव ह-वर्ण: भुवनानि लकुलीशादी-न्यमरान्तान्यष्टौ ।

तीन तत्त्व की दीक्षा की चर्चा करते हुए कहते हैं कि इसमें प्रथम आत्म तत्त्व है । उसमें पृथिवी से लेकर माया पर्यन्त इकतीस तत्त्व हैं । निवृत्ति प्रतिष्ठा और विद्या कलायें हैं । कालाग्नि भुवन से लेकर अनन्त पर्यन्त एक सौ इक्यानवे भुवन हैं । प्रकृति कोष्ठ वाली ईशान दिशा में वर्त्तमान प्रणव से लेकर पूर्वपद्म में वर्त्तमान याम्य क्षकार पर्यन्त उनहत्तर पद हैं । सद्योजात वामदेव अघोर हृदय शिर: शिखा एवं कवच ये सात मन्त्र हैं । क्ष से लेकर घ तक इकत्तीस वर्ण हैं ॥ १ ॥

द्वितीय विद्या तत्त्व में शान्ता कला है । शुद्धविद्या ईश्वर और सदाशिव तत्त्व हैं । विद्याराज्ञी से लेकर सदाशिव भुवन पर्यन्त सत्रह भुवन हैं । पूर्व पद्म से लेकर र ओं ह ये तीन और मध्य पद्म से लेकर ऊकार से हकार पर्यन्त आठ इस प्रकार ग्यारह पद हैं । तत्पुरुष और अस्त्र ये दो मन्त्र हैं । ग ख और क ये तीन वर्ण हैं ॥ २ ॥

शिव तत्त्व में शक्ति और शिव दो तत्त्व हैं । प्रणव पद है और भुवन आदि पूर्व की भाँति समझना चाहिये ॥ ३ ॥

१. छत्तीस तत्त्वों की दीक्षा में पृथिवी में निवृत्ति कला हैं, एक सौ आठ भुवन हैं। प्रकृति पद्म से लेकर नव पद्म हैं क्योंकि प्रकृति पर्यन्त उन्हीं की नियुक्ति होती है । सद्योजात और हृदय दो मन्त्र हैं । क्ष वर्ण है ।

२. जल में प्रतिष्ठा कला है । वामदेव शिर एवं शिखा ये तीन मन्त्र हैं । पूर्वोक्त नव पद हैं । ये मन्त्र कला और पद प्रकृतिपर्यन्त हैं । इसी प्रकार ह वर्ण हैं और लकुलीश से लेकर अमर पर्यन्त आठ भुवन हैं ।

३. तेजसि स-वर्ण:, भैरवादीनि हरिश्चन्द्रान्तान्यष्टौ भुवनानि ।

४. वायौ ष-वर्ण:, भीमादिगयान्तान्यष्टौ भुवनानि ।

५. खे श-वर्ण:, स्थाण्वादिवस्त्रापदान्तानि भुवनान्यष्टौ ।

६. गन्धे व-वर्ण:, शार्वं भुवनम् ।

७. रसे ल-वर्ण:, भुवनं भवस्य ।

८. रूपे र-वर्ण:, भुवनं पशुपते: ।

९. स्पर्शे य-वर्ण:, ईशानभुवनम् ।

१०. शब्दे म-वर्ण:, भीमभुवनम् ।

११. उपस्थे भ-वर्ण:, कश्यपभुवनम् ।

१२. पायौ ब-वर्ण:, मित्रस्य भुवनम् ।

१३. पादे फ-वर्ण:, विष्णोर्भुवनम् ।

१४. पाणौ प-वर्ण:, इन्द्रस्य भुवनम् ।

१५. वाचि न-वर्ण:, अग्नेर्भुवनम् ।

१६. घ्राणे ध-वर्ण:, पृथ्व्या भुवनम् ।

---

३. तेज में स वर्ण है और भैरव से लेकर हरिश्चन्द्र पर्यन्त आठ भुवन हैं ।

४. वायु में ष वर्ण है । भीम से लेकर गया पर्यन्त आठ भुवन हैं ।

५. आकाश में श वर्ण है और स्थाणु से लेकर वस्त्रापद तक आठ भुवन हैं ।

६. गन्ध में व वर्ण है, शार्व भुवन है ।

७. रस में ल वर्ण है और भव का भुवन है ।

८. रूप में र वर्ण है, पाशुपत भुवन है ।

९. स्पर्श में य वर्ण है, ईशान भुवन है ।

१०. शब्द में म वर्ण है, भीम भुवन है ।

११. उपस्थ में भ वर्ण है, कश्यप का भुवन है ।

१२. पायु में ब वर्ण है, मित्र का भुवन है ।

१३. पैर में फ वर्ण है, विष्णु का भुवन है ।

१४. हाथ में प वर्ण है, इन्द्र का भुवन है ।

१५. वाक् में न वर्ण है, अग्नि का भुवन है ।

१६. घ्राण में ध वर्ण है, पृथिवी का भुवन है ।

१७. जिह्वायां द-वर्णः, वरुणस्य भुवनम् ।

१८. चक्षुषि थ-वर्णः, रवेर्भुवनम् ।

१९. त्वचि त-वर्णः, वायोर्भुवनम् ।

२०. श्रोत्रे ण-वर्णः, दिशां भुवनम् ।

२१. मनसि ढ-वर्णः, चन्द्रस्य भुवनम् ।

२२. अहङ्कृतौ ड-वर्णः, स्थलेश्वरादिछगलाण्डान्तानि भुवनान्यष्टौ ।

२३. बुद्धौ ठ-वर्णः, देवयोनिक्रोधतेजोयोगाष्टकानि चत्वारि भुवनानि ।

२४. अन्तर्भूतगुणतत्त्वे प्रधाने ट-वर्णः, गुरुपङ्क्तित्रयादाद्यानां शिवशक्तियोक्तृणां त्रीणि भुवनानि क्रोधेश्वराष्टकभुवनं प्रकृतिभुवनं चेति पञ्च भुवनानि। एतावत्पर्यन्तं कलामन्त्रपदानि प्राग्वत् ।

२५. पुंसि विद्या कला, अघोरकवचौ मन्त्रौ, मायान्ते षट्के कलामन्त्रौ एवमेव ऊकारादियकारान्तमुत्तरदिक्पद्मगतं पदनवकम्, ञ-वर्णः, तुष्टिसिद्धिगुरुशिष्यपङ्क्तित्रयनाडीविग्रहाष्टकदेहपाशागन्तुगाणेशवैद्येशपाशभुवनानि द्वादश ।

---

१७. जिह्वा में द वर्ण है, वरुण का भुवन है ।

१८. चक्षु में थ वर्ण है, रवि का भुवन है ।

१९. त्वचा में त वर्ण है, वायु का भुवन है ।

२०. श्रोत्र में ण वर्ण है, दिशाओं का भुवन है ।

२१. मन में ढ वर्ण है, चन्द्र का भुवन है ।

२२. अहङ्कार में ड वर्ण है, स्थलेश्वर से लेकर क्षगलाण्ड तक आठ भुवन है ।

२३. बुद्धि में ठ वर्ण है, देवयोनि, क्रोधाष्टक, तेजोऽष्टक और योगाष्टक में चार भुवन हैं ।

२४. जिसमें गुण तत्त्व अन्तर्भूत है ऐसे प्रकृति तत्त्व में ट वर्ण है । तीन गुरु (= गुरु, परमगुरु, परमेष्ठी गुरु) की पंक्ति के तीन भुवन जो कि (जीव को) शिव और शक्ति से युक्त कराते हैं और क्रोधेश्वराष्टक भुवन तथा प्रकृति भुवन ये मिल कर पाँच भुवन हैं । यहाँ तक कला मन्त्र और पद को पूर्ववत् समझना चाहिये ।

२५. पुरुष तत्त्व में विद्या कला है, अघोर और कवच दो मन्त्र हैं । (कञ्चुकसहित) मायापर्यन्त छः तत्त्वों में कला एवं मन्त्र इसी प्रकार समझने चाहिये । ऊकार से यकार तक उत्तर दिशा वाले पद्म में नौ पद हैं । ञ वर्ण है । तुष्टि, सिद्धि, गुरुपंक्ति, शिष्य पंक्ति, तीन नाड़ियाँ,

२६. नियतौ वायव्यपद्मगतमूकारादिवकारान्तं पदनवकम्, झ-वर्णः, वामदेवाद्यष्टकभुवनम् ।

२७. कालतत्त्वे ऊकारादिलान्तं वारुणपद्मगतं पदनवकम्, ज-वर्णः शुद्धादिशंभुराडन्तशिवदशकभुवनानि ।

२८. रागे पौरुषमेव पदनवकम्, छ-वर्णः, सुहृष्टादिरुद्रदशकस्य भुवनम्, कल्याणादेश्च गुरुशिष्यदशकस्य भुवनम् ।

२९. अशुद्धविद्यायां नैयतमेव पदनवकम् च-वर्णः, वामादिमनोन्मनान्तं भुवननवकम् ।

३०. कलायां पदनवकं कालीयमेव, ङ-वर्णः, महादेवमहातेजोमहाज्योतिषां भुवनत्रयम् ।

३१. मायायां निवृत्तिपद्मादूकारादिमान्तं पदनवकम्, घ-वर्णः, गोपत्याद्यनन्तान्तानि सप्त भुवनानि ।

३२. शुद्धविद्यायां याम्यपद्मादूकारादिक्षान्तं पदनवकम्, शिष्टं पददीक्षावत् ।

३३. ईश्वरतत्त्वे आग्नेयपद्मादूकारादिरेफान्तं पदनवकम् शिष्टं पददीक्षावत् ।

विग्रहाष्टक, देह, पाश, आगन्तुक, गाणेश, वैद्येश और पाश ये बारह भुवन है ।

२६. नियति में वायु दिशा में स्थित कमल में वर्त्तमान ऊकार से लेकर वकार पर्यन्त नौ पद हैं; झ वर्ण है, वामदेव आदि आठ भुवन हैं ।

२७. काल तत्त्व में ऊकार से लकार पर्यन्त नौ पद हैं जो पश्चिम दिशा में स्थित पद्म के अन्तर्गत हैं । ज वर्ण है । शुद्ध से लेकर शम्भुराट्पर्यन्त दश शिव भुवन है ।

२८. राग तत्त्व में पुरुष के नौ पद हैं छः वर्ण है । सुहृष्ट आदि दश रुद्रों के दश भुवन हैं । कल्याण आदि दश गुरु शिष्य के भी दश भुवन हैं ।

२९. अशुद्ध विद्या में नियति के ही नव पद हैं । च वर्ण है । वामदेव से लेकर मनोन्मनापर्यन्त नौ भुवन हैं ।

३०. कला में कालतत्त्व से सम्बद्ध नौ पद हैं । ङ वर्ण है । महादेव महातेज और महाज्योतिष् तीन भुवन हैं ।

३१. माया तत्त्व में निवृत्ति कमल में ऊकार से लेकर मकार पर्यन्त नौ पद हैं। घ वर्ण हैं; गोपति से लेकर अनन्त पर्यन्त सात भुवन हैं ।

३२. शुद्ध विद्या में दक्षिण दिशा में स्थित कमल में ऊकार से लेकर क्षकार पर्यन्त नौ पद हैं । शेष विवरण पद दीक्षा के समान समझना चाहिये ।

३४. सदाशिवतत्त्वे प्राक्पद्मादूकारादिहान्तं पदनवकम्, शिष्टं पददीक्षावत् ।

३५. शक्त्यभिन्ने शिवतत्त्वे मध्यपद्मादूकारादिप्रणवान्तं पदनवकम्, शिष्टं पददीक्षावत् ।

अध्वव्याप्तिरियं ग्रन्थे सूचिता न स्फुटीकृता ।
सम्यग् दीक्षाविधिष्वत्र धीः सुधीभिर्निधीयताम् ॥

एवमीदृगेकतमप्रकारकृतदीक्षं निर्बीजदीक्षादीक्षितवर्जं शिष्यम्—

समयान् छ्रावयेत् पश्चात् तन्त्राम्नायोत्थितान् प्रिये ॥ ४३ ॥

तन्त्ररूपादित आम्नायादुत्थितानित्यनेन स्रोतोभेदेन समयानां भिन्नाभिन्नरूपतैवेति सूचयति ॥ ४३ ॥

तानाह—

न निन्देद् भैरवं देवं शास्त्रं वान्यसमुद्भवम् ।

लौकिकीं भेददर्शनवासनां च हित्वा तत्समुद्भवान्यन्यान्यपि तत्तदाचाराण्यपि

---

३३. ईश्वर तत्त्व में आग्नेयी दिशा में स्थित ऊकार से लेकर रेफ पर्यन्त नौ पद हैं । शेष पददीक्षा की भाँति समझना चाहिये ।

३४. सदाशिवतत्त्व में पूर्व दिक्स्थ ऊकार से हकार तक नौ पद हैं । शेष पददीक्षा के समान ।

३५. शक्ति से अभिन्न शिवतत्त्व में मध्यपद्म से ऊकार से प्रणव तक नौ पद हैं । शेष पददीक्षा के समान ।

इस ग्रन्थ में यह अध्वव्याप्ति सङ्केत मात्र है । स्पष्ट विवरण नहीं दिया गया । विद्वान् लोग यहाँ दीक्षाविधियों में समीचीन बुद्धि का प्रयोग कर स्पष्ट अर्थ के जानने का (सम्यक्) प्रयास करे ॥

उपर्युक्त ३५ प्रकार की दीक्षाओं में से शिष्य को एक प्रकार की दीक्षा देनी चाहिये । निर्बीज दीक्षा नहीं देनी चाहिये ।

दीक्षा के पश्चात् हे प्रिये ! (आचार्य) तन्त्र शास्त्र में वर्णित नियमों को शिष्य को सुनाये ॥ -४३ ॥

तन्त्ररूप आम्नाय से निकले हुए (= उनमे वर्णित)—इस कथन से ग्रन्थकार यह सूचित करते हैं कि सम्प्रदाय के भेद से कुछ नियम भिन्न भी होते हैं और कुछ सभी सम्प्रदायों में समान होते हैं ॥ ४३ ॥

उन नियमों को बतलाते हैं—

भैरव से उत्पन्न शिवाद्वय शास्त्र अथवा अन्य देवता से उत्पन्न शास्त्र की निन्दा नहीं करनी चाहिये ॥ ४४- ॥

भैरवशास्त्राणि तदुक्तं तत्तदुपासोपास्यं च तं तं देवविशेषं परभैरववद्वन्द्यतयैव पश्येदित्यर्थः ॥

किं च—

सांख्यं योगं पाञ्चरात्रं वेदांश्चैव न निन्दयेत् ॥ ४४ ॥

तद्दर्शनस्थांस्तदनुपपत्तिदर्शनेन प्रयोजकव्यापारेण न तन्निन्दायां प्रयुञ्जीतेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अत्र हेतुः—

यतः शिवोद्भवाः सर्वे ह्यपवर्गफलप्रदाः ।

तत्तत्स्वोचितमुक्तिकारिणः, तावन्मात्रविश्रान्तानां वाक्यैकवाक्यतया परिपूर्णव्याप्तिविदां सद्योमुक्तिदा अपि—

'अदृष्टविग्रहाच्छान्तात्' (८।२७)

इति भाविनीत्या नानारूपाच्छिवात् सर्वशास्त्राणामुत्पन्नत्वेनतदभिन्नव्याप्ति-

---

लौकिकभेद दृष्टि के संस्कार को त्याग कर उस देव से उत्पन्न अन्य भी भिन्न-भिन्न आचारों वाले भैरवशास्त्रों को उन्हीं भैरव के द्वारा उक्त तत्तत् उपासना के द्वारा उपास्य भिन्न-भिन्न देवताओं को भी परभैरव की भाँति वन्दनीय समझना चाहिये ॥

तथा—

सांख्य योग पाञ्चरात्र और वेदों की निन्दा नहीं करनी चाहिये ॥ -४४ ॥

उन दर्शनों में श्रद्धा रखने वाले लोगों को उनमें अनौचित्यप्रदर्शन रूप प्रयोजक व्यापार के द्वारा उन (= दर्शनों) की निन्दा में न लगाये ॥ ४४ ॥

इसमें कारण बतलाते हैं—

क्योंकि वे सब शास्त्र शिव के द्वारा प्रवर्त्तित और अपवर्गरूप फल को देने वाले हैं ॥ ४५- ॥

('अपवर्गफल प्रदाः' का स्पष्टीकरण करते हैं—) तत्तद् दर्शनों के द्वारा वर्णित एवं उनकी दृष्टि से समीचीन मुक्ति को देने वाले हैं । उन्हीं दर्शनों को अन्तिम मानकर उनमें विश्वास रखने वालों को भी शिवाद्वयवाद के साथ एकवाक्यता (= संयोजन) करने के कारण जो परिपूर्ण व्याप्ति के ज्ञाता हैं, उनको ये सांख्य योग आदि सद्यः मुक्ति देने वाले हैं । क्योंकि—

'अदृष्टविग्रहात् शान्तात् ।' (८।२७)

(अदृष्टविग्रह = अदृष्ट शरीर वाले शान्त परमकारण शिव से करोंड़ों अरबों सहस्रों श्लोक अनुष्टुप छन्द में निकले)

कत्वात् । अनेनैवाशयेन—

'यतः शिवोद्भवं सर्वं शिवधामफलप्रदम् ।'

इति पाठं पुराणपुस्तकदृष्टमिह केचित् पठन्ति । पूर्णव्याप्त्यवेद्यभिप्रायेण तु—

'सर्वान् भ्रमयते माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ।' (१०।११४१)

इत्यादि वक्ष्यति ॥ ४५ ॥

किं च—

स्मार्त्तं धर्मं न निन्देत्तु आचारपथदर्शकम् ॥ ४५ ॥

तदाचाररतानां न बुद्धिभेदं कुर्यादित्यर्थः ॥

ब्रह्मादिदेवता याश्च मातरश्चुम्बको गिरिः ।
वीराश्चैव भगिन्यश्च गावो भूतगणास्तथा ॥ ४६ ॥

ब्रह्मादीन्युल्लङ्घनीयान्यपि कारणानि, मातरो लौकिकाचारतो ब्राह्मयाद्याः, चुम्बति वक्त्रपारम्पर्येण शिष्यं प्रबोधयति रहस्यार्थे यः स गुरुः, गिरिरिव गिरिः

इस भावी नीति के अनुसार अनेक रूप धारी शिव से समस्त शास्त्रों के उत्पन्न होने के कारण वे शास्त्र उनसे अभिन्न व्याप्ति वाले हैं । इसी आशय से कुछ लोग—

'चूँकि समस्त शास्त्र शिव के द्वारा प्रवर्त्तित हैं इसलिये शिवधाम रूपी फल को देने वाले हैं ।'

ऐसा पुरानी पुस्तकों में दृष्ट पाठ पढ़ते हैं । पूर्ण व्याप्ति को न जानने वालों के अभिप्राय से तो—

'माया अमोक्षदायी (शास्त्रों अथवा वस्तुओं) में मोक्ष प्राप्ति की इच्छा से सबको भ्रमित करती रहती है ।' (१०।११४१)

इत्यादि कहेंगे ॥ ४५ ॥

और भी—

आचारपथ के प्रदर्शक स्मार्त्त धर्म की निन्दा नहीं करे ॥ -४५ ॥

तात्पर्य यह है कि उस (= स्मृत्यनुसारी) आचार में लगे हुए लोगों के अन्दर बुद्धिभेद नहीं उत्पन्न करना चाहिये । 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्' (गीता) ॥

ब्रह्मा आदि देवताओं, माताओं, चुम्बक, गिरि, वीर, भगिनियों, गायों, भूतवर्ग, तथा गण, (की निन्दा नहीं करनी चाहिये) ॥ ४६ ॥

ब्रह्मा आदि जो कि उल्लंघनीय (= भेदन करने योग्य) कारण हैं । मातायें = लौकिक आचार में निरत ब्राह्मी आदि । चुम्बक का अर्थ है—गुरु, क्योंकि वह

मंत्राराधनादावविचलः साधकः, वीरा रहस्यचर्यानिष्ठाः, भगिन्यो मातृभक्ता योगिन्यो, गावः पशुशास्त्रप्रतिपादितपवित्रभावाः भूतानि पिशाचापस्मारादीनि, गणाः प्रमथाः । एतान् सर्वात्र निन्देदिति संम्बन्धः ॥ ४६ ॥

किं च—

देवद्रव्यं न हिंस्यात्तु सिद्धान्ते यद् व्यवस्थितम् ।

सिद्धान्ते निश्चये यद्व्यवस्थितं तद्देवार्थमेवेदं द्रव्यमिति तन्न हिंस्यात् ॥

किं च—

गुरोरन्नं न भुञ्जीत अदत्तं परमेश्वरि ॥ ४७ ॥

गुरुणा यन्न प्रसादीकृतं तत्तदीयमन्नमपि नाश्नीयात् ॥ ४७ ॥

मद्यं मांसं तथा मत्स्यानन्यानि च वरानने ।
साचारांश्च निराचाराँल्लिङ्गिनो न जुगुप्सयेत् ॥ ४८ ॥

चुम्बन = मुखपरम्परा, के द्वारा शिष्य को रहस्यार्थ का ज्ञान कराता है । गिरि = मन्त्राराधन के विषय में पर्वत की भाँति अविचल साधक । वीर = रहस्य चर्चा में लगे हुए । भगिनियाँ = ब्राह्मी आदि माताओं की भक्त योगिनियाँ । गायें = पशुशास्त्र के द्वारा प्रतिपादित पवित्र भाव वाले लोग । भूत = पिशाच अपस्मार आदि । गण = प्रमथ आदि । इन सबकी निन्दा नहीं करनी चाहिये । ऐसा पूर्व श्लोक से सम्बन्ध है ॥ ४६ ॥

तथा—

जिसके विषय में (शास्त्रों या लोकपरम्परा के द्वारा) निश्चय किया जा चुका है ऐसे देवद्रव्य को नष्ट नहीं करना चाहिये ॥ ४७- ॥

सिद्धान्त में = निश्चय में जो व्यवस्थित है अर्थात् यह पदार्थ देवता के लिये ही है—ऐसा निश्चय् किया जा चुका है उसको नष्ट नहीं करना चाहिये ॥

और भी—

गुरु का अदत्त (= न दिया गया अर्थात् चोरी से लिया गया) अन्न नहीं खाना चाहिये ॥ -४७ ॥

गुरु ने जिसको प्रसाद के रूप में नहीं दिया उन के ऐसे अन्न को भी नहीं खाना चाहिये ॥ ४७ ॥

हे वरानने ! मद्य, मांस, मत्स्य तथा अन्य पदार्थों की निन्दा या उनसे कभी घृणा नहीं करनी चाहिये । आचारयुक्त (= शास्त्रों के अनुसार वेश-भूषा धारण करने वाले) तथा आचाररहित लिङ्गी लोगों की निन्दा नहीं

अन्यानीति वीरद्रव्याणि, निराचारानिति तद्रूपेण निह्नुततत्स्वरूपाणां सिद्धानामपि भावाद् न जुगुप्सीत ॥ ४८ ॥

चरुकं प्राशयेन्नित्यं..............

स्वेष्टदेवतायै दत्तम् ॥

.............गुरुन् सम्पूजयेत् सदा ।

अन्यथा नित्यार्चाधिकाराभावात् ॥

उपस्करान् महादेवि पादेन तु न संस्पृशेत् ॥ ४९ ॥

उपस्करान् दृषदुलूखलमुसलादीनि गृहोपकरणादीनि, तेषां मतङ्गशास्त्रेषु नवयागविधौ देवतासङ्केतस्थानत्वेनाम्नातत्वात् ॥ ४९ ॥

संहितां चिन्तयेन्नित्यं.............

संहितां शैवं शास्त्रम् ॥

.........भक्तानां श्रावयेत् सदा ।

गुरुस्तदनुज्ञातोऽन्योऽपि वा, अतः प्राधान्येनायं गुरोरेव समयः ॥

करनी चाहिये ॥ ४८ ॥

अन्य पदार्थ = वीर द्रव्य (= मल मूत्र आदि) । निराचार = शास्त्रवर्णित स्वरूप को छिपाने वाले सिद्धपुरुषों के प्रति भी मन से घृणा नहीं करनी चाहिये ॥ ४८ ॥

अपनी इष्ट देवता को समर्पित किया गये चरु का प्रतिदिन भक्षण करना चाहिये ॥ ४९- ॥

अपने इष्ट देवता के लिए प्रदत्त ॥

गुरु की सदा पूजा करनी चाहिये ॥ -४९- ॥

अन्यथा इष्ट देव की नित्य पूजा में (शिष्य का) अधिकार नहीं होगा ॥

हे महादेवि ! उपस्करों को पैर से नहीं छूना चाहिये ॥ -४९ ॥

उपस्कर = सिल लोढ़ा, ओखली, मूसल आदि गृहस्थी के सामान । क्योंकि मतङ्गशास्त्र में नव याग विधान के वर्णन के समय उनको देवता का सङ्केतस्थान माना गया है ॥ ४९ ॥

प्रतिदिन संहिता का चिन्तन करना चाहिये ॥ ५०- ॥

संहिता = शैवशास्त्र ॥

उस संहिता को शिव भक्तों को सदा सुनाना चाहिये ॥ -५०- ॥

(संहिता को सुनाने का कार्य) गुरु या उनकी आज्ञा लेकर कोई दूसरा भी कर

आह्निकं न विलुम्पेत्तु संध्याकर्म वरानने ॥ ५० ॥

आह्निकं पूजादिनित्यकर्म, संध्यां संध्याकालसम्पाद्यां मन्त्रोपासनम् ॥ ५० ॥

अदीक्षितानां पुरतो नोच्चरेच्छास्त्रपद्धतिम् ।

शास्त्रपद्धतिं पारमेशशास्त्रप्रक्रियाम् ॥ ५० ॥

साधकविषयमाह—

त्रिकालं पूजयेद् देवं जपध्यानरतः सदा ॥ ५१ ॥

प्रातर्मध्याह्ने सायं च ॥ ५१ ॥

तदेतान् यथायोगं पुत्रकादिः—

समयान् पालयेन्नित्यमुभयार्थफलेप्सया ।

उभयार्थमैहिकमामुष्मिकं च फलं भोगो मोक्षश्च ॥

तदित्थं समयश्रवणान्तां क्रियादीक्षामुक्त्वा, ज्ञानदीक्षां निरूपयितुमाह—

सकता है । इससे यह निष्कर्ष निकला कि यह (= संहिताश्रावण) प्रधान रूप से गुरु का ही कर्त्तव्य है ॥ ४९- ॥

हे वरानने ! आह्निक कर्म तथा सन्ध्या कर्म को कभी भी नहीं छोड़ना चाहिये ॥ -५० ॥

आह्निक = सन्ध्या वन्दन आदि नित्यकर्म । सन्ध्या = सन्ध्या काल में सम्पाद्य मन्त्र की उपासना ॥ ५० ॥

जिनकी दीक्षा नहीं हुई है उनके सामने शास्त्रपद्धति का उच्चारण नहीं करना चाहिये ॥ ५१- ॥

शास्त्रपद्धति = शैव शास्त्र की प्रक्रिया ॥ ५० ॥

अब साधकसम्बन्धी नियमों को बतलाते हैं—

शिष्य को चाहिये कि वह जप और ध्यान में निरत होकर तीनों काल इष्ट देव की पूजा करे ॥ -५१ ॥

(त्रिकाल =) प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल ॥ ५१ ॥

पुत्रक आदि दीक्षा को प्राप्त साधक—

दोनों प्रकार के फलों को प्राप्त करने की इच्छा से इन नियमों का यथोचित पालन करे ॥ ५२- ॥

उभयार्थ फल = इस संसार का फल—ऐश्वर्य का उपभोग और परलोक का फल मोक्ष ॥

अतो विज्ञानदीक्षां तु प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ५२ ॥
अध्यात्मगतिचारेण केवलेन विशोधिकाम् ।

अनुपूर्वशो वक्ष्यमाणोद्धातक्रमेण । अध्यात्ममात्मनि गत्या ज्ञानेन यश्चारः सौषुम्नमार्गारोहः, तेन । केवलेन होत्रादिहीनेन ॥

तत्र—

शिष्यात्मानं गृहीत्वा तमात्मप्राणे नियोजयेत् ॥ ५३ ॥
अभिमानं तथोच्चार्य कुर्याद्वै पूर्ववत्तदा ।

अभिमानम्—

'अहमेव परो हंसः' (४।३९९)

इत्युक्तरूपम् ॥ ५३ ॥

एतत्सर्वं पूर्वोक्तमनूद्य, विशेषमाह—

उद्धातैश्च ततोऽध्वानं शिष्यस्य तु विशोधयेत् ॥ ५४ ॥
ततः समुच्चरंस्तत्त्वं पृथिव्याद्यं तु सुव्रते ।

इस प्रकार आचारश्रवण पर्यन्त क्रियादीक्षा का वर्णन कर ज्ञानदीक्षा का निरूपण करने के लिये कहते हैं—

इसके बाद मैं विज्ञानदीक्षा का क्रमशः वर्णन करूँगा जो केवल अध्यात्मगति के संचार से (षडध्वा का) शोधन करती है ॥ -५२-५३- ॥

अनुपूर्वशः = वक्ष्यमाण उद्घात के क्रम से । (अध्यात्मगतिचारेण की व्याख्या करते हैं—) अध्यात्म = आत्मा में, गति = ज्ञान, के द्वारा जो चार = सुषुम्ना मार्ग में आरोह, उसके द्वारा । केवल = हवन आदि से रहित ॥

उसमें—

गुरु शिष्य की आत्मा (= चैतन्य) का ग्रहण कर उसे अपने प्राण से युक्त करे । फिर 'अभिमान' का उच्चारण कर तत्पश्चात् पूर्ववत् (नियोजन) करना चाहिए ॥ -५३-५४- ॥

अभिमान—

'अहमेव परो हंसः शिवः परमकारणम्' (४।३९९)

इस उक्त रूप वाले अभिमान का ॥ ५३ ॥

पूर्वोक्त इस सब का अनुवाद कर विशेष को बतलाते हैं—

हे सुव्रते ! इसके बाद गुरु तत्त्व तक का उच्चारण करते हुए, उद्घातों के द्वारा शिष्य के पृथिवी आदि अध्वा का शोधन करे ॥ -५४-५५- ॥

तत्त्वं निष्कलस्वरूपं पूर्वोक्तमुद्राबन्धयुक्त्या सम्यगुच्चरन् पृथिव्याद्यमध्वानं भावनया विन्यस्तं विशोधयेत् ॥ ५४ ॥

कथमित्याह—

भिन्नाभिन्नस्वरूपेण एकैकं तु यथाक्रमम् ॥ ५५ ॥
सस्वरं ह्यक्षरोच्चारं देवताभिः समन्वितम् ।

मन्त्रकलाव्याप्त्या भिन्नेनाविकल्पविमर्शैक्याच्च अभिन्नेन स्वरूपेणोपलक्षितम्, तत एव देवताभिर्ब्राह्म्याद्याभिः सम्यगभेदव्याप्त्यान्वितम्, एकैकमकारोकारमकारादि-रूपमक्षरम्, सस्वरमित्यान्तरोच्चारवत् पश्यन्तीविमर्शप्रधानम्, अत एव चाक्षरोच्चारमविचलितमन्त्रध्वनिरूपं कुर्वन्निति शेषः ॥ ५५ ॥

तदत्र—

'आब्रह्मरन्ध्रं भ्रूमध्यात् सन्ति पञ्च धरादयः ।
ग्रन्थयः कारणैः सार्धं तान् भित्त्वा प्राप्यते शिवः ॥'

इत्याम्नायान्तरोक्तस्थित्या भ्रूमध्यादिपदावस्थितसूक्ष्मपृथिव्यादिग्रन्थपञ्चकभेदमुद्धातयुक्त्याऽऽदिशति देवः—

तत्त्व = परमेश्वर का निष्कल रूप । पूर्वोक्त मुद्राबन्ध की युक्ति के द्वारा उसका सम्यक् उच्चारण करते हुए भावना के द्वारा विन्यस्त पृथिवी से लेकर समस्त अध्वा का शोधन करे ॥ ५४ ॥

किस प्रकार ?—यह बतलाते हैं—

यह शोधन भिन्न और अभिन्न रूप से होगा । एक-एक अध्वा का शोधन क्रम से होगा । देवताओं से युक्त, सस्वर और अक्षर का उच्चारण करते हुए होगा ॥ -५५-५६- ॥

मन्त्र और कला की व्याप्ति के कारण ये अध्वा भिन्न-भिन्न हैं । विकल्प- रहित विमर्श से ऐक्य के कारण ये अभिन्न भी हैं । इस प्रकार ये अध्वा (भिन्न-अभिन्न) दोनों प्रकार वाले हैं । इसी कारण देवताओं अर्थात् ब्राह्मी आदि, के द्वारा (समन्वित =) सम्यक् = अभेद व्याप्ति से अन्वित = युक्त, हैं । एक-एक = अकार उकार मकार आदि रूप अक्षर वाले हैं । सस्वर = आभ्यन्तर उच्चारण वाले अर्थात् प्रधानतया पश्यन्तीवाक्विमर्श वाले हैं । इसलिये अक्षरोच्चार = अविचलित (= निरन्तर) मन्त्रध्वनि करने वाले हैं ॥ ५५ ॥

यहाँ—

'भ्रुवों के मध्य से लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त पृथिवी आदि पाँच ग्रन्थियाँ अपने कारणों के साथ रहती हैं । उनका भेदन करने के बाद शिवत्वलाभ होता है ।'

दूसरे सम्प्रदाय के इस कथन के अनुसार परमेश्वर शिव भ्रूमध्य आदि पदों (=

बिन्दुना शक्तिसंयोगादुद्घातः[1] प्रथमः स्मृतः ॥ ५६ ॥
देवतात्रयनिर्मुक्तः..............

पूर्ववच्छिष्यचैतन्यं स्वप्राणे लीनं कृत्वा, पूर्वोक्तकरणबन्धपुरःसरं हृदयान्मध्यशक्तिप्रसरयुक्त्याकृतकविमर्शसारं मन्त्रमुच्चरन्, मान्त्रविमर्शप्रधानायास्तस्याः शक्तेर्बिन्दुना संयोगादिति भ्रूमध्ये वज्रलाञ्छितपीतवर्णचतुरश्रपार्थिवमण्डलमध्यध्यातबिन्दुतेजसा सम्यगित्यूर्ध्वोच्चारक्रमेण योगात् तदनुभवात् प्रथमोऽयमुद्धातो ब्रह्मविष्णुरुद्राख्य देवतात्रयेण निर्मुक्त ईश्वराख्यमन्त्रदेवतासमापत्त्यात्मा पञ्चगुणपृथ्वीतत्त्वगतगन्धाख्यमुख्यगुणसंशोधनरूप इत्यर्थः ॥

रसाख्यगुणशुद्ध्यर्थं द्वितीयमाह—

..............चतुर्थान्तसमन्वितः ।
उद्धातः स तु देवेशि द्वितीयः परिकीर्तितः ॥ ५७ ॥

चतुर्थस्य बिन्दुस्थानस्यान्तोऽर्धचन्द्रः, तेन प्राग्वत् सम्यगन्वितः, तदनुभवावेशरूप इत्यर्थः ॥

स्थानों) में स्थित सूक्ष्म पृथिवी आदि पाँच भेदों का उद्घात युक्ति से निरूपण करते हैं—

बिन्दु की सहायता से शक्ति का संयोग होने पर प्रथम उद्घात होता है ।यह उद्धात तीनों देवताओं से मुक्त होता है ॥ -५६-५७- ॥

गुरु पूर्व की भाँति शिष्य के चैतन्य को अपने प्राण में लीन कर, पूर्वोक्त करणबन्ध करने के बाद हृदय से मध्यशक्ति के प्रसर की युक्ति के द्वारा अकृतक (= स्वाभाविक) विमर्श सार वाले मन्त्र का उच्चारण करे । मान्त्रविमर्श प्रधान उस शक्ति का बिन्दु से संयोग होने के कारण = भौहों के मध्य में वज्र से चिह्नित पीतवर्ण चौकोर पार्थिव मण्डल के मध्य में ध्यान किये गये बिन्दुरूपी तेज के द्वारा, सम्यक् = ऊर्ध्व उच्चार के क्रम से, योग = उसके अनुभव, के कारण यह प्रथम उद्घात होता है । यह उद्घात ब्रह्मा विष्णु और रुद्र नामक तीन देवताओं से निर्मुक्त हुआ ईश्वर नामक मन्त्रदेवता की समापत्तिस्वरूप होता है । साथ ही रूप रस आदि पाँच गुणों वाली पृथ्वी के अन्दर वर्तमान गन्ध नामक मुख्य गुण का संशोधन रूप होता है ॥

(पृथिवी के) रस नामक (द्वितीय) गुण की शुद्धि के लिये द्वितीय उद्घात को कहते हैं—

हे देवेशि ! द्वितीय उद्घात चतुर्थान्त से समन्वित कहा गया है ॥ -५७ ॥

यह उद्धार (अ उ म् इन तीन के बाद) चतुर्थ बिन्दु स्थान का अन्त = अर्ध

---

१. उद्घातो नाम नाभिमूलात प्रेरितस्यवायोः शिरसि अभिहननम् ।

रूपगुणशुद्ध्यर्थं तृतीयमाह—

हंसाक्षरसमुच्चारः सुदीर्घो बिन्दुसंयुतः ।
अर्धचन्द्रान्निरोधिन्यामुदयातस्तु तृतीयकः ॥ ५८ ॥

हंसपथस्य हंसरूपस्य चाक्षरस्य निष्कलमन्त्रस्य सम्यगिति पूर्वोक्तयुक्त्या उच्चारः, सुदीर्घो—

'ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं सूक्ष्मम्' (६।४)

इति भाविनीत्या मकारान्ते प्लुतः, ततोऽपि प्रथमोद्धातावधिना बिन्दुना सूक्ष्मरूपेण सम्यग् युतस्तद्विश्रान्तः, तथार्धचन्द्राद् द्वितीयोद्घातविश्रान्त्यवधेर्निरोधिकास्थानान्तं प्रसरंस्तृतीय इति पार्थिवरूपगुणशुद्धिकृदित्यर्थः ॥ ५८ ॥

स्पर्शगुणशुद्ध्यर्थमाह—

भिन्नोद्घातो यदा देवि नादान्तस्तु तदा भवेत् ।
उद्घातः स तु देवेशि चतुर्थः परिकीर्तितः ॥ ५९ ॥

भिन्ना उद्घाता इति प्रोक्तानि त्रीण्युद्घातस्थानानि येन मन्त्रोच्चारेण स

चन्द्र, उससे पूर्व की भाँति सम्यक् युक्त अर्थात् उसके अनुभव का आवेशरूप होता है ॥

रूपगुण की शुद्धि के लिये तृतीय उद्धार को कहते हैं—

हंस अक्षर के उच्चारण वाला, दीर्घ, बिन्दुयुक्त तीसरा उद्घात होता है जो कि अर्धचन्द्र से लेकर रोधिनी पर्यन्त प्रसृत होता है ॥ ५८ ॥

(हंसाक्षरसमुच्चारः =) हंस पथ = हंस रूप, अक्षर = निष्कल मन्त्र का सम्यक् = पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार उच्चार । सुदीर्घ—

'ह्रस्व दीर्घ प्लुत सूक्ष्म अतिसूक्ष्म रूप प्रणव का भेदन कर' (६।४)

इस आगे वर्णन की जाने वाली नीति के अनुसार मकारान्त में प्लुत, इससे भी आगे प्रथम उद्घात अवधिवाले सूक्ष्म रूप बिन्दु से सम्यक् युक्त = उसमें विश्रान्त, तथा द्वितीय उद्घात की विश्रान्ति की अवधिभूत अर्धचन्द्र से लेकर निरोधिका स्थान पर्यन्त प्रसृत होने वाला तीसरा उद्घात होता है जो कि पृथिवी के तृतीय गुण रूप की शुद्धि करता है ॥ ५८ ॥

पृथिवी के स्पर्श गुण की शुद्धि के लिये कहते हैं—

हे देवि ! जब उद्घात का भेदन करने वाला (मन्त्रोच्चार) नादान्त में विश्राम करने लगता है तब हे देवेशि ! यह चतुर्थ उद्घात बतलाया गया है ॥ ५९ ॥

भिन्नोद्घात = भिन्न कर दिये गये हैं पूर्वोक्त तीन उद्घातस्थान जिस मन्त्रोच्चार

पुनर्यदा नादान्तो नादानुभवविश्रान्तो भवति, तदा स चतुर्थगुणशुद्ध्यर्थ उद्घात उक्तः । तद्यशब्दो भवेच्छब्दानन्तरं योज्यते ॥ ५९ ॥

शब्दगुणशुद्ध्यर्थं पञ्चममाह—

स एव चाक्षरोच्चारो व्यापिन्यन्ते व्यवस्थितः।
उद्घातः स तु देवेशि पञ्चमः परिकीर्तितः॥ ६० ॥

स चैवेति नैष्कलः । व्यापिन्यन्त इति तद्विश्रान्तिरूढः । पञ्चम इति पञ्चमस्य शब्दगुणस्य शुद्ध्यर्थम् ॥ ६० ॥

तदित्थम्—

पञ्चोद्घातांस्ततो दत्त्वा पृथिवीं शोधयेद् बुधः ।

तत इति यतः पञ्चगुणा पृथ्वी, बुध इति ज्ञानी । अत्र पञ्चस्वप्युद्घातेषु बिन्दुस्थाने पृथिवीं धारणां प्रत्येकं धृत्वा, उद्घातानुसारं बिन्द्वर्धचन्द्रनिरोधिनादव्यापिन्यन्तेषु विश्रान्तीः कुर्वन्, शिष्यात्मनो गन्धादिशब्दान्ते गुणपञ्चके भोग्यभोक्तृभावं शोधयेत् ॥

इत्थं च व्यापिन्यन्ताश्रयणेऽपि सूक्ष्मव्याप्त्या पार्थिवतत्त्वभोगस्थानं बिन्दुधामैव

के द्वारा, वह मन्त्रोच्चार जब नादान्त होता है अर्थात् नाद के अनुभव में विश्रान्त होता है तब वह उद्घात चतुर्थ गुण की शुद्धि के लिये कहा गया है । 'तदा' शब्द का प्रयोग 'भवेत्' शब्द के बाद करना चाहिये ॥ ५९ ॥

शब्द गुण की शुद्धि के लिये पञ्चम उद्घात को बतलाते हैं—

वही अक्षर उच्चार जब व्यापिनी के अन्त में व्यवस्थित होता है, हे देवेशि! तब वह पञ्चम उद्घात कहा जाता है ॥ ६० ॥

वही = नैष्कल । व्यापिनी के अन्त में व्यवस्थित होता है = उस व्यापिनी में विश्रान्त होता है । पाँचवाँ = पाँचवें शब्द गुण की निवृत्ति के लिये (कहा गया है) ॥ ६० ॥

तो इस प्रकार—

इस कारण विद्वान् पाँच उद्घातों को देकर पृथ्वीतत्त्व का शोधन करे ॥ ६१- ॥

इस कारण—क्योंकि पृथिवी पाँच गुणों वाली है । बुध = ज्ञानी । गुरु यहाँ पाँचो उद्घातों में बिन्दु स्थान में प्रत्येक के साथ पृथिवी की धारणा कर प्रत्येक उद्घात के अनुसार बिन्दु अर्धचन्द्र, रोधिका, नाद और व्यापिनी पर्यन्त अनुभवों में विश्राम करता हुआ शिष्य की आत्मा (= चैतन्य) के गन्ध से लेकर शब्द तक पाँचों गुणों में, भोक्ता भोग्य भाव का शोधन करे ॥

शुद्धं भवतीत्याह—

अकारोकारमकारान्तमेवं शुद्ध्यति नान्यथा ॥ ६१ ॥

अकारोकारमकाराणामन्तं बिन्दुस्थानम् । एवमिति व्यापिन्यन्तानुप्रवेशात्मकोद्घातपञ्चकात् शब्दान्तगुणपञ्चकसंशुद्धियुक्त्या पृथ्वीतत्त्वशोधनादित्यर्थः । नान्यथेति हुतिदीक्षायामेव तत्त्वशुद्धिर्भवतीति भेदवादिवन्नास्यां ज्ञानदीक्षायां संशयितव्यम्, हुतिदीक्षायामपि ज्ञानस्यैव प्राधान्यादिति निर्णीतत्वात् । उक्तं च श्रीमतङ्गपारमेश्वरेऽपि—

'यस्य ज्ञानान्न सम्प्राप्तिः क्रिया तस्य विधीयते ।' इति ॥ ६१॥

तदित्थम्—

शुद्धेऽथ पार्थिवे तत्त्वे चिन्तितव्यं तु योगिभिः ।
जलीभूतं तदेवैतदात्मना सह योगतः ॥ ६२ ॥

अथशब्दः क्रमं सूचयति, स च शुद्धतत्त्वाच्छिष्यचैतन्यस्योद्धरणम्, ततस्तत्स्थीकरणम्, तत आत्मप्राणे योजनं मन्त्रप्राणशिष्यात्मस्वात्मनां सामरस्य-

---

इस प्रकार व्यापिनीपर्यन्त आश्रयण करने पर भी सूक्ष्म व्याप्ति के द्वारा पार्थिव तत्त्व के भोग का स्थान बिन्दु धाम ही शुद्ध होता है—यह कहते हैं—

इस प्रकार अकार उकार मकार का अन्त (= बिन्दु) शुद्ध होता है । अन्य प्रकार से (शुद्धि सम्भव) नहीं है ॥ -६१ ॥

इस प्रकार अकार उकार मकार का अन्त अर्थात् बिन्दुस्थान । इस प्रकार—व्यापिनीपर्यन्त अनुप्रवेश रूप पाँच उद्घातों के कारण शब्द पर्यन्त पाँच गुणों के शोधन रूपी युक्ति के द्वारा पृथिवी तत्त्व के शोधन से । अन्यथा नहीं—भेदवादी लोग कहते हैं कि हवनदीक्षा में ही तत्त्वों की शुद्धि होती है । उनके कथन के आधार पर ज्ञानदीक्षा में शुद्धि नहीं होती—ऐसा संशय नहीं करना चाहिये । क्योंकि हुतिदीक्षा में भी ज्ञान की प्रधानता रहती है—ऐसा निर्णय किया जा चुका है । श्री मतङ्गपारमेश्वर में भी कहा गया है—

'जिसको ज्ञान के द्वारा शुद्धिलाभ नहीं होता उसके लिये क्रिया का विधान शास्त्रों में किया गया है' ॥ ६१ ॥

तो इस प्रकार—

पार्थिव तत्त्व के शुद्ध होने पर योगियों के द्वारा इसकी आत्मा के साथ अपने प्राण योग के माध्यम से जल भूत उस (= शोधन) का चिन्तन किया जाना चाहिये ॥ ६२ ॥

श्लोकस्थ 'अथ' शब्द क्रम को सूचित करता है और वह (= क्रम)—शुद्धतत्त्व से शिष्य के चैतन्य का उद्धार है । उस (= उद्धार) के बाद तत्स्थीकरण, उसके

भावनमित्यादिरूपः । तदेवेति पार्थिवं तत्त्वम् । जलीभूतमित्युक्त्या शुद्धाशुद्धतत्त्वानुसंधानमुक्तम् । योगिभिर्योगत इत्यनेनायोगिनोऽत्र नाधिकारो जातुचिदिति दर्शितम्। एतदात्मना सहेति शिष्यात्मानमपि जलतत्त्व(यो)गाय तदेकात्मतामिव प्राप्तं चिन्तयेत् । अत्र चावसरे अर्धचन्द्रस्थाने पद्मलाञ्छितसितवर्णार्धचन्द्रमण्डलमध्यगतजलबिन्दुरूपां जलतत्त्वधारणां बध्नीयादित्याम्नायः ॥ ६२ ॥

अथ पार्थिवे तत्त्वे शिष्यात्मनि च यथोक्तभावनया—

जलीभूते पुनर्मन्त्री तदेव चतुरुच्चरेत् ।
बिन्द्वन्तं धारणायुक्तं.........

तदेवेति निष्कलस्वरूपम्, मन्त्रीति लब्धसामरस्यः, बिन्द्वन्तमर्धचन्द्रस्थानम्, धारणा व्याख्याता । चतुरिति पूर्वोक्तयुक्त्यार्धचन्द्रनिरोधिनादव्यापिनीपदेषु क्रमेण विश्रान्तिरूपांश्चतुरुद्घातान् दद्यादित्यर्थः । पुनरुच्चरेदिति पाठे चतुष्टयसंख्यार्थाद्योज्या ॥ ६३ ॥

तदित्थं जलतत्त्वं संशोध्य, पूर्वोक्तं सामरस्यान्तं क्रमं श्रित्वा तज्जलतत्त्वात्—

बाद शिष्य की आत्मा और गुरु के प्राण का संयोग, तत्पश्चात् मन्त्र, प्राण शिष्य की आत्मा और गुरु की आत्मा को समरस बनाना इत्यादि रूप है । वही—पार्थिव तत्त्व । 'जलीभूत'—इस कथन से शुद्धाशुद्ध तत्त्व का अनुसन्धान कहा गया है । योगिभिः (= योगियों के द्वारा) योग के माध्यम से योगतः (= इस कथन से) यह सङ्केत किया गया कि अयोगियों का इस विषय में कभी भी अधिकार नहीं है । इसकी आत्मा के साथ—शिष्य की आत्मा का भी जल तत्त्व के भोग के लिये मानो उससे एक हो गयी है—ऐसी भावना करनी चाहिये । इस अवसर पर अर्धचन्द्र के स्थान पर पद्मलाञ्छित श्वेतवर्ण वाले अर्धचन्द्र के मध्य में स्थित जलबिन्दुरूप जलतत्त्व की धारणा करनी चाहिये—यह शास्त्रीय विचार है ॥ ६२ ॥

तदनन्तर उपर्युक्त भावना के द्वारा पार्थिव तत्त्व और शिष्य की आत्मा—

(शिष्य की आत्मा) के जल स्वरूप हो जाने पर मन्त्रवेत्ता गुरु बिन्दु पर्यन्त धारणा से युक्त उसी का चार बार उच्चार करे ॥ ६३- ॥

उसी का = निष्कल रूप का । मन्त्री = शिव के साथ समरसता को प्राप्त । बिन्दु के अन्तपर्यन्त = अर्धचन्द्र स्थान । धारणा की व्याख्या की जा चुकी है । चार—पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद और व्यापिनी स्तरों में क्रम से विश्रान्ति रूप चार उद्घातों को देना चाहिये । 'चतुरुच्चरेत्' के स्थान पर 'पुनरुच्चरेत्' पाठ मानने पर चार की संख्या को अपनी ओर से जोड़ लेना चाहिये ॥ ६३ ॥

तो इस प्रकार जल तत्त्व का संशोधन कर पूर्वोक्त सामरस्य पर्यन्त क्रम का

.......शिष्यादात्मनि चिन्तयेत् ॥ ६३ ॥

अतश्च—

शोधिते तोयसंघाते तेजोभूतं विचिन्तयेत् ।

अर्थात्तदेव तोयं शिष्यात्मना सहेत्यादि प्राग्वत् ॥

अत्र च निरोधिकास्थाने शक्तिलाञ्छितरक्तवर्णत्रिकोणमण्डलादिरूपां तेजस्तत्त्वधारणां बद्ध्वा निरोधिनादव्यापिनीस्थानेषु मान्त्रविश्रान्तिरूपाः—

तेजोद्धातास्त्रयस्तेषु निरोध्यन्तमवस्थिताः ॥ ६४ ॥

तेजोद्घाता इत्यैशः पाठः । निरोध्यन्तं कृत्वा तत्र तेजोधारणां बद्ध्वेत्यर्थः ॥ ६४ ॥

तदेवं त्रिभिरुद्घातैस्त्रिगुणे तेजसि पूर्ववदन्तर्भूतेतराध्वपञ्चके शुद्धे—

नास्ति तेजस्ततो वायुरुद्घातद्वयशोधितः ।

आश्रयण कर (आचार्य) उस जल तत्त्व से

शिष्य से लेकर अपने तक के शोधन का चिन्तन करे ॥ -६३ ॥

इसके बाद—

जलसमूह का शोधन होने पर (उस जलसमूह को) तेज स्वरूप हुआ चिन्तन करना चाहिये ॥ ६४- ॥

अर्थात् वही जल शिष्य की आत्मा के साथ (तेज रूप हो गया—ऐसी भावना करनी चाहिये) ॥

यहाँ रोधिनी के स्थान में शक्ति से चिह्नित रक्त वर्ण के त्रिकोण मण्डल आदि रूप तेजस् तत्त्व की धारणा कर रोधिनी नाद और व्यापिनी पदों में मन्त्र के विश्रान्तिरूप—

तीन तेजोद्घात रोधिनीपर्यन्त उनमे (= रोधिनी नाद व्यापिनी में) स्थित हैं (ऐसी धारणा करनी चाहिये) ॥ -६४ ॥

'तेजोद्घाताः' यह पाठ ईश्वरीय है (पाणिनि व्याकरण के अनुसार यहाँ 'तेजसुद्घाताः' पाठ होना चाहिये) । रोधिनी पर्यन्त करने के बाद = उसमें तेजस् तत्त्व की धारणा का बन्ध करने के बाद ॥ ६४ ॥

इस प्रकार तीन उद्घातों के द्वारा जिसमें अन्य पाँच अध्वा अन्तर्भूत हो चुके हों, उस त्रिगुण तेज के शुद्ध होने पर—

तेज का अस्तित्व समाप्त हो जाता है । इसके बाद वायु का दो उद्घातों के द्वारा शोधन करना चाहिये ॥ ६५- ॥

पूर्ववत् तत्स्थात्मस्थत्वादि कृत्वा, तेजः शान्तं विभाव्य, नादस्थाने षट्कोणबिन्दुलाञ्छितनीलवर्णमण्डलादिरूपां वायुधारणां बद्ध्वा, नादव्यापिनीस्थानयोर्मान्त्रविश्रान्त्यात्मनोद्घातद्वयेन वायुतत्त्वं शिष्यात्मनो भोगस्थानं शोधयेत् ॥

अथ—

अकाशे लीयमानं तमुद्घातेन तु चिन्तयेत् ॥ ६५ ॥

तं वायुम् ॥ ६५ ॥

एतद् व्यनक्ति—

नष्टे वायौ ततः शून्यमुद्घातैकेन योजयेत् ।

नष्ट इति आकाशशेषीभूतत्वात् शिष्यात्मनो बन्धकत्वाच्चलिते । तत इति सुसूक्ष्मतममाकाशतत्त्वमन्तर्भूतेतराध्वपञ्चकम् उद्घातैकेनेति, आकाशस्यैकगुणत्वात् ॥

यच्चैतत्सुसूक्ष्मतमं शून्यम्—

पूर्व की भाँति तत्स्थत्व आत्मस्थत्व आदि का सम्पादन कर तेज के अस्तित्व को शान्त समझते हुए नादस्थान में षट्कोण एवं बिन्दु से लाञ्छित नीलवर्ण नील मण्डल आदि रूप वाली वायुधारणा का बन्धन कर नाद एवं व्यापिनी इन दोनों स्थानों में मान्त्रविश्रान्ति रूप दो उद्घातों के द्वारा वायुतत्त्व, जो कि शिष्य की आत्मा का भोगस्थान है, का शोधन करना चाहिये ॥

इसके बाद—

उद्घात के द्वारा वह वायु आकाश में लीयमान हो रहा है—ऐसी भावना करनी चाहिये ॥ -६५ ॥

तम् = उस वायु को ॥ ६५ ॥

इसको स्पष्ट करते हैं—

वायु के नष्ट होने पर एक उद्घात के द्वारा आकाश को उससे जोड़ना चाहिये ॥ ६६- ॥

नष्ट होने पर — आकाश के रूप में शेष होने तथा उन पाँचों भूतों के शिष्य की आत्मा का बन्धक स्वरूप होने से । 'ततः'—यहाँ कर्म अर्थ में 'तसिल्' प्रत्यय हुआ है । (ततः = उसको) जिसमें अन्य पाँच अध्वा अन्तर्भूत हो गया है ऐसे सुसूक्ष्मतम आकाश तत्त्व के नष्ट होने पर । एक उद्घात के द्वारा—क्योंकि आकाश का गुण एक (= शब्द) ही है । (इससे यह तात्पर्य निकला कि जितने गुण होते हैं उतना उद्घात करना पड़ता है) ॥

और जो यह सुसूक्ष्म शून्य तत्त्व है—

व्यापिनी सा तु विज्ञेया पञ्चमान्ते व्यवस्थिता ॥ ६६ ॥

पञ्चमे व्योमतत्त्वात्मन्यन्ते व्यवस्थिता, तेनात्रान्तःशून्यसुसूक्ष्मशब्दशक्तिलाञ्छितपरिवर्तुलमण्डलाकारां व्योमधारणां बद्ध्वा, मन्त्रोच्चारणाभिज्ञो गुरुः शिष्यात्मना सहात्रैव विश्राम्यन् परतेजोमयतामनुसंदध्यात् ॥ ६६ ॥

एवं चात्र ज्ञानदीक्षामाहात्म्येन चरितार्थतया पुनर्भोगप्रदत्वाभावेनाबन्धकत्वात् सर्वैव भोग्यभूः शिष्यस्य शोधिता भवति, यतश्चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्यशक्तिपञ्चकसामरस्यसतत्त्वः श्रीस्वच्छन्दभट्टारकश्चिदादिशक्तिप्रधानशिवशक्तिसदाशिवेश्वरविद्याख्यतत्त्व पञ्चकात्मतामुट्टङ्कितामपि व्यापिन्यादिबिन्द्वन्तग्रन्थिपञ्चकस्वरूपगोपनात्मकमहामायाशक्त्याच्छादयन्, मायादिक्षित्यन्तां क्रमात् क्रममधिकाधिकसङ्कोचां तत्त्वत्रिंशतं षड्भिः पञ्चकप्रघट्टकैरन्योन्यं शक्तिव्यक्त्यात्मकव्याप्यव्यापकभावभाग्भिरा-

---

उसे व्यापिनी समझना चाहिये । यह पञ्चम तत्त्व (= आकाश) के अन्त में स्थित है ॥ -६६ ॥

(व्यापिनी) पञ्चम अर्थात् व्योम तत्त्व के अन्त में स्थित है । इस कारण यहाँ अन्तः—शून्य सुसूक्ष्म शब्द शक्ति से चिह्नित गोलमण्डल के आकार वाली व्योमधारणा का बन्धन कर मन्त्रोच्चारण का ज्ञाता गुरु शिष्य की आत्मा के साथ यहीं पर विश्राम करता हुआ परतेजोमयता का अनुसन्धान करे ॥ ६६ ॥

इस प्रकार यहाँ ज्ञानदीक्षा के माहात्म्य से (समस्त भोग) चरितार्थ हो जाने के कारण समस्त भोगभूमियाँ फिर से भोग प्रदान नहीं करतीं फलतः उनके बन्धक न होने के कारण शिष्य की ये भोगभूमियाँ शुद्ध हो जाती हैं । यतः (= जिस शोध प्रक्रिया से) चित् आनन्द इच्छा ज्ञान और क्रिया नामक पाँच शक्तियों के सामरस्य वाले स्वच्छन्दभट्टारक चित् आदि शक्तिप्रधान शिव शक्ति सदाशिव ईश्वर और शुद्ध विद्या नामक पाँच तत्त्वों का उट्टङ्कन (= प्रकाशन) करते हैं । फिर उसे व्यापिनी से लेकर बिन्दु पर्यन्त (व्यापिनी, नाद, रोधिका, अर्धचन्द्र, बिन्दु) इन पाँच ग्रन्थियों के द्वारा स्वरूप का गोपन करते हैं । यह स्वरूपगोपन ही महामाया है जिसके द्वारा वे शिवादि पाँच को आच्छादित कर देते हैं । परिणामस्वरूप माया से लेकर पृथिवी पर्यन्त क्रमशः अधिक सङ्कोच के कारण तीस तत्त्व उत्पन्न होते हैं । ये पाँच-पाँच तत्त्वों के छः समूह हैं—(जैसे—१. पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश । २. पञ्च कर्मेन्द्रियाँ । ३. पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ । ४. मन, अहङ्कार, बुद्धि, प्रकृति, पुरुष । ५. कला, विद्या, राग, काल, नियति । ६. शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव, शक्ति, शिव ।)

परमेश्वर ने संकुचित प्रमाता की भूमिका में इनका आभासन किया । इनमें पूर्व-पूर्व की अपेक्षा पर-पर व्यापक है और पर-पर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व व्याप्य है । जैसे पृथिवी की अपेक्षा जल उसकी अपेक्षा तेज, उसकी अपेक्षा वायु उसकी अपेक्षा आकाश व्यापक है । इसी प्रकार हर प्रघट्टक में जानना चाहिये । एक

सूत्रितवान् सङ्कुचितप्रमातृभूमिकायामिति । तदनुग्रहप्राप्ततत्स्वरूपेण योगिना गुरुणा शिष्यात्मनैकीभूय यथोक्तोद्घातव्याप्तियुक्त्या शिष्यचैतन्यस्य समग्रां भोगभूमिं विलाप्य, ज्ञानदीक्षया चिदादिशक्तिपञ्चात्मकत्वमेवापादयितव्यम् । अत एव पञ्चत्रिंशत्तत्त्वव्याप्तिसारसुसूक्ष्मपृथिव्यादीनीत्थं संशोध्यापि तत्संस्कारमयं समनापदमपि शोधयितुमाह—

समनायां ततो ह्यात्मा............

सुसूक्ष्मतमतत्त्वप्रपञ्चमननमात्ररूपायां समनाशक्तौ गुरुणा शिष्यात्मा तावन्मात्रभेदसंस्कारनिवृत्त्यर्थं योज्य इत्यर्थः ॥

एवं च—

............तत्त्वव्यापी स उच्यते।

अशेषतत्त्वप्रथमासूत्रणरूपं यत्समनाख्यं तत्त्वं तद्व्यापक इत्यर्थः ॥

इयति च संस्कारपर्यन्ते तत्त्वजाते संशुद्धे शुद्धात्मतामाप्नोतीत्याह—

प्रघट्टक की अपेक्षा दूसरा प्रघट्टक भी व्यापक है । अन्त में शिव सबका व्यापक है । इन सभी प्रघट्टकों में स्वच्छन्द भगवान् की शक्ति ही व्यक्त हो रही है । उस परमेश्वर के अनुग्रह को प्राप्त करने के कारण परमेश्वरस्वरूप योगी गुरु को चाहिये कि वह शिष्य की आत्मा से ऐक्य स्थापित करे । तत्पश्चात् पूर्वोक्त उद्घातव्याप्ति की युक्ति से शिष्य की आत्मा की समस्त भोगभूमियों का विलयन कर दे । तत्पश्चात् ज्ञानदीक्षा के द्वारा शिष्य के अन्दर चित् आनन्द इच्छा ज्ञान और क्रिया नामक पाँच शक्तियों का आरोपण करे । इसलिये ३५ तत्त्वों की व्याप्ति का सारभूत सूक्ष्म पृथिवी आदि तत्त्वों का संशोधन करने के बाद भी उन तत्त्वों के संस्कार से युक्त समना पद का भी शोधन करने के लिये कहते हैं—

इसके बाद आत्मा को समना में जोड़ना चाहिये ॥ ६७- ॥

समना सुसूक्ष्मतम तत्त्व के विस्तार का मनन है । गुरु (सूक्ष्म तत्त्वों के भी) भेदमय संस्कार को दूर करने के लिये शिष्य के चैतन्य को समना शक्ति से संयुक्त कर दे ॥

इस प्रकार—

वह (= शिष्य) तत्त्वव्यापी कहा जाता है ॥ -६७- ॥

(तत्त्वव्यापी होने का अर्थ है कि वह—) समस्त तत्त्वों का प्रथम आसूत्रण रूप जो समना नामक तत्त्व, उसका व्यापक हो जाता है ॥

संस्कारपर्यन्त इतने तत्त्वसमूह के शुद्ध होने पर शिष्य का चैतन्य शुद्ध हो जाता है—यह कहते हैं—

आत्मव्यापी ततश्चोर्ध्वे............

भवतीति शेषः ॥

एवमासादितपरशुद्धात्मस्वरूपोऽपि शिष्यात्मा ततोऽपि परां चिदादिशक्त्यभेदसारां परभैरवरूपतां समनन्तरवक्ष्यमाणयोजनिकाक्रमेणैतीत्याह—

............सर्वव्यापी ततः पुनः ॥ ६७ ॥

भवतीति शेषः ॥ ६७ ॥

अत्र योजनिकामासूत्रयितुमेकोद्घातरूपां युक्तिमाह—

तत्त्वान्तसंस्थितो ह्यात्मा उद्घातैकेन योगवित्।
योजयेत् परमे तत्त्वे उन्मनातीतसर्वगे ॥ ६८ ॥

तत्त्वोनामन्तः समनाया ऊर्ध्वं पदम् । उन्मनातीत इति तदनुभवानुप्रवेशेन शक्तिमत्स्वरूपासादनम् ॥ ६८ ॥

योजयेदित्युक्तिं स्फुटयति—

इसके बाद (शिष्य) आत्मव्यापी हो जाता है ॥ -६७- ॥

'भवति' = होता है यह जोड़ना चाहिए ।

उक्त रीति से यद्यपि शिष्य का चैतन्य परम शुद्ध हो गया है तथापि उससे भी उत्कृष्ट परभैरवरूपता को प्राप्त करना शेष है । यह परभैरवरूपता चित् आनन्द इच्छा ज्ञान क्रिया शक्तियों के साथ चैतन्य का अभेदरूप है । इस अभेदरूपता को योजनिका दीक्षा, जिसका वर्णन आगे किया जायेगा, के द्वारा प्राप्त किया जाता है—यह कहते हैं—

इसके पश्चात् (वह शिष्य आत्मव्यापी से) सर्वव्यापी हो जाता है ॥ -६७ ॥

हो जाता है—यह जोड़ना चाहिए ॥ ६७ ॥

अब योजनिकादीक्षा का वर्णन करने के लिये एकोद्घातरूपा युक्ति को बतलाते हैं—

योगी गुरु तत्त्वान्त (= समना) में स्थित शिष्यचैतन्य को एक उद्घात के द्वारा उन्मनातीत सर्वगामी परम तत्त्व में जोड़ दे ॥ ६८. ॥

(तत्त्वान्त शब्द की व्याख्या करते हैं—) तत्त्वों का अन्त अर्थात् समना से ऊर्ध्व में स्थित पद । उन्मनातीत — उस उन्मना के अनुभव में प्रवेश के द्वारा शिष्य शक्तिमान् (= स्वच्छन्दभैरव) के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है ॥ ६८ ॥

(अव्यवहितपूर्व श्लोक में कथित) 'योजयेत्' पद को स्पष्ट करते हैं—

योजनां तु परे तत्त्वे शृणु देवि वदाम्यहम् ।

अनयोक्त्यास्यार्थस्यावधानगम्यत्वं दर्शयति—

मन्त्रमुच्चारयेद् देवि ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं परम् ॥ ६९ ॥
परापरविभागेन यावत्तत्वं परं गतम् ।

ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्ममिति समनन्तरमेव पञ्चप्रणवाधिकारेऽकारोकार-मकारबिन्दुनादमात्राणां प्रत्येकं प्रणवैकदेशभूतानामपि—

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तः ।'

इति स्थित्या प्रणवत्वमिति वक्ष्यति । ततो ह्रस्वं मन्त्रमुच्चारयेदित्यादि सामानाधिकरण्यं युक्तमेव । परापरविभागेनेति सूक्ष्मातिसूक्ष्मभेदेनेत्यर्थः । परमुन्म-नातीतं गतं प्राप्तम् ॥

तदत्र—

त्रिदेवं बिन्दुसंयुक्तमर्धचन्द्रं निरोधिकाम् ॥ ७० ॥
नादं च शक्तिसंयुक्तं व्यापिनीसमनोन्मनाः ।

हे देवि ! शिष्यचैतन्य की परतत्त्व में योजना को मैं बतला रहा हूँ उसे सुनो ॥ ६९- ॥

इस उक्ति के द्वारा यह बतलाते हैं कि यह योजना अत्यन्त ध्यान से सुनने पर ही समझ में आती है—

हे देवि ! मन्त्र का पर अपर विभाग से ह्रस्व दीर्घ प्लुत पर (= सूक्ष्म अतिसूक्ष्म) उच्चारण तब तक करना चाहिये जब तक कि परतत्त्व का ज्ञान न हो जाय ॥ -६९-७०- ॥

ह्रस्व दीर्घ प्लुत सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म—थोड़ा पहले पञ्चप्रणव के अधिकरण में अकार उकार मकार बिन्दु और नाद मात्रायें यद्यपि प्रणव के एक अंश हैं तथापि—

'ब्रह्म (= प्रणव) का एक देश भी उसकी सर्वरूपता का अतिक्रमण नहीं करता अर्थात् उसका एक अंश भी पूर्ण प्रणव है ।'

इस नियम के अनुसार उसका एक-एक अंश भी प्रणव है—यह आगे कहेंगे । इस कारण मन्त्र का ह्रस्व उच्चारण करना चाहिये इत्यादि सामानाधिकरण्य (= ह्रस्वं मन्त्रं उच्चारयेत् दीर्घ मन्त्रं उच्चारयेत् इत्यादि) युक्त है । परापरविभाग से = सूक्ष्म अतिसूक्ष्म भेद से । पर = उन्मनातीत । गत = प्राप्त ॥

इस सन्दर्भ में—

त्रिदेव, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना को जानना चाहिये ॥ -७०-७१- ॥

जानीयादिति शेषः । त्रयाणां ब्रह्मादीनां देवानां समाहारो यत्र अकारोकार-मकारात्मनि कलात्रये तत्तथा ॥ ७० ॥

किं च—

उन्मना च परश्चैव सर्वव्यापी शिवोऽव्ययः ॥ ७१ ॥

ज्ञातव्य इति शेषः । यथा चात्र ज्ञानं यादृशं च तत्सर्वं पूर्वमेव वितत्य निर्णीतम् ॥ ७१ ॥

तदित्थम्—

ज्ञात्वा सर्वमशेषेण विधिमेषां यथाक्रमम् ।
तदा तु योजयेन्मन्त्री अन्यथा नैव योजयेत् ॥ ७२ ॥

सर्वमिति पूर्वोक्तचारप्रमाणादिपरिष्कृतमेषां मान्त्रप्रमेयानां विधिं सम्यगुच्चारणम-शेषेण निश्चयनिरूढ्यनुभवैः । अत एव मन्त्री सम्यङ्मन्त्रसतत्त्ववित् ॥ ७२ ॥

तमेव विधिं स्फुटयति—

बिन्दुस्थं त्रितयं शब्दे................

जानना चाहिए—यह जोड़ना चाहिए । तीन देव = ब्रह्मा विष्णु रुद्र का जो समूहभूत अकार उकार मकार रूप तीन कलाओं में होता है वह त्रिदेव कहलाता है ॥ ७० ॥

इसके अतिरिक्त—

उन्मना अथवा पर तत्त्व को सर्वव्यापी अव्यय शिव समझना चाहिये ॥ -७१ ॥

जिस उपाय से जिस प्रकार का ज्ञान यहाँ होता है वह सब पहले ही विस्तार से बतला दिया गया ॥ ७१ ॥

तो इस प्रकार—

इनकी समस्त विधियों को पूर्णतया और क्रमानुसार जान कर ही मंत्रज्ञ गुरु शिष्य के चैतन्य की योजना करे । यदि इनमें से किसी भी प्रकार की न्यूनता हो तो योजना नहीं करनी चाहिये ॥ ७२ ॥

सब को = पूर्वोक्त प्राणचार और उसके ह्रस्व आदि प्रमाण आदि को । इनकी = मन्त्रसम्बन्धी प्रमेयों की । विधि को = सम्यक् उच्चारण को । अशेषतया = निश्चय निरूढ़ि के अनुभवों के द्वारा जानकर । इसीलिये गुरु को मन्त्री = मन्त्रतत्त्व का सम्यक् वेत्ता कहा गया है ॥ ७२ ॥

उसी विधि को स्पष्ट करते हैं—

मन्त्रप्रमेयानां यन्मकारान्तं त्रितयं तद् बिन्दुस्थं विद्वदनुभवात्मतामापादितं सत् शब्दे नादात्मनि कुर्यात् तन्मयत्वमापादयेत् ॥

यस्मात्—

............चतुर्थो बिन्दुरेव हि ।

तस्मात् तद्विश्रान्तिपुरःसरमेव नादविश्रान्तं मकारान्तं त्रयं कुर्यात् ॥

तदेतत्त्रयम्—

ब्रह्मा विष्णुस्तथा रुद्रः............

वाच्यभेदात् ॥

एतच्च—

............त्रिमात्रं वर्ण उच्यते ॥ ७३ ॥

मात्रात्रयमेतदुच्चारणक्रियात्मकतया, वर्ण इत्यक्षररूपतया स्थूलमित्यर्थः ॥ ७३ ॥

तीन के समूह को बिन्दु में स्थित करते हुए शब्द में ले जाना चाहिये ॥ ७३- ॥

मन्त्रप्रमेयों का जो मकारान्त (= अ उ म्) तीन का समूह उसको बिन्दु में स्थापित करना चाहिये अर्थात् विद्वान् गुरु शिष्य को उसका अनुभव कराये । तत्पश्चात् उसे नादरूप शब्दमय बना दे ॥

क्योंकि—

चौथा तत्त्व बिन्दु ही है ॥ -७३- ॥

इसलिये उसमें विश्राम करने के बाद मकारान्त तीनों को नाद में विश्रान्त कराना चाहिये ॥

यह तीन (= अ उ और म्)—

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हैं ॥ -७३- ॥

वाच्य के भेद से ॥

और यह तीन का समूह—

तीन मात्रा वाला तथा वर्ण कहा जाता है ॥ -७३ ॥

उच्चारणक्रियात्मकता को ध्यान में रख कर इसकी तीन मात्रायें कही गयी हैं । अक्षररूप होने के कारण इसे वर्ण कहा जाता है । वर्ण स्थूल होता है (जब कि मात्रायें सूक्ष्म होती हैं) ॥ ७३ ॥

चतुर्थस्तु—

ईश्वरो बिन्दुदेवस्तु............

तत्परामर्शमय इत्यर्थः ॥

तदित्थं मन्त्रोच्चारं यः करोति—

............कण्ठे शब्दः प्रवर्तते ।

तस्य हृदयादुच्चरन्नादकलात्मकमन्त्रसतत्त्वरूपः शब्दः कण्ठे प्रकर्षेण वर्तते, ततः प्रभृति पञ्चप्रणवाधिकारवक्ष्यमाणनीत्या उच्चार्यतामासादयतीत्यर्थः ॥

स च—

तत्र शब्दः क्रियान्तस्थः............

उच्चारणक्रियान्तर्गतः पश्यन्त्यात्मकशब्दरूपः, न तु मध्यामवैखरीव्यङ्ग्य इत्यर्थः ॥

अत एवासौ—

..........क्रियाशक्तिरिति स्मृता ॥ ७४ ॥

तदित्थमुच्चारणप्रयत्नगतः—

चौथा—

बिन्दुदेव ईश्वर है ॥ ७४- ॥

अर्थात् उस (= ईश्वर) के परामर्श वाला है ॥

तो इस प्रकार जो मन्त्र का उच्चारण करता है उसके—

कण्ठ में शब्द उत्पन्न होता रहता है ॥ -७४- ॥

उसके हृदय से उच्चरित होता हुआ नादकलात्मकमन्त्र रूप शब्द कण्ठ में उत्कृष्ट रूप से वर्त्तमान होता है । उसके बाद से शिष्य पञ्चप्रणवाधिकार में कही जाने वाली रीति के अनुसार उच्चार्यता को प्राप्त होता है ॥

और वह—

शब्द वहाँ क्रिया के अन्तर्गत होता है ॥ -७४- ॥

वह (शब्द) उच्चारण क्रिया के अन्तर्गत पश्यन्ती शब्दरूप होता है न कि मध्यमा अथवा वैखरी से व्यङ्ग्य होता है ॥

इसीलिये यह—

(परमेश्वर की) क्रिया शक्ति कहा गया है ॥ -७४ ॥

स शब्दस्तालुके देवि ईरितः सम्प्रवर्तते ।

तस्य (= उच्चारयितुः तालुके इत्यर्थात्)

ततोऽपि—

किञ्चिद्गतः शब्दो नासिकान्ते प्रवर्तते ॥ ७५ ॥

नासिकान्तो भ्रूमध्यम् । तदेतावत्पर्यन्ता मान्त्री क्रियाशक्तिव्याप्तिः ॥ ७५ ॥

अथ—

ज्ञानशक्तिस्तु विज्ञेया यत्नतः परमेश्वरि ।
मूर्धस्थानगतः शब्दो ललाटान्तमवस्थितः ॥ ७६ ॥

यदा स एव शब्दो योगिनः पूर्वोक्तात् नासापुटादिप्रयोगरूपाद्यत्नान्मूर्धस्थानतोऽर्धचन्द्रादिस्थानान्युक्तोद्घातयुक्त्यारोहँल्ललाटान्तमवस्थितो भवति, तदा सूक्ष्मरूपतोपसंहारादनुभवप्रकर्षमापन्नो ज्ञानरूपतामेतीत्यर्थः ॥

तदित्थं बिन्द्वादिरूपतामासाद्याकारोकारमकारात्मा—

वर्णः शब्दगतः............

इस प्रकार उच्चारणरूप प्रयत्न को प्राप्त—

वह शब्द, हे देवि ! प्रेरित होकर तालु में चला जाता है ॥ ७५- ॥

उसके (अर्थात् उच्चारणकर्त्ता के तालु में)—

उसके बाद—

थोड़ा सा वह शब्द नासिकान्त में चला जाता है ॥ -७५ ॥

नासिकान्त में = भ्रूमध्य में । इस प्रकार यहाँ तक मन्त्र की क्रियाशक्ति की व्याप्ति है ॥ ७५ ॥

इसके बाद—

हे परमेश्वरि ! प्रयत्नपूर्वक ज्ञानशक्ति को समझना चाहिये । जब शब्द मूर्धस्थान में पहुँच कर ललाटान्त में स्थित होता है (तब वह ज्ञान रूप हो जाता है) ॥ ७६ ॥

जब वही शब्द योगी के पूर्वोक्त नासापुट आदि के प्रयोगरूप प्रयत्न के कारण पूर्वोक्त उद्घातयुक्ति के द्वारा मूर्धास्थान से लेकर अर्धचन्द्र आदि स्थानों में प्रविष्ट होता हुआ ललाट के अन्त में स्थित होता है तब अपनी सूक्ष्मरूपता के उपसंहार के कारण अनुभव के प्रकर्ष को प्राप्त हुआ वह ज्ञानरूप हो जाता है ॥

इस प्रकार बिन्दु आदि रूप होकर अकार उकार मकार वाला—

शब्दं नादात्मतां गतस्तद्रूपतामाप्तः ॥

तथाभूतश्च—

.....तेषामुद्घातः स तु कीर्तितः ।

तेषामिति बिन्द्वन्तानाम्, स एव नादकलानुभवात्मा शब्दः पञ्चादिभेदेन भिन्न उद्घातः पूर्वमुक्तो न त्वन्यः कश्चित् ॥

एवमियतीं भूमिं मान्त्रीमाश्रित्यापि—

तत्रस्था विनिवर्तन्ते............

ये ऊर्ध्वां शक्त्यादिसोपानमालिकामनारुह्य तत्रैव संतुष्यन्ति, ते—

..........शिवज्ञानविवर्जिताः ॥ ७७ ॥

नादतुष्टाः परमानन्दमयशिवज्ञप्तिसाधकतमां मान्त्रीमिच्छाशक्तिमेव नाविशन्ति, कुतस्तु शिवम्, अत उत्तरोत्तरपदारोहे यत्नः कार्य इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

अथात्रैव बिन्द्वादिपदेषु सूक्ष्मतमानुभवगम्यं भाविनमेवान्तरं प्रविभागं

(वह) वर्ण शब्द (= नाद) बन जाता है ॥ ७७- ॥

('शब्दगत' पद की व्याख्या करते हैं—) शब्द = नादरूपता, को गत = प्राप्त हो जाता है ।

वैसा हुआ (= नादरूपता को प्राप्त हुआ शब्द)—

उनका उद्घात कहा गया है ॥ -७७- ॥

उनका = बिन्दुपर्यन्त परिवर्त्तित वर्णों का । वह = नादकला के अनुभव के रूप में परिवर्त्तित शब्द पञ्च आदि भेद से भिन्न होता हुआ पहले कहा जा चुका उद्घात है । यह कोई दूसरे प्रकार का उद्घात नहीं है ॥

इस प्रकार यहाँ तक की मन्त्रभूमि को प्राप्त कर भी—

(जो योगी) उसी को अन्तिम लक्ष्य मान कर वहीं रुक जाते हैं वे पुनः नीचे स्तरों में वापस आ जाते हैं ॥ -७७- ॥

जो (मन्त्रभूमि से) ऊर्ध्व में वर्त्तमान शक्ति आदि सोपानपरम्परा पर आरोहण न कर वहीं पर सन्तुष्ट हो जाते हैं वे—

शिवज्ञान से रहित ही रह जाते हैं ॥ -७७ ॥

नादभूमिका में पहुँच कर सन्तुष्ट हुए वे लोग परमानन्दमय शिवज्ञान की साधकतमा मन्त्रसम्बन्धिनी इच्छाशक्ति में ही प्रवेश नहीं कर पाते शिव तक पहुँचने की तो बात ही क्या । इसलिये उत्तरोत्तर पद में आरोहण के लिये यत्न करना चाहिये—यह तात्पर्य है ॥ ७७ ॥

दर्शयितुमाह—

पञ्चधावस्थितो बिन्दुरर्धचन्द्रो निरोधिका।

भुवनाध्वनि बिन्द्वावरणस्य निरूपणावसरे वक्ष्यति—

'निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
परिवार: स्मृतस्तस्य शान्त्यतीतस्य सुव्रते ॥
तस्य वामदिशो भागे शान्त्यतीता व्यवस्थिता ।'
(१०।१२१७-१८) इति ।

तथा

'ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती कान्ति: सुप्रभा विमला शिवा ।
अर्धचन्द्रे स्मृता ह्येता निरोध्यंशे तु सुव्रते ॥
रुन्धनी रोधनी रौद्री ज्ञानबोधा तमोपहा ।'
(१०।१२२०-२१) इति ।

एवमेषां पञ्चधावस्थितत्वम् ॥

अथ—

तस्यातीतो भवेन्नाद:...............

अब यहीं पर बिन्दु आदि स्तरों पर सूक्ष्मतम अनुभव के द्वारा जानने योग्य भावी अवान्तर प्रविभाग को दिखलाने के लिये कहते हैं—

बिन्दु अर्धचन्द्र और रोधिनी ये तीनों पाँच प्रकार से स्थित हैं ॥ ७८- ॥

(इन प्रकारों को) भुवनाध्वा में बिन्दु के आवरण के निरूपण के अवसर पर बतलायेंगे—

'हे सुव्रते ! निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ता तथा उस बिन्दु आवरण के वाम भाग में स्थित शान्त्यतीता ये कलायें शान्त्यतीत उस (= बिन्दु आवरण में स्थित देव) का परिवार कही गयी हैं ।' (१०।१२२०-२१)

तथा—

'ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावती, कान्ति, सुप्रभा, कल्याणकारिणी विमला ये अर्धचन्द्र से स्थित मानी गयी हैं । हे सुव्रते! रोधिनी में सन्धनी रोधिनी, रौद्री, ज्ञानबोधा, तमोपहा स्थित हैं ।' (१०।१२२०-२१)

इस प्रकार इनकी पाँच प्रकार की स्थिति है ॥

इसके बाद—

उसके परे नाद है ॥ -७८- ॥

तस्येति निरोध्यनुभवपर्यन्तव्याप्तिकबिन्दुदेवस्य, तं बिन्दुदेवमतीत: सन् स वर्णो नादो भवति नादामर्शरूपतामेति । तमिति वक्तव्ये तस्येत्युक्तिर्बिन्दोरेवेयं नादरूपतापत्तिरेवमुत्तरत्रापि पूर्वपूर्वावस्थैवोत्तरोत्तरं प्रकर्षमेतीत्याशयेन षष्ठी योज्या ॥

एतदनुभवे युक्तिमाह—

.........अवच्छिन्नस्त्वसौ भवेत् ॥ ७८ ॥

ईषत्प्रसारिते वक्त्रे.............

पूर्वोक्तदिव्यकरणबन्धेनावच्छिन्नतामेतीत्यर्थ: ॥

एष च—

.............देवदेव: सदाशिव: ।

देवस्य द्योतनसतत्त्वस्य बिन्दोरपि, देव: सातिशयदीप्त: प्रभुश्च ॥

एष च नादरूप:—

चतुर्विधो भवेच्छब्दो य: सुवेगवह: स्मृत: ॥ ७९ ॥

नादावरणे वक्ष्यति—

उसके = निरोधिका के अनुभव तक व्याप्ति वाले बिन्दु के । उसके = बिन्दु के परे वह वर्ण नाद हो जाता है अर्थात् नादामर्शरूपता को प्राप्त हो जाता है । 'तम्' कहने के स्थान पर 'तस्य' कहने का अर्थ है कि बिन्दु ही नादरूप हो जाता है । इसी प्रकार यह भी समझना चाहिये कि जो उत्तरोत्तर अवस्था है वह पूर्व-पूर्व अवस्था का ही प्रकृष्ट रूप है । षष्ठी विभक्ति का प्रयोग इसी आशय से करना चाहिये ॥

इसके अनुभव में तर्क देते हैं—

साधक जब अपने मुख को थोड़ा सा फैलाता है तो यह (= बिन्दु) अवच्छिन्न (= सीमित) हो जाता है ॥ -७८-७९- ॥

अर्थात् पूर्वोक्त दिव्यकरण बन्ध के कारण अवच्छिन्न हो जाता है ॥

और यह—

देवाधिदेव सदाशिव हैं ॥ -७९- ॥

देव = द्योतनशील बिन्दु, का भी देव = उससे बढ़ कर दीप्तिमान एवं समर्थ है ॥

यह नादरूप—

शब्द चार प्रकार का होता है जो कि अत्यन्त वेगवान् माना गया है ॥ -७९ ॥

'इन्द्रिका दीपिका चैव रोधिका मोचिका तथा ।' (१०।१२२६)

इति । एताभिः शक्तिभिरस्य चतुर्विधत्वम् ॥ ७९ ॥

ननु च—

'ऊर्ध्वगा तु समाख्याता कला त्वासां तु पञ्चमी ।' (१०।१२२९)

इति भविष्यति, तत्कथमस्य चातुर्विध्यम्, सत्यं तस्यास्तु न शब्दव्याप्तिरित्याह—

पञ्चमो न वहेच्छब्दः..............

यः पञ्चमः प्रकारो नासौ शब्दरूपतया वहतीत्यर्थः ॥

कथं तर्हि भवति?—इत्याह—

............ऊर्ध्वगामिन्यसौ स्मृता ।

नादोर्ध्वगतेच्छाव्याप्त्यवस्थितो यः शक्तेः संस्पर्शस्तदभिन्नत एव नादान्तोऽव्यक्तध्वनिरिति चोच्यते इत्यर्थः ॥

अथ—

नाद के आवरण वाले प्रकरण में (भेदों को) बतलायेंगे—

'इन्धिका, दीपिका, रोधिका और मोचिका (१०-१२२६)

इन चार शक्तियों के कारण यह नादशब्द चार प्रकार का है ॥ ७९ ॥

प्रश्न—

'इनमें से पाँचवीं कला ऊर्ध्वगा कही गयी है ।' (१०-१२२९)

इस कथन के अनुसार एक पाँचवीं कला भी है तो इस नादावरण को चार ही प्रकार का क्यों कहा गया? (आपका कथन) सत्य हैं किन्तु उस (पाँचवीं कला) की शब्दव्याप्ति नहीं है—यह कहते हैं—

पञ्चम नाद शब्द रूप में प्रवाहित नहीं होता ॥ ८०- ॥

जो पञ्चम प्रकार वाला शब्द है वह शब्द के रूप में प्रवाहित नहीं होता ॥

तो फिर कैसा होता है ?—उत्तर देते हैं—

यह कला ऊर्ध्वगामिनी मानी गयी है ॥ -८०- ॥

नाद के ऊपर वर्त्तमान इच्छा की व्याप्ति में स्थित जो शक्ति का संस्पर्श है, नादान्त उससे अभिन्न है अर्थात् वह अव्यक्त ध्वनि कही जाती है ॥

इसके बाद—

तस्यातीता भवेच्छक्तिः................

तमपि नादयतीत्यर्थः ॥

सा च—

............पञ्चधा तु व्यवस्थिता ॥ ८० ॥

तद्वक्ष्यति—

'ऊर्ध्वे तु संस्थिता शक्तिः सुषुप्तभुजगाकृतिः ।' (१०।१२४१)

इत्युपक्रम्य

'सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च तथा चैवामृतामिता ॥
व्यापिनी' (१०।१२४२) इति ॥ ८० ॥

अत्र शब्दव्याप्तेः क्षीणत्वात् कीदृगनुभव इत्याह—

स्पर्शस्तत्र भवेद् देवि............

ह्लादात्मेति शेषः ॥

किं च—

और शक्ति उससे भी परे है ॥ -८०- ॥

अर्थात् उस ध्वनि को भी निनदित करती है ।

और वह (= शक्ति)—

पाँच प्रकार से स्थित है ॥ -८० ॥

उसे आगे बतलायेंगे—

'वह शक्ति (नादान्त के) ऊपर एक सोये हुए सर्प की भाँति स्थित है ।' (१०।१२४१)

यहाँ से प्रारम्भ कर—

(वह शक्ति) सूक्ष्मा, सुसूक्ष्मा, अमृता, अमिता और व्यापिनी नाम से जानी जाती है ॥ (१०।१२४२)

यहाँ तक वर्णन किया गया है ॥ ८० ॥

यहाँ शब्दव्याप्ति के क्षीण हो जाने के कारण कैसा अनुभव होता है ?—यह कहते हैं—

हे देवि ! वहाँ केवल स्पर्श का अनुभव होता है ॥ ८१- ॥

यह स्पर्श आनन्दस्वरूप होता है ॥

..............आत्मवित्तत्र पूर्ववत् ।

तत्र शक्तिपदे य आत्मवित् शक्त्यनुभवतुष्टः स पूर्ववदिति शिवपदं प्राप्नोतीति यावत् । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥

अथातः—

व्यापिनी परतश्चैव पञ्चधा तु व्यवस्थिता ॥ ८१ ॥

सोऽपि स्पृशन्नूर्ध्वपदमारुरुक्षुर्योगिनो व्याप्तिमयान् व्यापिनीरूपो भवति । तत्र च—

'व्यापिनी व्योमरूपा चानन्तानाथाप्यनाश्रिता ।' (१०।१२५२)

इति वक्ष्यमाणसूक्ष्मतमशक्तिपञ्चकानुभवोऽस्ति ॥ ८१ ॥

अत्र च—

बालाग्रमाश्रितं स्पर्शं कदाचिद्वेत्ति वा न वा ।

कदाचिदिति तत्पदारोहावसरे त्वशेषस्पर्शं वेत्ति, न वेति तदारोहप्रकर्षे

यहाँ (= इस स्थिति में) आत्मवेत्ता की दशा पूर्व की भाँति ही रहती है ॥ -८१- ॥

उस शक्तिस्तर पर जो आत्मवेत्ता होता है अर्थात् शक्ति के अनुभव से सन्तुष्ट रहता है, वह पूर्व की भाँति शिवपद को प्राप्त करता है । इसी प्रकार आगे भी जोड़ लेना चाहिये ॥

इसके बाद इससे (= शक्ति से)—

परे व्यापिनी पाँच प्रकार से स्थित है ॥ -८१ ॥

वह (= आत्मवेत्ता उससे भी) ऊर्ध्ववर्त्ती पद पर आरोहण की इच्छावाला हो कर योगी के व्याप्तिमय रूप का स्पर्श करता हुआ व्यापिनीरूप हो जाता है । और वहाँ पर—

'व्यापिनी व्योमरूपा अन्तहीना, अनाथा और अनाश्रिता है ।' (१०।१२५२)

इस वक्ष्यमाण सूक्ष्मशक्तिसमूह का अनुभव होता है ॥ ८१ ॥

और यहाँ—

यहाँ का स्पर्श बाल के अग्रभाग के स्पर्श जैसा होता है । योगी कभी उसका अनुभव कर लेता है कभी नहीं भी करता ॥ ८२- ॥

'कभी' का तात्पर्य है कि व्यापिनी स्तर पर आरोहण के अवसर पर वह उसके स्पर्श का अनुभव करता है । 'कभी नहीं' का अर्थ यह है कि जब उस आरोहण

व्याप्तिमात्रमेवानुभवति, न तु पृथक् स्पर्शमित्यर्थः ॥

तदित्थम्—

व्यापिनी सा समुद्दिष्टा न ज्ञानं परमेश्वरि ॥ ८२ ॥

यदेतत् स्पर्शं वेत्ति न वेत्युक्तम्, सा व्यापिनीत्युपसंहृतं न ज्ञानमिति, नैषा ज्ञानशक्तिरपि तु इच्छाशक्तिरित्यर्थः ॥ ८२ ॥

अथ—

तस्यापि समनातीता.............

तदपि व्यापिनीज्ञानमतिक्रम्य स्थितेत्यर्थः ॥

'समनं क्रमविज्ञानमुन्मनं युगपत्' (४।३९४)

इत्युक्तत्वादुन्मनानुभवं प्रविविक्षुः—

..............मनस्तत्र न कारयेत् ।

न तत्रैव तुष्येदित्यर्थः । तदियतीयमिच्छाशक्तिव्याप्तिर्मान्त्रीत्यवसेयम् ॥

समनायां भावाभावात्मनो विश्वस्य भेदस्यासूत्रणाद् हेयत्वमस्तीति तामतिक्रम्य—

की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तब सम्पूर्ण व्याप्ति का अनुभव करता है न कि पृथक् स्पर्श का ॥

इस प्रकार—

हे परमेश्वरि ! उसे व्यापिनी कहा गया है ज्ञान नहीं ॥ -८२ ॥

योगी इसके स्पर्श को जानता भी है और नहीं भी जानता इसी कारण यह व्यापिनी कही गयी है ज्ञान नहीं । अर्थात् यह परमेश्वर की ज्ञानशक्ति नहीं है अपि तु इच्छा शक्ति है ॥ ८२ ॥

इसके बाद—

उससे भी परे समना स्थित है ॥ -८३ ॥

उस (= व्यापिनी ज्ञान स्तर) को अतिक्रान्त कर समना स्थित है ॥

'समना क्रमिक ज्ञान है जब कि उन्मना युगपद् ज्ञान है ।' (४।३९४)

इस कथन से उन्मना के अनुभव में प्रवेश करने का इच्छुक साधक को—

मन को वहाँ (= उन्मना में) नहीं लगाना चाहिये ॥ -८३- ॥

अर्थात् उसी दशा में सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये । तो इस प्रकार यह निश्चित हो गया कि यहाँ तक इतनी इच्छाशक्ति की व्याप्ति मान्त्री है ॥

उन्मनापदमारोहन्...............

मध्ये केवलात्मतामनुभवतीत्याह—

...........शुद्धात्मा तु ततो भवेत् ॥ ८३ ॥

तदित्थं शुद्धचैतन्यस्वरूपसामरस्य(मा)पन्नम्—

शिष्यात्मानं गुरुवर उन्मन्यन्ते नियोजयेत् ।

उन्मन्यामन्ते चेति समासः । स्वातन्त्र्यशक्तिसामरस्यात्मनि स्वतन्त्रभट्टारकसंवेदने विश्रमयेत् तत्समावेशाभिज्ञ इत्यर्थः ॥

एवं च—

तत्र युक्तः परे शान्ते महाशान्तिमवाप्नुयात् ॥ ८४ ॥

युक्त एकत्वं प्राप्तः । समस्तस्य भेदकलङ्कस्य गलनात् परं शान्तत्वम् ॥

तदित्थम्—

गुरुपारम्परायातः सम्प्रदायः प्रकाशितः ।

समना स्तर में भाव और अभाव स्वरूप भेद के होने से विश्व हेय हो जाता है इसलिये उस (= समना) का अतिक्रमण कर (योगी)—

उन्मना पद पर आरूढ होता हुआ ॥ -८३- ॥

मध्यदशा में केवलात्मता का अनुभव करता है—यह कहते हैं—

इसके बाद साधक शुद्धआत्मस्वरूप हो जाता है ॥ -८३ ॥

इस प्रकार शुद्धचैतन्यस्वरूप सामरस्य को प्राप्त—

शिष्यचैतन्य को गुरु उन्मनी और (उसके) अन्त में नियोजित करना चाहिए ॥ ८४- ॥

('उन्मन्यन्ते' पद का विग्रह करते हैं—) उन्मनी में और अन्त में । उस (= शिव) के समावेश का ज्ञाता गुरु (शिष्य चैतन्य को) स्वातन्त्र्यशक्ति के सामरस्यरूप स्वतन्त्रभट्टारक के संवेदन में विश्रान्त कराये ॥

और इस प्रकार—

उस परम शान्त पर तत्त्व में नियुक्त (शिष्य चैतन्य) महाशान्ति को प्राप्त करता है ॥ -८४ ॥

नियुक्त = उसके साथ एकत्व का प्राप्त । समस्त भेदकलङ्क का नष्ट हो जाना परमशान्ति का कारण है—

तो इस प्रकार—

परम्परैव पारम्परम्, गुरूणां शक्तिसदाशिवश्रीकण्ठादीनां पारम्परेणायातो रहस्यानुभवसञ्चारक्रमेण मया विदितः, सम्यग् दीक्षणादिपूर्वं शक्तिपातभाजां प्रदीयत इति सम्प्रदायः, प्रकाशितः, तवापि संक्रमणयुक्तिपूर्वं मया कथित इत्यर्थः । तदेवं गुरुतो लब्धोऽपि सम्प्रदायो यथारूढिमापन्नो गुर्वन्तरैः शिष्याणां सम्पाद्यते ॥

तत्र—

योजने तु परे तत्त्वे उपायः कथितस्तव ॥ ८५ ॥

'ज्ञात्वा चारप्रमाणं तु प्राणसञ्चारमेव तु' (४।२३१)

इत्यादिना चतुर्थपटल एवेत्यर्थः ॥ ८५ ॥

तदित्थं सर्वोत्तममिमं सम्प्रदायम्—

एवं ज्ञात्वा वरारोहे सर्वकर्माणि कारयेत् ।

सर्वासु व्यवहारदशासु परिमाणमाहात्म्य एव तिष्ठेदिति यावत् । आचार्यसाधकादींश्च स्वोचितेषु कर्मस्वेतज्ज्ञानपूर्वकमेव प्रयुञ्जीतेत्यर्थः । वरारोह इति

(मैंने) गुरुपरम्परा से प्राप्त सम्प्रदाय को प्रकाशित किया ॥ ८५- ॥

('पारम्पर' शब्द की व्याख्या बतलाते हैं—) परम्परा ही पारम्पर है । (यहाँ परम्परा शब्द से स्वार्थ में 'अण्' प्रत्यय हुआ) । गुरु = शक्ति सदाशिव श्रीकण्ठ आदि, की परम्परा से आया हुआ = रहस्यानुभवसंचार के क्रम से मेरे द्वारा जाना गया है । ('सम्प्रदाय' शब्द को स्पष्ट करते हैं) सम्यक् = दीक्षा आदि संस्कार-सम्पादन के बाद शक्तिपातप्राप्त लोगों को जो दिया जाय, वह सम्प्रदाय कहलाता है । प्रकाशित किया गया = तुमको भी मैंने संक्रमण युक्ति से बतला दिया है । इस प्रकार गुरु से प्राप्त भी सम्प्रदाय रूढ़ि को प्राप्त होकर दूसरे गुरुओं के द्वारा शिष्यों को दिया जाता है ॥

उस प्रकरण में—

मैंने परतत्व में योजना का उपाय तुमको बतला दिया ॥ -८५ ॥

'चार के प्रमाण और प्राण के संचार को जानकर ।' (४।२३१)

इत्यादि के द्वारा चतुर्थ पटल में ही बतला दिया गया ॥ ८५ ॥

तो इस प्रकार इस सर्वोत्तम सम्प्रदाय को—

हे वरारोहे ! इस प्रकार जान कर (गुरु को) समस्त कर्मों को कराना चाहिए ॥ ८६- ॥

गुरु को चाहिये कि सम्पूर्ण व्यवहारदशाओं में वह परिमाण के माहात्म्य में रहे

प्राग्वत् ॥

एवं तत्त्वदीक्षाप्रसङ्गोक्तेयं ज्ञानदीक्षा अन्याध्वदीक्षास्वपि कर्तव्या इति भङ्ग्या शिक्षां ददाति—

तत्त्वाध्वानं कलाध्वानं भुवनाध्वानमेव च ॥ ८६ ॥
वर्णमन्त्रपदाध्वानं कृत्वैवं शुध्यति प्रिये ।

यथान्तर्भावितापराध्वपञ्चकं तत्त्वाध्वानमेवं कृत्वा इत्युद्घातपूर्वं परे तत्त्वे योजयित्वा शुद्ध्यति परभैरवतामाप्नोति, गुरुः शिष्यात्मना सह, तथान्यमप्यध्वानमेवमेव कृत्वा शुद्ध्यतीत्यर्थः ॥

उपसंहरति—

एषा वै धारणादीक्षा.............

विज्ञानदीक्षामित्युपक्रम्यापि प्रोक्तधारणाक्रमेण क्रियमाणत्वाद् धारणादीक्षेत्युपसंहारेऽपि न दोषः ॥

नैषा सर्वेण गुरुणा कार्येत्यभिदधद्भाविपटलमप्यवतितारयिषुः पाटलिकीं सङ्गतिं करोति—

अर्थात् वह इसको जानने के बाद आचार्य और साधक आदि को उनके उचित कर्मों में लगाये । 'वरारोहे' शब्द का अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये ॥

इस प्रकार तत्त्वदीक्षा के प्रसङ्ग में उक्त यह ज्ञानदीक्षा अन्य अध्वदीक्षाओं में भी की जानी चाहिये । इस कारण भङ्गिमा (= प्रकारान्तर) से शिक्षा देते हैं—

तत्त्वाध्वा कलाध्वा और भुवनाध्वा (ये देश अध्वा कहे जाते हैं, इनको तथा) वर्ण मन्त्र और पद अध्वा (जिनको कालाध्वा भी कहते हैं) को इस प्रकार करके (शिष्य चैतन्य) शुद्ध होता है ॥ -८६-८७- ॥

जिस प्रकार अन्य पाँच अध्वा को अन्तर्भावित किये गये तत्त्व अध्वा को, इस प्रकार करके = उद्घात करने के अनन्तर पर तत्त्व में योजना करने के बाद गुरु शिष्यात्मा के साथ शुद्ध होता है अर्थात् परभैरवता को प्राप्त होता है उसी प्रकार अन्य अध्वा के विषय में भी यही रीति अपना कर शिष्यात्मा शुद्ध हो जाता है ॥

(प्रस्तुत प्रकरण का) उपसंहार करते हैं—

यह धारणा दीक्षा है ॥ -८७- ॥

'यद्यपि विज्ञानदीक्षाम्' कह कर प्रारम्भ किया था तो भी उक्त धारणाक्रम से क्रियमाण होने के कारण 'धारणा दीक्षा' कह कर उपसंहार करने में कोई दोष नहीं है ॥

यह सब प्रकार के गुरुओं के द्वारा करणीय नहीं है ऐसा कहते हुए अगले पटल की अवतारणा की इच्छा से इस पटल की उसके साथ सङ्गति बैठाते हैं—

.............कर्तव्या योगिनात्र तु ॥ ८७ ॥
मन्त्रसिद्धेन वा देवि.............

योगिना परसमावेशाभिज्ञेन । यदि वा अत्र तन्त्रे समनन्तरपटलवक्ष्यमाणसाधनक्रमेण यो मन्त्रसिद्धस्तेन कर्तव्या, द्वयोरप्यत्र सामर्थ्याविशेषात्, तदन्यस्य त्वनधिकारात् ।

इत्थमियम्—

.............कृता वै सुकृता भवेत् ॥ ८८ ॥

सम्यङ्निवृत्तिमासादयत्येव ॥

तदेवं चतुर्थपटले कलादीक्षोक्ता, अस्मद्दर्शितयुक्त्या एकतत्त्वदीक्षा च । इह तु त्रिपञ्चनवषट्त्रिंशद्भेदाश्चतस्रस्तत्त्वदीक्षाः, पददीक्षा च नवतत्त्वदीक्षावत्, वर्णमन्त्रभुवनदीक्षाश्च तिस्रः कलादीक्षावत्, दशमे च वितता भुवनदीक्षा भविष्यतीत्येता एकादश अध्ववैचित्र्येण दीक्षाः । ज्ञानदीक्षा चोद्धातयुक्त्या द्वादशी इति । एताः सबीजनिर्बीजसद्योनिर्वाणभेदात् पुत्रकविषये षट्त्रिंशद्भवन्ति । आचार्ये तु सबीजैव द्वादशभेदा । साधके शिवधर्मिलोकधर्मिभेदाद् द्विविधे पूर्ववच्चतुर्विंशतिभेदा ।

योगी गुरु या मन्त्रसिद्ध गुरु के ही द्वारा यह करणीय है ॥-८७-८८-॥

योगी = परतत्त्वसमावेश के ज्ञाता, के द्वारा । अथवा इस भैरवतन्त्र में आगे वाले पटल में वक्ष्यमाण क्रम से जो मन्त्रसिद्ध गुरु है, उसके द्वारा यह दीक्षा करणीय है क्योंकि इस विषय में दोनों (= योगी गुरु और मन्त्रसिद्ध गुरु) का सामर्थ्य समान है । इन दोनों से भिन्न गुरु का इस विषय में कोई अधिकार नहीं है ।

यदि यह इस रीति से—

की गयी तो सुकृत होती है ॥ -८८ ॥

अर्थात् सम्यक् निवृत्ति को प्राप्त कराती ही है ॥

इस प्रकार चतुर्थपटल में कलादीक्षा कही गयी, साथ ही हमारे द्वारा बतलायी गयी युक्ति से एकतत्त्वदीक्षा भी कही गयी । इस पञ्चम पटल में तीन पाँच नव और छत्तीस भेदों वाली चार तत्त्वदीक्षायें हैं । पददीक्षा नव तत्त्वदीक्षा की भाँति वर्ण मन्त्र भुवन नामक तीन दीक्षायें कलादीक्षा के समान और दशम पटल में विस्तृत रूप से वर्णित भुवन दीक्षा इस प्रकार अध्ववैचित्र्य के कारण (१+१+४+१+३+१) = दीक्षायें ग्यारह प्रकार की होती हैं । और उद्घातयुक्ति से ज्ञानदीक्षा बारहवीं है । ये बारह दीक्षायें प्रत्येक सबीज निर्बीज और सद्योनिर्वाण के भेद से (१२×३ =) छत्तीस प्रकार की होती है । आचार्य के विषय में सबीज ही दीक्षा होती है, इसलिये उसके लिये १२ प्रकार की ही दीक्षा करणीय है । साधक के विषय में शिवधर्मी और लोकधर्मी के भेद से दो प्रकार होने पर दीक्षा के २४

समयिनि तु अध्वन्यासस्यानुक्तत्वात् ज्ञानक्रियाभ्यां हृदादिग्रन्थिभेदनतो द्विविधा, इति चतुःसप्ततिरिह संक्षेपतो दीक्षाभेदाः । तत्रापि सकलनिष्कलाघोरेश्वर्याद्यनुष्ठानभेदाद् लोकधर्मिसाधकस्य चावान्तरवैचित्र्याद् भौतिकनैष्ठिकाचार्यभेदाच्च बहुप्रकारा भवन्ति ।

तदत्र दीक्षायामेव प्रत्यवतिष्ठन्ते सौगताः—इह दीक्षया किमात्मनः संस्कारः क्रियते, बुद्धेर्वा? किमात्मग्रहादीनां मलानाम्, किं वा कर्मणाम् ? आत्मन आयातशक्तिपातस्य, तदितरस्य वा ? शक्तिपातोऽक्षीणमलस्य, अन्यस्य वा ? कश्चात्मनः संस्कारः ? कर्मनिवृत्तिः, सुखदुःखसंविन्निवृत्तिः, प्रकृत्यादिविवेकदर्शनम्, स्वस्वरूपज्ञानमद्वैतदृष्टिर्वा ? बुद्धेरपि कः संस्कार ? किमिन्द्रियप्रेरणासामर्थ्यम्, रागादिहान्याधानम्, उन्मूलनं वा ? मलानामपि किं तदैव कार्यप्रसवासामर्थ्यम्, मरणापेक्षं वा संस्कारः? एवं च कर्मणाम्? स च किमागमैकप्रमाणको युक्तिसिद्धोऽपि वा ? तत्र शक्तिपातादात्मग्रहादिमलक्षयः, मलक्षयाच्च शक्तिपात इत्यन्योन्याश्रयः । अक्षीणमलस्य शक्तिपाते सर्वस्यासौ स्यात्, मलक्षयोऽन्यतः

भेद होते हैं । समयी साधक के विषय में अध्वन्यास का कथन न होने से ज्ञान और क्रिया के द्वारा हृदय आदि ग्रन्थियों के भेदन से दो प्रकार की दीक्षा होती है । इस प्रकार दीक्षा के संक्षेप में चौहत्तर भेद (१२ + २४ = ३६ × २ = ७२ + २ = ७४) हुए । इन चौहत्तर भेदों में भी सकल निष्कल अघोरेश्वरी आदि अनुष्ठान के भेद से तथा लोकधर्मी साधक के अवान्तर वैचित्र्य से तथा भौतिक नैष्ठिक आचार्य के भेद से दीक्षा के अनेक भेद होते हैं ।

दीक्षा के विषय में बौद्धमत—(पूर्व पक्ष)

दीक्षा के विषय में बौद्ध लोगों का कथन है—प्रश्न है कि दीक्षा के द्वारा किसका संस्कार होता है—आत्मा का? या बुद्धि का? या आत्मग्रह (= ज्ञान) आदि मलों का? या कर्मों का? इसके अतिरिक्त जिस आत्मा का संस्कार होगा वह शक्तिपातयुक्त है? या शक्तिपातरहित ? शक्तिपात भी मलयुक्त का होता है? अथवा मलरहित का? आत्मा का संस्कार क्या है?—कर्म की निवृत्ति? या सुख दुःख के अनुभव की निवृत्ति ? प्रकृति आदि के भेद का ज्ञान? अपने स्वरूप का ज्ञान? अथवा अद्वैत दृष्टि ? बुद्धि का भी संस्कार क्या है?— क्या इन्द्रियों की प्रेरणा का सामर्थ्य? राग आदि की हानि का आधान ? अथवा उनका उन्मूलन? मलों का भी संस्कार क्या उसी समय कार्यप्रसव का असामर्थ्य रूप हैं? अथवा मरणापेक्ष? इसी प्रकार कर्मों के बारे में भी—क्या वह संस्कार आगमैक प्रमाण वाला है अर्थात् क्या उसके बारे में केवल आगम ही प्रमाण है या उसके पीछे तर्क भी है । यदि शक्तिपात से आत्मग्रह आदि मल का क्षय होता है और मल का क्षय होने से शक्तिपात—तब तो अन्योऽन्याश्रय दोष है । यदि मलक्षय से रहित व्यक्ति के ऊपर शक्तिपात होता है तो फिर सबके ऊपर होने लगेगा । यदि मलक्षय

कुतश्चिद् यदि तत एव तर्ह्यात्मनः संस्कारो भविष्यतीति किं शक्तिपातहेतुकेन दीक्षाविधानेन ? आत्मनश्च नित्यैकस्वभावस्य कर्मतद्भोगनिवृत्त्यनिवृत्त्योरविशिष्टस्य कः संस्कारः ? वैशिष्ट्ये नित्यताहानिः । कर्मभोगयोः व्यतिरिक्तयोर्नाशे तस्य किं वृत्तम् ? तत्समवायोऽस्य निवृत्त इति चेत्, सोऽपि कर्मादिवत् स्वात्मन्येवेत्यात्मनो न भोक्तृत्वकर्तृत्वे, नापि तदुपशमात्मा मुक्तिः स्यात् । प्रकृत्यादिविवेकस्वरूपदर्शनपक्षौ प्रागतत्स्वभावतयास्य भेदमानयतः । आत्मदर्शनमात्मीयादिदर्शनस्य तन्मूलानां रागादीनां च हेतुरिति ततोऽस्य बन्ध एव । अद्वैतदृष्टौ अपरस्य कस्याप्यभावात् क्रिया (भोगा? बोधा) नुपपत्तौ कर्तृत्वज्ञातृत्वतत्त्वैश्वर्यप्रविलोपो मुक्तात्मनां स्यात् । बुद्धेरक्षप्रेरणासामर्थ्या(धा)ने दीक्षितस्य करणवैकल्यं स्यात् । रागादिदोषाश्च सवासनाका दीक्षितस्य न निवर्तन्ते । बुद्धेरुन्मूलने दीक्षानन्तरं देहपातप्राप्तिः । मलानां तदैवासामर्थ्यसाधने प्रवृत्तिस्त्रुट्येत् । मरणापेक्षमसामर्थ्याधानमिति पलायनमार्गः । मृत्यवसरे च दीक्षितस्यात्मादिग्रहः प्राग्वदेवोपलभ्यते । एवं कर्मस्वपि वाच्यम्, आरब्धकार्यकर्मसंशोधने दीक्षाया न सामर्थ्यमिति चेत्,

---

किसी अन्य कारण से होता है तो आत्मा का संस्कार भी उसी से हो जायेगा । फिर शक्ति के हेतुभूत दीक्षाविधान से क्या लेना देना, वह व्यर्थ ही है । आत्मा तो नित्य है उसका कर्म, कर्मभोग, उसकी निवृत्ति या अनिवृत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है फिर उस आत्मा का संस्कार कैसा । यदि उसे विशिष्ट मानते हैं तो फिर वह नित्य नहीं होगा । कर्म और भोग जो कि आत्मा से भिन्न हैं, का नाश होने पर आत्मा के ऊपर कोई प्रभाव नहीं पड़ने वाला । यदि यह कहिये कि आत्मा में वर्त्तमान उन (= कर्म और भोग) के समवाय की निवृत्ति हो जाती है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि वह भी कर्म आदि के समान स्वात्मा (= कर्म आदि) में ही रहते हैं इसलिये आत्मा का न तो भोक्तृत्व है और न कर्त्तृत्व और न ही उन दोनों का उपशमरूप मुक्ति ही है । प्रकृत्यादिविवेक और स्वरूपदर्शन ये दोनों पक्ष पहले आत्मा के स्वभाव न होने से उसमें भेद उत्पन्न करतें हैं । यदि आत्मदर्शन आत्मीय आदि के दर्शन और उस दर्शन के मूल भूत राग आदि का कारण है तो फिर आत्मा का बन्धन ही हो जायेगा । शिवाद्वैत दर्शन में किसी अन्य तत्त्व के न होने से क्रिया एवं ज्ञान के न होने के कारण मुक्तात्माओं के कर्त्तृत्व ज्ञातृत्व रूपी तत्त्व के ऐश्वर्य का लोप हो जायेगा । बुद्धि में जब इन्द्रियों की प्रेरणा के सामर्थ्य का आधान नहीं होगा अर्थात् बुद्धि जब इन्द्रियों के प्रेरित करने में असमर्थ हो जायेगी तब दीक्षित व्यक्ति को इन्द्रिय—वैकल्य होने लगेगा । तथा दीक्षित व्यक्ति के रागादि दोष वासनाओं सहित निवृत्त नहीं होंगे । दीक्षा के बाद बुद्धि का नाश होने पर देहपात (= मृत्यु) हो जायेगा । उसी समय (इन्द्रियों के) असामर्थ्य की सिद्धि में मलों की प्रवृत्ति टूट (= नष्ट हो) जायेगी । असामर्थ्य का आधान मृत्यु की अपेक्षा रख कर होता है यदि ऐसा कहें तो यह तो पलायन मार्ग (= मुख्य विषय को छोड़कर भागने का रास्ता) है । मृत्यु के समय दीक्षित आत्मादि ज्ञान पूर्ववत्

अन्यत्रापि क आश्वासः? आगमप्रमाणकमेतदिति चेत्, आगमस्य तदर्थं कः प्रतिबन्धः? मन्त्रप्रतिबन्धाद् यथा बीजमङ्कुरं न सूते, तद्वत् कर्मबीजान्यपि न संसारं सुवते इति। बीजादिसंसिद्ध्युक्त्या बीजादिवद् दीक्षितस्य तैलाभ्यङ्गदाहादयोऽप्यसामर्थ्याधानहेतवः क्रियन्ताम्। अमूर्तत्वात् कर्मणामभ्यङ्गादयो न सन्तीति तानि दीक्षैव क्षपयति, तथा च घटदीक्षादीक्षितस्य लाघवमप्युपलभ्यत इति चेत्, नामूर्तस्य पापादेः, गुरुत्वाभावात्। तस्मात् क्षणिकत्वादिभावनापूर्विका नैरात्म्यदृष्टिरेव मोक्ष इति।

अत्रोच्यते—इहात्मसंस्कार एव दीक्षा। तथाहि—अयमात्मा सङ्कोचाभासतत्त्वापूर्णम्मन्यतात्मनेहाभिलाषशब्दोक्तेनाणवेन मलेन, शुभाशुभवासनात्मना विविधजन्मायुर्भोगदेन कार्मेण, तत्प्रभवेन च कञ्चुकपुर्यष्टकस्थूलभूतात्मनाजातिकत्रिविधदेहतदाश्रयविचित्रभुवनभोक्तव्यार्थसार्थप्रतीतिभाजा मायाख्येन मलेन च

देखा ही जाता है। ऐसा ही कर्म के विषय में भी कहना चाहिये। यदि यह कहिये कि प्रारब्ध कार्य वाले कर्मों के संशोधन में दीक्षा का सामर्थ्य नहीं है तो दूसरे विषयों के संशोधन में दीक्षा सामर्थ्यवती है इसमें कौन विश्वास करेगा? यदि कहिये कि इस विषय में आगम प्रमाण है तो प्रारब्धकर्मसंशोधन में दीक्षा समर्थ है इसमें आगम कहाँ प्रतिबन्धक होता है। मन्त्रों के द्वारा प्रतिबद्ध होने पर जैसे बीज अंकुर का उत्पादन नहीं करता उसी प्रकार दीक्षारूपी संस्कार के द्वारा प्रतिबन्धित हुए कर्म भी संसार का उत्पादन नहीं करते। बीज आदि की सिद्धि (= अंकुरोत्पादनासामर्थ्य) की उक्ति से जैसे बीज उत्पादन सामर्थ्य से रहित हो जाता है उसी प्रकार दीक्षित का भी तैलाभ्यङ्गदाह आदि असामर्थ्य के आधान का कारण बना दिये जाये। कर्मों के अमूर्त होने के कारण उनके अभ्यङ्ग आदि सम्भव नहीं हैं, इसलिये दीक्षा ही उनका नाश करती है। घट दीक्षा में दीक्षित व्यक्ति का शरीर भी लघु हो जाता है उसी प्रकार दीक्षित का भी तैलाभ्यङ्ग आदि असामर्थ्य का कारण बनेगा यदि यह कहें तो यह सम्भव नहीं। क्योंकि अमूर्त पाप आदि में गुरुत्व नहीं रहता किन्तु शरीर में गुरुत्व रहता है। इसलिये क्षणिकत्व आदि भावना के बाद उसके अभ्यास से नैरात्म्य दृष्टि का उत्पन्न होना ही मोक्ष है।

सिद्धान्त पक्ष—

इस विषय में कहते हैं—यहाँ (= शिवाद्वयवाद में) आत्मा का संस्कार ही दीक्षा है। वह इस प्रकार—यह आत्मा आणव कार्म एवं मायीय मल से युक्त है। आणवमल अभिलाषा रूप है। यह मल आत्मा के सङ्कोचाभास के कारण अपूर्णंमन्यता स्वरूप है। शुभ अशुभ (= पुण्य पाप) की वासना को कार्म मल कहते हैं; यह अनेक प्रकार के जन्म आयु और भोग को देने वाला होता है। तीसरा मल मायीय है। यह कार्म मल का कारण है। साथ ही (माया के कला विद्या राग काल नियति नामक पाँच) कञ्चुक, पुर्यष्टक (= सूक्ष्मशरीर) एवं स्थूलभूत रूप अनेक जन्मवाले त्रिविध देह (= स्थूल सूक्ष्म कारण देह) और उन देहों के

वलितः। यतः सर्वस्यैव सङ्कुचितोऽभिष्वङ्गादिमयोऽन्तरुल्लेखशताकीर्णः कृशगौरादिरूपोऽमुत्रेदं जानामीत्यादिप्रतीतिसिद्ध एवायमर्थः। तदीदृशस्यास्यानन्तजन्मसहस्राभ्यस्तेदृग्वासनस्याप्याकस्मिकगुरुयियासाभक्त्यादिवशोन्नीतशक्तिपातानुसारनिर्वर्त्यमानया दीक्षया

'दीयते ज्ञानसद्भावः क्षीयते पशुवासना।
दानक्षपणसंयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता॥'

इत्याम्नायनिरूपितस्थित्या आणवादिपाशप्रशमनशिवत्वाभिव्यक्तियोग्यतात्मा संस्कारः क्रियते। पाशानां च प्रशमनमचिन्त्यमन्त्रशक्तिवशाद् बीजानामिव पुनः प्ररोहाधानासामर्थ्यम्।

यत्तु—

'नालं बीजादिसंसिद्धौ विधिः पुंसामजन्मने।
तैलाभ्यङ्गाग्निदाहादावपि मुक्तिप्रसङ्गतः॥'

इत्युक्तं तैः, तत्तेषामेवोपहास्यतामाविष्करोति, यतः स्थावरजङ्गमकृत्रिमाद्यात्मनो

आश्रयभूत जो विचित्र भुवनों का भोक्तव्य विषय उसके साथ (= समूह) की प्रतीति वाला है। चूँकि सब का आत्मा संकुचित है इसी कारण आसक्तिमय है। सैकड़ों उल्लेख (= भावना, वासना, नाम) से व्याप्त है। दुर्बल एवं गोरा काला आदि रूप है। 'मैं इसको वहाँ जानता हूँ' इत्यादि प्रतीति से यह बात सिद्ध है। तो अनन्त हजारों जन्मों के अभ्यास के कारण इस प्रकार की वासना वाले आत्मा का आणव आदि मल के प्रशमन और शिवत्व की अभिव्यक्ति की योग्यतारूप संस्कार किया जाता है। यह संस्कार दीक्षा के द्वारा होता है जो कि गुरु के पास जाने के इच्छा उनके प्रति भक्ति आदि के कारण उन्नीत शक्तिपात के अनुसार सम्पादित होती है। दीक्षा का आम्नाय में लक्षण इस प्रकार उक्त है—

'जिसके द्वारा ज्ञान दिया जाता है और पशुवासना का नाश होता है। दान और क्षपण (= नाश) से युक्त होने के कारण इसे दीक्षा कहा गया है।'

पाशों के प्रशमन का अर्थ है—अचिन्त्य मन्त्रशक्ति के प्रभाव से पाशों के वासना प्ररोहसामर्थ्य का नष्ट हो जाना; जैसे कि बीज को भून देने पर उसका अंकुरण सामर्थ्य नष्ट हो जाता है।

और जो कि—

'बीज (= वीर्य) आदि की शुद्धि के द्वारा सिद्ध जो विधि उक्त है वह पुरुषों के मोक्ष के विषय में सक्षम नहीं है। यदि ऐसा होता तो जिस प्रकार बीजों को तेल से मिश्रित करने या जला देने पर उनकी अंकुरणशक्ति नष्ट हो जाती है उसी प्रकार पुरुषों का भी तैलाभ्यङ्ग आदि करने पर उनका मोक्ष होने लगता।' (प्र०वा० १।२६०-६१)

विषस्य स्वकार्यकरणशक्तिप्रशमनं बीजवद्यन्मन्त्रैः क्रियते, तत्रापि एतद्वक्तुं प्राप्तम् । अथ तैलाभ्यङ्गादेर्बीज एव शक्तिनिरोधकृत्वं न तु विशेषकृत्वं, मन्त्राणां तु तत्रापीत्युच्यते, तर्हि अचिन्त्यप्रभावत्वात् तेषां पाशप्रशमनेऽपि सामर्थ्यं किं न सह्यते ।

अथ दोषाः सबीजसंताना दीक्षितेऽप्यनिवारिता दृश्यन्त इति किमस्य मन्त्रैः कृतमित्युच्यते । तदत्राप्युच्यते प्रोक्तपाशशक्तिप्रतिबन्धनं मन्त्रैः क्रियते अस्य, न तु रागद्वेषादिप्रशमनम् । यथाहि—विरूपस्य वैरूप्यमनिवर्त्यापि लोकोत्तररमणीवशीकरणं मन्त्रैः क्रियते, तद्वद्देहारम्भिकर्माशोधनाद् वर्तमानदेहे रागाद्यनिवृत्तावपि भाविप्ररोहप्रतिरोधनं पाशानां कुर्वतां मन्त्राणां किमायातम् । तीव्रतमशक्तिपातपूतानां च दीक्षानन्तरं रागद्वेषादिप्रशमः शतशोऽपि दृश्यन्ते । सद्योनिर्वाणदीक्षायां च त्रैकालिकपाशशोधनात् तदैव देहादिविगलनं शिवत्वाभिव्यक्तिश्च भवत्येव । शिवत्वाभिव्यक्तावत्र किं प्रमाणमिति चेत्, मन्त्रप्रभावसम्पादिततात्कालिकदेहदर्शनप्रशमनोद्भूतमनुमानं यथा च शान्त्याप्यायवशीकारदाहोच्चाटनशोषणमारणादि मन्त्रसामर्थ्याद्भवत्येव तथा दीक्षाफलमपि भवत्येवेति चेतसि निवेश्यताम् ।

उन लोगों (= बौद्धों) ने ऐसा कहा वह उन्हीं की उपहास्यता को प्रकट करता है क्योंकि स्थावर जङ्गम कृत्रिम आदि किसी भी विष के अपना कार्य करने की शक्ति का जो बीज की भाँति प्रशमन मन्त्रों के द्वारा किया जाता है वहाँ भी यह कहा जा सकता है । यदि यह कहा जाय कि तैलमिश्रण आदि केवल बीज में ही अंकुरणशक्ति को रुद्ध करते हैं अन्यत्र (= पुरुष में नहीं इसलिये उनका) कोई वैशिष्ट्य नहीं है, मन्त्र तो पुरुष को मोक्ष भी दिलाते हैं (बीज का अंकुरणसामर्थ्य तो नष्ट करते ही हैं) —इसलिये अचिन्त्य प्रभाव वाला होने के कारण उनका (= मन्त्रों का) पाशनाश में भी सामर्थ्य है—इसे आप क्यों नहीं मान लेते ।

प्रश्न—दीक्षाप्राप्त लोगों में भी सबीजसन्तान (= बीजपरम्परा से युक्त) दोष देखे जाते हैं तो फिर मन्त्रों ने उस व्यक्ति के अन्दर क्या किया? (अर्थात् कोई वैशिष्ट्य तो उत्पन्न किया नहीं?) । उत्तर—इस विषय में कहते हैं—मन्त्र उक्त पाश की प्ररोहशक्ति का प्रतिबन्धन करते हैं न कि राग द्वेष आदि दोषों का नाश । जिस प्रकार वशीकरण मन्त्र किसी कुरूप पुरुष की कुरूपता को दूर न करते हुए भी अत्यन्त सुन्दर रमणी को उसके वश में कर देते हैं उसी प्रकार देहारम्भक कर्माशय का शोधन न करने के कारण वर्तमान देह में राग आदि की निवृत्ति न होने पर भी पाशों का भावी प्ररोहप्रतिरोधन करने वाले मन्त्रों के विषय में क्या समझा जाय। तीव्रतम शक्तिपात से पवित्र लोगों का दीक्षा के बाद राग द्वेष आदि शान्त हो गया—ऐसा सैकड़ों बार देखा जाता है । यही नहीं सद्योनिर्वाण दीक्षा होने पर त्रैकालिक पाशों का शोधन होने से उसी समय देह आदि का नाश और शिवत्व की अभिव्यक्ति हो जाती है । प्रश्न—इस व्यक्ति में शिवत्व की अभिव्यक्ति हो गयी इसमें क्या प्रमाण है ? उत्तर—जिस प्रकार शान्ति, पुष्टि, वशीकार, दाह, उच्चाटन,

तत्कालमेव दीक्षातः शिवत्वाभिव्यक्तिः किं न भवतीति चेत्, प्रकृष्टज्ञानशालिभिः क्रियमाणायां सहस्रशो भवन्ती असावपि दृश्यते एव ।

अथोच्यते—नित्यस्यात्मनो दीक्षातः संस्कारोत्पत्तौ संस्कृतत्वासंस्कृतत्वभेदाद् भेदः स्यादिति चेत्, न । तत्तत्प्रतिभासभेदेऽप्यस्याकृतकाहंविमर्शैक्येन एकत्वसिद्धिः, दूरासन्नादौ देवकुलादेरिव तद्विमर्शैक्यात् । विमर्शनवशादेव च सर्वव्यवस्थेति प्रत्यभिज्ञायां निर्णीतम् । एतेन भोक्तृत्वकर्तृत्वाद्यप्यस्य समर्थितमेव, तत्तद्विषयभेदेऽप्यात्माव्यतिरेकेणास्य स्फुरणात् ।

यत्तु उक्तमात्मदर्शनं न मुक्तिरपि तु बन्ध इति तच्छरीरप्राणपुर्यष्टकशून्येष्वनात्मस्वेवमेव । यत्तु सत्यरूपे चिदात्मन्यहंविमर्शपरमार्थतया स्वीकृताशेषज्ञानक्रियापरमार्थे तत्रात्मदर्शनं सैव सत्यतो मुक्तिः । न च केवलमनात्मन्यात्मदर्शनं मिथ्याज्ञानरूपो बन्धः, यावदात्मन्यपि पूर्णप्रकाशाहंविमर्शपरमार्थाशेषविश्वमये विश्वत्रापि च चिदात्मैक्यपरमार्थे यदनात्मतया ज्ञानम्, तदपि बन्ध

शोषण, मारण आदि कृत्य मन्त्र के सामर्थ्य के अन्दर होता ही है (और इसका आप सब को प्रत्यक्ष अनुभव होता है) उसी प्रकार दीक्षा का भी फल होता ही है (भले वह आप को प्रत्यक्ष न दिखायी दे) यह मन में निश्चित कर लीजिये ।

प्रश्न— दीक्षा से उसी समय शिवत्वभिव्यक्ति क्यों नहीं हो जाती ?

उत्तर—प्रकृष्ट ज्ञानवान् गुरु के द्वारा की जाने पर हजारों बार यह अभिव्यक्ति होती हुयी देखी जाती है ।

प्रश्न—आत्मा नित्य है । दीक्षा के द्वारा उसके अन्दर संस्कार के उत्पन्न होने पर संस्कृत और असंस्कृत भेद से आत्मा का वर्गीकरण होने लगेगा?

उत्तर—तत्तत् प्रतिभास के कारण भेद होने पर भी स्वाभाविक अहंविमर्श के एक होने पर इसकी उसी प्रकार एकत्वसिद्धि हो जाती है जैसे कि दूरवर्त्ती या निकटस्थ देवकुल आदि के विषय में उनके विमर्श के एक होने से उनकी एकता सिद्ध होती है । यह सारी व्यवस्था विमर्श के ही कारण है—यह ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में बतलाया जा चुका है । उक्त कथन से इस (= आत्मा) के भोक्तृत्व कर्तृत्व का भी समर्थन हो गया । क्योंकि तत्तद्विषयभेद होने पर भी आत्मा से अभिन्न रूप में इसका (= विषय का) स्फुरण होता है ।

जो यह कहा कि आत्मा का दर्शन मुक्ति नहीं है बल्कि बन्धन है; यह कथन शरीर प्राण पुर्यष्टक से शून्य अनात्म पदार्थों के बारे में ऐसा है (= उनका दर्शन बन्धन है) । जो कि सत्यरूप चिदात्मा में अहंविमर्श परमार्थ के कारण स्वीकृत सम्पूर्ण ज्ञानक्रिया वाले उस आत्मा के विषय में आत्मदर्शन है वही सत्यतया मुक्ति है । अनात्मा में आत्मा का दर्शन ही मात्र बन्धन नहीं है अपि तु पूर्ण प्रकाश अहंविमर्श परमार्थ अशेष विश्वमय विश्वत्र (= सर्वव्यापी) चिदात्मरूप आत्मा को

एवेति सर्वथा विगलितसङ्कोचचिदेकघनविश्वैकात्म्यमयशिवत्वाभिव्यक्तिरेव मुक्तिः । तत्र चाभेदसारं सर्वं ज्ञात्वा समाप्तमेवेति तत्राप्त्यर्थमेव दीक्षाप्रवृत्तिः । तदेवमुक्तनीत्या मलानां भेदेन प्रतिपादितत्वात् पृथग् न तत्संस्कारपक्षः कश्चित्, इत्यात्मन एवोक्तरूपः संस्कारो दीक्षया क्रियते । अद्वयमेवास्य स्वरूपमिति स्वरूपदर्शनाद्वयदर्शनपक्षयोर्नास्ति भेदः । सद्योनिर्वाणदीक्षायां त्वस्य कर्मसुखादिसंविन्निवृत्तिरपि क्रियत इति प्रतिपादितम् । असद्योनिर्वाणदीक्षासु देहारम्भिकर्मशुद्धिर्भगवदाज्ञातो न क्रियते, न त्वसामर्थ्यात् । अतोऽत्रापि यदुक्तम्—

'गतिप्रतीत्योः कारणान्याश्रयस्तान्यदृष्टतोऽदृष्टनाशात्र ।
गतिर्दीक्षितस्य ॥' इति,

तदप्यदूषणमेव । प्रकृत्यादिविवेकदृष्टिबुद्धिसंस्कारपक्षौ अनभ्युपगमपराहतौ । ततो यदुक्तम्—

'धारणप्रेरणक्षोभनिरोधास्तेन (चावशा[१]:?) ।
न स्युस्तेषामसामर्थ्ये त(स्य)[२] दीक्षाद्यनन्तरम् ॥'

अनात्मा समझना भी बन्धन ही है । इसलिये सब प्रकार से सङ्कोच के हट जाने से चिदेकघन विश्वैकात्म्यमय शिवत्व की अभिव्यक्ति ही मुक्ति है । वहाँ सब को अभिन्न समझने के बाद सब (= भेदमय जगत्) समाप्त हो जाता है इस प्रकार इसकी (= अभेदमय दृष्टि की) प्राप्ति के लिये ही दीक्षा की जाती है तो इस प्रकार उक्त नीति से मलों का अलग-अलग प्रतिपादन होने से उनका अलग-अलग कोई संस्कार नहीं होता । इससे यह अर्थ सिद्ध हुआ कि दीक्षा के द्वारा आत्मा का ही उक्तरूप संस्कार किया जाता है । इस (= आत्मा) का स्वरूप अद्वय है इस कारण स्वरूप दर्शन तथा अद्वय दर्शन दोनों पक्षों में कोई भेद नहीं है । सद्योनिर्वाणदीक्षा में इस (= दीक्ष्य) के कर्म सुख आदि के ज्ञान की निवृत्ति भी कर दी जाती है । यह कहा जा चुका है । सद्योनिर्वाण दीक्षा से भिन्न दीक्षाओं में जो देहारम्भक कर्मों की शुद्धि नहीं की जाती वह परमेश्वर की आज्ञा के कारण, न कि (उस विषय में गुरु या मन्त्रों का) सामर्थ्य नहीं है—इस कारण । इसलिये इस विषय में भी जो कहा गया कि—

'गति प्रतीत्योः... दीक्षितस्य गमन (= कर्म) और ज्ञान की इन्द्रियाँ अदृष्ट के कारण प्रवृत्त होती हैं (= काम करती हैं) यदि अदृष्ट का ही नाश हो गया तो दीक्षित की गति (= मोक्ष) नहीं होगी ।'

यह कथन भी दोषरहित है । (पुरुष से) प्रकृति की विवेकदृष्टि (= भेदज्ञान) और बुद्धि का संस्कार ये दोनों पक्ष बौद्ध की अस्वीकृति के कारण पराहत अर्थात् खण्डित हो गये । इसलिये जो कहा गया—

---

१. धाश्च तेनावशाः । २. स्या ।

इति तद्दूषणमेव ।

यदुक्तं पापस्य गुरुत्वाभावात् प्रत्ययवती तुलादीक्षा नोपपद्यते इति; तदविदिताभिप्रायतया न सम्यक्, यतस्तमोमयपापावृतिहेतुकं देहे गुरुत्वं तुलादीक्षया घटशुद्धिवत् कारणनिवृत्तिद्वारेण निवर्त्यते । तथा च स्मृतिकारः—

'अधर्मात्तमसो देहे गुरुत्वं यत्क्षयोऽस्य तु ।
धर्मतो लघुतोत्पादाद्धटतः सम्प्रतीयते ॥' इति ।

तथैवैतत् । यत्पुनरुक्तमनायातशक्तिपातस्य दीक्ष्यत्वाभावात् शक्तिपातवत एव दीक्षा, शक्तिपातो मलक्षयात् स च शक्तिपातादितीतरेतराश्रयः, अक्षीणमलस्य शक्तिपाते सर्वस्यासौ स्यात्, अथ मलक्षयस्य शक्तिपातादन्यो हेतुः कश्चित् स एव तर्हि शक्तिपाते हेतुरस्तु किं मलक्षयेणेतिं । सत्यमेतत्, किंन्तु निरर्गलपारमेशविचित्रशक्तिपातवतो दीक्ष्यत्वमस्माभिरिष्यते, न तु मलपरिपाकादियुक्त-

---

'धारणा, प्रेरणा, क्षोभ, निरोध ये सब चैतन्य के वश में नहीं हैं उस शिष्य की दीक्षा के बाद उन धारण प्रेरणआदि में सामर्थ्य न होने से उपर्युक्त बातें नहीं होंगी ।'

यह कथन भी हमारे (आगम) पक्ष में अदूषण है (दोष नहीं बनता, न हमारे ऊपर लागू होता है)

जो यह कहा गया कि पाप में गुरुत्व न रहने के कारण प्रत्ययवती तुलादीक्षा सङ्गत नहीं है वह तुलादीक्षा के अभिप्राय को न जानने के कारण उचित नहीं है । क्योंकि शरीर में गुरुता तमोमय पाप के आवरण के कारण होती है । जैसे फट के ऊपर चढ़े गन्दगी का आवरण हटा देने पर घट लघु अर्थात् हलका हो जाता है क्योंकि गुरुत्व का कारणभूत आवरण हट गया उसी प्रकार तुलादीक्षा के द्वारा पापावरण हट जाने से देह का गुरुत्व नष्ट हो जाता है । स्मृतिकार भी कहते हैं—

'अधर्मरूपी तमोगुण के द्वारा शरीर में जो गुरुता आती है उसका क्षय तथा धर्म से जो लघुता उत्पन्न होती है उसकी प्रतीति घट (= तुला) से होती है ।'

यहाँ भी वही स्थिति है । और जो यह कहा गया कि शक्तिपातरहित व्यक्ति दीक्षा के योग्य नहीं होता अर्थात् शक्तिपातवाले की ही दीक्षा होती है । शक्तिपात मलक्षय के कारण होता है और वह (= मलक्षय) शक्तिपात से होता है । इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष आ जाता है ।

प्रश्न—यदि अक्षीणमल वाले के ऊपर शक्तिपात माना जाय तो (जितने अक्षीण मल वाले हैं) सबके ऊपर शक्तिपात होने लगेगा (या होना चाहिये) । यदि यह कहिये कि मलक्षय का हेतु शक्तिपात से भिन्न कोई दूसरा है तो वही शक्तिपात का भी हेतु बन जाय फिर शक्तिपात से क्या लेना देना ? उत्तर—आपका यह कथन सत्य है किन्तु हम लोग दीक्ष्य उसी को मानते हैं जिसके ऊपर निरर्गल (=

स्येति न कश्चिदुक्तचोद्यावस्करसंस्पर्श इत्युपपन्नमेव दीक्षयात्मसंस्करणम् । अपि च, सकलव्यवहारप्राणितभूतसर्वाभ्युपगमाविगीतप्रसिद्धिसिद्धसर्वज्ञमहेश्वरप्रणीतत्व-प्रतीतप्रमाण्ये प्रेक्षापूर्वकार्याचार्यपरम्परानुष्ठीयमानानुष्ठानप्रकटिततत्तत्सर्वनिर्वाणाद्याप्यायनादिनानाफललब्धसंवादे पारमेश्वरे शास्त्रे यद्यथाभिधीयते तत्तथैव । ततश्च यदुक्तम्—

'आगमस्य तथाभावनिबन्धनमपश्यताम् ।
मुक्तिरागममार्गेण वदनपरितोषकृत् ॥' इति,

तदसदेव । यत्पुनः—

'तस्मादनादिसंतानतुल्यजातीयबीजिकाम् ।
उत्खातमूलां कुरुत सत्त्वदृष्टिं मुमुक्षवः ॥'

इत्युक्त्या आत्मदृष्टेरहन्ताविकल्पवासनामूलत्वमुक्तम् तत्प्रतारणमात्रमेव, यतः शिरोनिर्देश(प्रख्या)[१] कृतकाहंविमर्शमयत्वमात्मन्यङ्गुलिनिर्देशप्रख्यासाङ्केतिकेदंविमृश्य-

---

निर्बाध) परमेश्वर का विचित्र शक्तिपात होता है न कि मलपरिपाक आदि से युक्त को । इस प्रकार उक्त चोद्य (= तर्क) के अवस्कर (= मलिनता) के स्पर्श का कोई अवसर नहीं है । इस प्रकार यह बात सिद्ध हो गयी कि दीक्षा से आत्मा का संस्कार होता है । और भी पारमेश्वर शास्त्र (= शिवाद्वयवाद) सकल व्यवहार का प्राणभूत तथा सबके अभ्युपगम के कारण ऐकमत्येन प्रसिद्धि से सिद्ध सर्वज्ञ महेश्वर से प्रणीत होने के कारण अत्यधिक प्रामाणिक है तथा बुद्धिपूर्वक कार्य करने वाले श्रेष्ठ आचार्यों की परम्परा के द्वारा विधीयमान अनुष्ठान के द्वारा निर्वाण तुष्टि आदि अनेक फल के प्रकटित होने से इसका सामर्थ्य प्रमाणित हो चुका है । ऐसे पारमेश्वर शास्त्र में जो जिस प्रकार कहा जाता है वह वैसा ही है (उसकी अन्यथा व्याख्या या उसमें संशय नहीं करना चाहिये) । और जो यह कहा गया कि—

'आगम के तथाभाव (= मुक्ति की उपलब्धि की) निबन्धन (= कारणता) के न देखने वाले अर्थात् आगमशास्त्र में स्पष्ट रूप से मुक्ति का वर्णन न प्राप्त करने वाले लोगों की आगम में वर्णित मार्ग (= उपायों) से मुक्ति के लाभ की बात केवल वदनपरितोषकृत् (वचन के द्वारा सन्तोष दिलाने वाली है, वस्तुतः आगमोक्त विधि के अनुष्ठान से मुक्ति नहीं मिलती) ।'

यह कथन असत् (= अनुचित) है । और जो—

'इसलिये हे मोक्ष को चाहने वाले सज्जनों ! अनादि सन्तान के तुल्यजातीय बीज वाली सत्त्वदृष्टि (= अहन्ता की धारणा) को उत्स्वातमूला करो (= जड़ से उखाड़ दो अर्थात् अहन्ता की दृष्टि न रखकर अहन्तामय हो जाओ) ।'

इस कथन के द्वारा अहन्ताविकल्प वासना को आत्मदृष्टि का मूल कहा गया

---

१. प्रकृत्या ।

त्वमिव विषयेषु स्वसंवेदनेन प्रतीयत एव, अन्यथा प्रथमसङ्केतग्रहणमेव न कस्यापि घटेत ।

नन्वहंप्रतीतेर्विकल्पवासनामूलत्वमुक्तम्, तत् कथम्, यतो यो विकल्पो ज्ञानसंतानमहन्तयाभिमन्यते, स किं स्वात्मनो भेदेन तं तथाध्यवस्यति, स्वात्माभेदेन वा । भेदपक्षे इदमिति ज्ञानसंतानस्याध्यवसायः स्यान्नत्वहमिति । अभेदपक्षे तु विकल्पस्य स्वात्मापि विकल्पः प्रोक्तः, न च तद्युक्तं स्वात्मन्य-विकल्पकत्वाद्विकल्पानाम् । अथ विकल्पः स्वात्मनो ज्ञानान्तरैः सह भेदं नाध्यवस्यति, न त्वभेदमध्यवस्यतीत्युच्यते, तर्हि अध्यवसाये प्रतिषेधः पतित इत्यनध्यवसायव्यापार एष स्यात् । अथात्मनो ज्ञानान्तरैः सह भेदमनध्यवस्य-न्नवान्तराण्यभेदेनाध्यवस्यति, तर्हि येनात्मना सह येषां ज्ञानानां भेदो नाध्यवसितः, तेषामभेदाध्यवसाये तस्यात्मनोऽप्यभेदाध्यवसायः प्राप्तः, आत्मवद्वा तेषामप्यप्राप्तः, अन्यथात्मना सह कस्तेषां भेदः । न अध्यवसायः, भेदाध्यवसाय एव ह्ययमित्थं

वह तो प्रवञ्चना मात्र है । क्योंकि आत्मा के विषय में शिरोनिर्देश प्रख्या (= शिर की तरफ अंगुली के द्वारा निर्देश कथन करने) के द्वारा जीव में जो अकृतक (= नित्य) अहंविमर्शमयत्व उसी प्रकार अपने संवेदन से प्रतीत होता है जिस प्रकार (घट पट आदि) विषयों के विषय अंगुलिनिर्देश की प्रख्या के द्वारा साङ्केतिक 'इदम्' का विमृश्यत्व । ऐसा न होने पर किसी भी विषय का सङ्केत निश्चय नहीं होगा (अर्थात् 'घट आदि पदों का जो पृथुबुध्नउदर वाली कम्बुग्रीवादिवाली वस्तु के विषय में निश्चय होता है कि 'घट' पद का अर्थ यही है—यह नहीं होगा) ।

प्रश्न—अहं प्रतीति का मूल विकल्पों की वासना है यह जो कहा गया वह कैसे? क्योंकि जो विकल्प ज्ञानपरम्परा को 'अहम' के रूप में मानता है वह क्या उस सन्तान को अपने से भिन्न समझ कर वैसा निश्चय करता है अथवा अभिन्न ? यदि अपने से भिन्न समझता है तो फिर आत्मा के विषय में 'इदम्' ऐसा ज्ञानसन्तान का निश्चय होगा, 'अहम्' करके नहीं । और यदि अभिन्न मानते हैं तो विकल्प का अपना आत्मा भी विकल्प होने लगेगा, और वह ठीक नहीं क्योंकि विकल्प अपने आप में विकल्प नहीं होते । प्रश्न—विकल्प अपने ज्ञानान्तरों के साथ भेद का निश्चय नहीं करता और अभेद का भी निश्चय नहीं करता?

उत्तर—ऐसा मानने पर निश्चय का ही निषेध होने लगेगा फलतः यह (= विकल्प) अनध्यवसाय का व्यापार हो जायेगा ।

प्रश्न—(यदि विकल्प) ज्ञानान्तरों के साथ भेद का निश्चय न करते हुए अवान्तर (= अन्य विषयों) का अभेदेन निश्चय करता है?

उत्तर—ऐसा होने पर जिस आत्मा के साथ जिन ज्ञानों का भेद निश्चित नहीं हुआ है उनका अभेदनिश्चय होने पर उसका आत्मा के भी साथ अभेदनिश्चय प्राप्त हो जायेगा, अथवा आत्मा के समान उन (= ज्ञानों) का अभेद प्राप्त नहीं होगा ।

स्यात् । किं च, अनुभवसंस्कारोत्थमात्मनो रूपवैचित्र्यमनुभवतापि विकल्पेन निवृत्तपूर्वाण्यनुभवान्तराण्यवसातुं शक्यन्ते, तत्रास्य नारिकेलद्वीपनिवासितुल्यत्वात् । न चास्य प्रकाशातिरिक्तोऽध्यवसायसमारोपाभिमाननिश्चयादिपदवाच्याभिप्रायेणाभेद-वाच्यः कश्चिदन्यो व्यापारो व्यवस्थापकः परदर्शने सङ्गच्छत इत्यास्तामतिगहन-मेतत्, प्रत्यभिज्ञायां विततमस्तीह तु प्रतन्यमानं सुकुमारहृदयानायासयेत् । तत्स्थितमेतत् तत्तदाभासभेदेऽप्यकृतकाहंविमर्शसिद्धैक्यपरमार्थोऽयमात्मा इति ।

ननु च श्रीमत्खेटपालाचार्येण मलपरिपाकहेतुकः शक्तिपातोऽभ्युपगतः स्वतन्त्रशक्तिपातपक्षश्च दूषितः, तत्कथं स्वतन्त्रशक्तिपातपक्षाश्रयणेनैतत् प्रति-समाहितम् ?

अत्रोच्यते—अत्रार्थे यदि विविदिषास्ति तदेतदपि निर्णीयते । श्रूयताम्—

'अथानादिर्मलः पुंसां पशुत्वं परिकीर्तितम् ।
तुषकम्बुकवज्ज्ञेयं मायाजमङ्कुरस्य तु ॥'

अन्यथा आत्मा के साथ उन (ज्ञानों) का भेद कैसा? फिर वह अध्यवसाय नहीं बल्कि भेदाध्यवसाय होने लगेगा । इसके अतिरिक्त अनुभव के संस्कार से उत्पन्न आत्मा के रूपवैचित्र्य का अनुभव करने वाला विकल्प अतीत में सम्पन्न हुए अन्य अनुभवों का भी निश्चय कर सकता है । क्योंकि इस विषय में यह नारिकेलद्वीप (= लङ्का) के निवासियों के समान होगा? (अर्थात् जैसे नारिकेलद्वीप निवासी अन्यत्र जाने पर वहाँ के भी संस्कार से प्रभावित हो जाता है उसी प्रकार दीक्षा प्राप्त व्यक्ति दीक्षा के पूर्व के संस्कारों से प्रभावित रहते हुए दीक्षोत्तर संस्कार से भी प्रभावित हो जाता है ।) (इस (= आत्मा) का व्यवस्थापक (= निश्चायक) व्यापार प्रकाश ही है ।) इससे भिन्न अध्यवसाय, समारोप, अभिमान, निश्चय आदि पदों से वाच्य कोई अन्य व्यापार अन्य दर्शन में नहीं मिलता । इसलिये यहीं विराम कीजिये । यह विचार अत्यन्त गम्भीर है । ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में इस पर विस्तार के साथ चर्चा हुई है । यहाँ उसका विस्तार सुकुमार हृदय वाले पाठकों को क्लान्त कर देगा । तो यह निश्चित हो गया कि तत्तत् आभासभेद के होने पर भी यह आत्मा ही परमार्थ है जो कि स्वाभाविक अहंविमर्श से सिद्ध (= ज्ञात) होती है ।

प्रश्न—द्वैतवादी शैवसिद्धान्त के समर्थक खेटपाल आचार्य (= सद्योज्योति शिवाचार्य) ने शक्तिपात का कारण मलपारिपाक बतलाया है । स्वतन्त्र शक्तिपात सिद्धान्त का उन्होंने खण्डन किया है । तो यहाँ पर कैसे स्वतन्त्र शक्तिपात पक्ष के आधार पर इसका समाधान किया गया?

उत्तर—इस विषय में यदि जानने की इच्छा है तो इसका भी समाधान कर दिया जा रहा है । सुनिये—

'अनादि मल (जिसे आणव मल भी कहते हैं) ही पुरुषों (= जीवों) का पशुत्व

इति श्रीस्वायंभुवसूत्रे 'मल' इति 'पुंसाम्' इति चोक्तिपर्यालोचनया एकोऽप्यसौ बहुशक्तिकः अन्यथा बह्वावारकत्वमस्य न घटते, एकमुक्तौ च सर्वे मुच्येरन्, कर्मभिश्च सह परिणमति, अमिश्रस्य परिणामायोगात् । परिणमंश्च कालविशेषात् कंचित्प्रति कथंचित् तीव्रमध्यादिभेदाद् यदा परिपच्यते, तदा पुंसां कर्मपरिपाकमिवापेक्ष्य शक्तिपातं करोति महेश्वरः, यावच्च मलस्य परिपाको न जातः, तावत् तत्पुंबन्धकत्वेनैव तं परिणमयति, यदा तु कृतकार्यत्वादात्मनि पक्वं पश्यति स्वशक्तिपातान्मलशक्तिं निरूणद्धि असौ । यथा च स्वतन्त्रशक्तिपातवादिपक्षे प्रतिपुरुषं किञ्चिदेव कर्म कदाचिदेव देवः परिपाच्य भोगभोग्यं करोति, न तु सर्वान् प्रति सर्वं युगपत्, तत्त्वानि च नियतकार्य-कारणभावभाञ्जि दर्शयति, मायाप्रकृत्यादि च स्वापप्रबोधयोरौचित्येन परिणमयतीति नास्य सर्वत्राविशेषेण कर्तृत्वम्, तथा मलपरिपाकपक्षेऽपीति कर्मणो मलस्य च विचित्रं परिपाकमपेक्ष्य निग्रहानुग्रहौ पुंसां करोति परमेश्वरः, न त्वेवमेव, तस्याप्रेक्षापूर्वकारित्वप्रसङ्गादिति तावच्छ्रीमत्खेटपालाचार्यमतम् । यदाह भोग-कारिकासु—

कहा गया है । इसे अंकुर के लिये तुष (= भूसी) या कम्बुक (= सीपी) के समान समझना चाहिये । यह पशुत्व माया से उत्पन्न होता है ।'

इस स्वायम्भुव सूत्र में 'मलः' और 'पुंसाम्' इन पदों के पर्यालोचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह (= मल) एक होते हुए भी अनेक शक्तिवाला है अन्यथा यह अनेक का आवरक नहीं हो सकता । साथ ही इसके एक माने जाने पर एक पुरुष के मुक्त होने पर सब लोग मुक्त होने लगेंगे । इस मल का कर्मों के द्वारा परिणाम होता है क्योंकि बिना (कर्म के) मिश्रण के इसमें परिणाम नहीं हो सकता । कालविशेष के कारण परिणत होते हुए (यह मल) किसी के प्रति किसी प्रकार तीव्र मध्य आदि भेद से जब परिपक्व होता है तब मानो पुरुषों के कर्मपाक की अपेक्षा कर महेश्वर उस व्यक्ति के ऊपर शक्तिपात करते हैं । जब तक मल का परिपाक नहीं होता तब तक पुरुष के बन्धक के रूप में उस (= मल) को ईश्वर परिणमित करते रहते हैं और जब कृतकृत्य होने से अपने अन्दर उसको परिपक्व समझ लेते हैं तब अपने शक्तिपात के द्वारा उस मलशक्ति को निरुद्ध करते हैं । स्वतन्त्र शक्तिपातवादी के पक्ष में जिस प्रकार परमेश्वर प्रतिपुरुष किसी कर्माशय को किसी भी समय परिपक्व बना कर भोग के योग्य बनाते हैं न कि सभी कर्माशयों को सब जीवों के प्रति एक साथ (भोग योग्य बनाते हैं) । साथ ही तत्त्वों को भी निश्चित कार्यकारण भाव वाला दिखलाते हैं तथा माया प्रकृति आदि को निद्रा एवं जागरण के औचित्य से परिणत कराते हैं और इस प्रकार उन परमेश्वर का सर्वत्र समान कर्तृत्व नहीं है, उसी प्रकार मलपरिपाक पक्ष में भी कर्म और मल के विचित्र परिपाक को दृष्टि में रख कर ही परमेश्वर पुरुषों का निग्रह और उनके ऊपर निग्रह और अनुग्रह करते हैं, न कि ऐसे ही (अर्थात् बिना किसी व्यवस्था के) क्योंकि ऐसा होने पर उनके ऊपर बिना सुविचार

'अनाद्यनादिसम्बद्धो मलः साधारणोऽक्षयः।
प्रतिपुंनियतः स्वस्वकालव्यापृतशक्तिकः ॥' (श्लो० १२८)

इति । तथा

'मुक्त्वा निरोधिकाः शक्तीर्नान्यो धर्मोऽस्य विद्यते।
कर्माशयसमेतस्य हेतुत्वं च भवार्णवे ॥' (श्लो० १४०)

इति । तदत्र यदि स्वातन्त्र्यान्मलो बन्धकः, शिवमुक्ताणून् प्रत्यपि स्यात् । अथ शिवेच्छा (तः), तच्छिवस्य वीतरागद्वेषत्वाद् मुक्ताणून् प्रत्यपि मलशक्तिप्रेरकत्वं स्यात् । तेषां स्वस्वरूपाभिव्यक्तेर्न तथा इति चेत्, नेतरेषामपि स्वस्वरूपस्य तथात्वात् । अनादिमलनिरोधान्न तथात्वमित्ययुक्तम्, तन्निरोधस्यैव विचारयितुं प्रक्रान्तत्वात् । यदि चानादिर्निरोधः, कृतं शिवशक्त्यधिष्ठानेन । तदप्यनादि चेत्, किमुभाभ्याम्, मलशक्तिकृतनिरोधस्यानादित्वमात्रेणैव सुलेभेनोत्तरेण नियतपुंविषयत्वमुच्यताम् । एवमस्त्विति चेन्न, शिवस्य सर्वत्राधिष्ठातृत्वं स्यात्, ततश्च—

के कर्म करने का आक्षेप लगने लगेगा । यह श्रीखेटपाल के मत का तात्पर्य है । भोगकारिकाओं में कहा भी गया है—

'अनादि मल पुरुष के साथ अनादि काल से सम्बद्ध है । यह साधारण (= सबके साथ लगा हुआ) और अक्षय (= अपने से क्षीण न होने वाला), प्रति पुरुष के साथ निश्चित और अपने-अपने समय में व्याप्त शक्ति वाला है ।' (श्लो०सं० १२८)

तथा—

'निरोधिका शक्तियों को छोड़ कर इस (= मल) का दूसरा कोई धर्म नहीं है । कर्माशय के साथ यह संसारसागर में (जीव के जन्म आदि का) कारण बनता है ।' (श्लो०सं० १४०)

तो यहाँ यदि मल स्वातन्त्र्य के कारण बन्धन में डालने वाला है तो शिवमुक्त अणुओं को भी बन्धन में डालेगा । यदि कहिये कि शिव की इच्छा से यह बन्धक होता है, तो शिव के रागद्वेष से रहित होने के कारण मुक्त अणुओं के प्रति भी मलशक्तिप्रेरकता होगी (अर्थात् मल बन्धक होगा) । यदि कहिये कि उनको (= मुक्त अणुओं को) अपना स्वरूप अभिव्यक्त रहता है इसलिये वैसा (= मल बन्धकत्व) नहीं होता तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य (= बद्ध अणुओं) को भी अपना स्वरूप वैसा (= अभिव्यक्त) रहता है । अनादि मल के निरोध के कारण वैसा नहीं होता यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि उस निरोध का विचार करने के लिये ही यह प्रकरण चल रहा है । यदि यह कहिये कि निरोध अनादि हैं? तो फिर दोनों (= शिवशक्ति का अधिष्ठान और निरोध) को मानने से क्या लाभ, मल की शक्ति से उत्पन्न निरोध को ही अनादि मान लेने से उत्तर सुलभ हो जाता है इससे (उस निरोध को) नियतपुरुषविषयक कहिये । ठीक है,

'मलसंसर्गात्तद्वत्तेषामकृतो हि शिववशीकारः ।
पत्युस्त्वेते रोध्या.............................. ॥' (त०त्र०नि०,का० ९)

इति किमर्थमुक्तम् । अत एव शिवस्य मलशक्त्यधिष्ठातृत्वमपीष्यते इति चेत्सत्यम्, इष्यते, न तु सिद्ध्यति, द्वयोरनादित्वेनान्वयव्यतिरेकाभावात्, प्रयोजनमात्रवशेन च भावव्यवस्थानुपपत्तेः । अस्तु, नैवं तथापि यान् प्रति निरोधाय शिवो मलं प्रयुङ्क्ते, ते शिवतुल्यत्वाद् बहुत्वाच्च प्रत्युत शिवमेव प्रति तं प्रयुञ्जीरन्, भूयसामेकापेक्षया सामर्थ्यातिशयात् । किं च मलशक्तिर्यदि संनिधिमात्रेण निरोधिका तच्छिवमुक्ताणून् प्रत्यपि स्यात् । अथ ज्ञातृत्वकर्तृत्वात्मकस्वरूपावारकत्वेन (निरोधिका?), तर्हि आत्मनां विकारिता प्राप्ता, स्वरूपनाशो वा, तेषाम् तदतिरिक्तस्य धर्मिरूपस्य वैशेषिक इव शैवेऽनभ्युपगमात् । न च मूर्तेन मलेनात्मनाममूर्तचित्स्वरूपाणामावरणं घटते । चक्षुसूर्यादिरश्मीनां तु भौतिकत्वात् पटलादिभिस्तद्युज्यत एव । यदपि मद्यविषादेर्जीवं प्रत्यावारकत्वम्, तत्सिद्धसङ्कोचं प्राणादिमयं प्रति न शुद्धचिदात्मानम् । मलसङ्कोच एव त्वयं प्राथमिको विचार्यो वर्तते, इति स कथं शुद्धचिदात्मन आवारकः

यही हो तो ऐसा भी ठीक नहीं है । शिव ही सर्वत्र अधिष्ठाता है । तो फिर—

'मलसंसर्ग के कारण उस प्रकार उनका शिववशीकार नहीं किया गया । ये पति के रोध्य हैं........ ॥' (त०त्र०नि०,का० ९)

यह क्यों कहा गया । इसलिये शिव ही मलशक्ति का अधिष्ठाता है यदि यह कहिये तो यह कथन सत्य है । शिव की अधिष्ठातृता वाञ्छित होती है न कि सिद्ध होती है । क्योंकि दोनों के अनादि होने से अन्वयव्यतिरेक का अभाव है और प्रयोजनमात्र के वश में होने के कारण भावव्यवस्था असिद्ध है । (यदि यह कहिये कि) ठीक है तो भी ऐसा नहीं है । शिव जिन अणुओं के प्रति निरोध के लिये मल का प्रयोग करते हैं चूँकि वे अणु शिवतुल्य हैं और अनेक हैं इसलिये वे उल्टे शिव के प्रति ही उस मल का प्रयोग करने लगेंगे क्योंकि एक की अपेक्षा अनेक का सामर्थ्य अधिक होता है । इसके अतिरिक्त मलशक्ति यदि सन्निकट रहने मात्र से निरोधिनी होती है तो शिवमुक्त अणुओं के प्रति भी निरोधकार्य करेगी । यदि यह कहिये कि मलशक्ति ज्ञातृत्व कर्तृत्वरूप आत्मा के स्वरूप का आवरण करती है तब तो आत्मा विकारी हो जायेंगे या उनका स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा । क्योंकि जैसे वैशेषिक सिद्धान्त में कर्त्ता और ज्ञाता से भिन्न धर्मी रूप आत्मा नहीं स्वीकृत है उसी प्रकार शैवशास्त्र में भी उनसे अतिरिक्त धर्मी आत्मा नहीं माना गया है । मूर्त्त मल के द्वारा अमूर्त्त चित् स्वरूप आत्मा का आवरण संभव नहीं है । चक्षु तथा सूर्य आदि की रश्मियों का आवरण तो पटल (= नेत्ररोग-फूली) आदि के द्वारा सम्भव है । और जो मद्य विष आदि (स्थूल पदार्थों) को जीव के प्रति आवारक कहा गया वह सिद्ध सङ्कोच वाले प्राणादिमय आत्मा के प्रति न कि शुद्ध चिदात्मा के प्रति । पहले तो मलसङ्कोच का ही विचार करना पड़ेगा कि वह (व्यापक

स्यात्। प्रत्युता (रणा)[१] यायातो मलोऽस्य वेद्यः स्यादिति सर्वः सर्वज्ञो भवेत् । मलश्च यद्यव्यापकस्तस्य व्यापकात्मावारकता न स्यात् । व्यापकत्वे तु शिवमुक्ताणूनप्यावृणुयात्तेषां जीवानां च सर्वदेशाक्रान्त्यात्मनो व्यापकत्वस्या- विशेषात्तस्य च प्रत्यंशं व्यापकेन मलेनाच्छादनात् । आत्ममलयोश्च न संयोगः सम्बन्धस्तस्य व्याप्यवृत्तित्वात् तयोश्च व्यापकत्वात्, न समवायो नित्यद्रव्ययोस्तदयोगात् । अत एव न कार्यकारणभावः । नापि तादात्म्यं, भिन्नत्वात् । आवार्यावारकतापि घटपटादौ न संयोगात् व्यतिरिक्ता भवितुमर्हति । किं च, मलस्य नित्यत्वं व्यापकत्वमेकत्वमनेकशक्तित्वं शिवस्वभावात्मदृक्क्रियानिरोधनेनैतन्निरोधपरिपचने च स्वातन्त्र्यम्, शिवस्य च मुक्तशिवेभ्योऽणुभ्यश्च भिन्नत्वमत एवातद्व्यापकत्वमविश्वशक्तित्वं च कर्ममलपरिपाकादिमुखप्रेक्षितया च पारतन्त्र्यमित्यादि भेदवादिकृतं शिवमलयोः विपर्यस्तस्वरूपप्रतिपादनमतिसुभाषितम् । यच्च मलस्य परिणामित्वमुच्यते तैस्तदमिश्रस्यास्य कथं स्यात् । कर्मभिः सहितस्य भविष्यतीति चेन्न, तानि

असीम) शुद्ध चिदात्मा का आवरक कैसे होता है । स्थिति तो यह है कि आवरण से आया हुआ (= उत्पन्न हुआ) मल ही इसका (= आत्मा का) वेद्य होगा । इस प्रकार सब लोग सर्वज्ञ हो जायेंगे । और यदि मल अव्यापक है तो वह व्यापक आत्मा का आवरक कैसे होगा । और यदि वह व्यापक है तब तो शिवमुक्त अणुओं का भी आवरण करेगा क्योंकि वे मुक्त जीव भी सर्वदेशाक्रान्ति रूप व्यापकत्व से भिन्न नहीं हैं । इस कारण वह (= संयोग) व्याप्यवृत्ति (= सीमित-संकुचित-परिच्छिन्न पदार्थों में रहने वाला) है । और वे दोनों (= आत्मा और मल) व्यापक हैं । उन दोनों में समवाय सम्बन्ध भी सम्भव नहीं है क्योंकि दो नित्य द्रव्यों में वह (= समवाय सम्बन्ध) नहीं होता (कम से कम एक सम्बन्धी को अनित्य होना चाहिये । जैसे—आकाश और शब्द का अथवा आत्मा और ज्ञान का) इसीलिये कार्यकारण भाव (= सम्बन्ध) भी सम्भव नहीं है । और न तादात्म्य सम्बन्ध क्योंकि दोनों (= मल और आत्मा) भिन्न है । घट पट आदि की आवार्यता और आवारकता भी संयोग सम्बन्ध के बिना नहीं हो सकती । और भी भेदवादियों ने जो कहा कि— मल नित्य, व्यापक, एक, अनेकशक्ति वाला है; शिवस्वभाव वाले आत्मा के ज्ञान-क्रिया के निरोध से इसके (= मल के) निरोध और परिपाक में शिव का स्वातन्त्र्य है; शिव मुक्तशिव एवं अणुओं से भिन्न है इसलिये वह (= मुक्त शिव) उसका मूल शिव अव्यापक और अविश्वशक्ति वाला है; शिव कर्म मलपरिपाक आदि की अपेक्षा रखता है इसलिये परतन्त्र हैं (स्वतन्त्र नहीं)—

वचन शिव एवं मल के बारे में उल्टा पुल्टा स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले ये सब उनकी सुवचनावली मात्र हैं (तथ्ययुक्त नहीं) । और वे सब जो मल को परिणामी बतलाते हैं, वह अमिश्र अर्थात् शुद्ध मल का कैसे होगा? यदि यह कहिये कि कर्मों के साथ परिणामित्व होगा?—तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि वे (=

१. वरा ।

मलस्यान्तर्विशन्तीति कास्य तैः सह मिश्रता । यद्यपि—

'मायाविकारयोगे कर्मयुतः कारणं मलो भविनाम्'

(तं०त्र०नि०, का० ११)

इत्युक्तं भवद्भिः, तथापि विज्ञानकेवलिनां मलस्य कर्मसाहित्याभावात् परिणामायोगे मुक्त्यभावः स्यात् । मन्त्रमन्त्रेश्वरादीनां च योऽयमधिकारबन्धः, नासौ सहजमलकृतः तस्य मायोर्ध्वेऽभावादिति तदर्थं मलान्तरमभ्युपगन्तव्यम् । तेषां माहेश्या महामायाशक्त्यैव तावतांशेन बन्धत्वम्, न तु व्यतिरिक्तेनान्येन मलेनेति चेत्, अणूनामपि मायाशक्त्या सङ्कुचितत्वाभासनं बन्धनमस्तु, किमनुपपन्नव्यतिरिक्तमलाभ्युपगमेन । अननुबन्धे मन्त्रादीनामपि तादृशो व्यतिरिक्तो मलोऽभ्युपगम्यताम् ।

किञ्च, अयं मलोऽध्वनि न क्वाप्यनुप्रविष्ट इति कथमस्य षडध्वदीक्षायामन्तर्भाव्य शुद्धिः क्रियते ? कर्मवत् पुंस्तत्त्वान्तर्भावोऽस्येति चेन्न, कर्त्रात्मनः पुंसः कर्माणि संस्कारात्मतयाऽन्तर्भवन्तीति युक्तम्, कर्तृनिष्ठत्वात् क्रियाणाम्, मलस्य तु व्यतिरिक्तस्य कथं तदन्तर्भावः ।

कर्म) मल के भीतर प्रविष्ट होते हैं इसलिये उनकी इसके साथ मिश्रता कैसी ।

यद्यपि आपने—

'माया के विकार के साथ सम्बन्ध होने पर (= माया रूपी प्रपञ्च अर्थात् मायीय मल में आने पर) कर्मयुक्त आणव मल संसारी लोगों का कारण बनता है ।'

यह कहा तथापि (आप बौद्ध के मत में मुक्त किन्तु हमारे मत में) विज्ञानकेवली (अणुओं) का मल कर्म के सहित नहीं होता; फलतः (मल का) परिणाम न होने से (उन विज्ञानकेवलियों की) मुक्ति नहीं होगी । तथा मन्त्र मन्त्रेश्वर आदि (= मन्त्रमहेश्वर) का जो यह अधिकारबन्धन है वह स्वाभाविक मल के द्वारा विहित नहीं है क्योंकि वह (= सहज मल) माया के ऊपरी स्तर में नहीं रहता इसलिये उस (= अधिकार बन्ध) के लिये दूसरा मल मानना पड़ेगा । यदि यह कहिये कि उन (= मन्त्र मन्त्रेश्वर आदि) का परमेश्वर की महा माया शक्ति के ही द्वारा उतने ही अंश में बन्धन है न कि किसी अन्य मल से, तो अणुओं का भी मायाशक्ति के द्वारा विहित सङ्कोच के आभास को ही बन्धन मान लीजिये प्रमाणासिद्ध अतिरिक्त मल को मानने से क्या लाभ? और यदि आप ऐसा नहीं मानते तो फिर मन्त्र आदि के (बन्धन के लिये) भी वैसा ही भिन्न मल मानिये ।

इसके अतिरिक्त यह मल किसी अध्वा में प्रविष्ट है नहीं तो फिर षडध्व दीक्षा में इसका अन्तर्भाव कर इसकी शुद्धि कैसे की जाती है ? कर्म की भाँति इसका पुरुषतत्त्व में अन्तर्भाव है यदि ऐसा कहें ? तो यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि कर्त्तारूप पुरुष के कर्म संस्कार के रूप में उसके अन्दर रहते हैं क्योंकि क्रिया

किञ्च, नावारकेण पटादिना घटादेः स्वरूपं विशिष्यते, अपि तु तद्विषये ज्ञातुर्ज्ञानं विहन्यते, तथा शिवमुक्ताणूनामेव स मलः स्यात्, तेषां मलेन पुंविषयज्ञानावरणादिति मलस्यावारकत्वं तावदयुक्तम् । यश्च मलस्य परिपाकोऽभिधीयते, स किं तस्य तच्छक्तेर्वा विनाशः, उत निरोधप्रतिबन्धः । आद्ये पक्षे एकत्र तत्परिपाके सर्वे शुद्धाः स्युः, तच्छक्तेरनेकत्वाभ्युपगमेऽपि सदृशत्वाच्छक्तिमदव्यतिरेकाच्चैष एव प्रसङ्गः । फलभेदादारोपितभेदो हि पदार्थात्मैव शक्तिरिति सूरयः । न चानादेर्वस्तुभूतस्य मलशक्तिनिरोधस्य नाशो युक्तः, प्रागभावस्य त्ववस्तुत्वात् स भवतु नाम । शक्तिनिरोधप्रतिबन्धोऽपि विषवह्निशक्तिप्रतिबन्धवत् सर्वानेव प्रति स्यात् । तद्वदेव च प्रतिबन्धकनिवृत्तौ तन्निरोधः पुनरुन्मज्जेत् । परिपाकश्चास्य यद्यहेतुकः प्रथममेव स्यात्, वृक्षफलानामिवर्तौ मलशक्तीनां सममेव वा सामनन्तर्येण वा परिपाकः स्यात्, नात्यन्तदूरकालव्यवधानेन । अथ—

कर्त्ता में रहती है, मल तो (क्रिया से) भिन्न है फिर वह उस (= पुरुष) के अन्दर कैसे रहेगा (अर्थात् नहीं रहेगा) ।

इसके अतिरिक्त (जो आपने घट पट के आवार्यआवरकत्व का उदाहरण दिया उसमें) आवारक पट (आवरण के द्वारा) घट के रूप में किसी विशेषता का आधान नहीं करता बल्कि उस (= घट) के विषय में ज्ञाता के ज्ञान का विघात कर देता है । शिवमुक्त अणुओं के विषय में मल की भी यही स्थिति है । मल के द्वारा उनके पुरुषविषयक ज्ञान का आवरण कर दिया जाता है । इस प्रकार मल को आवरक कहना ठीक नहीं । और जो मल के परिपाक की बात आपके द्वारा कहीं गयी (तो उस विषय में यह बताइये कि) वह (= परिपाक) क्या उस (= मल) का विनाश है या उस (= मल) की शक्ति का विनाश अथवा निरोध का प्रतिबन्ध (= रोकना) ? प्रथम पक्ष में एक जगह उसके परिपाक से सब के सब (अणु) शुद्ध हो जायेंगे । उस (= मल) की शक्ति के अनेकत्व के पक्ष में भी (समस्त शक्तियों के) एक समान होने तथा शक्तिमान् से अव्यतिरिक्त (= अभिन्न) होने से वही स्थिति है (अर्थात् सबकी शुद्धि सम्भव है) । विद्वान् लोगों का मत है कि फल के भेद से आरोपित भेद वाले पदार्थ की आत्मा ही शक्ति होती है । अनादि, वस्तुभूत मलशक्तिनिरोध का नाश ठीक नहीं है । प्रागभाव के अवस्तु होने से वह (= निरोध) हो सकता है । शक्ति के निरोध का प्रतिबन्ध भी विष एवं वह्नि की शक्ति के प्रतिबन्ध की भाँति सबके प्रति होगा । और उसी प्रकार (निरोध के) प्रतिबन्धक की निवृत्ति होने पर उसका निरोध फिर उठ खड़ा होगा । (इसके अतिरिक्त यह बताइये कि इस मल का पाक अहेतुक है या सहेतुक?) यदि अहेतुक (= बिना किसी कारण के) है तो पहले ही हो जाय । और वह कालहेतु वाला है तो उस (= काल) की अवधि क्या है? क्योंकि सभी जीवों की मलानादिता तुल्य है । जैसे वृक्षों के फल ऋतु आने पर एक साथ या क्रमशः पकते हैं उसी प्रकार मल की शक्तियों का भी परिपाक एक साथ या सामनन्तर्येण (= एक के बाद तुरन्त दूसरा)

'पुंबलरोधं कुर्वन् पश्यति हि स शक्तिसाफल्यम् ।
दृष्ट्वा च तन्निवृत्त्यै योग्यं युङ्क्ते नृमुक्तये करणम् ॥'
(त०त्र०नि०, का० २१)

इत्युक्तनीत्या मलः स्वकार्यं कृत्वा पच्यते, तत् पुन्निरोधानन्तरमेव पच्येत् । अथ यदर्थं पुन्निरोधः, तस्मिन् कलादिक्षित्यन्ततत्त्वोदये भोगे भुक्ते सति पच्यते, तदत्रभोगो यदि सामान्येन, तदेकत्र शरीरे कलादिक्षित्यन्तमये तत्कार्यस्य भोगस्य सम्पन्नत्वात् तदनन्तरमेव मलपरिपाकः स्यात् । अथ विशेषेण, तन्न कदाचिदपि, भाविकलात्मनो विशेषस्य कर्मजभोगवैचित्र्यस्य तदुत्थत्वात् । अथेश्वरेच्छातो मलस्य परिपाकः, तदीयेच्छा यद्यनियन्त्रिता, हेतुः सर्वाणूनां स्यादित्युक्तमेव । अथ भोगपर्यायतः; कदाचिद्विरुद्धे समबले कर्मणी परिपक्वे अपि विरोधादुदासाते, कर्मान्तराणि चापरिपक्वत्वाद्भोगाय नोन्मुखीभवन्ति, इति तं कालमपेक्ष्य भगवान् मलं रुणद्धि, स च कालो दुःखसुखरहितः स्वयमुपलभ्येतापि कैश्चिदिति पक्षः ।

होगा न कि अत्यन्त दूर काल के व्यवधान से ।

'वह (= परमेश्वर) पुरुष के बल का अवरोध करता हुआ शक्ति की सफलता को मानता है और उस सफलता को देख कर उसकी निवृत्ति के लिये योग्य करण की नियुक्ति करता है जो कि मनुष्यों की मुक्ति के लिये होती है ।'

इसका तात्पर्य यह है—परमेश्वर अपनी निग्रहशक्ति के द्वारा पुरुष = अणु (= जीव) की शक्ति का अवरोध कर अपनी निग्रहशक्ति को सफल मानता है । पुनः उस पुरुष को निग्रहशक्ति से पीड़ित देख कर उसकी मुक्ति के लिये योग्य करण (= उपाय) को लगाता है ।

इस उक्त नीति के अनुसार मल अपना कार्य करने के बाद पच जाता है (= नष्ट हो जाता है) । (यह जो पाक या नाश है) वह पुरुष के निरोध के बाद ही होना चाहिये । यदि जिसके लिये पुरुषनिरोध है कला से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्व के उदय रूपी उस भोग के भुक्त होने पर परिपक्व होता है तो (यहाँ भोग सामान्य अर्थात् सर्वसाधारण है या विशेष?) यदि सामान्य है तो कलादिक्षित्यन्तमय एक शरीर से उस (= मल) के कार्य अर्थात् भोग के सम्पन्न होने से मलपारिपाक हो जायेगा । और यदि विशेषेण भोग होता है तो कभी भी सम्पन्न नहीं होगा क्योंकि भाविकलात्मक, विशिष्ट कर्मज भोगवैचित्र्य उस (= मल) से उत्पन्न होता रहेगा । यदि यह कहिये कि यह मलपारिपाक ईश्वरेच्छा से होता है और उसकी इच्छा अनियन्त्रित (= स्वतन्त्र) है तो सभी अणुओं का (मलपरिपाक) होने लगेगा यह कहा जा चुका है । यदि यह पक्ष रखा जाय कि—भोग के पर्याय (= क्रम) से कभी परस्पर विरुद्ध किन्तु समबल दो कर्म परिपक्व होने पर भी परस्पर विरोध के कारण उदासीन रह जाँय और इनसे भिन्न अन्य कर्म परिपक्व न होने के कारण भोग के लिये उन्मुख न हों,. तो उस काल की अपेक्षा रख कर परमेश्वर मल को रुद्ध कर देता है और वह काल सुख दुःख रहित स्वयं उपस्थित हो जाता है? तो

तदत्रापि ब्रूमहे—कर्मणां क्रमानुष्ठितानां क्रमिकफलानां कथं तावद्युगपत्फलदानौन्मुख्यम्, कथं वा तन्निरोधावसरे ततोऽन्यत् कर्म फलं न दद्यात् । तस्य स्वकाल एव फलदानोन्मुखत्वं न तु तत्काल इति चेत्, तयोरपि तर्हि न तदेककालं युक्तम् । ईश्वरेच्छात एवेति चेत् सा यदि स्वतन्त्रा, तद्युगपत् सर्वस्य सर्वकर्मपरिपाकात् तद्भोगं दत्त्वा मुक्तिं वितरतु, कर्मानपेक्षया वा सर्वस्य मलं रुणद्धु । अथास्वतन्त्रा, तदत्रापि तस्य हेत्वन्तरं वक्तव्यम् । यस्य च तुल्यबले कर्मणी भोगोन्मुखे रुद्धे तस्य तत्कालं देहपातः स्यात् । अथ न जात्यायुष्प्रदयोः कर्मणोर्निरोधोऽपि तु भोगप्रदयोरेव । ननु जात्यायुष्प्रद- कर्मानिरोधेऽपि यदीशो मलं रुन्धे, तद्भोगप्रदात् किमिति बिभेति, यत्तन्निरोधमवश्यमपेक्षते । यदि च रुद्धशक्तिकर्मदशायामेव मलं रुन्ध्यात्, तत्स प्रलयावस्थायां सर्वेषां तथा कुर्यात् । तत्रापि च तेषां तादृग्भोगप्रदकर्मसङ्गोऽस्तीति चेत्, विरुद्धकर्मद्वयसङ्गे तादृग्भोगदं कर्मास्तीति किं वक्तुं न शक्यते । किञ्च, विज्ञानाकलानां कार्ममलशून्यानामीश्वरो युगपन्मलं रुन्ध्यादित्यष्टौ बोधितवानिति शास्त्रेषु संख्यानियमानुपपत्तिः । अथ

इस विषय में भी हम कहते हैं—कर्मों का अनुष्ठान क्रम से होता है और वे फल भी क्रम से देते हैं यह निश्चित है तो फिर वे एक साथ फलदान के लिये कैसे उन्मुख होंगे? अथवा उसके निरुद्ध होने के समय दूसरा कर्म फल कैसे नहीं देगा ? यदि यह कहिये कि कर्म अपने समय पर ही फलदान के लिये उन्मुख होता है न कि तत्काल तो भी उन दोनों (विरुद्ध कर्मों) का एक काल (मे फलदातृत्व) ठीक नहीं है । यदि कहिये कि ईश्वरेच्छा से (वे एक काल में फल देंगे) ? तो ईश्वरेच्छा (= स्वतन्त्र है या अस्वतन्त्र?) यदि स्वतन्त्र है तो एक साथ समस्त कर्मों का परिपाक होने से उनके भोगों का सबको दे कर सबको मुक्ति प्रदान कर दे । अथवा कर्मों की अपेक्षा न रखने के कारण सबके मल को रोक दें । और यदि वह अस्वतन्त्र है तो यहाँ उसका हेत्वन्तर बतलाना चाहिये । तथा जिसके शुभाशुभ कर्म तुल्यद बल वाले हैं और उनकी भोगोन्मुखता अवरुद्ध है उस व्यक्ति की तत्काल मृत्यु हो जायेगी । जन्म और आयुष्ट्व देने वाले कर्मद्वय का निरोध नहीं होता किन्तु भोगप्रद ही कर्मद्वय का निरोध होता है । यदि जाति और आयु को देने वाले कर्मों का निरोध न होने पर भी परमेश्वर मल का निरोध करता है तो भोगप्रद कर्म से वह क्यों डरता है कि जिसके लिये वह उसके निरोध की अपेक्षा अवश्य करता है । यदि रुद्धशक्तिवाले कर्म की दशा में ही वह मल का अवरोध करता है—ऐसा आप कहते हैं तो फिर प्रलयकाल में वह सबके मल का अवरोध कर दे । यदि यह कहिये कि उस काल में भी उन जीवों का उस प्रकार का भोग देने वाले कर्मों का साहचर्य रहता है? तो फिर दो विरुद्ध कर्मों के संग में उस प्रकार का भोगप्रद कर्म रहता है—ऐसा क्यों नहीं कहा जा सकता । इसके अतिरिक्त जब कार्म मल से रहित विज्ञानाकल जीवों के मल को ईश्वर एक साथ अवरुद्ध कर देता है तो, ईश्वर ने आठ जीवों को जगाया' यह शास्त्रोक्त संख्या का

सत्यपि कर्मसाम्ये परिपक्वमेव मलमीशेच्छा रुणद्धीति कैरणव्याख्यातृमतमाश्रीयते, तर्हि उक्तदूषणावृत्तिरनुपपन्ना व्यर्थकर्मसाम्याभ्युपगमदोषश्चापतति । एतेन तदपि प्रत्युक्तं यदाहुः केचित्—

'वैराग्यं भोगवैरस्यं धर्मः कोऽपि विवेकिता ।
सत्सङ्गः परमेशानपूजाद्यभ्यासनित्यता ॥
आपत्प्राप्तिस्तन्निरीक्षा देहे किञ्चिच्च लक्षणम् ।
शास्त्रसेवा भोगसङ्घपूर्णता ज्ञानमैश्वरम् ॥
इत्यादिहेतुके चेच्छा मलं रुन्धे हठादिति ।'

यत एतदुदयेऽपि यदीशेच्छैव कारणं तदन्योन्याश्रयः । कारणान्तरं च वक्तुमशक्यम्, तस्यापि नियमायोगात् । न चैते सर्वे हेतवः, ईशेच्छाया आयातशक्तिपातानां तथारूपत्वादृष्टेः, नाप्येकैकस्येशेच्छाहेतुत्वम्, वैराग्यादेः शतशो व्यभिचारदर्शनात्, परमेशपूजाज्ञानादेश्च मलपरिपाकपूर्वकत्वात्, न त्वीशेच्छा-

---

नियम असिद्ध हो जायेगा । यदि कहिये कि कर्मसाम्य के होने पर भी ईश्वरेच्छा परिपक्व मल का ही अवरोध करती है—ऐसा किरणागम में कहा गया है और हम इसको मानते हैं तो फिर उक्त दोष (= ईश्वरेच्छा का अस्वातन्त्र्य) की आवृत्ति हो जायेगी अगर व्यर्थ कर्म साम्याभ्युपगम का दोष आ जाता है । इस उपर्युक्त कथन से जो कि दूसरे लोगों ने कहा उसका भी खण्डन हो गया (उस कथन को बतलाते हैं—)

'वैराग्य, भोगवैरस्य, कोई भी (= उच्च कोटि का, निरुद्देश्य) धर्म, नित्या-नित्यविवेक, सत्सङ्ग, प्रतिदिन परमेश्वर की पूजा आदि का नित्य अभ्यास, आपत्ति की प्राप्ति, उस प्राप्ति का निरीक्षण, शरीर के अन्दर विचित्र परिवर्तन—(जैसे सुगन्ध आदि का उत्पत्ति, ज्योतिदर्शन आदि), पारमेश्वर शास्त्र की सेवा, भोगसमुदाय की पूर्णता और ईश्वरीय ज्ञान इत्यादि कारणों के उपस्थित होने पर ईश्वर की इच्छा मल को हठात् अवरुद्ध कर देती है ।'

(खण्डन का कारण बतलाते हैं—) क्योंकि इन उपर्युक्त गुणों के उदय में भी यदि ईश्वरेच्छा ही कारण है तो अन्योऽन्याश्रय (= ईश्वर की इच्छा से गुणों की प्राप्ति और गुणों की प्राप्ति होने से ईश्वर की इच्छा का उसके प्रति होना) दोष आ जाता है । (उक्त गुणों के उदय में अथवा मलरोध में) दूसरा कारण भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका (= कारणान्तर का) भी नियम नहीं है (अर्थात् इस ईश्वरेच्छा के सिवाय दूसरा कारण नहीं है)? ये सभी हेतु नहीं बन सकते क्योंकि शक्तिपातयुक्त व्यक्तियों के ऊपर ईश्वर की इच्छा का वैसा रूप नहीं दिखायी पड़ता । और उपर्युक्त कारणों में से एक-एक कारण ईश्वरेच्छा के उदय का हेतु नहीं बन सकता क्योंकि सैकड़ों बार वैराग्य आदि का व्यभिचार देखा गया है (अर्थात् वैराग्य के होने पर भी मलरोध नहीं हुआ और वैराग्य के न रहने पर भी

प्रचोदकत्वं युक्तम् । यत्पुनरन्यदुक्तम्—पुंसां मुक्तेः क्रमिकत्वं दृष्ट्वा ईशेच्छाया अपि मलपरिपाकहेतुत्वं क्रमिकमनुमीयते, यथा भोगस्य क्रमात्तद्धेतुकर्मपरिपाकहेतुत्वं क्रमिकमिति, तदसत्, मुक्तेः क्रमो मलपरिपाकक्रमात्, सोऽपि ईशशक्तिकृतपरिपचनक्रमादिति सत्यम्, ईशशक्तेस्तु मलपरिपाचनक्रमे हेतुर्न लभ्यते, स्वातन्त्र्ये त्वलं मलपरिपाकापेक्षया । तस्मान्न कथञ्चिदपि भेदवादिभिर्मलपृथक्त्वं तच्छक्तिनिरोधतत्परिणामतत्परिपाकशक्तिपातादयः प्रतिपादयितुं शक्यन्ते, इति यथोक्तमेव साधु । यद्यपि चतुर्थपटले—

'अभिलाषो मलोऽत्र तु' (४।१०५)

इत्यत्र मलस्वरूपविचारस्यावसरोऽभूत्, तथापीह एकप्रघट्टकेन पश्चात्तद्विचारितम्, मा भूत्तत्र दीक्षातन्त्रनिभालनोद्यतानां सुकुमारहृदयानां व्यामोह इति। किञ्च, भेदवादे जीवानामानन्त्येऽपि पुनरन्येषामुदयाभावात् ईश्वरेणेयत्तया परिच्छेद्यमानत्वाच्च नैयत्यं संसारस्य चानादित्वमतो यदि प्रतियुगमेकैकोऽणुर्मुच्यते,

---

मल रोध हो गया) और परमेश्वर की पूजा, ज्ञान आदि मलपरिपाक के बाद होते हैं इसलिये ये ईश्वरेच्छा के प्रेरक नहीं हो सकते ।

जो कि दूसरी बात कही गयी—पुरुषों की मुक्ति की क्रमिकता को देख कर यह अनुमान लगाया जाता है कि ईश्वरेच्छा भी मल का परिपाक क्रम से करती है जैसे कि भोगों का क्रम देखने से उसके हेतुभूत कर्मपरिपाक का भी क्रम अनुमित होता है तो यह कथन असमीचीन है । मुक्ति का क्रम मलपरिपाक के क्रम से होता है और वह (= मलपरिपाक) भी ईश्वर की शक्ति के द्वारा किये गये परिपाक के क्रम से यह बात तो सत्य है किन्तु ईश्वर की शक्ति के द्वारा मलपारिपाक के क्रम में कोई हेतु नहीं मिलता और उस ईश्वर के स्वातन्त्र्य को मान लेने पर तो मलपरिपाक की अपेक्षा ही नहीं रहेगी । इसलिये भेदवादियों ने जो मल को पृथक् माना साथ ही उस (= मल) की शक्ति उस (= मल) का निरोध, उसका परिणाम, उसका पाक, शक्तिपात आदि कहा उनका प्रतिपादन सम्भव नहीं है । इस प्रकार जो जैसा कहा गया वही उसी प्रकार ठीक है ।

यद्यपि चतुर्थ पटल में—

'यहाँ अभिलाष ही मल है' (४।१०५)

यहाँ मल के स्वरूप के विचार का अवसर था तो भी यहाँ एक प्रघट्टक (= प्रकरण, प्रसङ्ग) होने से बाद में (= इस पटल में) उसका विचार किया गया । इसलिये दीक्षातन्त्र के ज्ञान के लिये उद्यत सुकुमारमति वाले साधकों को इस विषय में व्यामोह नहीं होना चाहिये । इसके अतिरिक्त भेदवाद में जीवों के अनन्त होने पर भी अन्यों का उदय न होने से तथा ईश्वर के द्वारा इतने ही के रूप में परिच्छेद्यमान होने (= सीमित किये जाने) पर संसार नियत और अनादि है इसलिये यदि एक-एक युग में एक-एक भी अणु मुक्त होने लगे तो (एक न एक दिन सब

तदुच्छेद एव संसारस्य प्रसक्तः । अथ जीवानां तादृगानन्त्यमस्ति, यदीशेनापि न परिच्छिद्यते तर्हि ईशस्यासर्वज्ञता स्यात् । तदुक्तं शारीरके मुनिना—

'अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा' (२।२।४१) इति ।

आस्तामेतत् । यत्तु तैः स्वतन्त्रशक्तिपातवादिपक्षे चोदितमीश्वरस्य निर्निमित्ते निग्रहादिकारित्वेऽप्रेक्षापूर्वकारित्वं युगपत्सर्वतत्त्वस्रष्टृता सर्वं प्रति च युगपत्सर्वकर्मफलप्रदता जीवानां च मुक्तौ स्वरूपनाशः पुनर्भवाविर्भावश्च स्यादागमेषु च मलस्य वस्तुत्वाभिधानानुपपत्तिरिति, तदेषामपर्यालोचिततन्मतसतत्त्वमभिधानम्, यतस्तन्मते पारमेशचित्प्रकाशव्यतिरेकेण न किञ्चिदप्युपपन्नमिति स एव स्वातन्त्र्यात् शिवादिक्षित्यन्तानन्तविश्वात्मना स्वरूपमवबिभासयिषुस्तथा तथा भातीति न कश्चिदनुग्रहनिग्रहादिभाजनं जनोऽशुद्धिपरीतो वाऽस्ति । अथ च निगृहीतानुगृहीततत्तत्प्रमातृंस्तत्तत्प्रमेयजातं च स्वभित्तौ दर्पणनगरवत् स एवोट्टङ्कयन् पञ्चकृत्यकारितां निर्भासयन्नपि न मनागप्यतिरिच्यते, अतिरिच्यते वा दर्पणवदेवेति स एव परं प्रेक्षापूर्वकारी यश्चित्रचमत्कारमयत्वाद् यथा च विश्वमाभासयति तथा तन्मध्ये

अणुओं के मुक्त हो जाने पर) संसार का उच्छेद हो जायेगा । यदि यह कहिये कि जीवों का आनन्त्य इस प्रकार का है कि ईश्वर भी उसकी सीमा नहीं कर सकते? तो फिर ईश्वर असर्वज्ञ हो जायेंगे । वही ब्रह्म सूत्र में व्यास मुनि ने कहा है—

ईश्वर या तो अन्तवान् अर्थात् अनित्य हो जायेगा या असर्वज्ञ (ब्र०सू० २।२।४१)

इसलिये यहीं पर विराम ले लीजिये ।

जो कि स्वतन्त्र शक्तिपात सिद्धान्त वालों के पक्ष में उन लोगों ने कहा—यदि ईश्वर बिना किसी कारण के निग्रह अनुग्रह आदि करेगा तो उसके ऊपर बिना विचार के कार्य करना, सब तत्त्वों की एक साथ सृष्टि करना सब को एक साथ सब कर्मों का फल देना, जीवों की मुक्ति होने पर जीवों के स्वरूप का नाश और पुनर्जन्म, आदि दोष आ पड़ेंगे । इसके अतिरिक्त आगमों में मल को जो भावपदार्थ कहा गया है—यह कथन असङ्गत हो जायेगा—इसलिये यह सब कथन उन लोगों के द्वारा उस मत के तत्त्व को न जानने के कारण है । क्योंकि उनके मत में परमेश्वर के चित्प्रकाश को छोड़ कर कुछ भी अस्तित्व में नहीं आता । इस कारण वह परमेश्वर ही अपने स्वातन्त्र्य के बल से शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त अनन्त विश्व के रूप में अपने को अवभासित करने की इच्छा से उस-उस रूप में आभासित हो रहा है । इसलिये कोई भी आदमी अशुद्धि से युक्त या निग्रह-अनुग्रह का पात्र नहीं है तथा निगृहीत (= अज्ञानबन्ध से युक्त) और अनुगृहीत (= मुक्त) अनेक प्रमाताओं को तथा प्रमेयों को अपनी भित्ति (= आधार भूमि) पर दर्पण में आभासमान नगर की भाँति वही उट्टङ्कित करता है तथा (सृष्टि आदि) पाँच कृत्यों को निर्भासित करता हुआ भी इन सबसे रंच मात्र भी अतिरिक्त अर्थात् अलग नहीं है और यदि अलग या भिन्न मान भी लिया जाय तो दर्पण की भाँति (जो कि

नियतपौर्वापर्यक्रममपि यत्र यत्र प्रथयति तत्र तत्र कार्यकारणभावनैयत्यात्मना कर्मफलादिवैचित्र्येण निमीलितरूपतया तदुपसंहारेण चोन्मीलितरूपतयेति तावत्यंशे बद्धमुक्तरूपतया वस्तुतस्तु स एव तावद्विश्वात्मना स्फुरतीति न कश्चिदन्यो बद्धो मुक्तो वास्ति । न चैवं स्वरूपापत्त्यात्मनि मोक्षे स्वरूपनाशोऽस्ति । सङ्कोचनाशस्त्विष्ट एव । न च प्राप्तशिवाभेदस्य सर्वसर्वात्मतया सर्वत्र सर्वदा स्फुरतः पुनर्भवोऽस्ति । परमशिवस्यैव सतत्त्वस्य शिवादिसकलान्तेनापि महता स्वस्वरूपेण सरतस्तावतांशेन तत्तद्रूपतोच्यताम् । तत्त्वतस्तु परिपूर्णविश्वस्फारः परमेश्वर एवासौ। अतश्च पुनर्भवप्रसङ्गः स्यादिति यदुक्तं तदयुक्तमेवेति—

'अनाद्यशुद्धिशून्यत्वात् प्राप्नोति न भवान्तरम् ।'

इत्यादौ आगमोक्तौ न काचिद्विमतिः । न चास्येयद्विमर्शात्मताप्तौ परिणतिब्रह्मवादिपक्षोक्तदूषणावकाशः कश्चित्, विश्वात्मकस्वस्वरूपविजृम्भामयत्वेन विवर्तपरिणामपक्षयोरनभ्युपगमात् । तदित्थम्—

स्वगत प्रतिबिम्ब से भिन्न नहीं होता) । इस प्रकार वह अत्यन्त विचार पूर्वक कार्य करने वाला है । वही विचित्र चमत्कारमय होने से जिस प्रकार विश्व को आभासित करता है उसी प्रकार उसके बीच में निश्चित पौर्वापर्य क्रम को जहाँ-जहाँ फैलाता है वहाँ-वहाँ कार्यकारण भाव की निश्चितता वाले कर्म फल आदि के वैचित्र्य के कारण अपने रूप को निमीलित (संकुचित, प्रच्छन्न) कर और उसके (= वैचित्र्य के) उपसंहार से उन्मीलित कर उतने अंश में बद्ध एवं मुक्त रूप से वस्तुतः वही विश्व के रूप में स्फुरित हो रहा है । इस प्रकार उससे भिन्न न कोई बद्ध है और न कोई मुक्त । स्वरूपप्राप्तिरूप मोक्ष से स्वरूप का नाश नहीं होता और सङ्कोच का नाश तो इष्ट ही है । जिसने शिव के साथ अभेद प्राप्त कर लिया वह (शिव की भाँति) सर्वात्मक रूप में सर्वदा सर्वत्र स्फुरण करता रहता है इसलिये उसका पुनर्जन्म नहीं होता । चूँकि परमशिव ही एकमात्र तत्त्व है जो अनाश्रित शिव से लेकर सकल प्राणी पर्यन्त अपने महान् स्वरूप से प्रसरण कर रहा है इसलिये उतने अंश में उसकी तत्तद्रूपता (= शिव शक्ति विज्ञान कवेली आदि) कहनी है तो कहिये । वस्तुतः तो यह सब परमेश्वर ही है जो परिपूर्ण विश्व का स्फार है । इसलिये जो पुनर्जन्म की बात कही गयी वह असमीचीन ही है । इस प्रकार—

'अनादि अशुद्धि से शून्य होने के कारण जीव जन्मान्तर को नहीं प्राप्त करता ।'

इत्यादि आगमोक्ति के विषय में किसी को विरोध नहीं है । और न तो इस (= जीव) के इतनी विमर्शात्मकता को प्राप्त करने के बाद परिणतिवादी और ब्रह्मवादी के पक्ष में कथित दोष का कोई अवसर रहा क्योंकि परमेश्वर ही विश्वात्मक अपने स्वरूप की विजृम्भा वाला है इसलिये विवर्त्त और परिणाम दोनों पक्षों को नहीं माना जा सकता । तो इस प्रकार—

सङ्कोचविकासवता तदुभययुक्तेन तद्विमुक्तेन ।
सर्वात्मना च सततं स्वच्छन्दश्चिद्घनः स्फुरति ॥ १ ॥

यद्यत्स्फुरति च तत्तद्वस्तु धरण्यादि तद्वदेव च।
पौर्वापर्यनियत्या तत्त्वानां क्रमिकतापि युक्तैव ॥ २ ॥

सङ्कुचितजीवरूपं तत्तत्कर्माभिमानतत्फलभुक् ।
भासयति क्रमशोऽसौ दीक्षादावक्रमेणापि ॥ ३ ॥

इत्थं सङ्कोचात्माप्यभिलाषो लौलिकेति गदितो यः ।
सोऽपि तथात्वस्फुरणाद्वस्त्वेव मलोऽस्तु शास्त्रेषु ॥ ४ ॥

दीक्षायोगज्ञानैर्ध्वंसेऽपि मलस्य नात्मनाशोऽस्ति ।
स्वच्छस्वच्छन्दात्मकचिद्घनताव्यक्तिरेव यन्मोक्षः ॥ ५ ॥

जलमिव जले विनिहितं पयसि पयो यद्वदर्पितं तद्वत् ।
यान्त्येकत्वं दीक्ष्या दीक्षाक्रमेण दीक्षिता इति हि ॥ ६ ॥

रौरवशास्त्रेऽप्युक्तं प्रायस्तं वृथैव वृत्तिकृता ।
येनार्थव्याख्याभिस्तस्मिन् देवस्तथा तथा प्रथितः ॥ ७ ॥

चिद्घन स्वच्छन्द भैरव सङ्कोच विकास वाले, उन दोनों (= सङ्कोच विकास से) युक्त और, उन (दोनों सङ्कोच और विकास) से मुक्त सर्वात्मक रूप से निरन्तर स्फुरण कर रहा है ॥ १ ॥

जो जो धरणी आदि स्फुरित हो रही है वह सब वस्तु (= वास्तविक) है । और इस प्रकार तद्वत् (= स्वच्छन्द भैरवमय) है । इस प्रकार पौर्वापर्य के नियत होने से तत्त्वों की क्रमिकता भी युक्त ही है ॥ २ ॥

यह (= परमेश्वर) तत्तत् कर्माभिमान के कारण तत्तत् फल को भोगने वाले संकुचित जीवरूप को क्रमशः भासित करता है और दीक्षा आदि के समय अक्रम से भी भासित करता है ॥ ३ ॥

इस प्रकार सङ्कोचरूप अभिलाष जो कि लोलिका के नाम से कहा गया है वह भी तथात्व (= चिद्घनत्व) के रूप में स्फुरण के कारण वस्तु (= सत्) ही है । (यही अभिलाष) शास्त्रों में मल कहा गया है ॥ ४ ॥

दीक्षा, योग अथवा ज्ञान के द्वारा मल का ध्वंस होने पर भी आत्मा का नाश नहीं होता । जो मोक्ष (के नाम से सर्वत्र शास्त्रों में विदित है वह) स्वच्छ स्वच्छन्दात्मक चिद्घनता की अभिव्यक्ति ही है (और कुछ नहीं) ॥ ५ ॥

जैसे पानी में पानी, दूध में दूध मिलाने पर (एक हो जाता है) उसी प्रकार दीक्षित व्यक्ति (= जीव) दीक्षा के क्रम से दीक्षित होकर परमेश्वर के साथ एक हो जाते हैं ॥ ६ ॥

तदलं भेदविकल्पैरनर्गलेशानशक्तिपातोत्था ।
स्वच्छन्दशिवैक्यमयी मुक्तिर्दीक्षादितो घटते ॥ ८ ॥

इत्थं दीक्षोपायो यो यो यैर्यैर्यथा यथा विहितः ।
सोऽपीत्थमेव सर्वः समर्थ्यतां शक्तिपातेद्धैः ॥ ९ ॥

युक्त्यस्त्रैर्धर्मकीर्तं दलितमिह मतं दूषणोद्गारि सम्यग्
विध्वस्तं खेटपालैः कथितमपि मलं भेदसंधानदक्षम् ।
प्रोक्तं दीक्षासतत्त्वं प्रविगलितमलप्रोन्मिषच्चिन्मयैक्य-
स्वच्छस्वच्छन्दधामप्रथनवशभवत् सर्वसर्वात्मरूपम् ॥ १० ॥

इति भद्रम् ॥

॥ इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्य-व्याख्योपेते तत्त्वादिदीक्षाप्रकाशनं नाम पञ्चमः पटलः ॥ ५ ॥

रुरुशास्त्र में भी प्रायः उसको (= मलपाक को) वृत्तिकार ने व्यर्थ ही कहा है जिससे अर्थव्याख्याओं (= तात्पर्य की व्याख्याओं) के द्वारा परमेश्वर उसमें (रुरु शास्त्र अर्थात् रौरवागम में) उस-उस प्रकार से विस्तारित (= व्याख्यात) है ॥ ७ ॥

इसलिये भेद की कल्पना (मत कीजिये यह) व्यर्थ है । अनर्गल (= निर्बाध = स्वच्छ) ईश्वर के शक्तिपात से उत्पन्न, स्वच्छन्द शिव के साथ ऐक्य वाली मुक्ति दीक्षा आदि (= ज्ञान योग क्रिया चर्या) से प्राप्त होती है ॥ ८ ॥

इस प्रकार जिन-जिन लोगों ने जिस-जिस प्रकार से जिस-जिस दीक्षोपाय का विधान किया है उस सबका शक्तिपात से उद्दीप्त लोग समर्थन करे ॥ ९ ॥

(मैंने) तर्क रूपी अस्त्रों के द्वारा (शैव शास्त्र में) दोष प्रकट करने वाले धार्मकीर्त्त (= धर्मकीर्त्ति के द्वारा प्रचालित) मत का खण्डन किया । भेद के सन्धान (= सिद्धि) में दक्ष खेटपालकथित मल का भी मैंने विध्वंस किया । मैंने उस दीक्षातत्त्व का भी वर्णन किया जो मल के विगलन के कारण उन्मिषित होने वाले चिन्मयैक्य स्वच्छ स्वच्छन्द धाम (= तेज) के विस्तार के वश में होता हुआ सर्व-सर्वात्म रूप है ॥ १० ॥

इस प्रकार सब भद्र (= कल्याणमय) है ॥

॥ इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र के पञ्चम पटल 'तत्त्वदीक्षाप्रकाशन' की श्रीक्षेमराज-विरचित स्वच्छन्दोद्योत नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ ५ ॥

षष्ठः पटलः

*** स्वच्छन्दोद्योतः ***

ह्रस्वाकारविरिञ्चिजागरधरित्र्याद्या हि ये पञ्चकाः
शक्त्याद्याश्च तथैव शङ्करनुतेः पूर्णविमर्शात्मनः ।
ये प्राप्तप्रणवाभिधाः कुशलवल्लेशेऽपि विश्वप्रथा-
स्तं पञ्चप्रणवं स्मरामि सततं स्वच्छन्दधामाप्तये ॥

प्रश्नग्रन्थे कालस्य साधनानां च स्वरूपं निर्णेतुमवशिष्टम् । तत्र समनन्तर-पटलेन कालो निर्णेष्यते, स च बाहुल्येन सिद्ध्यङ्गम्, सिद्धयो मन्त्रसाधनपूर्विका इति साधनानां स्वरूपनिर्णयाय पञ्चमपटलान्ते 'मन्त्रसिद्धेन वा' इति यदासूत्रितं तद्विभक्तुमाह—

*** ज्ञानवती ***

ह्रस्वाकार (= ह्रस्व अकार आदि पाँच ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म), ब्रह्मा आदि पाँच—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव, जाग्रत् आदि पाँच (= जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत) अवस्था, पृथिवी आदि (पृथिवी, प्रकृति, माया, ईश्वर और सदाशिव) तत्त्व पाँच, उसी प्रकार से शक्ति आदि (शक्ति, व्यापिनी, समना, उन्मना और बिन्दु) पाँच जो कि पूर्णविमर्श स्वरूप शिवस्तुति के कारण प्रणव की संज्ञा प्राप्त किये हुए हैं, कुशल (= कस्तूरी) की भाँति लेशमात्र में भी विश्वविस्तार वाले बतलाये गये हैं; स्वच्छन्द धाम की प्राप्ति के लिये मैं उस पञ्चप्रणव (= उपर्युक्त ह्रस्वाकार आदि के स्वरूप भूत निष्कल नाथ) का निरन्तर स्मरण करता हूँ ॥

प्रश्नग्रन्थ के अनुसार काल और (सिद्धियों के) साधनों के स्वरूप का वर्णन अवशिष्ट है । उसमें काल का निर्वचन समनन्तर (= सातवें) पटल में किया जायगा। वह काल अत्यधिक रूप से सिद्धि का अङ्ग है । सिद्धियाँ मन्त्र की साधना के बाद ही मिलती हैं इसलिये साधनों के स्वरूप का निर्णय करने के लिये पञ्चम पटल के अन्त में 'मन्त्रसिद्धेन वा' इत्यादि जो भी कहा गया है उसको विभक्त करने के लिये कहते हैं—

समयाचारयुक्तस्य साधकस्य वरानने ।
जायते विविधा सिद्धिः.........

समयाः पूर्वोक्ताः । आचारो वक्ष्यमाणो मन्त्राराधनप्रकारः । वरमुत्कृष्टं शाक्तस्फारमयम्, आननं भोगापवर्गप्रदपरपदप्रवेशो यस्याः ॥

आचारं क्रमेण स्फुटयति—

...............गिरिगह्वरमाश्रिते ॥ १ ॥
सुशुद्धे भूप्रदेशे तु सर्वशल्यविवर्जिते ।
प्रच्छन्ने विजने रम्ये भैरवं तत्र पूजयेत् ॥ २ ॥

सर्वशल्यविवर्जितत्वमहिकण्टकपरुषवातोपद्रवप्रस्रवादिहीनत्वम् । प्रच्छन्नेऽदृश्ये । पूजयेदिति कामनोचितेन संभारेण ॥ २ ॥

अथ—

जपित्वाक्षरलक्षं तु बहुरूपस्य सुव्रते ।
पञ्चप्रणवसंयोगाज्जपतः सिद्ध्यति ध्रुवम् ॥ ३ ॥

हे वरानने! समयाचार से युक्त साधक को अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ॥ १- ॥

समयों (= नियमों) का वर्णन पहले किया जा चुका है । आचार = आगे कहा जाने वाला मन्त्राराधना का प्रकार । ('वरानना' शब्द की व्याख्या करते हैं—) वर = उत्कृष्ट है आनन = भोग और मोक्ष देने वाला परपदप्रवेश जिसका (वह वरानना है) ॥

आचार को क्रम से स्पष्ट करते हैं—

पर्वत की गुफा में स्थित, सम्यक्तया शुद्ध, सब प्रकार के शल्यों से रहित, प्रच्छन्न, (= मनुष्य के आवागमन से रहित), रमणीय जो भूमि उसमें भैरव की पूजा करनी चाहिये ॥ -१-२ ॥

सब प्रकार के शल्य = साँप, काँटा, कङ्कण आदि कठोर वस्तु, तेज हवा के झोंके तथा प्रस्रव (= पानी की बूँद के गिरने) से, विवर्जित = रहित । प्रच्छन्न = अदृश्य । पूजा करनी चाहिये—इच्छा के अनुकूल पूजा सामग्री के द्वारा ॥ २ ॥

इसके बाद—

हे सुव्रते! पञ्चप्रणव के संयोग से बहुरूप मन्त्र (= ॐ अघोरेभ्यः घोरेभ्यः घोरघोरतरेभ्यः सर्वतः शर्व सर्वेभ्यः नमस्ते रुद्ररूपेभ्य नमः) के अक्षर की संख्या (= बत्तीस के) लाख के बराबर अर्थात् बत्तीस लाख जप कर साधक निश्चित रूप से सिद्धि प्राप्त करता है (यह प्रकारान्त से उस

बहुरूपस्य पूर्वनिर्णीतपरमार्थस्य अक्षराणां द्वात्रिंशतः परिमाणेन, लक्षमिति द्वात्रिंशल्लक्षाणि, पूर्वसेवार्थं जपित्वा, ध्रुवं निश्चितम्, सिद्ध्यति यथेष्टां सिद्धिमेति साधकः । कथं जपित्वा?—इत्याह—पञ्चप्रणवसंयोगाज्जपतः । प्रकर्षेण नूयते स्तूयते, अभेदपरमार्थतया विमृश्यते, अशेषविश्वनिर्भरं पारमेश्वरं स्वरूपं येन स प्रणवो निष्कलनाथः, तदभिन्नव्याप्तिक ॐकारोऽपि । तस्य च मृगमदकुलकैकदेशलेशवद्विश्लेष्यमाणाकारादिकलाः, तद्वाच्या ब्रह्मादिदेवताः, तदधिष्ठातॄणि धराप्रकृतिमायादितत्त्वानि, वर्णोच्चारकला ह्रस्वादिरूपाः, तदुच्चारयित्रवस्थाश्च जाग्रदाद्याः प्रत्येकं पञ्चसंख्याः स्थूलाः शक्तिव्यापिन्यादिकलास्तद्वाच्यतदुच्चारणकलादिरूपाश्च सूक्ष्मदशाः,

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च'

इति स्थित्या परिपूर्णचमत्कारपूर्णत्वात् प्रणवशब्दवाच्याः । अत एवैतन्मन्त्रशरीरनिविष्टत्वादेतेऽकारादयो ब्रह्मविष्णुरुद्रशक्तिशिवप्रणवाभिधेयपिण्डबीजविशेषा भिन्नस्फारा इति कृत्वा, एते पूर्वोक्ताः सर्व एव पञ्च प्रणवा विद्यन्ते यत्र स पञ्च-

---

मन्त्र की पुरश्चरण विधि है ॥ ३ ॥

बहुरूप = जिसके स्वरूप का निर्णय पहले हो चुका है वह । अक्षर = बत्तीस, के परिणाम से युक्त लाख अर्थात् ३२ लाख पूर्व सेवा के लिये जप कर, ध्रुव = निश्चित रूप से, सिद्ध होता है = साधक यथेष्ट सिद्धि को प्राप्त करता है । किस प्रकार जप करे ?—

यह बतलाते हैं—पञ्चप्रणव के संयोग से जप करने वाला । ('प्रणव' शब्द की व्याख्या करते हैं—) प्रकर्ष के साथ नुति = स्तुति की जाती है = अभेद परमार्थ के रूप में विमर्श किया जाता है, समस्त विश्व से भरित पारमेश्वर स्वरूप जिसके द्वारा, वह प्रणव है = निष्कलनाथ है । उससे अभिन्न व्याप्ति वाला होने से ॐकार भी प्रणव है । मृगमद (= कस्तूरी) के अंश के लेश मात्र से पृथक् होकर (जैसे गन्ध सर्वत्र फैलता है उसी प्रकार उसके एक सूक्ष्म अंश से) अकार आदि कलायें, उनके वाच्य ब्रह्मा आदि (= विष्णु रुद्र, ईश्वर, सदाशिव) देवतायें उनसे अधिष्ठित पृथिवी प्रकृति माया आदि (= शुद्धविद्या ईश्वर और सदाशिव) तत्त्व, वर्णोच्चार कला ह्रस्व आदि (= दीर्घ, प्लुत सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म) उसका उच्चारण करने वाली जाग्रत आदि (= स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, तुरीयातीत) ये प्रत्येक पाँच संख्या वाले हैं, ये सब स्थूल हैं । शक्ति व्यापिनी आदि (= बिन्दु, नाद, समना) कलायें, उनके वाच्य उनकी उच्चारण कला आदि रूप सूक्ष्म दशायें,

'ब्रह्म का एक देश भी सर्वरूप और अविकल्प्य है'

इस नीति के अनुसार परिपूर्ण चमत्कार से पूर्ण होने के कारण प्रणव से वाच्य हैं । इसलिये इस मन्त्रशरीर में निविष्ट होने के कारण ये उपर्युक्त अकार आदि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, शक्ति, शिव, प्रणव के अभिधेय विशिष्ट पिण्डबीज भिन्न स्फार

प्रणवो निष्कलस्तदभिन्नव्याप्तिरोङ्कारश्च । तस्मिन् पञ्चप्रणवे सम्यग्योगादुच्चारोन्मीलितहंसपदानुलग्नतात्मकत्वात् पूर्वनिर्णीतनिष्कलव्याप्त्यभिन्नसतत्त्वसकलमन्त्ररहस्यार्थभावनारूपश्च यो जपस्तस्माज्जपतो न त्वक्षरपाठमात्रादित्यर्थः ॥ ३ ॥

नं केवलमित्थं जपात् सिद्ध्यति यावत्—

मुच्यते न तु संदेहो भेदनात् प्रणवस्य तु ।

पञ्चप्रणवसंयोगाज्जपत इति यदुक्तं तद्वक्ष्यमाणवर्णकलादिविश्लेषेण व्याप्तिरूपं भेदनं विना न भवति । भेदनं परतत्त्वावेशप्रदमिति मुक्तेर्निःसंशयत्वमुक्तम् ॥

तत्र मन्त्रोच्चाराङ्गभूतकालकलाज्ञानपूर्वकालातीतपदप्रवेशार्थं तावद्भेदनमादिशति देवः—

ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्मं परं शिवम् ॥ ४ ॥
प्रणवं पञ्चधा ज्ञात्वा भित्वा मोक्षो न संशयः ।

प्रणवमकारोकारमकाराबिन्दुनादकलोच्चारेषु क्रमेण ह्रस्वाद्यतिसूक्ष्मान्तोच्चारण-

---

वाले हैं ऐसा मान कर ये पूर्वोक्त सब के सब पञ्चप्रणव जिसमें वर्त्तमान हैं वह पञ्चप्रणव = निष्कल देव हैं और ॐकार उससे अभिन्न व्याप्तिवाला है । उस पञ्चप्रणव में सम्यक् योग से = उच्चार के कारण उन्मीलित 'हंस' पद से संलग्न होने से, पूर्व वर्णित निष्कल व्याप्ति से अभिन्न तत्त्व वाले सकल मन्त्र के रहस्यार्थ की भावना रूप जो जप उस जप, से (सिद्धि मिलती है) न कि अक्षर के पाठ मात्र से ॥ ३ ॥

इस प्रकार के जप से साधक को केवल सिद्धि ही नहीं मिलती बल्कि—

प्रणव के भेदन से वह मुक्त हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ४- ॥

'पञ्चप्रणव के संयोग से जप करने वाले की...' यह जो कहा गया वह वक्ष्यमाण वर्ण कला आदि के विश्लेष (= पृथक्करण) के द्वारा व्याप्तिरूप भेदन के बिना सम्भव नहीं है । यह भेदन परतत्त्व के आवेश को प्राप्त कराता है इसलिये मुक्ति की प्राप्ति की निःसन्देहता कही गयी ॥

इस प्रक्रिया में मन्त्रोच्चार के अङ्गभूत काल और कला का ज्ञान पहले करना पड़ता है । तत्पश्चात् कालातीत पद में प्रवेश होता है । इस प्रवेश के लिये परमेश्वर भेदन का वर्णन करते हैं—

परमशिव रूप प्रणव को ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म भेद से पाँच प्रकार से जान कर और उसका भेदन कर मोक्ष प्राप्त हो जाता है । इसमें संशय नहीं है ॥ -४-५- ॥

अकार उकार मकार बिन्दु नाद नामक कलाओं के उच्चारण में क्रमशः ह्रस्व

कालकलाप्रपञ्चरूपं भित्वा तत्तद्दशानुभवानुप्रवेशक्रमेणाध्यास्य परं भावमुन्मनापदासादनेन ज्ञात्वा मोक्षमाप्नोत्येवेत्यर्थः । अत्र च ह्रस्वादिनादान्ताः परस्परानुषक्ततयोच्चार्याः, सूक्ष्मातिसूक्ष्मयोर्बिन्दुनादयोरुपरि अर्धचन्द्रादिनादनादान्तादिदशास्तारतम्यभाजोऽप्यनुसर्तव्याः । यथोक्तं प्राक्—

'सूक्ष्मसूक्ष्मतरैर्भावैरेवमेवं त्यजेत् प्रिये ।' (४।२६७)

इति । ह्रस्वादीनां यथा प्रणवत्वं तथा निर्णीतम्, इति सामानाधिकरण्यं युक्तमेव । न संशय इत्युक्त्या स्वानुभवसिद्धतामस्य दर्शयति ॥ ४ ॥

तदित्थं ह्रस्वादिकालकलाक्रमेण वक्ष्यमाणवाचकादिक्रमेण चैकोऽप्ययं महामन्त्रात्मा—

प्रणवः पञ्चधावस्थः................

पूर्वम्—

'प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तः'

इति स्थित्या ह्रस्वादयः पञ्च प्रणवा इत्यभिहितमधुना त्वेक एव

से लेकर अतिसूक्ष्म पर्यन्त उच्चारणकला कला के प्रपञ्चरूप प्रणव का भेदन कर तत्तत् दशा के अनुभव के अनुप्रवेश के क्रम से उसमें ठहर कर उन्मना पद की प्राप्ति के द्वारा पर भाव को जान कर साधक मोक्ष को प्राप्त करता ही है । इस प्रक्रिया में ह्रस्व से लेकर नादपर्यन्त उच्चारण का परस्पर सम्बन्ध होना चाहिये । सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म = बिन्दु और नाद के ऊपर अर्धचन्द्र आदि तथा नाद नादान्त आदि दशाओं, जो कि तारतम्य वाली हैं, का भी अनुसरण करना चाहिये (अर्थात् उनका क्रम से उच्चारण करना चाहिये) । जैसा कि पहले कहा गया—

'हे प्रिये सूक्ष्म सूक्ष्मतर भावों (= भावनाओं) से इसी प्रकार (तत्त्वों का) त्याग करना चाहिये ।' (स्व०तं० ४.२६७)

ह्रस्व आदि जिस प्रकार प्रणव हैं वह बतला दिया गया । इस प्रकार (ह्रस्वं प्रणवं इत्यादि) जो सामानाधिकरण्य (= समान विभक्ति का प्रयोग हुआ) है वह ठीक ही है । 'संशय नहीं है' इस कथन से ग्रन्थकार इस सिद्धान्त के विषय में अपनी अनुभवसिद्धता बतलाते हैं अर्थात् उन्होंने स्वयं इसका अनुभव किया है ॥ ४ ॥

तो इस प्रकार ह्रस्व आदि कालकला के क्रम से वक्ष्यमाण वाचक आदि के क्रम से एक ही यह महामन्त्र —

प्रणव पाँच प्रकार से स्थित है ॥ -५- ॥

पहले—

'ब्रह्म का एकदेश भी सर्वरूपता को अतिक्रान्त नहीं करता ।'

महाविमर्शात्मा मन्त्र इत्थं पञ्चधाऽवतिष्ठत इत्येवमभिहितम् इत्युक्तिभेदमात्रमेतत्, निर्णीतदृशा वस्तुतत्त्वैक्यात् ॥

किमित्थं पञ्चधावस्थितिमात्रात्मैवायम् ? नेत्याह—

...............हंसेन सह संयुक्तः ॥ ५ ॥

पूर्वं

'हंसोच्चारस्त्वथोच्यते ।
हकारस्तु स्मृतः प्राणः सुप्रवृत्तो हलाकृतिः ॥' (४।२५७)

इति ग्रन्थेन हंसोऽनाहतध्वनिरिति निर्णीतम् । अतस्तेन स्वप्रवृत्तत्वादेवाकृतकमध्यमप्राणस्फुरत्तारूपेण समनन्तरवक्ष्यमाणनीत्याशेषविश्ववाङ्मयस्फारमयेन सह संयुतस्तद्विमर्शविश्रान्तिपरमार्थोऽयमत्रत्यो महामन्त्ररूपः प्रणवः ॥ ५ ॥

यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोके शिवज्ञाने प्रतिष्ठितम् ।
शिवज्ञानं च तत्रस्थं.............

यत्किञ्चित् षडध्वनो मध्याल्लोकेऽस्ति, तत्सर्वं शिवज्ञानं च शिवो

इस नियम के कारण ह्रस्व आदि पाँच प्रणव हैं—ऐसा कहा गया । और अब एक ही महाविमर्शस्वरूप मन्त्र पाँच रूपों में स्थित है—यह कहा गया । इन दोनों कथनों में केवल शब्दभेद है क्योंकि उपर्युक्त दृष्टि से वस्तु एक ही है ॥

प्रश्न—क्या इस प्रकार यह पाँच प्रकार की स्थिति वाला ही है? नहीं—यह कहते हैं—

(वह प्रणव) हंस के साथ संयुक्त है ॥ -५ ॥

पहले—

'अब हंसोच्चार का वर्णन किया जा रहा है । हकार को प्राण कहा गया है । वह सुप्रवृत्त और हल् की आकृति वाला (= स्वररहित) है । (स्व०तं० ४।२५७)

इस ग्रन्थ के द्वारा यह बतलाया गया कि हंस अनाहत ध्वनि है । वह स्वयं प्रवृत्त होने के कारण ही मध्यम प्राण (= सुषुम्ना के अन्दर प्रवहमान प्राणवायु) की स्फुरत्ता जो कि आगे कहे जाने वाले नियम के अनुसार समस्त विश्ववाङ्मय के स्फार वाला जो अकार है उसके साथ संयुक्त है अर्थात् यहाँ का महामन्त्र रूप प्रणव उस (= अकार के साथ विमर्शात्मक हकार अर्थात् अहं) के विमर्श की विश्रान्ति वाला है ॥ ५ ॥

इस प्रकार—

इस लोक में जो भी वाङ्मय है और उसमें स्थित जो शिवज्ञान का साधन है, वह सब शिवज्ञान में प्रतिष्ठित है ॥ ६- ॥

ज्ञायतेऽनेनेति शिवज्ञानं शिवज्ञाने ज्ञानस्फारमये पारमेशोक्तव्याप्तिसारे प्रणवे प्रोक्तवक्ष्यमाणदृशा प्रतिष्ठितमभेदेनान्तःस्थितम्, यतस्तद्वाङ्मयं परावाक्प्रसररूपम् । यथोक्तं श्रीसारस्वते स्तोत्रे—

'त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीनपि स्वरा-
नकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णविकृति ।
तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरनुरुन्धानमणुभिः
समस्तव्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम् ॥'
(म०स्तो० २७)

इति । 'प्रणवे' इति वक्तव्ये 'शिवज्ञाने' इत्युक्तेरयं भावः यद् वेदगारुडवैष्णवादिषु रूपसाम्येऽपि प्रणवस्य पारमेश्वरे प्रोक्तवक्ष्यमाणज्ञानव्याप्तिसारताकृत उत्कर्षः । अत एव एतद्व्याप्तिज्ञानानुसारेण सर्वत्राप्यसौ पूर्णस्फारमयत्वेन परसिद्धिप्रदः । यथोक्तम्—

'यतः शिवोद्भवं सर्वं शिवधामफलप्रदम्' (स्व० ५।४५)

इति । तत्तत्परिमितव्याप्त्यनुसारेण तु स एव मितसिद्धिप्रदः । यदभिप्रायेण वक्ष्यति—

जो कुछ (वाङ्मय) षडध्वा के बीच लोक में स्थित है वह सब और शिवज्ञान = शिव जिसके द्वारा ज्ञात होते हैं वह ज्ञान, शिवज्ञान में = ज्ञान के स्फारमय पारमेश्वर के द्वारा उक्त व्याप्ति वाले प्रणव में, प्रोक्त और वक्ष्यमाण रीति से प्रतिष्ठित है = अभेद रूप में उनके अन्दर स्थित है । क्योंकि वह वाङ्मय परावाक् का प्रसार है । जैसा कि सारस्वत स्तोत्र में कहा गया—

त्रयी (= ऋग् यजुः साम वेद), तीन वृत्तियाँ (= अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना अथवा सात्त्विक, राजस एवं तामस वृत्तियाँ), त्रिभुवन (= भूर्लोक अन्तरिक्ष और स्वर्ग लोक), तीन स्वर (= उदात्त अनुदात्त स्वरित) इन सबको अकार आदि तीन वर्णों (= अ इ उ) से कहने वाला तथा विकाररहित जो आपका तुरीय (= चतुर्थ) धाम है, हे शरणदाता । वह 'ओम्' पद अणु (= सूक्ष्म) ध्वनियों से समस्त व्यस्त आपकी ही स्तुति करता है । (शि०म० स्तो० २७)

'प्रणवे' कहने के स्थान पर 'शिवज्ञाने' कथन का यह अभिप्राय है—कि वेद गारुडतन्त्र एवं वैष्णव आदि शास्त्रों में (ओऽम् का) रूप समान होने पर भी पारमेश्वर शैवशास्त्र में वह पूर्वोक्त एवं वक्ष्यमाण ज्ञान की व्याप्ति वाला होने से उत्कृष्ट है । इसीलिये इसकी (= पारमेश्वर प्रणव की) व्याप्ति के ज्ञान के अनुसार यह सर्वत्र पूर्ण स्फारमय होने से पर सिद्धिप्रद है । जैसा कि कहा गया—

'चूँकि सब शास्त्र शिव से उत्पन्न हैं इसलिये वे सबके सब शिवधाम रूपी फल को देने वाले हैं ।' (स्व०तं० ५.४५)

'भ्रमयत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया' (१०।११४१)

इति, आस्तां तावदेतदिह । यच्चैतदेवंविधप्रणवात्मकं शिवज्ञानं तदपि तत्रेति निरूपितसतत्त्वे हंसे, तिष्ठति ॥

तदित्थमस्मिन्निष्कलनाथे पञ्चप्रणवे नित्योच्चरन्नादावमर्शरूपः—

............हंसः प्रणवसंयुतः ॥ ६ ॥

प्रणवे प्रोक्तसतत्त्वे सम्यग्युतः प्राणरूपतया स्थितः, अत एवाशेषविश्वक्रोडीकारिहंससम्बन्धादेव शास्त्रान्तरोक्तब्रह्मविष्णुरुद्रशक्तिशिवप्रणवा भेदव्याप्तिरयं महामन्त्र इत्युक्तमेव । अतश्च यदुक्तम्—

'पञ्चप्रणवसंयोगाज्जपतः सिद्ध्यति ध्रुवम्' (६।३)

इति, तत्रानाहतविश्रान्तिसतत्त्वो निष्कलोच्चारप्रगुणीकृतमध्यधामसंलीनतया जपः कार्यः, इति परमार्थः पर्यवसितः ॥ ६ ॥

वही शिव तत्तत् परिमित व्याप्ति के अनुसार सीमित सिद्धि देने वाले होते हैं। इसी अभिप्राय से आगे कहेंगे—

'माया उनको अमोक्ष में मोक्ष की इच्छा से भ्रमित करती रहती है ।'
(स्व०तं० १०।११४१)

यहीं पर विराम दीजिये । और जो इस प्रकार का प्रणवात्मक को चर्चा इस शिव ज्ञान है वह भी, वहाँ = निरूपित तत्त्व वाले हंस में, रहता है ॥

तो इस प्रकार इस निष्कलनाथ पञ्चप्रणव में नित्य उच्चरित होता हुआ नादावमर्शरूप—

हंस प्रणव से युक्त है ॥ -६ ॥

('प्रणवसंयुतः' पद की व्याख्या करते हैं—) उक्त तत्त्व वाले प्रणव में सम्यक् युत है = प्राणरूप में स्थित है । इसलिये यह महामन्त्र समस्त विश्व को अपने अन्दर समाहित कर रखने वाले हंस से सम्बन्ध के कारण ही अन्य शास्त्रों में वर्णित ब्रह्मा विष्णु रुद्र शक्ति एवं शिव नामक पाँच प्रणव वाली भेदव्याप्ति से युक्त है—

यह कहा गया । इसलिये जो कहा गया कि—

'पञ्चप्रणव के संयोग से जपने वाले व्यक्ति का (जप) निश्चितरूप से सिद्ध होता है ।' (स्व०तं० ६।३)

इस कारण अनाहत में विश्रान्ति वाले जप को निष्कल के उच्चार के द्वारा कई गुना अधिक उत्कृष्ट बनाये गये मध्यधाम (= सुषुम्ना) में लीन होकर करना चाहिये—यह परमार्थ है ॥ ६ ॥

अथ प्रणवसंयोगं विना कीदृगयम् ? इत्याशङ्क्याह—

विना प्रणवसंयोगाज्जीव एको व्यवस्थितः।

जीवो विश्वस्य प्राणभूतो हलाकृतिरेव । यथोक्तम्—

'हकारस्तु स्मृतः प्राणः सुप्रवृत्तो हलाकृतिः' (४।२५७)

इति । अत्र प्राण इत्यकारादिकलात्मकप्रणवसंयोगं विना, एक इत्यद्वितीयः । सर्वमन्त्रवीर्यान्तर्व्यवस्थित इत्यविचलद्रूपतयानुच्चार्यः, अथ चाव्यवस्थितो न केनचित् प्रतिनियतेन रूपेण स्थितोऽनियन्त्रितस्फार इत्यर्थः । जीवशब्देन व्यवहरन्नयमेव महास्फुरत्तारूप आत्मा मन्तव्य—इति ध्वनति । कश्चित्तु मन्त्रस्वरूपनिरूपणपरे ग्रन्थेऽस्मिन् मुख्यं च शब्दार्थमुत्सृज्य हंसशब्देन हंसपथः, प्राणशब्देन च स एव, यदि वा प्रणवप्राणयोरैक्यात् प्राणयोगं विना जीवः पुरुषः, एक इत्यनभिव्यक्तज्ञानक्रियास्वभावः—इति व्याचष्टे । तद्युक्तमयुक्तं वेति सचेतसो जानन्ति ॥

यतोऽयं प्रणवसंयोगं विना स्वरूपमात्रावस्थितो जीवस्ततः—

प्रणव के संयोग से रहित यह कैसा रहेगा?—यह शङ्का कर कहते हैं—

प्रणव के संयोग के बिना जीव (= ह्कार) अकेला (= अद्वितीय) हो जाता है ॥ ७- ॥

जीव = विश्व का प्राणभूत हल् की आकृति वाला (ह्कार) । जैसा कि कहा गया—

'ह्कार को प्राण कहा गया है । सुप्रवृत्त यह हल् की आकृति वाला है ।'
(स्व०तं० ४।२५७)

(उक्त श्लोक में चर्चित) प्राण का स्वरूप है—अकार आदि कला रूप प्रणव के संयोग से रहित । एक = अद्वितीय । समस्त मन्त्रों के वीर्य के रूप में उनके अन्दर स्थित है । इस कारण अविचलत् रूप से अनुच्चार्य है । (यह ह्कार) अव्यवस्थित है अर्थात् किसी निश्चितरूप में स्थिर नहीं रहता । तात्पर्य यह है कि इसका स्फार (= चमत्कारपूर्ण प्रसार) नियम के अधीन नहीं है । ग्रन्थकार इसका 'जीव' शब्द से व्यवहार करते हैं—इसका ध्वन्यर्थ यह है कि इसी को महास्फुरत्ता रूप आत्मा समझना चाहिये । कोई विद्वान् मन्त्रस्वरूप का निरूपण करने के लिये प्रवृत्त इस ग्रन्थ में मुख्य शब्दार्थ को छोड़ कर 'हंस' शब्द का अर्थ हंस पथ मानते हैं— और प्राण शब्द से भी वही ज्ञेय है । अथवा प्रणव और प्राण के एक होने से प्राणयोग के बिना जीव = पुरुष, एक = अनभिव्यक्त ज्ञानक्रियास्वभाव वाला है—ऐसी व्याख्या करते हैं । उनकी यह व्याख्या उचित है या अनुचित— इसको विद्वान् ही जान सकते हैं ॥

चूँकि यह जीव प्रणव के संयोग से रहित स्वरूप मात्र में स्थित है, इसलिये—

यथाप्रकृति संयुक्तो न च तिष्ठति चैकतः ॥ ७ ॥
तथा षष्ठेन संभिन्नो देहे जीवः प्रवर्तते ।

जीवो हंसः प्रकृत्यनतिक्रमेण स्वभावानुल्लङ्घनेन संयुक्तः, स्वभावानुल्लङ्घनेन चास्य—

'विभक्तिर्नानयोरस्ति' (४।३५०)

इत्युक्तनीत्याऽकारसङ्गत एव भवतीत्यकारेण संयुक्तोऽसौ । एकत इत्येकस्मिन्नद्वितीये सामान्यस्पन्दात्मनि रूपे न तिष्ठति, अपि तु किञ्चित् स्पन्दाधिक्यमिव भजते यथा, तथा षष्ठेन ऊकारेण संभिन्नो मिश्रितो देहे प्रवर्तते, सर्वेण स्वाभाविकेन प्राणवाहेन वहँल्लक्ष्यते एव । तथाशब्दापेक्षया यथा शब्दोऽप्यत्राध्याहार्यः ॥

पूर्वोक्तकरणबन्धानुसारिणा—

चोदितस्तु यदा तेन तदा चोर्ध्वं प्रवर्तते ॥ ८ ॥

तेनेति षष्ठेन ऊकारेणार्थाद् बिन्द्वादियुक्तेन । तदा चेति तदैवेत्यर्थः । ऊर्ध्वमिति ताल्वादिस्थानम् । एतच्चोदनां विना त्वस्याकारयुक्तस्यापि नोर्ध्वप्रवृत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

यह अपने स्वभाव से संयुक्त हुआ एक रूप में नहीं रहता । यह जीव षष्ठ स्वर से संयुक्त होकर देह में प्रवर्त्तन करता है ॥ -७-८- ॥

जीव = हंस, अपनी प्रकृति के अनतिक्रमण से = स्वभाव के अनुल्लंघन से संयुक्त है । स्वभाव के अनुल्लंघन के कारण यह—

'इन दोनों (= अकार और हकार) में भेद नहीं है ।' (स्व०तं० ४.३५०)

इस उक्त नीति से अकार से सङ्गत (= संश्लिष्ट) ही रहता है । इसलिये यह सर्वदा अकार से संयुक्त ही है । एकतः = एक अद्वितीय सामान्यस्पन्द रूप में नहीं रहता बल्कि कुछ अधिक ही स्पन्दयुक्त हो जाता है । इस कारण यह षष्ठ स्वर = ऊकार, से सम्भिन्न होकर देह में प्रवृत्त होता है । सब लोग स्वाभाविक प्राणवाह के द्वारा उसका अनुभव करते हैं । (उपर्युक्त श्लोक में) 'तथा' शब्द का पाठ होने से उसकी अपेक्षा से 'यथा' शब्द का भी यहाँ अध्याहार कर लेना चाहिये ॥

पूर्वोक्त करणबन्ध के अनुसारी—

उसके द्वारा जब यह प्रेरित होता है तब ऊपर की ओर बढ़ता है ॥ -८ ॥

उसके द्वारा = अर्थात् बिन्दु आदि से युक्त षष्ठ स्वर ऊकार के द्वारा । उस समय = उसी समय । ऊपर = शरीर के अन्दर वर्त्तमान तालु आदि स्थान । इस प्रेरणा के बिना अकार से युक्त भी इसकी ऊपर प्रवृत्ति नहीं होती ॥ ८ ॥

तदित्थम्—

प्रत्यक्षमपि तत्तत्त्वं महामायाविमोहिताः ।
कथितं नाभिजानन्ति विना शास्त्रेण चोदनाम् ॥ ९ ॥

तदेतत्रादावमर्शसारं मन्त्रतत्त्वं सर्वस्य प्रमातृरूपं सदोच्चरद्रूपत्वात् स्वप्रकाशमपि, तथा शास्त्रेणेत्यागमवाक्यैः कथितमपि, महामायया सदाशिवेशादीनपि मोहयन्त्याऽपूर्णताख्यातिपरमार्थया विशेषेण चिद्रूपत्वादात्मस्वरूपे विश्वत्रानन्त्यात्मतावभासनपुरःसरमनात्मनि देहादावात्मतामवभासयन्त्या मोहिताः सङ्कुचत्तां ग्राहिताः । चोदनामिति महामायातिरस्कारिपरमेशानुग्रहकारिशक्त्युद्बोधनं विना न अभीत्याभिमुख्येनाश्वासरूढ्या जानन्ति । अतः सर्वथैतत्तत्त्वपरिज्ञानमेव परमोपादेयमिति तात्पर्यम् । उक्तं च ज्ञानगर्भे—

'तवाम्ब परमाक्षरी भवति रूपमेतद् बहि-
र्विशत्प्रणवरूपतां समुपयाति हृत्कोटरे ।
अवेद्यमकृतात्मभिर्जननि बिन्दुनादात्मय-
द्विदन्ति तदहेलया त्वदनुसंस्मृतेर्योगिनः ॥' इति ॥ ९ ॥

तो इस प्रकार—

उस प्रत्यक्ष तत्त्व को जो कि शास्त्र के द्वारा कथित है, महामाया से विमोहित किये गये मनुष्य चोदना (= उद्‌बोधन) के बिना नहीं जानते ॥ ९ ॥

उस = नादावमर्श रूप मन्त्र तत्त्व को, जो कि सबका प्रमाता रूप है; सदा उच्चरत् रूप होने के कारण स्वप्रकाश है; शास्त्र = आगमवाक्य के द्वारा कथित है, महामाया के द्वारा = सदाशिव ईश्वर आदि को भी मुग्ध करने वाली अपूर्णमन्यतारूपा के द्वारा, (विमोहित =) विशेष रूप से अर्थात् चिद्रूप होने के कारण आत्मस्वरूप विश्व के आनन्त्य का अवभासन करती हुई अनात्म अर्थात् देह आदि में आत्मता का अवभासन करने से; मोहित = सङ्कोच को प्राप्त, करा दिये जाते हैं । चोदना = महामाया को दूर करने वाली तथा परमेश्वर के अनुग्रह को प्राप्त कराने वाली शक्ति के उद्‌बोधन, के बिना नहीं जानते । ('अभिजानन्ति' का अर्थ है—) आभिमुख्येन—पूर्णविश्वास के साथ, जानते हैं । इसलिये इस तत्त्व का सब प्रकार से ज्ञान ही परम उपादेय है—यह तात्पर्य है । ज्ञानगर्भ में कहा गया है—

हे माँ! तुम्हारा यह रूप बाह्यरूप में परम अक्षर है, हृदयगुहा में प्रवेश करने पर यह रूप प्रणव बन जाता है । हे जननि! अकृतात्म (= आध्यात्मिक अभ्यास से शून्य) लोगों के द्वारा अवेद्य इस बिन्दु नादात्म रूप को योगी लोग जो जान जाते हैं वह अहेलया (= अत्यन्त सम्मान के साथ) आपके स्मरण के कारण ही जानते हैं ॥ ९ ॥

तज्ज्ञप्त्यर्थमाह—

षष्ठश्चोर्ध्ववहो ज्ञेयः स्वभावमुखसंस्थितः ।

षष्ठ ऊकारः, 'चोदितस्तु यदा तेन' (६।८) इत्यत्र य ऊर्ध्ववह ऊर्ध्वप्रवर्तक उक्तः, स्वभावो विश्वानुप्राणको मध्यमार्गः, स एव मुखं शिवपदप्राप्त्युपायस्तत्र सम्यक्पूर्वोक्तकरणबन्धक्रमेणोच्चरन् ज्ञातव्यः ॥

अतश्च—

अप्रकाशः स्वदेहस्थो गुणभूतः प्रवर्तते ॥ १० ॥

योऽयं स्वप्रवृत्तत्वात् प्रकाशयितुमशक्यो रहस्यरूपश्चानाहतनाथः, स्वे आत्मीये उपचितरूपे मध्यधामात्मनि देहे तिष्ठति, नित्यावस्थितः स गुणप्रकारं भूतः प्राप्तस्तेन युक्तः सन् प्रवर्तते ऊर्ध्वमारोहतीत्यर्थः ॥ १० ॥

अन्यथा—

निर्गुणस्तु यदा देव एकाकी कालवर्जितः ।
विज्ञातव्यं न किञ्चित् स्यात् केवलो निष्कलस्तु सः ॥ ११ ॥

उसके ज्ञान के लिये (उपाय) बतलाते हैं—

छठवाँ स्वर, जो कि ऊर्ध्व वाही है उसको स्वभावरूपी मुख में स्थित जानना चाहिये ॥ १०- ॥

षष्ठ स्वर = ऊकार । 'चोदितस्तु यदा तेन' (स्व०तं० ६-८) इस श्लोकांश में जो 'ऊर्ध्ववह' = ऊर्ध्व प्रवर्त्तक कहा गया वह, स्वभाव = विश्व को अनुप्राणित करने वाला मध्यमार्ग, वही मुख = शिवपद की प्राप्ति का उपाय है, उसमें (संस्थित =) सम्यक् = पूर्वोक्त करणबन्ध के क्रम से उच्चरित, होता हुआ जानना चाहिये ॥

इसलिये—

अप्रकाश और स्वदेहस्थ यह गुणभूत हो कर प्रवृत्त होता है ॥ -१० ॥

जो यह (अप्रकाश =) स्वप्रवृत्त होने के कारण (किसी अन्य के द्वारा) प्रकाशित किये जाने में अशक्य और रहस्यरूप अनाहतनाथ है तथा स्व = अपने मध्यधाम रूपी देह में स्थित है = नित्य रहता है, वह गुणप्रकार होकर अर्थात् गुण से युक्त होकर, प्रवृत्त होता है = ऊपर की ओर आरोहण करता है ॥ १० ॥

अन्यथा—

जब वह देव निर्गुण एकाकी और कालरहित हो जाता है तब कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रहता । वही केवल और निष्कल रहता है ॥ ११ ॥

स्वतन्त्रचित्स्फारमयत्वाद् देवः, तदतिरिक्तस्याभावादेकाकी, नित्यत्वात् कालवर्जितः, ईदृग्योऽनाहतनाथः । न च तद्विज्ञातव्यं किञ्चित्, नासौ केनापि प्रकारेण ज्ञेयो भवति, ज्ञात्रेकरूपत्वात्, अत एव केवल इत्यद्वितीयः । कलाभ्योऽकारादिवर्णेभ्यो ह्रस्वादिकालकलाभ्यो मेयत्वरूपपरिच्छेदेभ्यश्च निष्क्रान्तः, ताश्च कला यस्मान्निष्क्रान्ताः स एव चिद्घनपरमार्थ इति यावत् । एतत्सारत्वादेव च चतुष्कलनाथोऽपि निष्कल इत्युच्यते ॥ ११ ॥

अतश्च—

तस्य रूपं शरीरं च नास्ति वर्णः क्रिया तथा ।

रूपं शुद्धस्फटिकाभत्वादि । शरीरं पञ्चवक्त्रादि वाच्यगतम् । वर्णः अकारादिर्वाचकरूपः । क्रिया उच्चारादिरूपा । कश्चित्तु वर्णो ब्राह्मणादिः, क्रिया तदुचिता चेष्टेति ॥

तदित्थं ज्ञेयपक्षादुत्तीर्णः—

स कथं गृह्यते सूक्ष्म अग्राह्यो नित्यमव्ययः ॥ १२ ॥

सूक्ष्मो विश्वकारणम् । अग्राह्य इन्द्रियागोचरः । अव्ययोऽपरिणतिधर्मा ॥ १२ ॥

स्वतन्त्र चित्स्फार से युक्त होने के कारण वह देव है । उससे अन्य किसी के न रहने से वह एकाकी (= अकेला) है । नित्य होने के कारण काल से रहित है । ऐसा जो अनाहत नाथ है उसके विषय में विज्ञातव्य नहीं है । अर्थात् वह किसी भी प्रकार से ज्ञेय नहीं है । क्योंकि वह केवल ज्ञाता रूप है । इसीलिये केवल अर्थात् अद्वितीय है । ('निष्कल' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं—) कला = अकार आदि वर्ण, ह्रस्व आदि कालकला तथा मेयत्वरूप परिच्छेद से रहित, वे कलायें उससे निकली हैं, वही चिद्घन और परमार्थ है । इसी रूप वाला होने के कारण चतुष्कल नाथ भी निष्कल हैं—ऐसा कहा जाता है ॥ ११ ॥

इस कारण—

उसका रूप, शरीर, वर्ण और क्रिया नहीं है ॥ १२- ॥

रूप—शुद्ध स्फटिक की आभा आदि वाला । शरीर-पञ्चवक्त्र आदि पदों का अर्थभूत । वर्ण-अकार आदि वाचकरूप । क्रिया—उच्चारण आदि रूपा । कोई विद्वान् वर्ण का अर्थ ब्राह्मण आदि करते हैं और क्रिया का अर्थ—उस ब्राह्मण आदि के योग्य चेष्टा ॥

तो इस प्रकार ज्ञेय पक्ष से परे—

सूक्ष्म, अग्राह्य, नित्य और अव्यय उसका ग्रहण कैसे किया जाय ॥ -१२ ॥

यतोऽयमीदृक्—

एतस्मात् कारणाद् देवि षष्ठं बीजं नियोजितम्।

अस्य परमेशेन मन्त्रराजरूपता प्राप्ता[1] । पुंसामनुग्रहायेति शेषः ॥

तन्नियोजनाच्च—

पञ्चपञ्चकसंयुक्तो देहे सकलनिष्कलः ॥ १३ ॥

ह्रस्वादिरूपमुच्चारणकालकलानां पञ्चकमेकम्, अकारोकारमकारबिन्दुनादाख्यवाचककलानां द्वितीयम्, तद्वाच्यब्रह्मविष्णुरुद्रेशसदाशिवानां तृतीयम्, तदधिष्ठेयधराप्रकृतिमायेश्वरसदाशिवतत्त्वादीनां चतुर्थम्, वर्णोच्चारयित्रवस्थानां जागरस्वप्नसुषुप्ततुर्यतुर्यातीतानां पञ्चममिति पञ्चभिरुक्तवक्ष्यमाणैः पञ्चकैः परापररूपतया स्थितैर्यदा देहे हृत्कण्ठादिक्षेत्रे संयुक्तस्तदानाऽहतभट्टारको निष्कलोऽपि विचित्रेदृक्कलायोगात् सकलनिष्कल उच्यते इत्यर्थः ॥ १३ ॥

सूक्ष्म-विश्व का कारण । अग्राह्य = इन्द्रियों का अविषय । अव्यय = परिणति धर्म से रहित ॥ १२ ॥

चूँकि वह ऐसा है—

इसीलिये हे देवि! छठाँ बीज (= ऊ) लगाया गया है ॥ १३- ॥

क्योंकि यह (= छठां बीज) परमेश्वर के द्वारा मन्त्रराज बनाया गया है । यह कार्य पुरुषों के अनुग्रह के लिये किया गया ॥

उस नियोजन के कारण—

देह में पाँच पञ्चक से संयुक्त वह सकल निष्कल कहा जाता है ॥ -१३ ॥

ये पाँच पञ्चक निम्नलिखित है—

१. ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म—उच्चारणकाल की कलायें ।
२. अकार, उकार, मकार, बिन्दु और नाद—वाचक कलायें ।
३. ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव—पञ्चप्रणव या पञ्चकारण ।
४. उनसे अधिष्ठित पृथिवी, प्रकृति, माया, ईश्वर और सदाशिव तत्त्व ।
५. वर्णों का उच्चारण करने वाले की अवस्था-जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत—अवस्थायें ।

पर और अपर रूप में स्थित उक्त और वक्ष्यमाण इन पाँच पञ्चकों के द्वारा देह में = हृदय कण्ठ आदि क्षेत्र में, संयुक्त होता है तब अनाहत भट्टारक निष्कल

---

१. प्त्या ।

तेनैतदुच्चारणेऽपि निष्कलतत्त्वविश्रान्तावेवावधातव्यमित्याह—

ग्रहणं तु यदा तस्य योगी योगविचिन्तकः ।
योगेनावाहितस्यापि भावमात्रं तु भावयेत् ॥ १४ ॥

अत्र श्लोके 'इच्छति' इत्यध्याहार्यम् । तेनोक्तरूपपञ्चपञ्चकव्याप्तिरूपं योगं यो विकल्पपूर्वकाविकल्पविमर्शात्मकं चिन्तयति, स योगी यदा तस्य ग्रहणमुच्चारणमिच्छति, तदा योगेन पूर्वोक्तदिव्यकरणबन्धाद्यात्मना, आ समन्ताद्वाहितस्य मध्यधाम्नाऽभीष्टं पदं प्रापितस्यापि, भावमात्रमिति—

'सत्तामात्रं परं शान्तम्' (४।२९३)

इति योजनिकाग्रन्थनिर्णीतमनाहतध्वनिपरमार्थपूर्णस्फुरत्तां भावयेदुक्तव्याप्तिकमन्त्रोच्चिचारयिषाविमर्शपुरःसरं तद्ग्रहणेनैव मन्त्रभूमिमारुह्य तदपरकोटौ विश्राम्यन् मन्त्रवीर्यमनुशीलयेदित्यर्थः । तदुक्तं शिवसूत्रेषु—

'विद्याशरीरसत्ता मन्त्ररहस्यम्' (२।३)

होता हुआ भी इन विचित्र प्रकार की कलाओं के योग से सकल-निष्कल कहा जाता है ॥ १३ ॥

इससे इसका उच्चारण होने पर भी निष्कल तत्त्व की विश्रान्ति में ही ध्यान देना चाहिये—यह कहते हैं—

योगी जब उसका ग्रहण (करना चाहता है तो) योगविचिन्तक वह योग से आवाहित भी उसके भाव मात्र (= सत्तामात्र) की भावना करे ॥ १४ ॥

इस श्लोक में 'इच्छति' पद का अध्याहार (= अपनी ओर से योग) करना चाहिये । ('योगविचिन्तक' पद को स्पष्ट करते हैं—) इससे उक्त रूप वाले पाँच पञ्चकों की व्याप्तिरूप तथा विकल्पपूर्वक निर्विकल्प विमर्शात्मक योग का जो चिन्तन करता है (वह योगविचिन्तक है, ऐसा) योगी जब उस (= महामन्त्र) का उच्चारण करना चाहता है तब पूर्वोक्त दिव्यकरणबन्ध रूप योग के द्वारा, आवाहित = मध्यधाम के द्वारा अभीष्ट पद को प्रापित, के भी, भावमात्र का अनुशीलन करे । (भावमात्र को उद्धरणों से स्पष्ट करते हैं—)

'(छः शून्यों से परे जो सप्तम शून्य है वह) पर तत्त्व सत्ता मात्र और शान्त है ।' (स्व०तं० ४।२९३)

इस योजनिका दीक्षा वाले ग्रन्थ से निर्णीत अनाहतध्वनिपरमार्थ वाली पूर्णस्फुरत्ता की भावना करनी चाहिये अर्थात् उक्त व्याप्ति वाले मन्त्र के उच्चारण की इच्छा के विमर्श के बाद उसके ग्रहण से ही मन्त्रभूमि पर आरोहण कर उसकी अपर कोटि में विश्राम करता हुआ योगी मन्त्रवीर्य का अनुशीलन करे । वही शिवसूत्र में कहा गया—

इति, तथा—

'महाह्रदानुसन्धानान्मन्त्रवीर्यानुप्रवेशः' (१।२२)

इति । महाह्रदस्य विद्याशरीरस्य परसंवित्स्फारस्य सत्ता स्फुरत्ता मन्त्राणां रहस्यं वीर्यम्, तत्र चानुप्रवेशो महाह्रदस्य मध्यमार्गस्यानुगततया मन्त्रव्याप्त्यनुसरणपूर्वकतदुच्चिचारयिषाविमर्शानुप्रवेशात्मनः सन्धानान्मन्त्रविश्रान्त्यारोहादित्यर्थः ॥ १४ ॥

एवं मन्त्रवीर्यानुप्रवेशयुक्तिमुक्त्वा साधकोचितं तदनुप्रवेशक्रममाह—

यदा करोति सृष्टिं च ऊर्ध्वे बिन्दुः प्रवर्तते ।

आराधको यदा सिद्धिकामो भवति, तदास्योक्तयुक्त्यैव कृतोर्ध्वपदविश्रान्तेराराधकसंविदनुसारेणोन्मिषितशाक्तबलो मन्त्रः, ऊर्ध्वे सर्वाध्वमूर्धनि समस्तभावाभावरूपशिवादिकालाग्न्यन्तजगदासूत्रणात्मकाविभागप्रकाशरूपः प्रवर्तते, ततः प्रभृति सृष्टिक्रमेण हृदन्तमस्यापूरयति, अभिलषितपदापूरणेनेत्यर्थः ॥

मुमुक्षोस्तु न प्रोक्तसतत्त्वबिन्द्ववष्टम्भप्राधान्येन मन्त्रोच्चारणम्, अपि तु—

'विद्याशरीर (= भगवान् शब्दराशि) की सत्ता ही मन्त्र का रहस्य है ।' (२।३)

तथा—

'महाह्रद (= परा संवित्) के अनुसन्धान से मन्त्र के वीर्य में अनुप्रवेश होता है ।' (१।१२)

महाह्रद = विद्याशरीर = परासंवित् के स्फार की सत्ता = स्फुरत्ता ही मन्त्रों का रहस्य = वीर्य है । उसमें जो अनुप्रवेश होता है वह मध्यमार्ग के अनुगत होने से मन्त्रव्याप्ति के अनुसरण के बाद उसकी उच्चारणेच्छा के विमर्श में अनुप्रवेश रूप महाह्रद (= शब्दराशि) के अनुसन्धान = मन्त्रविश्रान्ति में आरोह से होता है ॥१४॥

इस प्रकार मन्त्रवीर्य में अनुप्रवेश की युक्ति को बतला कर साधक के लिये उचित उसके अनुप्रवेश को कहते हैं—

जब बिन्दु ऊर्ध्व में प्रवृत्त होता है तब वह (भोग के लिये) सृष्टि करता है ॥ १५- ॥

आराधक जब सिद्धि चाहने वाला होता है तब उक्त युक्ति के अनुसार ऊर्ध्व पद में विश्रान्ति के कारण आराधक की संवित् के अनुसार उन्मिषित शाक्त बल वाला मन्त्र (= बिन्दु), ऊपर = सब अध्वाओं के मूर्धा पर, प्रवृत्त होता है । यह बिन्दु समस्त भावाभाव रूप शिव से लेकर कालाग्निपर्यन्त जगत् की प्रारिप्सास्वरूप अविभक्त प्रकाशरूप होता है । यह बिन्दु वहाँ से लेकर हृदय पर्यन्त सृष्टिक्रम से अभिलषित पदों के आपूरण के द्वारा इस साधक के शरीर को आपूरित करता है ॥

बिन्दूपरि च यच्छान्तः शिवः परमकारणम् ॥ १५ ॥
तत्र बिन्दुर्लयं याति.............

परमकारणत्वेन परमशिवाद्वैशिष्ट्यमुक्तं स्यादिति ॥ १५ ॥

यस्मादेवम्, तस्मात्

.............तत्स्थानं दुर्लभं सुरैः ।

सुरैर्देवैः सर्वेन्द्रियैश्च, मननमात्रप्रधानसूक्ष्ममनोव्यापारं विषयसामरस्यपदातिक्रान्तत्वात् । स्थानमिति तिष्ठत्यस्मिन्नभेदेन विश्वमिति व्युत्पत्त्या ॥

एवंविधमप्येतत्—

षष्ठस्वरसमायोगादभ्यासादचिराल्लभेत् ॥ १६ ॥

समवधानोद्यत इत्यनुषङ्गः । षष्ठः स्वरो बिन्द्वाद्युपलक्षणपर इत्युक्तमेव ॥ १६ ॥

अत एव—

किन्तु मुमुक्षु के लिये प्रोक्त तत्त्व (= शिवादि कालाग्नि भुवन पर्यन्त) वाले बिन्दु के अवष्टम्भ की प्रधानता के कारण मन्त्रोच्चारण नहीं होता । बल्कि—

बिन्दु के ऊपर जो (विश्व का) परम कारण शान्त शिव हैं बिन्दू उसमें लीन हो जाता है ॥ -१५-१६- ॥

उक्त श्लोक में 'परम कारण' कहने से इस शिव का परम शिव से वैशिष्ट्य बतलाया गया (अर्थात् सृष्टि का कारण शिव ही है परमशिव नहीं—यह सङ्केतित किया गया) ॥ १५ ॥

चूँकि ऐसा है इसलिये—

वह स्थान देवताओं से दुष्प्राप्य है ॥ -१६- ॥

सुरों = देवताओं तथा सब इन्द्रियों, के द्वारा (दुष्प्राप्य है क्योंकि वह स्थान) मननमात्रप्रधान सूक्ष्म मन के व्यापार वाला है (क्योंकि वह) विषयसामरस्य पद से परे है = विषयों से सदा असम्बद्ध है । (स्थान पद की व्याख्या करते हैं—) जिस (= बिन्दु) में विश्व अभिन्न रूप से स्थित रहता है उसको स्थान कहते हैं ॥

इस प्रकार का भी यह—

षष्ठस्वर से युक्त अभ्यास के द्वारा साधक शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है ॥ -१६ ॥

(साधक जब) समवधान के साथ उद्यत (= तत्पर) होता है—इतना जोड़ना चाहिये । 'षष्ठ स्वर' पद बिन्दु आदि का उपलक्षणपरक है-यह कहा गया है ॥ १६ ॥

षष्ठश्च पञ्चमश्चैव तस्य देवि गुणाः स्मृताः ।

तस्येति महाविमर्शात्मन: परतत्त्वस्य, षष्ठ ऊकार:, पञ्चमस्तु तदन्तर्भूत एव उकार:, तावेवाध ऊर्ध्वं बहि:शक्त्यात्मकावस्येति पूर्वोक्तमेयार्थं चशब्दादेवकाराच्च प्रोक्तरूपा नियता मकारबिन्द्वादिप्रमेयपरिपाटी, गुणा ऊर्ध्वाध: प्रसरणहेतवो धर्मा: शक्तिरूपा इत्यर्थ: । स्मृता इत्यविच्छिन्नेन शिवादिश्रीकण्ठान्तेन गुरुपारम्पर्येणेत्यर्थ: । कश्चित्तु चकारमेवशब्दं च अचेतित्वा गुणा इति बहुवचनं जपावृत्त्यपेक्षयेति व्याख्यातवान् ॥

यस्मादेवं तत:—

सगुणः सकलो ज्ञेयो निर्गुणो निष्कलः शिवः ॥ १७ ॥

इत्थमुक्तनीत्या निष्कलनाथोऽपि सकल: सम्पन्न: । यस्तु पूर्वम्—

'हकारस्तु स्मृत: प्राण: स्वप्रवृत्त:' (४।२५७)

इत्यनाहतनाथो निर्दिष्ट:, स एव निर्गुणत्वात्तत्त्वतो निष्कल: ॥ १७ ॥

अत एव—

इसीलिये—

हे देवि! छठाँ और पाँचवाँ उसके गुण कहे गये हैं ॥ १७- ॥

उसका = महाविमर्श रूप परतत्त्व का । छठाँ (स्वर) = ऊकार । पञ्चम = उस (= ऊकार) के अन्तर्गत वर्त्तमान उकार । बाह्य शक्तिरूप वे ही दोनों नीचे ऊपर हैं जिसके वही अर्थात् पूर्वोक्त मेय के लिये 'च' शब्द 'एवं' शब्द के द्वारा उक्त रूपों वाली तथा निश्चित मकार बिन्दु आदि प्रमेयों वाली परम्परा । गुण = शक्तिरूप वे धर्म जो ऊपर-नीचे प्रसरण के हेतु हैं । कहे गये हैं—शिव से लेकर श्रीकण्ठ तक की अविच्छिन्न गुरुपरम्परा के द्वारा । किसी विद्वान् ने 'च'कार और 'एव' शब्दों पर ध्यान न देकर 'गुणा:' शब्द में जो बहुवचन है वह जप की आवृत्ति को ध्यान में रख कर है-ऐसी व्याख्या की ॥

चूँकि ऐसा है इसलिये—

एक ही शिव सगुण होने पर सकल और निर्गुण होने पर निष्कल कहा जाता हैं ॥ १७ ॥

इस प्रकार उक्त नीति से निष्कलनाथ भी सकल हो जाते हैं । और जैसे पहले—

'स्वयं प्रवृत्त हकार को प्राण कहा गया है ।'

इस वचन के द्वारा अनाहतनाथ का निर्देश किया गया वही तत्त्वत: निर्गुण होने से निष्कल है ॥ १७ ॥

सकलो ग्रहसंयुक्तो निष्कलो भावमाश्रितः ।

ग्रह उच्चार: । भाव: सुप्रवृत्ता महास्फुरत्तात्मा स्फुरत्ता ॥

यतश्च पूर्वोक्तदृशा तात्त्विकनिष्कलामर्शसार एवायं सकलनिष्कलशब्देन पूर्वं व्यवहृतश्चतुष्कलनाथ:, ततोऽस्मिन्

सकले जप्यमाने तु जप्तो भवति निष्कलः ॥ १८ ॥

यद्येवम्, अयमेव चतुष्कलभट्टारकरूप: सूक्ष्म: सकलपारमार्थिकनिष्कलतत्त्वविश्रान्त्यर्थं जपाद्युपासाभिराश्रीयताम्, किमिति द्वात्रिंशदक्षरात्मा स्थूल: सकल:—

'जपित्वाक्षरलक्षं तु बहुरूपस्य' (६।३)

इत्याद्युक्त्योपास्य उक्त: ?—इत्याशङ्क्याह—

सुरासुराणां देवेन यजनोपायहेतुना ।
रूपं तु सकलं तस्य द्विधावस्थं प्रकाशितम् ॥ १९ ॥

आदिवाक्यनिर्णीतस्वरूपेण देवेन चिदानन्दपरमार्थेन स्वच्छन्दभट्टारकेण ।

इसीलिये —

ग्रह से संयुक्त (शिव) सकल एवं भाव को प्राप्त (शिव) निष्कल होता है ॥ १८- ॥

ग्रह = उच्चारण । भाव = सुप्रवृत्त महास्फुरत्तारूपा स्फुरणा ॥

चूँकि पूर्वोक्तरीति से यह चतुष्कलनाथ जो कि तात्त्विक निष्कल आमर्श का सारभूत हैं, पहले सकल निष्कल शब्द से व्यवहृत हो चुके हैं इसलिये इस—

सकल का जप होने पर निष्कल का भी जप हो जाता है ॥ -१८ ॥

प्रश्न—यदि ऐसा है (कि सकल के जप से निष्कल का भी जप हो जाता है) तो सकल की पारमार्थिक निष्कलतत्त्व में विश्रान्ति के लिये चतुष्कल भट्टारकरूप सूक्ष्म इसी (निष्कल) की जप आदि उपासना की जाय,

'बहुरूप का बत्तीस लाख जप कर (स्व०तं० ६।३)'

इत्यादि उक्ति के द्वारा बत्तीस अक्षरों वाले स्थूल सकल की उपासना क्यों कही गयी?—यह शङ्का कर कहते हैं—

स्वच्छन्द देव ने देवताओं और राक्षसों के (मोक्ष आदि की प्राप्ति के हेतुभूत) यज्ञ के उपाय के कारण उनके दो प्रकार से स्थित रूपों में से सकल रूप का प्रकाशन किया ॥ १९ ॥

देव के द्वारा—पहले वाक्यों में जिसके स्वरूप का वर्णन किया जा चुका है

सुराणामिति ज्ञानमार्गाश्वस्तहृदयानाम्, असुराणां च ज्ञानायोग्यत्वेनाज्ञानमार्गाश्वस्तानां मोक्षाद्यर्थं यागोपायत्वेन । तस्येति स्वस्वरूपस्यानाहतात्मनो रूपं द्विधावस्थम् । सकलमिति चतुष्कलबहुरूपात्मकं तत्तदनुग्राह्यानुग्रहोचितं प्रकाशितम् । एतदुक्तं भवति—एकमेवेदं पारमेश्वरं तत्त्वं स्थितमनुग्राह्यानुग्रहानुसारं स्फुरितम्, न त्वत्र वास्तवः कोऽपि भेद इति । यथोक्तम्—

'पुंसामनुग्रहार्थाय परोऽप्यपरतां गतः'

इति । अत एव योग्यजनाभिप्रायेण केवलचतुष्कलनाथभट्टारकाश्रयः साधनविधिरग्रे भविष्यति । यस्तु तात्त्विको निष्कलनाथो नासौ जातुचिद्ध्येयजप्यादिरूपो भवति, तस्याशेषविश्वात्मपरमातृस्फुरत्तैकघनत्वादित्युक्तम् । यत्तु द्विधावस्थं सकलमिति सकलनिष्कलं देवानां दैत्यानां च प्रकाशितमिति व्याख्याय दैत्यानां तामसत्वादनुचितमेतत्प्रकाशनम्, आयातशक्तित्वेनासुराणामिति पूर्वजात्युदीरणं विरुद्धमिति केनचिच्छङ्कित्वा पूर्वावस्थामात्रकथनमेतदिति परिहृतम्, तद्युक्तमयुक्तं वेति सचेतसः प्रमाणमित्यलं पूर्वैः सह पदे पदे निर्बन्धनेन ॥ १९ ॥

ऐसे देव = चिदानन्दरूप स्वच्छन्दभट्टारक, के द्वारा । सुरों के = ज्ञान मार्ग में विश्वास रखने वालों के । असुरों के = ज्ञान मार्ग के अयोग्य होने के कारण अज्ञान मार्ग में विश्वास रखने वालों के, मोक्ष आदि के लिये याग के उपाय के रूप में उसका = अनाहत रूप अपने स्वरूप का । रूप दो प्रकार से स्थित है सकल—चतुष्कल बहुरूपात्मक तत्तत् अनुग्राह्य के प्रति अनुग्रह के लिये उचित रूप का प्रकाशन किया गया । ऐसा कहा जाता है कि—पारमेश्वर तत्त्व एक ही है । वह अनुग्राह्य के प्रति अनुग्रह के अनुसार स्फुरण करता है । इसमें कोई भेद नहीं है । जैसा कि कहा गया—

'जीवों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये पर भी अपर हो गया ।'

इसलिये योग्य जनों के लिये केवल चतुष्कलनाथ भट्टारक से सम्बद्ध साधना विधि आगे बतलायी जायेगी । जो तत्त्वभूत निष्कल नाथ हैं वह कभी भी ध्येय जप्य आदि नहीं होते क्योंकि वह समस्त विश्व के आत्माभूत परप्रमाता की स्फुरत्ता मात्र हैं—यह कहा जा चुका है । कुछ लोगों ने शङ्का की कि 'द्विधा अवस्थित सकल' का तात्पर्य है—सकल निष्कल । यह रूप देवताओं और दैत्यों के लिये प्रकाशित किया गया तो दैत्यों के तमोगुणी होने के कारण उनके लिये इसका प्रकाशन अनुचित है, आयातशक्ति होने (= अनुष्ठान आदि के द्वारा शक्ति का लाभ होने) के कारण 'असुराणाम्' इस प्रकार पूर्व जाति का कथन विरुद्ध है? उसका उत्तर यह है कि—यह कथन पूर्वावस्थामात्र का है—ऐसा कह कर शङ्का का परिहार किया—उस विद्वान् का यह शङ्का-समाधान ठीक है या नहीं इस विषय में विद्वान् लोग ही प्रमाण हैं । पूर्व-पूर्व विद्वानों के साथ पग-पग पर निर्बन्ध (= दोषारोपण) से क्या लाभ? ॥ १९ ॥

तदेतस्य मूलमन्त्रस्य—

प्रथमं प्राकृतं रूपं विकृतं च द्वितीयकम् ।

प्रथममिति विश्वोच्चारभित्तिभूतत्वात् प्रधानं प्रकृतेः स्वभावादायातं स्वयमुच्चरद्रूपम् । विकृतं तु तत्प्रथमप्रसररूपमकारात्मकम्, न तु विपर्ययेण व्याख्येयम्,

'स्वयमुच्चरते हंसः' (७।५९)

इति,

'.......................तस्माद्वर्णास्तु प्राणतः ।
उत्पद्यन्ते लयं यान्ति....................... ॥' (४।२४८)

इति,

'शास्त्रं शब्दात्मकं सर्वं शब्दो हंसः प्रकीर्तितः' (४।३४१)

इत्यादिवाक्यव्याघातापत्तेः ॥

तदित्थमेकत्रापि मन्त्रे युगपत्—

प्रकृतिर्विकृतिश्चैव उभे षष्ठेन संयुते ॥ २० ॥

दर्शितमेवैतद्यथा मन्त्रे हलाकृतेः प्रकृतिभूतस्य शिरोरेखारूपा विकृतिशब्द-

---

तो इस मूल मन्त्र का—

पहला रूप प्राकृत है और दूसरा रूप विकृत है ॥ २०- ॥

पहला—क्योंकि यह समस्त उच्चारण का आधारभूत होने के कारण प्रधान (= मुख्य) है । यह (परा शक्ति से) स्वभावतः निर्गत है अर्थात् इसका (= हकार का) उच्चारण स्वयं हुआ है । विकृतरूप वह है जो उस प्रकृत का प्रथम प्रसार है जिसे 'अ' कहते हैं । इसकी विपरीत व्याख्या (= अकार को प्रकृत और हकार को विकृत मानने की बात) नहीं करनी चाहिये क्योंकि (ऐसी व्याख्या करने से)—

'हंस स्वयं उच्चरित होता है ।' (स्व०तं० ७।९)

'उस प्राण से वर्ण उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं ।'
(स्व०तं० ४।२२८)

'समस्त शास्त्र शब्दात्मक हैं, 'हंस' ही शब्द कहा गया है ।'
(स्व०तं० ४।३४१)

इत्यादि वाक्यों का खण्डन हो जायेगा ॥

तो इस प्रकार एक ही मन्त्र में एक साथ—

प्रकृति और विकृति दोनों षष्ठ स्वर से संयुक्त हैं ॥ -२० ॥

प्रकृति और विकृति दोनों षष्ठ स्वर से संयुक्त हैं ॥ -२० ॥

वाच्याऽकारकलास्तीति युगपदेव प्रकृतिविकृती षष्ठकलायुक्ते ॥ २० ॥

अत एव—

ये पदार्थाः पुरा प्रोक्तास्तत्रासावुच्छ्वसन् मुहुः ।
प्रवर्तते च एतेन पुनस्तेन निवर्तते ॥ २१ ॥

यः समनन्तरमेव

'निर्गुणस्तु यदा देवः' (६।११)

इत्युक्त्या निष्कलनाथ उक्तोऽसौ उच्छ्वसन्नित्याकारोकारकलासम्भेदेनोर्ध्वं प्रसरन्, तत्रेति पूर्वोक्तेषून्मनान्तेषु पदार्थेषु, तेनैव पूर्वोक्तेन क्रमेण प्रवर्तते द्वादशान्तमारोहति । पुनश्च तेनेति प्रातिलोम्येन निवर्तते हृदयान्ते वर्णव्यक्तिमेति, अनाहतध्वनिमेवाविशति । मुहुरिति जपावसरे भूयो भूय इत्यर्थः ॥ २१ ॥

तदित्थमयं पदार्थेष्वारोहावरोहौ कुर्वन्—

प्रणवः पञ्चधावस्थः...............

पञ्चधात्वमस्य वाचककलाक्रमेण वाच्यक्रमेण च प्रथयति—

की शिरोरेखारूप एवं विकृति शब्द से वाच्य अकार कला है । इस प्रकार प्रकृति और विकृति दोनों एक साथ षष्ठ कला से युक्त हैं ॥ २० ॥

इसीलिये —

पहले जो पदार्थ कहे गये हैं उच्छ्वसित होता हुआ यह उनमें इस (मार्ग) से बार-बार प्रवृत्त होता है फिर उसी (मार्ग) से निवृत्त होता है (= लौट जाता है) ॥ २१ ॥

'निर्गुण देव जब' (स्व०तं० ६।११)

इत्यादि समनन्तर उक्ति के द्वारा जो यह निष्कलनाथ कहे गये हैं वह उच्छ्वास लेते हुए = अकार उकार कला के भेद से ऊर्ध्व प्रसरण करते हुए, वहाँ = पूर्वोक्त उन्मनापर्यन्त पदार्थों में उसी पूर्वोक्त क्रम से, प्रवृत्त होते हैं = ऊर्ध्व द्वादशान्त तक आरोहण करते हैं, पुनः उसी मार्ग से विपरीत क्रम से लौट आते हैं (नीचे उतर कर) हृदय में आकर वर्ण के रूप में व्यक्त होते हैं = अनाहत ध्वनि में प्रविष्ट होते हैं । बार-बार = जप के समय बार-बार ॥ २१ ॥

इस प्रकार पदार्थों में आरोह अवरोह करने वाला यह—

प्रणव पाँच प्रकार से स्थित है ॥ २२- ॥

इसकी पाँच प्रकारता को वाचक कला के क्रम से और वाच्य के क्रम से स्पष्ट करते हैं—

..............त्रिवर्णश्च त्रिदैवतः ।
बिन्दुनादसमायुक्तः प्रणवः परिपठ्यते ॥ २२ ॥

बिन्दुनादसंभेदं विना वर्णसङ्घट्टनामात्ररूपता भवति, न तु प्रकर्षेण नूयतेऽनेन परं तत्त्वमित्येदृक्प्रणवत्वमित्यर्थः । एवं चाकारोकारमकारबिन्दुनादभेदात् प्राग्वद्वाचकरूपाः पञ्च प्रणवाः, ब्रह्मविष्णुरुद्रा वक्ष्यमाणेश्वरसदाशिवसहिता वाच्यरूपाः पञ्च च ॥ २२ ॥

तदाह—

अकारश्च उकारश्च मकारश्च तृतीयकः ।
वर्णत्रयमिदं प्रोक्तं ब्रह्माद्या देवतास्त्रयः ॥ २३ ॥
बिन्दुनादसमायोगादीश्वरश्च सदाशिवः ।
एते वै प्रणवाः पञ्च...............

ब्रह्माद्या ये त्रयो देवता इति सम्बन्धः । वाच्यवाचकरूपा इत्यर्थात् ॥

ते चैते—

.........हंसः प्राणयुतः सदा ॥ २४ ॥

यह तीन वर्ण वाला और तीन देवता वाला है । बिन्दु और नाद से संयुक्त होने पर यह प्रणव कहा जाता है ॥ -२२ ॥

बिन्दु और नाद के संभेद से रहित होने पर यह केवल वर्णसमूह होता है प्रणव नहीं क्योंकि प्रणव उसे कहते हैं जिसके द्वारा पर तत्त्व की प्रकृष्टरूप से स्तुति की जाती है । इस प्रकार अकार उकार मकार बिन्दु और नाद के भेद से पूर्वोक्त रीति से वाचक रूप प्रणव पाँच हैं । इसी प्रकार ब्रह्मा विष्णु रुद्र वक्ष्यमाण ईश्वर और सदाशिव सहित वाच्य रूप प्रणव भी पाँच है ॥ २२ ॥

वही कहते हैं—

अकार उकार मकार ये तीन वर्ण कहे गये हैं । ब्रह्मा आदि इनकी पाँच देवतायें हैं । बिन्दु और नाद को इन उपर्युक्त तीनों में जोड़ देने पर (अ उ म् बिन्दु और नाद ये पाँच वाचक प्रणव हैं) तथा ईश्वर और सदाशिव को जोड़ देने पर (ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र) ये पाँच वाच्य प्रणव हैं ॥ २३-२४- ॥

ब्रह्मा आदि तीन देवतायें वाच्य हैं अ उ म् आदि वाचक है ॥

और वे सब—

हंस सदा प्राणयुक्त होता है ॥ -२४ ॥

'हकारस्तु स्मृतः प्राणः' (४।२५७)

इति यः पूर्वं हंसप्राणोऽनाहतध्वनिरुक्तस्तेन सदा युतस्तदनुलग्नस्तां महाविमर्शभित्तिं विना कस्याप्यस्फुरणादित्यर्थः ॥ २४ ॥

अत एवात्र—

परमात्मा शिवो हंसस्त्वपरेण समन्वितः ।

यो हंसः स्वयमुच्चरद्रूपो वाचकवृत्त्या, वाच्यवृत्त्या तु परमात्मा सर्वेषां ब्रह्मादीनामनुप्राणकः, परनिर्वाणात्मकश्रेयःप्रदत्वाच्छिवः वाच्यवाचकयोरत्राविभागेन प्रकाशानन्दघनत्वेन स्फुरणात् सोऽयमीदृशो हंसः, अपरेणेति प्रोक्तरूपवाच्यवाचकरूपेण प्रणवपञ्चकेन समन्वितः संबद्धः । अत्र चाकारादिरूपेषु प्रणवेषु ह्रस्वाद्युच्चारकला जाग्रदादयोऽवस्थाभेदाः, पृथिवीप्रकृतिमायेश्वरसदाशिवान्तानि च ब्रह्माद्यधिष्ठितानि तत्त्वानि, इति पञ्चकान्तराण्येतान्यन्तर्भूतानि निर्णीतदृशा प्रणवरूपाण्यनुसर्तव्यानि ॥

न केवलमित्थमपररूपाः पञ्च प्रणवा मन्त्रेऽस्मिन् स्थिता इति, यावत्—

परतः प्रणवान् पञ्च पुनरेव वदाम्यहम् ॥ २५ ॥

'हकार को प्राण कहा गया है ।' (स्व०तं० ४।२५७)

इस वाक्य के द्वारा जो पहले हंस प्राण अर्थात् अनाहत ध्वनि कही गयी उससे सदा युक्त अर्थात् उसके पीछे जुड़ा है । क्योंकि उस (= अनाहत ध्वनि रूप) महाविमर्शभित्ति के बिना किसी का भी स्फुरण नहीं होता ॥ २४ ॥

इसीलिये यहाँ—

परमात्मा शिव हंस हैं और वे अपर रूप से युक्त हैं ॥ २५- ॥

जो स्वयं उच्चरत् रूप हैं वह वाचक वृत्ति से हंस हैं; वाच्यवृत्ति से परमात्मा हैं । वह ब्रह्मा आदि सबको अनुप्राणित करने वाले हैं । पर निर्वाण रूप श्रेयःप्रद होने के कारण शिव हैं । यहाँ वाच्य और वाचक का विभाग न होने से प्रकाशानन्दघन के रूप में स्फुरण करने के कारण यह इस प्रकार के हंस हैं । अपर रूप से = उपर्युक्त वाच्य वाचक रूप पाँच प्रणव से, समन्वित = सम्बद्ध हैं । यहाँ 'अ'कार आदि रूप प्रणवों में ह्रस्व आदि उच्चारण कलायें जाग्रत आदि अवस्थाओं के भेद हैं । पृथिवी प्रकृति माया ईश्वर और सदाशिव ये पाँच ब्रह्मा आदि से अधिष्ठित पाँच तत्त्व हैं । इस प्रकार पाँच के अन्तर्भूत ये सब उपर्युक्त रीति से प्रणवरूप समझे जाने चाहिये ॥

इस मन्त्र में इस प्रकार के केवल पाँच अपर प्रणव ही स्थित हैं ऐसी बात नहीं है बल्कि—

पुनः पाँच पर प्रणवों को मैं बतला रहा हूँ ॥ -२५ ॥

अन्यतन्त्रसिद्धान्तवैलक्षण्येनेत्यर्थः ॥ २५ ॥

तानाह—

शक्तिश्च व्यापिनी चैव समनात्मा च निष्कलः ।
उन्मना च तथा देवि प्रणवाः पञ्च कीर्तिताः ॥ २६ ॥

अत्रापि वाचककलानां वाच्यानां तद्गर्भीकृतसुसूक्ष्मतमोच्चारकलोच्चारयित्रवस्थाशक्तितत्त्वाद्यावरणानां च पूर्वोक्तयुक्त्या प्रणवत्वम् ॥ २६ ॥

तदेतावतो विश्वस्य भित्तिभूतः—

परतः परमो हंसः सर्वं व्याप्य व्यवस्थितः ।

यो निर्णीतचरः परमो हंसः, स परतः प्रकृष्टतया परापरभेदभिन्नं प्रणवपञ्चकम्, तद्द्वारेण च विश्वं व्याप्य स्थित इति स एव परमोपादेयः । तदभेदविमर्शमयत्वेन निष्कलभट्टारकोऽपि ॥

तदत्र—

एते वै प्रणवाः पञ्च परापरविभागशः ॥ २७ ॥
परापरेण हंसेन नित्यमेव प्रणामिताः ।

(यह वचन) अन्यतन्त्रसिद्धान्त से विलक्षण है ॥ २५ ॥

उनको बतलाते हैं—

हे देवि! शक्ति, व्यापिनी, समना, निष्कल और उन्मना ये पाँच (पर) प्रणव कहे गये हैं ॥ २६ ॥

यहाँ पर भी वाचक कला, वाच्य और उनके अन्दर स्थित सूक्ष्मतम उच्चार कला के उच्चारयिता की अवस्था शक्ति तत्त्व आदि आवरणसमूह पूर्वोक्त युक्ति से प्रणव कहे जाते हैं ॥ २६ ॥

इतने विशाल विश्व का आधारभूत—

परम हंस पर रूप से सबको व्याप्त कर स्थित हैं ॥ २७- ॥

जिस परम हंस का पहले वर्णन हो चुका है वह, परतः—प्रकृष्ट रूप से पर अपर भेद से भिन्न पाँच प्रणवों के द्वारा विश्व को व्याप्त कर स्थित है । इसलिये वही परम उपादेय है । उससे अभिन्न विमर्शमय होने से निष्कलभट्टारक भी (परम उपादेय हैं) ॥

तो यहाँ—

ये पाँच प्रणव पर और अपर विभाग से पर और अपर हंस के द्वारा नित्य प्रणामित हैं ॥ -२७-२८- ॥

हंसो हलाकृति: स्वशक्त्याद्यकारादिपरापरप्रणवयोगाच्चतुष्कलतां प्राप्त: परापर उच्यते । तेनोभयरूपेण प्रणामिता: प्रह्वीभावमापादिता: स्वप्रत्यवमर्शप्रवणा: कृता: । प्रणामिता इत्यैश: पाठ: । अत एव प्रकर्षेण नूयते परं तत्त्वं यैस्ते प्रणवा इति प्रारम्भ एवोक्तमस्माभि: ॥ २७ ॥

अतश्चैते—

प्रवर्तन्ते हि सर्वत्र भुक्तिमुक्तिफलप्रदा: ॥ २८ ॥

सर्वत्रेति साधकपुत्रकादिविषये ॥ २८ ॥

तस्मादयं मूलमन्त्र:—

पञ्चभिस्तु युतस्त्वेभि: स पञ्चप्रणवात्मक: ।

यो नि:स्वभाव: परापरप्रणवभेदप्रथनद्वारेणैव विश्वत्र कारणं चतुष्कलनाथ इति निर्णीतमेवैतत् ॥

किं च—

तत्रस्थ एकरूपस्तु निष्कलस्तत्त्वत: स्मृत: ॥ २९ ॥

हल की आकृति वाला हंस अपनी शक्ति आदि अकार आदि पर अपर प्रणव के योग से चार कला वाला होकर पर-अपर कहा जाता है । उन दोनों रूपों से प्रणामित = अवनत किये गये अर्थात् अपने प्रत्यवमर्श से युक्त किये गये । 'प्रणामिता:' यह पाठ ईश्वरकृत है (लौकिक व्याकरण के अनुसार यहाँ 'प्रणमिता:' होना चाहिये) इसीलिये हमने प्रारम्भ में ही कह दिया कि प्रणव उसे कहते हैं जिनके द्वारा पर तत्त्व की प्रकृष्ट रूप से स्तुति की जाती है ॥ २७ ॥

इसलिये ये सब—

सर्वत्र भोग और मोक्ष रूपी फल को देने के लिये प्रवृत्त होते हैं ॥ -२८ ॥

सर्वत्र—साधक पुत्रक आदि के विषय में ॥ २८ ॥

इस कारण यह मूल मन्त्र—

इस पाँच से युक्त होने के कारण पञ्च प्रणवात्मक है ॥ २९- ॥

जो नि:स्वभाव है वह पर अपर प्रणव भेद के विस्तार के द्वारा चतुष्कल नाथ होकर सर्वत्र कारण बनता है यह बतलाया जा चुका है ॥

और भी—

उसमें स्थित एक रूप तत्त्व ही निष्कल माना गया है ॥ -२९ ॥

तत्रेति पूर्वोक्तप्रणवविश्रान्तिधाम्नि चतुष्कलनाथे यस्तिष्ठति । एकरूप इति प्रोक्तप्रकृतिरूपोऽनाहतभट्टारक: । स एव तत्त्वतो निष्कल इत्यर्थ: ॥ २९ ॥

न केवलमसौ, यावत्—

तद्योगादपि तद्बीजं................

प्रोक्तनिष्कलसंबन्धाद् बीजमपीति चतुष्कलनाथोऽपि निष्कल उच्यत इत्यर्थ: ॥

किं च—

...........सर्वबीजप्ररोहकम् ।

सर्वेषां बीजानां ब्रह्मादिकारणानामङ्गब्रह्मादिमन्त्राणां च प्ररोहकं सामर्थ्यप्रदं तद्योगादेव ॥

अत्र हेतु:—

प्रवर्ततेऽयतो यस्माद् देवासुरनिकेतनम् ॥ ३० ॥

अयेते गच्छति स्वयमुच्चरति चित्प्रकाशाभेदेन स्फुरतीत्ययो हलाकृतिस्ततो यस्माद् देवासुराणां प्राङ्निरूपितनीत्या निकेतनं उपासास्थानं चतुष्कलबहुरूपात्म

उसमें = पूर्वोक्त प्रणवविश्रान्तिधाम वाले चतुष्कल नाथ में, जो स्थित है (वह तत्रस्थ है) एक रूप = जिसका स्वभाव पहले बतलाया जा चुका है वह अनाहत भट्टारक । वही वास्तविकरूप से निष्कल है ॥ २९ ॥

केवल यही ऐसे नहीं है वरन्—

उनके योग से उनका बीज भी (निष्कल है) ॥ ३०- ॥

उक्त निष्कल के सम्बन्ध से बीज = चतुष्कलनाथ भी, निष्कल कहा जाता है ॥

तथा—

(वह) सब बीजों का प्ररोहकर्त्ता है ॥ -३०- ॥

उसके योग से ही वह सभी बीजों का = ब्रह्मा आदि कारणों का और अङ्गब्रह्म आदि मन्त्रों का । प्ररोहक = सामर्थ्यदाता है ॥

इसमें कारण है—

अयन (= उच्चरण) करने वाले जिस (निष्कल हंस) से देवासुरनिकेतन प्रवृत्त होता है ॥ -३० ॥

जो अयन करता है = चलता है = स्वयं उच्चरित होता है = चित्प्रकाश से अभिन्न रूप में स्फुरण करता है, वह अय = हलाकृति (हंस) है उसे जिस कारणभूत से देवासुरों का पूर्व निरूपित नीति के अनुसार निकेतन = उपासना का

मन्त्रद्वयं प्रवर्ततेऽनुग्रहादौ प्रसरति, ततो युक्तमुक्तम्—

'तद्योगादपि तद्बीजं सर्वबीजप्ररोहकम् ।' (६।३०)

इति । देवासुरा इन्द्रियाणि, तन्निकेतनं प्राण इति केचित् ॥ ३० ॥

अतश्च प्रथमपटलनिर्णीतव्याप्त्यनुसारं चतुष्कलबहुरूपाभ्यां विश्वस्य स्वीकारात्तयोश्च परस्फुरत्तासारानाहतध्वनिविश्रान्तत्वात्—

तत्र मन्त्राश्च वर्णाश्च प्रतिष्ठां यान्ति नान्यथा ।

मन्त्राः पिण्डबीजानि । वर्णा मालामन्त्रसम्बन्धिनो मातृकावर्तिनश्च सर्वेऽनाहत एव प्रतिष्ठिताः । नहि परां स्फुरत्तां विना कस्यापि स्फुरणं घटते । उक्तं च श्रीस्पन्दे—

'तदाक्रम्य बलं मन्त्राः ।' (२।१०) इत्यादि ॥

अतश्च—

तस्य बोधाद्विमुच्यन्ते अहिकञ्चुकवत् प्रिये ॥ ३१ ॥

स्थान चतुष्कल बहुरूप वाला दो मन्त्रसमूह प्रवृत्त होता है = अनुग्रह आदि के लिये प्रसरण करता है । इसलिये ठीक कहा गया—

'उसके योग से उसका बीज भी समस्त बीजों का प्ररोहक है' (स्व०तं० ६।३०)

देवासुर = इन्द्रियाँ । उनका निकेतन = प्राण—ऐसा कोई लोग अर्थ करते हैं ॥ ३० ॥

इसलिये प्रथम पटल में निर्णीत (= वर्णित) व्याप्ति के अनुसार चूँकि चतुष्कल और बहुरूप इन दोनों के द्वारा विश्व का स्वीकार किया जाता है और वे दोनों पर स्फुरत्ता वाली अनाहत ध्वनि में विश्राम करते हैं इसलिये—

मन्त्र और वर्ण उसी (= अनाहत ध्वनि) में प्रतिष्ठित होते हैं अन्यथा नहीं ॥ ३१- ॥

मन्त्र = पिण्डबीज । वर्ण- जोकि माला मन्त्र से सम्बद्ध होते हैं और मातृका में रहते है ये सब अनाहत ध्वनि में ही प्रतिष्ठित हैं । परा सत्ता के बिना किसी का भी स्फुरण घटित नहीं होता । यही बात श्रीस्पन्दकारिका में कही गयी है—

'उस बल (= अनाहत ध्वनि) को आक्रान्त कर...' । (स्प०का० २।१०) इत्यादि ॥

इस कारण—

हे प्रिये! (दीक्षित लोग) उसके ज्ञान से (उसी प्रकार) मुक्त हो जाते हैं जैसे साँप (अपनी) केंचुल से ॥ -३१ ॥

दीक्षिता इति शेषः ॥ ३१ ॥

एतत् स्फुटयति—

तावद् भ्रमति संसारे यावत्तत्त्वं न विन्दति ।
विदिते तु परे तत्त्वे न भूयो जायते क्वचित् ॥ ३२ ॥

यथाहिस्त्यक्तेन कञ्चुकेन न पुनः श्लिष्यति, तथा समनान्तेन बन्धेन त्यक्तेन तत्त्वज्ञो न भूयः स्पृश्यते ॥ ३२ ॥

तत्त्वं हंसरूपमेवेति दर्शयन्नेतदेव भूयः स्फुटयति—

अकृतार्थो नरस्तावद्यावद्धंसं न विन्दति ।

विन्दति लभते स्वत्वेन प्रत्यभिजानाति ॥

एतत्सोपायं वैधर्म्यदर्शनेन प्रकृते योजयति—

प्रणवेन समायुक्तं कृतार्थ इति निर्दिशेत् ॥ ३३ ॥

प्रणवेन चतुष्कलेन सम्यगायुक्तमिति निर्णीतवक्ष्यमाणतदुच्चारज्ञानतदुच्चारणौपयिकमेव परनिष्कलस्वरूपविश्रान्तत्वान्नरः कृतार्थो भवतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

दीक्षित—यह जोड़ना चाहिए ॥ ३१ ॥

उसको स्पष्ट करते हैं—

जीव संसार में तभी तक भ्रमण करता है जब तक उसे तत्त्व का लाभ नहीं हो जाता । पर तत्त्व का ज्ञान होने पर फिर कहीं भी उसका जन्म नहीं होता ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार साँप एक बार त्यक्त कञ्चुक से फिर संयुक्त नहीं होता उसी प्रकार से समना पर्यन्त बन्धन से मुक्त होने पर तत्त्वज्ञ जीव पुनः उस मल से स्पृष्ट नहीं होता है ॥ ३२ ॥

यह तत्त्व हंसरूप ही है—यह बतलाते हुए उसी को स्पष्ट करते हैं—

मनुष्य जब तक हंस को नहीं जानता तब तक वह कृत-कृत्य नहीं है ॥ ३३- ॥

विन्दति = प्राप्त करता है = स्वत्व के रूप में फिर से जान लेता है ॥

वैधर्म्य को सोपाय बतलाते हुए इस तथ्य को प्रस्तुत से जोड़ते हैं—

प्रणव से समायुक्त मनुष्य को कृतार्थ कहना चाहिये ॥ -३३ ॥

प्रणव = चतुष्कल, से समायुक्त = पहले बतलाये गये और आगे बतलाये जाने वाले उस (= प्रणव) के उच्चारज्ञान और उस उच्चारण के औपयिक

अतश्च—

उच्चारं च ततो ज्ञात्वा उच्चरेत्तं वरानने ।

उच्चरेदुच्चारयेत् । तमिति परविश्रान्त्युपायभूतं चतुष्कलम् ॥

तत्र—

उच्चारस्त्रिविधो देवि हंसस्य समुदाहृतः ॥ ३४ ॥

उक्तरूपपरापरप्रणवाधिष्ठानाद्धंसस्यापि परापरः स्वरूपनिष्ठत्वेन तु परात्पर इति त्रिविधो य उच्चारः स, उदाहृतः—

'एते वै प्रणवाः पञ्च परापरविभागशः
परापरेण हंसेन' (६।२७)

इति, तथा

'परतः परमो हंसः सर्वं व्याप्य व्यवस्थितः' (६।२७)

इत्याद्युक्त्या समनन्तरमेवोक्तः ॥ ३४ ॥

(= फल) वाले को पर निष्कलस्वरूप में विश्रान्त होने के कारण ऐसा मनुष्य कृतार्थ हो जाता है ॥ ३३ ॥

इसलिये—

हे वरानने ! उच्चार को जान कर इसके बाद उसका उच्चारण करना चाहिये ॥ ३४- ॥

'उच्चरेत्' का अर्थ है—उच्चारण करे । उसका = परविश्रान्ति के उपायभूत चतुष्कल का ॥

उसमें—

हे देवि! हंस का उच्चार तीन प्रकार का कहा गया है ॥ -३४ ॥

उक्त रूप पर एवं अपर प्रणव का अधिष्ठान होने के कारण हंस का भी पर, और अपर रूप है । स्वरूपनिष्ठ होने से परात् पर है इस प्रकार तीन प्रकार का जो उच्चार है वह कहा गया है—

'पर और अपर विभाग से ये प्रणव पाँच प्रकार के हैं । ये सब परापर हंस से' (स्व०तं० ६।२७)

(इस ग्रन्थ से) तथा—

'वह हंस पर से भी परे है और सबको व्याप्त कर विशेष रूप से स्थित है ।' (स्व०तं० ६।२७)

इस उक्ति से तत्काल पहले कहा गया ॥ ३४. ॥

तमेवोच्चारं स्फुटयति—

हकारोकारसंयुक्तबिन्द्वन्ते तु तृतीयकः ।
(सृष्टे)[१]र्न्यासेन तूच्चारः संहारयोग उच्यते ॥ ३५ ॥

ह् इति लुप्तविभक्तिकोऽनाहतस्वरूपदर्शनाय । तेन ह् इति यः स्वयमुच्चरद्रूपो हंसः स अकारेण उकारेण च वर्णेन संयुक्तस्तदूपरि च बिन्दोरन्ते समीपे तृतीयक इत्यनुस्वाररूपो मकारोऽस्य सम्बद्ध एवमेतदन्तो य उच्चारः । सृष्टेरिति जागराद्यवस्थात्रयाधिष्ठातृसृष्टिस्थितिसंहारकारिभेदमयब्रह्मविष्णुरुद्रसर्गस्य यो न्यासः पृथक्पृथग्वाचकत्वेन विमर्शस्तेन, न त्वभेदेनेत्यर्थः । एतेषां तु त्रयाणामपि भेदमयानां संहारयोग इति तुर्यदशाप्रथमकोटिसंस्पर्शात्मकबिन्दुपदैक्ययोजनारूप उच्यते, न त्वत्र वर्णोच्चारव्याप्तिरस्ति ॥ ३५ ॥

यथा विभक्तः प्राक् तेन—

एवमादिक्रमेणैव मन्त्रमुच्चारयेद् बुधः ।

बुधो ज्ञानी, एवमित्युक्तरूपेण, आदीत्यकारादिक्रमेण, मन्त्रमित्येतत्सम्बन्धादेव

उसी उच्चार को स्पष्ट करते हैं—

ह्कार अकार उकार से संयुक्त बिन्दु (= म्) जो कि अन्त में तीसरा (–अकार और उकार के बाद तीसरा) है, सृष्टि (के अधिष्ठातृ देवों की सृष्टि के) न्यास के द्वारा वह उच्चार संहारयोग कहा जाता है । (इसका स्वरूप होगा—हूं) ॥ ३५ ॥

'ह्' यह कथन विभक्तिरहित है । इसका वर्णन अनाहत ध्वनि के रूप को प्रदर्शित करने के लिये है । इस प्रकार 'ह' जो कि स्वयं उच्चरत् रूप हंस है वह अकार और उकार वर्ण से संयुक्त और उसके ऊपर बिन्दु के अन्त = समीप, तृतीयकः = अनुस्वार रूप मकार, इससे सम्बद्ध है । इस प्रकार इसके अन्त वाला (= यहाँ तक का) जो उच्चार (वह—हूं होगा) । (सृष्टिन्यास पद को स्पष्ट करते हैं–) जाग्रत आदि तीन अवस्थाओं के अधिष्ठाता तथा सृष्टि स्थिति संहारकारी भेदयुक्त ब्रह्मा विष्णु और रुद्र की सृष्टि का जो न्यास = पृथक् पृथक् वाचक के रूप में न कि अभिन्न रूप में, विमर्श । भेदवाले इन तीनों का, संहारयोग = चतुर्थ दशा की प्रथमकोटि के संस्पर्श रूप बिन्दुपद के साथ ऐक्य की योजना रूप, कहा जाता है । इस संहारयोग में वर्णों के उच्चार की व्याप्ति नहीं है ॥३५॥

जैसा पहले विभाग किया गया उससे—

विद्वान् उसी प्रकार के अकारदि क्रम से मन्त्र का उच्चारण करे ॥ ३६- ॥

बुध = ज्ञानी । एवम् = उक्त रूप से । आदि = अकार आदि के क्रम से ।

---

१. सृष्टि ।

मन्त्ररूपतां प्राप्तं हंसमुच्चारयेत् ॥

एतदनुवदन्नत ऊर्ध्वं मन्त्रोच्चारे इतिकर्तव्यतान्तरमाह—

बिन्दुस्थं त्रितयं कृत्वा वक्त्रमुद्घाटयेत्ततः ॥ ३६ ॥

त्रितयं मकारान्तम्, बिन्दुस्थं कृत्वेति तदभेदव्याप्तिसारं सम्पाद्य, नादोच्चारणार्थं वक्त्रमास्यमुद्घाटयेदित्येतदुच्चारावसरे दिव्यं करणं बध्नीयादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

ततश्च—

ईषदुद्घाटिते वक्त्रे तदा नादं विजानत।

अनयेतिकर्तव्यतया मन्त्रोच्चारावहितस्य नादनादान्ताभिव्यक्तिर्भवतीत्यर्थः ॥

किं च—

नादस्थं पञ्चधा चैव शक्तिस्थं पञ्चधा पुनः॥ ३७ ॥
व्यापिन्यां पञ्चधा चैव............

मन्त्ररूपं विजानतेति सम्बन्धः । पञ्चधात्वं च—

'ब्रह्मादिपञ्चकं यच्च' (६।४१)

मन्त्र = इसके सम्बन्ध से मन्त्ररूपता को प्राप्त हंस का उच्चारण करे ॥

इसका अनुवाद (= पुनः वर्णन) करते हुए इसके ऊपर मन्त्रोच्चार के विषय में दूसरी इतिकर्त्तव्यता को कहते हैं—

तीनों को बिन्दु में स्थापित कर उसके बाद वक्त्र का उद्घाटन करे ॥ -३६ ॥

त्रितय = अ उ म् । बिन्दु में स्थापित कर = उस (= बिन्दु) से अभिन्न बना कर, नाद के उच्चारण के लिये वक्त्र = मुख, का उद्घाटन करे अर्थात् उसके उच्चारण के अवसर पर दिव्य करण का बन्धन करे ॥ ३६ ॥

इसके बाद—

जब मुख थोड़ा सा खुल जाय तब नाद को जानना चाहिये ॥ ३७- ॥

इस इतिकर्त्तव्यता के द्वारा मन्त्र के उच्चारण में ध्यान देने वाले साधक को नाद एवं नादान्त की अभिव्यक्ति हो जाती है ॥

इसके अतिरिक्त—

पाँच प्रकार से नाद में, पाँच प्रकार से शक्ति में और पाँच प्रकार से व्यापिनी में स्थित ॥ -३७-३८- ॥

मन्त्ररूप को जानना चाहिये—यह अन्वय है । पाँच प्रकार—

इत्युपक्रम्य

'परापरविभागेन ते सर्वत्र व्यवस्थिताः' (६।४१)

इति समनन्तरवक्ष्यमाणस्थित्या मन्तव्यम् । तेन योजनिकाग्रन्थे नादस्य यदष्टकलत्वमुक्तम् तद्वाचकस्वरूपविमर्शयुक्त्या । इदं तु पञ्चधात्वं तत्पदाधिरूढवाच्यरूपकारणविमर्शयुक्त्येति न पूर्वापरवैषम्यं किञ्चित् ॥ ३७ ॥

किं च—

.............समनानिष्कलात्मनोः ।

ऊर्ध्वोर्ध्वमवस्थितयोः । पूर्वनिर्णीतं रूपं विजानतेत्यनुषङ्गः ॥

अथैतदुपरि—

उन्मना च परं तत्त्वं सर्वं व्याप्य व्यवस्थितम् ॥ ३८ ॥

पूर्वनिर्णीतं रूपं जानीतेत्यर्थः ॥ ३८ ॥

उपसंहरति—

एवं ज्ञात्वा विमुच्यन्ते शिवतत्त्वविदो जनाः ।

'जो ब्रह्मा आदि पाँच' (स्व०तं० ६।४१)

यहाँ से प्रारम्भ कर—

'पर और अपर विभाग से वे सर्वत्र स्थित हैं ।' (स्व०तं० ६।४१)

इस प्रकार अभी आगे कहे जाने वाली स्थिति के अनुसार समझना चाहिये । इससे योजनिका ग्रन्थ में जो नाद को आठ कला वाला कहा गया । वह वाचक- स्वरूप के विमर्श को समझ कर और यह पञ्चधात्व उस पद में अधिरुढ़ वाच्यरूप कारण के विमर्श को दृष्टि में रख कर । इस प्रकार कुछ भी पूर्वापरवैषम्य नहीं है ॥ ३७ ॥

तथा—

समना और निष्कल (का भी रूप जानना चाहिये) ॥ -३८- ॥

ये समना और निष्कल ऊपर-ऊपर स्थित रहते हैं इनके पूर्ववर्णित रूप को जानना चाहिये ॥

इसके ऊपर—

उन्मना है जो कि पर तत्त्व है और सबको व्याप्त कर स्थित है ॥ -३८ ॥

इसके पूर्वनिर्णीत रूप को जानो—यह अर्थ है ॥ ३८ ॥

इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

एवमुक्तक्रमेण, ज्ञात्वा उन्मनान्तानि पदान्यनुभूय, ये शिवतत्त्वमिति परमशिवमात्मानम्, विदन्ति प्रतिजानन्ति, ते विशेषेण सिद्धान्तवैलक्षण्येन मुच्यन्ते । तत्र हि—

'अवर्णोवर्णमकारबिन्दुनादाश्च तस्य सन्मन्त्राः ।'

इत्येवं मन्त्रव्याप्तिस्तद्गुरुभिर्दर्शिता ॥

अत्र वैधर्म्यमाह—

अन्यथा नैव मुच्यन्ते बिन्द्वन्ते ये व्यवस्थिताः ॥ ३९ ॥

बिन्दौ तदन्ते च नादादिपदे ये व्यवस्थिता विश्रान्तास्ते नैव मुच्यन्तेऽपि तु तत्तत्पदोचितविभूतिमेव भजन्ते ॥ ३९ ॥

यतः—

ज्योतीरूपं तु बिन्दुस्थं नादस्थं शब्दरूपकम् ।
शक्तिस्थं स्पर्शगं चैव तदूर्ध्वं शून्यरूपकम् ॥ ४० ॥

इस प्रकार जान कर शिवतत्त्व के ज्ञानी लोग विमुक्त हो जाते हैं ॥ ३९- ॥

इस प्रकार = उक्त क्रम से । जान कर = (कालाग्निभुवन से लेकर) उन्मना पर्यन्त स्तरों का अनुभव कर । जो लोग, शिवतत्त्व = अपने को परमशिव से अभिन्न, वेदन करते हैं = प्रत्यभिज्ञान करते हैं वे (विमुक्त होते हैं =) विशेष रूप से = सिद्धान्त की विलक्षणता के द्वारा मुक्त होते हैं । वहाँ—

'अवर्ण उवर्ण मकार बिन्दु और नाद उस (= परमेश्वर स्वच्छन्दभैरव) के समन्त्र हैं'—

इस प्रकार मन्त्रव्याप्ति उस परम्परा के गुरुओं द्वारा बतलायी गयी है ॥

इस विषय में वैधर्म्य को बतलाते हैं—

अन्यथा जो लोग बिन्दु और उसके अन्त में व्यवस्थित होते हैं वे कभी मुक्त नहीं होते ॥ -३९ ॥

बिन्दु और उसके अन्त अर्थात् नाद आदि पदों में जो (योगी) व्यवस्थित हैं = विश्राम कर जाते हैं आगे नहीं बढ़ते, वे मुक्त नहीं होते उल्टे उन-उन स्तरों में वर्त्तमान ऐश्वर्य का आनन्द उठाते हैं ॥ ३९ ॥

क्योंकि—

(अ उ म्) बिन्दु में स्थित होने की दशा में ज्योति स्वरूप है । नाद में स्थित वही शब्दरूप है । शक्ति में स्थित स्पर्श वाला और उसके ऊपर

यदेतद् बिन्दुस्थं त्रितयमिति नादस्थं पञ्चकमित्याद्युक्तं तद् बिन्दुस्थं ज्योतीरूपमिति वेद्याविभागप्रकाशरूपम् । नादस्थं तु शक्तिरूपमिति विसर्गशक्तिमयम् । शक्तिपदावस्थितं तु स्पर्शगमानन्दस्पर्शसतत्त्वम्, तदूर्ध्वं व्यापिन्यां तु शून्यताभासरूपम् ॥ ४० ॥

यतो व्यापिनीधाम—

ब्रह्मादिपञ्चकं यच्च तेषां शून्यं च तत्पदम् ।

चकाराद् ब्रह्माद्यधिष्ठेयानां तत्त्वानामपि । तैः शून्यमिति वक्तव्ये तेषां शून्यमिति षष्ठ्या ते सर्वे तत्र तदुचितप्रकृष्टसंविद्रूपतया स्थिताः, न तु क्वापि गताः, इति दर्शयति । अत एव पूर्वमशून्यं शून्यमित्याद्युक्तम् ॥

ननु ब्रह्मादयो हृदयादिललाटान्तपदावस्थितास्ते कथमियतीं भूमिमायाता इत्याह—

परापरविभागेन ते सर्वत्र व्यवस्थिताः ॥ ४१ ॥

परमेश्वरस्य हि चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्याः शक्तयस्तत्पदोचितप्रपञ्चव्याप्ति-

---

शून्य रूप है ॥ ४० ॥

बिन्दु में स्थित जो यह तीन का समूह (= अ उ म्) है, तथा नाद में स्थित पाँच (= ब्रह्मा विष्णु आदि) हैं वे ज्योति स्वरूप हैं अर्थात् वेद्य के अविभाग (= वेद्य से अभिन्न) प्रकाश रूप हैं, तथा नादस्थ जो पाँच हैं वे शक्तिरूप अर्थात् विसर्गशक्तिमय हैं । शक्तिपद में स्थित वे ही तीन स्पर्शग = आनन्द स्पर्श वाले हैं । उसके ऊपर व्यापिनी स्तर में शून्यताभास रूप हैं ॥ ४० ॥

क्योंकि व्यापिनी नामक धाम—

जो ब्रह्मादि पाँच हैं वह (व्यापिनी) पद उनके शून्य (रूप से युक्त) है ॥ ४१- ॥

('यच्च' में) 'च'कार से ब्रह्मा आदि से अधिष्ठित तत्त्वों का भी (संग्रह कर लेना चाहिये) । 'तैः शून्यम्' की जगह 'तेषां शून्यम्' में षष्ठी विभक्ति के कहने का तात्पर्य यह है कि वे सब वहाँ (= व्यापिनी में) उसके अनुरूप प्रकृष्ट संविद् रूप में स्थित हैं न कि (उस व्यापिनी का छोड़ कर) कहीं अन्यत्र चले गये हैं । इसीलिये पहले 'अशून्य शून्य' इत्यादि कहा गया ॥

प्रश्न—ब्रह्मा आदि हृदय से लेकर ललाट पर्यन्त तत्तत् स्थानों में स्थित हैं (ऐसा वर्णन है) फिर वे इतनी भूमियों में कैसे आ जाते हैं ? उत्तर देते हैं—

पर और अपर विभाग से वे सब स्थलों में रहते हैं ॥ -४१ ॥

परमेश्वर की चित् आनन्द इच्छा ज्ञान और क्रिया नामक पाँच शक्तियाँ तत्तत्

भाजो ब्रह्मादिपर्यन्तमाभासितवत्य इति तद्व्याप्तिसारा ब्रह्माद्याः स्थूलसूक्ष्मादिव्याप्त्या सर्वत्र स्थिताः । एतच्च एकादशे व्यक्तीभविष्यति । अथवैते तत्तत्पदौचित्येन तास्ताः सिद्धीर्ददति ॥ ४१ ॥

अथ—

शून्यातीता तु समना शुद्धात्मा तून्मना तथा ।

क्रमेण स्वोचितसंविद्रूपेत्यर्थः ॥

अथ—

सर्वातीतं परं तत्त्वं सर्वं व्याप्य व्यवस्थितम् ॥ ४२ ॥

सर्वातीतत्वेऽपि सर्वव्यापकत्वमस्य स्वच्छस्वच्छन्दचिदानन्दसुन्दरत्वात् ॥ ४२ ॥

यतश्च परं तत्त्वं सर्वं व्याप्य व्यवस्थितमत एवाकारोकारमकारवाच्या अतिस्थूला अपि—

मन्त्ररूपाश्च विज्ञेया बिन्दुधर्मात्तु देवताः ।

चकार एवार्थः । मन्त्ररूपा एव तदभेदव्याप्तिसारेणाविश्लेषेण ज्ञातव्याः ॥

पद के अनुरूप विश्व प्रपञ्च में व्याप्त हैं । वे ही ब्रह्मा आदि तक आभासित होती हैं, इसलिये उनसे व्याप्त ब्रह्मा आदि स्थूल सूक्ष्म आदि रूप से सर्वत्र व्याप्त होकर स्थित हैं । यह विषय ११वें पटल में स्पष्ट होगा । अथवा ये सब (ब्रह्मा आदि) अपने-अपने पद के अनुरूप तत्तत् सिद्धियों को देते हैं ॥ ४१ ॥

इसके बाद—

समना शून्य से परे और उन्मना अत्यन्त शुद्ध है ॥ ४२- ॥

तात्पर्य यह है कि ये दोनों क्रम से स्वोचित संविद्रूप हैं ॥

इसके पश्चात्—

सबसे परे पर तत्त्व है जो सबको व्याप्त कर के व्यवस्थित है ॥ -४२ ॥

सर्वातीत होते हुए भी यह सबको व्याप्त कर रहा है इसका कारण है—इसका स्वच्छस्वच्छन्दचिदानन्दसुन्दर होना ॥ ४२ ॥

चूँकि परतत्त्व सब को व्याप्त कर स्थित है इसलिये अकार उकार और मकार के वाच्य अतिस्थूल भी—

देवताओं को बिन्दुरूप होने के कारण मन्त्ररूप ही समझना चाहिये ॥ ४३- ॥

एवं हि—

तत्रस्था सर्वकर्माणि साधयन्ति न संशयः ॥ ४३ ॥

तत्रेति व्याख्यातव्याप्तिसतत्त्वे मन्त्रे स्थिता उपारूढाः ॥ ४३ ॥

एवमुल्लासक्रमेण हृदयाद् द्वादशान्तं मुक्त्यङ्गमन्त्रोच्चारमुक्त्वा सिद्ध्यङ्गं तं प्रातिलोम्येनादिशति—

तत्त्वं च उन्मनात्मा तु समना शून्यमेव च ।
स्पर्शश्चैव तथा शब्दो रूपं च तदनन्तरम् ॥ ४४ ॥
मन्त्रात्मनि स्थिताः सर्वे ज्ञातव्या दैशिकेन तु ।

रूपमिति बिन्दुतेजः । तदनन्तरमिति मकारोका(राका)रात्मवर्णस्वरूपम् । त एते सर्व एव प्रमेया मन्त्रात्मनिष्कलस्वरूपेऽवस्थिता उल्लासप्रवेशक्रममविमृश्य मन्त्रावसर एव मुक्तिसिद्ध्यङ्गरूपेणोपलभ्यन्त इत्यर्थः । दैशिकेनेति प्राधान्यात्, तदुपदेशात्त्वन्येनापि ॥ ४४ ॥

न केवलमेते मन्त्रस्थाः सर्वकर्माणि साधयन्ति, यावत्—

श्लोकस्य चकार का अर्थ है—एव (= ही) । उन (वर्णों) से अभिन्न होने के कारण उन्हें अविश्लिष्ट समझना चाहिये ॥

इस प्रकार—

इस प्रकार उसमें स्थित (साधकगण) सब कार्यों को सिद्ध कर लेते हैं उसमें संशय नहीं है ॥ -४३ ॥

उसमें = व्याख्यातव्याप्ति वाले मन्त्र में । स्थित = आरूढ़ ॥ ४३ ॥

इस प्रकार उल्लास के क्रम से हृदय से लेकर द्वादशान्त पर्यन्त मुक्ति के अङ्गभूत मन्त्रोच्चार का कथन कर सिद्धि के अङ्गभूत उस (= मन्त्रोच्चार) का विपरीत क्रम से निर्देश करते हैं—

परमतत्त्व उन्मना है । समना शून्य है । उससे नीचे उतरने पर स्पर्श शब्द और रूप हैं । आचार्य उन सबको मन्त्र में स्थित समझे ॥ ४४-४५- ॥

रूप = बिन्दुतेज । उसके बाद—मकार उकार (अकार) वर्णस्वरूप । ये सभी प्रमेय मन्त्ररूप जो कि निष्कल स्वरूप में स्थित हैं, उल्लास के प्रवेश के क्रम के विमर्श के बिना मन्त्र के अवसर पर ही मुक्ति-सिद्धि के अङ्ग के रूप में प्राप्त होते हैं—यह अर्थ है । आचार्य के द्वारा मुख्य रूप से और उनके द्वारा उपदिष्ट होने पर अन्य लोगों के द्वारा भी (प्राप्त किये जाते हैं) ॥ ४४ ॥

मन्त्र में स्थित ये केवल सब कर्मों को ही सिद्ध नहीं करते बल्कि—

तत्रस्था ज्ञानयोगं च प्रयच्छन्ति वरानने ॥ ४५ ॥

ज्ञानं तत्तज्ज्ञेयतत्त्वानुभवम्, योगं तदैकात्म्यप्राप्तिम् ॥

सर्वकर्माणि साधयन्तीति यदुक्तम्, तत्र कर्मानुरूपं मन्त्रदेवतानां ध्यानमाह—

कर्मकाले तु सकलान् शिरःपाण्यादिभिर्युतान् ।

कर्म अर्चाहोमादि ॥

क्रमेण—

जपेत्तु सकलान् देवि निष्कलेन समन्वितान् ॥ ४६ ॥

ध्यायेदित्यनन्तरस्थमनुषज्यते । निष्कलेन चिद्घनतापरमार्थेन, सम्यगन्वितांस्तद्विश्रान्तिसारान् ॥ ४६ ॥

यदा तु सर्वज्ञत्वादिरूपां सिद्धिमिच्छति, तदा बिन्दुविश्रान्तिसतत्त्वान्—

ध्यायेज्ज्योतिर्मयान् सर्वान्..............

उक्तं हि—

हे वरानने ! उस (= मन्त्र) में स्थित होने पर वे ज्ञान और योग भी देते हैं ॥ -४५ ॥

ज्ञान = तत्तद् ज्ञेय तत्त्व का अनुभव । योग = उन (= ज्ञेय तत्त्वों) से एकात्मता की प्राप्ति ॥

'सब कर्मों को सिद्ध करते हैं'—ऐसा जो ऊपर कहा गया उस सन्दर्भ में तत्तत् कर्मों के अनुरूप तत्तत् मन्त्रों के देवताओं का ध्यान बतलाते हैं—

कर्म करने के समय शिर पाणि आदि से युक्त सकल (देवताओं का ध्यान करना चाहिये) ॥ ४६- ॥

कर्म = पूजन होम आदि ॥

क्रम से—

हे देवि! निष्कल से युक्त सकल मन्त्रों का जप करना चाहिये ॥ -४६ ॥

'ध्यान करना चाहिये' यह अंश श्लोक संख्या ४७ से ले आना चाहिये । निष्कल = चिद्घन । समन्वित = उस (= चिद्घन) में विश्राम करने वाले ॥ ४६ ॥

और जब (साधक) सर्वज्ञत्व आदि सिद्धियों को चाहता हो तो बिन्दु में विश्रान्ति वाले ।

ज्योतिर्मय सबका ध्यान करे ॥ ४७- ॥

पीछे कहा भी गया है—

'ज्योतीरूपं तु बिन्दुस्थं' (६।४०)

इति । इह त्वेत्फलनिरूपणपरत्वेनोक्तमिति प्रकरणतो ज्ञायत इति न पुनरुक्तम् ॥

अथ बिन्दुविश्रान्त्यूर्ध्वनादपदे—

.................शब्दसिद्धिप्रदायकान् ।

नादविश्रान्तिमयत्वेन ध्यातास्तत्तत्सिद्धिमेव वितरन्तीत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि तदुचितरूपध्यानात्तत्तत्सिद्धिप्रदत्वमेषाम् ॥

यदाह—

शक्तिस्थाः शक्तिदाः प्रोक्ताः शून्यस्था व्यापकाः स्मृताः ॥ ४७ ॥
क्रमाज्ज्ञानप्रदास्ते वै समनास्था वरानने ।
कैवल्यदास्ततश्चोर्ध्वे सर्वज्ञाश्चोन्मने पदे ॥ ४८ ॥

शक्तिः सर्वकरणसामर्थ्यम् । शून्यं व्यापिनी । व्यापका इत्याराधकस्य व्याप्तिप्रदाः । क्रमाज्ज्ञानं शिवादिक्षित्यन्ताशेषविषयम् । कैवल्यं शुद्धविज्ञानकेवलित्वम्, यद्वेदवादिशैवानां परं प्राप्यम् । ऊर्ध्वे इति शुद्धात्मपदे । सर्वज्ञा

'बिन्दु में स्थित (अ उ म्) ज्योतिस्वरूप है ।' (स्व०तं० ६।४०)

यहाँ इसका कथन इस (= सर्वज्ञता रूपी) फल के निरूपण की दृष्टि से किया गया—यह बात प्रकरण से ज्ञात होती है । इसलिये उसका पुनः कथन नहीं किया गया ॥

इसके बाद बिन्दु की विश्रान्तिरूप ऊर्ध्व वर्ती नाद पद में—

शब्द की सिद्धि देने वालों का (ध्यान करना चाहिये) ॥ -४७- ॥

नाद में विश्राम करने वाले के रूप में ध्यान किये जाने पर वे (= अ उ म्) शब्दसिद्धि को देते हैं । इसी प्रकार आगे भी तत्तत् उचित ध्यान से वे मन्त्र तत्तत् सिद्धियों को देते हैं ॥

जैसा कि कहते हैं—

शक्ति में स्थित वे शक्तिदायक कहे गये हैं । शून्य में स्थित व्यापक माने गये हैं । हे वरानने! समना में स्थित वे निश्चित रूप से क्रमिक ज्ञान देने वाले होते हैं । उसके ऊपर वे कैवल्य देते हैं तथा उन्मना पद में स्थित वे सर्वज्ञता देते हैं ॥ -४७-४८ ॥

शक्ति = सब कुछ करने का सामर्थ्य । शून्य = व्यापिनी । व्यापक = आराधक को व्यापक बनाने वाले । क्रम से ज्ञान—शिव से लेकर पृथिवीपर्यन्त

इत्यक्रमाशेषविश्वाभेदप्रथाप्रदाः । यथोक्तम् प्राक्—

'समना क्रमविज्ञानमुन्मना त्वक्रमम्' (४।३९४) इति ॥

एते च मन्त्रावयवानुभवाः—

तत्त्वेन वेधिताः सर्वे ये मया परिकीर्तिताः ।

तत्त्वेन परशिवेन वेधिताः सर्वात्मना व्याप्ताः । वेधिता इत्यैशः पाठः, 'विध विधाने' इत्यस्यैवायं प्रयोगः ॥

अत एव—

तज्ज्ञात्वा सिद्धिदाः सर्वे मुक्तिदाश्च न संशयः ॥ ४९ ॥

तदिति तत्त्वम्, साधकानामपि ह्येतन्मन्त्रक्रमेण सिद्धिमुक्तिपर्यवसानेनैवेति योजनिकाग्रन्थे निर्णीतम् । भिन्नकर्तृत्वेऽपि (तत्रे[१]-)श्वरप्रामाण्यात् ॥ ४९ ॥

सम्पूर्ण विषय का ज्ञान । कैवल्य = शुद्ध विज्ञानकेवली रूप जो कि भेदवादि शैवमतावलम्बियों का अन्तिम प्राप्य होता है । ऊपर = शुद्ध आत्मपद में । सर्वज्ञ = क्रमरहित समस्त विश्व का अभेद वाला ज्ञान देने वाले । जैसा कि पहले कहा गया—

'समना क्रमिक विज्ञान है जबकि उन्मना क्रमरहित (सबका एक साथ ज्ञान है)' (स्व०तं० ४।३९४) ॥

ये मन्त्रावयव के अनुभव—

जिनका मैंने वर्णन किया, वे सब तत्त्व से अनुविद्ध हैं ॥ ४९- ॥

तत्त्व = परशिव, से, वेधित = सर्व प्रकार से व्याप्त हैं । 'वेधिताः' यह पारमेश्वर पाठ है (व्याकरण की दृष्टि से 'विद्धाः' होना चाहिये) । यह 'वेधिताः' प्रयोग 'विध विधाने' धातु से बना है ॥

इसलिये—

उस (तत्त्व) को जान कर सब लोग, निःसन्देह सिद्धिप्रद और मुक्तिप्रद हो जाते हैं ॥ -४९ ॥

उसको = तत्त्व को । साधकों को भी ये मन्त्र पहले सिद्धि देते हैं और उन सिद्धियों से वितृष्ण होने पर मुक्ति देते हैं । यह योजनिक ग्रन्थ (= चतुर्थपटल) में कहा गया है । क्योंकि (सिद्धि और मुक्ति के) कर्त्ता की भिन्नता में भी ईश्वर ही प्रमाण है (अर्थात् ईश्वर जिसे चाहेंगे वह सिद्धि प्राप्ति का कर्त्ता होगा और जिसे चाहेंगे वह मुक्ति प्राप्ति का कर्त्ता ।)

---

१. क्त्वे ।

उपसंहरति—

पञ्चप्रणवसंयुक्तं तत्त्वं ते कथितं मया ।

पञ्चप्रणवोच्चारोपायप्राप्तं तत्त्वं परमशिवात्मकपरमहंसस्वरूपम्, ते तवैव योग्यायाः शक्तेर्मया कथितम्, नान्यस्य कस्यचित् ॥

तदेतज्ज्ञात्वा—

पञ्चप्रणवपूर्वेण ओंकाराद्ययुतेन तु ॥ ५० ॥
नमस्कारावसानेन बहुरूपेण सुव्रते ।
जपतः सिद्धिमाप्नोति लक्षेणाक्षरसंख्यया ॥ ५१ ॥

साधक इति शेषः । पञ्चप्रणवः चतुष्कल पूर्वो यस्य तेन । व्याख्यात-भिन्नतद्व्याप्त्यतद्व्याप्त्यनुसन्धानपूर्वं तदुच्चारोद्घाटितमध्यमार्गाश्रयत्वात्तल्लीनेन बहु-रूपेण यो जपस्ततः सिद्धिमाप्नोतीति सम्बन्धः । ओंकाराद्ययुतेनेत्यादिनेदमाह—यद्यपि प्रणवसमनाव्याप्तिश्चतुष्कलनाथो बहुरूपस्याघोरशब्दादे रूपेभ्य इत्यन्तस्यादौ प्रयुक्तस्तथापि सर्वमन्त्राणां पूजाजपविषये प्रणवनमस्काराभ्यामाद्यन्तसम्बन्धो दीपकः कार्य इति शास्त्रसमयः । तेन द्वात्रिंशदक्षरस्य पूर्वं यौ नमस्कारप्रणवौ उक्तौ,

---

उपसंहार करते हैं—

पाँच प्रणव से युक्त तत्त्व को (मैंने) तुमको बतलाया ॥ ५०- ॥

पञ्च प्रणव के उच्चाररूपी उपाय से प्राप्त तत्त्व, जो कि परशिवात्मक परमहंस स्वरूप है, को, तुमको = योग्य शक्तिस्वरूपा तुम्हीं को, मैंने बतलाया अर्थात् अन्य किसी को नहीं (क्योंकि वे योग्य नहीं है) ॥

तो इसको जान कर—

हे सुव्रते ! पहले ॐकार से युक्त प्रंच प्रणव (स्व०तं० ६।२३-२६) के बाद नमस्कार अन्त वाले बहुरूप मन्त्र से ३२ लाख की संख्या में जप करने वाला साधक सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ -५०-५१ ॥

पञ्चप्रणव वाला चतुष्कल है पूर्व में जिसके, उसके द्वारा । पहले जिनकी व्याख्या कर दी गयी है ऐसे भिन्न तद्व्याप्ति और अतद्व्यापि के अनुसन्धान के बाद उस मन्त्र के उच्चार से उद्घाटित मध्यमार्ग का आश्रयण करने से तल्लीन जो बहुरूप मन्त्र उसके जप से साधक सिद्धि प्राप्त करता है—ऐसा अन्वय समझना चाहिये । 'पहले ॐकार से युक्त' इत्यादि कथन से ग्रन्थकार यह कहते हैं—यद्यपि प्रणव और समना में व्याप्ति वाले चतुष्कल नाथ 'अघोर शब्दादे .... रूपेभ्यः' —इस अन्त वाले बहुरूप मन्त्र के आदि में प्रयुक्त है तथापि सब मन्त्रों के पूजन एवं जप के विषय में आदि एवं अन्त में प्रणव एवं 'नमः' जोड़ कर मन्त्र को दीपक बनाना (= उद्दीप्त करना) चाहिये—यह शास्त्र का नियम है । इसलिये बत्तीस

तावेव चतुष्कलपूर्वस्य देयौ । यतः—

'तत्रस्था सर्वकर्माणि साधयन्ति' (६।४३)

इत्युक्तम् । अक्षरसंख्यया लक्षेणेति द्वात्रिंशता लक्षैरित्यर्थः ॥ ५१ ॥

एतदेवाधिकावापेन पूरयति—

प्रणवाद्येन संयुक्तं मन्त्रमेवं जपेत् सदा ।

प्रणव आद्यो यस्य चतुष्कलनाथस्य तेन सम्यग्युक्तं मन्त्रं जपेत् सदा इति यावत् । पूर्वमेव तावदस्यैकाग्रताया अविच्छेदेन जपः कार्य इत्यर्थः । सदेति अत्राधिकावापः ॥

अथ—

जपान्ते तु पुनर्होमं दशमांशेन कारयेत् ॥ ५२ ॥

'जपित्वाक्षरलक्षं तु बहुरूपस्य' (६।३)

इत्याद्युपक्रम्य पञ्चप्रणवस्वरूपं निर्णीय,

'प्रणवाद्येन संयुक्तं मन्त्रमेवं जपेत्सदा' (६।५२)

अक्षरों के पूर्व जो नमस्कार और प्रणव कहे गये वे ही दोनों चतुष्कल के बाद (प्रयुक्त बत्तीस अक्षरों वाले मन्त्र के साथ भी) जोड़ने चाहिये । क्योंकि—

'उसमें स्थित (साधक) सब कर्मों को सिद्ध कर लेते हैं ।' (स्व०तं० ६।४३) ऐसा कहा गया । (मन्त्र की) अक्षर संख्या से युक्त लाख = बत्तीस लाख ॥ ५१ ॥

इसी को अधिक आवाप (= विस्तार) के साथ पूरित करते हैं—

प्रणव आद्य वाले (चतुष्कल नाथ) से युक्त मन्त्र को सदा इस प्रकार जपना चाहिये ॥ ५२- ॥

प्रणव है आद्य = प्रथम अंश जिसका = चतुष्कलनाथ का, उससे सम्यक् युक्त मन्त्र का सदा जप करना चाहिये । पहले ही इसकी एकाग्रता के अविच्छेद से (= अव्यवहित एकाग्रता के साथ) जप करना चाहिये—यह अर्थ है । सदा यह यहाँ अधिक आवाप है ॥

इसके बाद—

जप के अन्त में (उस जप संख्या का) दशांश होम कर लेना चाहिये ॥ -५२ ॥

'बहुरूप मन्त्र का बत्तीस लाख जप कर' (स्व०तं० ६।३)

इत्यादि प्रारम्भ कर

इत्युपसंहृत्य

'जपान्ते तु पुनर्होमं' (६।५२)

इत्युक्तम् । अतो जपोपक्रमेणाङ्गहोमस्तावत्कृतः । जपे तु मन्त्रदेवतासंमुखीकरणात्मनि निष्पन्ने, तत्तर्पणाय स्वाहान्तेन मन्त्रेण जपसंख्यातो दशांशेनेति लक्षत्रयेण सहस्रविंशत्या च होमः कार्य इति 'पुनः' शब्दस्यार्थः ॥ ५२ ॥

अत्र होमे समुचितं द्रव्यमाह—

नृमांसं पुरसंयुक्तं घृतेन च परिप्लुतम् ।
ततः सिद्धिमवाप्नोति अधमां मध्यमोत्तमाम् ॥ ५३ ॥

पुरं गुग्गुलुः । एतत्त्रयं युगपद्धुत्वा तत्त्वेश्वरत्वाकाशोत्पतनपातालसिद्धीरुत्तमादिरूपाः सर्वाः प्राप्नोति, न तु यथासंख्यमशब्दार्थत्वादागमान्तरविरोधाच्च ॥ ५३ ॥

यदा तु—

त्रिगुणेन तु जप्येन स्वच्छन्दसदृशो भवेत् ।

'प्रणवाद्य वाले चतुष्कलनाथ से संयुक्त मन्त्र को सदा इस प्रकार जपना चाहिये ।' (स्व०तं० ६।५२)

ऐसा उपसंहार कर—

'पुनः जप के अन्त में होम ।' (स्व०तं० ६।५२)

ऐसा कहा गया । इसलिये जप से प्रारम्भ कर अङ्गहोम बतलाया गया । मन्त्र के देवता के सम्मुखीकरण रूप जप के सम्पन्न होने पर उस (= देवता) के तर्पण के लिये स्वाहान्त दशांश मन्त्र से अर्थात् तीन लाख बीस हजार मन्त्र से होम करना चाहिये—यह 'पुनः' शब्द का अर्थ है ॥ ५२ ॥

इस होम के लिये उचित द्रव्य को बतलाते हैं—

पुर अर्थात् गुग्गुलु से संयुक्त और घी से सिक्त मनुष्य के मांस से हवन करना चाहिये । इससे साधक अधम मध्यम और उत्तम सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ५३ ॥

पुरं = गुग्गुलु (= वृक्षविशेष की गोंद) । उपर्युक्त इन तीनों का एक साथ हवन कर (साधक) तत्त्वेश्वरत्व, आकाशसंचरण तथा पातालसिद्धि आदि उत्तम मध्यम अधम सब प्रकार की सिद्धियाँ साधक प्राप्त करता है । ऐसा नहीं है कि (वह सिद्धियों को) क्रम से प्राप्त करता है क्योंकि वह श्लोकस्थ शब्दों का अर्थ नहीं है और अन्य आगमों से इसका विरोध भी है ॥ ५३ ॥

और जब—

ब्रह्मविष्णिवन्द्रदेवानां सिद्धदैत्योरगेशिनाम् ॥ ५४ ॥
भयदाता च हर्ता च शापानुग्रहकृद् भवेत् ।
दर्पं हरति कालस्य पातयेद् भूधरानपि ॥ ५५ ॥
स्फोटयेद् बिल्वयन्त्राणि दिग्गजानपि चालयेत् ।
ब्रह्मराक्षसवेतालान् क्रूरग्रहविनायकान् ॥ ५६ ॥
स्मरणान्नाशयेद् देवि अवध्यस्त्रिदशैरपि ।

शापानुग्रहकृत्त्वाद्भयस्य दाता हर्ता च, स्मरणादिति स्मृतमात्रः सन्नाशयत्येवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

अस्य च मन्त्रस्य—

प्राकृतान्यपि कर्माणि सिद्ध्यन्ति जपलक्षतः ॥ ५७ ॥

प्रकृतिसंभूतद्रव्ययोगसंपाद्यानि वश्यादीनि प्राकृतानि । जपलक्षतः इति पूर्वसेवार्थं दशांशहोमसहितान्निर्वर्तितात् । प्रयोगकाले कर्मोचितोहजात्यन्तमन्त्राभिमन्त्रणं वक्ष्यमाणप्रयोगनिर्दिष्टानां द्रव्याणां तत्तदन्यकल्पप्रयोगविषयाणां च स्थितमेव ।

उक्त बहुरूप मन्त्र के तीन गुना (= ९६०००००) जप करता है तो उससे (साधक) स्वच्छन्द भैरव के समान हो जाता है । ब्रह्मा विष्णु इन्द्र और अन्य देवताओं को तथा सिद्धों दैत्यों और सर्पेशों को भय देने वाला, उनके भय का हरण करने वाला, शाप से मुक्ति दिलाने वाला होता है । वह काल के भी दर्प को चूर कर देता है । पर्वतों को भी गिरा सकता है । बिल्व यन्त्रों (= बिल्व फल के समान दुर्भेद्य यन्त्रों) को फोड़ सकता और दिग्गजों को हिला सकता है । हे देवि! (मन्त्र के) स्मरण से ब्रह्म, राक्षस, वेताल, क्रूरग्रह, विनायकों का नाश कर सकता है तथा देवताओं के द्वारा भी अवध्य होता है ॥ -५४-५७- ॥

साधक शाप औन अनुग्रहकर्ता होने के कारण भय को देने वाला तथा (भय को) दूर करने वाला होता है । स्मरण से = उसका स्मरण होने से ब्रह्म आदि नष्ट ही जाते हैं ॥ ५६ ॥

इस मन्त्र का—

एक लाख जप होने से प्राकृत आदि कर्म भी सिद्ध होते हैं ॥ -५७ ॥

(प्राकृत का अर्थ है—) प्रकृति से उत्पन्न द्रव्यों के योग से सम्पाद्य वशीकरण आदि (= मारण, उच्चाटन, विद्वेषण, स्तम्भन, सम्मोहन) । एक लाख जप से— पूर्वसेवा के लिये (= पुरश्चरण के लिये) दशांश होम सहित किये गये (जप से प्राकृत सिद्धि मिलती है) । प्रयोग के समय वक्ष्यमाण प्रयोग में निर्दिष्ट द्रव्यों के और तत्तत् अन्य कल्पों के प्रयोग से सम्बद्ध कर्मोचित ऊह, जाति (= नमः स्वाहा

यदुपसंहरिष्यति—

'एवं शतसहस्राणि अन्यकल्पोत्थितानि च ।
प्रयोगानां करोत्येष मन्त्रराजेश्वरेश्वरः ॥' (६।९४)

इति ॥ ५७ ॥

एवं पूर्वाराधितमन्त्रस्य यानि मुख्यसिद्ध्यङ्गभावेन कदाचिदवसरे प्रयोज्यानि—

तानि सम्यक् प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।

सम्यगिति यथा विसंवादीनि न भविष्यन्ति । यथावदिति यथेतिकर्तव्यतया युक्तानि । अत्रामुको मे वशो भवत्वित्यूहान्तो मन्त्रस्य लक्षजपः कार्यः इति व्याख्यानमसत्

'ॐकाराद्ययुतेन तु । नमस्कारावसानेन' (६।५१)

इति पूर्वमेवासाधारण्येन मन्त्रस्वरूपस्य प्रतिपादितत्वात् । एतावता यथाप्रतिपादनमस्य सामान्येन क्षुद्रसिद्ध्यभिसन्धिमता पूर्वसेवार्थं जपहोमौ कृत्वा विनियोगकाले कर्मोचितोहजात्यन्तस्य प्रयोगः कार्यः ॥

तत्र वश्यप्रयोगांस्तावदाह—

आदि) अन्त वाले मन्त्रों का अभिमन्त्रण पहले से निश्चित है । जैसा कि उपसंहार करेंगे—

'इस प्रकार यह राजेश्वरेश्वर मन्त्र अन्य कल्प से उत्पन्न सैकड़ों हजारों प्रयोग करता है ।' (स्व०तं० ६।९४) ॥ ५७ ॥

इस प्रकार पूर्व आराधित मन्त्र के मुख्यसिद्धि के अङ्ग के रूप में प्रयोज्य किसी अवसर पर जो प्रयोज्य हैं—

उनको यथावत् क्रम से भली भाँति कहूँगा ॥ ५८- ॥

सम्यक् — जिससे उनका विरोध न हो । यथावत् — इतिकर्त्तव्यता से युक्त । यहाँ पर—'अमुक व्यक्ति मेरे वश में हो'—इस प्रकार मन्त्र के अन्त में ऊह (= अपनी ओर से संयोजन) वाला एक लाख जप करना चाहिये—ऐसी व्याख्या अयुक्त है क्योंकि—

'पहले ॐकार से युक्त और अन्त में 'नमः' वाले मन्त्र.....'

इस प्रकार पहले ही असाधारणरूप से मन्त्र के स्वरूप का प्रतिपादन किया जा चुका है । इससे यह निष्कर्ष निकला कि क्षुद्रसिद्धियों को चाहने वाला साधक इस मन्त्र का सामान्यतया प्रतिपादित विधि के अनुसार पूर्वसेवा के लिये जप और होम करने के बाद विनियोग के समय तत्तत् कर्म के लिये उचित ऊह जात्यन्त मन्त्र का प्रयोग करे ॥

मोहना सहदेवा च भूधात्री चक्रलाञ्छना ॥ ५८ ॥
रामवल्ल्या सहैकत्र आत्मबीजेन पेषयेत् ।
भक्ष्ये पाने च दातव्यं वशीकरणमुत्तमम् ॥ ५९ ॥

मोहना बलामोटा । भूधात्री भूम्यामलकी । चक्रलाञ्छना चक्राङ्का । रामवल्ली रामतरणिरिति प्रसिद्धौषधिः । आत्मबीजं स्वशुक्रम् । प्रदातव्यमिति मन्त्राभिमन्त्रितम् । एवं ह्यविसंवादि भवति ॥ ५९ ॥

उत्तवारणिमूलं तु पुष्यर्क्षेण तु ग्राहयेत् ।
आत्मेन्द्रियेण संयुक्तं वशीकरणमुत्तमम् ॥ ६० ॥

उत्तवारणी विशाला । पुष्यर्क्षेण त्विति पुष्यनक्षत्रेण सौम्यग्रहयुक्तेन । शुक्लपक्षे रात्रौ ओषधिग्रहणं कार्यमित्योषधिकल्पेष्वस्ति । आत्मेन्द्रियं स्वशुक्रम् । यथोक्तम्—

'नृबीजमिन्द्रदैवत्यं तस्मादिन्द्रियमुच्यते ।' इति ।

उत्तमत्वमस्यैकौषधियोगात् । भक्ष्ये पाने चेति स्थितमेव ॥ ६० ॥

उन प्राकृत कर्मों में से पहले वशीकरण के लिये प्रयोगों को बतलाते हैं—

मोहना, सहदेवी, भूधात्री, चक्रलाञ्छना और रामवल्ली इनको अपने वीर्य के साथ पीसे । भक्ष्य अथवा पेय में मिला कर देने से यह उत्तम वशीकरण है ॥ -५८-५९ ॥

मोहना = बलामोटा । भूधात्री = भूमिआमलकी (= अमरा) । चक्रलाञ्छना = चक्राङ्का । रामवल्ली = रामतरणि (= सम्भवतः रामतरोई) । ये सब प्रसिद्ध ओषधियाँ हैं । आत्मबीज = अपना शुक्र । देना चाहिये = उक्त मन्त्र से अभिमन्त्रित कर । इस प्रकार यह अविसंवादी होता है (= इसका कहीं विरोध नहीं मिलता तथा यह प्रयोग कभी निष्फल नहीं होता) ॥ ५९ ॥

साधक पुष्य नक्षत्र में उत्तवारणी का मूल ले आये । इसको अपने वीर्य के साथ देने से यह उत्तम वशीकरण है ॥ ६० ॥

उत्तवारणी = विशाला (= एक औषधि) । पुष्य नक्षत्र में—शुभ ग्रह से युक्त इस नक्षत्र में । ओषधीकल्पों में कहा गया है कि ओषधियों का संग्रह शुक्ल पक्ष में रात्रि के समय ही करना चाहिये । आत्मेन्द्रिय = अपना वीर्य । जैसा कि कहा गया—

'मनुष्य के वीर्य के देवता इन्द्र कहे गये हैं इस कारण ही उस वीर्य को इन्द्रिय कहा जाता है ।'

यह वशीकरण उत्तम इस कारण है कि इसमें मात्र एक ओषधि का प्रयोग होता है । भक्ष्य और पान में—यह तो पहले से निश्चित है ॥ ६० ॥

श्रवणाक्षिमलं लाला रुधिरेन्द्रियसंयुतम् ।
भूकदम्बसमोपेतं दातव्यं पयसा निशि ॥ ६१ ॥

श्रवणाभ्यामक्षिभ्यां मले लाला चेति पञ्च, रुधिरं वामानामिकासंबन्धि, इन्द्रियं शुक्रमित्यात्मीयं सप्तकम्, भूकदम्बं भूतीकमष्टमम् । एतदेकीकृत्य रात्रौ मन्त्राभिमन्त्रितजलपानमध्ये देयं वशीकाराय ॥ ६१ ॥

एतच्च—

अप्रवासे प्रदातव्यं...............

दत्त्वा न प्रोषितव्यम् ॥

अन्यथा—

.............म्रियते विरहेण सा ।

इयानस्य प्रयोगस्य महिमेत्यर्थः ॥

षष्टिं कनकबीजानि षोडश मणिचन्द्रिकाः ॥ ६२ ॥
नरगोदन्तसंयुक्ताः प्रदद्यास्य भामिनि ।
एष कापालिको योगो गच्छन्तमनुगच्छति ॥ ६३ ॥

कान की मैल, आँख का कीचड़, लार, रक्त और वीर्य इनको भूकदम्ब से मिला कर रात में दूध के साथ (साध्य) को देने से वशीकरण होता है ॥ ६१ ॥

दोनों कानों और दोनों आँखों से निकले हुए मल तथा थूक ये पाँच हुए । बाँयीं अनामिका का खून और अपना शुक्र, ये मिलकर सात हुए । भूकदम्ब = भूतीक, यह आठवाँ हुआ । इन सबको मिला कर रात्रि में मन्त्र से अभिमन्त्रित जलपान के समय वशीकार के लिये देना चाहिये ॥ ६१ ॥

और इसे —

अप्रवास के समय में देना चाहिये ॥ ६२- ॥

अर्थात् देकर फिर साधक को घर के बाहर (या अन्य स्थान में) नहीं जाना चाहिये ॥

अन्यथा—

वह (स्त्री वशीकारक के) विरह में मर जायेगी ॥ -६२- ॥

इससे इस प्रयोग की इतनी महिमा ज्ञात होती है ॥

६० धतूरे के बीज १६ मणिचन्द्रिका, आदमी और गाय के दाँतों के साथ मिला कर जिस स्त्री को दिया जाय तो यह कापालिक योग है ।

सा तमिति शेषः । कनकं धत्तूरकम् । मणिचन्द्रिका रक्तिका । नरगोदन्तयोर्नात्र संख्यानियमः । एतच्चूर्णं भक्ष्ये पाने वा देयमिति प्राग्वत् । कपालैरस्थिभिर्निर्वृत्तः कापालिकः ॥ ६३ ॥

श्वेतार्कमूलं मञ्जिष्ठा चटकस्य शिरस्तथा ।
गृहोद्भवस्य कुष्ठं च स्वरक्तेन्द्रिसंयुतम् ॥ ६४ ॥
भक्ष्ये पाने प्रदातव्यं वशीकरणमुत्तमम् ।

अर्कतरोः श्वेतत्वं श्वेतपुष्पत्वात् । गृहोद्भवश्चटको मूषकः । स्वरक्तेन्द्रियं प्राग्वत् ॥ ६४ ॥

मोहना चैव कान्तारी मयूरशिखया युता ॥ ६५ ॥
आत्मलालेन्द्रियैर्युक्तं वशीकरणमुत्तमम् ।

कान्तारी प्रियङ्गुः । मयूरशिखा तदाकारैवौषधिः । आत्मलालेन्द्रियैरिति बहुवचनादिन्द्रियद्रव्ये उभयोद्भूते । उत्तममविसंवादि ॥ ६५ ॥

लज्जालुका च गोरम्भा चण्डालीकर्मकं तथा ॥ ६६ ॥

(इसके देने पर वह स्त्री) जाने वाले साधक के पीछे-पीछे जाती है ॥ -६२-६३ ॥

वह (स्त्री) उस (साधक) के पीछे-पीछे जाती है । कनक = धतूर । मणिचन्द्रिका = रक्तिका । आदमी और गाय के दाँतों के विषय में संख्या का नियम नहीं है । इस चूर्ण को भक्ष्य और पान में देना चाहिये—यह पूर्व की भाँति समझना चाहिये । (कापालिक शब्द की व्याख्या करते हैं) कपालों = हड्डियों से बनाया गया—कापालिक होता है ॥ ६३ ॥

सफेद मदार की जड़, मजीठ, गृहोद्भव चटक अर्थात् मूषक का शिर कुष्ठ (= भुना हुआ मांस अथवा 'कूट' नामक एक प्रकार की काष्ठ ओषधि) इन सबको अपने रक्त और वीर्य से मिला कर भक्ष्य अथवा पान में देना चाहिये । यह उत्तम वशीकरण है ॥ ६४-६५- ॥

सफेद मदार की पहचान उसके सफेद फूल से होती है । गृहोद्भव चटक = मूष । अपना और अपना इन्द्रिय इसे पूर्व की भाँति समझना चाहिये ॥ ६४ ॥

मोहना, कान्तारी (= मालकाँगनी) मयूरशिखा को अपने थूक एवं वीर्य से युक्त करने पर यह उत्तम वशीकरण है ॥ -६५-६६- ॥

कान्तारी = प्रियङ्गु । मयूरशिखा = मयूर की शिखा के आकार वाली औषधि 'आत्मलालेन्द्रियैः' यहाँ बहुवचन के प्रयोग से दोनों इन्द्रियों (स्त्री एवं पुरुष की जननेन्द्रियों से उत्पन्न = रज और वीर्य) उत्तम = सर्वस्वीकृत तथा कभी असफल न होने वाला ॥ ६५ ॥

नागेन्द्रपदमिश्रं तदात्मबीजसमन्वितम् ।
एष योगवरो दिव्यो दीयते यस्य सुव्रते ॥ ६७ ॥
मधुरेण समायुक्तो यावदायुर्वशी स तु ।

लज्जालुका लङ्गुडा । गोरम्भा छत्रा । चण्डाल्याख्याया ओषधेः कर्मकं प्रधानमूलम् । मधुरेण विषेण, तस्य च द्रव्यान्तरसंयोगान्मारणशक्तिनिरोधः ॥ ६७ ॥

चणका माषमुद्गाश्च अपानेन विनिर्गताः ॥ ६८ ॥
वान्तं घृतं तथा रेतः स्त्रीरजो हृन्मलं तथा ।
मूत्रं रक्तं तथा केशो लाला चैव वरानने ॥ ६९ ॥
पुत्रजानिः कृताह्वा च नागेन्द्रपदसंयुता ।
मोहना विष्णुक्रान्ता च धात्री चैवैकतः स्थिता ॥ ७० ॥
पुष्यर्क्षेण नियुञ्जीत गर्वितानां वरानने ।
भक्ष्ये पाने प्रदातव्यो योगस्त्रिदशपूजितः ॥ ७१ ॥

अपानेन निर्गताः शकृद्द्वावमागताः । वान्तं घृतादि । आत्मीयं हृन्मलं नाभिमलम् । पुत्रजानिरोषधिविशेषः । कृताह्वा कृताञ्जलिः । विष्णुक्रान्ता प्रसिद्धा । धात्री आमलकम् । त्रिदशपूजित इत्यविसंवादी । एवमष्टौ वशीकारे प्रयोगा उक्ताः ॥ ७१ ॥

लज्जालुका, गोरम्भा, चाण्डालीकर्मक, नागेन्द्रपद इन सबको अपने वीर्य से मिला कर हे सुव्रते! यह श्रेष्ठ योग, विष से मिला कर जिसको दिया जाय आजीवन वह दाता के वश में रहता है ॥ -६६-६८- ॥

लज्जालुका = लङ्गुडा । गोरम्भा = छत्रा (= कुकुरमुत्ता) । चाण्डाली नामक ओषधी का कर्मक = प्रधान मूल । मधुर = विष (प्रश्न है कि विष तो मारण करता है फिर उसे यहाँ कैसे दे रहे हैं? उत्तर है कि) अन्य द्रव्यों के संयोग से उसकी मारक शक्ति खत्म हो जाती है ॥ ६७ ॥

चना उड़द और मूंग जो कि मलद्वार से निकले हों, वमन किया गया घृत, वीर्य, स्त्री का रज, हृदय (= नाभि) का मैल, मूत्र, रक्त, केश, लार, पुत्रजानि, कृताञ्जलि, नागेन्द्रपद, मोहना, विष्णुक्रान्ता, आँवला, हे वरानने! इन सबको गर्व अर्थात् मद से मत्त स्त्रियों के लिये प्रयोग में लाना चाहिये । देवताओं से भी पूजित इसे भक्ष्य एवं पान में देनी चाहिये ॥ -६८-७१ ॥

मलद्वार से निकले = विष्ठा बने हुए (बिना टूटे चने आदि खाने पर मलद्वार से वैसे ही बाहर आ जाते हैं) । वमन किया गया घी आदि । अपना हृन्मल = नाभि का मैल । पुत्रजानि = एक प्रकार की ओषधि । कृताह्वा = कृताञ्जलि । विष्णु क्रान्ता (= अपराजिता) प्रसिद्ध है । धात्री = आँवला । त्रिदशपूजित = सर्व स्वीकृत सदा फलदायिनी । इस प्रकार वशीकरण के विषय में आठ प्रयोग कहे गये ॥ ७१ ॥

अथ—

उच्चाटनं प्रवक्ष्यामि शत्रूणां गर्वितात्मनाम् ।

तत्र—

काकोलूकस्य पक्षांश्च खरोष्ट्रमूत्रमृत्तिका ॥ ७२ ॥

एभिर्द्रव्यैः—

कृत्वा प्रतिकृतिं प्राज्ञः काकरक्तेन लेपयेत् ।

अथान्यत्—

काकालूकस्य पक्षांश्च गुदे तस्या विनिक्षिपेत् ॥ ७३ ॥

अथ—

तां चतुष्पथे निखनेत्................

तत्र खनित्वा स्थगितस्थापितायास्तस्याः—

................श्मशानाग्निमथोपरि ।
प्रज्वाल्य होमयेत्तत्र काकपक्षांश्च सुव्रते ॥ ७४ ॥

इसके बाद—

अब गर्व से परिपूर्ण शत्रुओं के उच्चाटन (की विधि) बतलाऊँगा ॥ ७२-॥

इस सन्दर्भ में—

कौआ और उल्लू के पंख तथा गदहा और ऊँट के मूत्र से युक्त मिट्टी ॥ -७२ ॥

इन द्रव्यों के द्वारा—

(शत्रु की) मूर्त्ति बना कर कौवे के रक्त से (उस मूर्त्ति का) लेप करे ॥ ७३- ॥

फिर—

कौवा और उल्लू के पंखों को उस (= मूर्त्ति) के गुदा मार्ग में प्रविष्ट कराये ॥ -७३ ॥

तत्पश्चात्—

चौराहे पर उसके बराबर गड्ढा खोदे ॥ ७४- ॥

गड्ढा खोद कर खड़ी उस मूर्त्ति को उस गड्ढे में स्थापित कर (उसको मिट्टी से ढँक दे । फिर उसके)—

उद्भ्रान्तपत्रसहितान् खरमूत्रेण भावितान् ।
यस्य नाम समुद्दिश्य यकाराद्यन्तरोधितम् ॥ ७५ ॥
मन्त्रावसाने विन्यस्तं विसर्गान्तं प्रचाटयेत् ।

तमिति शेषः । उद्भ्रान्तपत्राणि अर्जुनवातधूलिदण्डमध्यगतानि पत्राणि । मन्त्रावसान इति आराधितबहुरूपान्ते । विसर्गान्तं यकारेणाद्यन्तप्रयुक्तेन रोधितं सम्पुटितं यस्य शत्रोनामेति यः देवदत्तो य उच्चाटितो भवत्विति सक्रोधमुच्चार्य यः क्रोधसमाविष्ट एव वक्ष्यमाणनीत्या शतमष्टोत्तरं काकपक्षान् जुहुयात् साधकः, स तमुच्चाटयेदिति संबन्धः ॥ ७५ ॥

स इत्थमुच्चाटितः—

भ्रमते काकवत् पृथ्वीं शत्रुर्व्याधिनिपीडितः ॥ ७६ ॥

विद्वेषे प्रयोगमाह—

पिण्याकं निम्बपत्राणि मृत्किण्वं तु तुषाणि च ।
शत्रोः प्रतिकृतिं कृत्वा अक्षपुष्पैस्तु वेष्टिताम् ॥ ७७ ॥

ऊपर श्मशान की अग्नि जला कर हे सुव्रते ! कौवे के पंख का होम करे । कौवे के पंख के साथ ही गदहे के मूत्र में सने हुए उद्भ्रान्त पत्र का भी होम करे । नाम के आदि और अन्त में यकार जोड़ कर जिसका नाम लिया जाय, मन्त्र के अन्त में विन्यस्त (जोड़ा गया) विसर्गान्त (= विसर्ग अन्त वाले—यः देवदत्तः यः—इस प्रकार) उसका उच्चाटन हो जाता है ॥ -७४-७६- ॥

'तम्' यह जोड़ना चाहिये । उद्भ्रान्तपत्र अर्जुनवात (= बवंडर) की धूलि के अन्दर उड़े हुए पत्तों को) मन्त्र के अन्त में—बहुरूप की आराधना के बाद । विसर्गान्त = अन्त में विसर्ग जुड़े हुए यकार (= यः) के द्वारा शत्रु के नाम के आदि और अन्त में, रोधित = सम्पुटित जिस शत्रु के नाम का क्रोध के साथ उच्चारण किया जाय (जैसे—) यः देवदत्तः यः उच्चाटितो भवतु' अर्थात् साधक क्रोधयुक्त होकर वैसा उच्चारण करता हुआ कौवे के पंख का १०८ बार हवन करे । इस प्रकार वह साधक उस (शत्रु) का उच्चाटन कर देता है ॥ ७५ ॥

इस प्रकार से उच्चाटित वह—

शत्रु व्याधि से- युक्त होकर कौवे के समान पृथ्वी पर भागता रहता है ॥ -७६ ॥

विद्वेषण में प्रयोग बतलाते हैं—

पिण्याक, नीम की पत्ती, मिट्टी, किण्व (= शराब बनाने के घटक

श्मशाने निखनेत्तां तु वह्निं प्रज्वाल्य चोपरि।
पुष्पैर्विभीततरुजैर्यस्य नाम्ना तु होमयेत् ॥ ७८ ॥
विद्विष्टो वै भवेच्छत्रुः कामदेवसमोऽपि यः ।

पिण्याको गुग्गुलुबीजकल्कः । किण्वं सुरासंधानद्रव्यम् अक्षपुष्पैर्विभीतपुष्पैः । वेष्टितामिति तन्मालावलिताम् । नाम्नेति विद्विष्टो भवतु इत्यन्तेन विद्वेषण-जातियुक्तेन बहुरूपेणेत्यर्थात् । होमोऽष्टोत्तरशतसङ्ख्यः ॥ ७८ ॥

अथास्य विद्विष्टस्यान्यस्य वा सुभगीकरणमाह—

प्रियङ्गुलतिकामिश्रं गुग्गुलुं घृतवेधितम् ॥ ७९ ॥
हुत्वा त्वष्टशतं देवि सुभगः संप्रजायते ।

प्रियङ्गुलतिका गन्धप्रियङ्गुः । अत्राप्याराधितं बहुरूपमेवोच्चार्यामुकः सुभगो भवत्वित्यन्ते सौम्यजातिः प्रयोज्येति ॥ ७९ ॥

जातिकुट्मलकैर्मिश्रैस्त्रिमध्वक्तैस्तिलैर्हुतैः ॥ ८० ॥

द्रव्य) (धान की) भूसी को मिला कर शत्रु की प्रतिमा बनाये । उसे बहेड़े के पुष्प से लपेट दे । फिर उस प्रतिमा को श्मशान में गाड़ दे । (मिट्टी से ढँक देने के बाद) उसके ऊपर आग जला कर बहेड़े के वृक्ष से उत्पन्न फूलों से जिस (व्यक्ति) के नाम का उच्चारण करते हुए होम करे वह शत्रु यद्यपि कामदेव के समान भी सुन्दर हो तो भी लोग उससे घृणा करने लगते हैं ॥ ७७-७९- ॥

पिण्याक = गुग्गुलु के बीज का कल्क = (पीस कर बनाया गया अवलेह-सदृश पदार्थ) । किण्व = सुरा बनाने के घटक द्रव्य । अक्षपुष्प = बहेड़े के फूल । वेष्टित = उसके माला से लिपटी हुई । नाम से—'विद्विष्ट हो जाय' इतना अंश अन्त में जुड़े हुए तथा विद्वेषणजाति (= हुंफट्) से युक्त बहुरूप मन्त्र से । होम की संख्या १०८ होनी चाहिये ॥ ७८ ॥

अब इस विद्विष्ट या किसी अन्य व्यक्ति का सुभगीकरण बताते हैं—

हे देवि! प्रियङ्गु (= मालकाङ्गनी-काकुन) की लता से मिश्रित (गो) धृत से वेधित गुग्गुलु का १०८ बार हवन कर मनुष्य सुभग (= सबका प्रिय) हो जाता है ॥ -७९-८०- ॥

प्रियङ्गुलतिका = गन्धप्रियङ्गु । यहाँ भी आराधित बहुरूप मन्त्र का उच्चारण कर 'अमुकः सुभगो भवतु' इस प्रकार मन्त्र के अन्त में कहकर सौम्यजाति (= वौषट् अथवा वषट्) का प्रयोग करना चाहिये ॥ ७९ ॥

जाति (= चम्पा) की कलियों से मिश्रित त्रिमधु से युक्त तिल से हवन

सुभगत्वमवाप्नोति रूपहीनोऽपि यो नरः ।

त्रिमधु क्षीरशर्कराघृतम् । अत्रापि पूर्ववन्मन्त्रोऽष्टोत्तरशतसङ्ख्यश्च होमः । एव-मुत्तरत्रापि कर्मोचितोहजात्यन्तो होमोऽष्टोत्तरशतसङ्ख्य एव ॥ ८० ॥

तिलैर्लवणसंमिश्रैस्त्रिमध्वक्तैर्हुतैः प्रियैः ॥ ८१ ॥
सप्ताहाद्वशमायाति या स्त्री रूपेण गर्विता ।

आकर्षणमाह—

राजिका लवणं चैव मधुक्षीरघृतप्लुतम् ॥ ८२ ॥
होमयेन्नामसंमिश्रं यस्याकर्षेत्तु तं द्रुतम् ।

राजिका आसुरिका ॥ ८२ ॥

पूर्वं भक्ष्यपानक्रमेणाष्टौ वशीकारा उक्ताः, होमेन त्वेकः, अधुना स्नानादि-प्रयोज्यद्रव्यक्रमेणाप्याह—

नरस्य रोचनां गृह्य द्विरदस्य मदेन तु ॥ ८३ ॥
भावयित्वाभिमन्त्र्यैतन्मन्त्रेणाष्टशतं जपेत् ।
स्नाने विलेपने मद्ये गन्धे वा यस्य दीयते ॥ ८४ ॥

करने पर रूपहीन (= कुरूप) भी मनुष्य सुभग हो जाता है ॥ -८०-८१- ॥

त्रिमधु = दूध, शक्कर और घी । यहाँ भी पहले की भाँति मन्त्र का प्रयोग और १०८ बार होम होगा । इसी प्रकार आगे भी कर्म के अनुकूल ऊह और जाति को मन्त्र के अन्त में जोड़ कर १०८ बार होम होगा ॥ ८० ॥

तिल, नमक, त्रिमधु एवं प्रिय (= प्रियङ्गु का पुष्प) का हवन करने पर जो स्त्री रूपगर्विता है वह भी एक सप्ताह के अन्दर वश में हो जाती है ॥ -८१-८२- ॥

अब आकर्षण की विधि बतलाते हैं—

राई, नमक, मधु, दूध और घी को मिला कर जिसके नाम से हवन किया जाय वह शीघ्र आकृष्ट हो जाता है ॥ -८२-८३- ॥

राजिका = आसुरी (= राई) ॥ ८२ ॥

पहले भक्ष्य एवं पान के क्रम से वशीकार के आठ उपाय बतलाये गये । और होम से एक । अब स्नान आदि के लिये प्रयोज्य द्रव्य के क्रम से भी उपाय को बतलाते हैं—

मनुष्य की रोचना को लेकर हाथी के मद से उसको पीसे । फिर इस मन्त्र से अभिमन्त्रण कर १०८ बार जप करे । स्नान, लेप, मद्य अथवा

स वश्यो भवति क्षिप्रं धनदः प्राणदस्तथा ।

नररोचनां गोरोचनावद् गृहीत्वा, हस्तिमदेन लिप्त्वा, मन्त्रेणेति बहुरूपेण प्राग्वदूहप्रयोगजात्यन्तेनैतद्द्रव्यमष्टोत्तरशतजपादभिमन्त्र्य यस्य स्नानादौ दीयते स वश्यो भवतीति संबन्धः ॥ ८४ ॥

मारणमाह—

अथवा मारयेत् क्षिप्रं शत्रुं निश्चितमात्मनः ॥ ८५ ॥
अपकारशतैर्युक्तं कृतघ्नं दुष्टचेतसम् ।

न तु स्वल्पापराधम् ॥ ८५ ॥

तत्र—

कपालद्वयमादाय नाम शत्रोः समालिखेत् ॥ ८६ ॥
कपालसंपुटस्थं तद्विषाङ्गारेण भावितम् ।
रुधिरेण समायुक्तं हुंफट्कारविदर्भितम् ॥ ८७ ॥
महाप्रेतवनं गत्वा................

गन्ध में मिला कर जिसको दिया जाय वह शीघ्र वश में हो जाता है । (वह वशीकृत व्यक्ति वशीकारक के लिये) धन और यहाँ तक कि प्राण भी दे देता है ॥ -८३-८५- ॥

नररोचना को गोरोचना की भाँति हाथ में ले हाथी के दानजल से उपलिप्त करे । मूल श्लोक में मन्त्रेण का अर्थ है बहुरूप मन्त्र से । जप के समय पूर्व की भाँति ऊह का प्रयोग और जाति का उच्चारण करना चाहिए । इस बहुरूप मन्त्र को जपते हुए उक्त द्रव्य को १०८ बार अभिमन्त्रित कर जिस व्यक्ति को स्थान आदि में दिया जाता है, वह वश में हो जाता है—ऐसा अन्य है ॥ ८४ ॥

अब मारण की विधि बतलाते हैं—

अथवा सैकड़ों अपकार करने वाले, कृतघ्न, दुष्टबुद्धि अपने शत्रु को निश्चित रूप से शीघ्र मार डालना चाहिये ॥ -८५-८६- ॥

किन्तु छोटा एवं थोड़ा अपराध करने वाले को नहीं मारना चाहिये ॥ ८५ ॥

इस (मारण प्रक्रिया) में—

दो कपालों को लेकर उसके अन्दर शत्रु का नाम लिखे । कपाल के सम्पुट में स्थित उस नाम को विषाङ्गार (= श्मशान के कोयले) तथा रक्त से मिश्रित कर बनाना चाहिये । बाद में हुं फट्कार से विदर्भित करना चाहिये । तत्पश्चात् महाप्रेत वन (= श्मशान) में जाकर ॥ -८६-८८- ॥

विषाङ्गारेण श्मशानाङ्गारेण रुधिरविमिश्रेण मषीं कृत्वा श्मशान एव कपालयोः शत्रोर्नाम द्वितीयान्तम्, विदर्भितमिति—

'अभिधेयं भवेत्पूर्वं ततो मन्त्रः सकृद्भवेत्।
विदर्भितो भवत्येष .... ॥'

इत्याम्नातत्वादन्तन्यस्तहुंफट्कारं मारयामि हुंफडित्यन्तं सम्यक् संरुद्धभैरवरूपस्वात्माभिमानानुसन्धानेन लिखेत् ॥ ८७ ॥

अथ—

.............स्वच्छन्दं पूजयेत्ततः ।
कृष्णमाल्योपहारैश्च................

श्मशान एव, कृष्णरात्रौ, श्मशानावरणयुक्तमित्यर्थात् ॥

...........ततः कर्म समारभेत् ॥ ८८ ॥
विज्ञाप्य भैरवं देवं शत्रुं मे विनिपातय ।

अथ—

विषाङ्गार से = रक्त से मिश्रित श्मशान के कोयले से स्याही बना कर श्मशान में ही दो कपालों में शत्रु का नाम लिखे । यह नाम द्वितीयाविभक्त्यन्त होना चाहिये । विदर्भित—

'पहले शत्रु का नाम आदि फिर एक बार मन्त्र (का उच्चारण या उल्लेख विदर्भित कहलाता है) ।'

ऐसा आगमवचन होने से द्वितीयान्त नाम के अन्त में 'मारयामि हुं फट् ऐसा लिखना चाहिये । उस लेखन या उच्चारण के समय अपने को भैरवरूप समझ कर ही वैसा करना चाहिये ॥ ८७ ॥

इसके बाद—

काले फूल की माला या काले रंग के उपहार से स्वच्छन्द भैरव की पूजा करनी चाहिये ॥ -८८- ॥

(यह पूजा) श्मशान में ही कृष्णपक्ष की रात्रि में होनी चाहिये । (उस समय स्वच्छन्द भैरव को) श्मशान के वस्त्र (= कफन) से युक्त रखना चाहिये—यह अर्थात् समझना चाहिये ॥

उसके बाद (मारण के) अनुष्ठान का आरम्भ करना चाहिये । उसमें भैरव को सम्बोधित कर कहना चाहिये कि हे स्वच्छन्द भट्टारक ! मेरे शत्रु को नष्ट कीजिये ॥ -८८-८९- ॥

तत्पश्चात्—

अनुज्ञातस्तु देवेन गृहीत्वा तच्छिरोद्वयम् ॥ ८९ ॥
तत्र गत्वा महादेवि कपालासनसंस्थितः ।
तत्रस्थो रोषसंपूर्णो दक्षिणाभिमुखः स्थितः ॥ ९० ॥
आत्मनो भैरवं रूपं ज्ञात्वा घोरं सुभीषणम् ।
क्रुद्धः समुच्चरेन्मन्त्री द्वात्रिंशाक्षरसंमितम् ॥ ९१ ॥
विलोमेन महाभागे शत्रुनाम ततोऽन्तगम् ।
हुंफट्द्वयं समुच्चार्य काद्ये चास्फालयेद् भृशम्॥ ९२ ॥
खण्डशश्चूर्णिते यावत्तावच्छत्रुर्विनश्यति ।
सप्तरात्रेण देवेशि प्रयोगस्त्वनिवर्तकः ॥ ९३ ॥

अनुज्ञात इति भावनया । शिरोद्वयं कपालयुग्मम् । कपालासनं मुण्डासनम् । रोषस्तीव्रापकारस्मरणात् । तत इति विलोममन्त्रोच्चारानन्तरम् । अनिवर्तको न निवर्तते, नान्यथा भवतीत्यर्थः ॥ ९३ ॥

उपसंहरति—

एवं शतसहस्राणि अन्यकल्पोत्थितानि च ।

हे महादेवि ! देवता (= स्वच्छन्द भट्टारक) से अनुज्ञा पाकर उन दोनों कपालों को लेकर भैरव की पूजा के स्थान से थोड़ी दूर जाकर कपाल अर्थात् नरमुण्ड के आसन पर बैठ जाय । उस पर बैठने के बाद दक्षिण दिशा में मुख करे और स्वयं को क्रोध से भर कर अपने को घोर भयङ्कर भैरव रूप समझता हुआ क्रुद्ध होकर मन्त्र का साधक ३२ अक्षर वाले मन्त्र का उच्चारण करे । हे महाभागे ! मन्त्र का उच्चारण उल्टे अक्षरों वाला होना चाहिये । साथ में मन्त्र के अन्त में शत्रु का नाम उसके बाद दो बार हुं फट् का उच्चारण कर काद्य (= मदिरा) मे उन दोनों कपालों को खूब उछाले । जब वे कपाल खण्डश चूर्ण हो जाते हैं तब शत्रु नष्ट हो जाता है । हे देवेशि ! सात रात्र के प्रयोग से यह प्रयोग अनिवर्त्तक (= अवश्य सफल) हो जाता है ॥ -८९-९३ ॥

आज्ञा प्राप्त किया हुआ—भावना के द्वारा (क्योंकि स्वच्छन्दभैरव साक्षात् प्रकट होकर आज्ञा नहीं देते) । शिरोद्वय = दो कपाल । कपालासन = मुण्डासन (यह एक मुण्ड से लेकर पाँच मुण्ड तक का होता है । पञ्चमुण्डी आसन—नर, बन्दर, सियार, कुत्ता, कौवा के शिरों का होता है) शेष—(शत्रु द्वारा किये गये) तीव्र अपकार का स्मरण करने से । उसके बाद = विलोममन्त्र के उच्चारण के बाद । अनिवर्त्तक = लौटता नहीं अर्थात् अन्यथा नहीं होता ॥ ९३ ॥

इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

प्रयोगाणां करोत्येष मन्त्रराजेश्वरेश्वरः ॥ ९४ ॥

एवं करोत्यविसंवादीनि सम्पादयति ॥ ९४ ॥

एवमीदृक्प्रयोगक्रममुद्रितस्य यद्यस्यानुकम्पया स एवान्योऽपि वान्यस्य वा शान्तिमिच्छेत्, तदा—

अनुलोमगतं देवं वौषट्कारान्तसंस्थितम् ।

अमुकस्येति ऊहयुक्तमुच्चार्य ॥

क्षीरं तु होमयेद् देवि शान्त्यर्थे हितकारकम् ॥ ९५ ॥

अथोक्तानुक्तकर्मसु उचितजातिप्रयोगानाह—

वषडाप्यायने शस्तं स्वाहान्तं वशकर्मणि ।
मन्त्राणां तर्पणार्थं च.............

अन्त इत्युभयत्र संबद्ध्यते ॥

यह राजेश्वरेश्वर मन्त्र इस प्रकार के सैकड़ों हजारों अन्य प्रकार से बने प्रयोगों को करता है (तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त द्रव्यों के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों का अनेक प्रकार से प्रयोग कर इस मन्त्र के जप के प्रभाव से मारण आदि षट् कर्म अथवा अन्य भी कर्म किये जा सकते हैं) ॥ ९४ ॥

इस प्रकार करता है—सर्वसम्मत्या और कभी भी निष्फल न होने वाले कर्मों को करता है ॥ ९४ ॥

इस प्रकार के प्रयोगक्रम से प्रभावित (= अभ्यस्त) इसकी (= मूलसाधक की) अनुकम्पा से वही अथवा अन्य कोई व्यक्ति यदि (अपनी अथवा) अन्य की शान्ति चाहता है तो—

मन्त्र का अनुलोम उच्चारण करे और उस मन्त्र के अन्त में वौषट् जोड़ दे ॥ ९५- ॥

मन्त्र में (साध्य का नाम) अमुकस्य (= देवदत्तस्य) इस प्रकार अपनी ओर से जोड़ कर उच्चारण करना चाहिये ॥

हे देवि! शान्ति कर्म के लिये हितकारी दूध का होम करे ॥ -९५ ॥

अब उक्त और अनुक्त कर्मों में उचित जाति के प्रयोगों को बतलाते हैं—

आप्यायन (= पुष्टि कर्म) में 'वषट्' और वशीकरण में 'स्वाहा' शब्दों को मन्त्र के अन्त में जोड़ना चाहिये । मन्त्रों के तर्पण के लिये भी (वही प्रक्रिया अपनानी चाहिये) ॥ ९६- ॥

किञ्च मान्त्रं स्वरूपम्—

............नत्यन्तं चार्चने स्मृतम् ॥ ९६ ॥

नतिर्नम:शब्द: । चकाराज्जपेऽपि ॥ ९६ ॥

एतदुपसंहरन् भाविपटलस्य सङ्गतिं करोति—

एतद्धि कथितं देवि साधकस्य सुमेधसः ।
क्रियाकालांशयुक्तस्य अक्लेशात्तु सुखावहम् ॥ ९७ ॥

सुमेधसो यमनियमादिवशीकृतधिषणस्य, अत एव यथाकथञ्चित् क्षुद्रकर्माण्यनारभमाणस्य, अपि तु मुख्यसिद्ध्यङ्गतया स्वीकारयोग्यस्य वशीकरणादिसिद्धिसाधनपरिपन्थिनश्चोच्चाटनादि अवसरे कुर्वत: क्रियया स्नानार्चनसमयपालनात्मतया, भाविपटलनिर्णेष्यमाणकालेन, अंशकेन चाष्टमपटलनिर्णेष्यमाणेन युक्तस्य, तज्ज्ञात्वा प्रयोगमनुरुन्धानस्याक्लेशादित्याराधितैतन्मन्त्राभिमन्त्रणपूर्वकमनुष्ठीयमानं सुखावहमित्यभीष्टफलप्रदं भवत्येवेति शिवम् ॥

'अन्त' शब्द को उभयत्र (= वषट् और स्वाहा में) जोड़ना चाहिये ॥

मन्त्र का स्वरूप क्या है—

पूजा और जप में 'नम:' शब्द जोड़ना चाहिये । यह मन्त्र का स्वरूप है ॥ -९६ ॥

नति = 'नम:' शब्द । 'चार्चने' में 'च' का अर्थ है—जप में भी ॥ ९६ ॥

इस पटल का उपसंहार करते हुए आगामी पटल की सङ्गति बैठाते हैं—

हे देवि ! विद्वान् और क्रियाकालांश से युक्त साधक के लिये यह कहा गया । ऐसे विद्वान् के लिये बिना क्लेश के यह (प्रयोग) सुखदायक होता है ॥ ९७ ॥

सुमेधा वाला = यम नियम आदि के द्वारा अपनी बुद्धि को वश रखने वाला । इसलिये जिस किसी प्रकार क्षुद्र कर्मों का आरम्भ न करने वाला वरन् मुख्य सिद्धि के अङ्ग के रूप में स्वीकारयोग्य वशीकरण आदि सिद्धि के साधन में विघ्न डालने वाले उच्चाटन आदि कर्मों को समय पर करने वाले, (क्रिया कालांश युक्त=) क्रिया = स्नान पूजन नियम का पालन रूप क्रिया के द्वारा, भावी पटल का भविष्य में निर्णय किये जाने वाले काल से, अंशक से = अष्टम पटल में निर्णय किये जाने वाले काल से, युक्त उस (= अनुष्ठान विधि) को जान कर प्रयोग का अनुष्ठान करने वाले (साधक के लिये), अक्लेश से = पहले इस मन्त्र की आराधना कर फिर उस मन्त्र से अभिमन्त्रण करने के बाद अनुष्ठीयमान (यह कर्म) सुखावह = अभीष्ट फल देने वाला होता है ॥

स्मारं स्मारं गुरुवरपदद्वन्द्वविस्फूर्जितानां
मान्त्रं वीर्यं किमपि परमं दर्शितं यन्मयात्र ।
तस्मिन्नन्तर्नमत गुरवो मन्त्रचक्रैकसारे
संसाराब्धिं तरंत तरसा भैरवीभावमेत ॥

॥ इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्यव्याख्योपेते पञ्चप्रणवाधिकार: नाम षष्ठ: पटल: ॥ ६ ॥

अपने श्रेष्ठ गुरु के चरण युगल के स्फूर्जित का बारम्बार स्मरण कर जो मैंने इस ग्रन्थ में मन्त्र के परम वीर्य का वर्णन किया, हे गुरु लोग! (= विद्वद् जन) मन्त्रचक्र के एक मात्र तत्त्वभूत इस मन्त्र को हृदय से प्रणाम करो और शीघ्र ही संसारसागर को पार करते हुए भैरवीभाव को प्राप्त हो जाओ ॥

॥ इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र के षष्ठ पटल 'पञ्चप्रणवाधिकार' की श्रीक्षेमराजविरचित स्वच्छन्दोद्योत नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ ६ ॥